ब्रह्मकृता मनुप्रोक्ता भृगुप्रचारिता

मनुस्मृतिः

विशिष्टभूमिकायुता, हिन्द्यनुवादसहिता, आधुनिकजनकृतकतिचिदालोचनोत्तरविलसिता, श्लोकार्धकानुक्रमणिकासमेता च

सम्पादकोऽनुवादको विशेषव्याख्याकारश्च

शिवराज आचार्यः कौण्डिन्न्यायनः

विद्याभवन-प्राच्यविद्या-ग्रन्थमाला

ब्रह्मकृता मनुप्रोक्ता भृगुप्रचारिता

मनुस्मृतिः

विशिष्टभूमिकायुता, हिन्द्यनुवादसहिता, आधुनिकजनकृत-
कतिचिदालोचनोत्तरविलसिता, श्लोकार्धकानुक्रमणिकासमेता च

सम्पादकोऽनुवादको विशेषव्याख्याकारश्च

शिवराज आचार्यः कौण्डिन्न्यायनः

ब्रह्ममीमांसाचार्यः, संस्कृतसाहित्याचार्यः, एम्.ए. (संस्कृते), एम्.ए. (फिलोसफिविषये),
विद्यावारिधिः (पीएच्.डी.), वाचस्पतिः (डी.लिट्., वाराणसीस्थ-स.सं.वि.वि., १९९२),
(भारतवर्षान्तर्गतहिमवत्खण्डस्थगण्डकीप्रदेशाभिजनः)

सम्पादनसहायकाः

आमोदवर्धनः कौण्डिन्न्यायनः, शुक्लयजुर्वेदाचार्यः

प्रमोदवर्धनः कौण्डिन्न्यायनः, धर्ममीमांसाचार्यः

सुमोदवर्धनः कौण्डिन्न्यायनः, ब्रह्ममीमांसाचार्यः

(स्वाद्ध्यायशालाकुटुम्बगृहपतिगृह्याः)

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी

All rights reserved. No part of this publication may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopying, recording or any information storage or retrieval system, without prior permission in writing from the Publishers.

प्रकाशक

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001
दूरभाष : 0542-2420404
E-mail : cvbhawan@yahoo.co.in

सर्वाधिकार सुरक्षित

पुनर्मुद्रित संस्करण २०१९

मूल्य : चौखम्बा विद्याभवन
Ph. : 0542-2420404, Mo. : 98392432
रू० 400.00

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113, दिल्ली 110007

❖

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001

❖

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस

4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली 110002

विषयानुक्रमणिका

भूमिका

विषय पृष्ठ
धर्मशास्त्र का परिचय ३७
धर्म की परिभाषा ३७
शास्त्र की परिभाषा...................... ३८
स्मृति का परिचय......................३९
मनुस्मृति का परिचय......................४०
स्मृतियों में मनुस्मृति की विशेष मान्यता ४१
श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और मनुस्मृति...................... ४२
मानवधर्मशास्त्र की चार संहिताएँ ४३
भार्गवी मनुसंहिता के (भार्गवीयमनुस्मृति के) प्रतिपाद्य प्रमुख विषय .. ४४
भृगुप्रोक्त मनुस्मृति का पाठ............ ४५
मनुस्मृति की व्याख्याएँ............ ४५
विषय पृष्ठ
मनुस्मृति के वर्तमान स्वरूप की निष्पत्ति का काल ४९
मनुस्मृति के संस्करण ५३
मनुस्मृति के प्रस्तुत संस्करण की विशेषताएँ............ ५३
मनुस्मृति में किए गए प्रमुख आक्षेपों का सङ्क्षिप्त उत्तर........ ५५
वैदिक वाङ्मय के प्रचार की आवश्यकता और मनुस्मृति के प्रस्तुत संस्करण का सम्पादन..... ५६
(वैदिक-सनातन-वर्णाश्रमधर्म के मूल सिद्धान्तसूत्र) ६१
मनुस्मृति के सम्पादन का प्रसङ्ग ६८

मनुस्मृति

प्रथम अध्याय

(शास्त्र का उपोद्घात)

विषय श्लोक
मनु के प्रति मुनियों का प्रश्न............१
मुनियों के प्रति मनु के उत्तर............ ४
जगत् की उत्पत्ति............ ५
जल की सृष्टि का क्रम ८
ब्रह्माजी की उत्पत्ति ९
नारायणशब्द का अर्थ............ १०
ब्रह्म का स्वरूप............११
विषय श्लोक
स्वर्ग, भूमि इत्यादि की उत्पत्ति १३
महदादि के क्रम से जगत् की उत्पत्ति १४
देवगणादि की सृष्टि............ २२
वेदत्रय की सृष्टि २३
कालादि की सृष्टि............ २४
कामक्रोधादि की सृष्टि............ २५
धर्म और अधर्म का विवेक............२६
सूक्ष्म और स्थूल महाभूत की सृष्टि......... २७
सृष्टि की कर्मसापेक्षता............ २८
ब्राह्मणादि वर्ण की सृष्टि............३१
स्त्री और पुरुष की सृष्टि............३२

मनु की उत्पत्ति ३३
मरीचि इत्यादि की उत्पत्ति ३४
यक्ष गन्धर्व इत्यादि की उत्पत्ति ३७
मेघ इत्यादि की सृष्टि ३८
पशु, पक्षी इत्यादि की सृष्टि ३९
कृमि, कीट इत्यादि की सृष्टि ४०
जरायुज प्राणियों की गणना ४३
अण्डज प्राणियों की गणना ४४
स्वेदज प्राणियों की गणना ४५
उद्भिज्ज प्राणियों की गणना ४६
वनस्पति और वृक्ष में भेद ४७
गुच्छ, गुल्म इत्यादि का जन्म ४८
उक्त सृष्टि के बाद ब्रह्म का अन्तर्धान ५१
महाप्रलय ५४
जीव का उत्क्रमण ५५
जीव का दूसरे देह का ग्रहण ५६
ब्रह्मा के जागरण और स्वप्न से सृष्टि-प्रलय ५७
इस ग्रन्थ का प्रचार ५८
मनु का भृगु को इस शास्त्र को बताने के लिए आदेश ५९
भृगु का मुनियों के प्रति कथन ६०
मन्वन्तर का कथन ६१
निमेषादि अहोरात्रान्त कालमान ६४
पित्र्य अहोरात्र का कथन ६६
दैव अहोरात्र का कथन ६७
चतुर्युग का प्रमाण ६९
दैवयुग का प्रमाण ७१
ब्रह्मा के अहोरात्र का प्रमाण ७२
ब्रह्माद्वारा सृष्टि के लिए मन की नियुक्ति... ७४
मन से आकाश का प्रादुर्भाव ७५
आकाश से वायु का प्रादुर्भाव ७६
वायु से तेज का प्रादुर्भाव ७७
तेज से जल का और जल से पृथ्वी का प्रादुर्भाव ७८
मन्वन्तर का प्रमाण ७९
सत्ययुग में चतुष्पाद् धर्म ८१
अन्य युग में धर्म के एक-एक पाद का ह्रास ८२
युग-युग में आयु का प्रमाण ८३
युग-युग में धर्म का वैलक्षण्य ८५
ब्राह्मण का कर्म ८८
क्षत्रिय का कर्म ८९
वैश्य का कर्म ९०
शूद्र का कर्म ९१
ब्राह्मण की श्रेष्ठता ९२
ब्राह्मणों में ब्रह्मवेत्ता की श्रेष्ठता ९७
इस शास्त्र का ब्राह्मण के लिए अध्ययनीयता १०३
इस शास्त्र के अध्ययन का फल १०४
आचार की धर्म में प्रधानता १०८
इस ग्रन्थ में प्रतिपाद्य विषयों का अनुक्रम . १११

द्वितीय अध्याय

(धर्म का, संस्कारों का और ब्रह्मचारिधर्मों का निरूपण)

धर्म का सामान्य लक्षण १
कामात्मता की अप्रशंसनीयता २
व्रतादि का सङ्कल्पजत्व ३
अकाम जन की क्रिया का अभाव ४
धर्म में प्रमाण ६
धर्म की वेदमूलकता ७
श्रुति से और स्मृति से उक्त धर्म की अनुष्ठेयता ९
श्रुति और स्मृति का परिचय १०
नास्तिक की निन्दा ११
चार प्रकार के धर्म के प्रमाण १२
श्रुति और स्मृति में विरोध होने पर श्रुति की बलवत्ता १३
श्रुतियों में मतभेद होने पर दोनों का प्रामाण्य १४
श्रुति के मतभेद का उदाहरण १५

संस्कारयुक्त का शास्त्र में अधिकार....... १६
धर्म के अनुष्ठान का योग्य देश............. १७
ब्रह्मावर्त देश का सदाचार................... १८
ब्रह्मर्षिदेश का परिचय १९
उक्त देश के निवासी ब्राह्मण से सभी लोग सदाचार सीखें २०
मध्यदेश का परिचय २१
आर्यावर्त का परिचय.......................... २२
यज्ञियदेश का परिचय.......................... २३
वर्णधर्म...................................... २५
द्विजातियों का वैदिक मन्त्र से गर्भाधानादि संस्कार २६
गर्भाधानादि का पापक्षयसाधनत्व.......... २७
स्वाध्याय इत्यादि का मोक्षहेतुत्व.......... २८
जातकर्म.. २९
नामकरण ३०
स्त्रियों का नामकरण ३३
निष्क्रमण और अन्नप्राशन ३४
चूडाकरण का काल............................. ३५
ब्राह्मणादि का उपनयनकाल.................... ३६
कामना के भेद से उपनयनकाल............... ३७
ब्राह्मणादि के उपनयन का अन्तिम काल ३८
व्रात्य की परिभाषा ३९
कृष्णाजिन का धारण.......................... ४१
मौञ्जी के अभाव में कुशादि की मेखला ४३
ब्राह्मणादि के जनेऊ के उपकरण.............. ४४
ब्राह्मणादि के दण्ड के काष्ठ.................. ४५
ब्राह्मणादि ब्रह्मचारी से भिक्षा माँगने के लिए उच्चारणीय वाक्य ४९
भोजन में मुखदिशा का फल.................. ५२
भोजन के आदि और अन्त में आचमन..... ५३
श्रद्धापूर्वक भोजन का ग्रहण ५४
अश्रद्धा से भोजनग्रहण का निषेध.......... ५५
भोजन का नियम.............................. ५६
ज्यादा भोजन का निषेध........................ ५७
आचमन में ब्राह्मादि तीर्थ का प्रयोग....... ५८
ब्राह्मादि तीर्थ..................................... ५९
आचमन का विधि................................ ६०
सव्य और अपसव्य................................ ६३
पहले का दण्ड नष्ट होने पर दूसरे दण्ड का ग्रहण ६४
केशान्त संस्कार.................................. ६५
स्त्रियों का विना मन्त्र संस्कार................ ६६
स्त्रियों का विवाह तो वैदिक मन्त्र से ६७
उपनीत का कर्म ६९
वेदाध्ययन का विधि ७०
गुरुवन्दन का विधि.............................. ७२
गुरु की आज्ञा से अध्ययन और विराम ७३
अध्ययन के आदि और अन्त में प्रणव..... ७४
प्राणायाम की आवश्यकता...................... ७५
प्रणवादि की उत्पत्ति............................. ७६
सावित्री की उत्पत्ति ७७
सावित्रीजप का फल ७८
सावित्री का जप न करने पर प्रायश्चित्त.... ८०
प्रणव और व्याहृति से युक्त सावित्री की प्रशंसा................................. ८१
प्रणव की प्रशंसा................................. ८४
मानस जप की उत्कृष्टता........................ ८५
इन्द्रियों का संयम ८८
एकादश इन्द्रियाँ ८९
इन्द्रियों के संयम से सिद्धि ९३
विषयों की उपेक्षा करने वाला श्रेष्ठ ९४
इन्द्रियों का संयम करने का उपाय......... ९६
कामासक्त के यागादि का फलाऽभाव..... ९७
जितेन्द्रिय का स्वरूप............................ ९८
एक इन्द्रिय का भी असंयम निवारणीय ... ९९
इन्द्रियसंयम का पुरुषार्थहेतुत्व १००
सन्ध्योपासन १०१
सन्ध्याहीन व्यक्ति की शूद्रसमानता.......... १०३
वेदपाठ की अशक्ति में सावित्रीजप...... १०४

नित्यकर्मादि में अनध्याय का अभाव..... १०५
जपयज्ञ का फल........................... १०७
समावर्तन न होने तक होमादि का कर्तव्यत्व............................ १०८
अध्याप्य शिष्य १०९
न पूछे जाने पर या अन्याय्य रूप से पूछे जाने पर कुछ भी न कहना चाहिए... ११०
उक्त निषेध के अतिक्रमण का दोष १११
असत् शिष्य को विद्यादान का निषेध ११२
सत् शिष्य को विद्यादान देना चाहिए..... ११५
गुरु के विना वेदग्रहण का निषेध......... ११६
अध्यापकों का मान्यत्व..................... ११७
शास्त्रीय आचार की प्रशंसा................ ११८
गुरुजनों के अभिवादन का नियम......... ११९
वृद्धों का अभिवादन......................... १२०
अभिवादन का फल १२१
अभिवादन का विधि १२२
प्रत्यभिवादन................................ १२५
प्रत्यभिवादन के अज्ञान में दोष १२६
ब्राह्मणादि को कुशलादिप्रश्न १२७
दीक्षितादि के नामग्रहंण में निषेध......... १२८
परस्त्री के सम्बोधन के शब्द १२९
कनिष्ठ मामा इत्यादि का अभिवादन...... १३०
मातृष्वस्रादि का गुरुस्त्रीसमानत्व १३१
भाभी का अभिवादन १३२
दिदी इत्यादि का अभिवादन............... १३३
पौरसख्य इत्यादि के नियम १३४
दश वर्ष के ब्राह्मण और सौ वर्ष के क्षत्रिय का पिता-पुत्रत्व.............. १३५
वित्त इत्यादि का मान्यताकारणत्व........ १३६
रथारूढ इत्यादि के मार्ग का देयत्व....... १३८
स्नातक को राजा से भी मार्ग दिया जाना चाहिए........................ १३९
आचार्य की परिभाषा १४०
उपाध्याय की परिभाषा...................... १४१
गुरु की परिभाषा............................ १४२
ऋत्विक् की परिभाषा १४३
अध्यापकप्रशंसा................................ १४४
माता की उत्कृष्टता............................ १४५
आचार्य का श्रेष्ठत्व............................ १४६
बालक आचार्य भी पितातुल्य.............. १५०
इस में दृष्टान्त................................ १५१
वर्णक्रम से ज्ञानादि से ज्येष्ठत्व............ १५५
मूर्खों की निन्दा १५७
शिष्यों के प्रति मधुर वाणी का प्रयोग १५९
वाणी और मन का संयम..................... १६०
परद्रोह का निषेध १६१
दूसरों से अपमानित होने पर भी क्षमा १६२
अपमान करने वालों का दोष................ १६३
शास्त्रोक्त प्रकार से वेद का अध्ययन.... १६४
वेदाभ्यास का श्रेष्ठत्व १६६
वेदाभ्यास की स्तुति १६७
वेद का अध्ययन न करके अन्य विद्या के अध्ययन का निषेध.........१६८
द्विजाति के इसी जनम में तीन वार जन्म...१६९
अनुपनीत का कर्म में अनधिकार १७१
उपनीत का वेदाध्ययन.......................१७३
प्रत्येक वेदाध्ययनव्रत में नए दण्डादि का ग्रहण..............................१७४
ब्रह्मचारी से अनुष्ठेय कर्म.................. १७५
नित्य स्नान-तर्पण-होमादि....................१७६
ब्रह्मचारियों का नियम...................... १७७
इच्छा से वीर्यपातन का निषेध..............१८०
स्वप्न में वीर्यपात होने पर प्रायश्चित्त.....१८१
ब्रह्मचारी से आचार्य के लिए जलकुशादि का आहरण..............१८२
ब्रह्मचारी को वेद और यज्ञ से युक्त घर में भिक्षा माँगना चाहिए..........१८३
गुरुकुलादि में भिक्षायाचन में नियम......१८४
महापातकादि से आरोपित मनुष्य के घर में भिक्षा माँगने का निषेध....... १८५
ब्रह्मचारी का सायम्प्रातर् समिधा का होम...१८६

होमादि के न करने में दोष................१८७
एक ही घर में भिक्षण का निषेध १८८
निमन्त्रित होने पर एक ही घर के अन्न का भोजन....................१८९
क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्मचारी का एक ही घर के अन्न के भोजन में निषेध..... १९०
अध्ययन और गुरु के हित में प्रयत्न १९१
गुरु के प्रति आज्ञाकारित्व......................१९२
गुरु के सोने के बाद सोना......................१९४
गुरु के आज्ञापालन में नियम..................१९५
गुरु के समीप में चञ्चलता का निषेध.....१९८
गुरु के नामग्रहणादि का निषेध १९९
गुरु के निन्दाश्रवण का निषेध २००
गुरु के दोषकथन का फल २०१
समीप में जाकर ही गुरु की पूजा करना चाहिए.......................... २०२
गुरु के परोक्ष में कुछ भी न कहना २०३
यानादि में गुरु के साथ में बैठना.............. २०४
परम गुरु में गुरु में जैसा ही व्यवहार..... २०५
विद्यागुरु में भी गुरु में जैसा व्यवहार..... २०६
गुरुपुत्र में भी गुरु में जैसा व्यवहार...... २०७
गुरुपत्नियों का अभिवादनादि.................. २१०
स्त्रियों का स्वभाव २१३
माता आदि से भी एकान्तवास का निषेध २१५
युवती गुरुपत्नी का अभिवादन............ २१६
गुरुशुश्रूषा का फल............................. २१८
ब्रह्मचारी के तीन प्रकार...................... २१९
सूर्योदय और सूर्यास्तकाल में सोते रहने का प्रायश्चित्त.................... २२०
सन्ध्योपासन की अवश्यकर्तव्यता........ २२२
स्त्री-शूद्रादि से किए गए भी श्रेयःकर्म का अनुकरण.............. २२३
त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम)................. २२४
पिता आचार्य इत्यादि का अपमान नहीं करना चाहिए.................... २२५
पिता इत्यादि की शुश्रूषा का फल........ २२८
पिता इत्यादि के अनादर की निन्दा २३४
पिता इत्यादि की शुश्रूषा का प्राधान्य २३५
नीच व्यक्ति से भी विद्या का ग्रहण....... २३८
अब्राह्मण से आपत्काल में ही अध्ययन का विधान.................. २४१
अब्राह्मण गुरु के पास आजीवन ब्रह्मचर्य में नहीं रहना चाहिए २४२
ब्राह्मण गुरु के पास आजीवन ब्रह्मचर्य में रहने पर नियम २४३
स्नान के पूर्व गुरुदक्षिणा देनी चाहिए.... २४५
नैष्ठिक ब्रह्मचारी गुरु के निधन के बाद गुरुपुत्र के पास में रहे......... २४७
आमरण गुरुकुलसेवा का फल.......... २४९

तृतीय अध्याय

(गृहस्थ के धर्मों का निरूपण)

ब्रह्मचर्य का अवधि............................ १
गृहस्थाश्रम में वास २
वेदाध्ययन समाप्त किए हुए स्नातक का पित्रादिद्वारा मधुपर्क से पूजन...... ३
स्नान (समावर्तन) करने के बाद विवाह..... ४
असपिण्डा कन्या ही विवाह्या होती है......... ५
विवाह में निन्दित कुल.......................... ६
कन्या का दोष ८
कन्या का लक्षण....................................१०
पुत्रिका-विवाह की निन्दा ११
सवर्णा स्त्री प्रशंसनीया १२
चारों वर्णों के भार्याविषयक नियम १३
ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए शूद्रा स्त्री का निषेध.................................१४
हीनजाति की स्त्री से विवाह का निषेध..... १५
शूद्रा-विवाह विषय में विभिन्न मत.........१६
विवाह के आठ प्रकार..............................२०
विभिन्न वर्णों के लिए ग्राह्य विवाह-प्रकार.. २२

पैशाच और आसुर विवाह की निन्दा...... २५
ब्राह्मविवाह का लक्षण २७
दैवविवाह का लक्षण...... २८
आर्षविवाह का लक्षण...... २९
प्राजापत्यविवाह का लक्षण ३०
आसुरविवाह का लक्षण...... ३१
गान्धर्वविवाह का लक्षण...... ३२
राक्षसविवाह का लक्षण...... ३३
पैशाचविवाह का लक्षण...... ३४
ब्राह्मणों के लिए जलपूर्वक कन्यादान...... ३५
ब्राह्मादि विवाह का फल...... ३७
ब्राह्मादि विवाह से सुप्रजोत्पत्ति...... ३८
निन्दित विवाह से निन्दित प्रजोत्पत्ति...... ४१
सवर्णा-विवाह का विधि...... ४३
असवर्णा-विवाह का विधि...... ४४
पत्नीगमन का काल...... ४५
ऋतुकाल का अवधि ४६
पत्नीगमन में निन्दित काल ४७
युग्म (रजोदर्शन से समसङ्ख्या वाली) रात्रि में गमन से पुत्रोत्पत्ति...... ४८
स्त्री, पुरुष, नपुंसक की उत्पत्ति के कारण...... ४९
शास्त्रोक्त काल में पत्नीगमन करने पर ब्रह्मचारित्व का अविनाश...... ५०
कन्या का शुल्क लेने में दोष...... ५१
स्त्री के धन के ग्रहण में दोष...... ५२
वर से थोडा भी धन लेने का निषेध...... ५३
कन्या को धन का दान...... ५४
वस्त्रालङ्कारादि से कन्या का भूषण...... ५५
स्त्रियों का पूजन और अपूजन का फल.... ५६
विशेषतः उत्सवों में स्त्रियों का पूजन...... ५९
दम्पतियों का सन्तोष का फल...... ६०
स्त्रियों के अलङ्करणाऽभाव में दोष ६१
कुल के अपकर्ष के कारण...... ६३
कुल के उत्कर्ष का कारण ६६
पञ्चमहायज्ञ का अनुष्ठान...... ६७
पाँच सूनाएँ (जन्तुवधस्थान) ६८
पञ्चमहायज्ञ का नित्यकर्तव्यत्व...... ६९
पञ्चमहायज्ञ ७०
पञ्चमहायज्ञ न करने की निन्दा ७२
पञ्चमहाबज्ञ के दूसरे नाम ७३
अशक्ति में ब्रह्मयज्ञ और होम मात्र का कर्तव्यत्व...... ७५
होम से वृष्ट्यादि की उत्पत्ति...... ७६
गृहस्थाश्रम की प्रशंसा...... ७७
ऋषि, पितृ आदि की अर्चना ८०
नित्यश्राद्ध का विधान ८२
पितृ के लिए ब्राह्मणभोजन...... ८३
बलिवैश्वदेवकर्म ९०
बलिवैश्वदेवकर्म का फल ९३
भिक्षादान...... ९४
भिक्षादान का फल...... ९५
सत्कारपूर्वक भिक्षादान करना चाहिए.... ९६
अपात्र को दान देने का फल...... ९७
सुपात्र को दान देने का फल ९८
अतिथिसत्कार करना चाहिए...... ९९
अतिथि का अर्चन न करने का दोष...... १००
धन के अभाव में भी प्रियवचनादि से अतिथि का सत्कार करना चाहिए... १०१
अतिथि का लक्षण...... १०२
परपाक में रुचि करने में दोष १०४
अतिथि के प्रत्याख्यान का अकर्तव्यत्व १०५
अतिथि को भोजन कराके ही भोजन करना चाहिए १०६
बहुत अतिथियों में यथायोग्य व्यवहार.... १०७
अतिथि के लिए पुनः पाक करने पर बलिकर्म का अभाव...... १०८
भोजन के लिए कुलगोत्रकथन का निषेध...... १०९
ब्राह्मण के लिए क्षत्रियादि का अतिथित्व का अभाव...... ११०

ब्राह्मण के भोजन के बाद क्षत्रियादि को भोजन देना चाहिए १११
मित्रादि को भी सत्कारपूर्वक भोजन कराना चाहिए ११३
पहले गर्भिणी आदि का भोजन ११४
गृहस्थ का अतिथि से पहले भोजन निषिद्ध ११५
पति-पत्नी का बाद में भोजन ११६
अपने लिए पाक का निषेध ११८
घर में आए हुए राजा, ऋत्विक् इत्यादि का पूजन ११९
राजा और स्नातक के पूजा का स्थान १२०
स्त्री विना मन्त्र बलिहरण करे १२१
अमावास्या में श्राद्ध १२२
मांस से श्राद्ध १२३
पार्वणादि श्राद्ध में भोजनीय ब्राह्मण की सङ्ख्या १२५
ब्राह्मण के विस्तार का निषेध १२६
पार्वणश्राद्ध का अवश्य कर्तव्यत्व १२७
हव्य-कव्य श्रोत्रिय ब्राह्मणों को देना चाहिए १२८
श्रोत्रिय (वेद पढ़ने वाले) की प्रशंसा १२९
श्राद्ध में मन्त्ररहित ब्राह्मण का अयोग्यत्व १३३
कव्य का ज्ञानपरायणों में देयत्व १३५
श्रोत्रिय के पुत्र की प्रशंसा १३६
श्राद्ध में ब्राह्मण के रूप में मित्रादि को भोजन देने का निषेध १३८
अविद्वान् को श्राद्धभोजन देने की निष्फलता १४२
विद्वान् को दक्षिणा के दान का फल १४३
विद्वान् ब्राह्मण के अभाव में मित्र को श्राद्ध में ब्राह्मण के रूप में भोजन देना चाहिए १४४
वेदपारङ्गत विद्वानों को प्रयत्नपूर्वक भोजन देना चाहिए १४५
मातामह इत्यादि को भी श्राद्ध में ब्राह्मण के रूप में भोजन दिया जा सकता है १४८
ब्राह्मण की परीक्षा १४९
चोर पतित इत्यादि ब्राह्मण का निषेध १५०
श्राद्ध में निषिद्ध ब्राह्मण १५१
अध्ययनशून्य ब्राह्मण की निन्दा १६८
अपाङ्क्तेय को दान देने का फल १६९
परिवेत्ता इत्यादि का लक्षण १७१
परिवेदन में सम्बन्धियों का दोष १७२
दिधिषू के पति का लक्षण १७३
कुण्ड और गोलक के लक्षण १७४
कुण्ड और गोलक को दान का निषेध १७५
ब्राह्मणभोजन में अपाङ्क्तेय से दर्शन का निषेध १७६
ब्राह्मणभोजन में अन्धादि के सन्निधि का निषेध १७७
शूद्र को यज्ञ कराने वालों की निन्दा १७८
शूद्र को यज्ञ कराने वालों से दान लेने का निषेध १७९
सोमविक्रयी, चिकित्सक इत्यादि को दान देने का निषेध १८०
पङ्क्तिवापन ब्राह्मण का लक्षण १८३
श्राद्ध में ब्राह्मणनिमन्त्रण का विधि १८७
निमन्त्रित ब्राह्मण के नियम १८८
निमन्त्रणा स्वीकार करके भोजन ग्रहण न करने का दोष १९०
निमन्त्रित ब्राह्मण का स्त्रीगमन में दोष १९१
कर्ता और भोक्ता का क्रोधादि का त्याग १९२
पितृगण की उत्पत्ति १९३
पितृ को चाँदी के पात्र में देना २०२
देवकार्य से पितृकार्य की विशिष्टता २०३
देवकार्य पितृकार्य का अङ्ग २०४
पितृकार्य के आदि और अन्त में देवकार्य की कर्तव्यता २०५

श्राद्ध करने का योग्य देश.............. २०६
निमन्त्रित ब्राह्मण को आसनादि का दान.. २०८
गन्धपुष्पादि से ब्राह्मण का अर्चन......... २०९
ब्राह्मण की अनुमति से होम.............. २१०
अग्नि के अभाव में ब्राह्मण के हाथ में होम.............. २१२
अपसव्य से अग्नौकरणादि.............. २१४
पिण्डदानादि का विधि.............. २१५
कुश में पिण्डान्नलेपयुक्त हाथ को पोंछना.............. २१६
वसन्तादि ऋतु का नमस्कार २१७
प्रत्यवनेजनादि.............. २१८
पित्रादिब्राह्मण का भोजन २१९
पिता के जीवित होने पर पितामहादि का पार्वणश्राद्ध २२०
पितामह के जीवित रहने और पिता के न रहने पर पार्वणश्राद्ध का विधि.... २२१
पित्रादिब्राह्मण के भोजन का विधि...... २२३
परिवेषण का विधि.............. २२४
व्यञ्जनादि के दान का विधि.............. २२६
रोदन और क्रोध का निषेध.............. २२९
ब्राह्मणों को उन का रुचिकर भोजन देना चाहिए २३१
ब्राह्मणों को वेदादि का श्रवण कराना २३२
ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करना चाहिए.............. २३३
दौहित्र (पुत्री के पुत्र) को श्राद्ध में भोजन कराना.............. २३४
श्राद्ध में दौहित्रादि प्रशंसनीय हैं.............. २३५
भोज्यपदार्थ उष्ण हो.............. २३६
भोजन के समय में पगडी इत्यादि का निषेध २३८
भोजन के समय में ब्राह्मणों को चाण्डालादि से दर्शन का निषेध २३९
श्राद्ध में कुक्कुरादि से दर्शनादि का निषेध २४१
श्राद्धदेश से खञ्जादि को हटाना चाहिए... २४२
उपस्थित सन्न्यासि को श्राद्धभोजन देना चाहिए.............. २४३
सभी खाद्य पदार्थों का भूमि में विकरण... २४४
उच्छिष्ट और भूमि में गिरे हुए अन्न मरे हुए दासों का भाग.............. २४६
सपिण्डीकरण न होने तक विश्वेदेवों के श्राद्ध के विना ही श्राद्ध २४७
सपिण्डीकरण के बाद पार्वण विधि से श्राद्ध.............. २४८
श्राद्ध में शूद्र को उच्छिष्ट नहीं देना चाहिए.............. २४९
श्राद्धभोजन करने वालों का स्त्रीगमननिषेध.............. २५०
भोजन किए हुए ब्राह्मणों को आचमन कराना.............. २५१
ब्राह्मणद्वारा स्वधाऽस्तु ऐसा कथन २५२
शेष अन्नों का ब्राह्मण की अनुमति से विनियोग.............. २५३
एकोद्दिष्टादि श्राद्ध में तृप्तिप्रश्नप्रकार २५४
श्राद्ध के उत्कर्ष के कारण अपराह्णादि काल २५५
हव्य पदार्थ.............. २५७
ब्राह्मणों के विसर्जन के साथ वरप्रार्थना.............. २५८
पिण्डों का गाय इत्यादि को दान.............. २६०
पुत्र के अभिलाषा करने वाली स्त्री से पितामहपिण्ड का भक्षण.............. २६२
उस के बाद ज्ञाति और बन्धुओं को भोजन देना चाहिए.............. २६४
अवशिष्ट अन्न से गृहबलि.............. २६५
तिलादि से पितरों का मासपर्यन्त तृप्ति २६७
मांसविशेष से पितरों की तृप्ति का काल... २६८
वर्षा के मघानक्षत्रयुक्त त्रयोदशी में मधुयुक्त श्राद्ध से अक्षय्यतृप्ति....... २७३
हाथी के छाया में श्राद्ध से अक्षय्यतृप्ति... २७४
श्रद्धायुक्त दान से अक्षय्यतृप्ति.............. २७५

पितृपक्ष (कृष्णपक्ष) की प्रशस्त तिथियाँ.. २७६
युग्म और अयुग्म तिथि और नक्षत्र में श्राद्ध करने का फल................ २७७
श्राद्ध में कृष्णपक्ष और अपराह्ण की प्रशंसनीयता........................ २७८
श्राद्धकर्ता अपसव्य और कुशहस्त हो.... २७९
रात्रि में श्राद्ध का निषेध.................. २८०
प्रतिमास श्राद्ध करने में अशक्त होने पर प्रतिवर्ष तीन श्राद्ध करना चाहिए.... २८१
साग्नि और निरग्नि का श्राद्ध में विशेष.... २८२
तर्पण का फल............................ २८३
पितरों की प्रशंसा.......................... २८४
द्विजाति विघस (ब्राह्मणभुक्तशेष) और अमृत (यज्ञशेष) को खाने वाला हो... २८५

चतुर्थ अध्याय

(गृहस्थ के धर्मों का निरूपण)

ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम का काल..........१
ब्राह्मण प्राणियों को पीडा न देता हुआ जीए............................ २
जीवनयात्रा के लिए ही अर्थ का सङ्ग्रह करे.............................३
आपत्काल न होने पर जीविका का साधन ४
ऋत, अमृत इत्यादि का अर्थ ५
धनसङ्ग्रह की सीमा......................... ७
अश्वस्तनिक की प्रशंसा ८
याजन अध्यापन इत्यादि ब्राह्मण के जीविका के साधन ९
शिल और उञ्छ से जीविका करने वालों के कर्तव्य १०
असत् जीविका का निषेध...................११
सन्तोष की प्रशंसा.........................१२
उक्त शास्त्रीय जीविका करने वालों के लिए व्रत का विधान...............१३
वेदोक्त कर्म की कर्तव्यता.....................१४
शास्त्रविरुद्ध कर्म से धनार्जन का निषेध... १५
इन्द्रियों के विषय में आसक्ति का निषेध...१६
वेदविरुद्ध कर्म का त्याग १७
मनुष्य को अपने वय (उम्र), कर्म, इत्यादि के अनुरूप आचरण करना ... १८
शास्त्रादि का नित्य अवलोकन करना १९
यथाशक्ति पञ्चमहायज्ञों का अत्याग २१
इन्द्रियसंयम से पञ्चमहायज्ञ.............. २२
वाणी और प्राण में यज्ञसम्पादन.............२३
ज्ञान से यज्ञसम्पादन २४
अग्निहोत्र, दर्श और पौर्णमास याग........ २५
नवसस्येष्टि, चातुर्मास्य, पशुबन्ध और सोमयाग.......................................२६
नवसस्येष्टि की और पशुबन्ध की आवश्यकता.......................... २७
अतिथि की पूजा...................................२९
पाषण्डियों के अर्चन का निषेध...............३०
श्रोत्रियादि का पूजन..............................३१
यथाशक्ति ब्रह्मचारी इत्यादि को अन्न का दान................................३२
अन्नादि के अभाव में सदाचारी राजा इत्यादि से धन प्राप्त करना............ ३३
धन के होते हुए जीर्ण वस्त्रादि पहनने का निषेध ३४
शुद्ध और स्वाध्यायाध्ययनशील होने का विधान ३५
दण्ड, कमण्डलु इत्यादि का धारण ३६
सन्ध्याकाल में सूर्यदर्शन का निषेध...... ३७
रज्जुलङ्घनादि का निषेध ३८
मार्ग के गाय इत्यादि को दाहिना करना.... ३९
रजस्वला स्त्री में गमन का निषेध ४०
पत्नी के साथ भोजनादि का निषेध.........४३
कालविशेष में स्त्रीदर्शन का निषेध........ ४४
एकवस्त्र धारण करके भोजनादि का निषेध.. ४५

पेशाब करने में निषिद्ध स्थान.............. ४६
पेशाब इत्यादि करते हुए सूर्यादि का दर्शन न करे............................ ४८
मलमूत्र त्याग करने का विधि ४९
मलमूत्र त्याग करने की दिशा ५०
अन्धकारादि में स्वेच्छा से मलमूत्र का त्याग............................... ५१
मलमूत्र त्याग में अग्नि इत्यादि की सम्मुखता का निषेध.................. ५२
अग्नि में पैर के तपाने इत्यादि का निषेध... ५३
अग्नि को लाँघना इत्यादि का निषेध ५४
सन्ध्याकाल में भोजनादि का निषेध....... ५५
जल में मलमूत्रादि के त्याग का निषेध..... ५६
शून्य घर में शयनादि का निषेध ५७
भोजनादि काल में दाहिना हाथ को उत्तरीय से बाहर करना चाहिए....... ५८
जल पीती हुई गाय को मना करने का और इन्द्रधनुष दिखाने का निषेध..... ५९
अधार्मिकादि जनों से युक्त ग्राम में वास इत्यादि का निषेध.................. ६०
शूद्रराज्यादि में निवास का निषेध.......... ६१
अतिभोजनादि का निषेध.................. ६२
अञ्जलि से जलपानादि का निषेध ...,..... ६३
स्नातक ब्राह्मण को नाच-गान इत्यादि करने में निषेध.................... ६४
काँसे के वर्तन में पादप्रक्षालन का और टूटे हुए वर्तन में भोजन का निषेध..... ६५
दूसरों से पहने गए जूते, यज्ञोपवीत इत्यादि का धारण न करे.............. ६६
अविनीतादि पशुयान से यात्रा का निषेध ६७
विनीतादि पशुयान से यात्रा का विधान ६८
प्रातःकाल का धूप, प्रेतधूम, नखादि का छेदन इत्यादि का निषेध ६९
लोष्टमर्दन-तृणच्छेदन इत्यादि का निषेध.... ७०
मिट्टी के ढेले का मसलना, निष्फल कर्म करना इत्यादि का निषेध ७१
प्रतिस्पर्धा करके वादविवाद इत्यादि का निषेध ७२
अद्वार से ग्रामप्रवेशादि का निषेध ७३
जूआ खेलना, बिस्तरे में बैठकर भोजन करना इत्यादि का निषेध...... ७४
रात में तिलभोजन, नग्नशयन इत्यादि का निषेध ७५
गीले पाद वाला होकर भोजन करे......... ७६
दुर्गगमन, मलदर्शन, बाहु से नदीतरण न करे.. ७७
केशभस्मादि में खडा होने का निषेध...... ७८
पतितादि के साथ न रहे ७९
शूद्र को व्रतकथनादि का निषेध............ ८०
शिरःकण्डूयन-स्नानादि का निषेध......... ८२
कोप से शिरःप्रहार तथा केशग्रहण न करे . ८३
तैल से शिरःस्नात का पुनः तैलस्पर्श का निषेध.......................... ८३
अक्षत्रियराजादि से प्रतिग्रह लेने में दोष.... ८४
तैलिकादिप्रतिग्रह में दोष ८५
शास्त्रोल्लङ्घनकारी राजा से प्रतिग्रह लेने का निषेध ८७
शास्त्रोल्लङ्घनकारी राजा से प्रतिग्रह लेने पर तामिस्रादि इक्कीस नरकों में क्रमशः पतन ८८
ब्राह्म मुहूर्त में जागना चाहिए.............. ९२
प्रातःकृत्य-सन्ध्योपासनादि ९३
लम्बे समय तक सन्ध्योपासन का आयुःकीर्त्यादिवर्धकत्व.................... ९४
श्रावणी पूर्णिमा में उपाकर्म ९५
पुष्य नक्षत्र में उत्सर्जन नाम का कर्म ९६
उत्सर्जन के बाद पक्षिणी अनध्याय........ ९७
उत्सर्जन के बाद वेद का शुक्लपक्ष में और अङ्गों का कृष्णपक्ष में अध्ययन... ९८
अध्ययन के नियम........................ ९९
मन्त्रभाग का उपाकरणपूर्वक अध्ययन करना चाहिए............... १००

अनध्यायों का विवरण.................... १०१
वर्षा काल के अनध्यायदिन............... १०२
आकालिक (दूसरे दिन उसी समय तक का) अनध्याय.................. १०३
सभी ऋतुओं के अनध्याय................ १०५
सन्ध्याकाल में मेघगर्जन इत्यादि में अनध्याय............................ १०६
नगर इत्यादि में सदा अनध्याय............ १०७
श्राद्धभोजन में और ग्रहण इत्यादि में तीन दिन अनध्याय ११०
श्राद्ध के अनुलेपन के गन्ध से और लेप से युक्त होने पर वेद का अध्ययन न करे........................ १११
शय्या इत्यादि में अध्ययन का निषेध..... ११२
अमावास्या इत्यादि तिथियाँ अध्ययन में निषिद्ध हैं.......................... ११४
साम का ध्वनि सुने जा रहने पर ऋग्वेदादि अन्य वेद न पढ़े १२३
तीन वेदों की देवताएँ......................... १२४
सावित्र गायत्री का जप करके वेदपाठ करना चाहिए............... १२५
पशु मेढ़क इत्यादि गुरु-शिष्यों के बीच में आने पर अनध्याय होता है १२६
शुद्ध भूमि में शुद्ध व्यक्ति से ही वेद पढ़ा जाना चाहिए...................... १२७
ऋतुकाल में भी अमावास्या इत्यादि में स्त्री में गमन नहीं करना चाहिए १२८
भोजन किए हुए व्यक्ति का और रोगी व्यक्ति का स्नान निषिद्ध............. १२९
देवतामूर्ति इत्यादि की छाया को लाँघने में निषेध....................... १३०
चौराहे के सेवन में निषेध १३१
उवटन इत्यादि में ठहरने में निषेध १३२
शत्रु, चोर और परस्त्री की सेवा का निषेध १३३
दूसरे की स्त्री के सेवन की निन्दा....... १३४
क्षत्रिय, सर्प और ब्राह्मण का अनादर नहीं करना चाहिए.................... १३५
अपना स्वयम् अपमान न करे............. १३६
प्रिय और सत्य बोलना चाहिए................ १३८
व्यर्थ विवाद न करे............................ १३९
उषःकाल इत्यादि में अपरिचित व्यक्ति के साथ में न चले............ १४०
काना, लँगडा इत्यादि हीनाङ्ग को आक्षेप न करे १४१
उच्छिष्ट होने पर गाय इत्यादि को छूने में और सूर्य इत्यादि को देखने में निषेध.......................... १४२
अपने इन्द्रिय-गर्तों को छूने में निषेध...... १४४
मङ्गलयुक्त आचार में संलग्न होवे........ १४५
वेद के अध्ययन की प्रधानता.............. १४६
अष्टकाश्राद्ध इत्यादि अवश्य करे.......... १५०
अग्निगृह से दूरदेश में मूत्रोत्सर्गादि करे .. १५१
स्नान पूजा इत्यादि पूर्वाह्ण में करना चाहिए................................. १५२
पर्वों में देवमूर्ति गुरु इत्यादि का दर्शन करना चाहिए १५३
आए हुए वृद्धादि के सत्कार में अभिवादन इत्यादि करना चाहिए.... १५४
श्रुति-स्मृति में बताया हुआ आचार करना चाहिए १५५
आचार-पालन का फल.................... १५६
दुराचार की निन्दा १५७
आचार की प्रशंसा........................... १५८
पराधीन कर्म के त्याग का विधान १५९
अपने चित्त में परितोष करने वाला काम करना चाहिए.................... १६०
आचार्य इत्यादि की हिंसा का निषेध...... १६१
नास्तिकता इत्यादि के वर्जन का विधान .. १६२
दूसरे का ताडन इत्यादि का निषेध........ १६३
ब्राह्मण को ताडन करने के उद्योग से नरकप्राप्ति १६४

ब्राह्मण का ताडन करने से नरकप्राप्ति ... १६५
ब्राह्मण के शरीर से लहू निकालने से नरकप्राप्ति १६६
अधार्मिक इत्यादि को सुख नहीं मिलता .. १७०
अधर्म में मन नहीं लगाना चाहिए......... १७१
अधर्म के फल की उत्पत्ति धीरे से होती है १७२
शिष्यादि के शासन का नियम १७५
धर्म का विरोधी धन और सुखभोग त्याज्य हैं..........................१७६
हाथ-पावों की चञ्चलता का निषेध......१७७
अपने कुल से अपनाई गई शाखा के विधानों का अनुसरण करना चाहिए १७८
ऋत्विक् इत्यादि से विवाद न करे १७९
ऋत्विक् इत्यादि से विवाद के परिहार का फल.......................१८१
प्रतिग्रह (दान लेने के काम) की निन्दा .. १८६
प्रतिग्रह के विधि को जाने विना प्रतिग्रह नहीं लेना चाहिए............१८७
मूर्ख को सोना इत्यादि का प्रतिग्रह लेने में दोष लगता है................१८८
बैडालव्रतिक इत्यादि ब्राह्मण को दान देने का निषेध.......................१९२
बैडालव्रतिक का लक्षण १९५
बकव्रतिक का लक्षण......................१९६
बैडालव्रतिक और बकव्रतिक की निन्दा ..१९७
प्रायश्चित्त के विषय में वञ्चना नहीं करनी चाहिए.........................१९८
छल से व्रत करने में दोष......................१९९
छल से ब्रह्मचारी सन्न्यासी इत्यादि के चिह्न के धारण में दोष........... २००
दूसरे से बनाए गए तालाव इत्यादि में नहाने में दोष........................ २०१
नहीं दिए गए परकीय यानादि के भोग में दोष.......................... २०२
नदी इत्यादि में स्नान करना चाहिए....... २०३
यम का और नियम का लक्षण............ २०४
अश्रोत्रिय के यज्ञादि में भोजन में दोष.... २०५
मत्त का अन्न और केशकीटादि से दूषित अन्न नहीं खाना चाहिए २०७
रजस्वलादि से छूआ हुआ अन्न नहीं खाना चाहिए.......................... २०८
गाय से सूँघा गया अन्न और वेश्या इत्यादि का अन्न भी नहीं खाना चाहिए...... २०९
चोर इत्यादि के अन्न भोजन के लिए अयोग्य हैं २१०
राजा इत्यादि के अन्न खाने से तेज इत्यादि की हानि होती है............. २१८
राजा का अन्न खाने में प्रायश्चित्त २२२
शूद्र के पकाए हुए अन्न के ग्रहण का निषेध................................ २२३
कञ्जूस श्रोत्रिय के और उदार सूदखोर के अन्न के विषय में विचार २२४
उदार सूदखोर से श्रद्धा से दिए गए अन्न का उत्तमत्व...................... २२५
यज्ञ-यागादि श्रद्धापूर्वक करना चाहिए.... २२६
श्रद्धा से दान देने का फल.................. २२७
जल, भूमि इत्यादि के दान का फल..... २२८
वेद के दान की प्रशंसा २३३
काम्य दानों में फलविशेष की प्राप्ति २३४
विधिपूर्वक दान देने की और दान लेने की प्रशंसा....................... २३५
ब्राह्मण की निन्दा का और अपने दान के कथन का निषेध २३६
झूठ बोलना इत्यादि का फल............ २३७
धीरे-धीरे धर्मकार्य करे................... २३८
धर्म की प्रशंसा.............................. २३९
अपने से बडों से सम्बन्ध करना चाहिए, छोटों से नहीं..................२४४
इन्धन, पानी, फल, मूल इत्यादि को सभी से लेना चाहिए २४७

अपने घर में लाई हुई भिक्षा को दुष्कर्मी से भी लेना चाहिए २४८
अपने घर में लाई हुई भिक्षा को नहीं लेने में दोष २४९
शय्यादि का प्रतिग्रह लेना चाहिए......... २५०
कुटुम्बपोषण के लिए निन्दित से भी प्रतिग्रह लेना चाहिए.............. २५१
अपनी वृत्ति के लिए अनिन्द्य जन से ही प्रतिग्रह लेना चाहिए २५२
अन्न खाने के लिए स्वीकार्य शूद्रलोग २५३
शूद्र से अपना यथार्थ परिचय दिया जाना चाहिए........................ २५४
असत्य बात कहने की निन्दा............२५५
योग्य पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंपना चाहिए २५७
ब्रह्मात्मा का चिन्तन करना चाहिए.......२५८
गृहस्थधर्म का पालन करने का फल..... २६०

पञ्चम अध्याय

(गृहस्थ के धर्मों का निरूपण)

स्वधर्म का सेवन करने वाले ब्राह्मणों का मृत्यु कैसे............................ २
मृत्यु के कारण..३
लशुन, गृञ्जन इत्यादि अभक्ष्य पदार्थ...... ५
देवताओं के लिए अथवा पितरों के लिए नहीं बनाए गए मांस इत्यादि का निषेध ७
खाने में अयोग्य विविध दूध.................. ८
अम्लीकृत पदार्थों में दही इत्यादि भक्ष्य हैं................................... १०
खाने में अयोग्य पक्षियों का विवरण ११
वधस्थान के और सुखाए गए मांस इत्यादि अभक्ष्य हैं..........................१३
गाँव के सूअर और मछली इत्यादि अभक्ष्य हैं १४
मछली के भक्षण की निन्दा............... १५
खाने योग्य विशेष प्रकार की मछलियाँ १६
सर्प वानर इत्यादि के भक्षण का निषेध.... १७
खाने के लिए योग्य पाँच नाखूनों से युक्त प्राणी................................ १८
एकओर दन्तपङ्क्ति वाले खाने के लिए योग्य पशु १८
लशुन, पलाण्डु इत्यादि खाने का प्रायश्चित्त.................................... १९
यज्ञ के लिए पशुहिंसा का विधि.......... २२
पर्युषित होने पर भी भक्ष्यणीय वस्तु २४
मांस खाने का विधि........................... २७
प्रोक्षित (देव-पितृ के लिए समर्पित) मांस खाने का नियम ३१
देवता इत्यादि के लिए नहीं बनाए गए मांस खाने में निषेध........................३३
श्राद्ध में दिए गए मांस का भक्षण न करने की निन्दा........................ ३५
अप्रोक्षित मांस नहीं खाना चाहिए........... ३६
यज्ञ के लिए पशुवध करने की प्रशंसा ३९
पशुवध के लिए नियत कालों का विवरण......................................४१
वेद से अविहित हिंसा का निषेध...........४३
अपने सुख की इच्छा से पशुवध करने में दोष ४५
प्राणियों के वध और बन्धन न करने का फल.. ४६
मांसभक्षण न करने में कारण ४८
घातक कौन कौन माने जाते हैं............ ५१
मांसभक्षण न करने का फल............... ५३
सपिण्ड के शव के दाहादि करने पर आशौच......................................५८
सपिण्ड की परिभाषा ६०
जननाशौच में जननी की अस्पृश्यता.......६२
वीर्य स्खलन होने पर और रखैल का सन्तान मरने पर शुद्धि की व्यवस्था...६३

सपिण्डों के शव के स्पर्श में और समानोदक के मरण में शुद्धि की व्यवस्था...६४
गुरु के मरण में आशौच........................६५
गर्भस्राव होने पर और रजस्वला होने पर शुद्धि की व्यवस्था..................६६
बालमरणादि में आशौच ६७
दो वर्ष से कम के बच्चे के शव को भूमि में गाडने की व्यवस्था...........६८
दो वर्ष से कम के बच्चे के शव का दाहादि नहीं..............................६९
मरे हुए बालक को उदक देने की व्यवस्था..................................७०
सहपाठी के मरण में आशौच ७१
वाग्दान होने पर कन्या का आशौच...... ७२
आशौच में रहने वालों के हविष्यभोजनादि की व्यवस्था..................७३
विदेश में मरने वालों का आशौच.......... ७५
आचार्य के और उन के पुत्र के मरण में आशौच..............................८०
श्रोत्रिय के और मामा इत्यादि के मरण में आशौच.........................८१
राजा के और अध्यापकादि के मरण में आशौच..................................८२
पूर्ण आशौच.......................................८३
अग्निहोत्र के लिए शुद्धि ८४
शवस्पर्श करने पर आशौच.................. ८५
आशौच वाले के दर्शन होने पर शुद्धि की व्यवस्था ८६
मनुष्य की हड्डी का स्पर्श होने पर शुद्धि की व्यवस्था........................ ८७
ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त न होने तक प्रेतोदकदानादि नहीं करना चाहिए......... ८८
पतित इत्यादि को उदकदान नहीं देना चाहिए.................................... ८९
व्यभिचारिणी स्त्री इत्यादि को उदकदान नहीं देना चाहिए............ ९०
पिता इत्यादि के शव के निर्हरण में ब्रह्मचारी को दोष नहीं लगता है...... ९१
शूद्रादि के शव को नगर के दक्षिणदिशा इत्यादि से निकालना चाहिए.......... ९२
राजा इत्यादि को आशौच नहीं लगता है... ९३
राजा की उसी काल में शुद्धि होती है...... ९४
वज्रादि से मरने वालों का तत्काल शुद्धि होती है................................. ९५
राजा का आशौच के अभाव की स्तुति..... ९६
क्षत्रियधर्म से मारे गए व्यक्ति की तत्काल शुद्धि.............................. ९८
आशौच की समाप्ति पर कर्तव्य कर्म...... ९९
असपिण्ड जनों के मरण में आशौच १००
असपिण्ड जन के शव के निर्हरण में आशौच.................................... १०१
आशौच वाले जन का अन्न खाने में आशौच १०२
शवनिर्हारकों का अनुगमन करने पर शुद्धि की व्यवस्था........................ १०३
ब्राह्मणशव का शूद्र से निर्हरण नहीं कराना चाहिए.............................. १०४
शुद्धि के कारण ज्ञानादि का विवरण १०५
धन के व्यवहार में शौच की प्रशंसा १०६
क्षमादान, जप और तप का शुद्धिजनकत्व...........................१०७
मलसहित होने पर नदी, स्त्री और ब्राह्मण की शुद्धि के कारण..........१०८
शरीर, मन, भूतात्मा और बुद्धि की शुद्धि के कारण.............................१०९
द्रव्यों की शुद्धि की व्यवस्था ११०
सोना, मणि इत्यादि की शुद्धि की व्यवस्था..१११
घी इत्यादि की और शय्या इत्यादि की और लकडी की शुद्धि ११५
यज्ञपात्रों की शुद्धि.................................११६
धान्यों की और वस्त्रों की शुद्धि की व्यवस्था..................................११८

चमडा, बाँस के भाण्ड, शाक, फल, और मूल की शुद्धि.................. ११९

कम्बल की और पट्टवस्त्र इत्यादि की शुद्धि.............................. १२०

शङ्ख, सींग, हाथीदाँत के वस्तु इत्यादि की शुद्धि १२१

घास-फूस, लकडी, घर इत्यादि की शुद्धि की व्यवस्था.................. १२२

लहू इत्यादि से दूषित मिट्टी के वर्तन की शुद्धि............................ १२३

भूमि की शुद्धि की व्यवस्था.............. १२४

पक्षियों से खाए गए और गाय से सूँघे हुए पदार्थ इत्यादि की शुद्धि की व्यवस्था............................... १२५

अशुद्ध पदार्थ के गन्ध से और लेप से युक्त वस्तु की शुद्धि १२६

तीन पवित्र वस्तु................................ १२७

जल की शुद्धि की व्यवस्था.................. १२८

सदा शुद्धपदार्थ १२९

छूने में सदा शुद्धपदार्थ १३२

मूत्र इत्यादि मल के त्याग करने पर शुद्धि की व्यवस्था.................. १३४

बारह प्रकार के मल........................ १३५

शुद्धि के लिए मिट्टी के और जल के प्रयोग में नियम...................... १३६

ब्रह्मचारी गृहस्थ इत्यादि के शौच में नियम १३७

आचमन का विधि............................ १३९

ब्राह्मण के सेवक शूद्रों के क्षौर का और भोजन का नियम................ १४०

मुख से निकलने वाले बूँदों की और मूँछ की शुद्धता....................... १४१

आचमन कराने के समय में पाँव में पडे हुए बूँद शुद्ध ही माने जाते हैं.... १४२

हाथ में वस्तु लेने वाले के उच्छिष्ट-स्पर्श में व्यवस्था १४३

उल्टी होने पर, ज्यादा दस्त होने पर और मैथुन करने पर शुद्धि १४४

निद्रित होने पर, छींक आने पर और भोजन करने पर शुद्धि................. १४५

ब्राह्मणस्त्रियों के धर्म........................... १४६

स्त्री से स्वतन्त्रता नहीं लेनी चाहिए....... १४७

स्त्री किस के वश में रहे इस विषय का नियम १४८

स्त्री प्रसन्न होकर गृहकार्य करे १५०

स्वामी की शुश्रूषा................................ १५१

स्त्री के ऊपर पति के स्वामित्व में कारण.. १५२

स्वामी की प्रशंसा................................ १५३

स्त्री के लिए पृथक् यज्ञ का अभाव १५५

स्त्री स्वामी का अप्रिय कार्य न करे...... १५६

पति मरने पर स्त्री के धर्म.................. १५७

परपुरुष में गमन की निन्दा.................. १६१

पतिव्रत के पालन का फल.................. १६५

पत्नी मरने पर उस का श्रौत अग्नि से दाह करे............................... १६७

पत्नी मरने पर फिर विवाह करे और फिर अग्न्याधान करे.................... १६८

गृहस्थाश्रम में रहने के काल का अवधि... १६९

षष्ठ अध्याय

(वानप्रस्थधर्म का और सन्न्यासिधर्म का निरूपण)

वानप्रस्थाश्रम में जाने का समय............ १

पत्नी से सहित अथवा रहित पुरुष वन में निवास करे........................ ३

वानप्रस्थ को फलमूलों से अथवा मुनि-धान्य से पञ्चमहायज्ञ करना चाहिए ५

वानप्रस्थ चमडा, वल्कलवस्त्र और जटा इत्यादि का धारण करे............ ६

अतिथि की सेवा करनी चाहिए............ ७

वानप्रस्थ-आश्रम में रहने वालों के नियम ... ८
मधु, मांस इत्यादि का वर्जन ... १४
आश्विन मास में (इष मास में) सञ्चित नीवार इत्यादि का त्याग करना चाहिए ... १५
फाली से जुती हुई भूमि में उगे हुए अन्नों का वर्जन करे ... १६
अग्नि से पके हुए वस्तुओं को खाने वाले, काल से पके हुए वस्तु को ही खाने वाले इत्यादि वानप्रस्थों के प्रकार ... १७
मुनिधान्य इत्यादि के सञ्चय के नियम ... १८
वानप्रस्थ के भोजन का काल इत्यादि ... १९
वानप्रस्थ का भूमि में करवट बदलते रहना ... २२
ग्रीष्मादि ऋतुओं में वानप्रस्थ के कृत्य ... २३
अपने देह का शोषण ... २४
अग्निकर्म करने में अशक्त होने पर स्वदेह में अग्नि का समारोपण ... २५
पेड के नीचे भूमि में सोना इत्यादि ... २६
भिक्षा माँगने के नियम इत्यादि ... २७
उपनिषद् इत्यादि का पाठ ... २९
महाप्रस्थान (मरण न होने तक उत्तर की ओर चलते रहना) ... ३१
परिव्रज्या का (सन्न्यास का) समय ... ३३
ब्रह्मचर्य इत्यादि के क्रम से सन्न्यास में जाए ... ३४
ऋषिऋण, देवऋण, पितृऋण इत्यादि चुकाकर सन्न्यास में जाए ... ३५
वेद का अध्ययन इत्यादि करके सन्न्यास में जाए ... ३६
प्राजापत्येष्टि करके सन्न्यास में जाए ... ३८
प्राणियों को अभयदान देने का फल ... ३९
निस्स्पृह (किसी चीज की भी इच्छा न करने वाला) होकर सन्न्यास में जाए ... ४१
मोक्ष के लिए अकेला ही घूमे ... ४२
परिव्राजक के (सन्न्यासी के) नियम ... ४३
मुक्त जन का लक्षण ... ४४
जीने की कामना से भी रहित होना चाहिए ... ४५
परिव्राजक का (सन्न्यासी का) आचार ... ४६
उत्पात शाकुन इत्यादि के कथन से भिक्षा लेने में निषेध ... ५०
केश, मूँछ, दण्ड, कमण्डलु इत्यादि के नियम ... ५२
सन्न्यासी के भिक्षापात्र के नियम ... ५३
एक शाम ही भिक्षा माँगे ... ५५
भिक्षा माँगने की वेला ... ५६
भिक्षा मिलने और न मिलने पर हर्ष और विषाद नहीं करना चाहिए ... ५७
सत्कार-पूजा करके दी हुई भिक्षा का निषेध ... ५८
इन्द्रियों को वश में रखना चाहिए ... ५९
संसार की गति को देखना चाहिए ... ६१
सुख और दुःख के हेतु धर्म और अधर्म ही हैं ... ६४
लिङ्ग (चिह्नविशेष) मात्र धर्म का कारण नहीं है ... ६६
भूमि में देखकर पर्यटन करना चाहिए ... ६८
छोटे जन्तुओं की हिंसा का प्रायश्चित्त ... ६९
प्राणायाम की प्रशंसा ... ७०
ध्यानयोग से आत्मा की गति को देखे ... ७३
सम्यग्दर्शन से युक्त जन का संसारबन्ध नहीं होता है ... ७४
मोक्ष के साधक कर्म ... ७५
देह का स्वरूप ... ७६
देह के त्याग में दृष्टान्त ... ७८
प्रिय जन में पुण्य का और अप्रिय जन में पाप का सङ्क्रमण ... ७९
इन्द्रियों के विषयों में अनभिलाषा ... ८०
आत्मा का ध्यान ... ८२
ब्रह्म के (वेद के) जप का (अध्ययन का) विधान ... ८३
ब्रह्म की (वेद की) प्रशंसा ... ८४
परिव्रज्या का (सन्न्यास का) फल ... ८५

वेदसन्न्यासिक के कर्म........................८६
ब्रह्मचर्याश्रम इत्यादि चार आश्रम.......... ८७
सभी आश्रमों का फल ८८
गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता ८९
धृति, क्षमा इत्यादि दश धर्मों की सभी आश्रमियों के लिए सेवनीयता.........९१
धृति, क्षमा इत्यादि दश प्रकार के धर्म..... ९२
दश प्रकार के साधारण धर्मों के सेवन का फल..................९३
सभी कर्मों को छोडकर वेद का ही अभ्यास करे.................. ९५
वेदसन्न्यास का फल ९६

सप्तम अध्याय

(राजधर्म का निरूपण)

राजा के धर्म १
संस्कार से युक्त क्षत्रिय का प्रजारक्षण...... २
प्रजा की रक्षा के लिए इन्द्रादि के अंश से राजा की उत्पत्ति........................३
राजा की प्रशंसा ६
राजा का द्वेष करने की निन्दा..............१२
राजा से स्थापित धर्म की रक्षणीयता १३
दण्ड की उत्पत्ति............................१४
दण्ड का प्रयोग.................................१६
दण्ड की प्रशंसा १७
विचारपूर्वक प्रयुक्त और अविचारपूर्वक प्रयुक्त दण्ड का फल..........१९
दण्ड करने योग्य जन को दण्ड न करने की निन्दा........................ २०
फिर दण्ड की प्रशंसा........................... २२
दण्ड देने वाला कैसा हो?.................. २६
अधर्म से दण्ड देने में राजादि का दोष..... २८
सहायरहित और मूर्खादि राजा से न्यायपूर्वक दण्ड नहीं दिया जा सकता है... ३०
सत्यवादित्वादि गुण से युक्त राजा से दण्ड दिया जाना चाहिए............... ३१
अपने राष्ट्र के जनों में, शत्रु में, मित्रों में और ब्राह्मण में राजा का कैसा व्यवहार हो............................३२
न्यायमार्ग में चलने वाले राजा की प्रशंसा.. ३३
खराब चरित्र वाले राजा की निन्दा.........३४
राजा को तीन वेदों के ज्ञाता वृद्ध ब्राह्मणों की सेवा करनी चाहिए और उन के उपदेश से काम करना चाहिए ३७
राजा को विनय प्राप्त करना चाहिए....... ३९
राजा के अविनय की निन्दा....................४०
राजा के अविनय के फल का दृष्टान्त.......४१
विनय से राज्यादि की प्राप्ति में दृष्टान्त ४२
राजा से विद्या का ग्रहण.......................४३
राजा इन्द्रियों को वश में रखे.................. ४४
काम-क्रोधों से उत्पन्न होने वाले व्यसन का त्याग करना चाहिए....... ४५
काम से उत्पन्न होने वाले दश व्यसन ४७
क्रोध से उत्पन्न होने वाले आठ व्यसन..... ४८
सभी व्यसनों के मूल लोभ का त्याग ४९
अत्यन्त दुःख देने वाले व्यसन ५०
व्यसन की निन्दा.................................. ५३
सचिवों का विधान ५४
सन्धि, विग्रह (युद्ध) इत्यादि का चिन्तन... ५६
मन्त्रियों से विचार करके अपना हित करना चाहिए ५७
राजा विद्वान् ब्राह्मण मन्त्री से मुख्य विषयों में मन्त्रणा करे................. ५८
अन्य अमात्यों का (सहचरों का) विधान...६०
खानियों के और अन्दरूनी कामों के अमात्यों की व्यवस्था....................६२
दूत का लक्षण ६३
सेनापति इत्यादि का कार्य.................... ६५
दूत की प्रशंसा ६६

राजा दूसरे राजाओं के इष्ट कार्य को दूत से जाने........६७
जाङ्गल देश में आश्रय लेने का विधान.....६९
दुर्गों के प्रकार (भेद)........७०
दुर्ग को हथियारों से और अन्न से पूर्ण करना चाहिए........७५
रूप और गुण से युक्त कन्या से ब्याह करना चाहिए........७७
पुरोहित इत्यादि का वरण........७८
यज्ञादि का अनुष्ठान करना चाहिए........७९
कर का ग्रहण करना चाहिए........८०
कार्यविभागों में अध्यक्षों की व्यवस्था करे........८१
स्नातक ब्राह्मणों को वृत्ति दे........८२
ब्राह्मणों को वृत्ति देने की प्रशंसा........८३
सत्पात्र में दान देने का फल........८५
युद्ध के लिए बुलाए जाने पर राजा को पराङ्मुख नहीं होना चाहिए........८७
युद्ध में सम्मुख होकर मरने पर स्वर्ग की प्राप्ति........८९
युद्ध में कूट शस्त्राऽस्त्र के प्रयोग इत्यादि का निषेध........९०
युद्ध में अवध्य लोग........९१
डरे हुए और पलायन करते हुए इत्यादि के वध में दोष........९४
युद्ध में पराङ्मुख होने पर मारे जाने वाले का दोष........९५
युद्ध में जो धन जिस से जीता जाता है वह उसी का होता है........९६
युद्ध में विजित श्रेष्ठ वस्तु राजा को दिया जाना चाहिए........९७
जो नहीं पाया गया है उस को पाने की इच्छा करे........९९
सदा घोडे और योद्धाओं का अभ्यास होता रहे........१०२
सदा उद्यमशील सेना से युक्त राजा से सारा जगत् डरता है........१०३
अपने सहचरों में छल इत्यादि से युक्त व्यवहार न करे........१०४
स्वामी, अमात्य, मित्र इत्यादि प्रकृति में बेमेल होने की बात को (छिद्र को) गुप्त रखे........१०५
अर्थ इत्यादि का चिन्तन........१०६
विजय के विरोधियों को वश में रखे.....१०७
सामरूप और दण्डरूप उपायों की प्रशंसा........१०९
राष्ट्र की रक्षा........११०
प्रजा का पीडन करने में दोष........१११
राष्ट्र की रक्षा करने में सुख........११३
ग्रामपति, दशग्रामाधिपति इत्यादि की व्यवस्था........११५
ग्राम में उत्पन्न दोष को ऊपर के अधिकारी में निवेदन........११६
ग्राम के अधिपति की वृत्ति........११८
ग्राम के अधिपति इत्यादि के कार्य को अन्य सचिव देखे........१२०
प्रत्येक नगर में अर्थचिन्तक रखा जाना चाहिए........१२१
नगर के अर्थचिन्तक के काम को राजा स्वयम् देखे........१२२
घूस इत्यादि लेने वालों का दण्ड........१२३
सेवक इत्यादि की वृत्ति की व्यवस्था....१२५
बनिया इत्यादि से कर लेने की व्यवस्था..१२७
कर थोडा-थोडा ही लेने का विधान......१२९
धान्य इत्यादि के कर की व्यवस्था......१३०
वेद पढने वालों से कर नहीं लेना चाहिए..१३३
वेद पढने वालों की वृत्ति की व्यवस्था करे........१३४
साग-सब्जी इत्यादि बेचने वालों से थोडा ही कर ले........१३७
शिल्पी इत्यादि को कर के लिए काम में लगाए........१३८

कुछ भी कर न लेने की और अधिक कर लेने की व्यवस्था न करे १३९
आवश्यकता के अनुसार समय में तीक्ष्णता और मृदुता अपनाए १४०
समय न रहने पर सहचर को कार्यदर्शन में लगाए १४१
दस्युओं का नियन्त्रण करे १४३
प्रजाओं के पालन के कार्य का श्रेष्ठत्व.... १४४
सभा का काल १४५
एकान्त में गोप्य मन्त्रणा करे १४७
सम्मन्त्रणा के समय मन्दबुद्धि, गूँगा इत्यादि को सम्मन्त्रणा के स्थल से दूर करे १४९
धर्म, अर्थ और काम का चिन्तन करे १५१
दूत भेजने का काम इत्यादि १५३
प्रकृति के प्रकार १५६
शत्रु के प्रकार १५८
सन्धि, विग्रह, यान इत्यादि छह गुण १६०
सन्धि के और विग्रह के प्रकार १६२
सन्धि का और विग्रह का समय १६९
बलवान् राजा के आश्रयण का काल..... १७४
अपने को सब से अधिक बलवान् बनाए..१७७
आगामी कार्यों के गुणों का और दोषों का चिन्तन १७८
राजा की रक्षा १८०
शत्रु के राज्य में अभियान का विधि...... १८१
शत्रु का सेवन करने वाले मित्रादि से सावधान होना चाहिए १८६
व्यूह-रचना का विधान १८७
जलादि में युद्ध के प्रकार १९२
सेना के अग्रभाग में रहने में योग्य जन ... १९३
सैन्य का परीक्षण करते रहना चाहिए १९४
परराष्ट्र के पीडन का विधान १९५
शत्रु राजा की प्रकृतियों में फूट डालना इत्यादि.............................. १९७
अन्य उपाय नरहने पर युद्ध................ २००
विजय होने पर ब्राह्मणों का पूजन और प्रजा को अभयदान करना चाहिए.... २०१
जीते गए राजा के वंशज को ही उस के राज्य का दान............................ २०२
सन्धि का विधान............................ २०६
मित्र की प्रशंसा.................................. २०८
शत्रु के गुण २१०
उदासीन के (मध्यस्थ के) गुण २११
अपनी रक्षा के लिए भूमि इत्यादि का त्याग.. २१२
आपत्काल में उपाय का चिन्तन.......... २१४
राजा के भोजन की रीति २१६
अन्न-पान की परीक्षा........................... २१७
राजा के विहार इत्यादि का नियम........ २२१
शस्त्र-अस्त्रादि का अवलोकन २२२
सन्ध्योपासन के बाद गुप्तचरों की चेष्टा इत्यादि का ज्ञान करना चाहिए....... २२३
रात में भोजन इत्यादि कार्य २२४
राजा अस्वस्थ होने पर उत्तम सहचरों में कार्यों के सम्पादन का भार रखे... २२६

अष्टम अध्याय

(व्यवहार-पदों के [मुकदमों के] दर्शन का विधान)

व्यवहारों को (मुकदमों को) देखने की इच्छा करता हुआ राजा सभा में प्रवेश करे १
देश में प्रचलित और शास्त्रोक्त नियम से व्यवहार (मुकदमा) देखा जाना चाहिए ३
अष्टादश व्यवहारपद (मुकदमों के अठारह विषय) ४
शाश्वत धर्म का आश्रयण करके व्यवहारों को देखना चाहिए............. ८

स्वयम् अशक्त होने पर व्यवहार के कार्य को देखने के लिए विद्वान् ब्राह्मण नियुक्त किया जाना चाहिए............ ९

तीन सभ्यों के साथ रहकर विद्वान् ब्राह्मण से व्यवहारकार्य (मुकदमा) देखा जाना चाहिए........ १०

सभा की (सभ्य और द्रष्टा के समुदाय की) प्रशंसा........................ ११

अधर्म का विजय होने पर सभा में रहने वालों का दोष..................... १२

सभा में धर्मसम्मत और युक्तिसङ्गत बात ही बोली जानी चाहिए............ १३

अधर्म के विजय होने पर सभा में रहने वालों का दोष..................... १४

धर्म के अतिक्रमण में दोष १५

दुर्व्यवहार होने पर राजा इत्यादि को पाप लगता है १८

अर्थी के और प्रत्यर्थी के पाप का यथार्थ निर्णय करने का फल १९

व्यवहारदर्शन के कार्य में शूद्र के नियोग का निषेध......................... २०

शूद्र से व्यवहारदर्शन कराने से हानि....... २१

लोकपालों को प्रणाम करके कार्यदर्शन करना चाहिए २३

ब्राह्मणादि के क्रम से कार्य देखना चाहिए....................................... २४

स्वर, वर्ण इत्यादि से अर्थी प्रत्यर्थी इत्यादि की परीक्षा................. २५

बालक के धन का राजा से रक्षा की जानी चाहिए........................ २७

वन्ध्या स्त्री के धन का रक्षण करना चाहिए.................................. २८

वन्ध्या इत्यादि स्त्री के धन का हरण करने वाले का दण्ड................ २९

स्वामिरहित (लावारिस) धन की रक्षा की कालसीमा......................... ३०

खोए हुए द्रव्य के रूप के और सङ्ख्या के कथन ठीक होने पर द्रव्य अर्पणीय होता है ३१

खोए हुए द्रव्य के रूप के और सङ्ख्या के न कह सकने पर दण्ड............. ३२

खोए हुए द्रव्य से राजा को छठा भाग लेना चाहिए.................................. ३३

चोर को जान से मार देना चाहिए.......... ३४

निधि इत्यादि में राजा को छठा अथवा बारहवाँ भाग लेना चाहिए............ ३५

दूसरे के निधि के विषय में झूठ बोलने पर दण्ड ३६

ब्राह्मण से पाए गए निधि के विषय में व्यवस्था............................ ३७

राजा से निधि पाए जाने पर आधा ब्राह्मण को देना चाहिए............... ३८

चोर से चुराया गया धन राजा से दिया जाना चाहिए........................ ४०

जातिधर्म-देशधर्म के अविरोधी धर्म का स्थापन करना चाहिए................ ४१

राजा को स्वयं विवाद उठाना और उठे हुए विवाद का उपेक्षण करना भी नहीं चाहिए ४३

अनुमान से कार्यतत्त्व का निश्चय करना चाहिए........................... ४४

सत्य इत्यादि से व्यवहार देखा जाना चाहिए................................... ४५

सज्जनों से चले गए रास्ते में चलना चाहिए................................... ४६

ऋणरूप में लिया गया धन दिलाना चाहिए................................ ४७

पराजित का (हारने वाले का) लक्षण...... ५३

अभियोग लगाने वाले के दण्ड की व्यवस्था................................ ५८

धनपरिमाण के विषय में झूठ बोलने पर दण्ड................................ ५९

साक्षियों से सावित किया जाना चाहिए............................ ६०
साक्षी होने में योग्य जन ६१
साक्षी होने में अयोग्य जन.................... ६४
स्त्री के व्यवहारों में स्त्रियों का साक्षित्व ६८
अवस्थाविशेष में और देशविशेष में जानने वाले जिस किसी का भी साक्षित्व..... ६९
बालादि का साक्षित्व बालादि से भी होता है ७०
साहसादि के विषय में साक्षी की परीक्षा नहीं होती है.................. ७२
साक्षियों में मतभेद होने पर व्यवस्था ७३
साक्षी का सत्यकथन आवश्यक ७४
भूठ गवाही देने में दोष.......................... ७५
देखने वाले और सुनने वाले साक्षी ७६
धर्म जानने वाला एक भी साक्षी होता है... ७७
साक्षी से स्वभाव से बोला गया वचन ग्राह्य होता है ७८
साक्षी को पूछने का विधान................... ७९
साक्षियों से सत्य बोला जाना चाहिए....... ८१
एकान्त में किए गए कर्मों को आत्मा इत्यादि जानते हैं............................. ८४
ब्राह्मण इत्यादि साक्षियों को पूछने की व्यवस्था.............................. ८७
असत्य बोलने में दोष ८९
सत्य की प्रशंसा ९२
असत्य बोलने का फल ९३
फिर सत्य बोलने की प्रशंसा.................... ९६
भूठ गवाही देने का विषयविशेष से फलविशेष ९७
निन्दित कर्म करने वाले ब्राह्मणों को शूद्रों की तरह ही पूछे................. १०२
कुछ विषयों में असत्य कहने में दोष का अभाव १०३
भूठ बोलने में प्रायश्चित्त................... १०५
तीन पखवाडे तक गवाही न देने पर दण्ड . १०७
साक्षी में रोग, पुत्त्रमरण इत्यादि देखे जाने पर उस साक्षी से कहे गए पक्ष का हार १०८
साक्षी से रहित मुकदमें में शपथ का प्रयोग... १०९
व्यर्थ शपथ खाने में दोष......................... १११
कुछ विषयों में व्यर्थ शपथ खाने में दोष का अभाव ११२
ब्राह्मण इत्यादि में शपथ की व्यवस्था.... ११३
शूद्र के शपथ में व्यवस्था ११४
शपथ खाने पर शुद्ध जन का लक्षण...... ११५
फिर मुकदमे में विचार............................ ११७
लोभ इत्यादि से भूठी गवाही देने पर दण्ड... ११८
दण्ड के लिए हाथ इत्यादि दश स्थान.... १२४
अपराध के अनुसार दण्ड दिया जाना चाहिए....................................... १२६
अधर्म से दण्ड करने की निन्दा........... १२७
दण्ड देने में अयोग्य को दण्ड देने में और दण्ड देने में योग्य को दण्ड नहीं देने में दोष १२८
वाग्दण्ड धिग्दण्ड इत्यादि दण्डों के भेद... १२९
त्रसरेणु इत्यादि का परिमाण १३१
प्रथम साहस, मध्यम साहस और उत्तम साहस.................................. १३८
ऋण नहीं चुकाने पर दण्ड १३९
वृद्धि की (सूद की) व्यवस्था............... १४०
रेहन अथवा गिरवी रखने पर वृद्धि का अभाव.. १४३
बलपूर्वक गिरवी का भोग करने पर व्यवस्था... १४४
बन्धक में और न्यास में काल का नियम... १४५
गाय इत्यादि में भोग करने पर भी स्वत्व नहीं जाता है १४६
बन्धक, सीमा इत्यादि में भोग से स्वत्व नहीं जाता है......................... १४७

बलपूर्वक बन्धक का भोग करने पर आधे सूद की हानि १५०

दुगुने से ज्यादा वृद्धि (सूद) नहीं मिल सकता है १५१

वृद्धि के (सूद के) प्रकार (भेद) १५२

फिर लेख बनाने में व्यवस्था १५४

देश में और काल में नियत वृद्धि की व्यवस्था १५६

दर्शनप्रतिभू (दिखाने वाले जमानतदार) के विषय में व्यवस्था १५८

प्रातिभाव्य (जमानतदारी) से पिता से देय द्रव्य पुत्र से देय नहीं होता है ... १५९

दानप्रतिभू (धन देने के लिए जमानत देने वाले) के विषय में व्यवस्था..... १६०

धन सौंपे गए प्रतिभू (जमानतदार) के विषय में व्यवस्था १६२

मत्त, उन्मत्त इत्यादि से किए गए व्यवहार की असिद्धि १६३

कुटुम्ब के लिए लिया गया ऋण देय होता है १६६

बलपूर्वक किया गया सब कार्य अकृत (निरस्त) होता है १६८

दूसरों के लिए काम करने पर दुःख पाने और धन पाने वाले १६९

राजा को अग्राह्य अर्थ नहीं लेना चाहिए और ग्राह्य अर्थ नहीं छोडना चाहिए ... १७०

अग्राह्य के ग्रहण में और ग्राह्य के त्याग में दोष १७१

ग्राह्य का ग्रहण, दुर्बल का रक्षण इत्यादि का फल १७२

अधर्म से व्यवहार-दर्शनादि करने में दोष १७४

धर्म से कार्य करने का फल १७५

धनिक के लिए ऋणिक से धन प्राप्त करने में व्यवस्था १७६

धन के अभाव में काम से ऋणशोधन की व्यवस्था १७७

निक्षेप (धरोहर) की व्यवस्था १७९

साक्षी के अभाव में निक्षेप (धरोहर) का निर्णय १८२

निक्षेप के दान में निर्णय १८५

स्वयम् निक्षेप के समर्पण में व्यवस्था १८६

मुद्राचिह्न से युक्त बन्द निक्षेप में व्यवस्था १८८

चोर से चुराए गए इत्यादि निक्षेप में व्यवस्था १८९

निक्षेप के हडपने पर शपथ की व्यवस्था १९०

निक्षेप का अपहरण इत्यादि में दण्ड......१९१

छल से धन का अपहरण करने में दण्ड..१९३

निक्षेप के विषय में झूठ बोलने पर दण्ड ..१९४

निक्षेप देने में और लेने में नियम..........१९५

दूसरे के वस्तु का विक्रय करने वाले का असाक्षित्व १९७

प्रकाश रूप में कीनने पर मूल्य धन की प्राप्ति २०१

अपद्रव्य से मिश्रित वस्तु के विक्रय का निषेध २०३

दूसरी कन्या दिखाकर दूसरी कन्या देने में दण्ड २०४

पागल, कुष्ठिनी इत्यादि कन्या देने में व्यवस्था.................................... २०५

ऋत्विक् लोगों को दक्षिणा देने में व्यवस्था.................................... २०६

अध्वर्यु इत्यादि की दक्षिणा २०९

साझेदारी का नियम.......................... २११

प्रतिज्ञात (कबूल किया गया) वस्तु न देने में व्यवस्था २१२

भृति (मजदूरी) लेने पर काम न करने में दण्ड २१५

सम्झौता तोडने पर व्यवस्था................. २१८

कीनने पर पश्चत्ताप होने में व्यवस्था २२२

दोष न बताकर दोषवती कन्या देने में दण्ड.............................. २२४
कन्या का झूठ दोष कहने में दण्ड २२५
पाणिग्रहण के वैदिक मन्त्र कन्या में ही प्रयुक्त होते हैं...................... २२६
सप्तपदी होने पर पाणिग्रहण मन्त्रों की पूर्णता............................ २२७
पशुओं के स्वामी के और पालक (चरवाह) के विवाद में व्यवस्था.... २२९
दूध से मजदूरी देने पर व्यवस्था.......... २३१
पालक (चरवाह) के दोष से पशु नष्ट होने पर व्यवस्था २३२
चोर से पशु चुराये जाने पर व्यवस्था..... २३३
मरे हुए पशु के कान चमडा इत्यादि दिखाना चाहिए.......................... २३४
वृक (भेडिया) से मारे जाने पर व्यवस्था.............................. २३५
पशु से सस्य (फसल) नष्ट किए जाने पर व्यवस्था............................ २३७
ग्रामादि की सीमा के विवाद में व्यवस्था.. २४५
सीमा में रखे जाने वाले वृक्ष............. २४६
गुप्त रूप में रखे जाने वाले सीमाचिह्न.... २४९
भोग के प्रमाण से सीमा का निर्णय...... २५२
सीमा में साक्षी लोग २५३
साक्षी से कथित सीमा को पञ्जीबद्ध (लेखबद्ध) करे.......................... २५५
सीमाविवाद में गवाही देने का विशेष विधान.............................. २५६
अन्यथा कहने पर दण्ड........................ २५७
गवाही देने वाले के अभाव में ग्राम-सामन्तों को पूछना चाहिए २५८
सामन्तों से झूठ कहे जाने पर दण्ड २६३
घर इत्यादि के हरण करने में दण्ड...... २६४
सीमा के ज्ञान न हो सकने पर राजा ही सीमा निर्धारित करे २६५
वाक्पारुष्य में (कठोर वचन बोलने में) दण्ड २६६
ब्राह्मण आदि को गाली देने में दण्ड...... २६७
तुल्य वर्ण के मनुष्य को गाली देने में दण्ड.. २६९
शूद्र से द्विजाति को गाली दिए जाने पर दण्ड.. २७०
ब्राह्मण को धर्मोपदेश देने वाले शूद्र में दण्ड.................................. २७२
अध्ययन, देश और जाति से सम्बद्ध आक्षेप करने में दण्ड २७३
अङ्गविकारादि को लेकर आक्षेप करने में दण्ड २७४
माता पिता इत्यादि को गाली देने में दण्ड.. २७५
पतनीय कर्म का आरोप करके गाली देने में दण्ड................................ २७६
दण्डपारुष्य (ताडन) में दण्ड की व्यवस्था.................................. २७८
ब्राह्मण इत्यादि को ताडन करने वाले शूद्र में दण्ड २७९
पैर से हाथ से और डण्डे से मारने पर दण्ड.. २८०
बडे के साथ में बैठने पर दण्ड............ २८१
थूक देना इत्यादि में दण्ड २८२
केश में पकडना इत्यादि में दण्ड.......... २८३
चमडे को छेद देना इत्यादि में दण्ड..... २८४
वनस्पति (पेड) को काटने पर दण्ड..... २८५
मनुष्यों को दुःख पहुँचाने पर दण्ड........ २८६
चिकित्सादि का व्यय देने की व्यवस्था................................ २८७
द्रव्य में क्षति पहुँचाने पर दण्ड २८८
चमडे के भाण्डादि के नाश करने में दण्ड.. २८९
यानादि के दण्डाऽभाव में दश कारण..... २९०
रथ के स्वामी आदि के दण्ड में नियम... २९३
भार्या इत्यादि के ताडन में व्यवस्था..... २९९

पीठ पर ही ताडन करने का नियम....... ३००
चोर के नियन्त्रण में व्यवस्था............ ३०१
चोरादि से अभयदान देने का फल........ ३०३
राजा राष्ट्र में किए गए धर्म का और अधर्म का भी छठे भाग का भागी होता है.......................... ३०४
रक्षा न करके कर लेने की निन्दा......... ३०७
पापियों के निग्रह का और साधुओं के सङ्ग्रह का फल....................... ३१०
आक्षेप करने वाले कार्यार्थियों में और बाल-वृद्धादि में क्षमा करनी चाहिए.. ३१२
ब्राह्मण का स्वर्ण चुराने वाले का कर्तव्य ३१४
चोर को दण्ड न देने पर राजा का दोष... ३१६
भ्रूणहा इत्यादि के पाप का अन्न खाने वाला इत्यादि में सङ्क्रमण.......... ३१७
राजा से दण्ड पाने से पाप का नाश....... ३१८
कुँएँ का घट इत्यादि के अपहरण में और पौवे के तोडने में दण्ड......... ३१९
धान्यादि चुराने में दण्ड..................... ३२०
सोना इत्यादि चुराने पर दण्ड ३२१
स्त्री, पुरुष इत्यादि के अपहरण में दण्ड.. ३२३
बडे पशुओं को चुराने में दण्ड ३२४
सूत, कपास इत्यादि को चुराने में दण्ड... ३२६
हरित धान्यादि चुराने में दण्ड............. ३३०
असम्बद्ध और सम्बद्ध चोरों में दण्ड की व्यवस्था......................... ३३१
चोरी का और डकैती का लक्षण.......... ३३२
संस्कृत वस्तुओं को और श्रौत वा गृह्य अग्नि को चुराने में दण्ड........ ३३३
चोर का हाथ इत्यादि काट देने की व्यवस्था................................ ३३४
अपराध करने पर राजा के लिए पिता आचार्य इत्यादि भी दण्ड्य होते हैं... ३३५
सामन्त राजा के दण्ड में विशेष व्यवस्था . ३३६
चोरी में शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण में दण्ड में उत्तरोत्तर वृद्धि........... ३३७
स्तेय दोष से मुक्त वस्तुविशेष............ ३३९
चोर से याजनादि से भी धन प्राप्त करने का दोष......................... ३४०
क्षीणवृत्ति पथिक ब्राह्मण से रास्ते के दो ईख और दो मूली लेने पर दण्ड नहीं होता है.................. ३४१
दास, अश्व, रथ इत्यादि के हरण में दण्ड .. ३४२
राजा साहसिक (डकैत इत्यादि) जन की उपेक्षा न करे ३४४
साहस कर्म में क्षमा की निन्दा ३४६
द्विजातिओं से शस्त्र-ग्रहण का काल...... ३४८
आततायी के हनन में दोष का अभाव..... ३५०
दूसरे की स्त्री के धर्षण में दण्ड.......... ३५२
दूसरे की स्त्री से एकान्त में बोलने पर दण्ड................................ ३५४
स्त्री के सङ्ग्रहण (भोगेच्छा का चिह्न) में व्यवस्था......................३५८
भिक्षुक इत्यादि के परस्त्री से सम्भाषण में दण्ड का अभाव ३६०
दूसरे की स्त्री से निषिद्ध रूप में बोलने में दण्ड.......................... ३६१
नट इत्यादि की स्त्रियों से बोलने में दोष का अभाव ३६२
कन्या के दूषण में दण्ड ३६४
कन्या की योनि में अङ्गुली घुसाना इत्यादि में दण्ड ३६७
भर्ता का लङ्घन करने वाली स्त्री का और जार का दण्ड ३७१
एक वर्ष बीतने पर फिर परस्त्री-सम्बन्ध करने में दण्ड.................. ३७३
शूद्रादि का रक्षित अथवा अरक्षित उत्कृष्ट स्त्री में गमन में दण्ड.........३७४
रक्षित ब्राह्मणी में जाने पर ब्राह्मण का दण्ड.................................. ३७८

ब्राह्मण को कभी भी मृत्युदण्ड नहीं दे ... ३८०
रक्षित क्षत्रिया में जाने वाले वैश्य का और रक्षित वैश्या में जाने वाले क्षत्रिय का दण्ड ३८२
अरक्षित क्षत्रिया वैश्या इत्यादि में गमन में वैश्यादि का दण्ड ३८४
साहसिक इत्यादि से रहित राज्य की प्रशंसा ३८६
कुल के ऋत्विग्-यजमानों का त्यागने में दण्ड.................................. ३८८
माता इत्यादि के त्याग में दण्ड............ ३८९
ब्राह्मणों के विवाद में राजा से धर्म-कथन नहीं किया जाना चाहिए ३९०
उत्सव में योग्य को नहीं खिलाने पर दण्ड................................... ३९२
अन्ध, मन्दबुद्धि इत्यादि में कर नहीं लगाए ३९४
राजा से पूजा प्राप्त करने में योग्य जन ... ३९५
वस्त्र धोने का धोवी का नियम.......... ३९६
सूत लेने का और कपडा देने का जुलाहे का नियम ३९७
विक्रेय पदार्थ के मूल्यनिर्धारण का और कर का नियम ३९८
राजा से निषिद्ध वस्तुओं की निकासी करने में दण्ड ३९९
शुल्कस्थान को छलने में और अकाल में बेचने में दण्ड............ ४००
कीनने-बेचने की व्यवस्था.................. ४०१
मूल्य-निर्धारण...................................... ४०२
तुला इत्यादि की परीक्षा........................ ४०३
नदी-तारण में शुल्क की व्यवस्था....... ४०४
गर्भिणी स्त्री इत्यादि में तारणशुल्क की व्यवस्था ४०७
मल्लाह के दोष से वस्तु के नाश में दण्ड.. ४०८
वैश्य और शूद्र के कर्म ४१०
क्षीण क्षत्रिय-वैश्यों को काम में लगाकर ब्राह्मण भरण करे ४११
शूद्र को दासकर्म कराए ४१३
शूद्र दासभाव से मुक्त नहीं होता है ४१४
दास के सात प्रकार............................ ४१५
भार्या, पुत्त्र और दास का अधनत्व ४१६
वैश्य और शूद्र को अपना-अपना कर्म कराना चाहिए.......................... ४१८
राजा से प्रतिदिन काम के विभागों का और आयव्यय का निरीक्षण...... ४१९
मुकदमों में ठीक रूप से निर्णय करने का फल.............................. ४२०

नवम अध्याय

(स्त्री-पुरुष-धर्म, दायभाग और वैश्य-शूद्रधर्मों का निरूपण)

स्त्री-पुरुष के धर्म.............................. १
स्त्री की रक्षा की व्यवस्था..................... २
जाया शब्द का अर्थ.................................... ८
स्त्री की रक्षा के उपाय १०
स्त्री को दूषित करने वाले तत्त्व..............१३
स्त्री का स्वभावविशेष १४
स्त्रियों की क्रियाएँ मन्त्र से नहीं होती हैं... १८
व्यभिचार का वेदोक्त प्रायश्चित्त १९
स्त्री पति के गुण का अनुरूप होती है..... २२
स्त्री की प्रशंसा २६
व्यभिचार के परिहार का फल २९
व्यभिचार का फल ३०
बीज में और क्षेत्र में प्रधानत्वाऽप्रधानत्व....३२
परस्त्री में बीज वोने में निषेध..................४१
स्त्री-पुरुषों का एकत्व.............................. ४५
अंशभागादि एक वार ही होता है.......... ४७
क्षेत्र की प्रधानता.................................. ४८

स्त्री का धर्म.......................... ५६
आपत्काल नरहने पर भाई की पत्नी में गमन करने पर पातित्य.............. ५८
नियोग की व्यवस्था.......................... ५९
नियोग में दूसरे पुत्र को जन्म देने में निषेध ६०
कामदेव के वश में पडकर भाई की पत्नी में गमन का निषेध.............. ६३
नियोगधर्म की निन्दा.......................... ६४
वर्णों के साङ्कर्य की प्रवृत्ति का काल...... ६६
वाग्दत्ता कन्या के विषय में व्यवस्था...... ६९
कन्या का दुबारा दान करने का निषेध..... ७१
स्त्री के त्याग के विषय में व्यवस्था....... ७२
दोषयुक्त कन्या के दान में व्यवस्था....... ७३
स्त्री की वृत्ति की व्यवस्था करके प्रवास में जाना चाहिए ७४
पति प्रवास में रहने पर स्त्री से पालनीय नियम.......................... ७५
पति का द्वेष करने वाली स्त्री की एक वर्ष तक प्रतीक्षा करे ७७
रोग से पीडित पति का अतिक्रमण करने पर व्यवस्था.......................... ७८
नपुंसकता इत्यादि से द्वेष करने वाली स्त्री का त्याग नहीं हो सकता है...... ७९
अधिवेदन (सौत ब्याहने) में व्यवस्था...... ८०
मना करने पर भी मद्य पीने वाली स्त्री में दण्ड.......................... ८४
अपने ही जाति की स्त्री को साथ में लेकर धर्मकार्य करे ८६
गुणवान् वर को ही कन्या दे ८८
कन्या से स्वयम् वर का वरण करने का समय.......................... ९०
कन्या से स्वयम् वर का वरण करने पर पिता से दिए गए अलङ्कारों का त्याग करना चाहिए.............. ९२
ऋतुमती के विवाह में कन्याशुल्क नहीं दे.......................... ९३
कन्या का और वर का वय (उम्र) का नियम.......................... ९४
पत्नी के भरण-पोषण का नियम.......... ९५
कन्याशुल्क देने पर वर का मृत्यु होने पर व्यवस्था.......................... ९७
कन्याशुल्क लेने में निषेध.......................... ९८
वाणी से एक को कन्या देकर दूसरे को नहीं दे.......................... ९९
स्त्री और पुरुष को परस्पर व्यभिचार नहीं करना चाहिए.......................... १०१
दायभाग (बंटवारा).......................... १०३
दायभाग का (बँटवारे का) समय......... १०४
साथ में रहने पर ज्येष्ठ का प्राधान्य........ १०५
ज्येष्ठ की प्रशंसा.......................... १०६
ज्येष्ठ का जैसा व्यवहार न करने पर व्यवस्था.......................... ११०
बँटवारे में कारण १११
ज्येष्ठ-मध्यमादि में उद्धार (विशेष भाग) की व्यवस्था ११२
एक ही श्रेष्ठ वस्तु जेठा का भाग होता है.. ११४
दश वस्तुओं में समान गुणवालों में उद्धार नहीं होता है.......................... ११५
समभाग और विषमभाग की व्यवस्था.... ११६
भाई लोग अपने-अपने भाग से अविवाहित बहन को भाग दें......... ११८
विषम बकरा भेड इत्यादि ज्येष्ठ के भाग में जाते हैं.......................... ११९
क्षेत्रज पुत्र के भाग का नियम............ १२०
अनेक माताओं के पुत्रों में ज्येष्ठता की व्यवस्था १२२
जन्म से ज्येष्ठता १२५
पुत्रिका बनाने में व्यवस्था १२७
पुत्रिका का धनग्राहित्व.......................... १३०
माँ का स्त्रीधन पुत्री का भाग होता है.... १३१

पुत्रिका के पुत्र का धनग्राहित्व.......... १३२
पुत्रिका के और औरस पुत्र के विभाग का नियम.................... १३४
पुत्ररहित पुत्रिका के धन में पुत्रिकापति का अधिकार १३५
पुत्रिका के दो प्रकार....................... १३६
पुत्र, पौत्र और प्रपौत्रों की प्रशंसा...... १३७
पुत्र शब्द का अर्थ १३८
पुत्रिका के पुत्र से किए जाने वाले श्राद्ध में पितरों का क्रम १४०
दत्तक पुत्र का धनग्राहकत्व.............. १४१
कामज पुत्रों का धनग्राहकत्व नहीं....... १४३
क्षेत्रज पुत्र का धनग्राहकत्व............. १४५
अनेक जाति की माताओं से उत्पन्न पुत्रों में बँटवारे की व्यवस्था........ १४९
अविवाहित शूद्रा के पुत्र के भाग का अभाव................................ १५५
समान जाति की माताओं से उत्पन्न पुत्रों में बँटवारे की व्यवस्था........ १५६
शूद्र के पुत्रों का भाग समान ही होता है.................................. १५७
दायाद बान्धव और अदायाद बान्धव..... १५८
कुपुत्र की निन्दा............................ १६१
औरस पुत्र और क्षेत्रज पुत्र में विभाग की व्यवस्था.................. १६२
क्षेत्रज पुत्र की उत्पत्ति के बाद औरस पुत्र उत्पन्न होने पर विभाग की व्यवस्था.............. १६३
दत्तक इत्यादि पुत्र गोत्र और रिक्थ पाने वाले होते हैं................ १६५
औरस, क्षेत्रज इत्यादि बारह पुत्रों के लक्षण........................ १६६
शूद्र से दासी में उत्पन्न पुत्र अंशभागी होता है.......................... १७९
क्षेत्रजादि पुत्र औरस पुत्र के प्रतिनिधि हैं........................... १८०
पुत्र बीज वाले के ही होते हैं १८१
पुत्रित्व का अतिदेश (अपुत्रों में पुत्रित्व का कथन) १८२
बारह पुत्रों में पहला-पहला उत्तम होता है १८४
क्षेत्रज इत्यादि पुत्र रिक्थ (पैतृक धन) पाने वाले होते हैं.............. १८५
क्षेत्रज इत्यादि पुत्रों का पुत्ररहित पितामह के धन में अधिकार होने में कारण १८६
सपिण्ड इत्यादि अपुत्र के धन पाने वाले होते हैं १८७
सपिण्ड के अभाव में ब्राह्मणधन में ब्राह्मण का अधिकार होता है....... १८८
सपिण्डादि के अभाव में अब्राह्मणधन में राजा का अधिकार होता है....... १८९
सपिण्डादि के अभाव में धन में सगोत्रज क्षेत्रज पुत्र का अधिकार............. १९०
औरस और पौनर्भव पुत्रों में स्त्रीधन के विभाग की व्यवस्था १९१
माँ के धन के विभाग में नियम १९२
स्त्रीधन के प्रकार........................ १९४
सन्तान से युक्त स्त्री के धन में उत्तराधिकारी १९५
सन्तान से रहित स्त्री के धन में उत्तराधिकारी १९६
सामूहिक धन से स्त्रीधन न बनाए १९९
स्त्री के अलङ्कार अविभाज्य होते हैं....... २००
अनंश (दायभाग नहीं पाने वाले) लोग... २०१
नपुंसक इत्यादि के क्षेत्रज पुत्र अंश पाते हैं २०३
अविभक्त अवस्था में अर्जित धन की व्यवस्था............................... २०४
विद्या से प्राप्त धन में नियम............. २०६
समर्थ भाई से अंशधन की उपेक्षा करने पर व्यवस्था..................... २०७

विभाजन करने में अयोग्य धन............ २०८

नष्ट हुए पितृधन को प्राप्त करने पर व्यवस्था............ २०९

विभक्त होने पर फिर मिलाए गए धन की व्यवस्था २१०

विदेशादि में जाने वाले के भाग का लोप नहीं............ २११

गुणरहित ज्येष्ठ को समान भाग ही मिलता है............ २१३

विकर्म से जीविका करने वाले दायभाग नहीं पाते हैं............ २१४

ज्येष्ठ सामूहिक धन से अपना विशेष धन न बनाए............ २१४

जीवित पिता वाले भाइयों के बँटवारे में व्यवस्था............ २१५

धन का विभाग होने पर जन्मने वाले का नियम २१६

सन्तानरहित पुत्र के धन में माँ का अधिकार............ २१७

ऋण का और धन का समान विभाग होता है २१८

विभाजन करने में अयोग्य पदार्थ............ २१९

जुवा और दाँव लगाना............ २२०

राज्य में जुए का और दाँव लगाने के खेल का निवारण............ २२१

द्यूत का और समाह्वय का अर्थ............ २२३

द्यूतादि करने वालों का दण्ड............ २२४

जुआरी, नट, पाषण्ड इत्यादि लोगों को राष्ट्र से निकाल दे............ २२५

दण्ड का धन देने में असमर्थों की व्यवस्था............ २२९

स्त्री, बालक इत्यादि के दण्ड की रीति.. २३०

राजा से कार्य में नियुक्त जन से कार्य विगाडने में दण्ड............ २३१

जाली राजाज्ञा निकालने में, राज्य के प्रकृति को दूषित करने में और बालवधादि करने में दण्ड............ २३२

दूसरे से धर्म से निर्णीत व्यवहार को राजा निरस्त न करे............ २३३

अधर्म से निर्णीत व्यवहार को निरस्त करे............ २३४

ब्रह्महत्या इत्यादि महापातक करने में दण्ड............ २३५

महापातक करके भी प्रायश्चित्त करने पर चिह्नित नहीं करना चाहिए २४०

महापातक करने पर ब्राह्मण को दण्ड.... २४१

महापातक करने पर क्षत्रियादि को दण्ड .. २४२

महापातकियों से दण्ड में प्राप्त धन का ग्रहण करने में राजा का दोष..... २४३

ब्राह्मण को पीडा पहुँचाने में दण्ड........ २४८

अवध्य के वध में और वध्य के अवध में दोष............ २४९

राजा लोककण्टकों को उखाड फेंकने में प्रयत्न करे............ २५२

सज्जन की रक्षा का फल............ २५३

चोर इत्यादि को दण्ड न देने में दोष..... २५४

निर्भय राज्य की अभिवृद्धि होती है...... २५५

प्रकट और अप्रकट चोरों के ज्ञान का उपाय............ २५६

प्रकट और अप्रकट चोरों का विवरण ... २५७

प्रकट और अप्रकट चोरों का दण्ड........ २६२

दण्ड ही चोरों का नियन्त्रक है............ २६३

चोरों का अन्वेषण २६४

चोरी के धन के चिह्न के विना चोर का वध नहीं करना चाहिए............ २७०

चोर को आश्रय देने वाले का दण्ड....... २७१

अपने धर्म से च्युत जन का दण्ड २७३

गाँव में आक्रमण होने पर प्रतीकार में न दौडने वाले का दण्ड............ २७४

राजा के कोष का अपहरणादि करने वालों का दण्ड............ २७५

दीवाल में छेद बनाकर चुराने वालों का दण्ड............ २७६

गाँठ खोल कर अथवा काटकर चुराने वालों का दण्ड...................... २७७
चोरों को आग इत्यादि देने वालों का दण्ड................................ २७८
तालाव तोडना इत्यादि में दण्ड २७९
राजमार्ग में मल इत्यादि त्यागने पर दण्ड................................ २८२
अनुचित रीति से चिकित्सा करने पर दण्ड................................ २८४
जलतरणमार्ग इत्यादि के तोडने में दण्ड .. २८५
अदूषित को दूषित करने में और अनुचित रीति से मणि को छेदने में दण्ड..... २८६
लोगों में विषम व्यवहार करने में दण्ड.. २८७
कारागार (बन्धनस्थान) मार्ग के समीप में बनाना चाहिए............ २८८
परकोटे को तोडने वाला इत्यादि का दण्ड................................ २८९
अभिचार करने पर दण्ड................. २९०
अबीज को बीज बताकर बेचना इत्यादि में दण्ड...................... २९१
सोनार को दण्ड देने की व्यवस्था....... २९२
खेती किसानी के उपकरणों की चोरी में दण्ड................................ २९३
राज्य की सात प्रकृतियाँ (राज्य के सात अङ्ग)........................ २९४
अपनी और शत्रु की शक्ति का विचार.. २९८
वारवार काम का आरम्भ करना चाहिए.. ३००
राजा हि सत्य त्रेता इत्यादि युग है........ ३०१
राजा इन्द्र इत्यादि के तेज की धारणा करता है................................ ३०३
इन्द्र यम इत्यादि के धर्म से चोर का नियन्त्रण करना चाहिए ३१२
राजा ब्राह्मणों को कुपित न बनाए ३१३
ब्राह्मण की प्रशंसा.......................... ३१४
श्मशान का भी अग्नि जैसे दुष्ट नहीं होता है वैसे ब्राह्मण भी दुष्ट नहीं होता है... ३१८
राष्ट्र में ब्रह्म का और क्षत्र का परस्पर समन्वय होना चाहिए................ ३२२
पुत्र को राज्य देकर राजा को युद्ध में प्राणत्याग करना चाहिए............ ३२३
वैश्य का धर्म ३२६
शूद्र का धर्म................................ ३३४

दशम अध्याय

(वर्ण-जाति-व्यवस्था, वृत्तिव्यवस्था और धर्मविशेष)

वेद पढाना ब्राह्मण का ही कर्म है........... १
वर्णों का ब्राह्मण प्रभु है.......................... ३
द्विज वर्णों का विवरण........................ ४
सजातीय सन्तान................................ ५
पितृजातिसदृश जातियाँ....................... ६
वर्णसङ्करों का विवरण......................... ८
व्रात्यों का लक्षण और भेद २०
व्रात्यों से उत्पन्न इत्यादि सङ्कीर्ण जाति......२१
द्विजधर्मी (उपनेय) और शूद्रसधर्मा (अनुपनेय).............................४१
द्विजधर्मियों का सुकर्म से उत्कर्ष ४२
द्विजातिक्रिया के लोप से वृषलत्व (शूद्रत्व) में प्राप्त जातियाँ...............४३
दस्यु लोग:.................................... ४५
वर्णसङ्करों के जीविकाकर्म ४७
चण्डाल के कर्म.............................. ५१
कर्म से मनुष्य की जाति ज्ञेय होती है...... ५७
वर्णसङ्कर की निन्दा.......................... ५९
वर्णबाह्य लोगों का ब्राह्मणादि के लिए प्राण त्यागने का फल............६२
चारों वर्णों के सामान्य धर्म..................६३

सातवें जन्म में ब्राह्मणत्व में अथवा शूद्रत्व में प्राप्ति ६४
ब्राह्मण से उत्पन्न वर्णसङ्कर की श्रेष्ठता ६६
बीज का और क्षेत्र का मुख्यत्वाऽमुख्यत्व ७०
ब्राह्मण के वेदाध्ययनादि छह कर्म ७५
ब्राह्मण के लिए जीविकासाधन ७६
क्षत्रिय के और वैश्य के कर्म ७७
ब्राह्मणादि के विशिष्ट कर्म ८०
आपत्काल में ब्राह्मण का धर्म ८१
ब्राह्मण से विक्रय में वर्जनीय वस्तु ८६
मांस, नून, दूध इत्यादि के विक्रय का निषेध ९२
बडे जाति की वृत्ति लेने में निषेध ९५
दूसरी जाति के धर्म से जीने की निन्दा ९७
आपत्काल में वैश्य का और शूद्र का धर्म ९८
आपत्काल में ब्राह्मणादि का नीचप्रतिग्रह इत्यादि से जीविका १०२
प्रतिग्रह की निन्दा १०९
याजन और वेदाध्यापन द्विजाति में ही किया जाता है ११०
प्रतिग्रह इत्यादि से उत्पन्न पाप के नाश का उपाय १११
शिल से और उञ्छ से भी जीने का विधान ११२
जीवनयात्रा के लिए राजा से धन माँगना .. ११३
धर्म के अप्रतिकूल धनप्राप्ति के सात मार्ग ११५
जीविका के दश साधन ११६
वृद्धि से (सूद से) जीने का निषेध ११७
आपत्काल में क्षत्रिय (राजा) का धर्म ... ११८
आपत्काल में शूद्र का धर्म १२१
शूद्र के लिए ब्राह्मण की सेवा श्रेष्ठ कर्म है १२२
धनवान् ब्राह्मणों से शूद्र की जीविका की व्यवस्था की जानी चाहिए १२४
ब्राह्मणादि त्रैवर्णिक के लिए बताए गए पातकों का और संस्कारों का शूद्र में अभाव १२६
शूद्र का धर्मकार्य वेदमन्त्र से रहित होता है १२७
शूद्र के धनसञ्चय का निषेध १२९

एकादश अध्याय

(दान की और प्रायश्चित्त की व्यवस्था)

दान के पात्र नौ प्रकार के स्नातक ब्राह्मण ... १
नौ प्रकार के स्नातक ब्राह्मणों को दक्षिणा से युक्त अन्न का दान ३
वेदविद् ब्राह्मणों को दान देने का निर्देश ४
धन माँगकर दूसरा विवाह करने का निषेध ५
वेदवित् पूत ब्राह्मण को दान देने का फल ... ६
श्रौत सोमयाग में धनवान् ही अधिकारी है ७
कुटुम्बभरण में बाधा पहुँचाने वाला दान उचित नहीं ९
यज्ञ सम्पन्न करने के लिए वैश्य से धन लेना चाहिए ११
ब्राह्मण छह भोजनकालों में भोजन न पाने पर हीनकर्मा के धन का हरण करे १६
ब्रह्मस्व इत्यादि का हरण नहीं कराना चाहिए १८
असाधु का धन लेकर साधु को देने का फल १९
यज्ञशील जन के धन की प्रशंसा २०
दुःख में पडे हुए ब्राह्मण से चुराए जाने पर दण्ड नहीं करना चाहिए २१

भूख से कष्ट में पडे हुए ब्राह्मण का राजा से वृत्ति की व्यवस्था की जानी चाहिए........................२२
यज्ञ के लिए शूद्र से माँगने का निषेध......२४
यज्ञ के लिए माँगने पर प्राप्त सब धन दान में देना चाहिए.................. २५
देवस्व और ब्रह्मस्व हडपने का फल २६
प्रतिवर्ष सोमयाग करना प्रारम्भ करने पर किसी वर्ष सोमयाग न हो सकने पर वैश्वानरी इष्टि करे......... २७
समर्थ होते हुए भी आपत्कल्प लेने पर पारलौकिक फल का अभाव...... २८
ब्राह्मण को अपनी शक्ति से ही शत्रु पर विजय प्राप्त करना चाहिए ३१
क्षत्रिय इत्यादि को बाहुबल इत्यादि से शत्रुविजय करना चाहिए........... ३४
ब्राह्मण का अनिष्ट न बोले.....................३५
कन्या, युवती और अल्पविद्या वाले अग्निहोत्र हवन न करें.......................३६
अग्नि के आधान में दक्षिणा में अश्व (घोडा) देना चाहिए.....................३८
अल्प दक्षिणा से युक्त यज्ञ की निन्दा ३९
अग्निहोत्री से अग्नि का त्याग किए जाने का दोष.............................. ४१
शूद्र से पाए गए धन से अग्निहोत्र करने का निषेध ४२
शास्त्रविहित कर्म के त्याग से प्रायश्चित्तार्हता होती है...................... ४४
इच्छा से किए गए पाप का और इच्छा विना किए गए पाप का प्रायश्चित्त... ४५
प्रायश्चित्तार्ह होने पर शुद्धजन से संसर्ग करने में दोष.................... ४७
पहले किए गए पाप से रूप में उलट-पुलट होता है ४८
प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिए............५३
ब्रह्महत्या, सुरापान इत्यादि पाँच महापातक............................. ५४
ब्रह्महत्या, सुरापान इत्यादि पातक के तुल्य पातक.................................. ५५
उपपातकों का विवरण ५९
जातिभ्रंशकर पातक ६७
सङ्करीकरण पातक.................................. ६८
अपात्रीकरण पातक ६९
मलिनीकरण पातक................................. ७०
ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त........................... ७२
गर्भहत्या, यागस्थ-क्षत्रिय-वैश्यहत्या और आत्रेयीहत्या का प्रायश्चित्त...... ८७
झूठ गवाही देना, स्त्री-सुहृद्हत्या और निक्षेपहरण इत्यादि में प्रायश्चित्त ८८
द्विजाति से सुरापान किए जाने पर प्रायश्चित्त.............................. ९०
सुरा के प्रकार...................................... ९४
सुवर्ण की चोरी का प्रायश्चित्त............. ९९
गुरु की स्त्री में गमन करने का प्रायश्चित्त.. १०३
गोवध इत्यादि उपपातकों में प्रायश्चित्त....१०८
अवकीर्णी (स्त्री में गमन करने वाले ब्रह्मचारी) का प्रायश्चित्त............११८
जातिभ्रंशकर पातक का प्रायश्चित्त.......१२४
सङ्करीकरण पातक इत्यादि का प्रायश्चित्त...............................१२५
क्षत्रियादिहत्या का प्रायश्चित्त.............१२६
बिल्ली इत्यादि के वध का प्रायश्चित्त..... १३१
घोडा इत्यादि के वध का प्रायश्चित्त...... १३६
व्यभिचारयुक्त स्त्री के वध का प्रायश्चित्त.................................१३८
साँप इत्यादि के वध में प्रायश्चित्तार्थ दान में अशक्त होने पर प्राजापत्य कृच्छ्र का अनुष्ठान......... १३९
छोटे कीडे इत्यादि के समूह का वध करने पर शूद्रवध का प्रायश्चित्त करना चाहिए १४०

वृक्ष (पेड) इत्यादि को काटना इत्यादि में प्रायश्चित्त................ १४२
अन्न में उत्पन्न होने वाले जन्तु के वध में प्रायश्चित्त...................... १४३
ओषधि इत्यादि को व्यर्थ में काटने में प्रायश्चित्त.......................... १४४
अमुख्य सुरा (मद्य) के पान में प्रायश्चित्त.......................... १४६
सुरा के भाण्ड में स्थित पानी पीने पर प्रायश्चित्त..........................१४७
शूद्र का उच्छिष्ट जल पीने पर प्रायश्चित्त..१४८
सुरा का गन्ध सूँघने पर प्रायश्चित्त.......१४९
विष्ठा से अथवा पेसाब से अथवा सुरा से मिश्रित वस्तु खाने पर प्रायश्चित्त.... १५०
पुनरुपनयन में वपन (क्षौर) इत्यादि का अभाव १५१
अभोज्यान्न का अन्न, स्त्री-शूद्रादि का उच्छिष्ट और अभोज्य पशुपक्षि-मांस खाने पर प्रायश्चित्त............ १५२
शुक्त (अम्लीकृत पदार्थ) इत्यादि के भोजन में प्रायश्चित्त................. १५३
सूअर इत्यादि की विष्ठा और मूत्र खाने में प्रायश्चित्त.................... १५४
सूखा हुआ मांस, वधस्थान का मांस और अज्ञात मांस इत्यादि खाने में प्रायश्चित्त...........................१५५
क्रव्याद का (कच्चा मांस खाने वाले प्राणी का), मुर्गे का, मनुष्य का और सूअर इत्यादि का मांस खाने में प्रायश्चित्त.................... १५६
मासिकश्राद्ध का अन्न खाने का प्रायश्चित्त..१५७
ब्रह्मचारी से मधु-मांस खाए जाने पर प्रायश्चित्त...........................१५८
बिल्ली इत्यादि का जूठा खाने में प्रायश्चित्त...........................१५९
अभोज्य अन्न खाए जाने पर उस को उल्टी करके बाहर उतारना चाहिए.. १६०
सजातीय जन के धान्य इत्यादि चुराने में प्रायश्चित्त........................१६२
मनुष्य इत्यादि का हरण करने में प्रायश्चित्त.......................... १६३
राँगा, सीसा इत्यादि सस्ते वस्तु की चोरी में प्रायश्चित्त....................१६४
भक्ष्य पदार्थ, यान, शय्या इत्यादि की चोरी में प्रायश्चित्त....................१६५
सूखा अन्न, गुड इत्यादि की चोरी में प्रायश्चित्त.......................... १६६
मणि, मोती, चाँदी इत्यादि की चोरी में प्रायश्चित्त..........................१६७
रुई, रेशम इत्यादि की चोरी में प्रायश्चित्त...१६८
मैथुन करने में अयोग्य स्त्री से मैथुन करने में प्रायश्चित्त १७०
पशु में और रजस्वलादि में मैथुन करने पर प्रायश्चित्त.................१७३
दिन में मैथुन करने में प्रायश्चित्त १७४
चाण्डाली इत्यादि में गमन करने पर प्रायश्चित्त.......................... १७५
व्यभिचार करने पर स्त्री का प्रायश्चित्त १७६
शूद्रस्त्री में गमन करने पर ब्राह्मण का प्रायश्चित्त.......................... १७८
पतित से संसर्ग करने पर प्रायश्चित्त..... १७९
जीवित अवस्था में ही पतित की प्रेतक्रिया करे..........................१८२
पतित का अंशधनादि में अधिकार नहीं होता है १८४
पतित से प्रायश्चित्त किए जाने पर उस को स्वीकार करने की प्रक्रिया......१८६
पतित प्रायश्चित्त करने पर पहले की तरह सभी ज्ञातिकार्य करे........... १८७
पतित स्त्री को अन्नादि दिया जाना चाहिए.......................... १८८

पतित से संसर्ग का निषेध................१८९
बालघ्न, स्त्रीघ्न इत्यादि का प्रायश्चित्त करने पर भी त्याग........१९०
जिस को समय में विधिपूर्वक सावित्री ऋक् का उपदेश नहीं किया गया है उस का प्रायश्चित्त १९१
विकर्मस्थ का और वेद से त्यक्त का प्रायश्चित्त...........................१९२
निन्दित उपाय से अर्जित धन का त्याग करना चाहिए....................१९३
असत्प्रतिग्रह लेने का प्रायश्चित्त १९४
प्रायश्चित्त करने पर पतित को शुद्ध लोगों से समानता प्राप्त करना चाहते हो? ऐसा पूछा जाना चाहिए १९५
पतित से गायों को घास देने पर गायों से वह घास खाया गया तो वहीं उस का शुद्ध जनों से स्वीकार किया जाना चाहिए.................१९६
व्रात्य का याजन करने का प्रायश्चित्त १९७
शरणागत के त्याग में और वेद-विप्लावन में प्रायश्चित्त.............१९८
कुत्ता इत्यादि से काटे जाने पर प्रायश्चित्त..१९९
अपाङ्क्त्य जनों का प्रायश्चित्त........... २००
ब्राह्मण का उष्ट्रयान में और गर्दभयान में चढने का प्रायश्चित्त.............. २०१
जल में अथवा जल के विना मूत्रादि के त्याग में प्रायश्चित्त............... २०२
वेदोक्त नित्यकर्मादि के त्याग करने पर प्रायश्चित्त......................... २०३
ब्राह्मण प्रति हूँ करने में प्रायश्चित्त........ २०४
ब्राह्मण के ऊपर लाठी उठाने पर नरक की प्राप्ति............................ २०६
जिन पापों का प्रायश्चित्त नहीं बताया गया है उन में व्यवस्था............. २०९
प्राजापत्य कृच्छ्र इत्यादि के स्वरूप...... २११
प्राजापत्यादि कृच्छ्रों के अङ्ग २२२
पाप को नहीं छिपाना चाहिए............ २२७
पाप करने पर पश्चात्ताप करने से शुद्धि... २२९
पापाचरण को नहीं दुहराने से पाप से मुक्ति होती है........................ २३२
मन में सन्तोष न होने तक तप करना चाहिए................................ २३३
तपस्या की प्रशंसा.......................... २३४
वेद के अभ्यास की प्रशंसा............... २४५
गुप्त पापों का प्रायश्चित्त................. २४७

द्वादश अध्याय

(कर्मफल, जीव की गति और मोक्षफल देने वाले कर्म)

कर्मफलों के प्रतिपादन का उपक्रम.......... १
शुभ और अशुभ कर्मों के फल............. ३
मन ही कर्म का प्रवर्तक है ४
तीन प्रकार के मानस पापकर्म.............. ५
चार प्रकार के वाचिक पापकर्म............ ६
तीन प्रकार के शारीर पापकर्म.............. ७
मन के वाणी के और शरीर के कर्मों के फलभोग में नियम ८
त्रिदण्डी का परिचय........................१०
क्षेत्रज्ञ का परिचय १२
जीवात्मा का परिचय १३
जीवों का अनन्तता........................... १५
परलोक में पाञ्चभौतिक शरीर की उत्पत्ति ..१६
कर्मफलभोग के वाद जीवों का भूतमात्राओं में स्थिति.................. १७
धर्म के और अधर्म के बाहुल्य से भोग में विशेषता २०
तीन प्रकार के गुणों का विवरण २४

गुणविशेष की अधिकता से देह की विशेषता........................ २५
सत्त्वादि गुणों का लक्षण........................ २६
सत्त्वगुणमूलक कर्म........................ ३१
रजोगुणमूलक कर्म........................ ३२
तमोगुणमूलक कर्म........................ ३३
सङ्क्षेप से तमोगुणादिमूलक कर्म.......... ३५
तीन गुणों से होने वाली तीन प्रकार की गतियाँ........................ ४०
तीन प्रकार की गतियों के भेद........................ ४१
पाप से निन्दित गतियाँ प्राप्त होती हैं....... ५२
पापविशेष से योनिविशेष में उत्पत्ति........ ५३
पाप करने से नरकादि की प्राप्ति.......... ७५
वेद का अभ्यास इत्यादि मोक्ष के छह उपाय........................ ८३
आत्मज्ञान की प्रधानता........................ ८५
वेदोक्त कर्म का श्रेष्ठत्व........................ ८६
प्रवृत्त और निवृत्त दो प्रकार के वैदिक कर्म........................ ८८
प्रवृत्तकर्म का और निवृत्तकर्म का फल.... ९०
समदर्शन का फल........................ ९१
आत्मज्ञान इत्यादि में विशेष प्रयत्न करना चाहिए........................ ९२
वेद का माहात्म्य........................ ९४
वेदबाह्य स्मृति की निष्फलता............ ९५
वेद की प्रशंसा........................ ९७
वेदज्ञ का सेनापत्यादि कर्म में भी योग्यत्व........................ १००
वेदज्ञ की प्रशंसा........................ १०१
वेदज्ञान के निश्चय से युक्त जन की श्रेष्ठता........................ १०३
तप से और विद्या से पापनाश और मोक्ष... १०४
प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द धर्म के ज्ञान के हेतु हैं........................ १०५
धर्मोपदेश का वेद-शास्त्र के अविरुद्ध तर्क से अनुसन्धान करने वाला ही धर्म को जान सकता है............ १०६
नहीं बताए गए धर्मों में व्यवस्था......... १०८
शिष्टों का लक्षण........................ १०९
परिषत् की परिभाषा........................ ११०
मूर्खों के समुदाय का परिषतत्व नहीं होता है........................ ११४
आत्मा में ही सभी वस्तुओं को देखने वाले का पाप में मन नहीं लगता है.. ११८
सभी देवताओं की आत्मस्वरूपता....... ११९
अपने शरीर के छिद्र इत्यादि में बाह्य आकाश इत्यादि का लय (एकत्वदर्शन) करे........................ १२०
आत्मा का स्वरूप........................ १२२
सभी भूतों में आत्मदर्शन का फल....... १२५
इस भृगुप्रोक्त मानव धर्मशास्त्र के पाठ का फल........................ १२६

परिशिष्ट

श्लोकार्धकानुक्रमणिका.. ५९७

◆

भूमिका

मनुस्मृति के सम्पादन और हिन्दी अनुवाद के प्रसङ्ग में यह हिन्दी भूमिका प्रस्तुत है। इसमें सम्बद्ध विषयों की सङ्क्षेप में चर्चा की जा रही है।

धर्मशास्त्र का परिचय

यद्यपि धर्मशास्त्र में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये मन्त्र-ब्राह्मणात्मक चारों वेद; शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दश्शास्त्र और ज्योतिष ये छह वेदाङ्ग; धर्ममीमांसाशास्त्र, ब्रह्ममीमांसाशास्त्र, धर्मसूत्र-मनुस्मृत्यादि स्मृतियाँ, अग्निपुराणादि अठारह महापुराण, अठारह उपपुराण, रामायण, महाभारत ये सभी ग्रन्थ लिए जाते हैं, तथापि मनुस्मृति के **"धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः"** (२।१०) इस वचन से मुख्य रूप में वासिष्ठ-धर्मसूत्रादि धर्मसूत्र और मनुस्मृत्यादि स्मृतियाँ ही धर्मशास्त्र के रूप में ज्ञात होती हैं।

धर्म की परिभाषा

धर्मशब्द से साधारण लोग पूजा-पाठ को ही समझते हैं। किन्तु भारतवर्षीय परम्परा में धर्मशब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। धर्म के प्रथमतः दो भेद हैं, लोकधर्म और शास्त्रधर्म। लोकधर्म कहने से साधारण मनुष्य तत्त्वदर्शन के विचार के विना ही त्रास से अथवा आशा से अज्ञात अदृश्य अस्पष्ट सम्भावित नियन्ता को प्रसन्न बनाकर उन से त्राण अथवा अन्य वाञ्छित वस्तु पाने के लिए उनकी पूजा-आराधना जो करते हैं उसको लिया जाता है। शास्त्रधर्म वह है जो निश्चित तत्त्वदर्शन के आधार में लोकव्यवस्थापन भी करते हुए सोपानक्रम से मोक्ष तक पहुँचाने वाला क्रियाकलाप है।

शास्त्रधर्म के सोपानों में मुख्य रूप में राष्ट्रनियामक धर्म, समाजनियामक धर्म, कुटुम्बनियामक धर्म, शरीरनियामक धर्म, इन्द्रियनियामक धर्म, मनोनियामक धर्म, आत्मदर्शनप्रयोजक धर्म ये धर्म आते हैं।

धर्म के उक्त सभी पक्षों को दृष्टिगत करके ऋषिमुनियों ने धर्म के लक्षण बताए हैं। किन्तु आजकल कोई विचारक भारतवर्षीय धर्म के उक्त सभी पक्षों का विचार किए विना एकपक्षी रूप में **"अहिंसा परमो धर्मः", "परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्", "धारणाद् धर्ममित्याहुर् धर्मो धारयते प्रजाः"** इत्यादि में किसी एक को धर्म का प्रमुख लक्षण बताते हैं। यह उनके विचार की न्यूनता है। अत एव उक्त एकपक्षीय वचनों को धर्म के प्रमुख लक्षण के रूप में न लेकर अधोलिखित वचनों को धर्म के प्रमुख लक्षण के रूप में लेना चाहिए—

१. **यतोऽभ्युदयनिश्श्रेयससिद्धिः स धर्मः।**—वैशेषिकसूत्र १।१।२।

२. **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।**—जैमिनीय-धर्ममीमांसासूत्र १।१।२।

३. **श्रुति-स्मृतिविहितो धर्मः, तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्।**—वासिष्ठधर्मसूत्र १।४,५।

४. **वेदोक्तः परमो धर्मः स्मृतिशास्त्रगतोऽपरः।**
शिष्टाचारोऽपरः प्रोक्तस् त्रयो धर्माः सनातनाः॥—महाभारत, अनुशासनपर्व १४१।६५।

५. **श्रुतिस्मृतिभ्यां कथितं यत् स धर्मः प्रकीर्तितः।**
अन्यशास्त्रेण यः प्रोक्तो धर्माभासः स उच्यते॥—देवीभागवत ७।३९।१५।

६. **श्रुति-स्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्।**
एतत्-त्रयोक्त एव स्याद् धर्मो नाऽन्यत्र कुत्रचित्॥—देवीभागवत ११।१।२१।

७. **वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस् तद्विपर्ययः।**
वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम॥—भागवत ६।१।४०।

८. **श्रुतिस्मृतिपुराणेषु प्रोक्तो धर्मः सनातनः।**
वर्णाश्रमस्वरूपेण निषेव्यः सर्वदा जनैः॥—स्कन्दपुराण, ब्राह्मखण्ड ३।११।१७।

९. **वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृति-शीले च तद्विदाम्।**
आचारश् चैव साधूनामात्मनस् तुष्टिरेव च॥—मनुस्मृति २।६।

१०. **विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर् नित्यमद्वेषरागिभिः।**
हृदयेनाऽभ्यनुज्ञातो यो धर्मस् तं निबोधत॥—मनुस्मृति २।१।

शास्त्र की परिभाषा

मनुष्य के किसी कर्म में प्रवर्तन का अथवा किसी कर्म से निवर्तन का उपदेश करने वाले नित्य अपौरुषेय ग्रन्थ वेद अथवा वेदमूलक पौरुषेय ग्रन्थ स्मृति शास्त्र कहे जाते हैं[1]। अथवा मनुष्य के ऐकान्तिक हित का उपदेश करने वाला ग्रन्थ भी शास्त्र कहा जाता है[2]। भारतवर्षीय मूल परम्परा में अपौरुषेय ग्रन्थ अर्थात् अज्ञान, अहङ्कार, राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, भय, भ्रम, प्रमाद, आलस्य, विप्रलिप्सा (ठगने की इच्छा) इत्यादि पुरुषदोष के संसर्ग से रहित ग्रन्थ होने से वेद ही मुख्य रूप में शास्त्र माने जाते हैं। वेद में विहित अथवा उक्त अथवा सूचित अथवा आकाङ्क्षित अथवा वेद के अनुकूल अथवा अविरोधी अर्थ के प्रतिपादक वेदानुगामी स्मृति-पुराण भी शास्त्र माने जाते हैं।

शास्त्र लोक में अत्यन्त बलवान् राजा-महाराजाओं को तथा अत्यन्त धनवान् लोगों को भी सन्मार्ग में चलने के लिए प्रेरणा देने वाला और उनमें भी नैतिक दबाव डालने वाला शाश्वत तत्त्व है। अत एव शास्त्र का महत्त्व बहुत है।

---

१. प्रवृत्तिर् वा निवृत्तिर् वा नित्येन कृतकेन वा। पुंसां येनोपदिश्येत तच् छास्त्रमभिधीयते॥
—भामती, ब्रह्ममीमांसासूत्रशाङ्करभाष्यव्याख्या १।१।४।

२. शास्त्रत्वं हितशासनात्।—भामती, ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यव्याख्या १।१।४।

स्मृति का परिचय

स्मृति प्रथमतः दो वर्ग के माने गए हैं, महास्मृति और अनुस्मृति। इन का उल्लेख महाभारत के शान्तिपर्व में किया गया है[1]। वहाँ महास्मृति कहने से शिक्षा, कल्प, व्याकरण इत्यादि छह वेदाङ्गों का ग्रहण और अनुस्मृति कहने से मनुस्मृति इत्यादि अन्य स्मृतियों का ग्रहण होने की बात भारतभावदीपकार नीलकण्ठ ने बताई है। कुमारिल भट्ट ने भी **"महास्मृत्याऽपि या काचिन् न शक्या बाधितुं श्रुतिः"** इस वाक्य में (तन्त्रवार्तिक १।३।७, आनन्दाश्रमसंस्करण, पृ.११९) महास्मृतिशब्द का प्रयोग किया है। जैमिनीयधर्ममीमांसासूत्र में मुख्यतया श्रौतसूत्र-गृह्यसूत्रों को ही स्मृति के रूप में लिया गया है। अनुस्मृतियों का भी गौरवाऽगौरव के विचार से प्रधान स्मृतियों के और उपस्मृतियों के रूप में वर्गीकरण पाया जाता है। प्रधान स्मृतियों में (१) मनुस्मृति, (२) अत्रिस्मृति, (३) विष्णुस्मृति, (४) हारीतस्मृति, (५) याज्ञवल्क्यस्मृति, (६) उशनस्स्मृति, (७) अङ्गिरस्स्मृति, (८) यमस्मृति, (९) आपस्तम्बस्मृति, (१०) संवर्तस्मृति, (११) कात्यायनस्मृति, (१२) बृहस्पतिस्मृति, (१३) पराशरस्मृति, (१४) व्यासस्मृति (१५) शङ्खस्मृति, (१६) लिखितस्मृति, (१७) दक्षस्मृति, (१८) गौतमस्मृति, (१९) शातातपस्मृति और (२०) वसिष्ठस्मृति, ये स्मृतियाँ याज्ञवल्क्यस्मृति में (१।४) उल्लिखित हैं। पराशरस्मृति में भी प्रायः उक्त सभी स्मृतियों का उल्लेख है (१।१२-१५)। वीरमित्रोदय के परिभाषाप्रकाश में जाबालिस्मृति इत्यादि २७/२८ उपस्मृतियों का उल्लेख है। अन्य २१ स्मृतियों का उल्लेख भी वहाँ है। वराहपुराण के १२१ वें अध्याय में भी मनुप्रभृति स्मृतिकार उल्लिखित हैं। मनसुखराय मोर से प्रकाशित स्मृतिसन्दर्भ के वृद्धगौतमस्मृति में (पृ.१९२१) भी अनेक स्मृतिकारों का उल्लेख है। आनन्दाश्रम के स्मृतिसमुच्चय में २७ स्मृतियाँ सङ्गृहीत हैं। मनसुख राय मोर के स्मृतिसन्दर्भ में (६ भागों में) ५६ स्मृतियाँ मुद्रित हैं।

वेदाङ्ग कल्प के रूप में उपलब्ध श्रौतसूत्र-गृह्यसूत्ररूप महास्मृतियाँ मुख्य रूप से सप्तर्षियों और उनके वंशजों से प्रोक्त मानी जाती हैं, और आचार-व्यवहारों का प्रतिपादन करने वाली मनुस्मृति इत्यादि स्मृतियाँ स्वायम्भुव मनु से और उन से सुनकर दूसरे मुनियों से प्रोक्त मानी जाती हैं[2]।

उक्त स्मृतियों के वाक्य कुछ दृष्टार्थ हैं, कुछ अदृष्टार्थ हैं, कुछ दृष्टाऽदृष्टार्थ हैं, कुछ न्यायमूलक हैं और कुछ अनुवादरूप हैं। उनमें दृष्टार्थ स्मृतिवाक्यों को छोडकर अन्य सभी स्मृतिवाक्य वेदमूलक वा वेदानुसारी हैं। इसी लिए महान् राजकवि हरिषेण "कालिदास" ने रघुवंश में **"श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्"** (२।२) कहा है। विष्णुधर्मोत्तर-

---

१. महास्मृतिं पठेद् यस्तु तथैवाऽनुस्मृतिं शुभाम्। तावप्येतेन विधिना गच्छेतां मत्सलोकताम्॥–२००।३०।

२. दाराग्निहोत्रसम्बन्धमृग्यजुःसामसंहितम्। इत्यादिलक्षणं श्रौतं धर्मं सप्तर्षयोऽब्रुवन्॥
परम्पराऽऽगतं धर्मं स्मार्तं चाऽऽचारलक्षणम्। वर्णाश्रमाचारयुतं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥
—ब्रह्माण्डपुराण २।२९।४४-४५।

पुराण में भी वेद से अविरुद्ध स्मृति को ही स्मृति के रूप में माने जाने की बात और अदृष्टार्थ स्मृति को ही मुख्य रूप में शास्त्र माने जाने की बात भी कही गई है (३।५।७)।

स्मृतियों में मुख्यतया आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त ये तीन विषय प्रतिपादित हैं। उनमें भी तीनों विषयों के प्रतिपादन से युक्त स्मृतियाँ मनुस्मृति इत्यादि कुछ ही स्मृतियाँ हैं, अन्य अधिक स्मृतियों में केवल आचारविषय अथवा आचारान्तर्गत कोई एक विषय प्रतिपादित है; नारदस्मृति में केवल व्यवहार प्रतिपादित है, पराशरस्मृति में आचार और प्रायश्चित्त प्रतिपादित हैं। धर्मसूत्रों में, मनुस्मृति में और याज्ञवल्क्यस्मृति में उक्त तीनों विषय प्रतिपादित हैं।

मनुस्मृति का परिचय

पद्यबद्ध स्मृतियों में मनुस्मृति प्राचीनतम मानी जाती है। धर्मशास्त्रप्रवर्तक के रूप में मनु का उल्लेख श्रुति-स्मृति-पुराणादि वाङ्मय में पाया जाता है। मनुभाषित वस्तु का धर्मपूर्णत्व आत्रेय-तैत्तिरीय-कृष्णयजुर्वेद-संहिता में **"मानवी ऋचौ धाय्ये कुर्याद् यद् वै किं च मनुरवदत् तद् भेषजम्"** (२।२।१०।२) ऐसा कहकर, मैत्रायणीयसंहिता में भी **"मनुर् वै यत् किञ् चाऽवदत् तद् भेषजमेवाऽवदत् तद् भेषजत्वायैव"** (२।१।५) ऐसा कहकर और ताण्डिकौथुमराणायनीयपञ्चविंशब्राह्मण में भी **"मनोर् ऋचः सामिधेन्यो भवन्ति, मनुर् वै यत् किं चाऽवदत् तद् भेषजं भेषजतायै"** (२३।१६।६,७) ऐसा कहकर प्रतिपादित किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में मनु का धर्मोपदेशकत्व उल्लिखित है। वहाँ **"तद् धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर् मनवे मनुः प्रजाभ्य आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान् विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याऽहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते"** (छान्दोग्यो.८।१५।१) ऐसा वाक्य आया है। निरुक्त में भी **"अविशेषेण पुत्त्राणां दायो भवति धर्मतः। मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्"** (३।१।४) कहकर मनु का धर्मप्रवक्तृत्व उल्लिखित किया गया है। वासिष्ठधर्मसूत्र में **"देशधर्म-जातिधर्म-कुलधर्माञ् श्रुत्यभावादब्रवीन् मनुः"** (१।१७) कहकर मनु का धर्मप्रवक्तृत्व उल्लिखित किया गया है। बौधायनधर्मसूत्र में भी मनु का धर्मप्रवक्तृत्व उल्लिखित है (४।१।१३,१४; ४।२।१५,१६)। आपस्तम्बधर्मसूत्र में भी मनु का उल्लेख है (२।७।१।१)। गौतमधर्मसूत्र में भी धर्मप्रवक्ता के रूप में मनु का उल्लेख उपलब्ध होता है (३।३।७ [२१।७])। कूर्मपुराण में भी सर्वप्रथम आचार-व्यवहारादिधर्म के प्रवक्ता के रूप में स्वायम्भुव मनु उल्लिखित हैं (१।१२।१६५,१६६)। पुराणों में धर्मप्रवक्ता मनु का उल्लेख अनेक स्थल में मिलते हैं। मत्स्यपुराण में धर्म बताने वाले मनु का उल्लेख मिलता है (२२७।२८, २२७।३३, २२७।११३-११४)। स्कन्दपुराण में भी मनु का धर्मप्रवक्ता के रूप में उल्लेख पाया जाता है (६।१६३।२१)। वाल्मीकिरामायण में भी मनु का धर्मप्रवचन करने वाले मान्यजन के रूप में उल्लेख मिलता है (४।१८।३२-३४)। महाभारत

में भी अनेक स्थलों में धर्मप्रवक्ता के रूप में मनु का उल्लेख हुआ है (१९३।८-९; १२।३६।३-५)। महाभारत में केवल स्वायम्भुव प्रजापति मनु को ही अकेले रूप में भी धर्मसंशय में निर्णय देने में समर्थ के रूप में उल्लिखित किया गया है (१४।९१।२४)। वात्स्यायनप्रणीत कामसूत्र में भी स्वायम्भुव मनु का धर्मशास्त्रकार के रूप में उल्लेख किया गया है (१।१।५,६)। रघुवंशकार हरिषेण "कालिदास" ने भी मनु का धर्मप्रणेता के रूप में उल्लेख किया है (१४।६७)।

वर्तमान काल में उपलभ्यमान ऋजुविमल-भारुचि-मेधातिथि-गोविन्दराज-सर्वज्ञ-नारायण-कुल्लूकभट्टादिव्याख्यात मनुस्मृति ग्रन्थ के श्लोकों के समान श्लोक अनेक पुराणों में, वासिष्ठधर्मसूत्र में, विष्णुधर्मसूत्र में और वाल्मीकिरामायण में भी मिलते हैं। महाभारत में भी ऐसे श्लोक प्रभूत मात्रा में मिलते हैं। पाणिनीय-व्याकरणभाष्य में भी **"दूरादावसथान् मूत्रं दूरात् पादावसेचनम्"** इत्यादि श्लोकांश मिलता है (२।३।३५, वा.२)।

यद्यपि जैमिनीय-धर्ममीमांसासूत्र के भाष्यकार शबरस्वामी ने धर्मशास्त्रकार के रूप में **"नन्वविदुषामुपदेशो नाऽवकल्पते, उपदिष्टवन्तश् च मन्वादयः"** (१।१।२) इत्यादि वाक्य में मनु का उल्लेख किया है, तथाऽपि वर्तमान मनुस्मृतिग्रन्थ का केवल एक ही वचन उनके भाष्य में पाया जाता है (६।१।१२)। कुमारिल भट्ट ने तो वर्तमान मनुस्मृति के बहूत वचन उद्धृत किए हैं (१।३।२, १।३।४, १।३।७ इत्यादि) । शङ्करभगवत्पाद ने भी वर्तमान मनुस्मृति के अनेक वचन अपने ग्रन्थों में उद्धृत किये हैं। उन्हों ने ऐतरेय्युपनिषद् की व्याख्या में (३।१।३), बृहदारण्यकोपनिषद् की व्याख्या में (१।४।६, १।४।१५, ३।३।१, ३।५।१, ४।४।५, ४।५।१५), तैत्तिरीयोपनिषद् की व्याख्या में (१।११।१), छान्दोग्योपनिषद् की व्याख्या में (१।१।१, १।१।५), ब्रह्ममीमांसासूत्र के शारीरकमीमांसाभाष्य में (१।२।१९, १।३।२८, १।३।३६, १।३।३८, २।१।१, २।१।११, ३।४।३०, ४।२।६), भगवद्गीता की व्याख्या में (३।१४, ६।४, १५।२०) भी वर्तमान काल में उपलब्ध मनुस्मृति के वचन प्रमाण के रूप में दिखाये हैं।

स्मृतियों में मनुस्मृति की विशेष मान्यता

मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, पराशरस्मृति इत्यादि स्मृतियों में मनुस्मृति विशेष रूप में मान्य मानी जाती है। इस विषय में बृहस्पति के वचन के रूप में **"वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्। मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते"** यह वचन कुल्लूक भट्ट से उल्लिखित है (१।१)। लौगाक्षिस्मृति में भी **"स्मृत्योर् विरोधे सम्प्राप्ते मनुवाक्यस्य सम्मतिः"** ऐसा वचन देखा जाता है (स्मृतिसन्दर्भ, षष्ठ भाग, पृ.२७८)। महाभारत के वचन के रूप में **"पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश् चिकित्सितम्। आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः"** यह वचन भी कुल्लूक भट्ट से उल्लिखित है (१।१)। किन्तु यह वचन महाभारत के वर्तमान प्रसिद्ध पाठ में उपलब्ध नहीं है। यह वचन किसी लघुस्मृति में पाया जाता है और मनुस्मृति में भी (१२।११०) प्रक्षिप्त रूप में देखा जाता है। इस पद्य के पूर्वार्ध को कुमारिल भट्ट ने भी तन्त्रवार्तिक में (१।३।२७,

आनन्दाश्रमसंस्करण, पृ.२२४) उल्लिखित किया है। मनुस्मृति की प्रधानता के विषय में हेमाद्रि का **"मनुस्मृतिर् हि स्वाध्यायात् प्रसिद्धत्वाद् बहुभिः सम्प्रदायेन पठ्यमानत्वादपभ्रष्टपाठाऽसम्भवाद् .... बलीयसी"** यह उल्लेख भी (श्राद्धकल्प, पृ.२०७) स्मरणीय है।

श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और मनुस्मृति

उक्त रूप में मनुस्मृति की स्मृतियों में प्रधानता बताए जाने से कुछ लोग श्रौतसूत्र-गृह्यसूत्र-धर्मसूत्रों से भी मनुस्मृति का बलीयस्त्व समझते हैं। किन्तु वह उन लोगों का भ्रम अथवा अविवेक है। इस सम्बन्ध में पाणिनीयव्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि मुनि के **"नैवेश्वर आज्ञापयति नाऽपि धर्मसूत्रकाराः पठन्त्यपवादैरुत्सर्गा बाध्यन्तामिति"** (१।१।४७, द्रष्टव्य ५।१।११९, वा.३) इस वचन में व्यक्त धर्मसूत्रों का माहात्म्य विशेष रूप में आकलनीय है। अपने विषयक्षेत्र में अपनी शाखा के अध्येताओं के लिए श्रौतसूत्रगृह्यसूत्रों का बलीयस्त्व सर्वथा स्वीकार्य है। जिस शाखा के धर्मसूत्रग्रन्थ लुप्त हुए हैं उस शाखा के लोगों के लिए मनुस्मृति विशेष मान्य हो सकती है। तथापि शुक्लयजुर्वेदियों के धर्मसूत्रग्रन्थ लुप्त होने पर भी उन लोगों के लिए मनुस्मृति से याज्ञवल्क्यस्मृति ही स्वशाखासन्निकृष्ट होने से अधिक मान्य होती है। मुख्य रूप में आचारों की और प्रायश्चित्तों की व्यवस्था में तत्तत्-शाखा के अध्येताओं के लिए तत्तत्-शाखा के श्रौतसूत्र-गृह्यसूत्र-धर्मसूत्रों की व्यवस्था ही विशेष मान्य होती है। मनुस्मृति में भी ऋग्वेदियों के आश्वलायनगृह्यसूत्र का और वासिष्ठधर्मसूत्र का विशेष प्रभाव आचारादि विषयों के प्रतिपादन में दिखाई देता है, तथापि व्यवहार-विषय में अर्थात् शासककार्य न्यायनिरूपण में शाखाविशेष के धर्मसूत्रों की व्यवस्था से सर्वशाखासाधारण रूप में गृह्यमाण मनुस्मृति की व्यवस्था शासकों से अधिक ग्राह्य मानी गई होगी। आचार के और प्रायश्चित्त के विषय में भी स्वशाखोक्त व्यवस्था अशक्य होने पर मनुस्मृत्युक्त व्यवस्था ग्राह्य हो सकने से इन विषयों में भी मनुस्मृति की प्रधानता ब्राह्मणों से भी समझी गई होगी। मुख्य रूप में तो अपनी शाखा के श्रौतसूत्र-गृह्यसूत्र-धर्मसूत्ररूप स्मृतियों की ही तत्तत्-शाखा के अध्येता ब्राह्मणादिकों के लिए प्रधानता होती है, मनुस्मृति की नहीं। कुल्लूक भट्ट ने भी मनुस्मृति की व्याख्या में मनुस्मृति का गृह्यसूत्रानुगामित्व अनेक स्थलों में दिखाया ही है और अपने-अपने गृह्यसूत्रानुसार ही कर्म करने की आवश्यकता स्पष्ट की है। अनुस्मृतिरूप मनुस्मृति वेदाङ्गमहास्मृति के रूप के श्रौतसूत्र-गृह्यसूत्र-धर्मसूत्रों से दुर्बल ही मानी जाती है। मनुस्मृति वेदाङ्गरूप महास्मृति नहीं, वेदोपाङ्गरूप अनुस्मृति ही मानी जाती है।

अपनी वेदशाखा के मन्त्र, अपनी वेदशाखा के ब्राह्मणग्रन्थ, अपनी वेदशाखा के कल्पसूत्र (श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र), धर्मसूत्र, परिशिष्ट, अपनी वेदशाखा से सम्बद्ध स्मृतिग्रन्थ, अपनी वेदशाखा के अनुकूल पुराणवचन इस क्रम से पहले-पहले उल्लिखित ग्रन्थ धर्म-मोक्ष में अधिक बलवान् होते हैं। अत एव द्विजातियों को अपनी शाखा के मन्त्रसंहितादि के मन्त्रों का, ब्राह्मणग्रन्थादि के विधानों का और उनके अनुकूल नियमों

का प्रयोग करना चाहिए। ऐसा करने से ही वे स्वर्ग को अथवा मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं। इस विषय में कातीय मन्त्रभ्रान्तिहरसूत्र के अधोलिखित वचन मननीय हैं—

अनाद्यनन्ता वै वेदा बह्वाचारप्रदर्शकाः।
वेदविद्भिरतः कल्पाः प्रोक्तास् तत्त्वप्रदर्शकाः॥
सर्वे स्ववेदकल्पोक्तं कर्म कुर्युरतन्द्रिताः।
मन्त्रद्रव्यादिषु स्वत्वादधिकारोऽन्यथा न हि॥
ज्ञानतः सर्ववेदेषु स्वकल्पेष्वधिकारिणः।
प्रामाण्यमादौ ज्ञात्वैव श्रुतिकल्पस्मृतीषु च॥
बलाबलं च तत्राऽपि विरोधात् स्वत्वदर्शनात्।
वेदाः प्रमाणमङ्गानि परिशिष्टाः ससाधनाः॥
स्मृतयश् च पुराणानि तेषां स्वत्वे विशेषतः।
श्रुत्योर् विरोधे स्वत्वादौ स्वश्रुतिश् च बलीयसी॥
मन्त्रचोदनयोर् मन्त्रः प्रयोगित्वाद् बलं यतः।
श्रुतिकल्पविरोधे तु श्रुतिर् वै कल्पसाधनात्॥
विरोधे कल्पकल्पयोः स्वकल्पः स्वश्रुतिक्रमात्।
कल्पस्मृतिविरोधे तु कल्प एव प्रयोगितः॥
स्मृत्योर् विरोधे सम्प्राप्ते स्वस्मृतिः कल्पसाधनात्।
स्मृतिर् बलीयसी ज्ञेया द्वैधे स्मृतिपुराणयोः॥
स्मृतीनां श्रुतिमूलत्वात् पुराणं स्मृतिसाधनम्।
एवं बलाबलं ज्ञात्वा श्रुतिकल्पस्मृतीषु च॥
कर्माणि फलयुक्तानि कुर्युः कर्मविदोऽनिशम्।
ज्ञात्वा कर्माणि यः कुर्यात् साङ्गानि विधिपूर्वकम्॥
फलं ब्रह्मार्पणं कृत्वा ब्रह्मलोकं स गच्छति।

—मन्त्रभ्रान्तिहरसूत्र, श्लोक ९९–१०९।

मानवधर्मशास्त्र की चार संहिताएँ

मानवधर्मशास्त्र की चार प्रकार की संहिताओं का उल्लेख हेमाद्रि ने चतुर्वर्ग-चिन्तामणि के दानखण्ड में (पृ.५२८) **"भार्गवी नारदीया च बार्हस्पत्याऽऽङ्गिरस्यपि। स्वायम्भुवस्य शास्त्रस्य चतस्रः संहिता मताः"** इस वचन के प्रमाण से किया है। उन संहिताओं में **(१) भार्गवी मनुसंहिता** तो **मनुस्मृति** के नाम से प्रसिद्ध ही है।

(२) नारदीया मनुसंहिता भी **नारदीयस्मृति** के नाम से प्रसिद्ध है और उसके बृहत्पाठ और लघुपाठ दो पाठ उपलब्ध हैं। इस स्मृति में कुछ भाग तक अतिप्राचीन व्याख्याकार असहाय की व्याख्या भी मिलती है। भवस्वामी की प्राचीन व्याख्या पूर्ण ही उपलब्ध है। इस स्मृति में केवल व्यवहार (न्यायनिरूपण) विषय ही प्रतिपादित है। **(३) बार्हस्पत्या मनुसंहिता** मूल रूप में अनुपलब्ध है। बृहस्पति के वचनों के रूप में धर्मशास्त्रनिबन्धों में उल्लिखित वचन इसी बार्हस्पत्या मनुसंहिता के समझे जाते हैं। ऐसे वचनों का सङ्ग्रह बृहस्पतिस्मृति के नाम से श्रीरङ्गस्वामी के सङ्ग्रह के रूप में बडोदा से १९९८ संवत् में प्रकाशित मिलता है। इसमें व्यवहार, संस्कार, आचार, श्राद्ध, अशौच, आपद्धर्म, प्रायश्चित्त इन विषयों के २३०८ श्लोक सङ्गृहीत हैं। **(४) आङ्गिरसी मनुसंहिता** तो **आङ्गिरसस्मृति** के रूप में उपलब्ध दिखाई देती है। इस स्मृति में पूर्वाङ्गिरस और उत्तराङ्गिरस दो भाग हैं। उत्तराङ्गिरस में मुख्य रूप में प्रायश्चित्त-व्यवस्था है। यह स्मृति मनसुखराय मोर के स्मृतिसन्दर्भ में मुद्रित है। इसको देखने का अवसर धर्मशास्त्र के इतिहास के लेखक पाण्डुरङ्ग वामन काणे को भी नहीं मिला था। प्रायश्चित्तव्यवस्था की प्रतिपादिका मूल स्मृति यही दिखाई देती है। प्रायश्चित्त विषय में लिखने वाले निबन्धकारों ने मूल प्रमाण के रूप में इसके ही वचनों को लिया है।

भार्गवी मनुसंहिता के (भार्गवीय-मनुस्मृति के) प्रतिपाद्य प्रमुख विषय

वर्तमान काल में उपलब्ध मनुस्मृति भार्गवी मनुसंहिता है। मनु के उपदेश को लेकर भृगु से प्रोक्त होने से वर्तमान मनुस्मृति भार्गवी मनुसंहिता मानी जाती है। वर्तमान मनुस्मृति का भृगुप्रोक्तत्व मनुस्मृति से ही अवगत होता है। मनुस्मृति में **"एतद् वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः। एतद् धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः॥ ततस् तथा स तेनोक्तो महर्षिर् मनुना भृगुः। तानब्रवीदृषीन् सर्वान् प्रीतात्मा श्रूयतामिति"** (१।५९,६०) ऐसा उल्लेख है। मनुस्मृति में प्रस्तुत धर्मशास्त्र ब्रह्मा से विरचित होने की, ब्रह्मा से मनु को उपदिष्ट होने की और मनु से मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु और नारद इन महर्षियों को (१।३५) ग्रहण कराए जाने की बात भी **"इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः। विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादीनहं मुनीन्"** (१।५८) इस श्लोक में बताई गई है। सुमति भार्गव से प्राचीन मनुस्मृति को सङ्क्षिप्त करके ४००० श्लोकों में निबद्ध किए जाने की बात नारदीयस्मृति के वृद्धपाठ में पाई जाती है। यह वृद्धमनुस्मृति की बात होगी। वर्तमान मनुस्मृति तो उस वृद्धमनुस्मृति का भी सङ्क्षिप्त रूप हो सकता है। वर्तमान मनुस्मृति में कुल्लूकभट्टव्याख्यात पाठ में २६८४ श्लोक और मेधातिथि के पाठ में उसमें कुछ कम श्लोक हैं। मेधातिथि के पाठ में तृतीय अध्याय के **"शोचन्ति जामयो यत्र"** (५७-६६) इत्यादि दश श्लोक नहीं हैं। अन्य भी कुछ श्लोक नहीं हैं।

इस भृगुप्रोक्त मनुस्मृति के मुख्य प्रतिपाद्य विषयों की अनुक्रमणिका मनुस्मृति में ही (१।१११-११७) प्रतिपादित है। उस से भी सङ्क्षिप्त रूप में कहने पर तो आचार,

व्यवहार और प्रायश्चित्त ये मुख्य तीन विषय ही मनुस्मृति में प्रतिपादित बताए जा सकते हैं। उसमें भी प्रथम अध्याय में सृष्टयादि, २–६ अध्यायों में आचार (मुख्य रूप में आश्रमधर्म, ब्राह्मणधर्म), ७–१० अध्यायों में राजधर्म और व्यवहार (शासकधर्म), वैश्यधर्म, शूद्रधर्म तथा ११–१२ अध्यायों में वर्णजातिविवेक, प्रायश्चित्त और आत्मज्ञान प्रतिपादित बताए जा सकते हैं।

भृगुप्रोक्त मनुस्मृति का पाठ

मनुस्मृति के पाठ के विषय में हेमाद्रि के चतुर्वर्गचिन्तामणि के परिशेषखण्ड के श्राद्धकल्प में (पृ.२०७) अनेक पुरुषों से गुरु-शिष्य-परम्परा से पढे जाने से मनुस्मृति में अपभ्रष्ट पाठ न हो सकने की बात उल्लिखित है। तथापि मनुस्मृति में भी थोडा-बहूत पाठभेद मिलते ही हैं। विश्वरूप, विज्ञानेश्वर, लक्ष्मीधर, देवण्णभट्ट, हेमाद्रि, चण्डेश्वर-ठक्कुर, माधव, रघुनन्दन, कमलाकरभट्ट इत्यादि धर्मशास्त्र-व्याख्याकार-निबन्धकारों से मनुवचन के रूप में उल्लिखित कुछ श्लोक वर्तमान मनुस्मृतिपाठ में नहीं मिलते हैं। इस से मनुस्मृति के पाठ में कुछ विगान अथवा पाठभेद रहने की बात दिखाई देती है। तथापि ऋजुविमल, भारुचि, मेधातिथि, गोविन्दराज, सर्वज्ञनारायण, कुल्लूकभट्ट, राघवानन्द, नन्दन, रामचन्द्र इत्यादि मनुस्मृति-व्याख्याताओं के पाठों में पदों के पाठों में कुछ पाठभेद पाए जाने पर भी पूर्ण श्लोकों के रूप में पाठभेद प्रायः कम ही मिलते हैं।

मनुस्मृति की व्याख्याएँ

मनुस्मृति की व्याख्याओं में (१) असहायकृत व्याख्या (विश्वरूप-मेधातिथ्यादि से उल्लिखित), (२) उपाध्यायकृत व्याख्या, (३) यज्वव्याख्या, (४) ऋजुव्याख्या [यह ऋजुविमल की मनुशास्त्रविवरण भी हो सकती है] (मेधातिथ्युल्लिखित), (५) धरणीधरकृतव्याख्या (कुल्लूकभट्ट से उल्लिखित १।५, २।८३, २।१२५), (६) भागुरिकृत व्याख्या और (७) उदयकरकृत व्याख्या (चण्डेश्वरोल्लिखित) नाम मात्र से ज्ञात होती हैं (द्रष्टव्य- बालक्रीडा ३।२६४, पृ.१५७; मनुभाष्य [१।३] २।१०९, २।१७६, [८।३] ८।१५१, ८।१५५, ९।१४१; मिताक्षरा १।८१, २।१२४; विवादरत्नाकर, पृ.१०४, ४५७, ५२०, ५४८, ५६५, ५८९, ५९६)। ऐसे ही नाम मात्र से ज्ञात (८) विश्वरूपकृत व्याख्या, (९) भोजदेवकृत व्याख्या, (१०) माधवाचार्यकृत व्याख्या, (११) श्रीधरस्वामिकृत व्याख्या ये चार व्याख्याएँ तत्तद् धर्मशास्त्रनिबन्धों में उल्लिखित होने की बात विश्वनाथ नारायण मण्डलिक ने मनुस्मृति के अपने संस्करण के प्रथम भाग की प्रस्तावना में लिखी है। भोजदेव के मनुस्मृतिपाठ का उल्लेख कुल्लूक भट्ट ने भी (८।१८४) किया है। (१२) मनुस्मृति की श्रीकर की व्याख्या भी राजनीतिरत्नाकर में चण्डेश्वर से उल्लिखित है। श्रीकर का उल्लेख विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा में भी (२।१३६, २।१६९) है।

वर्तमान काल में उपलभ्यमान मनुस्मृति-व्याख्याओं का सङ्क्षिप्त उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

१. भारुचिकृत व्याख्या मनुशास्त्रविवरण– विज्ञानेश्वर से उल्लिखित (मिताक्षरा १।८१, २।१२४) और एक मात्र उपलब्ध मलयालमलिपि के हस्तलिखित पुस्तक के आधार में जर्मनी में मुद्रित (१९७५ क्रै.) और J. Duncan M. Derret ऐसे नाम वाले अध्येता से यथोपलब्ध रूप में (षष्ठ अध्याय के नवम श्लोक से समाप्ति-पर्यन्त) प्रस्तुत यह व्याख्या बहुचर्चित नहीं है। उक्त प्रस्तोता से भारुचिका समय ५००–६५० ई. बताया गया है। यह व्याख्या मुम्बई के भारतीय विद्याभवन से प्रकाशित नौ व्याख्याओं से युक्त ६ खण्ड वाली मनुस्मृति में भी प्रकाशित बताई जाती है। विज्ञानेश्वर ने एक स्थल में असहाय की और मेधातिथि की व्याख्या को ठीक और भारुचि की व्याख्या को बेठीक कहा है (मिताक्षरा २।१२४)। भारुचिकृत स्मृतिसार-समुच्चय का हस्तलिखित पुस्तक सरस्वतीमहलपुस्तकालय तञ्जोर में रहने की बात बताई जाती है। प्राज्ञपाठशालामण्डल वालों ने भारुचि का समय ८००–८२५ क्रै. सूचित किया है। मेधातिथि ने भारुचि का उल्लेख क्यों नहीं किया, यह बात विचारणीय है। मेधातिथि ने ऋजु का उल्लेख किया है (८।१५१)। उक्त जर्मनी में प्रस्तुत व्याख्या में षष्ठ और सप्तम अध्याय के अन्त में **"ऋजुविमलस्य कृतौ"** ऐसा उल्लेख है। अष्टमादि अध्यायों के अन्त में तो **"भारुचेः कृतौ", "भारुचिकृते"** इत्यादि उल्लेख है। इस से उक्त व्याख्यापुस्तक पाणिनीय-व्याकरण-वृत्ति काशिका की तरह दो व्याख्याओं के योग से निष्पन्न प्रतीत होता है। कोई मेधातिथि से उल्लिखित विवरणकार को भारुचि समझते हैं, क्योंकि उनकी व्याख्या का नाम मनुशास्त्रविवरण प्रतीत होता है।

२. मेधातिथिकृत मनुभाष्य– मेधातिथि से कुमारिल भट्ट का उल्लेख किए जाने से और मिताक्षराकार विज्ञानेश्वर से मेधातिथि का उल्लेख किए जाने से मेधातिथि का समय क्रैस्ताब्द के नवम-दशमशतकों का मध्य अवगत होने की बात पाण्डुरङ्ग वामन काणे ने बताई है। मदन नाम के शासक से किसी देश से मँगाकर मेधातिथि के मनुभाष्य का जीर्णोद्धार कराए जाने की बात भी उन्हों ने लिखी है। मेधातिथि के मनुभाष्य के संस्करणों के अन्त में इस आशय का पद्य भी मिलता है[1]। सहारणपुत्त्र राजा मदन १४३० वैक्रमाब्द में वर्तमान थे। यह बात मदनविनोद-निघण्टु के अन्त में वर्तमान **"अब्दे ब्रह्मजगद्युगेन्दुगणिते श्रीविक्रमार्कप्रभोः"** इत्यादि पद्य से ज्ञात होता है। उपलभ्यमान मनु-स्मृतिव्याख्याओं में भट्टवीरस्वामिसूनु मेधातिथि का मनुभाष्य प्राचीन और प्रसिद्ध है। इसका मुद्रण विश्वनाथ नारायण मण्डलिक ने मुम्बई में १८८६ क्रैस्ताब्द में (१९४३

---

[1] मान्या काऽपि मनुस्मृतिस् तदुचिता व्याख्या हि मेधातिथेः
सा लुप्तैव विधेर् वशात् क्वचिदपि प्राप्यं न यत् पुस्तकम्।
क्षोणीन्द्रो मदनः सहारणसुतो देशान्तरादाहृतैर्
जीर्णोद्धारमचीकरत् तत इतस् तत्पुस्तकैर् लेखितैः॥

वैक्रमाब्द में) मानवधर्मशास्त्रम् नाम के ग्रन्थ में कराया था। जगन्नाथ रघुनाथ घारपुरे ने भी मेधातिथि की व्याख्या मुद्रित करवायी थी। गङ्गानाथ झा के सम्पादकत्व में १९३२–१९३९ क्रैस्ताब्द में (१९८९–१९९६ वैक्रमाब्द में) भी मनुभाष्य मुद्रित हुआ था। कोलकाता से मनसुखराय मोर ने भी २०२६–२०२८ वैक्रमाब्द में इसको मुद्रित कराया था। मुम्बई के भारतीय विद्याभवन के नौ व्याख्याओं से युक्त ६ खण्ड वाली मनुस्मृति में भी यह व्याख्या मुद्रित बताई जाती है। यह भाष्य सुविस्तृत और विवेचनापूर्ण तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भी है। किन्तु कुछ स्थलों में, विशेष करके अष्टम-नवम-द्वादश अध्यायों में पाठभ्रंश भी हैं। इसमें मेधातिथि के समय में प्रचलित अनेक मनुस्मृतिव्याख्याओं का उल्लेख है। इस से पीछे की व्याख्याएँ प्रायः इसी में आधृत दिखाई देती हैं।

३. गोविन्दराजकृत मन्वाशयानुसारिणी मनुटीका– गङ्गातीरनिवासी भट्टमाधवाऽऽत्मज गोविन्दराज का समय विज्ञानेश्वर से बाद का और जीमूतवाहन से पहले का है। अतः उनका समय क्रैस्ताब्द का ग्यारहवाँ शतक माना जाता है। गोविन्दराज की व्याख्या का उल्लेख कुल्लूकभट्ट ने वारवार किया है। गोविन्दराज की टीका भी विश्वनाथ नारायण मण्डलिक ने उक्त 'मानवधर्मशास्त्रम्' नाम के ग्रन्थ में ही अलग रूप में मुद्रित कराई है। मुम्बई के भारतीय विद्याभवन से प्रकाशित नौ व्याख्या तथा ६ खण्ड वाली मनुस्मृति में भी यह व्याख्या प्रकाशित बताई जाती है। यह टीका सङ्क्षिप्त और मुख्यतया मेधातिथिभाष्य-सारार्थरूप है। तथापि कुछ स्थलों में इस टीका में अपनी विशेषताएँ भी हैं। इसके हस्तलेख दुर्लभ हैं। पाठ भी कहीं-कहीं अशुद्ध हो गया है। नवम अध्याय के ७१ श्लोक से नवम अध्याय के अन्ततक यह व्याख्या अनुपलब्ध है। दशमादि अध्यायों में उपलब्ध ही है। नवम अध्याय का त्रुटित अंश भी किसी हस्तलिखित ग्रन्थागार में मिल सकता है।

४. सर्वज्ञनारायणकृत मन्वर्थविवृति– सर्वज्ञनारायण का समय पाण्डुरङ्ग वामन काणे ने ११००–१३०० क्रैस्ताब्द बताया है। इस व्याख्या को भी विश्वनाथ नारायण मण्डलिक ने उक्त 'मानवधर्मशास्त्रम्' में समाविष्ट किया है। यह विवृति भी सङ्क्षिप्त ही है। इसमें मेधातिथि का और गोविन्दराज का प्रभाव दिखाई देना स्वाभाविक है। तथापि इस विवृति में कुछ स्थलों में मेधातिथि-गोविन्दराज-कुल्लूकभट्टों की व्याख्या से भी अच्छी व्याख्याएँ भी है।

५. कुल्लूकभट्टकृत मन्वर्थमुक्तावली– कुल्लूकभट्ट वङ्गाल के वारेन्द्र कुल के वाराणसीनिवासी ब्राह्मण थे। ये भट्टभास्करवेदान्त के अनुयायी दिखाई देते हैं (१।८, १।१५)। इन का समय काणे महाशय ने ११५०–१३०० क्रैस्ताब्द बताया है। मन्वर्थमुक्तावली सङ्क्षिप्त और प्रायः स्पष्ट है। इसमें मेधातिथि का और गोविन्दराज का यत्रतत्र बहुत ही कटु आलोचना भी की गई है। कुल्लूक ने मेधातिथि का लगभग ८० वार और गोविन्दराज का लगभग १०० वार नाम लिया है। कुल्लूक ने भोजदेव का भी उल्लेख किया है (८।१८४)। कुल्लूक भट्ट ने गोविन्दराज की व्याख्या के पदों का और वाक्यों का

अनगिनत स्थलों में अनुकरण अथवा अपहरण सा किया है। कुल्लूक की व्याख्या भी कुछ स्थलों में विचारणीय ही है। प्रचलित मुद्रित संस्करणों में प्राप्य कुल्लूकभट्टकृत मन्वर्थमुक्तावली में वाक्यरचनागत और पदगत अशुद्धियाँ तथा विषयगत विचारणीयता भी अनेक स्थलों में दिखाई देतीं हैं। इसका १८३० क्रैस्ताब्द में (१८८७ वैक्रमाब्द में) कोलकाता से भी प्रकाशित होना बताया जाता है। इसका शिलाक्षर में मुद्रण १९१५ वैक्रमाब्द में (१७८० शकाब्द में, १८५८ क्रैस्ताब्द में) सदाशिव शेटहे प्रभृति से मुम्बयी में हुआ था। निर्णयसागरमुद्रणालय से १९४६ क्रैस्ताब्द में (२००३ वैक्रमाब्द में) मन्वर्थमुक्तावलीसहित मनुस्मृति का दशम संस्करण मुद्रित हो चुका था। तथापि मन्वर्थमुक्तावली में अपरिष्कृत अंश देखे जाते हैं। अत एव इस अनुवादक से प्रस्तुत अलग संस्करण में मन्वर्थमुक्तावली का परिमार्जन बहुत परिश्रम से यथामति करदिया गया है। मण्डलिक के संस्करण में भी मन्वर्थमुक्तावली समाविष्ट है। आजकल मन्वर्थमुक्तावली ही बहुप्रचारित है।

६. **राघवानन्दसरस्वतीकृत मन्वर्थचन्द्रिका**— राघवानन्द का समय काणे महोदय ने १४०० क्रैस्ताब्द के बाद का बताया है। इस व्याख्या का मुद्रण मण्डलिक के उक्त 'मानवधर्मशास्त्रम्' में हुआ है। यह व्याख्या भी सङ्क्षिप्त ही है। इसमें भी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। सम्बद्ध स्थलों में इसका व्याख्यान अद्वैतवेदान्त का अनुकूल है।

७. **नन्दनाचार्यकृत नन्दिनी**— यह व्याख्या भी मण्डलिक के उक्त 'मानवधर्मशास्त्रम्' में मुद्रित है। यह व्याख्या भी सङ्क्षिप्त ही है। इसमें अपनी विशेषता अनेक स्थलों में दिखाई देती है।

८. **रामचन्द्रकृतव्याख्या**— यह व्याख्या भी मण्डलिक के उक्त 'मानवधर्मशास्त्रम्' में मुद्रित है। यह भी सङ्क्षिप्त और थोडी-थोडी विशेषता वाली व्याख्या है।

९. **चिरप्रभा व्याख्या (वङ्गानुवादादिसहिता)**— काशीचन्द्र विद्यारत्नकृत यह व्याख्या भी मुद्रित है (१८४२ शक, १९७७ वै.) और गौरीशङ्कर गोयनका से १९२६ सन् में (१९८३ वैक्रमाब्द में) स्थापित काशीविश्वनाथपुस्तकालय में (गोयनकापुस्तकालय में) उपलब्ध है। इसमें कुल्लूक का पक्ष छोडकर मेधातिथि का पक्ष समर्थित बताया जाता है।

१०. **मणिरामदीक्षितकृत सुखबोधिनी**— इस व्याख्या का उल्लेख पाण्डुरङ्ग वामन काणे ने धर्मशास्त्र का इतिहास नाम के ग्रन्थ के तृतीय भाग में धर्मशास्त्रीय ग्रन्थसूची में मनुस्मृति के विवरण में (पृ.१५८५) किया है। यह व्याख्या मुम्बई के भारतीय विद्याभवन से प्रकाशित नौ व्याख्या तथा ६ खण्ड वाली मनुस्मृति में प्रकाशित बताई जाती है। अन्य बातें अज्ञात हैं। इसका उल्लेख अफ्रेक्ट की ग्रन्थसूची में भी है।

११. **कृष्णनाथकृत व्याख्या**— इसका भी उल्लेख काणे महाशय ने उक्त स्थल में किया है। अन्य बातें अज्ञात हैं। अफ्रेक्ट की ग्रन्थसूची में भी इसका उल्लेख है।

१२. रुचिदत्तकृत व्याख्या– इसका भी उल्लेख काणे महाशय ने उक्त स्थल में किया है। अन्य बातें अज्ञात हैं। अफ्रेक्ट की ग्रन्थसूची में भी इसका उल्लेख है।

१३. काश्मीरकव्याख्या– किसी कश्मीरी पण्डित से की गई व्याख्या का डा.जोल्ली से कुछ अंश मनुटीकासङ्ग्रह में प्रकाशित किये जाने की बात काणे महाशय ने धर्मशास्त्र का इतिहास नाम के ग्रन्थ के तृतीय भाग में धर्मशास्त्रीय ग्रन्थसूची में मनुस्मृति के विवरण में लिखी है। जुलियस जोल्ली ने तीन अध्याय तक के मनुस्मृति की मेधातिथि, गोविन्दराज, नारायण, राघवानन्द, नन्दन और अज्ञातनामा काश्मीरक पण्डित की व्याख्याओं का सङ्क्षिप्त सङ्ग्रह १८८५–१८८९ क्रैस्ताब्द में एसियाटिक सोसाइटी से प्रकाशित करवाया था।

नाम मात्र से विदित उपर्युक्त असहायकृत इत्यादि १२ व्याख्याओं को और उपलभ्यमान उक्त १३ व्याख्याओं को मिलाने से मनुस्मृति की व्याख्याओं की सङ्ख्या २५ हो जाती है। उपलभ्यमान व्याख्याओं में १० संस्कृत व्याख्याएँ पूर्णरूप में मुद्रित भी हुई हैं। **हमारी भी मनुस्मृति की वैदिकप्रिया संस्कृतव्याख्या रचने की योजना है।** मुद्रित व्याख्याओं में मुख्य रूप में मेधातिथिकृत व्याख्या के और गोविन्दराजकृत व्याख्या के सार को लेकर विरचित कुल्लूकभट्टकृत व्याख्या में मेधातिथि की और गोविन्दराज की व्याख्याओं की त्रुटियाँ दिखाई गई हैं, किन्तु कुल्लूकभट्ट की व्याख्या में भी कुछ गम्भीर त्रुटियाँ और न्यूनताएँ हैं ही। जगह-जगह में पद और वाक्य अशुद्ध भी दिखाई देते हैं। तथापि मेधातिथिभाष्य की और गोविन्दराजव्याख्या की हस्तलिखित प्रतियाँ भी दुर्लभ होने से तथा अर्वाचीन काल में ग्रन्थप्रचार के लिए उपयुक्त स्थल वाराणसी में विरचित और अर्वाचीन ग्रन्थकार कुल्लूकभट्टकृत व्याख्या की हस्तलिखित प्रतियाँ सुलभ होने से तथा सम्पादित करके अनेक वार मुद्रित कराके प्रचारित किए जाने से भी कुल्लूकभट्ट की व्याख्या प्रसिद्ध और लोकग्राह्य भी हो गई है।

मनुस्मृति के वर्तमान स्वरूप की निष्पत्ति का काल

आजकल उपलभ्यमान मनुस्मृति का मूल मानवधर्मसूत्र होने की बात व़ेबेर, म्याक्समूलर, बुह्लर इत्यादि से की जाने की बात पाण्डुरङ्ग वामन काणे ने धर्मशास्त्र का इतिहास नाम के ग्रन्थ में (प्रथम भाग, पृ.२७) लिखी है। उनके कथन का अभिप्राय यह दिखाई देता है कि गद्यरूप मानवधर्मसूत्र का अर्वाचीन काल में किया गया परिवर्तित पद्यात्मक रूप ही वर्तमान मनुस्मृति है। उन लोगों की इस धारणा में काणे महाशय ने असहमति दिखाई है और उसमें हेतु यह दिया है कि अनेक धर्मसूत्रों की चर्चा करने वाले संस्कृत वाङ्मय के गम्भीर विद्वान् कुमारिल भट्ट ने मानवधर्मसूत्र की कोई चर्चा नहीं की है और विश्वरूप ने कहा है कि मानवचरण का कोई अस्तित्व नहीं। किन्तु काणे महाशय के उक्त तर्क उचित नहीं दिखाई देते हैं। कुमारिल भट्ट ने **"गौतम-**

वसिष्ठशङ्खलिखितहारीतापस्तम्बबौधायनादिप्रणीतधर्मशास्त्राणां गृह्यग्रन्थानां च प्रातिशाख्यलक्षणवत् प्रतिचरणं पाठव्यवस्थोपलभ्यते" (तन्त्रवार्तिक [१।३।१५], आनन्दाश्रम-संस्करण, पृ.१७२) इस वाक्य में तो हिरण्यकेशिधर्मसूत्र का और वैखानसधर्मसूत्र का भी उल्लेख नहीं किया है। इन का आदिशब्द से सङ्ग्रह किया है। ये धर्मसूत्र आजकल भी मिल रहे हैं। इसी प्रकार आदिशब्द से मानवधर्मसूत्र भी कुमारिल भट्ट से सङ्गृहीत माना जा सकता है। मानवचरण का उल्लेख शौनकीय चरणव्यूहसूत्र में **"तत्र मैत्रायणीया नाम षड्भेदा भवन्ति मानवा वाराहा दुन्दुभाश् छागलेया हारिद्रवेयाः श्यामायनीयाश् चेति"** कहकर यजुर्वेदखण्ड में किया ही गया है। कातीयचरणव्यूहसूत्र में भी प्रायः ऐसा ही उल्लेख मिलता है। मानवश्रौतसूत्र और मानवगृह्यसूत्र अब भी मिल ही रहे हैं। मुद्रित भी हैं। इस स्थिति में जैसे कृष्णयजुर्वेद के अन्य श्रौतसूत्र-गृह्यसूत्रों से संलग्न बौधायनधर्मसूत्र, आपस्तम्बधर्मसूत्र, हिरण्यकेशिधर्मसूत्र, वैखानसधर्मसूत्र अस्तित्व में हैं वैसे ही कृष्णयजुर्वेद के मानवश्रौतसूत्र-मानवगृह्यसूत्र से सम्बद्ध मानवधर्मसूत्र का भी अस्तित्व सुतरां सम्भावित होता ही है। अतः काणे महाशय का "मानवधर्मसूत्र का कोई अस्तित्व नहीं है और न मनुस्मृति उस नाम के धर्मसूत्र का कोई संशोधित संस्करण है" ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं दिखाई देता है। मैत्रायणीय-संहिता के सम्पादक श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने प्रस्ताव में **"मनुस्मृति-मानवगृह्ययोः परस्परं संवादः"** इस शीर्षक में मनुस्मृति में और मानवगृह्यसूत्र में कतिपय स्थलों में समानता दिखाकर मनुस्मृति को मानवचरण से सम्बद्ध दिखाने का प्रयत्न किया है। वस्तुतस्तु उस प्रकार की समानता मनुस्मृति में और अन्य शाखा के ग्रन्थों में भी हो सकती है। केवल कुछ विषयों में समानता को ही देखकर वैसा निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है। उस शाखा के विरुद्ध बातें मनुस्मृति में विलकूल नहीं मिलेंगी तो मनुस्मृति को उस शाखा से सम्बद्ध माने जाने की सम्भावना बढती है। हमारे अध्ययन से मनुस्मृति में और ऋग्वेदियों के आश्वलायनगृह्यसूत्र तथा वासिष्ठधर्मसूत्र में निकटता दिखाई देती है। मनुस्मृति का श्राद्धक्रियाक्रम शुक्लयजुर्वेदियों के श्राद्धक्रियाक्रम से भिन्न है। इस लिए मनुस्मृति के श्राद्धक्रियाक्रम से भिन्न रूप में शुक्लयजुर्वेदियों की धर्मसूत्रस्थानापन्न याज्ञवल्क्यस्मृति में श्राद्धक्रियाक्रम निबद्ध है। ऐसे विषयों में अधिक सूक्ष्मता से विश्लेषण करके ही मनुस्मृति का वेदशाखाविशेष के गृह्यसूत्र-धर्मसूत्र से सम्बन्ध-असम्बन्ध बताया जा सकता है।

कुमारिलभट्ट ने **"पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश् चिकित्सितम्। (आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः)"** इस वचन से प्रभावित होकर (द्रष्टव्य- तन्त्रवार्तिक १।३।२७, आनन्दाश्रमसंस्करण, पृ.२२४) पुराण को, मानवधर्मशास्त्र को और इतिहास को चरणविशेष से असम्बद्ध अथवा सर्वचरणसाधारण माने जाने की बात कही है (तन्त्रवार्तिक १।३।१५, आनन्दाश्रमसंस्करण, पृ.१७२)। लोक में भी मनुस्मृति को सर्वसाधारण और सर्वमान्य स्मृति मानने की धारणा पाई जाती है। तथापि मनुस्मृति के स्वशाखाग्रन्थ के विरुद्ध अंशों का

तो वैदिक ब्राह्मण अनुसरण नहीं कर सकते हैं। अतः मनुस्मृति के सभी अंशों को सर्वमान्य तो नहीं कहा जा सकता है। इस स्थिति में मनुस्मृति को भी किसी वेदशाखा से विशेष रूप में सम्बद्ध मानने का पक्ष सर्वथा खण्डनीय नहीं दिखाई देता है। अस्तु।

वर्तमान काल में उपलभ्यमान मनुस्मृतिग्रन्थ का विकास अथवा निष्पादन जिस परम्परा से और जिस रूप से भी हुआ हो, यह रूप कब निष्पन्न हुआ है, इस विषय में अब थोडा विचार करें।

भारतवर्षीय परम्परा में मानवधर्मशास्त्र का मूलग्रन्थ ब्रह्मा से रचा गया और ब्रह्मा से स्वायम्भुव मनु को उपदिष्ट तथा स्वायम्भुव मनु से मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा इत्यादि महर्षियों को उपदिष्ट माना जाता है (मनु.१।५८,५९; १।३५, १२।११७)। तथापि वर्तमान काल में उपलभ्यमान मनुस्मृतिग्रन्थ वह मूल ग्रन्थ नहीं है। वह मूल ग्रन्थ बहूत बडा और आज से लगभग एक अरब, सत्तानबे करोड, उनतीस लाख, उनपचास हजार इकहत्तर (१,९७,२९,४९,०७१) वर्ष पूर्व रचा गया माना जाता है, क्योंकि इस कल्प के चौदह मनुओं में प्रथम मनु स्वायम्भुव मनु का समय उतना प्राचीन माना जाता है। वर्तमान मनुस्मृति उतनी प्राचीन नहीं मानी जा सकती है, क्यों कि प्रतिमन्वन्तर धर्मशास्त्रप्रयोजक भिन्नभिन्न महर्षि माने जाते हैं। अतः उसी स्वायम्भुव मनु के मूल ग्रन्थ का विभिन्न कालों में सङ्क्षिप्तीकृत और प्रतिसंस्कृत रूप वर्तमान काल में उपलभ्यमान मनुस्मृतिग्रन्थ माना जाता है। उसमें भी भारतवर्षीय परम्परा के अनुसार वर्तमान मन्वन्तर के अथवा महायुग (चतुर्युगी) के आदि में सत्य युग में[1] अथवा वर्तमान कलियुग के आदि में वर्तमान मनुस्मृतिग्रन्थ निष्पन्न और मुनियों से उपदिष्ट माना जाता है। कुमारिलभट्ट भी कहते हैं– **"वेदेनैवाऽभ्यनुज्ञाता येषामेव प्रवक्तृता। नित्यानामभिधेयानां मन्वन्तरयुगादिषु॥ तेषां विपरिवर्तेषु कुर्वतां धर्मसंहिताः। वचनानि प्रमाणानि नाऽन्येषामिति निश्चयः॥ ... प्रतिमन्वन्तरं चैव स्मृतिरन्या विधीयते। स्थिताश् च मनवो नित्यं कल्पेकल्पे चतुर्दश"** (तन्त्रवार्तिक १।३।७, आनन्दाश्रम, पृ.१२२)। इस महायुग के आदि में निष्पन्न मानने से वर्तमान मनुस्मृतिग्रन्थ को लभभग ३८,९३०७१ वर्ष प्राचीन और वर्तमान कलियुग के आदि में निष्पन्न मानने से लगभग ५०७१ वर्ष प्राचीन मानना पडता है। इस प्रकार का सङ्क्षिप्तीकरण और प्रतिसंस्कार तो पुराण के वचनों से और नारदस्मृति के वृद्धपाठ से भी समर्थित होता ही है। नारदीयमनुस्मृति के वृद्धपाठ में सुमति भार्गव से मनुस्मृति का ४००० श्लोकों में सङ्क्षिप्तीकृत किए जाने का उल्लेख है। तथापि आधुनिक इतिहासविचारक वर्तमान मनुस्मृतिग्रन्थ को उतना भी प्राचीन मानने को तत्पर नहीं होते हैं। इस समय में उपलब्ध मनुस्मृति में २६८४ श्लोक ही मिलते हैं। पाण्डुरङ्ग वामन काणे ने धर्मशास्त्र का इतिहास नाम के ग्रन्थ में कहा है कि "मनुस्मृति की रचना ई.पू. दूसरी

---

[1] चतुर्युगान्ते वेदानां जायते किल विप्लवः। प्रवर्तयन्ति तानेत्य भुवं सप्तर्षयो दिवः॥
कृतेकृते स्मृतेर् विप्र प्रणेता जायते मनुः।–विष्णुपुराण ३।२।४६-४७।

शताब्दी तथा ईसा के उपरान्त दूसरी शताब्दी के बीच कभी हुई होगी" (प्रथम भाग, पृ.४६), "ई.पू. दूसरी शताब्दी एवम् ईसा के उपरान्त दूसरी शताब्दी के बीच सम्भवतः भृगु ने मनुस्मृति का संशोधन किया। यह कृति प्राचीन ग्रन्थ के सङ्क्षिप्त एवम् परिवर्धित रूप में प्रकट हुई" (वहीं, पृ.४७)।

काल जो कोई भी हो, शाक्यसिंह बुद्ध से प्राचीन वासिष्ठधर्मसूत्र, आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, हिरण्यकेशिधर्मसूत्र, बौधायनधर्मसूत्र, गौतमधर्मसूत्र इत्यादि धर्मसूत्रग्रन्थों की शैली से और प्रतिपाद्यविषयों से मनुस्मृति की शैली और प्रतिपाद्य विषय कुछ भिन्न रूप के हैं। मनुस्मृति में पौराणिक शैली का सृष्टिवर्णन है, युगधर्म हैं, जैनप्रव्रज्या-बौद्धप्रव्रज्यादि प्रव्रज्याओं का सङ्केत सा है (५।८९) और अन्य भी कुछ ऐसे विषय हैं जो प्राचीन-धर्मसूत्रों में अनुपस्थित हैं। अतः वर्तमान मनुस्मृतिग्रन्थ धर्मसूत्रों से पीछे का ही दिखाई देता है। अथवा धर्मसूत्रों के समय के बाद सम्पादित अथवा परिष्कृत मनुस्मृति का पाठ ही इस समय उपलब्ध है।

कोई पाश्चात्त्य-दृष्टियुक्त मनुस्मृति-सम्पादक व्यक्ति जैन-बौद्धधर्म से और तदनुयायी राजाओं से तथा यवन-शक-कुषाणादि म्लेच्छ शासकों से ब्राह्मणधर्म में बाधा अनुभूत होने पर ब्राह्मणों को और क्षत्रिय राजाओं को समन्वित होकर शूद्रों और म्लेच्छों का प्रतीकार करने के लिए मनुस्मृतिग्रन्थ उपदेश देता है; अतः मनुस्मृतिग्रन्थ इसी परिस्थिति का उपज है, ऐसा कहता है। किन्तु उक्त परिस्थिति में मनुस्मृति में कुछ प्रक्षेप संयोजित हो सकने की सम्भावना रहने पर भी राष्ट्र की समृद्धि के लिए ब्राह्मणों का और राजाओं का समन्वय आवश्यक होने की बात ऋग्वेद के **"स इत् क्षेति सुधित ओकसि स्वे तस्मा इडा पिन्वते विश्वदानीम्। तस्मै विशः स्वयमेवाऽऽनमन्ते यस्मिन् ब्रह्मा राजनि पूर्व एति"** इत्यादि (४।५०।८) मन्त्रों में और अथर्ववेद के **"उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति। परा तत् सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते"** इत्यादि (५।१९।६) मन्त्रों में ही आई है। अतः उक्त धारणा सत्य नहीं मानी जा सकती है।

धर्मसूत्रों की निर्विकल्प मान्यता का उल्लेख पाणिनीय-व्याकरण-भाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने किया है (१।१।४७; ५।१।११९, वा.३), मनुस्मृति की वैसी मान्यता का उल्लेख उन्हों ने नहीं किया है। इस से भी वर्तमान मनुस्मृति ग्रन्थ के अन्तिम सम्पादन के काल का सामान्यतया अनुमान होता है। मनु को धर्मशास्त्रकार मानने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से प्रवृत्त होने से शबरस्वामी ने भी यद्यपि धर्मशास्त्रकार मनु का उल्लेख किया है (१।१।२) तथापि वर्तमानरूप के मनुस्मृतिग्रन्थ से एक ही श्लोक उन्हों ने उद्धृत किया है (६।१।१२)। वर्तमान मनुस्मृतिग्रन्थ की निष्पत्ति के काल के विषय में विचार करने के समय में इस तथ्य को भी ध्यान में रखना चाहिए। शबरस्वामी का काल साधारणतया वैक्रमाब्द का तृतीय अथवा चतुर्थ शतक माना जाता है। शङ्करभगवत्-पाद ने आचार्य शबरस्वामी का नाम उल्लिखित किया है (ब्रह्ममीमांसासूत्रभाष्य ३।३।५३)।

मनुस्मृति के संस्करण

भारतवर्ष में भारतवर्षीय लिपि में संस्कृतग्रन्थ का सर्वप्रथम मुद्रण १७९१ क्रैस्ताब्द में (१८४८ वैक्रमाब्द में) ऋतुसंहार का होने का इतिहास है। भारतवर्ष में मनुस्मृति का सर्वप्रथम मुद्रण १८१३ क्रैस्ताब्द में (१८७० वैक्रमाब्द में) कोलकाता में होने की बात पाण्डुरङ्ग वामन काणे ने धर्मशास्त्र का इतिहास नाम के ग्रन्थ में लिखी है। उसमें मन्वर्थमुक्तावली भी मुद्रित हुई थी अथवा नहीं, यह काणे महाशय ने नहीं बताया। मनुस्मृति के उक्त मुद्रण के बाद इसके अनगिनत संस्करण प्रकाशित होने की बात भी काणे महाशय ने लिखी है। १८३० क्रैस्ताब्द में मन्वर्थमुक्तावलीसहित मनुस्मृति कोलकाता से प्रकाशित बताई जाती है। हमारी दृष्टि में १८५८ क्रैस्ताब्द में (१९१५ वैक्रमाब्द में) मुम्बई में सदाशिव शेटहे प्रभृति से शिलायन्त्रालय में मुद्रित मन्वर्थ-मुक्तावलीसहित मनुस्मृति का एक संस्करण भी आया है। १८८६ क्रैस्ताब्द में (१९४३ वैक्रमाब्द में) नारायण विश्वनाथ मण्डलिक ने ७ व्याख्याओं के साथ मनुस्मृति को 'मानवधर्मशास्त्रम्' नाम से प्रकाशित किया था। निर्णयसागरमुद्रणालय से प्रकाशित मन्वर्थमुक्तावलीसहित मनुस्मृति तो अत्यन्त प्रसिद्ध है।

मनुस्मृति के प्रस्तुत संस्करण की विशेषताएँ

मनुस्मृति के हमारे प्रस्तुत संस्करण का मुख्य आधार निर्णयसागरमुद्रणालय का नारायणराम आचार्य से संशोधित १९४६ क्रैस्ताब्द का संस्करण है। पाठान्तरों में हम ने युक्तियुक्त पाठ को लिया है। क्षेपक श्लोक भी इसी संस्करण के ही लिए गए हैं। अन्य नहीं। इस संस्करण में देखी गई अशुद्धियों को हटाया गया है। हम ने अन्य संस्करणों का और मेधातिथिव्याख्यायुक्त संस्करण का भी सामान्यतया उपयोग किया है। मूल श्लोकों को भी हम ने पदच्छेद की सुविधा की दृष्टि से भी सम्पादित किया है।

प्रस्तुत संस्करण में हिन्दी भूमिका में धर्मशास्त्रादि का और मनुस्मृति का तथा व्याख्याओं का विशेष परिचय भी प्रस्तुत किया गया है।

हिन्दी अर्थ मुख्य रूप में कुल्लूकभट्ट की व्याख्या के अनुकूल रूप में ही दिया गया है। फिर भी कहींकहीं कुछ भिन्नता भी है और असम्मति की टिप्पणियाँ भी की गई हैं। मनुस्मृति का यथार्थ अर्थ देने का प्रयास हम हमारी **वैदिकप्रिया** व्याख्या में करेंगे।

श्लोकों में प्रतिपादित विषयों के विशेष स्पष्टीकरण के लिए भी आवश्यक स्थलों में अनुवाद के बाद विशेष टिप्पणियाँ दी गई हैं। वैसी टिप्पणियाँ मुख्य रूप में अधोनिर्दिष्ट अध्यायों के अधोनिर्दिष्ट श्लोकों में दी गई हैं—

१।१, १।२, १।३, १।८, १।१४, १।२०, १।२७, १।६३, १।६४, १।६७, १।७०, १।८०, १।८२, १।८३, १।८५, १।८८, १।९२, १।१०१।

२।२, २।१३, २।१६, २।१७, २।२०, २।२४, २।२९, २।३०, २।३२, २।४४, २।४८, २।५१, २।६१, २।६३, २।६६, २।६७, २।६८, २।७२, २।७५, २।८५, २।८७, २।१०१, २।१०५, २।१०९, २।११४, २।१२५, २।१४२, २।१५१, २।१८४, २।१८९, २।२१३, २।२३७, २।२३८, २।२४१।

३।५, ३।२३, ३।२५, ३।३२, ३।४८, ३।५०, ३।६७, ३।७०, ३।१००, ३।१०५, ३।११०, ३।१२३, ३।१५६, ३।१७५, ३।२०५, ३।२१२, ३।२१६, ३।२१९, ३।२२०, ३।२२७, ३।२२५, ३।२५८, ३।२७१, ३।२७२, ३।२७७, ३।२७८, ३।२८१, ३।२८२, ३।२८३।

४।१, ४।५, ४।७, ४।२६, ४।२८, ४।७९, ४।८०, ४।९०, ४।९३, ४।९५, ४।९६, ४।१००, ४।११९, ४।१५१, ४।१५३, ४।१६५, ४।१७८, ४।२०९, ४।२५३।

५।५, ५।१२, ५।१८, ५।४४, ५।५५, ५।५७, ५।८२, ५।१४०, ५।१४७, ५।१४८, ५।१५२, ५।१५४, ५।१५५, ५।१५७, ५।१६८।

६।१, ६।२, ६।२०, ६।२३, ६।३१, ६।३३, ६।७९, ६।८६।

७।२, ७।३, ७।३२, ७।३५, ७।३७, ७।४१, ७।६३, ७।८०, ७।८१, ७।१२४, ७।१२६, ७।१४३, ७।१५४, ७।१८७, ७।२०७।

८।२५, ८।५८, ८।८४, ८।९२, ८।१०४, ८।१२४, ८।१३६, ८।१५६, ८।१७४, ८।२१०, ८।२६७, ८।२७०, ८।२७१, ८।२७२, ८।२७७, ८।२७९, ८।२८०, ८।२८१, ८।२८२, ८।२८३, ८।२८९, ८।२९२, ८।३०९, ८।३१३, ८।३१७, ८।३२०, ८।३२५, ८।३३५, ८।३३६, ८।३३७, ८।३३८, ८।३३९, ८।३५९, ८।३७६, ८।३७७, ८।३७९, ८।३८६, ८।३९७, ८।४०२, ८।४१३, ८।४१५, ८।४१६, ८।४१७, ८।४१८।

९।१४, ९।१७, ९।२०, ९।५८, ९।७७, ९।८३, ९।१०७, ९।१२६, ९।१३८, ९।१८१, ९।१८७, ९।२८४, ९।३०४, ९।३११, ९।३१३, ९।३१७, ९।३२२, ९।३२३।

१०।१, १०।४, १०।५, १०।६, १०।१७, १०।२१, १०।२२, १०।२३, १०।३१, १०।३४, १०।३७, १०।४६, १०।४८, १०।६५, १०।८०, १०।९६, १०।१२३, १०।१२७, १०।१२९।

११।६, ११।७, ११।१२, ११।१३, ११।२७, ११।३९, ११।७३, ११।७७, ११।१२१, ११।१३१, ११।१८२, ११।१९२, ११।२०८, ११।२२६, ११।२४९, ११।२५४, ११।२५६, ११।२५८, ११।२६२।

१२।९, १२।१६, १२।१७, १२।१८, १२।२१, १२।५०, १२।५९, १२।११०, १२।१२३।

मनुस्मृति के तात्पर्य को विना समझे मनुस्मृति में आक्षेप करने वालों के आक्षेपों की समीक्षा भी उपर्युल्लिखित कुछ विशेष टिप्पणियों में की गई है। साथ ही आधुनिक अन्य अनुवादकों ने और व्याख्याताओं ने मनुस्मृति के कुछ सन्दर्भों को प्राचीन काल के लिए ही उपयुक्त और उसी सन्दर्भ में लेने के लिए योग्य कहा है, हम ने तो मनुस्मृति के आलोचित अंशों को भी शाश्वत प्रकृति के अनुकूल और सभी कालों के लिए ग्रहणयोग्य और स्वीकार्य मानकर व्याख्या की है। इस लिए हमारी व्याख्या विशेष मननीय और आकलनीय हुई है।

मनुस्मृति के इस संस्करण के अन्त में श्लोकार्धकानुक्रमणिका भी दी गई है।

मनुस्मृति में किए गए प्रमुख आक्षेपों का सङ्क्षिप्त उत्तर

आधुनिक विभिन्न लोगों से की गई मनुस्मृति की आलोचना की अत्यन्त सङ्क्षिप्त समीक्षा भी इस संस्करण में की गई है। वह समीक्षा सम्बद्ध श्लोकों के अनुवाद के बाद **विशेष** के अन्तर्गत समाविष्ट है।

आधुनिक काल में मनुस्मृति की निन्दा में बहुत बोला और लिखा गया है। किन्तु बोलने और लिखने वालों से मनुस्मृति के प्रकरणों का और श्लोकों का अच्छी तरह मनन नहीं किया गया मालूम होता है।

मनुस्मृति अन्धविश्वास बढ़ाने वाला ग्रन्थ नहीं है। इसमें बताई गई बातें युक्तियुक्त ही हैं। किन्तु इन को ठीक-ठीक प्रकार से समझने की आवश्यकता है।

मनुस्मृति भारतवर्ष की राष्ट्रियता का ध्वंसक और दासता का कारण ग्रन्थ नहीं है। वर्गभेद विभिन्नरूप में भूमण्डल के सभी देशों में वर्तमान ही है, और वर्गभेद कभी भी मिट नहीं सकता है। अतः मनुस्मृति में बताए गए जातिभेद को लेकर मनुस्मृति की निन्दा करना उचित नहीं कहा जा सकता है।

मनुस्मृति ने वैश्य-शूद्रों के प्रति अन्याय नहीं किया है। जहाँकहीं भी भूमण्डल में विधायकों का और कार्यकारी शासकों का जनसाधारण से कुछ विशिष्ट स्थान होता ही है। यह विशिष्ट स्थान लोककल्याण-साधन के लिए ही आवश्यक होता है।

मनुस्मृति में शूद्र का सम्पूर्ण धन हडपने का विधान नहीं है। यज्ञ के लिए आवश्यक होने पर दो तीन चीज ही शूद्र के यहाँ से लेने का विधान मनुस्मृति में किया गया है (११।१३)। ऐसी व्यवस्था तो वैश्य के विषय में (११।११,१२) और ब्राह्मण-क्षत्रियों के विषय में (११।१४,१५) भी मनुस्मृति में की गई है। दास के रूप में अपने को समर्पित करने वाले शूद्र की कमाई तो स्वामी का होना स्वाभाविक ही है। शूद्र के पास में अधिक धनसञ्चय होने पर समाज में विप्लव आ सकने की बात को ध्यान में रखकर ही शूद्र को ज्यादा धनसञ्चय न करने का सलाह मनुस्मृति में दिया गया है (१०।१२९)। इस विषय में महाभारत की व्यवस्था (१२।६०।३१) भी द्रष्टव्य है। वैदिक शास्त्र में ब्राह्मणों को भी धनसञ्चयपरायण न होने के लिए यज्ञ-यागादि के द्वारा धन का त्याग करने का विधान किया गया ही है। अतः मनुस्मृति की शूद्रधनव्यवस्था उस प्रकार आलोच्य नहीं मानी जा सकती है, जिस प्रकार आलोचित हुई है।

शूद्र को तीक्ष्ण दण्ड देने की व्यवस्था भी अपराधप्रवृत्ति को रोकने के लिए ही दिखाई गई है। इस दण्डव्यवस्था का अभिप्राय भी अच्छी तरह समझा जाना चाहिए। औचित्यानुसार ब्राह्मण को, क्षत्रिय को और वैश्य को शूद्र से बहुत ज्यादा दण्ड देने की व्यवस्था भी मनुस्मृति में (८।३३७,३३८) दी गई है। सामन्त राजा को जनसाधारण से

ज्यादा दण्ड सम्राट् से दिए जाने की व्यवस्था भी मनुस्मृति में है (८।३३६)। अरक्षित ब्राह्मणी में गमन करने में वैश्य से क्षत्रिय को ज्यादा दण्ड बताया गया है (मनु.८।३७६), रक्षित ब्राह्मणी में गमन करने में क्षत्रिय को और वैश्य को भी शूद्र से तुल्य दण्ड बताया गया है (८।३७७)। इस से मनुस्मृति में औचित्य के आधार में ही दण्डव्यवस्था की जाने की बात स्पष्ट होती है।

ठीक प्रकार से धर्मकर्म करने पर शूद्र भी प्रशंसनीय होने की बात भी मनुस्मृति में (१०।१२७) है ही।

"वैदिक धर्म मूल रूपभा" (२०६२ वै.) और **"वैदिक धर्मशास्त्र र सम्पत्तिमा महिलाको अधिकार"** (२०६३ वै.) नाम के नेपाली भाषा के ग्रन्थों में भी कतिपय आक्षेपों का सप्रमाण समाधान दिया गया है।

शूद्र को उसके लिए आवश्यक ज्ञान भी वेदवाक्य द्वारा नहीं देने की बात ही मनुस्मृति में की गई है (४।८०)। इतिहासपुराणादि से उक्त ज्ञान देने का निषेध नहीं है। इस विषय का स्पष्टीकरण पुराणों में भी किया गया है (स्कन्दपुराण ३।२।६।७९, ४।३८।७१; पराशरोपपुराण १०।३०)।

इन विषयों में सङ्क्षिप्त स्पष्टीकरण सम्बद्ध श्लोकों के अनुवाद के बाद **विशेष** कह करके किया गया है। इन विषयों में विस्तृत व्याख्या भी आवश्यक है। वह व्याख्या मनुस्मृति की हमारी **वैदिकप्रिया** संस्कृतव्याख्या में और उसके साथ प्रस्तुत की जाने वाली हिन्दी व्याख्या में और कुछ विस्तृत रूप में दी जाएगी।

वैदिक वाङ्मय के प्रचार की आवश्यकता और मनुस्मृति के प्रस्तुत संस्करण का सम्पादन

वैदिक वाङ्मय का भारतवर्ष के गौरवास्पद विषयों में प्रमुख स्थान है। इसी में मुख्य धारा के भारतवर्षनिवासी लोगों का जीवनदर्शन आधृत है। वर्तमान परिस्थिति में वैदिक वाङ्मय का यथार्थ ज्ञान की दुर्लभता दीखती है। अतः स्वाद्ध्यायशालाकुटुम्ब से वैदिक वाङ्मय के अध्ययन, बोध, आचरण और प्रचारण में प्रयास हो रहा है।

इस प्रसङ्ग में **शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दश्शास्त्र और ज्योतिष** इन छह अङ्गों की सहायता से वेद का अध्ययन करके वेद के स्वरूप, अर्थ, प्रयोग और रहस्य को समझने, यथाशक्ति प्रयोग में लाने और प्रचार करने में काठमाण्डु (नेपाल) में अवस्थित स्वाद्ध्यायशालाकुटुम्ब क्रियाशील है।

वेदाङ्गों में **शिक्षा** प्रथम स्थान में है। शिक्षा के ग्रन्थ बहूत उपलब्ध हैं। किन्तु सम्पूर्णाङ्ग एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं था। हम ने शिक्षा वेदाङ्ग में पर्याप्त अध्ययन करके भारतवर्ष के ५,००० वर्ष के संस्कृत वाङ्मय के इतिहास में शिक्षाशास्त्र के

अद्वितीय ग्रन्थ के रूप में **कौण्डिन्न्यायनशिक्षा**-नामक सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ निष्पन्न किया है और डिमाइ साइज का लगभग ९०० पृष्ठ का ग्रन्थ संस्कृत में प्रकाशित भी किया है (२०४९ वै.)। इसमें मूल विषय ११५८ कारिकाओं में वर्णित हैं और विस्तृत रूप में प्रमाणों को प्रस्तुत करके व्याख्या भी की गई है। इस विशालकाय ग्रन्थ के परिशिष्ट में आज तक अमुद्रित चारायणीयशिक्षा, पारिशिक्षा जैसे कुछ शिक्षाग्रन्थ भी इदम्प्रथमतया (सर्वप्रथम) मुद्रितप्रकाशित किए गए हैं। **पाणिनीयशिक्षा** की वेदाङ्गशिक्षाविमर्शाख्य व्याख्या तथा हिन्दी व्याख्या भी वाराणसीस्थ चौखम्बाविद्याभवन से प्रकाशित कराई गई है। देश्य भाषा के प्रभाव से संस्कृत के दीर्घ अवर्ण, अन्य दीर्घ स्वरवर्ण, ऋकार, ऌकार, एकार, ओकार, अनुस्वार, विसर्ग, ञकार, वकार इत्यादि वर्णों की तथा क्ष, ज्ञ इन संयुक्ताक्षरों की उच्चारणप्रक्रिया का ज्ञान और अभ्यास संस्कृताध्येताओं के लिए दुर्लभ हो गया है, जिन का शुद्ध उच्चारण धर्मकर्म के लिए विशेष करके अत्यावश्यक है। अत एव इस विषय में प्रातिशाख्यादि ग्रन्थों का पर्याप्त अनुसन्धान करके उक्त वर्णों में विशेष प्रकाश डाला गया है. वेदशाखाविशेष का उच्चारण उस शाखा के प्रातिशाख्य और शिक्षाग्रन्थों के अनुसार ही होना आवश्यक होता है। विविध वेदशाखाविशेषों में पाये जाने वाले यमवर्ण, नासिक्यवर्ण अन्य विद्वानों से अचर्चित किड्किडाकारवर्ण इत्यादि के साथ विविध शाखाओं की उच्चारणगत विशेषताओं पर भी प्रातिशाख्यादि शिक्षाग्रन्थों के प्रमाणों को रखकर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अन्य अनुसन्धाताओं की त्रुटियों का भी सप्रमाण निर्देश किया गया है। **नारदीयशिक्षा** की संस्कृत में और हिन्दी में विशिष्ट व्याख्या भी प्रस्तुत की गई है और चौखम्बा विद्याभवन से प्रकाशित करवाई गई है। नेपाली भाषा में भी **नेपाली वर्णोच्चारणशिक्षा** नाम का ग्रन्थ रचा गया है और नेपाल के साझाप्रकाशन से प्रकाशित भी करवाया गया है (२०३१ वै.)।

वेदाङ्ग **कल्पशास्त्र** में भी गम्भीर अनुसन्धान किया गया है और भारतवर्ष के उत्तरभाग में रहनेवाले अधिकांश ब्राह्मणों की स्ववेदशाखारूप माध्यन्दिनीयवाजसनेयि-शुक्लयजुर्वेदशाखा की नित्यसदाचारकर्म-संस्कारकर्म-श्राद्धकर्मपद्धतियों में स्वशाखासूत्र की प्रतिकूल बातें पाकर उनको शुद्ध करने के लिए मार्गप्रदर्शनार्थ **माध्यन्दिनीय-वाजसनेयि-शुक्लयजुर्वेदशाखाध्यायिनां निरग्निकानां द्विजानां नित्यसदाचारकर्म-संस्कारकर्म-श्राद्धकर्मादि-** ***वैदिकमन्त्रसङ्ग्रहः*** नाम का विशिष्ट भूमिका और टिप्पणियों से युक्त ग्रन्थ भी संस्कृत में बनाया गया है और प्रकाशित भी किया गया है (२०५२ वै.)। इस ग्रन्थ में स्वशाखा-वेदसूत्रानुसार ही धार्मिक कर्म की कर्तव्यता पर विशेष विवेचन भी किया गया है। प्रचलित सन्ध्योपासनपद्धतियों की अस्तव्यस्तता को देखकर **माध्यन्दिनीय-वाजसनेयि-शुक्लयजुर्वेदशाखाध्यायिनां द्विजानां कात्यायन-त्रिकण्डिक-स्नानसूत्रोक्ता** ***सन्ध्योपासनपद्धतिः*** नाम का ग्रन्थ भी विस्तृत विवेचनात्मक प्रस्ताविका और हिन्दी अनुवाद के साथ रचा गया है और चौखम्बा विद्याभवन से प्रकाशित करवाया गया है (२००० क्रै.)। धर्म का मूल वेद और वेद के ज्ञान का और संरक्षण का मूल **ब्रह्मयज्ञ** है।

किन्तु वर्तमान काल में ब्राह्मणों में भी ब्रह्मयज्ञ के विषय में चेतना की न्यूनता देखी जाती है। अतः हम ने विवेचनात्मक विस्तृत प्रस्ताविका के साथ में **ब्रह्मयज्ञपद्धतिः** नाम का ग्रन्थ भी संस्कृत में बनाया है और चौखम्बा विद्याभवन से प्रकाशित भी करवाया है (२००४ क्रै.)। वैदिक यज्ञ के विषय में भी स्वाद्ध्यायशालाकुटुम्ब में विस्तृत अध्ययन-मनन हुआ है। वैदिक सनातन वर्णाश्रमधर्म का साङ्गोपाङ्ग विस्तृत परिचय देने के लिए नेपाली भाषा में **वैदिक धर्म मूल रूपमा** नाम का ग्रन्थ प्रकाशित भी हुआ है (प्र.सं.२०४५ वै., द्वि.सं.२०६२ वै.)। इसमें हम ने चार वेद, छह वेदाङ्ग, छपन्न स्मृतियाँ, अठारह महापुराण इन शास्त्रों का विवेचनात्मक सार देने का प्रयास किया है और उन ग्रन्थों से शतशः वचन उद्धृत करके सप्रमाण विषयविवेचन किया है। इस ग्रन्थ को संस्कृत में और हिन्दी में भी प्रस्तुत करने की योजना है। वैदिक कर्मकाण्ड में स्वशाखासूत्र की व्यवस्था में ध्यान आकृष्ट करने के लिए और गरुडपुराण (प्रेतकल्प) के विषय में लोक में व्याप्त भ्रम को हटाने के लिए भी विस्तृत भूमिका के साथ हिन्दी अनुवाद भी देकर मूल **गरुडपुराण का** ४९ अध्यायों वाला **प्रेतकल्प** ग्रन्थ भी स्वाद्ध्यायशालाकुटुम्ब से प्रस्तुत हुआ है और चौखम्बा विद्याभवन ने इसको प्रकाशित किया है (२००४ क्रै.)।

वेदाङ्ग **व्याकरणशास्त्र** में भी स्वाद्ध्यायशालाकुटुम्ब में गम्भीर अध्ययन-मनन हुआ है। भारतवर्ष के महान् भाषाविज्ञ **यास्क-पाणिनि-कात्यायन-पतञ्जलि-वररुचि-भर्तृहरिप्रभृति** के हजारों वर्षों के भाषाव्याकरणचिन्तन से परिष्कृत व्याकरणदर्शन का तिरस्कार करके बनाए गए नेपाली भाषा के व्याकरण की समीक्षा करके **जिम्दो नेपालि भासा** (प्रथम खण्ड, २०३० वै. और द्वितीय खण्ड, २०३७ वै.) नाम का ग्रन्थ प्रकाशित किया गया है। हिन्दी भाषा के व्याकरण की भी लगभग वैसी ही अवस्था है। अत एव हिन्दी भाषा के विद्वानों को भी उन ग्रन्थों को देखना चाहिए और हिन्दी भाषा के व्याकरण के परिष्कार के लिए विचार और कार्य करना चाहिए। **पाणिनीय व्याकरण** का अत्यावश्यक वार्तिक, इष्टि, गणपाठ और अन्य चान्द्र कातन्त्र इत्यादि व्याकरण के आवश्यक विषय समाविष्ट करके अष्टाध्यायी का अभ्यास करने योग्य पाठ का वर्षों के परिश्रम से स्वाद्ध्यायशाला में सम्पादन किया गया है। इसकी वेदपरक विशिष्ट व्याख्या करने की योजना है।

वेदाङ्ग **निरुक्तशास्त्र**अन्तर्गत निरुक्त-निघण्टुस्थानीय **वेदभाषानिघण्टु** की अमरकोश की शैली में रचना की जारही है। उसमें लगभग ३,००० श्लोक बनाए जा चुके हैं, ग्रन्थ को पूर्ण बनाने का काम चल रहा है। उसके निदर्शन के रूप में भूलोक काण्ड के देववर्ग और ब्रह्मवर्ग को स्वाद्ध्यायशालाकुटुम्ब ने प्रकाशित किया है (२०५० वै.)। इस भाग में भूलोकान्तर्गत माने गए देवता, गोत्र, प्रवर, आश्रमधर्म, वैदिक संस्कार, दर्शपूर्णमास-पशुबन्ध-सोमयागादि वैदिक यज्ञ इत्यादि से सम्बद्ध पदपदार्थों का अनुष्टुप्छन्द के श्लोकों में सङ्कलन किया गया है।

वेदाङ्ग **छन्दश्शास्त्र** का भी स्वाद्ध्यायाशालाकुटुम्ब में गम्भीर अध्ययन हुआ है। वर्तमान काल में पण्डितों से भी छन्द और वृत्त के भेद में भी ध्यान नहीं दिए जाने से जो अशास्त्रीय व्यवहार हो रहा है, पण्डित लोग भी इन्द्रवज्रा छन्द इत्यादि कह देते हैं, जब कि शास्त्रीय रूप में त्रिष्टुप् छन्द में इन्द्रवज्रा वृत्त इत्यादि कहना चाहिए, उसके संशोधन के लिए नेपाली भाषा में **वृत्तनक्षत्रमाला** नाम का ग्रन्थ बहुत पहले ही प्रकाशित किया गया है (२०२८ वै.)।

वेदाङ्ग ज्योतिष में भी स्वाद्ध्यायशालाकुटुम्ब में गम्भीर अध्ययन-मनन हुआ है। वेदाङ्ग ज्योतिषशास्त्र का आजकल उपलब्ध लगभग ३४०० वर्ष पुराना माना गया मूल ग्रन्थ लगधमुनिप्रोक्त वेदाङ्गज्योतिष है। इसकी वर्षगणना तपश्शुक्लप्रतिपदा से अर्थात् वैदिक माघशुक्लप्रतिपदा से प्रारम्भ होती है। वैदिक माघशुक्लप्रतिपदा अर्वाचीन राशिपरक ब्रह्मगुप्तादि की **"मेषगरविसङ्क्रान्तिः शशिमासे भवति यत्र तच् चैत्रम्। एवं वैशाखाद्या वृषादिसङ्क्रान्तियोगेन"** इत्यादि चान्द्रमासपरिभाषा की माघशुक्लप्रतिपदा नहीं है। वैदिक वर्ष सौरचान्द्र है, अयन भी सौरचान्द्र हैं। ऋतु भी सौरचान्द्र हैं। वैदिक अधिकमास केवल अयनान्त में केवल वैदिक शुचिमास में (वैदिक आषाढ में) और वैदिक सहस्यमास में (वैदिक पौष में) ही होता है, जिसकिसी मास में नहीं। इस विषय में वाराणसी के सम्पूर्णानन्द-संस्कृतविश्वविद्यालय की सारस्वती सुषमा पत्रिका में **"वेदाङ्गज्योतिषं युगवर्षायनर्तुमासाधिमासादिगणना च"** इस नाम का (५० वर्ष, ३-४ अङ्क; २०५२ वै.) और **"जैमिनीयधर्ममीमांसानिर्णीतानां वैदिककृत्यकालानां चान्द्रमाननियतत्वम्"** नाम का लेख (५१ वर्ष, १-४ अङ्क; २०५३ वै.) तथा वाराणसी के ही सन्मार्ग पत्रिका में (१९९८, अप्रैल २,३) भी **"लगधप्रोक्त वेदाङ्गज्योतिष और नववर्षारम्भ"** नाम का लेख भी हम ने प्रकाशित करवाया था। अब तो स्वाद्ध्यायशालाकुटुम्ब का **यजुर्वेदिनां परम्परयाऽऽगतं विस्तृतसंस्कृतभूमिकया सोमाकरभाष्येण कौण्डिन्न्यायनव्याख्यानेन च सहितं लगधमुनिप्रोक्तं *वेदाङ्गज्योतिषं* सङ्क्षिप्तहिन्दीभूमिका-हिन्द्यनुवादादियुतं विविधपरिशिष्टभूषितं च** नाम का ग्रन्थ भी चौखम्बा विद्याभवन से प्रकाशित हो चुका है (२००५ क्रै.)। वर्तमान काल में प्रचलित सिद्धान्तज्योतिषग्रन्थों के और इस वेदाङ्गज्योतिषग्रन्थ के सिद्धान्त में बडा अन्तर है। व्रेबेर, थिबो इत्यादि पाश्चात्त्य अनुसन्धाताओं से और लाला छोटेलाल "बार्हस्पत्य", सुधाकर द्विवेदी, शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित इत्यादि प्राच्य अनुसन्धाताओं से भी अविज्ञात वैदिक कालगणनापद्धति को हम ने वैदिक वाङ्मय के आलोडन से और नेपाल में सुरक्षित ग्रन्थ के साथ नेपाल के इतिहास के परिशीलन से भी इस ग्रन्थ में स्पष्ट किया है। इसमें ध्यान देना चाहिए और प्रचलित पञ्चाङ्गपत्रों में सिद्धान्तपक्ष के विषयों के साथ में वेदाङ्गपक्ष का पञ्चवर्षात्मक युग, वर्ष, अयन, ऋतु, मास, पक्ष और तिथि इत्यादि का भी समावेश कर इस महान् ग्रन्थ के मूल वैदिक सिद्धान्त के पुन-

रुज्जीवन में सहायता करना भारतवर्षीय पञ्चाङ्गकारों का कर्तव्य है। नेपाल में विगत एक दशक से भी अधिक समय से इस विषय में समाचारपत्रों और अनुसन्धानपत्रों में अनेक निबन्धों को प्रकाशित कर इस विषय में प्रकाश डालने का और सम्बद्ध पक्ष में जागरण लाने का काम किया गया है। पञ्चाङ्ग-सुधार-समिति के सदस्य-सचिव एवं प्रसिद्ध ज्योतिषी निर्मलचन्द्र लाहिडी ने प्रचलित पञ्चाङ्ग के राशिसापेक्ष मासपरिभाषानुसार की माघशुक्लप्रतिपदा को ही वेदाङ्गज्योतिषोक्त तपःशुक्लप्रतिपदा अथवा माघशुक्लप्रतिपदा मानकर उसी दिन में वेदाङ्गपक्ष से वर्षारम्भ होने की बात अपने एफेमरिज में उल्लेख करने की परम्परा चलाई है। किन्तु वेदाङ्गज्योतिषानुसार तो उस से कभी एक मास पूर्व और कभी दो मास पूर्व ही तपःशुक्लप्रतिपदा अर्थात् वैदिक माघशुक्लप्रतिपदा पडती है और उसी दिन से वेदाङ्गपक्षीय नववर्ष का आरम्भ होता है। इन सब विषयों का प्रभूत विवेचन वेदाङ्गज्योतिष के उक्त व्याख्यान में और उसकी सुविस्तृत भूमिका में किया गया है।

वैदिक ब्रह्मविचार को मूल वैदिक प्रमाणों के आधार पर ही मूल वैदिक रूप में ही प्रस्तुत करने के लिए **ब्रह्ममीमांसासूत्रवृत्ति** भी प्रस्तुत की गई है। भूमिका में दर्शनशास्त्रपरिचय, भारतवर्षीय प्रमुख दर्शनों का विवरण, ब्रह्ममीमांसाग्रन्थपरिचय, ब्रह्ममीमांसासूत्रग्रन्थाध्ययनाधिकारिनिरूपण तथा वेदान्तशास्त्र के ५८ ग्रन्थकारों का परिचय भी समाविष्ट है। इसमें सूत्रार्थप्रदर्शन, अधिकरणरचना, कारिकाओं में अधिकरण का सार और हिन्दी सूत्रार्थ भी दिया गया है। इसमें ब्रह्ममीमांसासूत्रपदानुक्रमणिका भी दी गई है। इस ग्रन्थ को भी चौखम्बा विद्याभवन ने ही प्रकाशित किया है (२००२ क्रै.)।

संस्कृतभाषाशिक्षण के लिए **व्यावहारिकं संस्कृतम्** नाम की पाठ्यपुस्तकमाला-अन्तर्गत तीन पुस्तक स्वाद्ध्यायशालाकुटुम्ब से प्रकाशित किए गए हैं (२०५०, २०५३, २०५८ वै.)। इन सचित्र पाठ्यपुस्तकों में स्वाभाविकता का अनुपालन कर सरलता से भाषाशिक्षण की वैज्ञानिक विधिअनुरूप क्रमबद्ध रूप में संस्कृतभाषाशिक्षणार्थ विषयवस्तु प्रस्तुत किया गया है। इसमें संस्कृत भाषा के उच्चारण में शुद्धता लाने के लिए भी सोदाहरण मार्गनिर्देश किया गया है।

शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य, याज्ञवल्क्यशिक्षा इत्यादि शिक्षाग्रन्थों के अनुसार माध्यन्दिनीय शाखा की **शुक्लयजुर्वेदसंहिता** का परिशुद्ध संस्करण उपलब्ध कराने की भी योजना है।

स्वाद्ध्यायशालाकुटुम्ब श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त **वर्णाश्रमधर्म-सदाचार** का अधिकारी जनसाधारण में प्रचार के और संरक्षण के लिए भी नेपाल में प्रयास कर रहा है। इस विषय में अधोलिखित विषयवस्तु से युक्त एक छोटी पुस्तिका भी नेपाली भाषा में प्रचार में लाई गई है। इस पुस्तिका में प्रतिपादित विषयवस्तु ऐसी है–

(वैदिक-सनातन-वर्णाश्रमधर्म के मूल सिद्धान्तसूत्र)

१. वैदिक-सनातन-वर्णाश्रमधर्म-परम्परा के अनुयायियों का सब प्रकार का कल्याण वा सिद्धि वेदादिशास्त्र में श्रद्धा रखकर अपनेअपने वर्णधर्मों का, आश्रमधर्मों का और धैर्य, इन्द्रियनिग्रह, अकार्यपरित्याग, अध्यात्मविद्या-ग्रहण, सत्यपालन, दया, क्षमा, परोपकार इत्यादि साधारणधर्मों का यथाशक्ति पालन करके आत्मविचार करने से ही होता है। अपना धर्म छोडने से इसी लोक में भी अपने राष्ट्र में और समाज में अव्यवस्था और अशान्ति बढती है तथा अपना गौरव समाप्त होकर स्वयम् परचक्रियों का दास हो जाने की स्थिति आ जाती है तथा परलोक में भी नरक में पडना पड्ता है। अतः वैदिक-सनातन-वर्णाश्रमधर्म-परम्परा के सभी व्यक्तियों को अपने **वर्णाश्रम-धर्म की मूल परम्परा** को नहीं छोडना चाहिए; उसका यथाशक्ति शास्त्रोक्त रूप में पालन करना चाहिए।

२. वर्तमान युग में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि मूल **जाति** और अन्य अवान्तर जाति भी श्रुतिस्मृति-व्यवस्थानुसार मूल रूप में जन्म से ही होते हैं और शास्त्रोक्त संस्कार-आचार-विचार के पालन से वे विशेष कार्यकारी और प्रभावशाली होते हैं।

३. अपनी ब्राह्मणत्वादि जाति की सुरक्षा करना चाहने वाले सब द्विजातियों को और विशेष कर शुद्धकुलीन ब्राह्मणों को **व्रतबन्धसंस्कार** शास्त्रानुसार ही हो सकने तक सङ्क्षिप्त रूप में होने पर भी मूल शास्त्रोक्त भावना को बचाकर विधिपूर्वक और सदाचारी ब्राह्मणद्वारा ठीक प्रकार से ही करना चाहिए, अल्प व्यय से भी शास्त्रीय रूप में संस्कार सम्पन्न हो सकता है; विधि पूर्ण न करके अशास्त्रीय रूप में **सामूहिक व्रतबन्ध** नहीं करना चाहिए। व्रतबन्ध होने के बाद अपने घर में रहने पर भी अथवा विना बाध्यता अपनी खुशी से शिखा काटना, नित्य स्नान-सन्ध्योपासन छोडना, ब्रह्मयज्ञ छोडना, लहसुन-प्याज इत्यादि अभक्ष्य खाना और होटल में खान-पान करना इत्यादि कार्य नहीं करना चाहिए। यथावसर धर्ममोक्ष के विषय में भी ज्ञान प्राप्त करके **शास्त्रोक्त आचार-विचार** को यथाशक्ति पालन भी करके उच्च चारित्रिक आदर्श स्थापित और सुरक्षित करना चाहिए तथा उच्च मनस्स्थिति बनाकर उसको सुरक्षित करना चाहिए। **वेदादि-शास्त्र में श्रद्धा और वर्णाश्रमधर्म में आस्था न टूटने पर देशकालपरिस्थिति-अनुसार किये जाने वाले सामान्य आचार-विचारद्वारा भी हमारा धर्म सुरक्षित हो सकता और कल्याण का मार्ग उज्ज्वल हो सकता है।**

४. आचार-विचार की पालना में असमर्थ, किन्तु अपनी ब्राह्मणत्वादि जाति का पालन करना चाहने वाले तथा वेदादिशास्त्र में श्रद्धा और वर्णाश्रमव्यवस्था में आस्था रखने वाले ब्राह्मणादि वर्ण के व्यक्तियों को **राजा से रङ्क तक सब को ही सन्मार्ग में चलने के लिए प्रेरणा करने वाले ज्योति के रूप में अवस्थित वेदादिशास्त्र के प्रति**

तथा वर्णाश्रमधर्म के सुदीर्घ महान् परम्परा के प्रति सम्मान प्रकट करके विवाहादि संस्कार के अवसर पर मुण्डनादिपूर्वक सम्यक् **प्रायश्चित्त** करके शुद्धि करके सदाचारी ब्राह्मणद्वारा शास्त्रोक्त रूप में **संस्कार** सम्पन्न करना चाहिए। अध्ययनकार्य, राष्ट्रकार्य, जीविकोपार्जनकार्य इत्यादि अत्यावश्यक कार्य के कारण असाधारण बाधा पडने से शास्त्रीय आचार-विचार बहुत काल तक विच्छिन्न हो जाने की अवस्था में भी परिस्थिति अनुकूल हो जाने पर आचार-विचार की पालना का प्रारम्भ करने का विचार होने पर सदाचारी ब्राह्मणों को रखकर यथोचित प्रायश्चित्त का अनुष्ठान करके **आचार-अनाचार की मर्यादारेखा** बनाकर आचार-विचार की पालना का प्रारम्भ करना चाहिए। **ब्राह्मणकुलपरम्परा** की रक्षा करने के लिए कुल के प्रमुख व्यक्तियों से इसी रीति से भी आचार-विचार की परम्परा को संरक्षित करना चाहिए। अल्प काल के लिए स्वल्प अनाचार होने पर ब्राह्मण को १००० वार गायत्री का जप करके शुद्धि करनी चाहिए।

५. **अग्निसंस्कार (अन्त्येष्टि)** के लिए भी दशदान-वैतरणीदान इत्यादि करने की अवस्था आ पडने पर भी देहत्याग करने वाले व्यक्ति को और और्ध्वदेहिक क्रिया करने वाले व्यक्ति को भी आवश्यकतानुसार **सर्वप्रायश्चित्त-गोदानादि** कराकर शुद्ध करके कर्म कराना चाहिए। कदाचित् वैसा न हो सकने पर भी और्ध्वदेहिक क्रिया के प्रारम्भ से पहले ही शवदाह से पूर्व ही जहाँकहीं भी यथोचित सर्वप्रायश्चित्तादि कराकर दाहादि क्रिया करनी चाहिए। अशुद्ध व्यक्ति की और अशुद्ध व्यक्ति से की गई क्रिया का फल उसको प्राप्त करना चाहने वाले व्यक्ति को परत्र में प्राप्त नहीं होता है, ऐसा शास्त्र का उपदेश है।

६. अध्ययन-आचार-विचार-पालनादिद्वारा वेदादिशास्त्र की रक्षा करने के लिए ही ब्रह्माजी से ब्राह्मणों को **ब्रह्मकर्म का अधिकार** प्रदान किया गया है, ऐसा वैदिकशास्त्र का सिद्धान्त है। इस लिए संस्कारपालन, शिखासूत्रधारण, नित्यस्नान-सन्ध्योपासन, ब्रह्मयज्ञ-तर्पण और भक्ष्याऽभक्ष्य, पेयाऽपेय, स्पृश्याऽस्पृश्य, गम्याऽगम्य, गन्तव्याऽगन्तव्य, कार्या-ऽकार्य इत्यादि के शास्त्रीय नियमों का यथाशक्ति पालन भी न करने वाला, कुक्कुटपालन करने वाला, होटल चलाने वाला, असवर्णस्त्री ब्याहने वाला, विवाहसंस्कार का ही लोप कर रखैल स्त्री रखने वाला, वृत्ति के लिए ३ वर्ष तक वा उस से अधिक समय-पर्यन्त पुजारी का काम करने वाला, समुद्रपार म्लेच्छदेश जाने वाला, वर्णाश्रम-धर्ममर्यादा के पूर्ण विरोधी राजनीति में सक्रिय रूप में लगने वाला इत्यादि प्रकार का और ब्राह्मणत्व की पालना में तथा वेदादिशास्त्र के अध्ययन में और संरक्षण में तथा उनकी मर्यादा को बचाने में तनिक भी ध्यान न देने वाला, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चार पुरुषार्थों के प्रति रखी जाने वाली सन्तुलित दृष्टि को सर्वथा गँवाने वाला, अर्थकामपरायण इत्यादि प्रकार के दामाद-भानजा सहित किसी भी ब्राह्मण को गुरु-पुरोहित-ऋत्विक् बनाना और जप-पाठ-होमादि ब्रह्मकर्म में ग्रहण

नहीं करना चाहिए। वैसा करने से परत्र में अत्यन्त अनिष्ट फल मिलेगा और वैसे लोगों को ब्रह्मकर्म में लेने से वर्णाश्रमधर्म-मर्यादा-परम्परा का लोप भी हो जाएगा।

७. स्वेच्छा से जानबूझकर लहशुन, रक्तलहशुन, प्याज, सूअर, कुकुरमुत्ता, मुर्गा इत्यादि खाने वाले, विदेशि-विधर्मि-म्लेच्छ-चाण्डालादि अन्त्यज के स्त्री में गमन करने वाले और उनके हाथ से भोजन ग्रहण करने वाले, उन से दान लेने वाले, मदिरा पीने वाले, मदिरा मांस लाख नमक दूध दही इत्यादि अत्यन्त अविक्रेय पदार्थ बेचने वाले, समुद्रपार म्लेच्छदेश जाने वाले और उसी प्रकार का अन्य बडा दुष्कर्म करने वाले ब्राह्मण शास्त्र में पतित वा बहूत ही निन्दित माने जाने से **ब्रह्मकर्म में नहीं चलते हैं**, बडे प्रायश्चित्त से ही शुद्ध हो सकते हैं।

८. ब्राह्मणद्वारा गृह्यसूत्र-स्मृतियों के **विवाहमर्यादा** का लङ्घन करके ब्राह्मणी कन्न्या सङ्ग्रह करके अथवा विधवा वा सधवा परस्त्री ब्याह करके अथवा लाके उत्पादित सन्तान और उस प्रकार के लोगों का सन्तान भी ब्राह्मण के वैध वेदाध्ययनादि मुख्य षट्कर्म के लिए और वैदिक जप-पाठ-होमादि ब्रह्मकर्म में ब्राह्मण के रूप में वृत होने के लिए भी शास्त्रानुसार अयोग्य माने जाते हैं।

९. अपने से नीच जाति के पुरुष से ब्याहने वाली और जाने वाली, पुनर्विवाह करने वाली **स्त्रियाँ** तो शास्त्र में अत्यन्त निन्दित और वर्जनीय मानी जाती हैं।

१०. अपनी ब्राह्मणत्वादि जाति की पालना करना चाहने वालों को स्वजाति में विधिपूर्वक **विवाह** करना चाहिए; वैध विवाह न करके रखैल पत्नी का सङ्ग्रह नहीं करना चाहिए; ब्राह्मण को पहले ब्राह्मणकन्या विवाह न करके अन्य क्षत्रियादि किसी जाति की भी कन्या नहीं ब्याहनी चाहिए।

११. **खानपान** के शास्त्रोक्त नियम की भी यथाशक्ति पालना करनी चाहिए।

१२. **ब्राह्मणत्व जाति की पालना** करने की तरफ किसी प्रकार के विचार न रखने वाले को याजनादि ब्रह्मकर्म में सम्मिलित होना और करना उचित नहीं होता है।

१३. आचारी शुद्धकुलीन समान वर्ग के ब्राह्मणों को परस्पर में परिचय बढाकर यथासम्भव आचारी शुद्धकुलीन सवर्गीय ब्राह्मणों से **रोटीबेटी सम्बन्ध** करना चाहिए। उसके सम्भव न होने पर विवाहसंस्कार के मर्यादा में वर्तमान साधारण शुद्धकुलीन ब्राह्मण से भी समुचित प्रायश्चित्त कराकर शुद्ध बनाकर वा अन्य शास्त्रानुमत प्रकार से रोटीबेटी करना चाहिए।

१४. सपिण्डकन्याविवाह, सगोत्रकन्याविवाह, समानप्रवरकन्याविवाह और मातृगोत्रकन्याविवाह भी नहीं करना चाहिए। [इस विषय में महामहोपाध्याय नित्यानन्द पन्त पर्वतीय से प्रचारित (संस्कारदीपक, द्वितीयभाग, पृ.८,१०) भ्रम के निवारण के लिए

मनुस्मृति के **"असपिण्डा च या मातुः"** इत्यादि (३।५) श्लोक के और **"येनाऽस्य पितरो याताः"** (४।१७८) इत्यादि श्लोक के हिन्दी अनुवाद में दी गई टिप्पणियों को देखिए।]

१५. विशेष कर शुद्धकुलीन ब्राह्मणों को, उसमें भी गुरु पुरोहित ऋत्विक् पुराणवाचक जापक पाठक इत्यादि ब्राह्मण के रूप में वृत होने वाले और दान-दक्षिणा भी लेने वाले ब्राह्मणों को यथाशक्ति किसी एक प्रकार का नित्य स्नान करके शुद्ध धोती पहनकर सन्ध्योपासन, गायत्रीप्रभृति एक मात्र मन्त्र का भी स्वाध्यायाध्ययन के रूप में नित्य अध्ययन (ब्रह्मयज्ञ), सङ्क्षिप्त मात्र भी नित्य तर्पण और ब्रह्म-विष्णु-रुद्रादि-देवपूजन यथाकाल करके अग्रहोम-बलिहरणादिपूर्वक प्राणाहुति करके शुद्ध महानस (पाकशाला, रसोईघर) में शुद्ध व्यक्ति से पकाया हुआ शास्त्रानुमत शुद्ध **भोजन ग्रहण** करना चाहिए; हट्टालय (होटल) में और सर्वजातीय व्यक्ति सम्मिलित भोज (जेवनार) इत्यादि में खानपान नहीं करना चाहिए। अत्त्यावश्यक न होने पर सार्वजनिक स्थल में कोई भी वस्तु नहीं खाना चाहिए।

१६. श्वेत वा उज्ज्वल सौम्य विनीत **वेष** करना चाहिए।

१७. **वेदादि शास्त्र** यथाशक्ति पढना चाहिए और वैदिक धर्म-मोक्ष विषय में सम्यक् ज्ञान भी करना चाहिए।

१८. हमारे **वैदिक-सनातन-वर्णाश्रमधर्म** का मूल तत्त्व वेद-वेदाङ्ग-स्मृति-पुराणादि में श्रद्धा, वर्णाश्रमव्यवस्था में आस्था और वेदादिशास्त्र की मान्यता रखकर कार्य करने से इस लोक में और परलोक में भी हमारा कल्याण होता है ऐसा विश्वास ही है। इस लिए **धर्म क्या है अधर्म (पाप) क्या है इस विषय में वैदिकमार्ग के ब्राह्मणादि के लिए श्रुति-स्मृति-पुराण ही मुख्य प्रमाण हैं।** उनमें भी अपनी शाखा की वेदमन्त्र-संहिता, ब्राह्मणग्रन्थ, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, परिशिष्ट और उनका अनुकूल तथा अविरोधी शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दशशास्त्र, ज्योतिष (लगधप्रोक्त वेदाङ्गज्योतिष), धर्मसूत्र-अनुस्मृति-पुराणादि ही धर्म में विशेष प्रमाण होते हैं। इस लिए हम माध्यन्दिनीय-वाजसनेयि-शुक्लयजुर्वेद-शाखाध्यायि ब्राह्मणादि के लिए **माध्यन्दिनीय-वाजसनेयि-शुक्लयजुर्वेदमन्त्रसंहिता, माध्यन्दिनीय-वाजसनेयि-शुक्ल-यजुर्वेद-शतपथब्राह्मण, कात्यायन-श्रौतसूत्र, पारस्करगृह्यसूत्र** और उनका **स्नानसूत्र, श्राद्धसूत्र** इत्यादि **परिशिष्ट** धर्म में महान् प्रमाण हैं। इस लिए हम को मूल रूप में इन ग्रन्थों के अनुसार ही शुद्ध पद्धति से यथाशक्ति स्नान, सन्ध्योपासन, ब्रह्मयज्ञ, तर्पण, देवार्चन, संस्कार, अन्त्येष्टि, श्राद्ध इत्यादि कर्म करना चाहिए। अन्य विषयों में **याज्ञवल्क्यस्मृति-मनुस्मृति-पराशरस्मृति-वासिष्ठधर्मसूत्र-गौतमधर्मसूत्रों** का भी विशेष विचार रखना चाहिए। अन्य शाखाओं के अध्येताओं को भी उनकी अपनीअपनी शाखा के वेदमन्त्रसंहिता, ब्राह्मणग्रन्थ, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र इत्यादि ग्रन्थ ही धर्ममोक्ष में विशेष प्रमाण होते हैं।

१९. **वेदादि शास्त्र प्राणी मात्र के कल्याण के लिए लोकहितैषी ब्रह्माजी-ऋषि-मुनि-शिष्टों की परम्परा से उपदेश करके लाए गए कल्याणमार्ग का प्रकाशक सनातन अचल ज्योति है,** वह आजकल जब जो समुदाय प्रबल हुआ उसी से अपने स्वार्थ को मुख्य रूप में ध्यान में रखकर बनाए जाने वाले संविधान-विधि-निषेध-नियम जैसा वस्तु नहीं है; शाश्वत प्रकृतिसम्मत रूप में नियमों का विधान करने वाला वस्तु है; अतः वेदादिशास्त्र का माहात्म्य अपार है; इस लिए हम को यथाशक्ति शास्त्रद्वारा प्रदर्शित मार्ग से ही धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए काम करना चाहिए; वेदादि शास्त्र को मान्यता न देकर मनचाहा नहीं करना चाहिए।

२०. वैदिक मार्ग के ब्राह्मणादि वर्ण को अपने-अपने शास्त्रोक्त अधिकार के अनुसार वेद, वेदाङ्ग, वेदोपाङ्ग, स्मृति, अनुस्मृति, पुराण, रामायण, महाभारत इत्यादि शास्त्र शास्त्रीय अधिकारी गृहस्थ ब्राह्मण गुरु से विधिपूर्वक पढकर यथाशक्ति **शास्त्रोक्त विधि से धर्मकर्म करना-कराना चाहिए;** वैसा करने में असमर्थ होने पर उन शास्त्रों को विधिपूर्वक पढे हुए, भारतवर्ष को ही पुण्यभूमि-कर्मभूमि मानने वाले, भारतवर्ष के बाहर समुद्रपार म्लेच्छदेश न जाने वाले, निश्छल, सत्यनिष्ठ, शास्त्रवादी, लोकहितैषी, अनपाश्रित्यजीवी, स्वतन्त्र, सदाचारी, शुद्धकुलीन, गुरु-पुरोहितादि गृहस्थ ब्राह्मण को पूछकर शास्त्रविधि को जानबूझकर **वैदिक-मन्त्र-सङ्ग्रह** इत्यादि में सङ्गृहीत नित्यकर्म के अत्यावश्यक वैदिक मन्त्रों को विधि-पूर्वक गुरुमुख से अध्ययन करके यथाशक्ति धर्मकर्म करना-कराना चाहिए; वेदादिशास्त्र विधिपूर्वक नहीं पढे हुए अथवा उन शास्त्रों को न जानने वाले अथवा आचार-विचार की कुछ भी मर्यादा न रखने वाले अथवा जानबूझकर स्वेच्छा से शास्त्रलङ्घन करके अपने वर्णधर्म के और मुख्य आश्रमधर्म के विरुद्ध आचरण करने वाले अथवा किसी के आशापाश में बँधे हुए अथवा राजनीतिकस्वार्थसमुदाय से अथवा आर्थिकस्वार्थसमुदाय से प्रेरित-निर्देशित-नियन्त्रित अथवा पेशेवर धर्म-कथक अथवा राजनीति में लिप्त व्यक्तियों के वेदादिशास्त्रविरुद्ध लेखन के, कथन के और आचरण के आधार में शास्त्रविधान को छोडकर धर्मकर्म करना-कराना और अपने वर्णाश्रमधर्म को छोडना और छुडाना भी नहीं चाहिए।

२१. सम्भव होने तक धर्मकर्म करते समय वेदादि शास्त्र में **मुख्य रूप में बताए गए विधि से ही धर्मकर्म करना चाहिए,** आपत्काल में और असामर्थ्य होने पर और असम्भव होने पर शास्त्र जानने वाले और शास्त्रधर्मरक्षा-बुद्धि वाले कुलवृद्धादि मान्यजनों की अथवा गुरुपुरोहितादि की सम्मति से **शास्त्रोक्त अनुकल्प** का अनुसरण वा धर्मसङ्कोच किया जा सकता है।

२२. वैदिक मार्ग के ब्राह्मणादि वर्णों को ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, सरस्वती, लक्ष्मी, गौरी, गणेश, देवी, सूर्य इत्यादि देवता की **पूजा-आराधना करते समय वैदिक-पौराणिक**

मार्ग से ही पूजा-आराधना करनी चाहिए; ब्राह्म, वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य, कौमार, बौद्ध इत्यादि तान्त्रिक मार्ग से नहीं।

२३. अपनी मूल वैदिक-सनातन-वर्णाश्रमधर्म-आचार-विचार-परम्परा का बीज मात्र का ही सही संरक्षण होना ही चाहिए, मूल शुष्क नहीं होना चाहिए ऐसी सद्भावना रखने वाले सभी लोगों को अपने गुरु-पुरोहितों को और अन्य कुलधर्म के संरक्षक कुलमुख्य ब्राह्मणों को भी स्वधर्म में दृढ रहने में, आचार-विचार की पालना करने में, वेदादिशास्त्र के अध्ययन करने में, अपने कुलकुटुम्बादि के व्यक्ति को धर्मोपदेश करने में और वर्णाश्रमधर्म की और कुलधर्म की रक्षा करने में सन्नद्ध **आस्तिक धर्मदर्शी कुलवृद्धों की मण्डली** बनाकर आचार-विचार से विचलित हुए आत्मीय जनों को यथोचित प्रायश्चित्त कराकर शुद्ध बनाकर और स्वधर्म में अभिमुख करा-कर **अपने समुदाय को क्षीण और समाप्त होने से बचाने में भी यथाशक्ति तन-मन-धन-वचन से सहयोग करना चाहिए;** उक्त प्रकार के विशिष्ट व्यक्तियों से किये जाने वाले आचार-विचार-निष्ठा-काष्ठा का असहन और उपहास नहीं करना चाहिए।

२४. वेद-ब्राह्मण-गाय-पिता-माता-ज्येष्ठभ्राता-गुरु-पुरोहित-साधु-सज्जन-आस्तिक-कुलवृद्धों के प्रति **शास्त्रानुकूल समुचित सम्मान** भी करते रहना चाहिए।

२५. वैदिक-सनातन-वर्णाश्रमधर्मियों को वेदादिशास्त्र से समाज से और राष्ट्र से भी अनुमोदित **निश्छल सरल जीवनवृत्ति** लेकर विद्या-धर्म-सत्य-न्याय की यथाशक्ति अभिवृद्धि करते हुए **जीवनयात्रा** चलाकर **धर्म से अविरुद्ध रीति से धनार्जन** करना और धर्म के अविरोधी रूप में **लौकिक परिमित सुखभोग** ही करना चाहिए।

२६. गृहस्थाश्रम में ही रहकर ऐहलौकिक उन्नति के लिए और स्वर्ग के अथवा मोक्ष के लिए भी सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

२७. **स्त्रियों** को भी पति के धर्मकार्य अर्थकार्य इत्यादि में पूर्ण सहयोग करना चाहिए।

२८. अति तीव्र वैराग्य होने पर ही ब्राह्मणों को **शास्त्रनिर्दिष्ट सन्न्यासिधर्म** का शास्त्रोक्त रूप में कडाई के साथ पालना करने में तत्पर होकर ही वेदशास्त्रव्यवस्थाअनुसार ही सन्न्यास लेना चाहिए।

२९. आत्मगौरव की रक्षा करते हुए अन्यायी, अधर्मी, अनाचारी, अत्याचारी, भ्रष्टाचारी इत्यादि के प्रति आत्मसमर्पण करने से बचकर अपने धर्म्य न्याय्य परिश्रम की कमाई में सन्तोष करते हुए न्याय्यमार्ग से आत्मोन्नति के लिए उद्योग करते रहना चाहिए।

३०. **धनबल-जनबल-शरीरबल** रहने पर यज्ञयागादि-दानपुण्य-तीर्थव्रत करना; कथापुराण.... लगाना; दुर्लभ शास्त्रीय ग्रन्थ छपवाना; सदाबर्त चलाना; दीन-दुःखि-रोगि-अनाथों को सहयोग करना; रास्ता, कूआँ, तालाव, पानी का नल, चबूतरा, उद्यान, धर्मशाला,

अनाथालय, अस्वस्थालय, पुस्तकालय, वाचनालय, विद्यालय इत्यादि बनाना इत्यादि **परोपकारी कार्यों** का भी आयोजन करते रहना चाहिए। यज्ञयागादि अन्य धर्मकर्म करने के सामर्थ्य न होने पर पापकर्म से बचकर **अत्यावश्यक देवपितृकार्य** न छोडते हुए आचार-विचार की यथाशक्ति पालना करते हुए सरल वृत्ति से जीवनवृत्ति चलाकर **आत्मविचार करना**, अधिकारअनुसार पुरुषसूक्त का अथवा ईशावास्योपनिषद् का अर्थ भी स्मरण करते हुए **पाठ करना** अथवा गायत्री का अथवा प्रणव का जप करना अथवा भगवद्गीता का पाठ अथवा भगवान् का (ब्रह्मा का अथवा विष्णु का अथवा महेश्वर का अथवा निर्गुण ब्रह्म का) **स्त्रोत्रपाठ** अथवा भजन करना चाहिए।

३१. अपने धर्मदर्शन की भाषा **संस्कृत की और संस्कृतविद्यालययों** की लोकप्रियता बढाने में भी निरन्तर प्रयास करते रहना चाहिए।

३२. सम्भव होने पर वास्तविक रूप में शास्त्रसम्मत रूप के **वैदिक गुरुकुलों** का सञ्चालन हो सकने की परिस्थिति बनाने में भी पूर्ण प्रयास करना चाहिए।

३३. **गोवंश** का सङ्करीकरण नहीं करना चाहिए। धर्मकृत्यों में भारतवर्षीय शुद्ध गायों का और उनके ही दूध, दही, घी, गोमूत्र, गोमय इत्यादि का ही प्रयोग करना चाहिए।

३४. अपने धर्मकर्म के लिए आवश्यक पवित्र तृण, फूल, पौधा, वृक्ष, कुश, दूब, अपामार्ग (चिचिडा, लटजीरा), अर्क (मदार), आम, पीपल, बरगद, गूलर, पाकर, पलाश (ढाक), वरुण (वरना) शमी, खदिर (कत्था), नीम, बेल, बाँस इत्यादि का भी **रोपण और संवर्धन** करते रहना चाहिए।

३५. **वैदिक-सनातन-वर्णाश्रम-व्यवस्था** के उन्मूलन को प्रोत्साहित करने वाले व्यक्ति को अथवा दल को मत (वोट) देकर अपनी धर्मसंस्कृति के मूल में कुल्हाडी मारने की मूर्खता से और आकाशवाणी, दूरदर्शन, पत्र-पत्रिका इत्यादि सार्वजनिक सञ्चार-माध्यमों की और कथित सुधारवादी धार्मिक नेताओं की शास्त्रधर्मविरुद्ध बातों में बह जाने की मूर्खता से भी बचना चाहिए।

३६. ऐसे विषयों में आस्तिक ग्रामवृद्ध, कुलवृद्ध, गृहवृद्धों को और वृद्ध स्त्रियों को भी अपने जनों को **दुष्कर्म से रोकने का** और उनमें सुसंस्कार डालने का प्रयत्न करते रहना चाहिए।

३७. सार्वजनिक सर्वजातिसम्मिलित स्थलों में शास्त्रव्यवस्थाविरुद्ध रूप में धार्मिक कार्य नहीं करना चाहिए। अपने घर में ही अथवा अपनी भूमि में ही शास्त्रविधि के अनुकूल रूप में शुद्धता से धार्मिक कार्य करना चाहिए।

उक्त प्रकार से स्वाद्ध्यायशालाकुटुम्ब वैदिक वाङ्मय के अध्ययन-अनुशीलन में और वर्णाश्रमधर्म के तथा सदाचार के पालन में और प्रचारण में भी निरन्तर संलग्न हो रहा है। वैदिक धर्मानुरागी लोग इस प्रकार के कार्य में सहयोग पहुँचाएँगे ऐसी आशा है।

मनुस्मृति के सम्पादन का प्रसङ्ग

इस स्थिति में वाराणसीस्थ चौखम्बा विद्याभवन के प्रमुख ने उक्त कुल्लूकभट्ट-कृत मन्वर्थमुक्तावलीसहित मनुस्मृति का हिन्दी अनुवाद भी देकर सम्पादन परिष्कार कर देने के लिए हम से अनुरोध किया। यह कार्य वैदिक वाङ्मय के अनुशीलन-प्रचारण का और वर्णाश्रमधर्म के और सदाचार के संरक्षण का अनुकूल होने से इसको स्वीकार किया गया। उसी प्रसङ्ग में यह हिन्दी अनुवादयुक्त अलग संस्करण भी प्रस्तुत किया गया है। इस संस्करण में केवल स्थलसङ्केत से निर्दिष्ट प्रमाणवाक्य हमारे मन्वर्थमुक्तावलीयुक्त संस्करण में प्रायः मूल प्रमाण वाक्य रूप में भी प्रस्तुत किए गए हैं। इच्छुक पाठक उनको वहीं देखें। इस प्रकार यह ग्रन्थ इस रूप में प्रस्तुत हुआ है। विद्वज्जन इसका पर्यालोचन करें।

धर्मशास्त्रादिवक्तारं ब्रह्माणं च मनुं भृगुम्।
बृहस्पतिं चाऽङ्गिरसं नारदं यज्ञवल्कजम्॥

कात्यायनं चाऽथ परा-शरं व्यासमुखान् मुनीन्।
नत्वा च प्रार्थये धर्म-शास्त्राध्यायिजनेषु शम्॥

—शिवराज आचार्य कौण्डिन्न्यायन
स्वाद्ध्यायशाला,
१६८, शिवभक्तमार्ग (नीलसरस्वतीमार्गसंलग्न),
लाजिम्पाट्, काठमाण्डु–२, नेपाल,
☎ ००९७७-१-४४३३३२७१
svadhyaya@hotmail.com
मो. ९८४९०५१४६७

कलिसंवत् ५०७२,
ऊर्जशुक्लद्वादशी
(वैदिकशारदविषुवद्दिन),
(२०६४।६।६ वै.=२००७।९।२३ क्रै.)

अथ मनुस्मृतिः

अथ प्रथमोऽध्यायः

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन्॥१॥

हिन्दी—

सरस्वतीं च ब्रह्माणं लक्ष्मीं नारायणं तथा।
शिवं शिवां तथाऽम्बां चाऽऽवुकं च कलये हृदि॥
कुल्लूकभट्टप्रोक्तार्थमादायाऽयं मनुस्मृतेः।
प्रकाश्यते भाषयाऽर्थः शिवाख्येन द्विजन्मना॥

एकाग्रचित्त और सुख से बैठे हुए मनु महाराज के पास जाकर यथोचित रूप में प्रतिपूजन करके महर्षि लोग इस वचन को बोले।

विशेष— प्रतिपूजन शब्द के प्रयोग से मनु द्वारा महर्षियों का प्रत्युत्थान-स्वागत-प्रश्नादि से सत्कार होने पर महर्षियों से मनु का आशीर्वचनादि से पूजन करने की बात प्रतीत होती है॥१॥

भगवन् सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः।
अन्तरप्रभवाणां च धर्मान् नो वक्तुमर्हसि॥२॥

हे भगवन्, ब्राह्मणादि सभी वर्णों के [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के] और वर्णों के अन्तराल में (बीच में) जनमे हुए मूर्धावसिक्त, अम्बष्ठ, निषाद, सूत, मागध, वैदेह इत्यादि जातियों के भी धर्मों को यथार्थरूप में क्रमशः बताने के लिए आप योग्य (समर्थ) हैं।

विशेष— सम्पूर्ण ऐश्वर्य, पराक्रम, यश, लक्ष्मी, ज्ञान और वैराग्य इन छहों गुणों के समूह को भग कहते हैं, जिस में भग होता है उसको भगवान् कहा जाता है, भगवान् का ही सम्बोधन में भगवन् रूप होता है॥२॥

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः।
अचिन्त्यस्याऽप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित् प्रभो॥३॥

हे प्रभो, आप अकेले ही अचिन्त्य और अप्रमेय स्वयम्भू (अपौरुषेय) वेद के अग्न्याधानादि कृत्यरूप तथा परब्रह्मतत्त्वरूप अर्थ को जानने वाले हैं।

विशेष— धर्म और अधर्म की व्यवस्था देने में सर्वथा समर्थ होने से मनु को प्रभो कहकर सम्बोधन किया गया है॥३॥

स तैः पृष्टस् तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः।
प्रत्युवाचाऽऽर्च्य तान् सर्वान् महर्षीञ् छ्रूयतामिति॥४॥

महात्मा महर्षियों द्वारा उस प्रकार से पूछे गए अपरिमित तेज वाले उन मनु ने उन सभी महर्षियों का सत्कार करके 'सुना जाय' ऐसा कहकर उत्तर दिया॥४॥

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥५॥

यह संसार तमोरूप में स्थित, अज्ञात, ज्ञापक लिङ्ग से रहित, तर्क का अविषय, शब्द से भी अविज्ञेय तथा सर्वथा सुप्तावस्था में अवस्थित जैसा था॥५॥

ततः स्वयम्भूर् भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत् तमोनुदः॥६॥

उसके बाद भगवान्, अव्यक्त, व्यापक सृष्ट्यादिसामर्थ्य वाले, प्रकृति के प्रेरक, स्वयं होने वाले परमेश्वर इस आकाशादि-महाभूतादि जगत् को व्यक्त करते हुए प्रकट हुए थे॥६॥

योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥७॥

जो ये इन्द्रियों से ऊपर के मन से वेद्य, सूक्ष्म, अव्यक्त, सदाकाल रहने वाले, सम्पूर्ण भूतों के समष्टिरूप में स्थित, अचिन्त्य परमात्मा हैं वे अपने आप प्रकट हुए॥७॥

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर् विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जाऽऽदौ तासु बीजमवाऽसृजत्॥८॥

उन परमेश्वर ने (परमात्मा ने) सृष्टि का सङ्कल्प करके विभिन्न प्रकार की प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा करते हुए ब्रह्माण्डसृष्टि के आदि में अपने शरीर से जल की सृष्टि की और उनमें बीज को छोडा।

विशेष— यहाँ मनु का कापिलसाङ्ख्याऽभिमत प्रकृतिस्वातन्त्र्य अभिमत नहीं, वेदान्ताऽभिहित मायाशक्तियुक्त ब्रह्म का ही स्रष्टृत्व अभिमत है। पूर्व श्लोक में (६) और अनन्तर श्लोकों में (१४–१९) भी महदादि सृष्टिक्रम बताए जाने से यहाँ की अप्सृष्टि भी महदादिक्रम से ही की गई अवगत होती है। यहाँ अप् शब्द से सूक्ष्म (अपञ्चीकृत) रूप के सभी भूतसूक्ष्म समझे जाने चाहिए॥८॥

तदण्डमभवद् धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिञ् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥९॥

वह बीज़ सूर्य के समान प्रकाश से युक्त स्वर्णमय अण्ड हो गया, उसमें सब लोक के पितामह (सृष्टि करने वाले) ब्रह्मा अपने आप उत्पन्न हुए॥९॥

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्याऽयनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥१०॥

अप् (जल) नारा कहे गए हैं, क्योंकि अप् नर (परमात्मा) से उत्पन्न हुई हैं। वही नाराशब्दवाच्य अप् ही पहले परमेश्वर का अयन (आश्रय) थीं, इसी लिए परमेश्वर मुनियों से नारायण (नारा+अयन) नाम से स्मृत हैं॥१०॥

यत् तत् कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥११॥

जो सब का कारण, अव्यक्त, नित्य और व्यक्त (रूपयुक्त) तथा अव्यक्त (रूपरहित) महाभूत के रूप में अवस्थित वे परमेश्वर हैं, उन से उत्पादित जो पुरुष हैं वे लोक में ब्रह्मा कहे जाते हैं॥११॥

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवाऽऽत्मनो ध्यानात् तदण्डमकरोद् द्विधा ॥१२॥

भगवान् ब्रह्मा ने उस अण्ड में एक वर्ष निवास करके अपने ध्यान से उस अण्ड को स्वयं दो भागों में विभक्त कर दिया॥१२॥

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे।
मध्ये व्योम दिशश् चाऽष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ॥१३॥

उन्हों ने उन दो भागों से द्युलोक और भूलोक बनाए, उनके बीच में आकाश बनाया और आठ दिशाओं को और जल का नित्य आश्रय समुद्र को भी बनाया॥१३॥

उद्बबर्हाऽऽत्मनश् चैव मनः सदसदात्मकम्।
मनसश् चाऽप्यहङ्कारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥१४॥

ब्रह्मा ने आत्मा से ही सदसद्रूप मन को निकाला, और मन से अभिमान क्रिया वाले तथा अपने कार्य में समर्थ अहङ्काररूप बुद्धिवृत्तिविशेष को भी निकाला।

विशेष– यहाँ अहङ्कारशब्द से वेदान्तसिद्धान्त के अनुसार ही अवस्था-विशेष के मन को ही लेना उचित दिखाई देता है, कूल्लूकभट्ट ने तो मनुस्मृत्युक्त

सृष्टिप्रक्रिया को भास्करीय वेदान्त का अनुसरण करके साङ्ख्यस्मृत्युक्त सृष्टिप्रक्रिया से तुल्य माना है, किन्तु उनकी बात चिन्त्य ही है॥१४॥

महान्तमेव चाऽऽत्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च।
विषयाणां ग्रहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥१५॥

आत्मा से ही ब्रह्मा ने महान् आत्मा को निकाला, सत्त्व-रजस्-तमोरूप तीन गुण वाले सभी वस्तुओं को भी निकाला, आस्तेआस्ते विषयों को ग्रहण करने वाले पाँच (घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र) इन्द्रियों को भी निकाला॥१५॥

तेषां त्ववयवान् सूक्ष्मान् षण्णामप्यमितौजसाम्।
सन्निवेश्याऽऽत्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ॥१६॥

अपरिमित शक्ति से युक्त उक्त छह तत्त्वों के (बुद्धितत्त्व और पञ्चमहाभूत के) सूक्ष्म अवयवों को उन्हीं के अपने विकारों में (ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रियों में और प्राणों में) मिलाकर ब्रह्मा ने सभी प्राणियों को बनाया॥१६॥

यन् मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास् तस्येमान्याश्रयन्ति षट्।
तस्माच् छरीरमित्याहुस् तस्य मूर्तिं मनीषिणः ॥१७॥

उस ब्रह्मा की मूर्ति के सम्पादक सूक्ष्म अवयव इस मूर्ति के अपञ्चीकृत पाँच महाभूत और उन पाँचों के समूह से बने हुए बुद्धितत्त्व ये छहों इसमें जो आश्रित होते हैं इस लिए उनकी मूर्ति को प्राज्ञ लोग शरीर कहते हैं॥१७॥

तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः।
मनश् चाऽवयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम् ॥१८॥

सूक्ष्म अवयवों से सभी भूतों के उत्पादक और अविनाशी उस विराट्पुरुष के शरीर में अपने-अपने घ्राण-रसन-दर्शनादि कर्म के साथ में महाभूत (पृथिवी इत्यादि) तथा मन भी प्रविष्ट होते हैं॥१८॥

तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्।
सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः सम्भवत्यव्ययाद् व्ययम् ॥१९॥

परमेश्वर से सृष्ट उन बडे शक्तिमान् सात तत्त्वों के (अपञ्चीकृत पाँच महाभूत और हिरण्यगर्भ के लिङ्गशरीर तथा स्थूलशरीर के) सूक्ष्म मूर्त्यवयवों से अनश्वरों से भी यह नश्वर जगत् बनता है॥१९॥

आद्याऽद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परःपरः।
योयो यावतिथश् चैषां सस तावद्गुणः स्मृतः॥२०॥

इन महाभूतों में (आकाश वायु तेज जल पृथिवी इन में) उत्तरवर्ती महाभूत पूर्वपूर्व महाभूत के गुणों को भी प्राप्त करता है। इन में से जोजो महाभूत जितनवाँ-जितनवाँ है वहवह उतनेउतने गुणों से युक्त माना गया है।

विशेष— प्रथम आकाश में शब्द एक ही गुण; द्वितीय वायु में शब्द और स्पर्श दो गुण; तृतीय तेज में शब्द, स्पर्श और रूप तीन गुण; चतुर्थ जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस चार गुण तथा पञ्चम पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाँच गुण रहते हैं॥२०॥

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवाऽऽदौ पृथक् संस्थाश् च निर्ममे॥२१॥

ब्रह्मा ने सभी पदार्थों के नामों को और [ब्राह्मण का वेद के अध्ययनाऽध्यापनादि, क्षत्रिय का प्रजारक्षणादि] अलग-अलग कर्मों को तथा अलग-अलग स्थितियों को भी सृष्टि के आदि में वेद के शब्दों से ही जानकर बनाया॥२१॥

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत् प्राणिनां प्रभुः।
साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम्॥२२॥

सृष्टि में समर्थ ब्रह्मा ने कर्मस्वभाव वाले देवताओं के गणों की, प्राणियों के गणों की, साध्य नामक देवताओं के सूक्ष्म गण की और सनातन (वेदोक्त दर्श-पूर्णमास-आग्रयण-चातुर्मास्य-निरूढपशुबन्ध-अग्निष्टोमसोमयाग इत्यादि) यज्ञों की भी सृष्टि की॥२२॥

अग्नि-वायु-रविभ्यस् तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्-यजुः-सामलक्षणम्॥२३॥

ब्रह्मा ने अग्नि, वायु और सूर्य से (क्रमशः) ऋग्रूप, यजूरूप और सामरूप तीन भागों से युक्त नित्य वेद को यज्ञों की सिद्धि के लिए निकाला॥२३॥

कालं कालविभक्तीश् च नक्षत्राणि ग्रहांस् तथा।
सरितः सागराञ् छैलान् समानि विषमाणि च॥२४॥
तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेव च।
सृष्टिं ससर्ज चैवेमां स्रष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः॥२५॥

इन प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा करते हुए ब्रह्मा ने काल की, काल के (काष्ठा, कला, नाडिका, मुहूर्त, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग इन) विभागों की, (कृत्तिकादि) नक्षत्रों की, (आदित्य-सोमादि) ग्रहों की, नदियों की, समुद्रों की, पर्वतों की, समतल भूमियों की, विषमतल भूमियों की, तपस्या की, वाणी की, प्रीति की, काम की और क्रोध की भी सृष्टि की॥२४-२५॥

कर्मणां च विवेकार्थं धर्माऽधर्मौ व्यवेचयत्।
द्वन्द्वैरयोजयच्च् चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः॥२६॥

ब्रह्मा ने कर्तव्य और अकर्तव्य कर्मों के विभाग के लिए धर्म का और अधर्म का विभाग किया और इन प्रजाओं को सुख-दुःख, राग-द्वेष इत्यादि द्वन्द्वों से युक्त भी किया॥२६॥

अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशाऽर्धानां तु याः स्मृताः।
ताभिः सार्धमिदं सर्वं सम्भवत्यनुपूर्वशः॥२७॥

दश के आधे (पाँच) सङ्ख्या वाले महाभूतों की स्थूलरूप में विपरिणत होकर सूक्ष्म स्वरूप में अदृश्य होने वाली सूक्ष्म मात्राएँ (अपञ्चीकृत भूतसूक्ष्म) जो हैं उनके साथ ही यह सब जगत् क्रमशः उत्पन्न होता है।

विशेष– ईश्वर से सर्वप्रथम अपञ्चीकृत आकाशादि पाँच महाभूतों की सृष्टि होती है, और उसके बाद उन्हीं पञ्च महाभूतों के योग से सम्पूर्ण जगत् की क्रमशः सृष्टि होती है॥२७॥

यं तु कर्मणि यस्मिन् स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनःपुनः॥२८॥

सृष्टि-स्थिति-नियमन में समर्थ ब्रह्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में जिस को जिस कर्म में लगाया, वार-वार सृष्टि किए जाने पर भी उस ने उसी कर्म को अपने आप अपनाया॥२८॥

हिंस्राऽहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माऽधर्मावृताऽनृते।
यद् यस्य सोऽदधात् सर्गे तत् तस्य स्वयमाविशत्॥२९॥

हिंस्रककर्म, अहिंस्रककर्म, सौम्यकर्म, क्रूरकर्म, धर्मकर्म, अधर्मकर्म, सत्यकर्म, असत्यकर्म इत्यादि कर्मों में जोजो कर्म सृष्टिकाल में ब्रह्मा ने जिसजिस में रखा, वह कर्म उसमें अपने आप समाविष्ट होता रहा॥२९॥

यथर्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्तुपर्यये।
स्वानिस्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥३०॥

ऋतुओं के परिभ्रमण में ऋतु जैसे अपने-अपने ऋतुलक्षणों को अपने आप प्राप्त करते हैं वैसे ही देव-मनुष्य-पशु-पक्षी-प्रभृति प्राणी भी सृष्टिचक्रों में अपने-अपने स्वभावों को अपने आप प्राप्त करते हैं॥३०॥

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ॥३१॥

लोकों के अभिवृद्धि के लिए ब्रह्मा ने अपने मुख, बाहु, ऊरु और पैर से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सृष्टि की॥३१॥

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥३२॥

ब्रह्मा अपने शरीर को दो भागों में विभक्त करके आधे से पुरुष हो गए तथा आधे से स्त्री हो गए और सृष्टिसमर्थ ब्रह्मा जी ने उसी स्त्री में विराद् नाम के पुरुष की सृष्टि की॥३२॥

तपस् तप्त्वाऽसृजद् यं तु स स्वयं पुरुषो विराद्।
तं मां वित्ताऽस्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥३३॥

हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ महर्षि लोग, उस विराट् पुरुष ने तपस्या करके जिस की सृष्टि की, उसी मुझ को इस सारे जगत् की सृष्टि करने वाला जानिए॥३३॥

अहं प्रजाः सिसृक्षुस् तु तपस् तप्त्वा सुदुश्चरम्।
पतीन् प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ॥३४॥

प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा रखने वाले मैं ने अत्यन्त दुष्कर तपस्या करके पहले प्रजाओं के पति दश महर्षियों को जन्म दिया॥३४॥

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥३५॥

मरीचि को, अत्रि को और अङ्गिरा को, पुलस्त्य को, पुलह को, क्रतु को, प्रचेता को, वसिष्ठ को, भृगु को और नारद को भी (मैं ने जन्म दिया)॥३५॥

एते मनूंस् तु सप्ताऽन्यानसृजन् भूरितेजसः।
देवान् देवनिकायांश् च महर्षींश् चाऽमितौजसः ॥३६॥

इन्हों ने (मरीचि इत्यादि महर्षियों ने) बहूत तेज से युक्त अन्य सात मनुओं को, अन्य देवों को, देवों के निवासों को और अपरिमित शक्ति से युक्त अन्य महर्षियों को भी (जन्म दिया) [इन मनुओं की गणना आगे (१।६१-६२) है]॥३६॥

यक्षरक्षःपिशाचांश् च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान्।
नागान् सर्पान् सुपर्णांश् च पितॄणां च पृथग् गणान्॥३७॥

इन्हों ने यक्षों को, राक्षसों को, पिशाचों को, गन्धर्वों को, अप्सराओं को, असुरों को, नागों को, सर्पों को, गरुडों को और पितरों के आज्यप इत्यादि विभिन्न गणों को भी (जन्म दिया)॥३७॥

विद्युतोऽशनिमेघांश् च रोहितेन्द्रधनूंषि च।
उल्कानिर्घातकेतूंश् च ज्योतींष्युच्चावचानि च॥३८॥

इन्हों ने बिजलियों को, वज्रों को, बादलों को, इन्द्रधनुवर्ण के दण्डाकार पदार्थों को, इन्द्रधनुषों को, उल्काओं को, अन्तरिक्ष में वातों के टकराव से उत्पन्न होने वाले शब्दों को, धूमकेतुओं को और अनेक प्रकार के ज्योतियों को भी (उत्पन्न किया)॥३८॥

किन्नरान् वानरान् मत्स्यान् विविधांश् च विहङ्गमान्।
पशून् मृगान् मनुष्यांश् च व्यालांश् चोभयतोदतः॥३९॥

इन्हों ने किन्नरों को, बन्दरों को, मछलियों को, नाना प्रकार के पक्षियों को, नाना प्रकार के पशुओं को, मृगों को, मनुष्यों को और ऊपर और नीचे दोनों ओर जवडों में दाँतों से युक्त सिंहादि हिंस्रक प्राणियों को भी (उत्पन्न किया)॥३९॥

कृमि-कीट-पतङ्गाश् च यूका-मक्षिक-मत्कुणम्।
सर्वं च दंश-मशकं स्थावरं च पृथग्विधम्॥४०॥

इन्हों ने छोटे कीडों को, बडे कीडों को, पतङ्गों को, जुँओं को, मक्खियों को, खटमलों को, सभी प्रकार की वनमक्खियों को, सब प्रकार के मच्छरों को और नाना प्रकार के वृक्ष-गुल्म-लता-वल्ली-तृणादि को भी (उत्पन्न किया)॥४०॥

एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान् महात्मभिः।
यथाकर्म तपोयोगात् सृष्टं स्थावरजङ्गमम्॥४१॥

इस प्रकार इन महात्मा मरीचिप्रभृति दश महर्षियों ने मेरे नियोजन से अपनी तपस्या के बल से प्राणियों के पूर्व-पूर्वजन्मार्जित पाप-पुण्य-कर्म के अनुसार इन सभी वृक्ष इत्यादि स्थावर (स्थिर) प्राणियों को और देव-मनुष्यादि जङ्गम (गतिमान्) प्राणियों को उत्पन्न किया॥४१॥

येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम्।
तत् तथा वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि॥४२॥

इस जगत् में जिन प्राणियों का जिस प्रकार का कर्म बताया गया है उसी प्रकार से उस कर्म को और जन्म में क्रमिक सम्बन्धों को भी आप लोगों से मैं कहूँगा॥४२॥

पशवश् च मृगाश् चैव व्यालाश् चोभयतोदतः।
रक्षांसि च पिशाचाश् च मनुष्याश् च जरायुजाः॥४३॥

पशु, मृग, दोनों जवडों में दाँतों से युक्त शेर चीता प्रभृति हिंस्रक प्राणी, राक्षस, पिशाच और मनुष्य ये जरायुज (गर्भ की झिल्ली से निकलने वाले) हैं॥४३॥

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश् च कच्छपाः।
यानि चैवम्प्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च॥४४॥

पक्षी, सर्प, घडियाल (मगरमच्छ), मछलियाँ, कछुए तथा इसी प्रकार के जमीन में और पानी में रहने वाले जो प्राणी हैं वे सब माता के गर्भ से बाहर निकले हुए अण्डों से निकलने वाले (अण्डज) हैं॥४४॥

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम्।
ऊष्मणश् चोपजायन्ते यच्चाऽन्यत् किञ्चिदीदृशम्॥४५॥

दंश (वनमक्खी), मच्छर, जूँ, मक्खियाँ, खटमल ये सब स्वेद से (पसीने से) जन्मने वाले (स्वेदज) हैं, और अन्य भी इस प्रकार के जो कुछ प्राणी हैं वे भी ऊष्मा (ताप) से उत्पन्न होते हैं॥४५॥

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः।
ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः॥४६॥

बीज से अथवा शाखा से उगने वाले सभी वृक्ष-गुल्म-लता-तृण इत्यादि स्थावर (स्थिर) प्राणी उद्भिज्ज (बीज को और भूमि को छेदकर निकलने वाले) होते हैं। फल के पकने पर जिन का पौधा सूख जाता है और जिन में बहूत फूल और फल लगते हैं वे ओषधिपदवाच्य प्राणी भी (उद्भिज्ज ही हैं)॥४६॥

अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः।
पुष्पिणः फलिनश् चैव वृक्षास् तूभयतः स्मृताः॥४७॥

जो फूल के विना ही फल देने वाले माने गए वनस्पतिशब्दवाच्य पौधे हैं वे भी उद्भिज्ज ही हैं। फूल वाले और फल वाले होने से दोनों लक्षणों से युक्त माने गए वृक्षशब्दवाच्य पौधे भी (उद्भिज्ज ही हैं)॥४७॥

गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः।
बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च॥४८॥

नाना प्रकार के कदलीस्तम्बादिसदृश गुच्छ, प्रकाण्डरहित पौधा (झुरमुट) और नाना प्रकार की घास-फुस की जातियाँ, वृक्षों में चढने वाली लताएँ और भूमि में ही फैलने वाली वल्लियाँ ये सब बीजों से और काण्डों से उगने वाले प्राणी भी (उद्भिज्ज ही हैं)॥४८॥

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसञ्ज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः॥४९॥

पूर्वजन्म के कर्मों के फल के रूप में नाना प्रकार के ज्ञानावरणरूप तमोगुण से ढके हुए ये ओषधि-वनस्पति इत्यादि स्थावर उद्भिज्ज प्राणी अन्दर ही अन्दर चेतना से युक्त और सुखदुःखों का अनुभव करने वाले होते हैं॥४९॥

एतदन्तास् तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः।
घोरेऽस्मिन् भूतसंसारे नित्यं सततयायिनि॥५०॥

भयङ्कर और सदाकाल अविश्रान्त रूप से चलने वाले इस प्राणि-लोक में ब्रह्मा से लेकर स्थावर उद्भिज्ज तृणपर्यन्त की (पूर्वपूर्व जन्म के कर्म के फल के रूप में) सृष्टियाँ होती हैं॥५०॥

एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं मां चाऽचिन्त्यपराक्रमः।
आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन्॥५१॥

अकल्पनीय शक्ति वाले वे ब्रह्मा इस प्रकार इस सम्पूर्ण जगत् को और मुझ को भी उत्पन्न करके एक काल को (सृष्टिकाल को) दूसरे काल से (प्रलयकाल से) तिरोहित करते हुए अपने में ही अन्तर्हित (लीन) हो गए। [इस प्रकार सृष्टि-प्रलय-चक्र चलता रहता है]॥५१॥

यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शान्ताऽऽत्मा तदा सर्वं निमीलति॥५२॥

जब वे सृष्टिकर्ता ब्रह्मा जागते हैं तब यह जगत् क्रियाशील होता है और जब वे शान्तयत्न होकर सोते हैं तब यह सब जगत् विलीन हो जाता है॥५२॥

तस्मिन् स्वपति सुस्थे तु कर्माऽऽत्मानः शरीरिणः।
स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते मनश् च ग्लानिमृच्छति॥५३॥

उस ब्रह्मा के अपने में ही स्थित होकर सोने पर अपने-अपने कर्म से शरीर-विशेष को लेने वाले सभी शरीरधारी अपने-अपने कर्म से निवृत्त होते हैं और उनका मन भी वृत्तिरहित होकर क्षीण हो जाता है॥५३॥

युगपत् तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन् महात्मनि।
तदाऽयं सर्वभूताऽऽत्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः॥५४॥

जब एकसाथ ही सब प्राणी उस परमात्मा में विलीन होते हैं तब ये सभी प्राणियों के आत्मा ब्रह्मा भी अपने आप में परितुष्ट होकर सुख से सोते हैं॥५४॥

तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः।
न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्तितः॥५५॥

यह जीव तो जब इन्द्रियों को अपने में ही समेटकर बहुत समय तक अज्ञान में आश्रित होकर रहता है और अपना कोई कर्म भी नहीं करता है तब शरीर से बाहर निकलता है॥५५॥

यदाऽणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च।
समाविशति संसृष्टस् तदा मूर्तिं विमुञ्चति॥५६॥

जब जीव सीमटकर अणुपरिमाण का होकर स्थावर अथवा जङ्गम शरीर लेने के लिए उपयुक्त बीजरूप सूक्ष्मपञ्चमहाभूतमय अणु में प्रविष्ट होता है तब स्थूल शरीर को लेता है॥५६॥

एवं स जाग्रत्-स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम्।
सञ्जीवयति चाऽजस्रं प्रमापयति चाऽव्ययः॥५७॥

अविनाशी वह ब्रह्मा इस प्रकार अपनी जाग्रत् अवस्था से और स्वप्नावस्था से सम्पूर्ण गतिशील जगत् को निरन्तर रूप में जिलाते हैं और मारते भी हैं॥५७॥

इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः।
विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादींस् त्वहं मुनीन्॥५८॥

उन ब्रह्मा ने इस धर्मशास्त्र की रचना करके सर्वप्रथम मुझ को (मनु को) विधिपूर्वक स्वयं पढ़ाया और मैं ने ही इस शास्त्र को विधिपूर्वक मरीचि अत्रि अङ्गिरा इत्यादि दश मुनियों को पढ़ाया॥५८॥

एतद् वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः।
एतद् धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥५९॥

ये भृगु मुनि इस शास्त्र को कुछ भी अवशिष्ट न रखकर आप लोगों को सुनाएंगे, क्योंकि इन (भृगु) मुनि ने सम्पूर्ण इस शास्त्र को कुछ भी अवशिष्ट न रखकर मुझ से पढ़ा है [यह मनुस्मृति भार्गव मनुस्मृति के रूप में प्रसिद्ध होने का कारण यही है]॥५९॥

ततस् तथा स तेनोक्तो महर्षिर् मनुना भृगुः।
तानब्रवीदृषीन् सर्वान् प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥६०॥

उसके बाद उन स्वायम्भुव मनु से उक्त प्रकार से कहे गए प्रसन्न चित्त वाले महर्षि भृगु ने धर्मशास्त्र सुनने के लिए मनु के यहाँ पधारे हुए उन सब ऋषियों को 'सुना जाय' कहकर कहा— ॥६०॥

स्वायम्भुवस्याऽस्य मनोः षड् वंश्या मनवोऽपरे।
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाःस्वा महात्मानो महौजसः ॥६१॥

इन स्वायम्भुव (ब्रह्मपुत्र) मनु के वंश में उत्पन्न अन्य महामना और महाशक्ति वाले छह मनुओं ने अपनी-अपनी प्रजाओं को उत्पन्न किया॥६१॥

स्वारोचिषश् चोत्तमश् च तामसो रैवतस् तथा।
चाक्षुषश् च महातेजा विवस्वत्सुत एव च ॥६२॥

स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष और बडे तेजस्वी वैवस्वत ये उक्त छह मनु हैं॥६२॥

स्वायम्भुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः।
स्वेस्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्याऽपुश् चराचरम् ॥६३॥

बहुत तेजस्वी स्वायम्भुवादि इन सात मनुओं ने अपने-अपने अधिकार के काल में इस सम्पूर्ण गतिशील जगत् को उत्पन्न करके पालित भी किंया।

विशेष— पौराणिक कालगणना के अनुसार तो एक ब्राह्मदिन में (एक कल्प में) १४ मनु होते हैं। अन्य सात मनुओं के नाम सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि (रौच्य), इन्द्रसावर्णि (भौत्य) हैं। इन मनुओं का उल्लेख पुराणों में प्राप्त होता है (विष्णुपुराण ३।१।५—३।२।४२ इत्यादि)॥६३॥

निमेषा दश चाऽष्टौ च काष्ठा, त्रिंशत् तु ताः कला।
त्रिंशत् कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥६४॥

दश और आठ (१८) निमेष एक काष्ठा होगी, तीस काष्ठा एक कला होगी, तीस कलाएँ एक मुहूर्त होगा, उतने ही (तीस ही) मुहूर्तों को एक अहोरात्र (दिन-रात) जाने।

विशेष— कूर्मपुराण में (१।५।४) और अन्य अनेक पुराणों में तथा महाभारत में (१२।२३१।१२) और हरिवंश में (१।८।३) तथा सुश्रुतसंहिता में भी (१।६।३,४) पन्द्रह निमेषों की एक काष्ठा बताई गई है, यह भेद क्यों हुआ, चिन्त्य है॥६४॥

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके।
रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः॥६५॥

मनुष्यों के और देवों के दिन का और रात का विभाग सूर्य करते हैं। उनमें रात प्राणियों के सोने के लिए और दिन प्राणियों के विविध कार्यों की चेष्टा के लिए है॥६५॥

पित्र्ये रात्र्यहनी मासः, प्रविभागस् तु पक्षयोः।
कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी॥६६॥

चान्द्रमास पितरों का रातदिन है, उस चान्द्रमास का दो पक्षों में विभाग होता है, उनमें कृष्णपक्ष (निशामुख में चन्द्रदर्शन से रहित अथवा चन्द्रकलाओं के क्षय से युक्त पन्द्रह दिनों का समुदाय) पितरों का दिन है और पितरों के विविध कार्यों की चेष्टाओं के लिए है; शुक्लपक्ष (निशामुख में चन्द्रदर्शन से युक्त अथवा चन्द्रकलाओं की वृद्धि से युक्त पन्द्रह दिनों का समुदाय) पितरों की रात है और सोने के लिए है॥६६॥

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस् तयोः पुनः।
अहस् तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद् दक्षिणायनम्॥६७॥

मनुष्यों का एक वर्ष देवताओं का रात-दिन है, फिर उन रात-दिनों का विभाग होता है, उनमें उदगयन (सूर्य के उदङ्मुखीभाव से उपलक्षित काल) देवताओं का दिन है और दक्षिणायन (सूर्य के दक्षिणाऽभिमुखीभाव से उपलक्षित काल) देवताओं का रात है।

विशेष— यह कथन उदगयन के प्रारम्भ से नववर्ष का प्रारम्भ मानने वाले वेदाङ्गज्योतिषका अनुकूल है। इस विषय में अधिक जानना चाहने वाले सज्जन चौखम्बाविद्याभवन से प्रकाशित कौण्डिन्न्यायन-व्याख्यान से और सुविस्तृत भूमिका से तथा सङ्क्षिप्त हिन्दी भूमिका और व्याख्या से युक्त वेदाङ्गज्योतिषग्रन्थ देखें॥६७॥

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत् प्रमाणं समासतः।
एकैकशो युगानां तु क्रमशस् तन् निबोधत॥६८॥

ब्रह्मा के रातों का और दिनों का युगों के एकएक करके क्रम से समायोजन (सम्पिण्डीकरण) से जो परिमाण होता है उसको आप लोग जानिए॥६८॥

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत् कृतं युगम्।
तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश् च तथाविधः ॥६९॥

दिव्य वर्षों का चार हजार का समुदाय वह प्रसिद्ध सत्ययुग होता है, उसकी दिव्यवर्षों के उतने (चार) शतकों की सन्ध्या (पूर्वसन्ध्या) और उसी प्रकार का (चार सौ दिव्य वर्षों का) सन्ध्यांश (उत्तरसन्ध्या) भी होता है॥६९॥

इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु।
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥७०॥

सन्ध्याओं (पूर्वसन्ध्याओं) से युक्त और सन्ध्यांशों (उत्तरसन्ध्याओं) से युक्त अन्य तीन युगों में (त्रेता-द्वापर-कलियुगों में) भी क्रमशः एकएक कम हजार और सौ रहते हैं।

विशेष– त्रेतायुग में ३०००, उसकी सन्ध्या में ३००, और सन्ध्यांश में ३००; द्वापर युग में २०००, उसकी सन्ध्या में २०० और सन्ध्यांश में २००; कलियुग में १०००, उसकी सन्ध्या में १०० और सन्ध्यांश में १०० दिव्यवर्ष रहते हैं।

उक्त दिव्य वर्षों को ३६० से गुणा करने से मानुष वर्ष प्राप्त होते हैं। मनुस्मृति के कोई अनुवादक मानुष वर्ष में ३६५ सौर दिन (सावन दिन) होने से दिव्य वर्षों को ३६५ से गुणा करने की बात करते हैं। किन्तु दिव्य वर्षों का मानुष दिन से सम्बन्ध न होकर अयनद्वयात्मक मानुष सौर-चान्द्रवर्षों से ही सम्बन्ध होने से और ३६० दिव्य दिनों का ही दिव्य एक वर्ष माने जाने से दिव्य वर्षों को मानुष वर्षों में लाने के हेतु ३६० से ही गुणा करना युक्तियुक्त है। यह बात वेद के ब्राह्मणग्रन्थों से भी अवगत हो सकती है। उक्त प्रकार से ३६० से ही गुणा करने की बात पुराणों से भी अवगत होती है। मत्स्यपुराण में मन्वन्तर के मानुष वर्ष गिनाए गए हैं (१४२।३०–३२)। मार्कण्डेय-पुराण में (४३।३४–३६), विष्णुपुराण में (१।३।२०,२१) और लिङ्गपुराण में (१।४।२५–३२) भी मन्वन्तर के मानुष वर्ष गिनाए गए हैं। इस से दिव्य वर्षों से मानुष वर्षों का सम्बन्ध समझा जा सकता है। स्कन्दपुराण के वैष्णवखण्ड में तो सत्य-त्रेतादि चतुर्युगी के (महायुग के) ही मानुष वर्ष गिनाए गए हैं। वहाँ कहा गया है– **"मानुषाब्दैः खखव्योमखाक्षिपावकसागरैः (४३२००००)। महायुगं भवेत् पार्थ कृताद्याकारसंयुतम्"** (१।३६।३३)। इस से तो दिव्य वर्षों का मानुष वर्षों में लाने के लिए ३६० से गुणा करने की बात अत्यन्त स्पष्ट रूप में समझी जा सकती है॥७०॥

		दिव्यवर्ष	मानुष वर्ष
सत्ययुग—	४००+४०००+४००=	४८०० × ३६०=	१७२८०००
त्रेतायुग—	३००+३०००+३०० =	३६०० × ३६०=	१२९६०००
द्वापरयुग—	२००+२०००+२००=	२४०० × ३६०=	८६४०००
कलियुग—	१००+१०००+१०० =	१२०० × ३६०=	४३२०००
		१२००० × ३६०=	४३,२०,०००

यदेतत् परिसङ्ख्यातमादावेव चतुर्युगम्।
एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते॥७१॥

पहले ही यह जो मनुष्यों के चार युगों का समुदाय गिना गया है, यह बारह हजार दिव्य वर्षों का समुदाय देवताओं का युग कहा जाता है॥७१॥

		दिव्यवर्ष	मानुष वर्ष
एक दिव्य युग—	१०००+१००००+१०००=	१२००० × ३६०=	४३२००००

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसङ्ख्यया।
ब्राह्ममेकमहर् ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च॥७२॥

गणना से दिव्य युगों की हजार की सङ्ख्या (दिव्य हजार युगों का काल) ब्रह्मा का एक दिन जानना चाहिए। उतने ही काल की ब्रह्मा की रात को भी जाने॥७२॥

एक कल्प के दिव्यवर्ष	एक कल्प के मानुष वर्ष
१२०००×१०००=१२०००००० × ३६०=	४३२०००००००

तद् वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर् विदुः।
रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः॥७३॥

ब्रह्मा के दिन-रात को जानने वाले लोग [कल्पों तक जीने वाले दीर्घजीवी लोमशादि ऋषि लोग] ब्रह्मा के उस पवित्र दिन को हजार दिव्य युग में अन्त होने वाला जानते हैं, ब्रह्मा की रात को भी उतनी ही लम्बी जानते हैं॥७३॥

तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते।
प्रतिबुद्धश् च सृजति मनः सदसदात्मकम्॥७४॥

सोए हुए वे ब्रह्मा उस अहोरात्र के अन्त में जागते हैं और जागे हुए वे ब्रह्मा सदसद्रूप मन को सृष्टि के लिए निसृष्ट (नियुक्त) करते हैं॥७४॥

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया।
आकाशं जायते तस्मात् तस्य शब्दं गुणं विदुः॥७५॥

(आकाशादि की) सृष्टि की इच्छा से प्रेरित किया जा रहा मन सृष्टि को विशेष रूप में सम्पन्न करता है। उस से आकाश उत्पन्न होता है, विज्ञ लोग शब्द को उस आकाश का गुण जानते हैं॥७५॥

आकाशात् तु विकुर्वाणात् सर्वगन्धवहः शुचिः।
बलवाञ् जायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः॥७६॥

विकार का उत्पादन करते हुए आकाश से सभी गन्धों का वहन करने वाला, पवित्र और बलशाली वायु उत्पन्न होता है, वह बलशाली वायु स्पर्शरूप विशेष गुण से युक्त माना गया है॥७६॥

वायोरपि विकुर्वाणाद् विरोचिष्णु तमोनुदम्।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत् तद् रूपगुणमुच्यते॥७७॥

विकार का उत्पादन करते हुए वायु से भी चमकने वाला, अन्धकार को हटाने वाला, प्रकाश-युक्त ज्योति उत्पन्न होता है, वह रूप-गुण से युक्त कहा जाता है॥७७॥

ज्योतिषश् च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः।
अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः॥७८॥

विकार का उत्पादन करते हुए ज्योति से भी उत्पन्न जल रसरूप विशेष गुण से युक्त समझा गया है। जल से उत्पन्न भूमि गन्धरूप विशेष गुण से युक्त समझी गई है। यह सृष्टि भौतिक अन्य पदार्थों की सृष्टि से पहले होने वाली महाभूतों की सृष्टि है॥७८॥

यत् प्राग् द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम्।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते॥७९॥

पहले जो बारह हजार दिव्य वर्षों का एक दिव्य युग बताया गया है वही इकहत्तर गुना होने से इस कालगणना में एक मन्वन्तर कहा जाता है॥७९॥

मन्वन्तर के दिव्यवर्ष	मन्वन्तर के मानुष वर्ष
१२०००×७१=८५२०००×३६०=	३०६७२००००

मन्वन्तराण्यसङ्ख्यानि सर्गः संहार एव च।
क्रीडन्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुनःपुनः ॥८०॥

मन्वन्तर असङ्ख्य हैं, सृष्टि और संहार भी असङ्ख्य हैं। ब्रह्मा क्रीडा करते हुए की तरह इस मन्वन्तर-परिवर्तन को और सृष्टि-संहार कार्य को बार-बार करते हैं।

विशेष— वैदिक सृष्टिवर्णन का सृष्टिप्रकार के प्रतिपादन में तात्पर्य न रहकर प्रजापति से ही सृष्टि होने की बात के प्रतिपादन में तात्पर्य रहने की बात शतपथ-ब्राह्मण में (६।१।२।११) आई है॥८०॥

चतुष्पात् सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।
नाऽधर्मेणाऽऽगमः कश्चिन् मनुष्यान् प्रति वर्तते ॥८१॥

सत्ययुग में (तपस्या, ज्ञान, यज्ञ और दान इन) चारों पादों से युक्त पूर्ण धर्म और सत्य मनुष्यों में प्रतिष्ठित रहता है। उस युग में मनुष्यों में अधर्म से धन-विद्यादि का कोई आगमन भी नहीं होता है॥८१॥

इतरेष्वागमाद् धर्मः पादशस् त्ववरोपितः।
चौरिकाऽनृतमायाभिर् धर्मश् चाऽपैति पादशः ॥८२॥

अन्य त्रेतादि युगों में अधर्म से धनविद्यादि का आगमन बढते रहने से धर्म प्रतियुग एकएक पाद से न्यूनीकृत होता हुआ चोरी, झूठ और छल की वृद्धि के कारण से धर्म भी प्रतियुग एकएक पाद करके घटता जाता रहता है।

विशेष— इस श्लोक में पाठभ्रंश प्रतीत होता है। इस श्लोक का मेधातिथि-गोविन्दराज इत्यादि से किया गया अर्थ भी समुचित नहीं दिखाई देता है। इस श्लोक में विवक्षित अर्थ को समझने के लिए महाभारत के वनपर्व के "**अधर्मपादविद्धस् तु त्रिभिरंशैः प्रतिष्ठितः। त्रेतायां द्वापरेऽर्धेन व्यामिश्रो धर्म उच्यते॥ त्रिभिरंशैरधर्मस् तु लोकानाक्रम्य तिष्ठति। तामसं युगमासाद्य तदा भरतसत्तम**" (१९०।१०,११ [१८८।११, १२]) इस अंश का और शान्तिपर्व के "**इतरेष्वागमाद् धर्मः पादशस् त्ववरोप्यते। चौर्यकाऽनृतमायाभिरधर्मश् चोपचीयते**" (२३१।२४ [२२४।२३]) इस अंश का विचार करना उचित है। इस दृष्टि से विचार करने पर द्वितीय अर्ध का मूल रूप "**चौरिकाऽनृतमायाभिरधर्मश् चैति पादशः**" ऐसा प्रतीत होता है॥८२॥

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश् चतुर्वर्षशताऽऽयुषः।
कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर् ह्रसति पादशः ॥८३॥

सत्ययुग में मनुष्य रोगरहित, सिद्ध हुए सभी अर्थों से युक्त, चार सौ वर्ष की आयु वाले होते हैं। त्रेतादि युगों में इन की आयु एकएक चरण कम होती जाती है।

विशेष– मनुष्यों की आयु सत्ययुग में ४०० वर्ष, त्रेतायुग में ३०० वर्ष, द्वापरयुग में २०० वर्ष और कलियुग में १०० वर्ष होती है॥८३॥

वेदोक्तमायुर् मर्त्यानामाशिषश् चैव कर्मणाम्।
फलन्त्यनुयुगं लोके प्रभावश् च शरीरिणाम्॥८४॥

मनुष्यों का वेद में बताई गई आयु, वेदोक्त कर्मों के फल और देहधारी जीवों के बल-वीर्यादि के प्रभाव भी युगानुसार ही प्राप्त होते हैं॥८४॥

अन्ये कृतयुगे धर्मास् त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासाऽनुरूपतः॥८५॥

सत्ययुग में मनुष्यों के धर्म के प्रकार दूसरे होते हैं, युग के ह्रास के अनुसार त्रेतायुग में मनुष्यों के धर्म के प्रकार दूसरे होते हैं, द्वापरयुग में दूसरे होते हैं और कलियुग में दूसरे होते हैं।

विशेष– युगानुरूप धर्म कहने से युगयुग के मनुष्यों की शक्ति में तारतम्य होने से धर्म के अनुष्ठान में तारतम्य होने की बात मानी जाती है, धर्म में ही भेद नहीं। यह बात पाराशरमाधवीय में (१।२२) स्पष्ट की गई है॥८५॥

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर् दानमेकं कलौ युगे॥८६॥

सत्ययुग में तपस्या परम धर्म बताई जाती है, त्रेतायुग में ज्ञान परम धर्म बताया जाता है। द्वापरयुग में यज्ञ को और कलियुग में केवल दान को ही (धर्मतत्त्वज्ञ मुनिलोग) परम धर्म बताते हैं॥८६॥

सर्वस्याऽस्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक् कर्माण्यकल्पयत्॥८७॥

उन बडे तेजस्वी ब्रह्मा ने सृष्ट इस सम्पूर्ण जगत् की रक्षा के लिए अपने मुख से जन्मे हुए मनुष्यों के (ब्राह्मणों के), अपने बाहु से जन्मे हुए मनुष्यों के (क्षत्रियों के), अपने ऊरु से जन्मे हुए मनुष्यों के (वैश्यों के) और अपने पैर से जन्मे हुए मनुष्यों के (शूद्रों के) अलग-अलग कार्यों की व्यवस्था की॥८७॥

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥८८॥

वेद-वेदाङ्ग पढ़ाना, वेद-वेदाङ्ग पढ़ना, श्रौत-स्मार्त यज्ञ करना, श्रौत-स्मार्त यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना ये कर्म ब्राह्मणों के लिए (ब्रह्मा ने) बनाया।

विशेष– सम्पूर्ण जगत् की सुव्यवस्था के लिए लोगों के कार्यों का विभाजन आवश्यक है। यह कार्यविभाजन लोगों की अनादि वासना के अनुसार ही परमेश्वर से किया गया माना गया है। समाज की और राष्ट्र की सुव्यवस्था के लिए यह (ब्राह्मण-क्षत्रियादि का) कार्यविभाजन उपयोगी भी है ही॥८८॥

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश् च क्षत्रियस्य समासतः॥८९॥

प्रजा की रक्षा करना, दान देना, श्रौत-स्मार्त यज्ञ करना, वेद-वेदाङ्ग-धनुर्वेद-नीतिशास्त्र इत्यादि का अध्ययन करना, और लौकिक सुखदायक शब्द, स्पर्श इत्यादि विषयों में अनासक्ति इन को संक्षिप्त रूप में ब्रह्मा ने क्षत्रिय का कर्म बनाया॥८९॥

पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥९०॥

पशुपालन करना, दान देना, श्रौत-स्मार्त यज्ञ करना, वेद-वेदाङ्ग-अर्थशास्त्र-वाणिज्यशास्त्र इत्यादि का अध्ययन करना, क्रयविक्रय करना, व्याज में धन लगाना और खेती करना भी ब्रह्मा ने वैश्यों का कर्म बनाया॥९०॥

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥९१॥

असूया से (गुण में भी दोषारोप करने के भाव से) रहित होकर इन्ही ब्राह्मणादि तीन वर्णों की सेवा-सहयोग करना इस कर्म को ही सृष्टि-स्थिति-संहार में समर्थ ब्रह्मा ने शूद्र के लिए मुख्यधर्मरूप कर्म के रूप में विहित किया॥९१॥

ऊर्ध्वं नाभेर् मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः।
तस्मान् मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयम्भुवा॥९२॥

नाभि से ऊपर के भाग में पुरुष को नाभि से नीचे के भाग की अपेक्षा अधिक शुद्ध होता है, ऐसा ब्रह्मा द्वारा बताया गया है, नाभि से ऊपर के अन्य भागों में भी मुख को ब्रह्मा से सब से अधिक शुद्ध बताया गया है।

विशेष– ब्राह्मण की अनादिपरम्परागत शरीरगत, बुद्धिगत, संस्कारगत और आरचणगत विशेषता को लेकर ही ब्राह्मण की उत्तमता बताई गई है। इसी बात की पुष्टि के लिए मनुस्मृति के ये श्लोक (१९२–१०१) प्रवृत्त हैं। ब्राह्मणों की सर्व-कल्याणकारिता से क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी लाभान्वित होते हैं। श्लोकों का तात्पर्य समझा जाना चाहिए। केवल अक्षरार्थ को और बाह्य अर्थ को लेकर विचार नहीं करना चाहिए॥९२॥

उत्तमाऽङ्गोद्भवाज् ज्यैष्ठ्याद् ब्रह्मणश् चैव धारणात्।
सर्वस्यैवाऽस्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः ॥९३॥

ब्रह्मा के मुखरूप उत्तम अङ्ग से उत्पन्न होने से, वर्णों में सर्वप्रथम सृष्ट होने से (ज्येष्ठ होने से) और वेद का धारण करने से भी इस सृष्ट सम्पूर्ण जगत् का धर्माऽनुसार ब्राह्मण स्वामी है॥९३॥

तं हि स्वयम्भूः स्वादास्यात् तपस् तप्त्वाऽऽदितोऽसृजत्।
हव्यकव्याऽभिवाह्याय सर्वस्याऽस्य च गुप्तये॥९४॥

ब्रह्मा ने तपस्या करके उनको (ब्राह्मण को) हव्य को (देवताओं के लिए समर्पित द्रव्य को) देवताओं में और कव्य को (पितरों के लिए समर्पित द्रव्य को) पितरों में पहुँचाने के लिए और इस सम्पूर्ण जगत् की रक्षा के लिए भी अपने मुख से सर्वप्रथम उत्पन्न किया॥९४॥

यस्याऽऽस्येन सदाऽश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः।
कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः ॥९५॥

स्वर्ग में रहने वाले देवता सदाकाल हव्य को जिस के मुख से खाते हैं और पितर लोग भी सदाकाल कव्य को जिस के मुख से खाते हैं उन ब्राह्मण से बडा इस लोक में अन्य कौन प्राणी होगा?॥९५॥

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥९६॥

भौतिक पदार्थों में प्राणी श्रेष्ठ समझे गए हैं, प्राणियों में बुद्धिजीवी (बुद्धिपूर्वक जीवनयात्रा चलाने वाले प्राणी) श्रेष्ठ समझे गए हैं, बुद्धिजीवियों में मनुष्य श्रेष्ठ समझे गए हैं, मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ समझे गए हैं॥९६॥

ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥९७॥

ब्राह्मणों में विद्वान् [विद्यावान्] श्रेष्ठ समझे गए हैं, विद्वानों में कृतबुद्धि (विद्या के अनुकूल रूप में बुद्धि की स्थिति बनाने वाले) श्रेष्ठ समझे गए हैं, कृतबुद्धियों में कर्ता (विद्या के अनुकूल रूप में काम करने वाले) श्रेष्ठ समझे गए हैं, कर्ताओं में ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ समझे गए हैं॥९७॥

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर् धर्मस्य शाश्वती।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥९८॥

ब्राह्मण की उत्पत्ति ही धर्म की शाश्वत (स्थायी) मूर्ति (शरीर) है। वे ही धर्म के लिए उत्पन्न हुए हैं और वे ही ब्रह्मभाव में प्राप्त होने के लिए समर्थ होते हैं॥९८॥

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये॥९९॥

उत्पन्न होते ही ब्राह्मण सम्पूर्ण प्राणियों के धर्म के कोश की (खजाने की) रक्षा में समर्थ रूप में पृथिवी में उत्पन्न होते हैं॥९९॥

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज् जगतीगतम्।
श्रैष्ठ्येनाऽभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति॥१००॥

पृथिवी में जो कुछ भी है वह सब ब्राह्मणों का अपना (धन) है। विद्या-धर्म-रक्षादिमूलक श्रेष्ठता से और ब्रह्मा के मुख से जन्म होने से सिद्ध कुलीनता से ब्राह्मण पृथिवी के सभी पदार्थों के स्वामित्व के लिए योग्य होते हैं॥१००॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः॥१०१॥

ब्राह्मण अपना ही खाते हैं, अपना ही पहनते हैं, अपना ही देते हैं। दूसरे क्षत्रियादि लोग ब्राह्मणों की दया से ही वस्तुओं का भोग करते हैं।

विशेष– ब्राह्मण की त्यागतपस्यापरायणता के विना और कर्तव्यपरायणता के विना समाज में और राष्ट्र में धर्मस्थापना और न्यायस्थापना न हो सकने से ब्राह्मण के महिमा को बताकर धर्म की रक्षा और विद्या की रक्षा तथा अभिवृद्धि में ब्राह्मण का उत्तरदायित्व समझाने के लिए यह सब कहा गया है॥१०१॥

तस्य कर्मविवेकार्थं शेषाणामनुपूर्वशः।
स्वायम्भुवो मनुर् धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत्॥१०२॥

ब्राह्मण के और क्रमशः शेष क्षत्रियादि के कर्मों के भी ज्ञान के लिए बुद्धिमान् स्वायम्भुव मनु ने (ब्रह्मकृत) इस शास्त्र को विशिष्ट ग्रन्थ के रूप में सम्पादित किया॥१०२॥

विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः।
शिष्येभ्यश् च प्रवक्तव्यं सम्यङ् नाऽन्येन केनचित्॥१०३॥

समझदार ब्राह्मण को इस ग्रन्थ का विशेष यत्न से अध्ययन करना चाहिए और सिखाने योग्य जनों के लिए इस ग्रन्थ का ठीक प्रकार से प्रवचन भी करना चाहिए, ब्राह्मण को छोडकर दूसरे क्षत्रियादि से इस शास्त्र का प्रवचन नहीं किया जाना चाहिए॥१०३॥

इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः।
मनो-वाग्-देहजैर् नित्यं कर्मदोषैर् न लिप्यते ॥१०४॥

इस शास्त्र को पढ़ता हुआ बोलकर सङ्कल्प किए हुए व्रतों का अनुष्ठान करने वाला ब्राह्मण मन से वाणी से और शरीर से किए जाने वाले कर्मदोषों से कभी भी लिप्त नहीं होता है॥१०४॥

पुनाति पङ्क्तिं वंश्यांश् च सप्तसप्त पराऽवरान्।
पृथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेकोऽपि सोऽर्हति ॥१०५॥

उक्त प्रकार का ब्राह्मण श्राद्धभोजनादि में बैठे हुए साधारणतया अशुद्ध ब्राह्मणों की पङ्क्ति को उस पङ्क्ति में अपने बैठने से शुद्ध बना देता है, अपने वंश में उत्पन्न अपने से समनन्तर व्यतीत सात पीढियों के अशुद्ध जनों को और अपने से अनन्तर आने वाली सात पीढियों के अशुद्ध जनों को भी शुद्ध बना देता है। अकेला ही वह इस सम्पूर्ण पृथिवी के स्वामित्व के लिए योग्य होता है॥१०५॥

इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम्।
इदं यशस्यमायुष्यमिदं निःश्रेयसं परम् ॥१०६॥

यह शास्त्र उत्तम कल्याणदायक है, यह शास्त्र बुद्धि को बढाने वाला है, यह शास्त्र यश को बढाने वाला और आयु को बढाने वाला है, यह शास्त्र उत्तम मोक्ष-साधक भी है॥१०६॥

अस्मिन् धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम्।
चतुर्णामपि वर्णानामाचारश् चैव शाश्वतः ॥१०७॥

इस शास्त्र में धर्म के विविध पक्षों में (कुटुम्बधर्म, कुलधर्म, ग्रामधर्म, राष्ट्रधर्म, साधारणधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, अन्तरालधर्म, निमित्तधर्म इत्यादि पक्षों में) किसी पक्ष को भी अवशिष्ट (बाँकी) न रखकर धर्म बताया गया है, कर्मों के गुण और दोष भी बताए गए हैं, चार ही वर्णों का (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रों का) सनातन (अनादिपरम्परा से आया हुआ) आचार भी बताया गया है॥१०७॥

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ॥१०८॥

वेदों में बताया हुआ और स्मृतियों में बताया गया भी आचार परम (मुख्य) धर्म है। इस लिए मन को वश में रखने वाला ब्राह्मण सदाकाल उस आचार के पालन में नियत रूप में संलग्न होवे॥१०८॥

आचाराद् विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत् ॥१०९॥

आचार से भ्रष्ट ब्राह्मण वेदाध्ययन इत्यादि का फल नहीं पाता! है, आचार से युक्त ब्राह्मण तो वेदाध्ययन इत्यादि के सम्पूर्ण फल को प्राप्त करने वाला होगा॥१०९॥

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥११०॥

इस प्रकार से आचाररूप मूल से धर्म की प्रवृत्ति को देखकर मुनियों ने सभी तपस्याओं के परम मूल के रूप में आचार का ग्रहण किया॥११०॥

जगतश् च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च।
व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम् ॥१११॥

(इस शास्त्र में मनु महाराज ने) [प्रथम अध्याय में] जगत् की उत्पत्ति को, [द्वितीय अध्याय में] संस्कार के विधि को, व्रतपालन के अनुष्ठान को, [तृतीय अध्याय में] स्नान के (समावर्तन के) उत्तम विधान को भी (बताया है)॥१११॥

दाराऽधिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणम्।
महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पं च शाश्वतम् ॥११२॥

पत्नी की प्राप्ति को (विवाह को), विवाह-प्रकारों के लक्षणों को, ब्रह्मयज्ञ-देवयज्ञ इत्यादि पाँच महायज्ञों के विधानों को, श्राद्ध के सनातन विधान को भी (मनु ने इस शास्त्र में बताया है)॥११२॥

वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च।
भक्ष्याऽभक्ष्यं च शौचं च द्रव्याणां शुद्धिमेव च ॥११३॥

[चतुर्थ अध्याय में] जीविकाओं के लक्षण को, स्नातक के व्रतों को, [पञ्चम अध्याय में] भक्ष्य-अभक्ष्य वस्तुओं को, शरीरशौच को, द्रव्यों की शुद्धि को भी (मनु ने इस शास्त्र में बताया है)॥११३॥

स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं सन्न्यासमेव च।
राज्ञश् च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम् ॥११४॥

स्त्रीधर्म को, [षष्ठ अध्याय में] वानप्रस्थचर्या को, मोक्षधर्म को, सन्न्यास को, [सप्तम अध्याय में] राजा के सम्पूर्ण धर्म को और [अष्टम अध्याय में] विवादपदों के (मुकदमों के) निर्णय को भी (मनु ने इस शास्त्र में बताया है)॥११४॥

साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मं स्त्रीपुंसयोरपि।
विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनम्॥११५॥

साक्षियों से पूछने के विधान को, [नवम अध्याय में] स्त्री-पुरुषसम्बन्धविषयक धर्म को, दायभागसम्बद्ध धर्म को, द्यूत (जुए) से सम्बद्ध धर्म को और चोर इत्यादि राष्ट्रकण्टकों के निवारण से सम्बद्ध धर्म को भी (मनु ने इस शास्त्र में बताया है)॥११५॥

वैश्यशूद्रोपचारं च सङ्कीर्णानां च सम्भवम्।
आपद्धर्मं च वर्णानां प्रायश्चित्तविधिं तथा॥११६॥

वैश्यों के और शूद्रों के धर्म को, [दशम अध्याय में] सङ्कीर्ण जातियों की उत्पत्ति को, [एकादश अध्याय में] वर्णों के आपत्काल के धर्म को और प्रायश्चित्त-विधि को भी (मनु ने इस शास्त्र में बताया है)॥११६॥

संसारगमनं चैव त्रिविधं कर्मसम्भवम्।
निःश्रेयसं कर्मणां च गुणदोषपरीक्षणम्॥११७॥

[द्वादश अध्याय में] कर्म के अनुसार संसार में प्राप्य तीन प्रकार की गति को, मोक्षदायक कर्म को, कर्मों के गुण-दोषों के परीक्षण को भी (मनु ने इस शास्त्र में बताया है)॥११७॥

देशधर्माञ् जातिधर्मान् कुलधर्मांश् च शाश्वतान्।
पाषण्डगणधर्मांश् च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान् मनुः॥११८॥

देशों के धर्मों को, जातियों के धर्मों को, कुल के सनातन धर्मों को, पाषण्ड-धर्मों को, वणिक् इत्यादि के समूहरूप गणों के धर्मों को भी मनु ने इस शास्त्र में बताया है॥११८॥

यथेदमुक्तवाञ् छास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर् मया।
तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान् निबोधत॥११९॥

॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां प्रथमोऽध्यायः॥१॥

मुझ से पूछे गए मनु महाराज ने पुराकाल में जिस प्रकार इस शास्त्र को बताया उसी प्रकार इस शास्त्र को आज आप लोग भी मुझ से (भृगु से) जानिए॥११९॥

॥ इस प्रकार कौण्डिन्न्यायनाऽऽचार्य-शिवराजशर्मा द्विजोत्तम से किए गए मनुस्मृति के हिन्दी अनुवाद तथा विशेष व्याख्या में प्रथम अध्याय पूर्ण हुआ॥१॥

❁

अथ द्वितीयोऽध्यायः

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर् नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाऽभ्यनुज्ञातो यो धर्मस् तं निबोधत॥१॥

हिन्दी—

मनुस्मृतेर् द्वितीयेऽत्राऽध्याये भाषार्थ उच्यते।
कुल्लूकोक्तार्थमादाय शिवाख्येन द्विजन्मना॥

राग-द्वेष से रहित सज्जन विद्वानों से सदाकाल पालित और हृदय से अनुमोदित जो धर्म है उसको जानिए॥१॥

कामाऽऽत्मता न प्रशस्ता न चैवेहाऽस्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाऽधिगमः कर्मयोगश् च वैदिकः॥२॥

कामनाशीलता प्रशंसनीय नहीं है, इस जगत् में कामनाशून्यता भी नहीं हो सकती है; क्योंकि वेद का अध्ययन काम्य ही है और वेद से बताए गए यागादि कर्मों का अनुष्ठान भी काम्य ही है।

विशेष— यहाँ पर काम्य का अर्थ सामान्यतया कामनामूलक है, नित्य-नैमित्तिक-काम्य कर्मों में से काम्य जैसा फलविशेष की इच्छा से किया जाने वाला ऐच्छिक है वैसा ऐच्छिक नहीं है, वेदाध्ययन नित्य है॥२॥

सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः।
व्रतानि यमधर्माश् च सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः॥३॥

कामना फल के चिन्तन से आने वाली है, यज्ञ भी फल के चिन्तन से ही होने वाले हैं, व्रत और यमरूप धर्म भी (मनु.४।२०४) सभी कृत्य फल के चिन्तन से ही होने वाले समझे गए हैं॥३॥

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद् धि कुरुते किञ्चित् तत्तत् कामस्य चेष्टितम्॥४॥

इस जगत् में कामना से रहित प्राणी की कोई भी क्रिया कभी भी नहीं दिखाई देती है, प्राणी जो-जो करता है वह सब कामना की ही क्रिया है॥४॥

तेषु सम्यग् वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम्।
यथासङ्कल्पितांश् चेह सर्वान् कामान् समश्नुते॥५॥

वेदाध्ययन इत्यादि कर्मों में ठीक प्रकार से प्रवृत्त मनुष्य स्वर्गलोक प्राप्त करने वाला हो जाता है, इस लोक में भी अपने चिन्तन के अनुसार सभी ईप्सित फलों को प्राप्त करता है॥५॥

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश् चैव साधूनामात्मनस् तुष्टिरेव च॥६॥

सम्पूर्ण (मन्त्रब्राह्मणात्मक) वेद, सम्पूर्ण वेद को जानने वाले मुनिजनों की स्मृति तथा वेदप्रियत्व इत्यादि स्वभाव, सज्जनों का आचार और (वैकल्पिक विधानों में) अपने हृदय की परितुष्टि भी धर्म के मूल हैं, अर्थात् धर्म के ज्ञापक प्रमाण हैं॥६॥

यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥७॥

किसी का जो कोई भी धर्म मनु ने बताया है वह सब वेद में बताया गया है, क्योंकि मनु सम्पूर्ण वेदों के ज्ञान से पूर्ण हैं॥७॥

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै॥८॥

ज्ञानचक्षु से इन सब बातों को भलीभाँती देखकर विद्वान् पुरुष मुख्य रूप से वेद के प्रामाण्य को अपनाकर अपने धर्म के आचरण में संलग्न होवे॥८॥

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चाऽनुत्तमं सुखम्॥९॥

वेदों से और स्मृतियों से विहित धर्म का आचरण करता हुआ मनुष्य ही इस लोक में कीर्ति प्राप्त करता है और परलोक में भी सर्वोत्तम सुख प्राप्त करता है॥९॥

श्रुतिस् तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥१०॥

श्रुति कहने से वेद समझा जाना चाहिए, स्मृति कहने से धर्मशास्त्र समझा जाना चाहिए। धर्म से सम्बद्ध सभी विषयों में वे (श्रुति-स्मृति) युक्तियुक्त हैं अथवा नहीं इस प्रकार की विचारणा के विषय नहीं बनाई जानी चाहिए, क्योंकि धर्म उन्ही से पूर्ण रूप से प्रकाशित हुआ है॥१०॥

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राऽऽश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर् बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥११॥

जो द्विजाति वेदनिरपेक्ष तर्कशास्त्र के आश्रयण से उन धर्म के मूलों का (श्रुति-स्मृतियों का) अपमान करता है वह वेद की निन्दा करने वाला नास्तिक धार्मिक सज्जनों से श्रौत-स्मार्त धर्मकृत्यों में अपने समुदाय से बाहर निकाला जाना चाहिए।

विशेष– धर्म और मोक्ष केवल लौकिक तर्क का अथवा स्थूल बुद्धि का गम्य (बोध्य) नहीं है। अतः धर्म के ज्ञान के लिए वेद का और स्मृति का आश्रय लेना ही चाहिए। जो इस बात को न मानकर वेद का और स्मृति का अनादर करता है उस नास्तिक को वेद के और स्मृति के अनुयायी श्रद्धालु लोगों से अपने धर्मकृत्य में सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए, उक्त प्रकार के लोगों को धर्मकृत्य में सम्मिलित करने से धर्म का गौरव जाता रहेगा, यह इस वचन का तात्पर्य है॥११॥

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच् चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥१२॥

वेद, स्मृति, सदाचार और [वैकल्पिक धार्मिक विधानों में] अपने मन की परितुष्टि इन चार प्रकार के लक्षणों को धर्मज्ञ मुनिजन धर्म का प्रत्यक्ष लक्षण बताते हैं॥१२॥

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥१३॥

धनोपार्जन में और कामोपभोग में अत्यासक्ति से रहित जनों के लिए धर्मज्ञान कर्तव्य रूप में उपदिष्ट किया जाता है। धर्म को जानने की इच्छा करने वालों के लिए धर्मज्ञान का मुख्य साधन (धर्म में मुख्य अथवा परम प्रमाण) वेद है।

विशेष– जिस की अर्थ में (धन में) और लौकिक सुखभोग में अत्यन्त आसक्ति है उसको धर्म का उपदेश देने से किसी को भी कोई लाभ नहीं होता है, अतः वैसे व्यक्तियों को धर्म का उपदेश नहीं देना चाहिए, यह ग्रन्थ भी वैसे व्यक्तियों के लिए नहीं है। वस्तुतः जो धर्म को समझकर यथाशक्ति आचरण करना चाहता है उसके लिए ही यह ग्रन्थ है, यह तात्पर्य है। पण्डित गङ्गाधर शास्त्री ने अलिविलासि-संलाप नाम के ग्रन्थ में कहा है– **"तत्रैहलौकिकसुखार्थिषु दण्डनीतिर् वार्तेति शास्त्रयुगलं गुरुणोपदेश्यम्। यः पारलौकिकमभीप्सति शर्म धर्मं त्रय्या प्रबोधयति तं कृपया महेशः"**॥१३॥

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः॥१४॥

जिस विषय में वेद में परस्पर-समन्वयरहित दो पक्ष हों वहाँ दोनों पक्ष धर्म समझे गए हैं, क्योंकि धर्मज्ञ लोगों से वे दोनों ही धर्म के रूप में विचारपूर्वक निश्चय करके बताए गए हैं॥१४॥

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥१५॥

सूर्य उदित होने पर, सूर्य उदित होने से पूर्व नक्षत्रदर्शनकाल में और समयाध्युषित काल में (सूर्य-नक्षत्रदर्शनरहित सन्निहितसूर्योदयक काल में) भी सर्वथा यज्ञ (अग्निहोत्रहोम) होता है, यह वैदिक श्रुति है॥१५॥

निषेकाऽऽदिश्मशानाऽन्तो मन्त्रैर् यस्योदितो विधिः।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन् ज्ञेयो नाऽन्यस्य कस्यचित् ॥१६॥

प्रजनन के लिए बीज-सेचन (गर्भाधान) से लेकर शवसंस्कार तक जिस वर्ण का मन्त्रों से युक्त विधान श्रुति-स्मृति में बताया गया है उस वर्ण का इस शास्त्र के अध्ययन में अधिकार जानना चाहिए, अन्य किसी का भी इस शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन में अधिकार नहीं।

विशेष— यहाँ 'अधिकार नहीं' इसका विशेष अर्थ 'अध्ययन-अध्यापन से पुण्यप्राप्ति नहीं होगी' यह है॥१६॥

सरस्वतीदृषद्वत्योर् देवनद्योर् यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥१७॥

सरस्वती और दृषद्वती नाम की देवयोग्य नदियों के मध्य का जो देश है, देवताओं से बनाए गए उस देश को (धर्मज्ञ मुनिलोग) ब्रह्मावर्त कहते हैं।

विशेष— वेदोल्लिखित सरस्वती नदी लुप्त हो गई है (वातावरणपरिवर्तन से सूख गई है), दृषद्वती का परिचय भी अप्राप्त है। प्राचीन काल में ये नदियाँ कुरुक्षेत्र के समीप में थीं॥१७॥

तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां साऽन्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥१८॥

उस देश में अनादि पितापुत्र-गुरुशिष्यादि-परम्परा के क्रम से चला आया हुआ जो ब्राह्मणादि वर्णों का और मूर्धावसिक्तादि अन्तरालजों का आचार है वह सदाचार कहा जाता है॥१८॥

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश् च पञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥१९॥

कुरुक्षेत्रदेश, मत्स्यदेश, पञ्चालदेश, शूरसेनदेश इन देशों का समुदाय ब्रह्मर्षिदेश कहा जाता है और यह देश ब्रह्मावर्तदेश से धार्मिकदृष्टि से दूसरी कक्षा का देश है॥१९॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वंस्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥२०॥

इन देशों में जन्मे हुए ब्राह्मण के पास से सम्पूर्ण पृथ्वी (भूमण्डल) में सभी मनुष्य अपना-अपना आचार सीखें।

विशेष— यहाँ पर पृथिवीलोक में जो जितने मानव हैं वे सब इस देश के योनि-विद्या-तपःपूत (जन्म, विद्या और तपस्या से पवित्र हुए) ब्राह्मण से सुख-शान्तिपूर्ण जीवनयात्रा के लिए और पारमार्थिक उन्नति के लिए समुचित आत्मोचित चारित्रशिक्षा लें, इस से सभी लोगों का कल्याण होगा, यह इस वचन का तात्पर्यार्थ है। यहाँ पर अग्रजन्म शब्द से साधारण जातिब्राह्मण को लेकर इस कथन का अनौचित्य दिखाने के लिए जो लोग प्रयास करते हैं वह सब तात्पर्य समझ न सकने का परिणाम है॥२०॥

हिमवद्-विन्ध्ययोर् मध्यं यत् प्राग् विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच् च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥२१॥

हिमालय पर्वत के और विन्ध्याचल के मध्य में और सरस्वती नदी के अन्तर्धान के देश से पूर्वभाग में तथा प्रयाग से पश्चिम भाग में रहा हुआ जो देश है वह मध्य-देश कहा गया है॥२१॥

आ समुद्रात् तु वै पूर्वादा समुद्राच् च पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर् बुधाः ॥२२॥

पूर्वसमुद्र से पश्चिम समुद्रतक उन ही पर्वतों के (हिमालय और विन्ध्य के) बीच के देश को धर्मदेश को जानने वाले लोग आर्यावर्तदेश के रूप में जानते हैं॥२२॥

कृष्णसारस् तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस् त्वतः परः ॥२३॥

जिस देश में स्वभाव से ही (प्रकृतिप्राप्त रूप से ही) कृष्णसार जाति का मृग विचरण करता है उस देश को श्रौत-स्मार्त-यज्ञों के लिए समुचित देश जानना चाहिए, उस से भिन्न देश को म्लेच्छदेश जानना चाहिए॥२३॥

एतान् द्विजातयो देशान् संश्रयेरन् प्रयत्नतः।
शूद्रस् तु यस्मिन् कस्मिन् वा निवसेद् वृत्तिकर्शितः ॥२४॥

द्विज लोग (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य) इन देशों का (ब्रह्मावर्तादि आर्यावर्तान्त देशों का) निवास के लिए प्रयत्नपूर्वक आश्रयण करें, वृत्तिकार्श्य से पीडित शूद्र तो जिस किसी देश में भी निवास करे।

विशेष– इस देश की विशेषता से यही देश वैदिक यज्ञ के लिए योग्य माना गया है। जहाँ पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों की व्यवस्था नहीं है वहाँ ब्राह्मणों की धर्म-संस्कृति-परम्परा की पालना नहीं हो सकती है और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों के प्रति सन्तुलित दृष्टि रखकर चलाई जाने वाली जीवनयात्रा नहीं चल सकती है। तब यज्ञ भी लुप्त होते ही हैं। यज्ञ में गर्भित होकर सुरक्षित वेदार्थ भी लुप्त होता है। तब वैदिक आर्यों का सर्वस्व ही नष्ट होता है। इस लिए द्विजातियों को इसी देश में रहने की शास्त्र की आज्ञा है। वेद में भी **"न जनमियान् नाऽन्तमियात्"** (शतपथब्राह्मण १४।४।१।११, बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।१०) इस वाक्य से (भारतवर्ष से बाहर) म्लेच्छदेश में जाना मन्हा ही किया गया है। विष्णुधर्मसूत्र में भी **"न गच्छेन् म्लेच्छविषयम्"** (८४।२) इस वाक्य से और शङ्खस्मृति में भी **"म्लेच्छदेशे न च व्रजेत्"** (१४।३०) इस वाक्य से म्लेच्छदेशयात्रा का निषेध किया गया है। ब्रह्माण्डपुराण में भी **"सिन्धोरुत्तरपर्यन्तं तथोदीच्यतरं नरः। पापदेशाश् च ये के चित् पापैरध्युषिता जनैः॥ शिष्टैस् तु वर्जिता ये वै ब्राह्मणैर् वेदपारगैः। गच्छतां रागसम्मोहात् तेषां पापं न गच्छति"** ऐसे वाक्य से (३।१४।८१,८२) म्लेच्छदेशगमन सर्वथा वर्जनीय बताया गया है। इस विषय का भारतवर्षीय राष्ट्रियता की और देशभक्ति की दृष्टि से भी अतुलनीय महत्त्व है। समुद्रपार-म्लेच्छदेशगमन के विषय में **अब्धिनौयानमीमांसा** (मुम्बयी, १९५९ वै.) **विदेशयात्रा, शास्त्रीय पक्ष** (करपात्री, अखिलभारतीय धर्मसङ्घ, दुर्गा-कुण्ड, वाराणसी [१९७२ क्रैस्ताब्द के अक्तूबर ९–१५ के हैदरावादशास्त्रार्थ के विवरण से युक्त]), **काशिनिवासिभिर् विद्वद्भिर् ब्राह्मणैर् दत्ता भारतवर्षबहिर्गमन-विदेशिविधर्मि-सहवास-सहभोजनादिदुरित-प्रायश्चित्तव्यवस्था** (२०४९ वै., स्वाद्ध्याय-शाला, १६८, शिवभक्तमार्ग, लाजिम्पाट्, काठमाण्डु महानगर–२, नेपाल, ००९७७–१–४४३३३२७, svadhyaya@hotmail.com), **पातित्यपेटिका** (कमलाकान्त त्रिपाठी, सं.सं.वि.वि., वाराणसी, २०६३ वै.) इत्यादि ग्रन्थ भी अर्वाचीन काल में प्रकाशित पाए जाते हैं। अतः कोई बाध्यतावश म्लेच्छदेश जाता है तो उसको लौटकर शास्त्रीय विधि से प्रायश्चित्त करके शुद्ध होना आवश्यक है।।२४।।

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता।
सम्भवश चाऽस्य सर्वस्य वर्णधर्मान् निबोधत ॥२५॥

यह धर्म के ज्ञान का कारण सङ्क्षेप में आप लोगों को बताया गया। इस सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति भी बताई गई। अब वर्णों के धर्मों को जानिए॥२५॥

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर् निषेकादिर् द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥२६॥

ब्राह्मणादि वर्णों का इस लोक में और परलोक में भी पवित्र करने वाला निषेकादि शरीर-संस्कार पवित्र वैदिक कर्मों से किया जाना चाहिए॥२६॥

गार्भैर् होमैर् जातकर्म-चौड-मौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥२७॥

गर्भावस्था में किए जाने वाले संस्कारों से, होमों से और जातकर्म, चूडाकरण, मौञ्जीबन्धन (उपनयन) संस्कारों से द्विजातियों के बीज से आए हुए और गर्भ से आए हुए दोष भी हटाए जाते हैं॥२७॥

स्वाध्यायेन व्रतैर् होमैस् त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश् च यज्ञैश् च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥२८॥

स्वशाखावेद के अध्ययन से, श्रुति-स्मृति-विहित नियमों के पालन से, सायम्प्रातर्होमों से, ऋग्-यजुः-साम तीनों वेदों के ज्ञान से, गृह्ययज्ञों से, पुत्रों से, ब्रह्मयज्ञ-देवयज्ञ-भूतयज्ञादि (पञ्च)महायज्ञों से और अग्निष्टोमसोमयागादि यज्ञों से भी द्विजाति का यह शरीर ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति के लिए योग्य बनाया जाता है॥२८॥

प्राङ् नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते।
मन्त्रवत् प्राशनं चाऽस्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्॥२९॥

नाभि के छेदन से पहले ही पुरुष का जातकर्म किया जाता है, इसको मन्त्रोच्चारणपूर्वक सोना-मधु-घी का प्राशन भी कराया जाता है।

विशेष— मधु और घी को सोने के उपकरण से रगडने से उसमें सोने के अतिसूक्ष्म कुछ कण मिल जाएंगे। इस से सोने का भी प्राशन हो जाएगा॥२९॥

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत्।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणाऽन्विते॥३०॥

इसका जन्म से दशम दिन में अथवा बारहवें दिन में नामकरण कराए, अथवा उसके बाद शुभ तिथि में शुभ मुहूर्त में अथवा गुणयुक्त शुभ नक्षत्र में इसका नामकरण कराए।

विशेष— सभी संस्कारकर्म अपने-अपने गृह्यसूत्र के निर्देश से होते हैं। उन संस्कारों का काल भी स्ववेदशाखागृह्यसूत्र में विहित काल ही ग्राह्य होता है। वैदिक परम्परा में शुभकर्मों के लिए शुभ तिथि शुभ नक्षत्र और शुभ महूर्त ही आवश्यक माने गए हैं। इन का ही मूल वैदिक वाङ्मय में उल्लेख मिलता है। मेषादि राशियों का, मेषादिराशिमूलक लग्नों का और आदित्यवारादि वारों का तो मन्त्र, ब्राह्मण, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, मनुस्मृति, महाभारत इत्यादि वैदिक वाङ्मय में कोई उल्लेख नहीं मिलता है, महाभारत में एक स्थल में राशि का उल्लेख जो मिलता है वह प्रक्षिप्त अवगत होता है, क्योंकि वह अंश पुणे के शोधसंस्करण में नहीं मिलता है॥३०॥

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्रियस्य बलाऽन्वितम्।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्॥३१॥

ब्राह्मण का नाम मङ्गल के वाचक शब्द से युक्त, क्षत्रिय का नाम बल के वाचक शब्द से युक्त, वैश्य का नाम धन के वाचक शब्द से युक्त और शूद्र का नाम रक्षणीयता वा करुणाविषयता के वाचक शब्द से युक्त हो।

विशेष— जुगुप्सा शब्द का मूल यौगिक अर्थ रक्षा करने की इच्छा होने से जुगुप्साशब्द का अर्थ करुणा होता है, करुणाभाव रक्षणीयता की बुद्धि से ही उभर आता है॥३१॥

शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्याद् राज्ञो रक्षासमन्वितम्।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रैष्यसंयुतम्॥३२॥

ब्राह्मण का नाम शर्मशब्द से युक्त हो, क्षत्रिय का नाम रक्षावाचक शब्द से युक्त हो, वैश्य का नाम पुष्टिवाचक शब्द से युक्त हो और शूद्र का नाम प्रैष्यवाचक (सेवकत्ववाचक) शब्द से युक्त हो।

विशेष— उदाहरण क्रमशः शुभशर्मा, बलवर्मा, वसुभूति, दीनदास हैं। यहाँ दास का अर्थ 'देने वाला, अपने को मान्यजन की सेवा में न्यौछावर कर देने वाला' है। 'दासृ दाने' इस धातु से दासशब्द की निष्पत्ति मानी जाती है॥३२॥

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टाऽर्थं मनोहरम्।
मङ्गल्यं दीर्घवर्णाऽन्तमाशीर्वादाऽभिधानवत्॥३३॥

स्त्रियों का नाम सरलता से उच्चारणीय, अकठोर, स्पष्ट अर्थ से युक्त, मनोहर, मङ्गलसूचक, अन्त में दीर्घ स्वर से युक्त, आशीर्वाद को बताने वाले शब्द से युक्त हो॥३३॥

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर् निष्क्रमणं गृहात्।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले॥३४॥

शिशु का निष्क्रमणिका संस्कार (घर से निकलने का संस्कार) चौथे महीने में किया जाना चाहिए, अन्नप्राशन संस्कार छठे महीने में किया जाना चाहिए। अथवा कुल में जो संस्कार जिस समय इष्ट मानने की कुलपरम्परा हैं उस संस्कार को उसी समय में किया जाना चाहिए॥३४॥

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात्॥३५॥

द्विजातियों का (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों का) सभी का ही धर्मार्थ चूडाकर्म-संस्कार वेद के विधान से शिशु के जन्म के प्रथम वर्ष में अथवा तृतीय वर्ष में किया जाना चाहिए॥३५॥

गर्भाऽष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात् तु द्वादशे विशः॥३६॥

गर्भ में रहने के समय से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन (यज्ञोपवीत-संस्कार) करे, गर्भ में रहने से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय का उपनयन करे और वैश्य का तो गर्भ में रहने से बारहवें वर्ष में उपनयन करे॥३६॥

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहाऽर्थिनोऽष्टमे॥३७॥

अध्ययन की और चरित्र की समृद्धि (ब्रह्मवर्चस) की कामना करने वाले ब्राह्मण का उपनयन पाँचवें वर्ष में किया जाना चाहिए, बल की कामना करने वाले क्षत्रिय का उपनयन छठे वर्ष में किया जाना चाहिए और धनार्जनादि में अधिक चेष्टा करने की इच्छा रखने वाले वैश्य का उपनयन आठवें वर्ष में किया जाना चाहिए॥३७॥

आ षोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नाऽतिवर्तते।
आ द्वाविंशात् क्षत्रबन्धोरा चतुर्विंशतेर् विशः॥३८॥

ब्राह्मण के लिए सोलहवें वर्ष तक सावित्रीग्रहणप्रधान उपनयन अतिक्रान्तकालदूषित नहीं होता है, क्षत्रिय के लिए बाईसवें वर्षतक सावित्रीग्रहणप्रधान उपनयन अतिक्रान्तकालदूषित नहीं होता है, वैश्य के लिए चौबीसवें वर्षतक सावित्रीग्रहणप्रधान उपनयन अतिक्रान्तकालदूषित नहीं होता है॥३८॥

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः॥३९॥

अपने-अपने काल में संस्कृत न होने वाले ये तीनों वर्ण इस अवधि के ऊपर सावित्री से भ्रष्ट और शिष्टों से निन्दित व्रात्य हो जाते हैं॥३९॥

नैतैरपूतैर् विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित्।
ब्राह्मान् यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद् ब्राह्मणः सह॥४०॥

शास्त्र-विधान के अनुसार व्रात्यताशुद्धि न करने वाले इन व्रात्य लोगों से आपत्काल में भी कभी भी वेदाध्ययनाऽध्यापनादिरूप ब्राह्म सम्बन्ध और कन्यादान-कन्याग्रहणरूप यौन सम्बन्ध भी ब्राह्मण न करे॥४०॥

कार्ष्ण-रौरव-बास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाण-क्षौमा-ऽऽविकानि च॥४१॥

ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्मचारी क्रम से कृष्णसारमृग के, रुरुमृग के और बकरे के चमडे को तथा सन के बने, क्षुमा के बने और भेड के वाल के बने वस्त्रों को पहनें॥४१॥

मौञ्जी त्रिवृत् समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी॥४२॥

ब्राह्मण ब्रह्मचारी की मेखला (कटिबन्धनी) मूँज की तिगुनी बराबर और चिकनी बनाई जानी चाहिए, क्षत्रिय ब्रह्मचारी की मेखला मूर्वा की ज्या (धनुष की डोरी) बनाई जानी चाहिए, वैश्य ब्रह्मचारी की मेखला सन की तन्तुओं से निर्मित रस्सी से बनाई जानी चाहिए॥४२॥

मुञ्जाऽलाभे तु कर्तव्याः कुशा-ऽश्मन्तक-बल्वजैः।
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा॥४३॥

मूँज इत्यादि उक्त वस्तु नहीं मिलने पर ब्राह्मणादि ब्रह्मचारियों की मेखला क्रमशः कुश, अश्मन्तक, बल्वज (बबई) इन से बनी और त्रिगुणित एक ग्रन्थि से अथवा तीन ग्रन्थियों से अथवा पाँच ग्रन्थियों से युक्त बनाई जानी चाहिए॥४३॥

कार्पाससमुपवीतं स्याद् विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत्।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याऽऽविकसौत्रिकम्॥४४॥

ब्राह्मण का उपवीत (जनेऊ) कपास से बना, ऊपर की ओर घुमाकर बनाया गया, तिगुना हो, क्षत्रिय का उपवीत सन के सूत का बना हो, वैश्य का उपवीत भेड के वाल से बने सूत्रों से बना हो।

विशेष– इस प्रकार बने हुए यज्ञोपवीत का अभिमन्त्रण करके धारण करने का विधान है। यज्ञोपवीत का अभिमन्त्रण अपनीअपनी शाखा की पद्धति से होता है। कातीयपरिशिष्ट और भारद्वाजस्मृति के अनुसार यज्ञोपवीत के अभिमन्त्रण की पद्धति को हमारे **वैदिक-मन्त्र-सङ्ग्रह** (२०५२ वै.) के परिशिष्ट में (पृ.११२–११४) देखें॥४४॥

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥४५॥

धर्म के लिए ब्राह्मण वेल का अथवा ढाक का दण्ड लेने के लिए योग्य होता है, क्षत्रिय वरगद का अथवा खैर का दण्ड लेने के लिए योग्य होता है, वैश्य अखरोट का अथवा गूलर का दण्ड लेने के लिए योग्य होता है॥४५॥

केशाऽन्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः।
ललाटसम्मितो राज्ञः स्यात् तु नासाऽन्तिको विशः ॥४६॥

लम्बाई के दृष्टि से ब्राह्मण का दण्ड उठाने पर केश तक पहुँचने वाला बनाया जाना चाहिए, क्षत्रिय का दण्ड ललाट तक पहुँचने वाला बनाया जाना चाहिए, वैश्य का दण्ड नाक तक पहुँचने वाला बनाया जाना चाहिए॥४६॥

ऋजवस् ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः।
अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचोऽनग्निदूषिताः ॥४७॥

वे सभी दण्ड सीधे, क्षत से रहित, देखने में सौम्य, मनुष्यों में उद्वेग उत्पन्न न करने वाले, छिलकों से सहित और अग्नि से अदग्ध हों॥४७॥

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम्।
प्रदक्षिणं परीत्याऽग्निं चरेद् भैक्षं यथाविधि ॥४८॥

ब्रह्मचारी विहित इष्ट दण्ड लेकर, सूर्य का उपस्थान करके और परिचरणीय अग्नि की प्रदक्षिणा भी करके शास्त्रविधानाऽनुसार भिक्षायाचन-कार्य करे॥४८॥

भवत्पूर्वं चरेद् भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः।
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस् तु भवदुत्तरम् ॥४९॥

उपनयनसंस्कार से युक्त ब्राह्मण ब्रह्मचारी भिक्षायाचनवाक्य में पहले भवत्-शब्द का प्रयोग करके ('भवति भिक्षां देहि' ऐसा वाक्य प्रयुक्त करके) भिक्षायाचन-

कार्य करे, क्षत्रिय ब्रह्मचारी तो भिक्षायाचनवाक्य में बीच में भवत्शब्द का प्रयोग करके (**'भिक्षां भवति देहि'** ऐसा वाक्य प्रयुक्त करके) भिक्षायाचनकार्य करे, वैश्य ब्रह्मचारी तो भिक्षायाचनवाक्य में अन्त में भवत्शब्द का प्रयोग करके (**'भिक्षां देहि भवति'** ऐसा वाक्य प्रयुक्त करके) भिक्षायाचन का कार्य करे॥४९॥

मातरं वा स्वसारं वा मातुर् वा भगिनीं निजाम्।
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नाऽवमानयेत्॥५०॥

माँ से अथवा बडी बहन से अथवा माँ की अपनी बहन से और जो प्रस्तुत ब्रह्मचारी का अपमान न करे उस से पहले भिक्षा माँगे॥५०॥

समाहृत्य तु तद् भैक्षं यावदन्नममायया।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः॥५१॥

उस भिक्षानिचय को गुरुगृह में लाकर जो जितना अन्न है उसको विना कपट गुरु को सुविदित कराके (गुरु की आज्ञा से) पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठकर आचमन करके शुद्ध होकर उस अन्न को खाए।

विशेष— रास्ते में चलकर लाया हुआ भी भिक्षान्न भोज्य ही माना जाता है॥५१॥

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः।
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः॥५२॥

खाने वाला पूर्व की ओर मुख करके खाता है तो वह अन्न आयु बढाने वाला होता है, दक्षिण की ओर मुख करके खाता है तो वह अन्न यश को बढाने वाला होता है, पश्चिम की ओर मुख करके खाता है तो वह अन्न सम्पत्ति को बढाने वाला होता है, उत्तर की ओर मुख करके खाता है तो वह अन्न सत्य को (सत्यपालन के फल को) बढाने वाला होता है॥५२॥

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात् समाहितः।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत् सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत्॥५३॥

द्विजाति सदाकाल सावधान होकर आचमन करके अन्न खाए, खाने के बाद भी आचमन करे और शास्त्रविधान के अनुसार जल से शिर के मुखादि छिद्रों का स्पर्श भी सदा करे॥५३॥

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः॥५४॥

खाने वाला सदाकाल भोज्य अन्न की अभिमन्त्रणादि से पूजा करे, भोज्य अन्न की निन्दा नहीं करता हुआ खाए, भोज्य अन्न को देखकर हर्षित हो, प्रसन्न हो और सब अन्न की वन्दना भी करे॥५४॥

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।
अपूजितं तु तद् भुक्तमुभयं नाशयेदिदम्॥५५॥

पूजित भोज्य अन्न सदा बल और तेज देता है, और अपूजित (अनादृत) रूप में खाया हुआ वह अन्न तो बल और तेज दोनों को नष्ट कर सकता है॥५५॥

नोच्छिष्टं कस्यचिद् दद्यान् नाऽद्याच् चैव तथाऽन्तरा।
न चैवाऽत्यशनं कुर्यान् न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत्॥५६॥

भोजन से अवशिष्ट भोज्य पदार्थ को किसी को भी न दे, सुबह-शाम के भोजन के बीच में न खाए, ज्यादा भोजन भी न करे, उच्छिष्ट ही रहकर (हस्तमुख-प्रक्षालन किए विना) कहीं न जाए॥५६॥

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चाऽतिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात् तत् परिवर्जयेत्॥५७॥

ज्यादा भोजन करना आरोग्य के लिए हितकर नहीं होता है, आयुष्य के लिए भी हितकर नहीं होता है, स्वर्गप्राप्ति के लिए भी हितकर नहीं होता है, ज्यादा भोजन करना पवित्रता का विरोधी और लोकद्वारा निन्दित भी है, इस लिए उसको छोड दे॥५७॥

ब्राह्मेण विप्रस् तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत्।
काय-त्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन॥५८॥

ब्राह्मण सदाकाल ब्राह्म तीर्थ से अथवा प्राजापत्य तीर्थ से अथवा दैव तीर्थ से आचमन करे, पित्र्य तीर्थ से कभी भी आचमन न करे॥५८॥

अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते।
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः॥५९॥

हाथ के अंगूठे के मूल के समीप में करतल में धर्मज्ञ मुनि लोग ब्राह्म तीर्थ बताते हैं, कानी उंगली के मूल में प्राजापत्य तीर्थ बताते हैं, उंगलियों के अग्रभाग में दैव तीर्थ बताते है, और उनके (अंगूठे और उंगलियों के नीचे बीच में) पित्र्य तीर्थ बताते हैं॥५९॥

**त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात् ततो मुखम्।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥६०॥**

पहले तीन वार (उक्त तीर्थों से) जल पिए और उसके बाद दो वार मुख को पोंछे, जल से (शिर के) छिद्रों को, मध्यकाय को (हृदयस्थल को) और शिर को भी छूवे॥६०॥

**अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस् तीर्थेन धर्मवित्।
शौचेप्सुः सर्वदाऽऽचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः ॥६१॥**

शुद्ध होने की इच्छा करने वाला और धर्म को जानने वाला मनुष्य सर्वदा एकान्त में पूर्व की ओर अथवा उत्तर की ओर (अथवा ऐशानी दिशा की ओर) मुख करके बैठकर विहित तीर्थ से विना तपाए हुए और झाग से रहित जल से आचमन करे।

विशेष– व्याधि इत्यादि कारण होने पर तो उष्ण जल से भी आचमन किया जा सकता है॥६१॥

**हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस् तु भूमिपः।
वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस् तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ॥६२॥**

ब्राह्मण आचमन में हृदयदेश तक पहुँचने वाली जल की मात्रा से शुद्ध होता है, क्षत्रिय कण्ठ तक पहुँचने वाली जल की मात्रा से शुद्ध होता है, वैश्य मुख तक पहुँचने वाली जल की मात्रा से शुद्ध होता है, और शूद्र होठों के प्रान्तो से छुई हुई जल की मात्रा से ही शुद्ध होता है॥६२॥

**उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः।
सव्ये प्राचीनआवीती निवीती कण्ठसज्जने ॥६३॥**

उत्तरीय से अथवा जनेऊ से दाहिने हाथ को बाहर करने पर द्विजाति उपवीती कहा जाता है, बायें हाथ को बाहर करने पर प्राचीनावीती कहा जाता है, और दोनों हाथों को बाहर करके केवल कण्ठ से ही उत्तरीय को अथवा जनेऊ को अवलम्बित करने पर निवीती कहा जाता है।

विशेष– अर्वाचीन ग्रन्थों में उपवीती को सव्य और प्राचीनावीती को अपसव्य भी कहा गया है॥६३॥

**मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम्।
अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृहीताऽन्यानि मन्त्रवत् ॥६४॥**

मेखला को चर्म को दण्ड को जनेऊ को और कमण्डलु को भी विकृत होने पर जल में फेंककर तत्-तत् मन्त्र का उच्चारण करके दूसरे मेखलादि को लेले॥६४॥

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्यबन्धोर् द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥६५॥

ब्राह्मण का केशान्तसंस्कार (मुण्डनसंस्कारविशेष) सोलहवें वर्ष में किया जाता है, क्षत्रिय का बाईसवें वर्ष में और वैश्य का उस से दो वर्ष ज्यादा (चौबीसवें) वर्ष में केशान्तसंस्कार किया जाता है॥६५॥

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥६६॥

शरीर के संस्कार के लिए उक्त काल के अनुसार और उक्त क्रम के अनुसार ही यह सम्पूर्ण संस्कारक्रिया स्त्रियों का (कन्याओं का) तो वेदमन्त्रप्रयोग से रहित रूप में की जानी चाहिए।

विशेष— यहाँ पर याज्ञवल्क्यस्मृति के 'तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणाम्' (१।१३) इस वाक्य से एकवाक्यता के लिए चूडाकरणान्त संस्कारों का ही परामर्श मानने की बात कोई करते हैं, किन्तु उपनयन और केशान्त से व्यवधान होने से उनका कथन अनुचित होने की बात और यम-हारीतवाक्य से एकवाक्यता से उपनयन का परामर्श भी मानने की आवश्यकता ४ सौ वर्ष प्राचीन धर्मशास्त्रनिबन्धकार मित्रमिश्र ने वीरमित्रोदय के संस्कारप्रकाश में (वाराणसीसंस्करण, पृ.४०३) दिखाई है। अत एव मनु से कन्या का उपनयन अस्वीकृत नहीं माना जा सकता है। शबरस्वामी, कुमारिलभट्ट और पार्थसारथिमिश्र भी गृह्यसूत्रवचन से कन्या का उपनयन न्यायतः प्राप्त ही मानते हैं। तब कैसे मनु गृह्यसूत्र से प्राप्त कन्या के उपनयन को अस्वीकृत करेंगे। इस विषय में जिज्ञासु सज्जन वाराणसीस्थ सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की अनुसन्धानपत्रिका सारस्वती सुषमा में (४५ वर्ष, ३-४ अङ्क) २०४७ संवत् में प्रकाशित **"द्विजातिकन्योपनयनविचारः"** नाम का प्रमाणपुष्ट निबन्ध पढ़ें॥६६॥

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥६७॥

विवाह का विधि ही स्त्रियों का वेदाध्ययनार्थक (उपनयनस्थानापन्न) संस्कार समझा गया है, उनकी पतिसेवा ही गुरुकुलवास (गुरुकुलवासस्थानापन्न) है और उनका घर का काम करना ही अग्निपरिचरण (अग्निपरिचरणस्थानापन्न) है।

विशेष— इस वचन से कन्या के विवाह को उपनयन-कार्यकारी माने जाने से मनु से कन्या का उपनयन अस्वीकृत होने की बात कोई करते हैं। हरिहरानन्द करपात्री और उनके पीछे आँख मूँदकर चलने वाले कोई और लोग भी ऐसी बात करते हैं,

किन्तु आर्यसमाजियों के १९३२ वैक्रमाब्द में मुम्बयी में प्रादुर्भाव होने से ३ सौ वर्ष प्राचीन महान् धर्मशास्त्रनिबन्ध वीरमित्रोदय के रचयिता मित्रमिश्र कहते हैं कि दूसरी स्मृति से प्रतिपादित कन्या के उपनयन के अभाव के पक्ष में विवाह को उपनयन कार्यकारी मानना चरितार्थ होता है, अतः यह वचन कन्या के उपनयन का सर्वथा अभाव का बोधक नहीं माना जा सकता है। उपनयनाभावपक्ष में भी इस वचन में गुरुकुलवास का और अग्निपरिचरण का स्थानापन्न पदार्थ ही बताए जाने से और वेदाध्ययन का स्थानापन्न पदार्थ नहीं बताए जाने से उपनयनकार्यकारी विवाह होने पर स्त्री को वेदाध्ययनादि श्रौत-स्मार्त कर्मों का अधिकार प्राप्त होता है। यद्यपि कुल्लूकभट्ट ने पतिसेवा को वेदाध्ययनस्थानापन्न कहा है, तथापि गुरुकुलवास वेदाध्ययन का वाचक न होने से और व्रतस्नातक का भी गुरुकुलवास होने से उनकी और दूसरों की भी वैसी व्याख्या ग्राह्य नहीं है। इसी लिए कुल्लूकभट्ट से प्राचीन गोविन्दराज ने मेधातिथि की व्याख्या की उपेक्षा करके **"पतिसेवा च गुरुशुश्रूषास्थाने"** इतना ही कहा है, वेदाध्ययनप्राप्ति का निवारण नहीं किया है। देवण्णभट्ट ने भी स्मृतिचन्द्रिका में **"पतिसेवा गुरुशुश्रूषा"** (प्रथम भाग, पृ.६२) इतना ही कहा है। अधिक बात ६६ श्लोक की हिन्दी में उल्लिखित **"द्विजातिकन्योपनयनविचारः"** नाम के निबन्ध में देखें॥६७॥

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः।
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः कर्मयोगं निबोधत॥६८॥

(द्वितीय) जन्म को स्पष्ट करने वाला और पवित्र यह द्विजातियों का उपनयन-सम्बद्ध विधि बताया गया, अब उपनीत द्विजाति ब्रह्मचारी का जिन कर्मों से योग होना चाहिए उन कर्मों के योग को जानिए॥६८॥

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच् छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च॥६९॥

गुरु शिष्य का उपनयन करके सर्वप्रथम उसको मूत्र-पुरीषोत्सर्ग करने पर आवश्यक शौचविधि सिखाए, स्नानादि का आचार, अग्निपरिचरण का विधान और सन्ध्योपासन भी सिखाए॥६९॥

अध्येष्यमाणस् त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः।
ब्रह्माऽञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः॥७०॥

अध्ययन करने को जा रहा जो शिष्य होता है वह तो शास्त्रविधान के अनुसार आचमन करने पर, उत्तर की ओर मुख करके बैठने पर, ब्रह्माञ्जलि करने पर, हल्के परिधान से युक्त और इन्द्रियों को वश में रखकर एकाग्र और सावधान होने पर ही अध्यापन के लिए योग्य होता है॥७०॥

ब्रह्माऽऽरम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माऽञ्जलिः स्मृतः ॥७१॥

वेद के अध्ययन के प्रारम्भ में और अन्त में भी शिष्य को नित्य ही गुरु के पैरों का उपसङ्ग्रहण करना चाहिए। हाथों को एक साथ रखकर अध्ययन करना चाहिए। अध्ययन के समय में हाथों को एक साथ रखना ही ब्रह्माञ्जलि समझा गया है॥७१॥

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसङ्ग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥७२॥

गुरु के पैरों का उपसङ्ग्रहण हाथों का एर-फेर करके करना चाहिए। शिष्य के बायें हाथ से गुरु का बायाँ पैर और शिष्य के दाहिने हाथ से गुरु का दाहिना पैर छूने योग्य है।

विशेष— यह पादग्रहण उत्तान हस्तों से करना चाहिए॥७२॥

अध्येष्यमाणं तु गुरुर् नित्यकालमतन्द्रितः।
अधीष्व भो इति ब्रूयाद् विरामोऽस्त्विति चाऽऽरमेत् ॥७३॥

अध्ययन करने जा रहे शिष्य को गुरु सदाकाल आलस्यरहित (सावधान) होता हुआ **'अधीष्व भोः'** (ए पढ़ो) कहे। अध्यापन के अन्त में **'विरामोऽस्तु'** (विश्राम हो) कहकर अध्यापन से निवृत्त हो॥७३॥

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं परस्ताच् च विशीर्यते ॥७४॥

वेद का उच्चारण करने वाला द्विजाति वेदवाक्योच्चारण के प्रारम्भ में और अन्त में भी सदाकाल प्रणव का (ओङ्कार का) प्रयोग (उच्चारण) करे, क्योंकि पहले ओङ्कार न होने से वेदाध्ययन बह जाता है और अन्त में ओङ्कार न होने से विखर जाता है॥७४॥

प्राक्कूलान् पर्युपासीनः पवित्रैश् चैव पावितः।
प्राणायामैस् त्रिभिः पूतस् तत ओङ्कारमर्हति ॥७५॥

पूर्व की ओर अग्रभाग वाले कुशों के ऊपर बैठा हुआ, पवित्रों से शुद्ध किया हुआ और तीन प्राणायामों से शुद्ध बना द्विजाति उस समय में ओङ्कार के उच्चारण के लिए योग्य होता है।

विशेष– पञ्चदश मात्रा का एक प्राणायाम होने की बात गौतमधर्मसूत्र में कही गई है॥७५॥

अकारं चाऽप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान् निरदुहद् भूर् भुवः स्वरितीति च॥७६॥

ब्रह्मा ने अकार को, उकार को और मकार को (ओम् के तीन भागों को) तथा भूः भुवः स्वः इन तीन महाव्याहृतियों को भी क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद इन तीन वेदों से निकाला॥७६॥

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादम्पादमदूदुहत्।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः॥७७॥

ब्रह्मलोक में बैठने वाले ब्रह्मा ने तीन वेदों से क्रमशः इस सवितृदेवताक 'तत् सवितुः' इत्यादि ऋचा के एक-एक पाद को निकाला॥७७॥

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
सन्ध्ययोर् वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥७८॥

प्रातःकाल के सन्ध्याकाल में और सायङ्काल के सन्ध्याकाल में इस अक्षर को (ओङ्कार को) और आदि में व्याहृतियों से युक्त इस ऋचा को भी जप करता हुआ वेदज्ञ ब्राह्मण सम्पूर्ण वेद के अध्ययन के पुण्य से युक्त होता है॥७८॥

सहस्रकृत्वस् त्वभ्यस्य बहिरेतत् त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात् त्वचेवाऽहिर् विमुच्यते॥७९॥

नगर से अथवा ग्राम से बाहर जाकर इन तीनों का (प्रणव, महाव्याहृति और सावित्री ऋक् इन का) प्रतिदिन एक हजार वार जप करके तो द्विजाति एक महीने में बडे पातक से भी काँचली से सर्प की तरह अलग हो जाता है॥७९॥

एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया।
ब्रह्म-क्षत्रिय-विड्योनिर् गर्हणां याति साधुषु॥८०॥

इस सावित्री ऋक् से और तत्तत्काल में कर्तव्य अपनी-अपनी ब्रह्मयज्ञादि क्रियाओं से भी विशेष रूप से रहित ब्राह्मण वा क्षत्रिय वा वैश्य वर्णाश्रमधर्मसाधना में संलग्न साधुजनों से निन्दा को प्राप्त करता है॥८०॥

ओङ्कारपूर्विकास् तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्॥८१॥

आदि में ओङ्कार से युक्त अविनाशी तीन महाव्याहृतियाँ (ओ३म् भूः भुवः स्वः) और तीन पादों से युक्त सवितृदेवताक ऋक् (तत् सवितुः इत्यादि) भी इन को वेद का अथवा परब्रह्म का मुख जानना चाहिए॥८१॥

योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥८२॥

जो द्विजाति आलस्यरहित होकर तीन वर्ष तक प्रतिदिन इन तीनों को (प्रणव, महाव्याहृति औ सावित्री ऋक् को) पढ़ता है वह वायु में मिलकर आकाश का जैसा स्वरूप लेकर परब्रह्म में पहुँचता है॥८२॥

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामाः परं तपः।
सावित्र्यास् तु परं नाऽस्ति मौनात् सत्यं विशिष्यते॥८३॥

एक अक्षर (प्रणव) सर्वोत्तम वेद है, तीन प्राणायाम सर्वोत्तम तपस्या है, सावित्री ऋक् से (तत् सवितुः इत्यादि से) बडा जप्य मन्त्र कोई नहीं है, मौन से सत्यभाषण विशिष्ट (बडा) होता है॥८३॥

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोति-यजतिक्रियाः।
अक्षरं त्वक्षरं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः॥८४॥

वैदिक सभी हवन-यजन क्रियाएँ फल देकर क्षीण हो जाती हैं, किन्तु प्रणवरूप अक्षर तो सभी प्रजा का पालक कभी क्षीण नहीं होने वाले ब्रह्म का प्रतिपादक होने से ब्रह्मरूप ही होने से कभी भी क्षीण नहीं होने वाला है॥८४॥

विधियज्ञाज् जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर् गुणैः।
उपांशुः स्याच् छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥८५॥

द्रव्ययज्ञरूप विधियज्ञ से वेदाध्ययनरूप जपयज्ञ दस गुना बडा है, उपांशुजप रूप जपयज्ञ सौ गुना बडा है और मानसजपरूप जपयज्ञ हजार गुना बडा समझा गया है।

विशेष— उपांशुजप कहने से वैसा जप जाना जाता है जिस में समीपस्थ जनों को भी शब्द नहीं सुनाई देता है, केवल ओष्ठचालन ही दिखाई देता है। मानसजप वह है जिस में ओष्ठचालन भी नहीं होता है, केवल मन ही मन पढ़ा जाता है॥८५॥

ये पाकयज्ञाश् चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नाऽर्हन्ति षोडशीम्॥८६॥

द्रव्ययज्ञरूप (दर्शपूर्णमासादि-)विधियज्ञों से युक्त जो पञ्चमहायज्ञान्तर्गत चार यज्ञ (देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ) हैं वे सब जपयज्ञ की (ब्रह्मयज्ञ की) सोलहवीं कला के तुल्य भी नहीं होते हैं॥८६॥

जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नाऽत्र संशयः।
कुर्यादन्यन् न वा कुर्यान् मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥८७॥

ब्राह्मण केवल जप्य से (प्रतिदिन किए जाने वाले वेदाध्ययनरूप ब्रह्मयज्ञ से) ही सिद्ध हो सकता है (ब्रह्मस्वरूप में आविर्भूत हो सकता है), इसमें संशय नहीं। हवन-यजनादि और कुछ करे या न करे प्राणिमात्र के प्रति जिस के हृदय में मैत्रभाव स्थिर हुआ है ऐसा नित्यवेदाध्ययन (ब्रह्मयज्ञ) करने वाला विप्र ब्रह्मभाव में आविर्भूत होने के लिए योग्य कहा जाता है।

विशेष— ब्रह्मयज्ञ अर्थात् नित्यवेदाध्ययन वैदिक धर्म का मूल है। इस विषय में विस्तृत प्रतिपादन के लिए चौखम्बा विद्याभवन से संस्कृत में प्रकाशित हमारी ब्रह्मयज्ञपद्धति (२००४ क्रै.) की विस्तृत प्रस्ताविका देखें॥८७॥

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्॥८८॥

समझदार ब्रह्मचारी अपनी ओर खींचने वाले विषयों में दौडने वाले इन्द्रियों को वश में करने में घोडों को वश में करने में सारथी की तरह निरन्तर प्रयत्न करे॥८८॥

एकादशेन्द्रियाण्याहुर् यानि पूर्वे मनीषिणः।
तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥८९॥

पूर्ववर्ती विद्वान् जो ग्यारह इन्द्रियों को बताते हैं उनको विद्वानों के बताने के अनुसार क्रमशः अच्छी तरह बताऊँगा॥८९॥

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता॥९०॥

सुनने का इन्द्रिय, स्पर्श करने का इन्द्रिय, देखने का इन्द्रिय, मधुरादि रस पहचानने का इन्द्रिय, पाँचवाँ गन्ध जानने का इन्द्रिय, मल छोडने का इन्द्रिय, सुखविशेष का अनुभव करने का इन्द्रिय (जननेन्द्रिय), ग्रहण करने का इन्द्रिय, गमन करने का इन्द्रिय और दशवाँ बोलने का इन्द्रिय समझा गया है॥९०॥

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते॥९१॥

इन में से क्रमशः सुनने का इन्द्रिय इत्यादि पाँच को बुद्धीन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय) और इन में से ही मल छोडने का इन्द्रिय इत्यादि पाँच को कर्मेन्द्रिय कहते हैं॥९१॥

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्।
यस्मिञ् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ॥९२॥

अपने गुण से ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय दोनों रूप का मन ग्यारहवाँ इन्द्रिय है, जिस को वश में करने से ये पाँच-पाँच के दोनों इन्द्रियसमूह वश में हो जाते हैं॥९२॥

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥९३॥

मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में ज्यादा आसक्त होने से अवश्य ही दोषों में प्राप्त होता है, इन्द्रियों को ही वश में रखकर तो उस समय में मनुष्य पुरुषार्थसिद्धि को वश में करता है॥९३॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते॥९४॥

कामित विषयों के उपभोग से कामना कभी भी शान्त नहीं होती है, प्रत्युत घी से आग की तरह और अधिक बढ जाती है॥९४॥

यश् चैतान् प्राप्नुयात् सर्वान् यश् चैतान् केवलांस् त्यजेत्।
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते॥९५॥

जो मनुष्य कामित इन सभी विषयों को प्राप्त करे और जो इन सभी काम्य विषयों का परित्याग करे, उसमें सभी कामित विषयों को प्राप्त करने से सभी काम्य विषयों का परित्याग बडा होता है॥९५॥

न तथैतानि शक्यन्ते सन्नियन्तुमसेवया।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः॥९६॥

विषयों के सेवन में प्रीयमाण ये इन्द्रिय निरन्तर ज्ञान से जिस प्रकार से नियन्त्रित किए जा सकते हैं विषयसेवन का बलात् परित्याग करने से उस प्रकार से नियन्त्रित नहीं किए जा सकते हैं॥९६॥

वेदास् त्यागश् च यज्ञाश् च नियमाश् च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥९७॥

विषय-राग-द्वेषादि से दूषित भावों से युक्त द्विजाति के वेदाध्ययन, त्याग, यज्ञ, नियम और तपस्या भी कभी भी सिद्धि को प्राप्त नहीं करते हैं॥९७॥

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥९८॥

इष्ट-अनिष्ट सुनकर छूकर देखकर खाकर और सूँघकर भी जो मनुष्य न तो हर्षित होता है न तो खिन्न होता है उसी को जितेन्द्रिय जानना चाहिए॥९८॥

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनाऽस्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥९९॥

सभी इन्द्रियों में से यदि किसी का एक ही भी इन्द्रिय नियन्त्रण से बाहर हो जाता है तो उस इन्द्रिय के द्वार से उस मनुष्य की बुद्धि चमडे के वर्तन की तली के छिद्र से पानी की तरह कुमार्ग में बह जाती है॥९९॥

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस् तथा।
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस् तनुम् ॥१००॥

अधिक कठोर कर्मयोग से अपने शरीर को क्षीण नहीं करता हुआ मनुष्य इन्द्रियों के समूह को वश में रखकर और मन को भी नियन्त्रित करके सभी पुरुषार्थों का अच्छी तरह साधन करे॥१००॥

पूर्वां सन्ध्यां जपंस् तिष्ठेत् सावित्रीमाऽर्कदर्शनात्।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥१०१॥

प्रातःकाल में सन्ध्याकालभर सूर्य का दर्शन (उदय) होने तक सवितृ-देवताक ऋचा को जपता हुआ खडा रहे, सायङ्काल में सन्ध्याकालभर अच्छी तरह ताराओं के देखे जाने तक सवितृ-देवताक ऋचा को जपता हुआ आसन में स्थिर रूप में आसीन हो।

विशेष— द्विजातियों के लिए सन्ध्योपासन को अत्यन्त आवश्यक माना गया है। सन्ध्योपासन के महत्त्व को और सन्ध्योपासन के विभिन्न वेदशाखासम्बद्ध यथार्थ रूपों को सप्रमाण जानना चाहने वाले सज्जन चौखम्बा विद्याभवन से संस्कृत में प्रकाशित कौण्डिन्न्यायनकृत सन्ध्योपासन-पद्धति (२००० क्रै.) की सुविस्तृत भूमिका देखें॥१०१॥

पूर्वां सन्ध्यां जपंस् तिष्ठन् नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥१०२॥

प्रातःकाल में सन्ध्याकालभर सवितृ-देवताक मन्त्र को जपता हुआ खडा रहने वाला द्विजाति रात्रि में किए गए पापों को हटाता है, सायङ्काल में सन्ध्याकालभर सवितृ-देवताक मन्त्र को जपता हुआ बैठने वाला द्विजाति दिन में किए गए सब पाप को नष्ट करता है॥१०२॥

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश् च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥१०३॥

जो द्विजाति पूर्वसन्ध्याकालभर खडा नहीं रहता है और जो द्विजाति पश्चिम-सन्ध्याकालभर आसीन नहीं होता है वह सभी द्विजाति-कर्मों से शूद्र की तरह बाहर करने योग्य हो जाता है।

विशेष— यह ब्रह्मचारी का प्रकरण है। अतः यहाँ ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक प्रातःसन्ध्योपासन और सायंसन्ध्योपांसन ही बताए गए हैं। गृहस्थ के लिए तो मध्याह्न-सन्ध्या भी आवश्यक है॥१०३॥

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः ॥१०४॥

गाँव के बाहर वन में जाकर एकाग्रचित्त और संयत होकर जलाशय के समीप में नित्य ब्रह्मयज्ञविधि को सम्पन्न करने में सन्नद्ध होता हुआ द्विजाति वेद का अधिक भाग नहीं पढ़ सकता है तो केवल सवितृ-देवताक गायत्री ऋचा मात्र को भी पढ़े॥१०४॥

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
नाऽनुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥१०५॥

वेदोपकारक शिक्षा-कल्प-व्याकरणादि वेदाङ्गों के अध्ययन में, नित्य-स्वाध्यायाऽध्ययन में (ब्रह्मयज्ञ में) और होमादि के मन्त्रों के प्रयोग में भी अनध्यायविधान का (मनु.४।१०१-१२७) अनुसरण नहीं होता है।

विशेष— वेदाङ्ग छह हैं— शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। इन का यथार्थ परिचय और प्रयोजन चौखम्बा विद्याभवन से प्रकाशित हमारी ब्रह्म-यज्ञपद्धति (२००४ क्रै.) की प्रस्ताविका में (पृ.१०९-१११) दिए गए हैं॥१०५॥

नैत्यके नाऽस्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत् स्मृतम्।
ब्रह्माऽऽहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥१०६॥

नित्य वेदाध्ययन में अनध्यायनियम नहीं होता है, क्योंकि वह ब्रह्मसत्र समझा गया है। अनध्यायाऽध्ययनरूप वषट्कार से युक्त और वेदाध्ययनरूप हवि वाला यह हवन पुण्यमय ही होता है॥१०६॥

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥१०७॥

जो द्विजाति शुद्ध और संयत होकर शास्त्रोक्त विधि से वर्षभर नित्य ही स्वशाखावेद का प्रतिदिन अध्ययन करता है उसके लिए यह अध्ययन सदा दूध, दही, घी और मधु (शहद) गिराता है (देता है)॥१०७॥

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोर् हितम्।
आ समावर्तनात् कुर्यात् कृतोपनयनो द्विजः ॥१०८॥

उपनयनसंस्कार से युक्त द्विजाति समावर्तन न होने तक प्रतिदिन अग्नि का समिदाधान से प्रज्वालन, भिक्षा के लिए परिभ्रमण, खाट में नहीं भूमि में ही बिछाए गए कम्बलादि में शयन और गुरु का हित कार्य करे॥१०८॥

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर् ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः ॥१०९॥

[अपने] आचार्य का पुत्र, [विद्या के श्रवण के लिए] सेवा करने वाला, अन्य ज्ञान देने वाला, धर्मपरायण, छलछद्मरहित, बान्धव, विद्या के ग्रहण में और धारण में समर्थ, धन देने वाला, सच्चरित्र और अपना सगोत्र-सपिण्डादि ये दश प्रकार के शिष्य धर्माऽनुसार पढ़ाने में योग्य होते हैं।

विशेष— पुत्र शब्द की वर्णानुपूर्वी के विषय में चौखम्बा विद्याभवन से प्रकाशित (२००४ क्रै.) मूलगरुडपुराण के ४९ अध्यायात्मक द्वितीयांशरूप धर्मकाण्ड के (प्रेतकल्प के) हिन्दी अनुवाद में (२१।३३, पृ.२८९) हमारी टिप्पणी देखें। कुछ अतिरिक्त बातें **“पुन्नाम्नो नरकाद्”** इत्यादि (मनु.९।१३८) श्लोक की हिन्दी में भी देखें॥१०९॥

नाऽपृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान् न चाऽन्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल् लोक आचरेत् ॥११०॥

विना पूछे किसी को भी कुछ न कहे, शक्य सम्मान किए विना अन्याय से पूछने वाले को भी कुछ न कहे, जानता हुआ भी विचारशील मनुष्य लोक में ज़ड की तरह आचरण करे।।११०।।

अधर्मेण च यः प्राह यश् चाऽधर्मेण पृच्छति।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाऽधिगच्छति।।१११।।

जो अधर्म से कहता है और जो अधर्म से पूछता है उनमें से कोई एक मर जाता है, अथवा दूसरे से विद्वेष को प्राप्त करता है।।१११।।

धर्माऽर्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा।
तत्र विद्या न वप्तव्या शुभं बीजमिवोषरे।।११२।।

जहाँ धर्म और धनलाभ नहीं होते हैं, अथवा जहाँ देय विद्या का अनुरूप शुश्रूषा भी नहीं होती है, वहाँ मरुभूमि में अच्छे बीज बोने की तरह विद्या नहीं देनी चाहिए।।११२।।

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत्।।११३।।

वेदाध्यापन करने वाले ब्राह्मण को भले ही विद्या के साथ ही मरना पडे, तो भी घोर आपत्काल में भी ब्राह्मण इस वेदविद्या को मरुभूमि में न बोये (अपात्र शिष्य को वेदविद्या कभी भी न दे)।।११३।।

विद्या ब्राह्मणमेत्याऽऽह शेवधिष् टेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मा दास् तथा स्यां वीर्यवत्तमा।।११४।।

वेदविद्या ने ब्राह्मण के पास आकर 'मैं आप का खजाना हूँ, मेरी रक्षा कीजिए, मेरे गुण में भी दोष देखने वाले को मुझे नहीं दीजिए, ऐसा करने से मैं अधिकतम प्रभावशालिनी बनूंगी' ऐसा कहा।

विशेष— वेदगुरु के लिए अध्यापन-विषयक निर्देशन कौथुमसामवेदियों के संहितोपनिषद्ब्राह्मण में (तृतीयखण्ड, ९) श्रुत है।।११४।।

यमेव तु शुचिं विद्यान् नियतं ब्रह्मचारिणम्।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाऽप्रमादिने।।११५।।

वेदविद्या ने वेदाध्यापक ब्राह्मण को 'जिस को ही आप छलछद्मरहित और जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी जानते हों, ऋषियों के वेदविद्यारूप खजाने की रक्षा करने वाले और प्रमाद न करने वाले [illegible] ब्राह्मण को मुझे बताइए' ऐसा कहा।।११५।।

ब्रह्म यस् त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात्।
स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥११६॥

अभ्यासार्थ स्वयं पढ़ रहे अथवा दूसरे को पढ़ा रहे वेदाध्येता से अध्यापक की अनुज्ञा के विना ही सुनकर जो वेद का ग्रहण करता है वह वेद की चोरी करने के पाप से युक्त होता हुआ नरक को प्राप्त करता है॥११६॥

लौकिकं वैदिकं वाऽपि तथाऽऽध्यात्मिकमेव च।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥११७॥

जिन से लौकिक ज्ञान अथवा वैदिक कर्मकाण्डादि का ज्ञान अथवा आध्यात्मिक (ब्रह्मात्मविषयक) ज्ञान लिया हो उन सब को अन्य मान्य जनों से पहले अभिवादन करे॥११७॥

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः।
नाऽयन्त्रितस् त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥११८॥

केवल सवितृ-देवताक एक ऋचा को ही जानने वाला भी शास्त्रविधान से नियन्त्रित ब्राह्मण अपेक्षाकृत रूप में मान्य है, किन्तु सभी का और सभी प्रकार का अन्न खाने वाला, विक्रेय-अविक्रेय सभी वस्तुओं का विक्रय करने वाला, शास्त्रविधान से नियन्त्रित नहीं होने वाला ब्राह्मण तो तीनों वेदों का अध्येता और ज्ञाता होने पर भी मान्य नहीं होता है॥११८॥

शय्याऽऽसनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्।
शय्याऽऽसनस्थश् चैवैनं प्रत्युत्थायाऽभिवादयेत् ॥११९॥

मान्य जन से उपभोग किए जा रहे शय्या में और आसन में न बैठे, शय्या में अथवा आसन में बैठा हुआ मनुष्य मान्यजन आने पर शय्या को अथवा आसन को छोडकर खडा होकर उनका अभिवादन करे॥११९॥

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाऽभिवादाभ्यां पुनस् तान् प्रतिपद्यते ॥१२०॥

अधिकवयस्क मान्य जन आने पर अल्पवयस्क जन के प्राण ऊपर निकलने लगते हैं, मान्य जन प्रति प्रत्युत्थान (उठकर खडा होने का काम) और उनका अभिवादन करने से वह अल्पवयस्क जन फिर उन प्राणों को स्वस्थानस्थ रूप में प्राप्त करता है॥१२०॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि सम्प्रवर्धन्ते आयुर् विद्या यशो बलम् ॥१२१॥

मान्य जनों का अभिवादन करने के शील से युक्त और सदा विद्या से और वय से वृद्धों का सेवन करने वाले उस जन का आयु, विद्या, यश और बल ये चार वस्तु अच्छी तरह बढ़ते हैं॥१२१॥

अभिवादात् परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्।
असौ नामाऽहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥१२२॥

ज्येष्ठ जन का अभिवादन करता हुआ ब्राह्मण अभिवादनशब्द के प्रयोग के बाद में अमुकनाम वाला मैं हूँ ऐसे रूप में अपने नाम का उच्चारण करे॥१२२॥

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते।
तान् प्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात् स्त्रियः सर्वास् तथैव च ॥१२३॥

जो कोई अभिवादनीय जन नाम के प्रयोग के साथ में किए गए अभिवादन-वाक्य को अर्थ से नहीं जानते हैं (और प्रत्यभिवादन-वाक्य का प्रयोग करने में भी असमर्थ हैं), समझदार अभिवादक व्यक्ति उनके प्रति अपने नाम का प्रयोग न करके **'अभिवादये अहम्'** ऐसा बोले। उसी प्रकार सभी स्त्रियों के प्रति भी स्वनामप्रयोग विना ही 'अभिवादये अहम्' ऐसा ही बोले॥१२३॥

भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने।
नाम्नां स्वरूपभावो हि भोभाव ऋषिभिः स्मृतः ॥१२४॥

अभिवादनवाक्य के प्रयोग करते समय अपने नाम के अन्त में भोःशब्द को बोले, क्योंकि ऋषियों ने भोभाव को नामों का स्वरूपभाव समझा है।।१२४॥

आयुष्मान् भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने।
अकारश् चाऽस्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाऽक्षरः प्लुतः ॥१२५॥

अभिवादन किए जाने पर अभिवादन करने वाले ब्राह्मण को 'आयुष्मान् भव सौम्य' (हे सौम्य, दीर्घायु होवो) ऐसा कहना चाहिए और उस वाक्य के अन्त में समावेशनीय शर्मान्त अभिवादकनाम के अन्तिम वर्ण से पूर्वका अकाररूप अक्षर (स्वर) प्लुत बोला जाना चाहिए।

विशेष— पाणिनीय-व्याकरण-वार्तिककार कात्यायन ने क्षत्रिय और वैश्य के लिए प्रत्यभिवादन वाक्य में प्लुतत्व विकल्प से होने की बात कही है। पाणिनि "एचोऽप्रगृह्यस्याऽदूराद्धूते पूर्वस्याऽर्धस्याऽदुत्तरस्येदुतौ" ८।२।१०७) इस सूत्र से उक्त प्रकार

के स्थल में एकार का प्लुत होने पर 'अ३इ' ऐसा और ओकार का प्लुत होने पर 'अ३उ' ऐसा होने की बात बताते हैं, अतः **'आयुष्मान् भव सौम्य वसुभूतइ३', 'आयुष्मान् भव सौम्य वसुबन्धअ३उ'** इत्यादि प्रकार का प्रयोग होगा॥१२५॥

यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम्।
नाऽभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस् तथैव सः॥१२६॥

जो ब्राह्मण अभिवादन करने पर प्रत्यभिवादन करने का वाक्य नहीं जानता है वह ब्राह्मण विद्वान् द्वारा अभिवादन के लिए योग्य नहीं होता है, शूद्र जैसा अनभिवाद्य है वह प्रत्यभिवादन-वाक्य न जानने वाला ब्राह्मण भी वैसा ही है॥१२६॥

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् क्षत्रबन्धुमनामयम्।
वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च॥१२७॥

मिलने पर अनभिवाद्य ब्राह्मण को **कुशलता** पूछे, क्षत्रिय को **अनामय** पूछे, वैश्य को **क्षेम** पूछे और शूद्र को **आरोग्य** पूछे॥१२७॥

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत्।
भोभवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित्॥१२८॥

जो द्विजाति सोमयाग में दीक्षित होता है उसका उम्र से छोटा होने पर भी नाम से सम्बोधनादि नहीं करना चाहिए, धर्मज्ञ जन इस से भोःशब्द से अथवा भवत्शब्द से सम्बोधन करके बोले॥१२८॥

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसम्बन्धा च योनितः।
तां ब्रूयाद् भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च॥१२९॥

जो स्त्री दूसरे की पत्नी है और जन्म से अपने से असम्बद्ध है उस स्त्री को 'भवति' इस प्रकार और 'सुभगे भगिनि' इस प्रकार कहे॥१२९॥

मातुलांश् च पितृव्यांश् च श्वशुरानृत्विजो गुरून्।
असावहमिति ब्रूयात् प्रत्युत्थाय यवीयसः॥१३०॥

अपने समीप में आए हुए उम्र में छोटे मामाओं को, चाचाओं को, श्वशुरों को, ऋत्विजों को और गुरुओं को खड़ा होकर **'असावहम्'** (अमुक मैं) ऐसा कहे॥१३०॥

मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा।
सम्पूज्या गुरुपत्नीवत् समास् ता गुरुभार्यया॥१३१॥

माँ की वहन (मौसी), मामा की पत्नी (मामी), पत्नी की माँ (सास) और पिता की बहन (फूआ-बुआ) ये गुरुपत्नी की तरह पूजनीय हैं, वे गुरुपत्नी से समान ही हैं॥१३१॥

भ्रातुर् भार्योपसङ्ग्राह्या सवर्णाऽहन्यहन्यपि।
विप्रोष्य तूपसङ्ग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धियोषितः॥१३२॥

अपने (सोदर) बडे भाई की सवर्णा पत्नी का दिनदिन (प्रतिदिन) पादोपसङ्ग्रहण अवश्य करना चाहिए। पितृपक्ष के और मात्रादिपक्ष के अन्य मान्यजनों की सवर्णा पत्नियों का तो प्रवास से आने के बाद पादोपसङ्ग्रहण अवश्य करना चाहिए (प्रतिदिन पादोपसङ्ग्रहण आवश्यक नहीं)॥१३२॥

पितुर् भगिन्यां मातुश् च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि।
मातृवद् वृत्तिमातिष्ठेन् माता ताभ्यो गरीयसी॥१३३॥

पिता की बहन में, माता की बहन में और अपनी बडी बहन में भी माता के समान वर्ताव करे, किन्तु उन से अपनी माँ अधिक मान्य होती है॥१३३॥

दशाऽब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाऽब्दाख्यं कलाभृताम्।
त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनाऽपि स्वयोनिषु॥१३४॥

समानपुरवासियों में उम्र में दश वर्ष से अधिक अन्तर न होने पर ही परस्पर सखिभाव (समभाव) होता है, नृत्य-गान-वादनादि कलाओं के शिल्पियों में उम्र में पाँच वर्ष से अधिक अन्तर न होने पर ही परस्पर सखिभाव (समभाव) होता है, वेदाध्यायियों में उम्र में तीन वर्ष से अधिक अन्तर न होने पर ही परस्पर सखिभाव (समभाव) होता है, जन्म से सम्बद्ध जनों में तो उम्र में थोडा ही अन्तर होने पर ही परस्पर सखिभाव (समभाव) होता है (उक्त कालों से ऊपर ज्येष्ठत्वादि-व्यवहार होता है)॥१३४॥

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्।
पितापुत्रौ विजानीयाद् ब्राह्मणस् तु तयोः पिता॥१३५॥

दश वर्ष के ब्राह्मण को और सौ वर्ष के क्षत्रिय को पिता-पुत्रतुल्य जाने, उनमें ब्राह्मण पितातुल्य है [अतः मान्य है]॥१३५॥

वित्तं बन्धुर् वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्॥१३६॥

न्यायोपार्जित धन, सम्बन्ध, वय (उम्र), कर्म और पाँचवे स्थान में विद्या, ये मान्यताविशेष के आधार हैं, इन में उत्तरोत्तर (अगला-अगला) पूर्व-पूर्व से बडा आधार है।।१३६।।

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च।
यत्र स्युः सोऽत्र मानाऽर्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः ।।१३७।।

तीन वर्णों में उक्त पाँच में से अधिक सङ्ख्या के और उत्तम कोटि के मान्यस्थान जिस में हों वही इस लोक में सम्मान करने योग्य होता है। दशमी अवस्था में (उम्र के दशम दशक में) पहुँचा हुआ हो तो शूद्र भी ब्राह्मणादि के लिए भी सम्मान करने योग्य हो जाता है।।१३७।।

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः।
स्नातकस्य च राज्ञश् च पन्था देयो वरस्य च ।।१३८।।

चक्रयुक्त यान में सबार हुए व्यक्ति को, वृद्ध व्यक्ति को, रोगी को, भारवहन करते हुए व्यक्ति को, स्त्री को, स्नातक को, राजा को और वर को (विवाहप्रवृत्त व्यक्ति को) भी रास्ता छोड देना चाहिए।।१३८।।

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ।
राजस्नातकयोश् चैव स्नातको नृपमानभाक् ।।१३९।।

उन लोगों का समागम होने पर स्नातक और राजा अन्य लोगों के लिए मान्य होते हैं, स्नातक और राजा का समागम होने पर स्नातक राजा से सम्मान पाने का अधिकारी होता है।।१३९।।

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ।।१४०।।

जो ब्राह्मण शिष्य का उपनयनसंस्कार करके कल्प से (यज्ञविद्या से) सहित और रहस्य से (औपनिषद ब्रह्मात्मज्ञान से) सहित सम्पूर्ण स्वशाखावेद पढ़ावे उस ब्राह्मण को आचार्य कहते हैं।।१४०।।

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ।।१४१।।

जो ब्राह्मण जीविका के लिए वेद का कोई एक भाग को अथवा शिक्षा, कल्प, व्याकरण इत्यादि वेदाङ्गों को पढ़ाता है वह उपाध्याय कहा जाता है।।१४१।।

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सम्भावयति चाऽन्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥१४२॥

जो ब्राह्मण शास्त्र के विधान के अनुसार गर्भाधान-संस्कारादि संस्कारकर्म करता है और अन्न से संवर्धन भी करता है वह गुरु कहा जाता है।

विशेष— यहाँ अपना पिता ही गुरु कहा गया है॥१४२॥

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमाऽऽदिकान् मखान्।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥१४३॥

वरण किया हुआ जो ब्राह्मण जिस का गृह्याग्नि, गार्हपत्याग्नि इत्यादि अग्नि के आधान के कृत्यों को, पार्वणस्थालीपाकादि पाकयज्ञ के कृत्यों को और अग्निष्टोम सोमयागादि के कृत्यों को भी सम्पन्न करता है वह इस शास्त्र में उसका ऋत्विक् कहा जाता है॥१४३॥

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ।
स माता स पिता ज्ञेयस् तं न द्रुह्येत् कदाचन ॥१४४॥

जो वेददाता दोनों कानों को ठीक प्रकार से वेद से भरित कर देता है वह माता के रूप में और पिता के रूप में भी माना जाना चाहिए। उसका वेदग्रहण समाप्त होने पर भी कभी भी द्रोह (अपकारचिन्तन) नहीं करना चाहिए॥१४४॥

उपाध्यायान् दशाऽऽचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणाऽतिरिच्यते ॥१४५॥

आचार्य दश उपाध्यायों से भी गौरव से अधिक होता है, पिता सौ आचार्यों से भी गौरव से अधिक होता है, माता हजार पिताओं से भी गौरव से अधिक होती है॥१४५॥

उत्पादकब्रह्मदात्रोर् गरीयान् ब्रह्मदः पिता।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥१४६॥

जन्मदाता पिता और ब्रह्मदाता पिता में ब्रह्मदाता पिता बडा है, क्योंकि ब्राह्मण का वेद में (वेदोक्त ब्रह्मज्ञान में) जन्म (आविर्भाव) ही मरने के बाद परलोक में और इस लोक में भी शाश्वत (अविनाशी) होता है॥१४६॥

कामान् माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः।
सम्भूतिं तस्य तां विद्याद् यद् योनावभिजायते ॥१४७॥

माता और पिता परस्पर कामवासना से इसको जो जन्म देते हैं और जो माता की योनि में (गर्भ में) यह अङ्ग-प्रत्यङ्गों से युक्त रूप में शरीर को पाता है उसको तो इसका (पशुसाधारण) जन्म मात्र जाने॥१४७॥

आचार्यस् त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा॥१४८॥

वेद में पारङ्गत आचार्य शास्त्रोक्त विधि से सावित्रमन्त्र के प्रदान से इसकी जिस जाति को उत्पन्न करता है वह तो सत्य, अजर और अमर होती है॥१४८॥

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः।
तमपीह गुरुं विद्याच् छ्रुतोपक्रियया तया॥१४९॥

जो थोडा अथवा बहुत शास्त्रोपदेश से इसका उपकार करता है उसको भी इस लोक में उस शास्त्रोपदेशरूप उपकार के कारण गुरु जाने॥१४९॥

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः॥१५०॥

ब्रह्मज्ञान का अधिकारी बनाने वाले जन्म का कर्ता और अपने धर्म का उपदेश करने वाला बालक भी ब्राह्मण वृद्ध का पिता होता है॥१५०॥

अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्॥१५१॥

अङ्गिरा के पुत्र विद्वान् बालक ने पितृतुल्य वृद्धजनों को पढ़ाया, उनको अपने ज्ञान की श्रेष्ठता से शिष्य रूप में परिग्रह करके **'पुत्रकाः'** (बच्चे) इस प्रकार सम्बोधित किया।

विशेष– पुत्रशब्द की वर्णानुपूर्वी के विषय में **"आचार्यपुत्रः"** इत्यादि श्लोक (मनु.२।१०९) की हिन्दी में और **"पुन्नाम्नो नरकाद्"** इत्यादि श्लोक (मनु.९।१३८) की हिन्दी में भी टिप्पणी प्राप्य है॥१५१॥

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः।
देवाश् चैतान् समेत्योचुर् न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान्॥१५२॥

इस पर क्रोध से आक्रान्त होकर उन्हों ने पुत्रकशब्द के अर्थ (पुत्रकशब्द से सम्बोधित करने का कारण) को देवताओं से पूछा, देवताओं ने मिलकर (सभी सहमत होकर) 'बालक ने आप लोगों को न्याय के अविरुद्ध (उचित) ही कहा' ऐसा कहा॥१५२॥

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम्॥१५३॥

न जानने वाला बालक होता है, मन्त्र देने वाला पिता होता है। न जानने वाले को ही 'बालक' ऐसा कहते हैं, मन्त्र देने वाले को ही 'पिता' ऐसा कहते हैं॥१५३॥

न हायनैर् न पलितैर् न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश् चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥१५४॥

उम्र के वर्षों से नहीं, पके हुए वालों से नहीं, धन से नहीं, बान्धवों से नहीं, इन वस्तुओं से कोई बडा नहीं होता है। जिस ने छहों अङ्गों से युक्त वेद गुरु से विधिपूर्वक पढ़ा है (जो उसके अनुकूल आचरण भी करता है) वही हम लोगों में बडा है, ऐसी धर्मव्यवस्था ऋषियों ने की॥१५४॥

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः॥१५५॥

ब्राह्मणों में ज्ञान की अधिकता से ज्येष्ठता होती है, क्षत्रियों में पराक्रम की अधिकता से ज्येष्ठता होती है, वैश्यों में धनधान्य की अधिकता से ज्येष्ठता होती है, शूद्रों में ही जन्म से ज्येष्ठता होती है॥१५५॥

न तेन वृद्धो भवति येनाऽस्य पलितं शिरः।
यो वै युवाऽप्यधीयानस् तं देवाः स्थविरं विदुः॥१५६॥

किसी का शिर पके वालों से युक्त है, इतने ही से कोई वृद्ध नहीं होता है। जो युवक होता हुआ भी वेदाध्ययन से सम्पन्न है उसको देवता वृद्ध मानते हैं॥१५६॥

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश् च विप्रोऽनधीयानस् त्रयस् ते नाम बिभ्रति॥१५७॥

जैसा काठ का बना हुआ हाथी होता है, जैसा केवल चर्म मात्र का मृग होता है, वेदाध्ययन नहीं करता हुआ ब्राह्मण भी वैसा ही है। ये तीन केवल हस्त्यादि नामों को ही लेते हैं (उनमें हस्त्यादि के काम करने की कोई शक्ति नहीं होती है)॥१५७॥

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर् गवि चाऽफला।
यथा चाऽज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः॥१५८॥

जैसा नपुंसक स्त्रियों में निष्फल होता है, जैसा गाय गाय में निष्फल होती है, जैसा वेद नजानने वाले में दिया गया दान निष्फल होता है, वैसा ही वेद की एक

ऋचा भी नहीं जानने वाला ब्राह्मण निष्फल होता है (ब्राह्मण का काम अच्छी तरह नहीं दे सकता है)॥१५८॥

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता॥१५९॥

धर्म की इच्छा करने वाले मनुष्य को श्रेय का उपदेश [उल्लेख्य] हिंसा किए विना ही करना चाहिए, वाणी भी मधुर और कोमल ही प्रयुक्त की जानी चाहिए॥१५९॥

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग् गुप्ते च सर्वदा।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्॥१६०॥

वाणी और मन दोनों ही जिस के शुद्ध हैं और सदाकाल अच्छी तरह गुप्त (वशीकृत) भी हैं वह वेदान्त में बताए गए सम्पूर्ण फल को प्राप्त करता है॥१६०॥

नाऽरुन्तुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।
ययाऽस्योद्विजते वाचा नाऽलोक्यां तामुदीरयेत्॥१६१॥

आर्त (पीडित) होने पर भी दूसरे का मर्मवेधी वचन बोलने वाला न होवे, दूसरे का अपकार करने का काम और विचार करने वाला भी न होवे, इसकी जिस वाणी से दूसरा मनुष्य उद्विग्न (सन्तप्त) होता है स्वर्गलोक की प्राप्ति में बाधा पहुँचाने वाली वैसी वाणी को भी मुह से न निकाले॥१६१॥

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाऽऽकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥१६२॥

ब्राह्मण सम्मान से विष की तरह सदाकाल घबडाए, अपमान की अमृत की तरह इच्छा करे॥१६२॥

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति॥१६३॥

अपमान पाने वाला मनुष्य सुखपूर्वक सोता है, सुखपूर्वक ही जागता है और सुखपूर्वक ही इस लोक में विचरण करता है, अपमान करने वाला मनुष्य स्वयम् ही नष्ट हो जाता है॥१६३॥

अनेन क्रमयोगेन संस्कृताऽऽत्मा द्विजः शनैः।
गुरौ वसन् सञ्चिनुयाद् ब्रह्माऽधिगमिकं तपः॥१६४॥

इस आचरणक्रम से संस्कृत हुए अन्तःकरण से युक्त द्विजाति गुरुकुल में निवास करता हुआ वेदग्रहण कें लिए की जाने वाली तपस्या को आस्तेआस्ते सञ्चित करे॥१६४॥

तपोविशेषैर् विविधैर् व्रतैश् च विधिचोदितैः।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना॥१६५॥

विभिन्न प्रकार के विशिष्ट तपस्याओं से और अपने-अपने गृह्यसूत्र-धर्मसूत्र के विधिवाक्यों से विहित व्रतों से भी युक्त होकर द्विजातियों को रहस्य से (औपनिषद ब्रह्मात्मज्ञान से) सहित वेद को प्राप्त करना चाहिए॥१६५॥

वेदमेव सदाऽभ्यस्येत् तपस् तप्स्यन् द्विजोत्तमः।
वेदाऽभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते॥१६६॥

तपस्या करने की इच्छा करने वाला ब्राह्मण सदाकाल वेद का ही अभ्यास करे, क्योंकि वेद का अभ्यास करना ही ब्राह्मण के लिए इस लोक में सर्वश्रेष्ठ तपस्या कही जाती है॥१६६॥

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः।
यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम्॥१६७॥

जो द्विजाति पुष्पमाला का धारण इत्यादि सुखद कार्य करता हुआ भी अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिदिन स्वशाखा-वेदाध्ययन (ब्रह्मयज्ञ) करता है वह नख के अग्रभाग तक के शरीर से (सम्पूर्ण शरीर से) उच्चतम तपस्या सम्पन्न करता है॥१६७॥

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति साऽन्वयः॥१६८॥

जो द्विजाति वेदाध्ययन किए विना दूसरे काम में परिश्रम करता है वह जीता हुआ ही अपने पुत्र-पौत्रादि वंशजों के साथ शीघ्र ही शूद्रतुल्यता में प्राप्त होता है॥१६८॥

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात्॥१६९॥

द्विजाति का पहले माँ से जन्म होता है, उपनयन में दूसरा जन्म होता है, वेद के विधान से की जाने वाली अग्निष्टोमादि यज्ञ की दीक्षा में तीसरा जन्म होता है॥१६९॥

तत्र यद् ब्रह्मजन्माऽस्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्।
तत्राऽस्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते॥१७०॥

उन जन्मों में से इसका जो मौञ्जीबन्धन से (मेखलाबन्धन से) चिह्नित रूप में [उपनयन से] वेद में (वेदग्रहणार्थ) जन्म होता है उसमें इसकी सवितृ-देवताक ऋक् माता और आचार्य पिता कहा जाता है॥१७०॥

वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते।
न ह्यस्मिन् युज्यते कर्म किञ्चिदा मौञ्जिबन्धनात् ॥१७१॥

वेद का प्रदान करने से आचार्य को पिता कहते हैं, क्योंकि मौञ्जीबन्धन (मेखलाबन्धनयुक्त उपनयन) न होने तक इस (बालक) में कोई भी श्रौत-स्मार्त कर्म करने का अधिकार नहीं रहता है॥१७१॥

नाऽभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते।
शूद्रेण हि समस् तावद् यावद् वेदे न जायते ॥१७२॥

जब तक द्विजातिकुल का बालक वेद में उत्पन्न (उपनीत) नहीं होता है तब तक पितरों को अन्न-जल-दान देने के समय को छोडकर अन्य समय में उस से वेद-मन्त्र का उच्चारण न करवाए, क्योंकि तब तक वह शूद्र से तुल्य होता है॥१७२॥

कृतोपनयनस्याऽस्य व्रताऽऽदेशनमिष्यते।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥१७३॥

जिस का उपनयनसंस्कार सम्पन्न हुआ है उसका यथाकाल व्रतादेशन कृत्य करना अभीष्ट है और अपने-अपने गृह्यसूत्र के विधि के अनुसार क्रम से वेद का ग्रहणाऽध्ययन भी अभीष्ट है॥१७३॥

यद् यस्य विहितं चर्म यत् सूत्रं या च मेखला।
यो दण्डो यच् च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि ॥१७४॥

जिस के लिए जो चर्म, जो सूत्र, जो मेखला, जो दण्ड और जो वस्त्र उपनयन में विहित हैं उसके लिए महानाम्नी व्रत, महाव्रत इत्यादि वेदग्रहणार्थक व्रतों में भी वही-वही चर्मादि ग्राह्य होते हैं॥१७४॥

सेवेतेमांस् तु नियमान् ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः ॥१७५॥

गुरुकुल में निवास करता हुआ ब्रह्मचारी इन्द्रियों के समूह को नियन्त्रित करके अपनी तपस्या की वृद्धि के लिए कहे जा रहे इन नियमों का पालन करे॥१७५॥

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताऽभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥१७६॥

ब्रह्मचारी नित्य ही स्नान करके (सन्ध्योपासन द्वारा दुरित से मुक्त होने से) शुद्ध होकर देवताओं का ऋषियों का और पितरों का तर्पण करे, ब्रह्म-विष्णु-रुद्रादि देवताओं का अर्चन तथा परिचरणीय अग्नि में विधिपूर्वक समिधाओं का आधान भी करे॥१७६॥

वर्जयेन् मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥१७७॥

ब्रह्मचारी मधु (शहद), मांस, सुगन्धि अनुलेपनादि का सेवन, माला, उत्कट मधुर-अम्ल-लवणादि रस और स्त्रियों का सम्पर्क वर्जित करे। जो सन्धान से अम्लीकृत किए गए द्रव्य हैं उन सब को भी वर्जित करे और प्राणियों की हिंसा भी वर्जित करे॥१७७॥

अभ्यङ्गमञ्जनं चाऽक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥१७८॥

तैलादि से मालिश करना, आँखों में अञ्जन (काजल) लगाना, जूता और छाता का धारण करना, काम, क्रोध, लोभ, नाचना, गाना और वाद्य बजाना भी ब्रह्मचारी वर्जित करे॥१७८॥

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणाऽऽलम्भमुपघातं परस्य च॥१७९॥

ब्रह्मचारी जुआ, वादविवाद, दूसरे के दोषों का कथन, असत्यभाषण, स्त्रियों को निहारना और छूना और दूसरे को हानि पहुँचाना भी वर्जित करे॥१७९॥

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित्।
कामाद् धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः॥१८०॥

ब्रह्मचारी सर्वत्र अकेला ही सोए और कहीं भी इच्छा से वीर्य न गिराए, क्योंकि इच्छा से वीर्य गिराता हुआ ब्रह्मचारी अपने व्रत को नष्ट कर देता है॥१८०॥

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः।
स्नात्वाऽर्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर् मामित्यृचं जपेत्॥१८१॥

ब्रह्मचारी द्विजाति स्वप्नावस्था में इच्छा के विना ही वीर्य गिराकर तो स्नानपूर्वक सूर्य का अर्चन (सौर मन्त्र से स्तवन) करके "पुनर् माम्" (ऋग्.७।६७।१) इत्यादि ऋचा को तीन वार जपे॥१८१॥

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान्।
आहरेद् यावदर्थानि भैक्षं चाऽहरहश् चरेत्॥१८२॥

पानी का घड़ा, फूल, गोबर, मिट्टी और कुश भी आचार्य की आवश्यकता के अनुसार दिनपरदिन लावे और हरदिन भिक्षायाचन भी करे॥१८२॥

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु।
ब्रह्मचार्याहरेद् भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम्॥१८३॥

ब्रह्मचारी शुद्ध होकर वेद से और यज्ञों से हीन नहीं होने वाले और अपने शास्त्र-विहित कर्म में लोक से प्रशंसित लोगों के घरों से प्रतिदिन भिक्षाराशि (पक्वान्न) लाए॥१८३॥

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वंपूर्वं विवर्जयेत्॥१८४॥

गुरु के कुल में भिक्षा न माँगे, अपने पितृपक्ष के बन्धुओं के घरों में और अपने मातृपक्ष के बन्धुओं के घरों में भी भिक्षा न माँगे। दूसरे घर न मिलने पर पूर्व-पूर्व घरों को वर्जित करे।

विशेष— असम्बद्ध जनों के घर न मिलने पर मातृपक्ष के बन्धुओं के घरों में, उनका भी घर न मिलने पर पितृपक्ष के बन्धुओं के घरों में और उनका भी घर न मिलने पर ही गुरु के कुल में भी भिक्षा माँगे॥१८४॥

सर्वं वाऽपि चरेद् ग्रामं पूर्वोक्तानामसम्भवे।
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस् तु वर्जयेत्॥१८५॥

पूर्वोक्त (मनु.२।१८३) घरों में भिक्षा मागना सम्भव न होने पर ब्रह्मचारी शुद्ध होकर वाणी को नियन्त्रित करके सम्पूर्ण गाँव में भी भिक्षा के लिए विचरण करे, महापातकादि दोषों से आरोपित जनों को तो भिक्षा माँगने में वर्जित करे॥१८५॥

दूरादाहृत्य समिधः सन्निदध्याद् विहायसि।
सायम्प्रातश् च जुहुयात् ताभिरग्निमतन्द्रितः॥१८६॥

दूर से (अस्वामिक वृक्ष से) समिधा लाकर पटलादि में अवलम्बित करके आकाश में रखे और आलस्य से रहित होकर प्रतिदिन सायङ्काल में और प्रातःकाल में उन समिधाओं से अग्नि में हवन करे। [समिदाधान इत्यादि अग्निपरिचरण-कार्य नित्य करे]॥१८६॥

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम्।
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत्॥१८७॥

अस्वस्थ न होते हुए भी सात दिन तक भिक्षा मागने के लिए विचरण न करने पर और अग्नि को समिदाऽऽधान से प्रज्वलित न करने पर ब्रह्मचारी अवकीर्णिव्रत (व्रत से भ्रष्ट होने पर किया जाने वाला प्रायश्चित्त) करे॥१८७॥

भैक्षेण वर्तयेन् नित्यं नैकाऽन्नादी भवेद् व्रती।
भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता॥१८८॥

व्रतस्थ ब्रह्मचारी सदा भिक्षाराशि से जीवनयात्रा चलाए, एक ही व्यक्ति का अन्न खाने वाला न हो, व्रतस्थ ब्रह्मचारी का भिक्षाराशि से जीवनयात्रा चलाना उपवास से तुल्य समझा गया है॥१८८॥

व्रतवद् देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत्।
काममभ्यर्थितोऽश्नीयाद् व्रतमस्य न लुप्यते॥१८९॥

प्रार्थित (निमन्त्रित) ब्रह्मचारी देवता के उद्देश से किए गए कर्म में तो व्रत की तरह (मधुमांसादि वर्जन करते हुए) एकान्न (एक ही व्यक्ति का अन्न) भी खाए, पितरों के उद्देश से किए गए कर्म में तो ऋषि की तरह (मधु-मांसादि का वर्जन करते हुए) एकान्न भी खाए, इसका व्रत लुप्त नहीं होता है।

विशेष— यहाँ पर ऋषिवत् कहने से मधुमांस का अवर्जन प्रतीत होता है, याज्ञवल्क्यस्मृति के ज्ञात प्राचीनतम व्याख्याता विश्वरूप ने भी ऐसा ही कहा है॥१८९॥

ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः।
राजन्यवैश्ययोस् त्वेवं नैतत् कर्म विधीयते॥१९०॥

मुनियों ने ब्राह्मण ब्रह्मचारी का ही यह कर्म बताया है, क्षत्रिय ब्रह्मचारी और वैश्य ब्रह्मचारी का तो यह कर्म (दैव पित्र्य कर्म में एकान्न खाने का काम) मुनियों से विहित नहीं किया जाता है॥१९०॥

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च॥१९१॥

ब्रह्मचारी गुरु से प्रेरित होने पर और प्रेरित न होने पर भी सदाकाल अध्ययन में और आचार्य के हित के कार्य में भी यत्न करे॥१९१॥

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च।
नियम्य प्राञ्जलिस् तिष्ठेद् वीक्षमाणो गुरोर् मुखम्॥१९२॥

गुरु के समीप में रहने के समय में ब्रह्मचारी शरीर को, वाणी को, बुद्धि को, इन्द्रियों को और मन को भी नियन्त्रित करके गुरु का मुख देखता हुआ हाथ जोडकर खडा ही रहे (न बैठे)॥१९२॥

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात् साध्वाचारः सुसंयतः।
आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताऽभिमुखं गुरोः ॥१९३॥

सदाकाल दाहिने हाथ को उत्तरीय के बाहर निकालके रहे, सदाचार से युक्त और अच्छी तरह व्यवस्थित होवे। गुरु से 'आस्यताम्' (बैठा जाय) ऐसा कहा गया ब्रह्मचारी गुरु की ओर मुख करके बैठे॥१९३॥

हीनाऽन्नवस्त्रवेषः स्यात् सर्वदा गुरुसन्निधौ।
उत्तिष्ठेत् प्रथमं चाऽस्य चरमं चैव संविशेत् ॥१९४॥

गुरु के समीप में रहने के समय में सदाकाल भोज्य पदार्थ, वस्त्र, और वेष में गुरु से कम होकर रहे और गुरु के सोकर उठने से पहले उठे तथा गुरु के सोने के बाद ही सोए॥१९४॥

प्रतिश्रवणसम्भाषे शयानो न समाचरेत्।
नाऽऽसीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन् न पराङ्मुखः ॥१९५॥

गुरु की बुलाहट को सुनकर उसको सुनने की शब्दात्मक सूचना देने का काम (प्रतिश्रवण) और गुरु से सम्भाषण (बातचीत) भी ब्रह्मचारी स्वयम् सोते हुए न करे, बैठते हुए भी न करे, खाते हुए भी न करे, स्थिर रूप में खडा रहते हुए भी न करे और गुरु की विरुद्ध (विपरीत) दिशा में मुख करते हुए भी न करे॥१९५॥

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस् तु तिष्ठतः।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद् धावंस् तु धावतः ॥१९६॥

बैठे हुए गुरु का प्रतिश्रवण और उनके साथ सम्भाषण खडा रहकर करे, खडे रहे गुरु का प्रतिश्रवण और उनके साथ सम्भाषण गुरु की ओर जाता हुआ करे, अपनी ओर आते हुए गुरु का प्रतिश्रवण और उनके साथ सम्भाषण गुरु की ओर आगे बढ़कर करे और दौडते हुए गुरु का प्रतिश्रवण और उन से सम्भाषण गुरु के पीछेपीछे दौडता हुआ करे॥१९६॥

पराङ्मुखस्याऽभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चाऽन्तिकम्।
प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥१९७॥

अपनी विरुद्ध दिशा की ओर मुह करके रहते हुए गुरु का प्रतिश्रवण और उनके साथ सम्भाषण उनके सामने होकर करे और दूर देश में रहते हुए गुरु का

प्रतिश्रवण और उनके साथ सम्भाषण समीप में जाकर करे। सोते हुए और निकट देश में खडे हुए गुरु का प्रतिश्रवण और उनके साथ सम्भाषण झुककर करे॥१९७॥

नीचं शय्याऽऽसनं चाऽस्य सर्वदा गुरुसन्निधौ।
गुरोस् तु चक्षुर्विषये न यथेष्टाऽऽसनो भवेत्॥१९८॥

गुरु के समीप में शिष्य की शय्या सर्वदा नीची रहे और आसन भी नीचा रहे। गुरु की दृष्टि के विषय में शिष्य मनमाने आसन से बैठता हुआ न रहे॥१९८॥

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम्।
न चैवाऽस्याऽनुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम्॥१९९॥

ब्रह्मचारी परोक्ष में भी गुरु का सम्मानसूचक उपपदरहित केवल नाम न बोले। गुरु की चलने की रीति का, बोलने की रीति का और अन्य चेष्टा का अनुकरण भी कदापि न करे॥१९९॥

गुरोर् यत्र परीवादो निन्दा वाऽपि प्रवर्तते।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः॥२००॥

जहाँ गुरु में वर्तमान दोषों का बखान अथवा गुरु में अवर्तमान दोषों का गुरु में आरोप चलता है, वहाँ शिष्य को अपने कान ढकना चाहिए अथवा वहाँ से अन्यत्र चल देना चाहिए॥२००॥

परीवादात् खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः।
परिभोक्ता कृमिर् भवति कीटो भवति मत्सरी॥२०१॥

ब्रह्मचारी शिष्य गुरु में वर्तमान दोषों का बखान करने से दूसरे जन्म में गधा होता है, गुरु में अवर्तमान दोषों को गुरु में आरोप करने वाला शिष्य दूसरे जन्म में कुत्ता होता है, उपभोग्य वस्तुओं का गुरु से पहले भोग करने वाला शिष्य दूसरे जन्म में छोटा कीडा होता है, गुरु के उत्कर्ष से अन्दर-अन्दर जलने वाला शिष्य दूसरे जन्म में बडा कीडा होता है॥२०१॥

दूरस्थो नाऽर्चयेदेनं न क्रुद्धो नाऽन्तिके स्त्रियाः।
यानाऽऽसनस्थश् चैवैनमवरुह्याऽभिवादयेत्॥२०२॥

दूर में रहता हुआ शिष्य प्रणामादि से गुरु की पूजा न करे, किसी पर क्रुद्ध होता हुआ शिष्य गुरु की पूजा न करे, स्त्री के समीप में रहते हुए गुरु की पूजा भी शिष्य न करे। रथ इत्यादि यान में अथवा मञ्चादि आसन में रहा हुआ शिष्य गुरु को देखने पर यान से अथवा आसन से उतरकर गुरु का अभिवादन करे॥२०२॥

प्रतिवातेऽनुवाते च नाऽऽसीत गुरुणा सह।
असंश्रवे चैव गुरोर् न किञ्चिदपि कीर्तयेत् ॥२०३॥

गुरु की ओर से अपनी ओर आते हुए वायु में और अपनी ओर से गुरु की ओर जाते हुए वायु में भी गुरु के साथ में शिष्य न बैठे। गुरु के श्रवणक्षेत्र से बाहर रहकर (गोप्य रूप से) शिष्य कुछ भी न बोले॥२०३॥

गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादस्रस्तरेषु कटेषु च।
आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥२०४॥

बैल, घोडा, ऊँट इत्यादि यान में, टाँड में (मचान में), दरी आदि बिछौने में, वंशविदल-पलालादिकृत चटाइयों में, पत्थर के तख्ते में, लकडी के तख्ते में और नावों में भी शिष्य गुरु के साथ में भी बैठ सकता है॥२०४॥

गुरोर् गुरौ सन्निहिते गुरुवद् वृत्तिमाचरेत्।
न चाऽनिसृष्टो गुरुणा स्वान् गुरूनभिवादयेत् ॥२०५॥

गुरु के गुरु समीप में आने पर उन से गुरु के समान वर्ताव करे। गुरु के समीप में रहने पर गुरु की अनुज्ञा के विना पिता, माता, बडे भाई, चाचा इत्यादि अपने गुरुओं का अभिवादन न करे॥२०५॥

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु।
प्रतिषेधत्सु चाऽधर्माद् धितं चोपदिशत्स्वपि ॥२०६॥

किसी विद्या के दाता जनों में और चाचा, मामा इत्यादि जनों में भी सदाकाल यही वर्ताव किया जाना चाहिए। अधर्म में प्रवृत्त होने में निषेध करने वाले और हित का उपदेश करने वाले जनों में भी सदाकाल यही वर्ताव किया जाना चाहिए॥२०६॥

श्रेयःसु गुरुवद् वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत्।
गुरुपुत्रेषु चाऽऽर्येषु गुरोश् चैव स्वबन्धुषु ॥२०७॥

योनि, विद्या, तपस्या इत्यादि से अपने से बडे लोगों के प्रति सदाकाल गुरु के समान वर्ताव करे। अपने से अवस्था में बडे गुरुपुत्रों में और गुरु के अपने बडे भाई चाचा इत्यादि बन्धुओं में भी सदाकाल गुरु के समान बर्ताव करे॥२०७॥

बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि।
अध्यापयन् गुरुसुतो गुरुवन् मानमर्हति ॥२०८॥

गुरुपुत्र बालक (अवस्था में अपने से छोटा) हो, अथवा अवस्था में अपने बराबर हो, अथवा अपना शिष्य हो तो भी वेदाध्यापन कार्य में संलग्न हो तो अपने यज्ञकर्म में आने पर वह भी गुरु के समान ही सम्मान का योग्य होता है॥२०८॥

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने।
न कुर्याद् गुरुपुत्रस्य पादयोश् चाऽवनेजनम्॥२०९॥

शिष्य गुरुपुत्र के अङ्गों में उवटन लगाना, गुरुपुत्र का स्नान कराना, जूठा खाना और पैरों का धोना, इन कर्मों को तो न करे॥२०९॥

गुरुवत् प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः।
असवर्णास् तु सम्पूज्याः प्रत्युत्थानाऽभिवादनैः॥२१०॥

गुरु की सवर्ण पत्नियाँ गुरु के समान ही पूजनीय होती हैं। गुरु की असवर्ण पत्नियाँ तो प्रत्युत्थान और अभिवादन से ही पूजनीय होती हैं॥२१०॥

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च।
गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम्॥२११॥

तैलादि स्निग्ध पदार्थ को शरीर पर मलना, स्नान कराना, अङ्गों में उवटन लगाना, केशों का अलङ्करण करना, गुरुपत्नी के इन कर्मों को शिष्य को नहीं करना चाहिए॥२११॥

गुरुपत्नी तु युवतिर् नाऽभिवाद्येह पादयोः।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता॥२१२॥

गुण और दोष को जानने वाले बीस वर्ष से ऊपर की अवस्था के शिष्य को गुरु की तरुणी पत्नी का पैर छूकर अथवा पैर में शिर रखकर अभिवादन नहीं करना चाहिए॥२१२॥

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्।
अतोऽर्थान् न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः॥२१३॥

पुरुषों को दूषित कर देना यह स्त्रियों का प्रकृतिदत्त स्वभाव ही है। इसी अर्थ से विचारशील पुरुष स्त्रियों के विषय में असावधानी नहीं करते हैं।

विशेष– यहाँ पर स्त्री का पुरुषों को दूषित करने का जो स्वभाव प्रतिपादित है, वह स्त्री जाति की निन्दा नहीं है। यह बात केवल स्त्री-पुरुषों का शाश्वत प्राकृतिक स्वभाव को लेकर कही गई है। पुरुष स्त्री पर आकृष्ट होने पर व्यभिचार जितना

अधिक सम्भावित है, स्त्री पुरुष पर आकृष्ट होने पर व्यभिचार उतना अधिक सम्भावित नहीं है। यह स्त्री-पुरुषों के शाश्वत प्राकृतिक स्वभाव से सम्बद्ध बात है। हमारे शास्त्रकार सभी विषयों को मूल तत्त्वदर्शन को और शाश्वत प्रकृति को देखकर प्राणिमात्र के कल्याण के लिए प्रतिपादित करते हैं। इस विषय में ध्यान देना चाहिए। विना गम्भीर विचार शास्त्रकारों को अथवा शास्त्रों को दोष नहीं देना चाहिए॥२१३॥

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशाऽनुगम्॥२१४॥

इस लोक में काम-क्रोधादि के वश में पड़ने वाले अविद्वान् पुरुष को अथवा विद्वान् पुरुष को भी सन्मार्ग से विचलित करने में स्त्रियाँ समर्थ होती हैं॥२१४॥

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्ताऽऽसनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥२१५॥

पुरुष माँ के, बहन के, अथवा पुत्री के भी साथ एकान्त में बैठने वाला न हो, क्योंकि बलवान् इन्द्रियों का समूह विद्वान् को भी अपने विषयों की ओर खींचता है॥२१५॥

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि।
विधिवद् वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन्॥२१६॥

युवक शिष्य युवती गुरुपत्नियों को **'असावहम्'** (अमुक मैं) ऐसा कहता हुआ शास्त्रविधान के अनुसार पृथ्वीपर ही शिर रखकर अथवा पृथ्वी को छूकर अभिवादन करे (अपेक्षाकृत रूप में ऐसा करना उचित है)॥२१६॥

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाऽभिवादनम्।
गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन्॥२१७॥

सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण करता हुआ ब्रह्मचारी प्रवास से आकर गुरुपत्नियों का पादोपसङ्ग्रहण करे और दिनपरदिन तो केवल अभिवादन ही करे॥२१७॥

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥२१८॥

जैसे कुदाल इत्यादि भूमि खोदने के साधन से भूमि को खोदता हुआ मनुष्य भूमि में छिपे हुए पानी को प्राप्त कर लेता है वैसे ही गुरु की सेवा करके वेदादिविद्या सुनने की इच्छा करने वाला शिष्य गुरु के हृदय में छिपी हुई विद्या को प्राप्त कर लेता है॥२१८॥

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच् छिखाजटः।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत् सूर्यो नाऽभ्युदियात् क्वचित्॥२१९॥

ब्रह्मचारी मुण्डित हो अथवा जटाधारी हो अथवा केवल शिखा को ही जटा के रूप में रखने वाला हो। इस ब्रह्मचारी का ग्राम में रहते ही कभी भी सूर्यास्त न हो और सूर्योदय भी न हो॥२१९॥

तं चेदभ्युदियात् सूर्यः शयानं कामचारतः।
निम्लोचेद् वाऽप्यविज्ञानाज् जपन्नुपवसेद् दिनम्॥२२०॥

अस्वस्थतादि कारण के विना स्वेच्छा से ही ब्रह्मचारी का सोते रहने पर ही यदि सूर्य उदित हो अथवा अज्ञान से सोते रहने पर ही सूर्य का अस्त हो तो ब्रह्मचारी दिनभर जप करता हुआ उपवास करे॥२२०॥

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश् च यः।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान् महतैनसा॥२२१॥

जो ब्रह्मचारी सोता हुआ ही सूर्य के अस्तमय से युक्त अथवा सूर्य के उदय से युक्त होता है वह प्रायश्चित्त न करने पर बडे पातक से युक्त होगा॥२२१॥

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे सन्ध्ये समाहितः।
शुचौ देशे जपञ् जप्यमुपाऽऽसीत यथाविधि॥२२२॥

एकाग्रचित्त ब्रह्मचारी आचमन करके शुद्ध होकर शुद्ध स्थान में जपनीय मन्त्रों को अपने गृह्यसूत्रादि शास्त्र के विधान के अनुसार जपता हुआ सदाकाल दोनों सन्ध्याकालों में उपासन करे॥२२२॥

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किञ्चित् समाचरेत्।
तत् सर्वमाचरेद् युक्तो यत्र चाऽस्य रमेन् मनः॥२२३॥

यदि स्त्री और अपने से कनिष्ठ (शूद्र) व्यक्ति भी कोई श्रेयस्कर कार्य करते हैं तो व्यवस्थित होकर उन सब श्रेयस्कर कार्यों को करे अथवा (शास्त्रद्वारा अनिषिद्ध) जिस कार्य में अपना शास्त्रसंस्कृत मन प्रसन्न होता है उस कार्य को करे॥२२३॥

धर्माऽर्थावुच्यते श्रेयः कामाऽर्थौ धर्म एव च।
अर्थ एवेह वा श्रेयस् त्रिवर्ग इति तु स्थितिः॥२२४॥

किन्ही लोगों से धर्म और अर्थ (धन) को श्रेय कहा जाता है, किन्ही लोगों से काम और अर्थ को श्रेय कहा जाता है, किन्ही लोगों से धर्म को ही श्रेय कहा जाता है,

किन्ही लोगों से अर्थ को ही श्रेय कहा जाता है, किन्तु धर्म, अर्थ और काम इन तीनों का समुदाय ही श्रेय है, ऐसा सिद्धान्त है॥२२४॥

आचार्यश् च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।
नाऽऽर्तेनाऽप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥२२५॥

आर्त (पीडित) ही होने पर भी मनुष्य को आचार्य, पिता, माता और बडा भाई इन का अपमान नहीं करना चाहिए, उसमें भी विशेष करके ब्राह्मण को तो इन का अपमान नहीं ही करना चाहिए॥२२५॥

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्तिस् तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥२२६॥

आचार्य ब्रह्म (परमात्मा) की मूर्ति है, पिता ब्रह्मा की मूर्ति है, माता पृथिवी की मूर्ति है और बडा भाई आत्मा का ही मूर्ति है॥२२६॥

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥२२७॥

मनुष्यों के जन्म में माता और पिता जिस कष्ट का सहन करते हैं सैकडों वर्षों में भी उसका बदला चुकाना अशक्य है॥२२७॥

तयोर् नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥२२८॥

सदाकाल उनका (माता-पिता का) और आचार्य का प्रिय कार्य करे, उन तीनों के ही सन्तुष्ट होने पर सभी तप पूर्ण रूप में सम्पन्न होता है॥२२८॥

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
न तैरनभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥२२९॥

उन तीनों की सेवा उत्कृष्टतम तपस्या कही जाती है। उनकी अनुमति के विना दूसरे धर्म का आचरण न करे॥२२९॥

त एव हि त्रयो लोकास् त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास् त एवोक्तास् त्रयोऽग्नयः ॥२३०॥

वे ही तीन लोक (भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक) कहे गए हैं, वे ही तीन आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम) कहे गए हैं, वे ही तीन वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) कहे गए हैं और वे ही तीन अग्नि (गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि, आहवनीयाग्नि) कहे गए हैं॥२३०॥

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर् माताऽग्निर् दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस् तु साऽग्नित्रेता गरीयसी॥२३१॥

पिता गार्हपत्य अग्नि समझा गया है, माता दक्षिणाग्नि समझी गई है, गुरु (आचार्य) आहवनीयाग्नि समझा गया है, वह पित्रादिरूप तीन अग्नियों का समुदाय अन्य तीन अग्नियों के समुदाय से श्रेष्ठ है॥२३१॥

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रीलँ लोकान् विजयेद् गृही।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद् दिवि मोदते॥२३२॥

इन तीनों की सेवा में असावधानी न करने वाला गृहस्थ तीनों लोकों को जीत सकेगा। वह अपने शरीर से चमकता हुआ स्वर्ग में देवता की तरह ही सुखभोग प्राप्त करता है॥२३२॥

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते॥२३३॥

माँ की भक्ति से इस लोक को (भूर्लोक को), पिता की भक्ति से मध्यम-लोक को (भुवर्लोक को [अन्तरिक्षलोक को]), इसी प्रकार गुरु की सेवा से ब्रह्मलोक (हिरण्यगर्भलोक) को (सुखपूर्ण रूप में) प्राप्त करता है॥२३३॥

सर्वे तस्याऽऽदृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः।
अनादृतास् तु यस्यैते सर्वास् तस्याऽफलाः क्रियाः॥२३४॥

जिस से ये तीन (आचार्य, पिता, माता) सत्कृत किए जाते हैं, उस से सभी धर्म आदरपूर्वक अनुष्ठित हो जाते हैं, जिस से ये तीन असत्कृत होते हैं, उसके सभी धर्मकृत्य निष्फल हो जाते हैं॥२३४॥

यावत् त्रयस् ते जीवेयुस् तावन् नाऽन्यं समाचरेत्।
तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात् प्रियहिते रतः॥२३५॥

जब तक वे तीन जीवित रहते हैं, तब तक अन्य धर्म का अनुष्ठान न करे, उनके प्रिय और हित कार्यों में रमता हुआ सदाकाल उनकी ही सेवा करे॥२३५॥

तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत्।
तत्तन् निवेदयेत् तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः॥२३६॥

उनकी सेवा में अवरोध डाले विना मन वचन और कर्म से परलोक में हित करने वाले जोजो कर्म करे उस-उस कर्म को उनको विदित कराए॥२३६॥

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥२३७॥

इन तीनों में ही मनुष्य का सम्पूर्ण कृत्य समाप्त हो जाता है। यह उत्कृष्टतम साक्षात् धर्म है, अन्य धर्म उपधर्म कहा जाता है।

विशेष– इस प्रकरण में ब्रह्मचारी को आचार्य, पिता और माता में विशेष आदरभाव रखने को और उनका विशेष मान-सम्मान करने को तथा उनकी यथा-सम्भव अधिकतम सेवा करने को कहा गया है। यहाँ का कुछ कथन नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिए अवगत होते हैं। भागवत में भी **"पुत्त्राणां हि परो धर्मः पितृशुश्रूषणं सताम्। अपि पुत्त्रवतां ब्रह्मन् किमुत ब्रह्मचारिणाम्"** (६।७।२८) ऐसा वचन आया है। धर्मविरुद्ध आज्ञा तो आचार्य की भी अपालनीय होती है। चरकसंहिता में विमानस्थान में अष्टम अध्याय में शिष्योपनयनविधि के प्रसङ्ग में शिष्य प्रति आचार्य का **"न च ते मद्वचनात् किञ्चिदकार्यं स्याद् अन्यत्र राजद्विष्टात्, प्राणहराद् विपुलादधर्म्यादनर्थ-सम्प्रयुक्ताद् वाऽप्यर्थात्"** ऐसा उपदेश है (सूत्र १३)। मनुस्मृति में ही **"अकारण-परित्यक्ता मातापित्रोर् गुरोस् तथा"** (३।१५७) ऐसा वचन आया है। उचित कारण रहने पर तो माता, पिता और गुरु भी त्याज्य भी होते हैं। अनन्यगतिक मनुष्य के लिए गुरुसेवामार्ग और मातापितृशुश्रूषामार्ग भी स्वर्गप्राप्ति का मार्ग हो सकने की बात महाभारत के शान्तिपर्व में (चित्रशालासंस्करण ३५४।१–१६, सातवलेकरसंस्करण ३४२।१–१६) भी आई है। सगतिक (समर्थ) मनुष्य को माता-पितृ-गुरुसेवा के साथ में अन्य आवश्यक धर्म भी करना चाहिए। मनु के वचन का तात्पर्य प्रकरण के भी विचार से युक्तियुक्त रूप में अच्छी तरह समझा जाना चाहिए।

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीताऽवरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥२३८॥

श्रद्धा करता हुआ मनुष्य लोकोपकारक शुभ विद्या को अपने से कनिष्ठ से भी लेले, उत्तम शीलरूप परमधर्म को अन्त्यज से भी लेले, शीलवती कन्या को अपने कुल से निकृष्ट कुल से भी लेले।

विशेष– यह ग्रन्थ मुख्य रूप में त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) अधिकारी के लिए प्रवृत्त है। त्रैवर्णिकों को मोक्षरूप परम धर्म का ज्ञान तो वेद से ही होता है, और वेद से ही करना चाहिए। इस लिए यहाँ परधर्म से अत्यन्त आवश्यक प्राणरक्षणोपयोगी व्यवहार को ही लेना उचित दिखाई देता है। यदि परधर्म से मोक्ष-धर्म को लिया जाता है तो भी मोक्षधर्मोपयोगी वैराग्यसाधनादि के ज्ञान को यहाँ लक्षणा से परधर्म मानना चाहिए। मुख्य ब्रह्मज्ञान तो अन्त्यजन से नहीं लिया जा

सकता है। विदुर जैसे महाज्ञानी से भी अपना जन्म शूद्रयोनि में होने से अपने को ब्रह्मज्ञान देने का अधिकार नहीं रहने की बात बताई जाने की कथा महाभारत में भी आई है (५।४१।५-६)।

दुष्कुल कहने से यहाँ जाति से नीच कुल को नहीं, अध्ययन-सदाचार-धनादि से अपने से हीन कुल को लेना चाहिए॥२३८॥

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम्॥२३९॥

विष से भी अमृत को लेना चाहिए, बालक से भी सुभाषित को (अच्छे वचन को) लेना चाहिए, शत्रु से भी अच्छे चरित्र को लेना चाहिए, अयज्ञिय शूद्र से भी सुवर्ण को (सोने का दान) लेना चाहिए॥२३९॥

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम्।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः॥२४०॥

स्त्रियाँ, रत्न, विद्या, धर्म, शौच, सुभाषित और विभिन्न शिल्प भी सभी ओर से सङ्गृहीत करना चाहिए॥२४०॥

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः॥२४१॥

आपत्काले में (ब्राह्मण अध्यापक न मिल सकने पर) क्षत्रिय-वैश्य गुरु से भी वेदाध्ययन किया जाता है। ब्राह्मण ब्रह्मचारी को जब तक वेदाध्ययन चलता है तब तक ही अब्राह्मण गुरु की अनुगमनरूप सेवा करनी चाहिए।

विशेष— पादवन्दन उच्छिष्टभोजनादि तो ब्राह्मण ब्रह्मचारी को अब्राह्मण गुरु का नहीं करना चाहिए॥२४१॥

नाऽब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत्।
ब्राह्मणे चाऽननूचाने काङ्क्षन् गतिमनुत्तमाम्॥२४२॥

अब्राह्मण गुरु के घर में शिष्य नैष्ठिक ब्रह्मचर्य अपनाकर आमरण वास न करे। सर्वोत्तम गति को प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ ब्रह्मचारी तो गुरु ब्राह्मण ही होने पर भी गुरु से विधिवत् किए गए छहो अङ्गों से सहित वेद के अध्ययन से असम्पन्न होने पर उस (साङ्गवेद के अनध्येता) गुरु के घर में तो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य अपनाकर आमरण वास न करे॥२४२॥

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले।
युक्तः परिचरेदेनमा शरीरविमोक्षणात्॥२४३॥

यदि गुरु के घर में आमरण वास करने में रुचि ले तो ब्रह्मचारी सुव्यवस्थित चित्त वाला होकर शरीर छूटने तक गुरु की सेवा करे॥२४३॥

आ समाप्तेः शरीरस्य यस् तु शुश्रूषते गुरुम्।
स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम्॥२४४॥

जो ब्राह्मण ब्रह्मचारी अपने शरीर की समाप्ति (मरण) न होने तक गुरु की सेवा करता है वह शरीर छूटने पर ब्रह्म के सनातन घर में (ब्रह्मलोक में) सीधे जाता है॥२४४॥

न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित्।
स्नास्यंस् तु गुरुणाऽऽज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत्॥२४५॥

धर्म को जानने वाला ब्रह्मचारी पहले गुरु को कुछ भी समर्पित न करे, समावर्तन करने को जा रहा ब्रह्मचारी तो गुरु से आज्ञा मिलने पर अपनी शक्ति के अनुसार गुरु के लिए धन लाकर गुरु को समर्पित करे॥२४५॥

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम्।
धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत्॥२४६॥

जमीन, सोना, गाय, घोडा, छाता-जूता, आसन, धान्य, शाक और वस्त्र भी यथाशक्ति गुरु के लिए लाए और गुरु की प्रसन्नता सम्पन्न करे॥२४६॥

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणाऽन्विते।
गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद् वृत्तिमाचरेत्॥२४७॥

नैष्ठिक ब्रह्मचारी आचार्य दिवङ्गत होने पर आचार्यगुण से सम्पन्न गुरुपुत्र में, अथवा आचार्यगुण से सम्पन्न गुरुपत्नी में, अथवा आचार्य के आचार्यगुणसम्पन्न सपिण्ड में गुरु में जैसा वर्ताव किया जाता है वैसा वर्ताव करे॥२४७॥

एतेष्वविद्यमानेषु स्नानाऽऽसनविहारवान्।
प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद् देहमात्मनः॥२४८॥

इन में से कोई भी नहीं रहने पर स्नाननियम, आसननियम और विहारनियम की पालना करता हुआ नैष्ठिक ब्रह्मचारी लौकिकाग्नि का ही अग्निपरिचरणधर्म से परिचरण करता हुआ अपने देह को ब्रह्मलोकप्राप्तियोग्य रूप में सिद्ध करे॥२४८॥

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः।
स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाऽऽजायते पुनः॥२४९॥

॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां द्वितीयोऽध्यायः॥२॥

जो ब्राह्मण नैष्ठिक ब्रह्मचारी के व्रत से अस्खलित रहता हुआ इस प्रकार से ब्रह्मचर्यव्रत की पालना करता है वह उत्तमस्थान में (ब्रह्मलोक में) पहुँचता है और फिर इस मर्त्यलोक में जन्म नहीं लेता है॥२४९॥

॥ इस प्रकार कौण्डिन्न्यायनाऽऽचार्य-शिवराजशर्मा द्विजोत्तम से किए गए मनुस्मृति के हिन्दी अनुवाद तथा विशेष व्याख्या में द्वितीय अध्याय पूर्ण हुआ॥२॥

●

अथ तृतीयोऽध्यायः

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणाऽन्तिकमेव वा॥१॥

हिन्दी—

मनुस्मृतेस् तृतीयेऽत्राऽध्याये भाषार्थ उच्यते।
कुल्लूकोक्तार्थमादाय शिवाख्येन द्विजन्मना॥

तीनों वेदों का [ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का] अध्ययन करने के लिए किए जाने वाले और ३६ वर्ष चलने वाले व्रत को गुरुकुल में ब्रह्मचारी को सम्पन्न करना चाहिए। अथवा उसके आधा (१८) वर्ष चलने वाले व्रत को, अथवा उसके चौथाई (९) वर्ष चलने वाले व्रत को अथवा वेद के ग्रहणाऽध्ययन समाप्त होने पर समाप्त होने वाले व्रत को सम्पन्न करना चाहिए॥१॥

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाऽऽश्रममावसेत्॥२॥

स्वशाखावेदादिक्रम से तीनों वेदों को पढ़कर अथवा दो वेदों को पढ़कर अथवा स्वशाखावेदरूप एक वेद को ही मन्त्र-ब्राह्मणादि क्रम से पढ़कर अस्खलित ब्रह्मचर्य से युक्त पुरुष गृहस्थाऽऽश्रम में प्रवेश करे॥२॥

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत् प्रथमं गवा॥३॥

अपने ब्रह्मचारिधर्मरूप स्वधर्म के सम्यक् पालन से उत्तरधर्म पालन में भी भरोसा करने में योग्य बने हुए तथा पिता के वेदरूप दाय प्राप्त किए हुए और समावृत्त स्नातक को माला से विभूषित और उत्कृष्ट आसन में आसीन करके पिता, ज्येष्ठ भ्राता इत्यादि सम्बद्ध कोई पुरुष विवाह के पूर्व ही गोयुक्त-मधुपर्कदानरूप कृत्य से सत्कृत करे॥३॥

गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणाऽन्विताम्॥४॥

गुरु से अनुमत होकर सम्बद्ध गृह्यसूत्र में प्रतिपादित विधि से स्नान करके स्वगृह में लौटा हुआ द्विजाति पुरुष अपने समान वर्ण की और शुभलक्षणों से युक्त कन्या को भार्या के रूप में विवाहित करे॥४॥

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥५॥

जो कन्या माता की सपिण्ड और सगोत्र [मातृगोत्र की, मातामहगोत्र की] न हो, और जो कन्या पिता की सगोत्र और सपिण्ड न हो वह कन्या द्विजातियों के लिए दारत्वसम्पादक विवाह कर्म के लिए और पति-पत्नीरूप मिथुन (युगल) से सम्पाद्य अग्न्याधानादि श्रौतस्मार्त कृत्य के लिए और पुत्रोत्पादनादि कृत्य के लिए भी प्रशंसनीय मानी जाती है।

विशेष— यहाँ पर गोत्रशब्द से **एककुलजत्वयुक्त गोत्र** ही विवक्षित होने की बात नित्यानन्द पन्त पर्वतीय भी करते हैं (संस्कारदीपक, द्वितीयभाग, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६४ क्रै., पृ.८,१०) किन्तु प्रवराध्यायादि ग्रन्थों को देखने से और मनुस्मृति भी उसी परम्परा का ग्रन्थ होने से यहाँ मूल गोत्र ही विवक्षित अवगत होता है, एककुलजत्वयुक्त गोत्र विवक्षित नहीं। याज्ञवल्क्यस्मृति में भी **"असमानार्षगोत्रजाम्"** (१।५३) यहाँ पर गोत्र का प्रवर के साथ उल्लेख होने से गोत्र मूल गोत्र ही विदित होता है, एककुलजत्वविशिष्ट गोत्र नहीं। अज्ञान-प्रमादादि-मूलक व्यवहार को लेकर मूल शास्त्रार्थ का तोड-मरोड करना ठीक नहीं है। अतः मनुस्मृति के इस वचन के अनुसार पितृसगोत्र, मातृसगोत्र, पितृसपिण्ड, मातृसपिण्ड इन सब प्रकार की कन्या सर्वथा अविवाह्य ही मानी जातीं हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति के **"अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्षगोत्रजाम्"** (१।५३) इस वचन की व्याख्या में यद्यपि विश्वरूप ने **"समानगोत्राणामप्यसमानप्रवराणामनिषिद्धो विवाहः"** ऐसा कहा है, तथापि विज्ञानेश्वर ने उस उक्ति की उपेक्षा करके *ऋजु*मिताक्षरा में **"गोत्रप्रवरौ च पृथक्पृथक् पर्युदासे निमित्तम्, तेनाऽसमानार्षजामसमानगोत्रजामित्यर्थः"** ऐसा कहा है। समानगोत्र-कन्या-विवाह शास्त्रविरुद्ध है। अज्ञान में जो हुआ सो हुआ, अब नहीं करना चाहिए।

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाऽविधनधान्यतः।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत्॥६॥

गौ, बकरी, भेड, धन तथा धान्य (अन्न) इत्यादि से समृद्ध और महाकुल होने पर भी इन (आगे कहे हुए [मनु.३।७]) दश प्रकार के कुलों को कन्याग्रहण के विषय में वर्जित करे॥६॥

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशाऽर्शसम्।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च॥७॥

१. श्रौत-स्मार्त यज्ञक्रियाओं से रहित कुल, २. पुरुषों की विरलता वाला कुल, ३. वेदाऽध्ययनाऽध्यापन से हीन कुल, ४. ज्यादा रोम वाले पुरुषों से युक्त कुल, ५. अर्शोरोग (गुदा में मांसाङ्कुर उगने वाला और लहु वहने वाला रोग) से युक्त कुल, ६. क्षयरोग (टी.बी.) से युक्त जनों का कुल, ७. वारंवार रोगों से आक्रान्त होने वाले रोगी जनों का कुल, ८. अपस्मार (मृगी) से युक्त लोगों का कुल, ९. श्वेत कुष्ठ रोग से युक्त जनों का कुल और १०. गलितकुष्ठ रोग से युक्त जनों का कुल॥७॥

नोद्वहेत् कपिलां कन्यां नाऽधिकाङ्गीं न रोगिणीम्।
नाऽलोमिकां नाऽतिलोमां न वाचालां न पिङ्गलाम्॥८॥

कपिल वर्ण वाली (भूरे वर्ण की) कन्या को, अधिक अङ्गों से युक्त कन्या को, वारंवार रोग से आक्रान्त होने वाली अथवा दीर्घरोग से युक्त कन्या को, शरीर में बिलकुल रोमों से रहित कन्या को, शरीर में ज्यादा रोमों से युक्त कन्या को, गर्हणीय रूप में ज्यादा बोलने वाली कन्या को और भूरी आँखों से युक्त कन्या को भी विवाहित न करे॥८॥

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नाऽन्त्यपर्वतनामिकाम्।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्॥९॥

नक्षत्रवाचक नाम वाली कन्या को, वृक्षविशेषवाचक नाम वाली कन्या को, नदीवाचक वा नदीविशेषवाचक नाम वाली कन्या को, अन्त्यजवाचक नाम वाली कन्या को, पर्वतवाचक नाम वाली कन्या को, पक्षिविशेषवाचक नाम वाली कन्या को, सर्पवाचक नाम वाली कन्या को, दासादि प्रेष्यवाचक नाम वाली कन्या को और भयजनक अर्थ का वाचक नाम वाली कन्या को भी विवाहित न करे॥९॥

अव्यङ्गाऽङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम्॥१०॥

विगुण अङ्ग से रहित, मधुर-सुखोच्चार्य नाम वाली, हंस की तरह अथवा हाथी की तरह चलने वाली; सूक्ष्म रोम, कोमल-मसृण केश और पतले-पतले दाँतों से युक्त तथा कोमल अङ्ग वाली कन्या को विवाहित करे॥१०॥

यस्यास् तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया॥११॥

जिस कन्या का भाई न हो अथवा जिस के पिता ज्ञात न हो उस कन्या को समझदार पुरुष पुत्रिकाधर्म की और अधर्म की शङ्का होने से विवाहित न करे॥११॥

सवर्णाऽग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि।
कामतस् तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः॥१२॥

द्विजातियों के लिए पहले विवाह के लिए अपने वर्ण की कन्या प्रशंसनीय मानी गई है, इच्छा से दूसरे विवाह में प्रवृत्त पुरुषों के लिए क्रमशः ये (आगे कही गई [३।१३]) कन्याएँ उत्तम होंगी॥१२॥

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञश् च ताश् च स्वा चाऽग्रजन्मनः॥१३॥

शूद्र के लिए शूद्रा कन्या ही भार्या (पत्नी) होती है, वैश्य के लिए शूद्रा कन्या और अपनी जाति की कन्या भार्या होती हैं, क्षत्रिय के लिए शूद्रा कन्या, वैश्या कन्या और अपनी जाति की कन्या भार्या होती हैं, ब्राह्मण के लिए शूद्रा कन्या, वैश्या कन्या, क्षत्रिया कन्या और अपनी जाति की कन्या भार्या होती हैं॥१३॥

न ब्राह्मण-क्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः।
कस्मिंश् चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते॥१४॥

आपत्काल में रहने वाले भी ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए तो किसी इतिहास के वृत्तान्त में भी शूद्रा कन्या धर्मपत्नी के रूप में लेने का उपदेश नहीं किया गया है॥१४॥

हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम्॥१५॥

कामवासनादि से मूढ होने से हीन जाति [शूद्रा] स्त्री को ब्याह करने वाले द्विजाति पुरुष सन्तान से सहित अपने कुल को शीघ्र ही शूद्रता में पहुँचाते हैं॥१५॥

शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च।
शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः ॥१६॥

अत्रि के मत में और उतथ्यपुत्र गौतम के मत में भी शूद्रा स्त्री को ब्याह करने वाला द्विजातिपुरुष (ब्राह्मण) पतित होता है, शौनक के मत में विवाहिता शूद्रा स्त्री में पुत्र की उत्पत्ति होने से द्विजातिपुरुष पतित होता है, भृगु के मत में केवल विवाहिता शूद्रा स्त्री में ही सन्तति पैदा करने से द्विजातिपुरुष पतित हो जाता है॥१६॥

शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम्।
जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥१७॥

ब्राह्मणपुरुष शूद्रा स्त्री को शय्या पर चढाकर नरक में जाता है। शूद्रा स्त्री में पुत्र उत्पादित करके तो ब्राह्मण पुरुष ब्राह्मणधर्म से ही च्युत हो जाता है॥१७॥

दैवपित्र्याऽऽतिथेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु।
नाऽश्नन्ति पितृदेवास् तन् न च स्वर्गं स गच्छति ॥१८॥

जिस ब्राह्मण के देवयज्ञादि दैव कर्म, श्राद्धादि पित्र्य कर्म और अतिथिभोजन भी शूद्रा स्त्री को साथ में लेकर किए जाते हैं उसके दैव कर्मादि का स्वीकार देवता और पितर लोग नहीं करते हैं, दैव-पित्र्यादि कर्म करता हुआ भी वह ब्राह्मण स्वर्ग में भी नहीं जाता है॥१८॥

वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च।
तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर् न विधीयते ॥१९॥

शूद्रा के अधररस का पान करने वाले, शूद्रा के श्वास से दूषित और शूद्रा में सन्तति का उत्पादन करने वाले ब्राह्मण की किसी प्रायश्चित्त से भी शुद्धि मुनियों से नहीं बताई जाती है॥१९॥

चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताऽहितान्।
अष्टाविमान् समासेन स्त्रीविवाहान् निबोधत ॥२०॥

चारों वर्णों के लिए परलोक में और इस लोक में हितकर और अहितकर इन आठ प्रकार के स्त्री-विवाहों को सङ्क्षेप में आप लोग जानिए॥२०॥

ब्राह्मो दैवस् तथैवाऽऽर्षः प्राजापत्यस् तथाऽऽसुरः।
गान्धर्वो राक्षसश् चैव पैशाचश् चाऽष्टमोऽधमः ॥२१॥

ब्राह्म विवाह, दैव विवाह, आर्ष विवाह, प्राजापत्य विवाह, आसुर विवाह, गान्धर्व विवाह, राक्षस विवाह, और आठवाँ अधम रूप का पैशाच विवाह। [ये आठ प्रकार के विवाह हैं]॥२१॥

यो यस्य धर्म्यो वर्णस्य गुणदोषौ च यस्य यौ।
तद् वः सर्वं प्रवक्ष्यामि प्रसवे च गुणाऽगुणान्॥२२॥

जो विवाह जिस वर्ण के लिए धर्म का प्रतिकूल नहीं होता है उसको, जिस विवाह के जो गुण और दोष होते हैं उनको और विवाहविशेष से सन्तति में आनेवाले गुणों और दोषों को, इन सब बातों को मैं आप लोगों को बताऊँगा॥२२॥

षडानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान्।
विट्शूद्रयोस् तु तानेव विद्याद् धर्म्यानराक्षसान्॥२३॥

ब्राह्मण के लिए क्रम से पहले ब्राह्म इत्यादि छह विवाहों को धर्म के अप्रतिकूल जाने, क्षत्रिय के लिए अन्त वाले आसुर इत्यादि चार प्रकार के विवाहों को धर्म के अप्रतिकूल जाने, वैश्य के और शूद्र के लिए तो उन अन्त वाले चार विवाहों में से राक्षस विवाह को छोडकर अन्य आसुर, गान्धर्व और पैशाच इन तीन विवाहों को धर्म के अप्रतिकूल जाने।

विशेष— उत्तरश्लोक में ब्राह्मण के लिए पहले चार को ही प्रशंसनीय कहे जाने से अवशिष्ट आसुर और गान्धर्व धर्म के सर्वथा प्रतिकूल न होने पर भी ब्राह्मण के लिए प्रशंसनीय नहीं होने से यथासम्भव परिहरणीय ही माने जाते हैं॥२३॥

चतुरो ब्राह्मणस्याऽऽद्यान् प्रशस्तान् कवयो विदुः।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः॥२४॥

ऋषि लोग पहले ब्राह्मादि चार विवाहों को ब्राह्मण के लिए प्रशंसनीय मानते हैं, क्षत्रिय के लिए एक ही राक्षस विवाह को प्रशंसनीय मानते हैं, वैश्य और शूद्र के लिए एक ही आसुर विवाह को प्रशंसनीय मानते हैं॥२४॥

पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह।
पैशाचश् चाऽऽसुरश् चैव न कर्तव्यौ कदाचन॥२५॥

अन्त के पाँच विवाहों में से तीन (प्राजापत्य, गान्धर्व, और राक्षस) विवाह इस शास्त्र में धर्म के अप्रतिकूल समझे गए हैं, पैशाच और आसुर दो विवाह इस शास्त्र में धर्म के प्रतिकूल समझे गए हैं, और पैशाच तथा आसुर ये दो प्रकार के विवाह कभी भी नहीं किए जाने चाहिए।

विशेष— यह वचन मुख्य रूप में ब्राह्मण और क्षत्रिय को लेकर प्रवृत्त अवगत होता है। वैश्य और शूद्र के लिए तो आसुर विवाह प्रशंसनीय ही माना गया है (३।२४)। पैशाच विवाह तो उनके लिए भी सामान्यतया वर्जनीय ही माना गया अवगत होता है॥२५॥

पृथक्पृथग् वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ।
गान्धर्वो राक्षसश् चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ॥२६॥

अलग-अलग रूप में अथवा मिश्रित रूप में भी पहले बताए गए वे गान्धर्व विवाह और राक्षस विवाह क्षत्रिय के लिए धर्म के अप्रतिकूल समझे गए हैं॥२६॥

आच्छाद्य चाऽर्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः॥२७॥

वेद पढ़े हुए सदाचारी वर को स्वयम् बुलाकर उसको वस्त्राभूषणों से आच्छादित और मधुपर्क से पूजित भी करके कन्या का दान करना ब्राह्मविवाह का लक्षण बताया गया है॥२७॥

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते।
अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते॥२८॥

अग्निष्टोमादि यज्ञ चलने के समय में ऋत्विक्कर्म करते हुए ऋत्विक् को वस्त्रभूषणादि से भूषित करके कन्या का दान करने को दैव विवाह का लक्षण ऋषि लोग बताते हैं॥२८॥

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते॥२९॥

वर से धर्म के रूप में बैल और गाय के एक जोडी को अथवा दो जोडियों को लेकर गृह्यसूत्र के विधान के अनुसार कन्या का दान करना जो है वह आर्ष विवाह का लक्षण कहा जाता है॥२९॥

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचाऽनुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः॥३०॥

'दोनों साथ-साथ धर्म करें' ऐसी वाणी से भी कहकर दोनों को सत्कृत करके वर को कन्या का दान करना प्राजापत्य विवाह का विधि समझा गया है॥३०॥

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याऽऽप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते॥३१॥

कन्या के पिता, भाई इत्यादि जाति वालों को और कन्या को भी अपनी शक्ति के अनुसार धन देकर अपनी इच्छानुकूल रूप में कन्या का लेना आसुर विवाह का लक्षण कहा जाता है॥३१॥

इच्छयाऽन्योऽन्यसंयोगः कन्यायाश् च वरस्य च।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः॥३२॥

कन्या की और वर की भी इच्छा से जो आलिङ्गन-मैथुनादिपूर्वक परस्पर-संयोग (विवाह) होता है, कामवासना से होने वाले और मैथुनसुख के लिए विशेष उपयुक्त उस विवाह को गान्धर्व विवाह के रूप में जानना चाहिए।

विशेष— गान्धर्व विवाह में भी सहवास से पहले धार्मिक विवाह की विधि सम्पन्न करने की बात महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान में आए हुए **"जग्राह विधिना पाणावुवास च तया सह"** (१।७३।२०) इस वचन से अवगत होती है॥३२॥

हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते॥३३॥

कन्या के पक्ष के लोगों को मारकर अथवा उनका अङ्गच्छेदनादि करके और घर के दीवाल को अथवा द्वारादि को तोडकर चिल्लाती और रोती हुई कन्या का बलात् अपहरण करना राक्षस विवाह का विधि कहा जाता है॥३३॥

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचः प्रथितोऽधमः॥३४॥

जिस विवाह में सोई हुई अथवा मद्यादि के मद से चूर अथवा अपने शील की रक्षा में असावधान कन्या में एकान्त में धोखा देकर गमन करके विवाह किया जाता है वह विवाहप्रकारों में सब से अधिक पाप से युक्त और अत्यन्त निकृष्ट विवाह पैशाच विवाह कहा जाता है॥३४॥

अद्भिरेव द्विजाऽग्र्याणां कन्यादानं विशिष्यते।
इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया॥३५॥

द्विज़ों में श्रेष्ठ ब्राह्मणों का जल के द्वारा (सङ्कल्पपूर्वक) ही कन्यादान दूसरों के कन्यादान से पृथक्रूप का होता है। अन्य वर्णों का तो परस्पर की इच्छा से ही जल के विना भी कन्यादान हो सकता है॥३५॥

यो यस्यैषां विवाहानां मनुना कीर्तितो गुणः।
सर्वं शृणुत तं विप्राः सम्यक् कीर्तयतो मम॥३६॥

हे ब्राह्मणों, इन विवाह-प्रकारों में से जिस विवाह-प्रकार का जो गुण मनु ने बताया है उस सब को अच्छी तरह से बताने वाले मुझ से आप लोग सुनिए॥३६॥

दश पूर्वान् परान् वंश्यानात्मानं चैकविंशकम्।
ब्राह्मीपुत्त्रः सुकृतकृन् मोचयत्येनसः पितॄन्॥३७॥

ब्राह्म विवाह से विवाहित स्त्री का पुण्यकर्म करने वाला पुत्त्र अपने से पूर्व (पहले वाले) दश वंशज पितरों को और अपने से पर (आगे आने वाले) दश वंशजों को तथा इक्कीसवें अपने को भी (१०+१०+१=२१) पाप से छुड़ाता है॥३७॥

दैवोढाजः सुतश् चैव सप्तसप्त पराऽवरान्।
आर्षोढाजः सुतस् त्रींस्त्रीन् षट्षट् कायोढजः सुतः॥३८॥

दैव विवाह से विवाहित स्त्री का पुण्यकर्म करने वाला पुत्त्र अपने से पूर्व (पहले वाले) सात वंशज पितरों को और अपने से अवर (आगे आने वाले) सात वंशजों को तथा पन्द्रहवें अपने को भी (७+७+१=१५) पाप से छुड़ाता है। आर्ष विवाह से विवाहित स्त्री का पुण्यकर्म करने वाला पुत्त्र अपने से पूर्व (पहले वाले) तीन वंशज पितरों को और अपने से अवर (आगे आने वाले) तीन वंशजों को तथा सातवें अपने को भी (३+३+१=७) पाप से छुड़ाता है। प्राजापत्य विवाह से विवाहित स्त्री का पुण्यकर्म करने वाला पुत्त्र अपने से पूर्व (पहले वाले) छह वंशज पितरों को और अपने से अवर (आगे आने वाले) छह वंशजों को तथा तेरहवें अपने को भी (६+६+१=१३) पाप से छुड़ाता है॥३८॥

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवाऽनुपूर्वशः।
ब्रह्मवर्चसिनः पुत्त्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः॥३९॥

ब्राह्म विवाहादि पूर्वोक्त (मनु.३।२१) चार प्रकार से ही क्रमशः प्रतिपादित (ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य) विवाहों में शिष्टों से प्रशंसित और ज्यादा ब्रह्मवर्चस से (अध्ययन के और चरित्र के तेज से) युक्त पुत्त्र उत्पन्न होते हैं॥३९॥

रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः॥४०॥

ब्राह्म विवाहादि चार प्रकार के (ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य) विवाहों में से किसी एक विवाह से विवाहित स्त्री में उत्पन्न पुत्त्र रूपगुण से और मेधा प्रतिभा मनोबल इत्यादि बुद्धिगुण से युक्त, धनवान्, यशस्वी, पर्याप्त अन्न-वस्त्र-निवास-क्षेत्रादि का भोग पाने वाले तथा अत्यन्त धार्मिक होते हैं और सौ वर्ष जीते हैं॥४०॥

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसाऽनृतवादिनः।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः॥४१॥

अवशिष्ट अन्य (चार) विवाह-प्रकारों (आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच विवाहों) में से किसी भी निन्द्य विवाह-प्रकार से विवाहित स्त्रियों में तो क्रूर, असत्य बोलने वाले, वेदद्वेषी और यज्ञादिधर्मद्वेषी पुत्त्र उत्पन्न होते हैं॥४१॥

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा।
निन्दितैर् निन्दिता नृणां तस्मान् निन्द्यान् विवर्जयेत्॥४२॥

मनुष्यों के अनिन्दित स्त्रीविवाहों से अनिन्द्य (प्रशंसनीय) सन्तति उत्पन्न होती है और निन्दित स्त्रीविवाहों से निन्दित सन्तति उत्पन्न होती है। इस कारण से निन्द्य विवाहों को वर्जित करे॥४२॥

पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते।
असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्मणि॥४३॥

कन्या के दाहिने हाथ को पकडकर किया जाने वाला विवाहसंस्कार वर के समान जाति वाली कन्याओं के लिए विहित किया जाता है। वर से भिन्न जाति वाली कन्याओं के लिए विवाहकर्म में यह (आगे बताया जा रहा) विधि जानना चाहिए॥४३॥

शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया।
वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने॥४४॥

अपने से उत्कृष्ट जाति के वर से (ब्राह्मण वर से) विवाहित होने वाली क्षत्रिया कन्या से ब्राह्मण वर से हाथ में लिया गया बाण पकड़ा जाना चाहिए, अपने से उत्कृष्ट जाति के वर से (ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय वर से) विवाहित होने वाली वैश्या कन्या से ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय वर से हाथ में लिया गया कोड़ा (चाबुक) पकडा जाना चाहिए, अपने से उत्कृष्ट जाति के वर से (ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय अथवा वैश्य वर से) विवाहित होने वाली शूद्रा कन्या से ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय अथवा वैश्य वर से पहने गए उत्तरीयवस्त्र का प्रान्त (छोर) पकड़ा जाना चाहिए॥४४॥

ऋतुकालाऽभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया॥४५॥

अमावास्यादि पर्वदिनों को छोडकर ऋतुकाल (गर्भधारण योग्य काल) में स्त्री में गमन करने वाला होवे, सदा अपनी पत्नी में ही रमने वाला (सन्तुष्ट) होवे, पत्नी को सन्तुष्ट रखने के नियम का पालन करने वाला पुरुष रति की कामना मे

पर्वदिनों को छोडकर अन्य दिनों में भी (ऋतुकालभिन्न काल में भी) पत्नी में गमन करे॥४५॥

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥४६॥

वर्णाश्रमधर्मी जनों से निन्दित और गमनयोग्य दिन से भिन्न प्रारम्भ के चार दिनों के साथ मासिक धर्म होने के दिन से लेकर सोलह रात्रियाँ स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल (गर्भधारणयोग्य काल) समझा गया है॥४६॥

तासामाद्याश् चतस्रस् तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास् तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥४७॥

उन सोलह रात्रियों में से पहली चार रात्रियाँ तो (स्त्री में गमन करने के लिए) निन्दित हैं, और जो ग्यारहवीं रात्री है वह भी निन्दित है तथा तेरहवीं रात्री भी निन्दित है; अवशिष्ट दश रात्रियाँ तो (स्त्री में गमन करने के लिए) प्रशंसायुक्त (उत्तम) मानी गई हैं॥४७॥

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु।
तस्माद् युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥४८॥

ऋतुकाल में युग्म (समसङ्ख्या वाली) रात्रियों में स्त्री में गमन करने से पुत्र उत्पन्न होते हैं, अयुग्म (विषमसङ्ख्या वाली) रात्रियों में स्त्री में गमन करने से पुत्रियाँ (कन्याएँ) उत्पन्न होती हैं। उस कारण से पुत्र चाहने वाला पुरुष ऋतुकाल में युग्म (समसङ्ख्या वाली) रात्रियों में स्त्री में गमन करे।

विशेष– पुत्रशब्द के रूप के विषय में टिप्पणी "आचार्यपुत्रः" इत्यादि श्लोक में (२।१०९) देखें॥४८॥

पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः।
समेऽपुमान् पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥४९॥

स्त्री-पुरुष-समागम में पुरुष का वीर्य अधिक होने पर पुरुष उत्पन्न होता है, स्त्री का बीज (शोणित) अधिक होने पर स्त्री उत्पन्न होती है; दोनों के बीज समान (बराबर) होने पर नपुंसक उत्पन्न होता है अथवा जुडवाँ पुरुष-स्त्री उत्पन्न होते हैं; दोनों के बीज (शुक्र-शोणित) निस्सार और थोडा होने पर गर्भ का अनुत्पादन होता है॥४९॥

निन्द्यास्वष्टासु चाऽन्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्रतत्राऽऽश्रमे वसन् ॥५०॥

ऋतुकाल की पूर्वोक्त निन्द्य रात्रियों में और चान्द्र महीने की अन्य आठ रात्रियों में भी स्त्रियों का वर्जन करता हुआ जिस किसी भी आश्रम में रहता हुआ पुरुष ब्रह्मचारी ही होता है।

विशेष— **'यत्रतत्राऽऽश्रमे वसन्'** कहने से वानप्रस्थाश्रम में भी ऋतुकाल में स्वदारगमन शास्त्राऽनुमत है, यह कुल्लूकभट्ट की व्याख्या विचारणीय है॥५०॥

न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच् छुल्कमण्वपि।
गृह्णञ् छुल्कं हि लोभेन स्यान् नरोऽपत्यविक्रयी॥५१॥

समझदार कन्या का पिता थोडा भी कन्याशुल्क नहीं ले, लोभ से कन्याशुल्क लेता हुआ मनुष्य अपनी सन्तति का विक्रय करने के पातक से युक्त होगा॥५१॥

स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः।
नारीयानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम्॥५२॥

मोह से जो बान्धव स्त्री के सुदाय-प्रीतिदायादि रूप के धन का उपभोग करते हैं, अथवा पालकी, डोली, खटोला इत्यादि रूप के स्त्री के यानों का अथवा वस्त्र का उपभोग करते हैं वे पापी लोग नरक जाते हैं॥५२॥

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर् मृषैव तत्।
अल्पोऽप्येवं महान् वाऽपि विक्रयस् तावदेव सः॥५३॥

आर्ष विवाह में कन्यापिता से लिए जाने वाले गोमिथुन को कोई शुल्क कहते हैं, किन्तु वह बात सत्य नहीं है; इस प्रकार शुल्क रूप में लेने पर तो शुल्क थोडा हो अथवा अधिक हो समान रूप से ही वह विक्रय हो जाता है॥५३॥

यासां नाऽऽददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः।
अर्हणं तत् कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम्॥५४॥

जिन कन्याओं के पिता भ्राता इत्यादि जाति वाले शुल्क नहीं लेते हैं वह विक्रय नहीं है, वह तो कन्याओं का पूजन है और उन पर की गई दया मात्र है॥५४॥

पितृभिर् भ्रातृभिश् चैताः पतिभिर् देवरैस् तथा।
पूज्या भूषयितव्याश् च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥५५॥

अपना अधिक कल्याण चाहने वाले पिताओं से, भाइयों से, पतियों से और देवरों से भी ये विवाहित होने को जा रही और विवाहित कन्याएँ सत्करणीय और भूषणीय भी होती हैं॥५५॥

यत्र नार्यस् तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास् तु न पूज्यन्ते सर्वास् तत्राऽफलाः क्रियाः ॥५६॥

जहाँ स्त्रियाँ पूजित (सत्कृत) होती हैं वहाँ देवताएँ रमती हैं (प्रसन्न होती हैं)। जहाँ ये (स्त्रियाँ) पूजित नहीं होती हैं वहाँ सभी यज्ञादि क्रिया निष्फल होती हैं॥५६॥

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत् कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद् धि सर्वदा ॥५७॥

जिस घर में पुत्री, बहन, पुत्त्रवधू इत्यादि स्त्रियाँ शोकग्रस्त होती हैं वह घर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। जिस घर में ये स्त्रियाँ शोकमग्न (चिन्तित) नहीं होती हैं वही घर सर्वदा उन्नत होता रहता है॥५७॥

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥५८॥

अपूजित (असत्कृत) पुत्री, बहन, पुत्त्रवधू इत्यादि स्त्रियाँ जिन घरों को शाप देती हैं वे घर कृत्या (अभिचार) से पीडित घर की तरह सभी ओर से नष्ट होते हैं॥५८॥

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाऽऽच्छादनाऽशनैः।
भूतिकामैर् नरैर् नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥५९॥

उस कारण से ऐश्वर्य चाहने वाले जनों को सत्कारों में (सुखरात्रि इत्यादि लौकिक उत्सवों में) और उत्सवों में (जातकर्म-नामकरण-अन्नप्राशन-चूडाकरण-उपनयन-विवाहादि कर्मों में) भी सदाकाल इन जामि लोगों को (स्त्रियों को) विभूषणों के वस्त्रों के और स्वादु भोजन के दान से पूजित (सत्कृत) करना चाहिए॥५९॥

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥६०॥

जिस घर में पत्नी से पति सदा सन्तुष्ट रहता है और पति से पत्नी भी सदा सन्तुष्ट रहती है उसी घर में निश्चित रूप में सदाकाल कल्याण होता है॥६०॥

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते ॥६१॥

यदि स्त्री वस्त्र-भूषण-स्नानादि से शोभायुक्त नहीं बनेगी तो वह स्त्री पुरुष को हर्षित नहीं कर सकेगी, पुरुष हर्षित न होने पर प्रजनन-कर्म प्रवृत्त (सम्पन्न) नहीं हो सकता है॥६१॥

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद् रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते॥६२॥

वस्त्र-भूषणादि से स्त्री शोभित होने पर वह सम्पूर्ण घर शोभित होता है, स्त्री शोभित न होने पर वह सम्पूर्ण घर ही शोभारहित हो जाता है॥६२॥

कुविवाहैः क्रियालोपैर् वेदाऽनध्ययनेन च।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणाऽतिक्रमेण च॥६३॥

आसुरादि निकृष्ट विवाहों से, श्रौत-स्मार्त यज्ञक्रिया-संस्कारक्रियाओं का लोप करने से, वेद का अध्ययन न करने से, ब्राह्मणों को उचित सम्मान न करने से भी बडे कुल हीन कुल में परिणत हो जाते हैं॥६३॥

शिल्पेन व्यवहारेण शूद्राऽपत्यैश् च केवलैः।
गोभिरश्वैश् च यानैश् च कृष्या राजोपसेवया॥६४॥

जीविका के लिए शिल्पकला के आश्रयण से, धन का व्याज पर देने का व्यवहार करने से, केवल शूद्रा में उत्पादित सन्तान से, जीविका के लिए पालित गायों से, घोडों से, जीविका के लिए रखे हुए यानों से, खेती से और राजा की नौकरी से भी [वेदाध्ययनरहित कुल शीघ्र ही निकृष्ट कुल में परिणत हो जाते हैं]॥६४॥

अयाज्ययाजनैश् चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम्।
कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः॥६५॥

श्रौत-स्मार्त यज्ञ करने में अनधिकारी अयाज्य (पतित, शूद्र, प्रतिलोमज इत्यादि) जनों को यज्ञ कराने से और श्रौत-स्मार्त कर्मों के परत्र मिलने वाले फलों में अविश्वास करने से भी वेदाध्ययन से रहित कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं (निकृष्ट कुल में परिणत हो जाते हैं)॥६५॥

मन्त्रतस् तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि।
कुलसङ्ख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद् यशः॥६६॥

वेदाध्ययन से समृद्ध कुल तो थोडे धन वाले होने पर भी उच्च कुलों की गणना में आ जाते हैं और बहुत यश को भी अपने साथ लेकर चलते हैं॥६६॥

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि।
पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चाऽन्वाहिकीं गृही॥६७॥

गृहस्थ पुरुष विवाह से निष्पादित अग्नि में गृह्यसूत्रोक्त कर्मों को गृह्यसूत्र के विधान के अनुसार सम्पन्न करे, पञ्चमहायज्ञों के विधान को और प्रतिदिन भोजन के लिए किए जाने वाले पाचनकार्य को भी विवाह से निष्पादित अग्नि में ही सम्पन्न करे।

विशेष– यह बात विवाहाग्नि को ही गृह्याग्नि बनाने वाले ऋग्वेदियों के मत की है॥६७॥

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश् च बध्यते यास् तु वाहयन्॥६८॥

गृहस्थ जिन को उपयोग में लाता हुआ पाप से सम्बद्ध हो जाता है, चुल्ही, चक्की (जाँता), झाड़ू, ओखली-मुसल और जल का घडा ये पाँच गृहस्थ की सूना (जन्तुवधस्थान) हैं॥६८॥

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥६९॥

क्रमशः उन सब पाँच सूनाओं के प्रायश्चित्त के लिए महर्षियों से गृहस्थों के लिए प्रतिदिन पाँच महायज्ञ कर्तव्य रूप में विहित किए गए हैं॥६९॥

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस् तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर् भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥७०॥

वेद का (अध्ययन और) अध्यापन ब्रह्मयज्ञ है, पितरों का जल से अथवा अन्न से तर्पण पितृयज्ञ है, होम देवयज्ञ है, बलिहरण भूतयज्ञ है, अतिथि का सत्कार मनुष्ययज्ञ है।

विशेष– ब्रह्मयज्ञ के विषय में अधिक जानना चाहने वाले सज्जन चौखम्बा विद्याभवन से संस्कृत में प्रकाशित आचार्यकौण्डिन्न्यायनकृत ब्रह्मयज्ञपद्धति (२००४ क्रै.) की सुविस्तृत प्रस्ताविका देखें॥७०॥

पञ्चैतान् यो महायज्ञान् न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन् नित्यं सूनादोषैर् न लिप्यते॥७१॥

जो गृहस्थ अपनी शक्ति के अनुसार इन पाँच यज्ञों को नहीं छोडता है वह गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी गृहस्थाश्रम में नित्य उत्पन्न होने वाले सूनादोषों से लिप्त नहीं होता है॥७१॥

देवताऽतिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश् च यः।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन् न स जीवति॥७२॥

जो गृहस्थ देवताओं को, अतिथि को, वृद्ध माता-पिता, बालक पुत्र, साध्वी पत्नी इत्यादि पोष्यवर्ग को, पितरों को और अपने को, इन पाँचों को अन्न नहीं देता है वह श्वास लेता हुआ भी नहीं जीता है॥७२॥

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च।
ब्राह्म्यं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान् प्रचक्षते॥७३॥

अन्य कतिपय मुनि पाँच महायज्ञों को क्रमशः अहुत, हुत, प्रहुत, ब्राह्म्य हुत और प्राशित इन नामों से बताते हैं॥७३॥

जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः।
ब्राह्म्यं हुतं द्विजाऽग्र्याऽर्चा प्राशितं पितृतर्पणम्॥७४॥

अहुत जप (वेदाध्ययन वा ब्रह्मयज्ञ) है, हुत होम (देवयज्ञ) है, प्रहुत भूतबलि (भूतयज्ञ) है, ब्राह्म्य हुत अतिथि ब्राह्मण का भोजन (मनुष्ययज्ञ) है, प्राशित पितृतर्पण (पितृयज्ञ) है॥७४॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् दैवे चैवेह कर्मणि।
दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम्॥७५॥

गृहस्थ (ब्राह्मण) स्वशाखावेद के अध्ययन में (ब्रह्मयज्ञ में) नित्य ही संलग्न रहे, इस लोक में दैव कर्म में (होम में) भी सदा ही संलग्न रहे, क्योंकि दैव कर्म में (होम में) संलग्न जन ही इस स्थावर और गतिशील जगत् को पोषित करता है॥७५॥

अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज् जायते वृष्टिर् वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥७६॥

शास्त्रविधि से अग्नि में डाली हुई आहुति सूर्य में प्राप्त होती है, सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है, और उस से (अन्न से) प्रजा उत्पन्न होती है॥७६॥

यथा वायुं समाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥७७॥

जैसे वायु का आश्रय करके ही सभी प्राणी जीते हैं वैसे ही गृहस्थ का आश्रय करके ही सभी आश्रमस्थ लोग अपनी सत्ता को प्राप्त करते हैं॥७७॥

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनाऽन्नेन चाऽन्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज् ज्येष्ठाऽऽश्रमो गृही॥७८॥

क्योंकि तीन ही आश्रमी (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और सन्न्यासी) ज्ञान से और प्रतिदिन अन्न से भी गृहस्थ से ही पोषित होते हैं, उस कारण से गृहस्थ अन्य आश्रमियों से ज्येष्ठ आश्रमी हैं।

विशेष— ब्रह्मचारी भी गृहस्थ गुरु से ही वेदाध्ययन कर सकता है, गृहस्थ सन्न्यासी को भी ज्ञान दे सकता है (सन्न्यासी से वेद का अध्ययन करना तो शास्त्र-व्यवस्था का प्रतिकूल ही है)। सामान्यतया ग्रामीण अन्न नहीं लेने वाला वानप्रस्थ भी गृहस्थ से ज्ञान तो पा सकता ही है। अवस्थाविशेष में वानप्रस्थ गृहस्थ से अन्न भी ले सकता है (मनु.६।२८)॥७८॥

स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥७९॥

जो गृहस्थाश्रम दुर्बल इन्द्रिय और मन वाले जनों से पालित नहीं हो सकता है वह गृहस्थाश्रम अक्षय स्वर्ग को चाहने वाले और इस लोक में भी सुख चाहने वाले जन से प्रयत्न से सदा पालनीय है॥७९॥

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस् तथा।
आशासते कुटुम्बिभ्यस् तेभ्यः कार्यं विजानता॥८०॥

ऋषि लोग, पितर लोग, देवताएँ, भूत और अतिथि भी गृहस्थों से ऋषिनिधि-रक्षा की और अन्नजलादि की आशा करते हैं; इस लिए इस वस्तुस्थिति को और शास्त्रविधान को जानने वाले गृहस्थ को ऋषि, पितर इत्यादि के लिए काम करना चाहिए॥८०॥

स्वाध्यायेनाऽर्चयेतर्षीन् होमैर् देवान् यथाविधि।
पितॄन् छ्राद्धैश् च नॄनन्नैर् भूतानि बलिकर्मणा॥८१॥

वेदाध्ययन से (ब्रह्मयज्ञ से) ऋषियों को पूजित करे, अपने गृह्यसूत्र के विधान के अनुसार होमों से देवताओं को पूजित करे, श्राद्धों से पितरों को पूजित करे, अतिथि मनुष्यों को अन्नों से पूजित करे और इन्द्रादि भूतों को (मनु.३।८७) बलिहरण-रूप कर्म से पूजित करे॥८१॥

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा।
पयोमूलफलैर् वाऽपि पितृभ्यः प्रीतिमावहन्॥८२॥

पितरों की प्रीति सम्पन्न करता हुआ गृहस्थ अपनी शक्ति के अनुसार अन्नों के भोज्य पदार्थों से अथवा जल से अथवा दूध से अथवा मूल से अथवा फल से भी प्रतिदिन श्राद्ध करे॥८२॥

एकमप्याशयेद् विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयज्ञिके।
न चैवाऽत्राऽऽशयेत् कञ्चिद् वैश्वदेवं प्रति द्विजम्॥८३॥

पञ्चमहायज्ञ के पितृकर्म में अधिक ब्राह्मणों को भोजन कराना सम्भव न होने पर एक ही ब्राह्मण को भी भोजन करावे, इस कृत्य में वैश्वदेवकर्म के लिए किसी ब्राह्मण को भी भोजन न करावे॥८३॥

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
आभ्यः कुर्याद् देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्॥८४॥

पञ्चमहायज्ञ के देवयज्ञ में ब्राह्मण गृहस्थ प्रतिदिन अपने गृह्यसूत्र में बताए गए विधि से गृह्याग्नि में (आवसथ्याग्नि में) इन (आगे बताई गई [३।८५-८६]) देवताओं के लिए पकाए गए वैश्वदेव अन्न का होम करे॥८४॥

अग्नेः सोमस्य चैवाऽऽदौ तयोश् चैव समस्तयोः।
विश्वेभ्यश् चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च॥८५॥

पहले अग्नि के लिए और सोम के लिए पृथक्-पृथक् और फिर अग्नि के और सोम के लिए संयुक्त रूप में, विश्वेदेवों के लिए और धन्वन्तरि के लिए भी (वैश्वदेवार्थक अन्न का होम करे)॥८५॥

कुह्वै चैवाऽनुमत्यै च प्रजापतय एव च।
सह द्यावापृथिव्योश् च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः॥८६॥

कुहू के लिए, अनुमति के लिए, प्रजापति के लिए तथा द्यौ और पृथिवी के लिए संयुक्त रूप में तथा अन्त में स्विष्टकृत् अग्नि के लिए भी (होम करे)॥८६॥

एवं सम्यग् घविर् हुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम्।
इन्द्राऽन्तकाऽप्पतीन्दुभ्यः साऽनुगेभ्यो बलिं हरेत्॥८७॥

इस प्रकार अपने गृह्यसूत्र के अनुसार हवि का हवन करके प्रदक्षिण क्रम से (पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर इस क्रम से) अपने-अपने अनुगामियों से युक्त इन्द्र के लिए, अन्तक के (यम के) लिए, अप्पति के (वरुण के) लिए, इन्दु के (चन्द्रमा के) लिए बलिहरण करे॥८७॥

मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि।
वनस्पतिभ्य इत्येवं मुसलोलूखले हरेत्॥८८॥

'मरुद्भ्यः' (मरुतों के लिए) ऐसा उच्चारण करके द्वारदेश में वैश्वदेवान्न फेंके, **'अद्भ्यः'** (जल के लिए) ऐसा उच्चारण करके जल में वैश्वदेवान्न फेंके और **'वनस्पतिभ्यः'** (वनस्पतियों के लिए) ऐसा उच्चारण करके मुसलसहित ओखली में वैश्वदेवान्न फेंके॥८८॥

उच्छीर्षके श्रियै कुर्याद् भद्रकाल्यै च पादतः।
ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत्॥८९॥

वास्तुपुरुष के शीर्षदेश में (ऐशानीदिशा की ओर) श्री के लिए बलिहरण करे, वास्तुपुरुष के पैर की ओर (नैर्ऋत्यदिशा की ओर) भद्रकाली के लिए बलिहरण करे, और ब्रह्मा के लिए तथा वास्तोष्पति के लिए तो वास्तुपुरुष के मध्यभाग में बलिहरण करे॥८९॥

विश्वेभ्यश् चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उत्क्षिपेत्।
दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तञ्चारिभ्य एव च॥९०॥

विश्वेदेवों के लिए, दिवाचर (दिन में विचरण करने वाले) प्राणियों के लिए और नक्तञ्चर (रात्री में विचरण करने वाले) प्राणियों के लिए भी आकाश की ओर वैश्वदेवान्न को फेंके॥९०॥

पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वाऽऽत्मभूतये।
पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत्॥९१॥

सर्वात्मभूति के लिए वास्तुभूमि के पृष्ठभाग में बलिहरण करे। बलियों के देने के बाद बचे हुए सब अन्न को दक्षिण की ओर पितरों के लिए बलिहरण करे॥९१॥

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर् निर्वपेद् भुवि॥९२॥

कुत्तों के लिए, पतितों के लिए, चण्डालों के लिए, पापजनित कुष्ठादि रोगों से युक्त लोगों के लिए, कौवों के लिए और कीडों के लिए भी (पत्ता इत्यादि से अन्तरित) बाहर भूमि में धीरे से वैश्वदेवान्न रख दे॥९२॥

एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति।
स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्तिं पथर्जुना॥९३॥

जो गृहस्थ ब्राह्मण इस प्रकार प्रतिदिन सभी प्राणियों का सत्कार करता है वह सीधे मार्ग से तेजःस्वरूप परम स्थान में (ब्रह्मलोक में) जाता है॥९३॥

कृत्वैतद् बलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत्।
भिक्षां च भिक्षवे दद्याद् विधिवद् ब्रह्मचारिणे॥९४॥

इस प्रकार बलिहरण (भूतयज्ञ) करके (घर में अतिथि प्राप्त होने पर) पहले अतिथि को खिलाए, शास्त्रविधान के अनुसार भिक्षुक को (वैदिक मार्ग के सन्न्यासी को) और [वेद-वेदाङ्गों के अध्ययन के लिए गुरुकुल में स्थित] ब्रह्मचारी को भी भिक्षा दे॥९४॥

यत् पुण्यफलमाप्नोति गां दत्त्वा विधिवद् गुरोः।
तत् पुण्यफलमाप्नोति भिक्षां दत्त्वा द्विजो गृही॥९५॥

मनुष्य शास्त्रविधि के अनुसार गुरु को गाय देकर जो पुण्यफल प्राप्त करता है, गृहस्थ ब्राह्मण भिक्षा देकर उस पुण्यफल को प्राप्त करता है॥९५॥

भिक्षामप्युदपात्रं वा सत्कृत्य विधिपूर्वकम्।
वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत्॥९६॥

शास्त्र के विधान के अनुसार सत्कार करके वेद के तत्त्वार्थ को जानने वाले ब्राह्मण को अधिक देना सम्भव न होने पर भिक्षा मात्र भी और उतना भी सम्भव न होने पर केवल जलपूर्ण पात्र भी प्रतिदिन समर्पित करे॥९६॥

नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम्।
भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहाद् दत्तानि दातृभिः॥९७॥

दान के विविध पक्षों को और रहस्य को नहीं जानने वाले पुरुषों का हव्य (देवता के उद्देश्य से समर्पित अन्न) और कव्य (पितरों के उद्देश्य से समर्पित अन्न) भी अज्ञान से दाताओं द्वारा वेदाध्ययनादि से विमुख होने से तेजोरहित होकर राखतुल्य बने हुए ब्राह्मणों को दिए जाने से नष्ट हो जाते हैं, (देवताओं को और पितरों को नहीं मिलते हैं, देने वाले का कल्याण भी नहीं होता है)॥९७॥

विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाऽग्निषु।
निस्तारयति दुर्गाच् च महतश् चैव किल्बिषात्॥९८॥

विद्या और तपस्या से प्रदीप्त विप्रमुखरूप अग्नि में डाला गया हवि दुस्तर रोगादि सङ्कट से और बडे पाप से भी पार लगा देता है॥९८॥

सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम्॥९९॥

घर में प्राप्त अतिथि को आसन और जल दे। अपनी शक्ति के अनुसार शास्त्र में बताए गए विधि से सत्कार करके अन्न भी अतिथि को दे॥९९॥

शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः।
सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन्॥१००॥

अपूजित होकर घर में बैठता हुआ अतिथि ब्राह्मण सदाकाल शिलोञ्छ वृत्ति से (किसानों द्वारा अन्न उठा ले जाने पर खेतों में छूटे हुए अन्न की बालों को इकट्ठे करके, अथवा अन्न के कणों को चुनकर, अथवा नित्य याचन करके) जीवनयात्रा चलाते हुए गृहस्थ का भी और पाँच (गृह्याग्नि, गार्हपत्याग्नि, आहवनीयाग्नि, दक्षिणाग्नि, सभ्याग्नि इन) अग्नियों में हवन करते हुए गृहस्थ का भी सम्पूर्ण पुण्य-कर्मफल को ले लेता है।

विशेष— छत्रिन्याय से होमाधार के रूप में पाँच अग्नियों का ग्रहण है, अथवा मतविशेष में कालविशेष में सभ्य अग्नि में भी होम होता है॥१००॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥१०१॥

और अधिक वस्तु न होने पर भी बैठने और सोने के लिए तृण (पुआल), बैठने-सोने की भूमि, जल और चौथी सत्य तथा प्रिय-मधुर वाणी इतने वस्तु तो गृहस्थधर्म की साधना करने वाले सत्पुरुषों के घर में कभी भी नहीं टूटते हैं॥१०१॥

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर् ब्राह्मणः स्मृतः।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते॥१०२॥

एक रात ही ठहरने वाला ब्राह्मण अतिथि समझा गया है। क्योंकि अनित्य (अनियत) रूप में ही ठहरता है, इस लिए अतिथि कहा जाता है॥१०२॥

नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गतिकं तथा।
उपस्थितं गृहे विद्याद् भार्या यत्राऽग्नयोऽपि वा॥१०३॥

समान ग्राम के निवासी ब्राह्मण को और बातचीत के द्वारा सङ्गति करके खाना-बैठना चाहने वाले ब्राह्मण को भी जहाँ पत्नी और अग्नियाँ हैं वैसे घर में भी वैश्वदेव काल में ही उपस्थित होने पर भी अतिथि नहीं समझना चाहिए॥१०३॥

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम्॥१०४॥

धर्मतत्त्व समझने की बुद्धि से रहित जो गृहस्थ ब्राह्मण आतिथ्यलोभ से दूसरे गाँव में जाकर पराग्निपक्व अन्न का भोजन करते हैं, वे उस मिथ्याचार से दूसरे जन्म में उन अन्नादि देने वालों के यहाँ पशु के रूप में जन्म लेते हैं॥१०४॥

अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना।
काले प्राप्तस् त्वकाले वा नाऽस्याऽनश्नन् गृहे वसेत्॥१०५॥

गृहस्थ को सायङ्काल में अस्ताचल में डूबते हुए सूर्य से ढोकर अपने घर में लाए गए अतिथि को मना नहीं करना चाहिए। समय में आया हुआ अथवा असमय में भी आया हुआ अतिथि इस गृहस्थ ब्राह्मण के घर में विना भोजन किए नहीं रहे॥१०५॥

न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन् न भोजयेत्।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं चाऽतिथिपूजनम्॥१०६॥

जो भोज्य पदार्थ अतिथि को नहीं खिलाया जाता है, ऐसे पदार्थ को गृहस्थ स्वयं भी न खावे। अतिथि का सत्कार करना धन बढाने वाला, यश बढाने वाला, आयु बढाने वाला और स्वर्ग देने वाला भी होता है॥१०६॥

आसनाऽऽवसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम्।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद् धीने हीनं समे समम्॥१०७॥

आसन, विश्रामस्थान, बिस्तरा, बिदाई में अनुगमन और साथ में रहने का काम भी अपने से उत्तम अतिथि में उत्तम रूप में, अपने से समान अतिथि में मध्यम रूप में और अपने से न्यून गुण के अतिथि में न्यून ही रूप में करे॥१०७॥

वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत्।
तस्याऽप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान् न बलिं हरेत्॥१०८॥

वैश्वदेव कर्म समाप्त हो चुकने पर यदि दूसरा अतिथि आ जाय तो उसको भी अपनी शक्ति के अनुसार भोजन दे, फिर बलिहरण न करे॥१०८॥

न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत्।
भोजनार्थं हि ते शंसन् वान्ताऽशीत्युच्यते बुधैः॥१०९॥

भोजन के लिए ब्राह्मण अपना कुल और गोत्र न बताए। भोजन के लिए अपना कुल और गोत्र बताने वाला ब्राह्मण विज्ञ लोगों से 'वान्ताशी' (वमन किए गए पदार्थ को खाने वाला) कहा जाता है॥१०९॥

न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर् गृहे राजन्य उच्यते।
वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयो गुरुरेव च ॥११०॥

ब्राह्मण के घर में आया हुआ क्षत्रिय तो अतिथि नहीं कहा जाता है; वैश्य-शूद्र, मित्र, बान्धव और गुरु भी वैश्वदेवकाल में घर में आने पर भी अतिथि नहीं कहे जाते हैं। [इन को अभ्यागत कहते हैं] ॥११०॥

यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमाव्रजेत्।
भुक्तवत्सु च विप्रेषु कामं तमपि भोजयेत् ॥१११॥

यदि अतिथिलक्षण से युक्त रूप में क्षत्रिय ब्राह्मण के घर में आवे तो ब्राह्मणों के भोजन कर चुकने पर और इच्छा होने पर उसको भी भोजन करावे ॥१११॥

वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ।
भोजयेत् सह भृत्यैस् तावानृशंस्यं प्रयोजयन् ॥११२॥

अतिथिलक्षण से युक्त रूप में वैश्य और शूद्र घर में आए हैं तो उनको भी दया करता हुआ गृहस्थ ब्राह्मण प्रेष्यवर्ग के जनों के साथ भोजन करावे ॥११२॥

इतरानपि सख्यादीन् सम्प्रीत्या गृहमागतान्।
प्रकृत्याऽन्नं यथाशक्ति भोजयेत् सह भार्यया ॥११३॥

प्रेम से घर में आए हुए अन्य मित्र, बान्धव इत्यादि को भी अपनी शक्ति के अनुसार अच्छा भोजन बनवाकर भार्या के साथ में भोजन करावे ॥११३॥

सुवासिनीः कुमारीश् च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान् भोजयेदविचारयन् ॥११४॥

नवविवाहिता छोटी-छोटी वधुओं को (पितृगृह में रहने वाली बूढीकन्या इत्यादि को?), कुमारियों को, रोगियों को और गर्भिणी स्त्रियों को भी इन सब को ही औचित्य-अनौचित्य की विचारणा को छोडकर अतिथियों से पहले ही भोजन करावे ॥११४॥

अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्तेऽविचक्षणः।
स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर् जग्धिमात्मनः ॥११५॥

जो सभी विषयों का विचार करने में असमर्थ गृहस्थ इन लोगों को (अतिथि, भृत्यवर्ग इत्यादि को) भोजन न देकर पहले ही स्वयम् भोजन करता है वह भोजन करता हुआ गृहस्थ नरक में कुत्ते गीध इत्यादि से अपने को खाए जा [illegible] बात को नहीं जानता है ॥११५॥

भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि।
भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती ॥११६॥

अतिथि ब्राह्मणों के और अपने पोष्यवर्ग के जनों के भी भोजन कर लेने पर उसके बाद बचे हुए अन्न को गृहस्थ पति-पत्नी खावें॥११६॥

देवानृषीन् मनुष्यांश् च पितॄन् गृह्याश् च देवताः।
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग् भवेत् ॥११७॥

देवताओं को, ऋषियों को, मनुष्यों को, पितरों को और गृह (घर) की श्री, भद्रकाली इत्यादि (मनु.३।८९) देवताओं को भी पूजित करके उसके बाद गृहस्थ बचे हुए अन्न को खाने वाला होवे॥११७॥

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्।
यज्ञशिष्टाऽशनं ह्येतत् सतामन्नं विधीयते ॥११८॥

(देवतादि को समर्पित करने के लिए नहीं), केवल अपने ही लिए जो अन्न पकाता है वह केवल पाप को ही खाता है (पाप को ही अपने अन्दर कर लेता है)। पञ्चमहायज्ञों से बचा हुआ जो खाया जाता है यह ही वर्णाश्रम-धर्म की साधना में लगे हुए सत्पुरुषों का अन्न बताया जाता है॥११८॥

राजर्त्विक्स्नातकगुरून् प्रियश्वसुरमातुलान्।
अर्हयेन् मधुपर्केण परि संवत्सरात् पुनः ॥११९॥

बीच में एक वर्ष को (अथवा उस से अधिक काल को) छोडकर मिलने के लिए फिर आने पर राजा को, ऋत्विक् को, स्नातक को, गुरु को, दामाद को (अथवा मित्र को), श्वशुर को और मामा को मधुपर्क से सत्कृत करे॥११९॥

राजा च श्रोत्रियश् चैव यज्ञकर्मण्युपस्थितौ।
मधुपर्केण सम्पूज्यौ न त्वयज्ञ इति स्थितिः ॥१२०॥

राजा और श्रोत्रिय (स्नातक) यज्ञ कर्म में उपस्थित होने पर ही मधुपर्क से सत्करणीय होते हैं, यज्ञस्थल से अन्यत्र मिलने पर नहीं, यह व्यवस्था है॥१२०॥

सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत्।
वैश्वदेवं हि नामैतत् सायम्प्रातर् विधीयते ॥१२१॥

सायङ्काल में पकाए गए अन्न का तो पत्नी ही विना मन्त्र बलिहरण करे। वैश्वदेवकर्म नाम का यह कृत्य सायङ्काल में और प्रातःकाल में भी कर्तव्यतया शास्त्र से विहित है॥१२१॥

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश् चेन्दुक्षयेऽग्निमान्।
पिण्डाऽन्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान् मासाऽनुमासिकम्॥१२२॥

श्रौत अग्नि से युक्त ब्राह्मण अमावास्या में पिण्डपितृयज्ञ सम्पन्न करके महीने-महीने में किए जाने वाले पिण्डान्वाहार्यक नाम के श्राद्ध को भी सम्पन्न करे॥१२२॥

पितॄणां मासिकं श्राद्धमन्वाहार्यं विदुर् बुधाः।
तच् चाऽऽमिषेण कर्तव्यं प्रशस्तेन प्रयत्नतः॥१२३॥

पितरों के लिए महीने में किए जाने वाले श्राद्ध को धर्मज्ञ लोग अन्वाहार्य-श्राद्ध मानते हैं। वह श्राद्ध प्रशंसनीय (शास्त्रविहितपशु के अविकृत) मांस से किया जाना चाहिए।

विशेष— वैदिक परम्परा में श्राद्ध में मांस के प्रयोग के विषय में विस्तृत विचार के लिए वाराणसीस्थ सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय की अनुसन्धान-पत्रिका सारस्वती सुषमा में (६० व., १–२ अ., वि.सं.२०६२, पृ.१२९–१८२) प्रकाशित **"श्राद्धे मांसप्रयोगस् तदीयवेदशास्त्रप्रामाण्यविचारश् च"** नाम का शिवराज आचार्य कौण्डिन्न्यायन का निबन्ध पठनीय है॥१२३॥

तत्र ये भोजनीयाः स्युर् ये च वर्ज्या द्विजोत्तमाः।
यावन्तश् चैव यैश् चाऽन्नैस् तान् प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥१२४॥

उस श्राद्ध में जो जैसे ब्राह्मण खिलाने में योग्य होते हैं और जो जैसे ब्राह्मण खिलाने में वर्जनीय होते हैं, जितने ब्राह्मण जिन अन्नों से खिलाने में उचित अथवा आवश्यक होते हैं उन सब को मैं कुछ भी बाँकी न रखकर बताऊँगा॥१२४॥

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा।
भोजयेत् सुसमृद्धोऽपि न प्रवर्तेत विस्तरे॥१२५॥

अत्यन्त समृद्ध गृहस्थ भी पार्वणश्राद्ध के वैश्वदेवश्राद्ध में दो ब्राह्मणों को और पित्रादिश्राद्ध में तीन ब्राह्मणों को खिलाए, अथवा वैश्वदेवश्राद्ध और पित्रादिश्राद्ध दोनों में ही एक-एक ब्राह्मण को ही खिलाए, ब्राह्मणसङ्ख्या के विस्तार में न उलझे॥१२५॥

सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदः।
पञ्चैतान् विस्तरो हन्ति तस्मान् नेहेत विस्तरम्॥१२६॥

ब्राह्मणसङ्ख्या में किया गया विस्तार ब्राह्मणों के सत्कार को, श्राद्धदेश को, श्राद्धकाल को, शुद्धता को और ब्राह्मणों की शास्त्रोक्त लक्षणसम्पत्ति को, इन पाँचों

पक्षों को क्षति पहुँचाता है, उस कारण से ब्राह्मणसङ्ख्या में विस्तार करने की इच्छा न करे॥१२६॥

प्रथिता प्रेतकृत्यैषा पित्र्यं नाम विधुक्षये।
तस्मिन् युक्तस्यैति नित्यं प्रेतकृत्यैव लौकिकी ॥१२७॥

चन्द्रमा के क्षय में (अमावास्या में) किया जाने वाला पित्र्य कर्म (श्राद्ध) जो है यह प्रसिद्ध प्रेतकृत्या (पितरों के लिए किया जाने वाला कृत्य) है। सदाकाल उसमें लगने वाले मनुष्य को लौकिक प्रेतकृत्या (पुत्र-पौत्रादिकृत ऐहलौकिक और पारलौकिक सेवा-उपकार) प्राप्त होती है॥१२७॥

श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकव्यानि दातृभिः।
अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम् ॥१२८॥

दाताओं से हव्य (देवताओं को उद्दिष्ट करके दिए जाने वाले अन्न) और कव्य (पितरों को उद्दिष्ट करके दिए जाने वाले अन्न) भी वेद पढ़ने वाले कुल-आचार से भी योग्यतम ब्राह्मण को ही दिए जाने चाहिए, उस प्रकार के ब्राह्मण को दिया गया हव्य अथवा कव्य बडे फल को देने वाला होता है॥१२८॥

एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयेत्।
पुष्कलं फलमाप्नोति नाऽमन्त्रज्ञान् बहूनपि ॥१२९॥

गृहस्थ वैश्वदेवश्राद्ध में और पित्रादिश्राद्ध में भी एक-एक भी विद्वान् ब्राह्मण को खिलाए, इस से ही वह पर्याप्त (पूर्ण) फल पाता है। वेदमन्त्रों को न जानने वाले अधिक सङ्ख्या के भी ब्राह्मणों को खिलाने से तो वह पर्याप्त फल नहीं पाता है॥१२९॥

दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम्।
तीर्थं तद् धव्यकव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः ॥१३०॥

वेद में पारङ्गत ब्राह्मण के (पितृपितामहादि अभिजन की शुद्धि इत्यादि का निरूपण करके) गुण-दोषों की परीक्षा श्राद्धकर्ता दूर से ही करे (उसी ब्राह्मण को अथवा उसके निकट के जनों को पूछकर उस ब्राह्मण के गुण-दोषों की परीक्षा न करे)। वेद में पारङ्गत ब्राह्मण हव्यों और कव्यों का पात्र है, हव्य-कव्यों के प्रदान में वह वेदपारग ब्राह्मण अतिथितुल्य है (महान् फल की प्राप्ति में हेतु होने वाला है)॥१३०॥

सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुञ्जते।
एकस् तान् मन्त्रवित् प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः ॥१३१॥

जिस श्राद्ध में वेदमन्त्राऽध्ययन से रहित हजार-हजार (दश लाख) ब्राह्मण खाते हैं, वहाँ वेदमन्त्राऽध्ययन से युक्त और प्रसन्न एक ही ब्राह्मण धर्मफल देने में उन सब का तुल्य होता है, (इस लिए उन सब के जगह में वह एक ही निमन्त्रण में योग्य होता है)॥१३१॥

ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कव्यानि च हवींषि च।
न हि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुध्यतः ॥१३२॥

ज्ञान से अपने से श्रेष्ठ ब्राह्मण को ही कव्य (पितरों के उद्देश से दिए जाने वाले अन्न) और हवि (देवताओं के उद्देश से दिए जाने वाले अन्न) भी दिए जाने चाहिए, क्योंकि लहू से लथपथ हाथ लहू से ही धोने से शुद्ध नहीं हो सकते हैं॥१३२॥

यावतो ग्रसते ग्रासान् हव्यकव्येष्वमन्त्रवित्।
तावतो ग्रसते प्रेत्य दीप्तशूलर्ष्ट्ययोगुडान् ॥१३३॥

वेदमन्त्र न जानने वाला ब्राह्मण देवकार्य में और पितृकार्य में भोजनीय ब्राह्मण के रूप में जितने कौरों को खाता है, (उसको खिलाने वाला मनुष्य) उतने ही जलते हुए शूल, ऋष्टि (दुधारी तलवार) और लोहे के पिण्डों को मरने पर नरक में जाकर खाता है॥१३३॥

ज्ञाननिष्ठा द्विजाः केचित् तपोनिष्ठास् तथाऽपरे।
तपःस्वाध्यायनिष्ठाश् च कर्मनिष्ठास् तथाऽपरे ॥१३४॥

कोई ब्राह्मण ज्ञानपरायण होते हैं, अन्य कोई ब्राह्मण तपःपरायण होते हैं, अन्य कोई ब्राह्मण तपोरूप वेदाध्ययन में समर्पित होते हैं, और अन्य कोई ब्राह्मण श्रौत-स्मार्त-यज्ञों में विशेषतया संलग्न होते हैं॥१३४॥

ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः।
हव्यानि तु यथान्यायं सर्वेष्वेव चतुर्ष्वपि ॥१३५॥

कव्य को (पितरों के उद्देश से दिए जाने वाले अन्न को) यत्नपूर्वक ज्ञानपरायण ब्राह्मणों में रखना चाहिए। हव्य को (देवताओं के उद्देश से दिए जाने वाले अन्न को) तो यथोचित रूप में उन सभी चारों प्रकार के ब्राह्मणों में रखना चाहिए॥१३५॥

अश्रोत्रियः पिता यस्य पुत्त्रः स्याद् वेदपारगः।
अश्रोत्रियो वा पुत्त्रः स्यात् पिता स्याद् वेदपारगः ॥१३६॥
ज्यायांसमनयोर् विद्याद् यस्य स्याच् छ्रोत्रियः पिता।
मन्त्रसम्पूजनार्थं तु सत्कारमितरोऽर्हति ॥१

जिस का पिता वेदाध्ययन से रहित होगा किन्तु पुत्त्र वेद में पारङ्गत होगा, जिस का पुत्त्र वेदाध्ययन से रहित होगा किन्तु पिता वेद में पारङ्गत होगा, इन में से जिस का पिता वेदाध्ययन से युक्त होगा उसी को (स्वयम् वेदाध्ययन से रहित होने पर भी) बढ़िया जाने, अन्य (स्वयम् वेदाध्ययन से युक्त होने पर भी जिस का पिता वेदाध्ययन से रहित है वह) तो केवल उस से पढ़े गए मन्त्रों के सम्मान के लिए ही सत्कार करने योग्य होता है॥१३६-१३७॥

न श्राद्धे भोजयेन् मित्रं धनैः कार्योऽस्य सङ्ग्रहः।
नाऽरिं न मित्रं यं विद्यात् तं श्राद्धे भोजयेद् द्विजम्॥१३८॥

श्राद्ध में भोजनीय ब्राह्मण के रूप में मित्र को नहीं खिलाए, मित्र का सङ्ग्रह धन से करना चाहिए। जिस ब्राह्मण को न शत्रु के रूप में न तो मित्र के रूप में जाने उस ब्राह्मण को श्राद्ध में भोजन कराए॥१३८॥

यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींषि च।
तस्य प्रेत्य फलं नाऽस्ति श्राद्धेषु च हविःषु च॥१३९॥

जिस के श्राद्ध (पितृकार्य) और हवि (देवकार्य) भी भोजनीय ब्राह्मण के रूप में मित्र को लेकर सम्पन्न किए जाते हैं उसको श्राद्धों का और देवकार्यों का भी परलोक में फल नहीं मिलता है॥१३९॥

यः सङ्गतानि कुरुते मोहाच् छ्राद्धेन मानवः।
स स्वर्गाच् च्यवते लोकाच् छ्राद्धमित्रो द्विजाऽधमः॥१४०॥

जो मनुष्य धर्मतत्त्व के अज्ञान से श्राद्ध के द्वारा ब्राह्मणों से मित्रता जोडता है वह श्राद्धमित्र (श्राद्ध से मित्रों का सङ्ग्रह करने वाला) निकृष्ट द्विजाति मनुष्य स्वर्गलोक से च्युत होता है (गिरता है)॥१४०॥

सम्भोजनी साऽभिहिता पैशाची दक्षिणा द्विजैः।
इहैवाऽऽस्ते तु सा लोके गौरन्धेवैकवेश्मनि॥१४१॥

देवकार्य-पितृकार्यों में मित्रसङ्ग्रह की भावना से दी गई जो सम्भोजनी (दावत) होती है वह धर्मज्ञ ब्राह्मणों से पैशाची दक्षिणा (पिशाचों के अनुरूप दान) कही गई है। वह दक्षिणा जैसे अन्धी गाय एक ही घर में रहती है वैसे ही इसी लोक में रहती है (परलोक में फल नहीं देती है)॥१४१॥

यथेरिणे बीजमुप्त्वा न वप्ता लभते फलम्।
तथाऽनृचे हविर् दत्त्वा न दाता लभते फलम्॥१४२॥

जैसे नोनी भूमि में (मरुभूमि में) बीज को बोकर बोने वाला फल नहीं पाता है वैसे ही वेदाध्ययन से रहित ब्राह्मण को देवकार्य-पितृकार्यों में हवि (अन्न) देकर देने वाला फल नहीं पाता है॥१४२॥

दातॄन् प्रतिग्रहीतॄंश् च कुरुते फलभागिनः।
विदुषे दक्षिणा दत्ता विधिवत् प्रेत्य चेह च॥१४३॥

वेद जानने वाले ब्राह्मण को शास्त्रोक्त विधि से दिया गया दान देने वाले दाताओं को और प्रतिग्रहीताओं को (लेने वालों को) भी परलोक में और इस लोक में भी फलभागी (फल पाने वाले) बनाता है॥१४३॥

कामं श्राद्धेऽर्चयेन् मित्रं नाऽभिरूपमपि त्वरिम्।
द्विषता हि हविर् भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम्॥१४४॥

कदाचित् श्राद्ध में मित्र को भी ब्राह्मण के रूप में खिलाए, किन्तु विद्वान् होने पर भी शत्रु को ब्राह्मण के रूप में न खिलाए, क्योंकि शत्रु से खाया गया अन्न परलोक में निष्फल होता है॥१४४॥

यत्नेन भोजयेच् छ्राद्धे बह्वृचं वेदपारगम्।
शाखान्तगमथाऽध्वर्युं छन्दोगं तु समाप्तिकम्॥१४५॥

श्राद्ध में मन्त्र-ब्राह्मणरूप वेद में पारङ्गत ऋग्वेदाध्यायी ब्राह्मण को यत्नपूर्वक निमन्त्रित करके भोजन करावे। अथवा अपनी शाखा के वेद के अन्त तक के अध्ययन से युक्त यजुर्वेदाध्यायी ब्राह्मण को भोजन करावे। अथवा अपनी शाखा के वेद की समाप्ति तक अध्ययन से युक्त सामवेदाध्यायी ब्राह्मण को भोजन करावे॥१४५॥

एषामन्यतमो यस्य भुञ्जीत श्राद्धमर्चितः।
पितॄणां तस्य तृप्तिः स्याच् छाश्वती साप्तपौरुषी॥१४६॥

इन में से कोई भी एक ब्राह्मण सुपूजित होकर जिस के श्राद्ध में भोजन करेगा उसके पितरों की सात पींढी तक नित्य तृप्ति होगी॥१४६॥

एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः।
अनुकल्पस् त्वयं ज्ञेयः सदा सद्भिरनुष्ठितः॥१४७॥

हव्य (देवताओं को उद्दिष्ट करके दिया जाने वाला अन्न) और कव्य (पितरों को उद्दिष्ट करके दिया जाने वाला अन्न) के दान के विषय में यह पहला कल्प (मुख्य शास्त्रविधि) है। वर्णाश्रम धर्म की साधना में संलग्न सत्पुरुषों से सर्वदा आचरित अनुकल्प (प्रथम कल्प से कुछ न्यून गुण वाला विधान) तो यह (आगे बताया गया [३।१४८-]) जानना चाहिए॥१४७॥

मातामहं मातुलं च स्वस्रीयं श्वशुरं गुरुम्।
दौहित्रं विट्पतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत्॥१४८॥

नाना को, मामा को, भानजे को, श्वशुर को, गुरु को, दोहता को (पुत्री के पुत्र को), दामाद को, बन्धु को, अपने ऋत्विक् को और अपने यजमान को भी देवकार्य-पितृकार्य में भोजनीय ब्राह्मण के रूप में भोजन करावे॥१४८॥

न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित्।
पित्र्ये कर्मणि तु प्राप्ते परीक्षेत प्रयत्नतः॥१४९॥

धर्मतत्त्व को जानने वाला पुरुष दैव कर्म के (वैश्वदेवश्राद्ध के) लिए प्रयत्न से ब्राह्मण की परीक्षा न करे, पित्र्य कर्म (पितृ-पितामहादि का श्राद्ध) कर्तव्यतया प्राप्त होने पर तो ब्राह्मण की विशेष प्रयत्न से परीक्षा करे॥१४९॥

ये स्तेनपतितक्लीबा ये च नास्तिक्यवृत्तयः।
तान् हव्यकव्ययोर् विप्राननर्हान् मनुरब्रवीत्॥१५०॥

जो ब्राह्मण चोर, पतित और नपुंसक हैं और जो ब्राह्मण वेदोक्त परलोक में विश्वास न लेकर काम करने वाले हैं उन ब्राह्मणों को मनु ने देवकृत्य और पितृकृत्य में ब्राह्मण के रूप में भोजनादि करने में अयोग्य बताया है।

विशेष— वैदिक परम्परा में केवल जन्म से अथवा जाति से मनुष्य पूज्य अथवा सत्करणीय अथवा प्रशंसनीय नहीं माना जाता है। गुण भी होने पर मनुष्य विशेष पूज्य माना जाता है। इस विषय में शास्त्रों में अनेक वचन पाए जाते हैं। उनमें महाभारत के शान्तिपर्व का **“अनृशंसः शुचिर् दान्तः सत्यवागार्जवे स्थितः। योनि-कर्म-विशुद्धश् च पात्रं स्याद् वेदविद् द्विजः”** (३०९।१०) यह वचन विशेष स्मरणीय और मननीय है। अत एव मनुस्मृति में भी जन्मना ही ब्राह्मण माने जाने पर भी गुणों को भी ध्यान में रखकर ही ब्राह्मणविशेष को श्राद्ध में परिहरणीय अथवा निमन्त्रणीय माना गया है॥१५०॥

जटिलं चाऽनधीयानं दुर्बलं कितवं तथा।
याजयन्ति च ये पूगांस् तांश् च श्राद्धे न भोजयेत्॥१५१॥

ब्रह्मचारी होने पर भी वेद को नहीं पढ़ रहे ब्रह्मचारी ब्राह्मण को, रोगी ब्राह्मण को, जुआरी ब्राह्मण को और जो सङ्घविशेषों में आबद्ध समुदायों का याजन करने वाले ब्राह्मण हैं उनको भी श्राद्ध में ब्राह्मण के रूप में नहीं खिलाए॥१५१॥

चिकित्सका देवलका मांसविक्रयिणस् तथा।
विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युर् हव्यकव्ययोः॥१५२॥

शुल्क लेकर चिकित्सा करने वाले ब्राह्मण, वृत्ति के लिए मन्दिरों की देवताओं की पूजा करने वाले ब्राह्मण तथा मांस का विक्रय करने वाले ब्राह्मण भी श्राद्ध में ब्राह्मण के रूप में खिलाने में वर्जनीय होते हैं। अल्प मूल्य में खरीद और अधिक मूल्य में विक्रय करके लाभ से जीविका करने वाले ब्राह्मण भी देवकार्य और पितृकार्य में वर्जनीय हैं॥१५२॥

प्रेष्यो ग्रामस्य राज्ञश् च कुनखी श्यावदन्तकः।
प्रतिरोद्धा गुरोश् चैव त्यक्ताऽग्निर् वार्धुषिस् तथा॥१५३॥

सङ्घ का आज्ञाकारी, राजा का आज्ञाकारी, नखरोगयुक्त, मृतदन्तयुक्त, गुरु का प्रतिकूल आचरण करने वाला, श्रौताग्नि का अथवा गृह्याग्नि का आधान करके पीछे उसका त्याग करने वाला और व्याज से जीविका करने वाला ब्राह्मण भी देवकार्य और पितृकार्य में वर्जनीय हैं॥१५३॥

यक्ष्मी च पशुपालश् च परिवेत्ता निराकृतिः।
ब्रह्मद्विद् परिवित्तिश् च गणाऽभ्यन्तर एव च॥१५४॥

क्षयरोगी, पशुपालन से जीविका करने वाला, परिवेत्ता (पिता अथवा ज्येष्ठभ्राता से पहले अग्न्याधान अथवा ज्येष्ठभ्राता से पहले विवाह करने वाला), स्वाध्याय (ब्रह्मयज्ञ) न करने वाला, ब्राह्मण का द्वेष करने वाला, परिवित्ति (पुत्र अथवा कनिष्ठभ्राता से अग्न्याधान अथवा कनिष्ठभ्राता से विवाह किए जाने पर भी अग्न्याधान अथवा विवाह से रहित होने वाला) और आर्थिक राजनीनिक विभिन्न गणों का (सङ्घों का, पार्टियों का) सदस्य ब्राह्मण भी देवकार्य-पितृकार्य में वर्जनीय है॥१५४॥

कुशीलवोऽवकीर्णी च वृषलीपतिरेव च।
पौनर्भवश् च काणश् च यस्य चोपपतिर् गृहे॥१५५॥

नृत्य-गीतों से जीविका करने वाला, ब्रह्मचर्यव्रत को भङ्ग करने वाला, शूद्रा स्त्री का पति, पुनर्विवाहिता स्त्री का पुत्र, काना (एक आँख वाला) और जिस के घर में पत्नी का जार रहता हो वैसा ब्राह्मण भी देवकार्य-पितृकार्य में वर्जनीय है॥१५५॥

भृतकाऽध्यापको यश् च भृतकाऽध्यापितस् तथा।
शूद्रशिष्यो गुरुश् चैव वाग्दुष्टः कुण्डगोलकौ॥१५६॥

पढ़ने वाले से 'इतना द्रव्य देते हो तो मैं तुम को इतना वेद पढ़ाऊँगा' ऐसा पणबन्ध (कबूल) करके पढ़ने वाले से ही द्रव्य लेकर वेद पढ़ाने वाला ब्राह्मण, 'मैं आप को इतना द्रव्य दूंगा आप मुझ को इतना वेद पढ़ा दीजिए' ऐसा पणबन्ध (कबूल) करके वेद पढ़ने वाला ब्राह्मण, शूद्र से व्याकरणादि शास्त्र पढ़ने वाला ब्राह्मण, शूद्र

को व्याकरणादि शास्त्र पढ़ाने वाला ब्राह्मण, वाग्दुष्ट (गर्हित वाणी वाला ब्राह्मण), कुण्ड (सधवा ब्राह्मणी का ब्राह्मण जार से उत्पन्न पुत्त्र) और गोलक (विधवा ब्राह्मणी का द्वितीय ब्राह्मण पति से उत्पन्न पुत्त्र) भी देवकार्य-पितृकार्य में वर्जनीय हैं।

विशेष– भृतकाध्यापकत्वरूप दोष के विषय में अधिक जिज्ञासु सज्जन चौखम्बा विद्याभवन से प्रकाशित हमारी ब्रह्मयज्ञपद्धति (२००४ क्रै.) की प्रस्ताविका को (पृ.९७–९९) देखें॥१५६॥

अकारणपरित्यक्ता मातापित्रोर् गुरोस् तथा।
ब्राह्मैर् यौनैश् च सम्बन्धैः संयोगं पतितैर् गतः॥१५७॥

शास्त्रसम्मत उचित कारण के विना ही माता का अथवा पिता का अथवा गुरु का त्याग करने वाला तथा पतितों से ब्राह्म (वेदमूलक अध्ययन-अध्यापनरूप अथवा यजन-याजनरूप) सम्बन्ध से अथवा यौन (कन्यादान-कन्याग्रहणरूप) सम्बन्ध से सम्बन्ध करने वाला भी देवकार्य-पितृकार्य में वर्जनीय है॥१५७॥

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी।
समुद्रयायी बन्दी च तैलिकः कूटकारकः॥१५८॥

घर में आग लगाने वाला, विष देने वाला, कुण्ड (३।१७४) का अन्न खाने वाला अथवा बहुभोजी, सोमलता का विक्रय करने वाला, वाणिज्यादि के लिए समुद्रयात्रा करने वाला, मनुष्य की स्तुति पढ़ने वाला, तेल का उत्पादन-विक्रयण करने वाला और झूठी गवाही देने वाला ब्राह्मण भी देवकार्य-पितृकार्य में वर्जनीय है॥१५८॥

पित्रा विवदमानश् च कितवो मद्यपस् तथा।
पापरोग्यभिशस्तश् च दाम्भिको रसविक्रयी॥१५९॥

पिता के साथ झगड़ने वाला, दूसरे मनुष्य के द्वारा जुआ खेलने वाला, मदिरा पीने वाला, कुष्ठादि पापरोग से युक्त, पातक के आरोप से निन्दित, लोकप्रतारण के लिए धर्माचरण का ढोंग करने वाला और मधुर-अम्लादि रस से युक्त द्रव्यों का विक्रय करने वाला ब्राह्मण भी देवकार्य-पितृकार्य में वर्जनीय है॥१५९॥

धनुःशराणां कर्ता च यश् चाऽग्रेदिधिषूपतिः।
मित्रध्रुग् द्यूतवृत्तिश् च पुत्त्राचार्यस् तथैव च॥१६०॥

धनुषों का और बाणों का निर्माता, अग्रेदिधिषू का पति (जो विवाहयोग्य बड़ी बहन के अविवाहित रहने पर ही विवाहित छोटी बहन का पति है वह), मित्र का द्रोह करने वाला, द्यूतकारक (जुए का अड्डा चलाने वाला) और पुत्त्र को गुरु बनाने

वाला (पुत्र से विद्या सीखने वाला अथवा लिपिशिक्षक) ब्राह्मण भी देवकार्य-पितृकार्य में वर्जनीय है॥१६०॥

भ्रामरी गण्डमाली च श्वित्र्यथो पिशुनस् तथा।
उन्मत्तोऽन्धश् च वर्ज्याः स्युर् वेदनिन्दक एव च॥१६१॥

अपस्मार (मृगी) का रोगी, गण्डमाला रोग का रोगी, श्वेतकुष्ठ का रोगी, चुगलखोर, पागल, अन्धा और वेद का निन्दक ब्राह्मण भी देवकार्य-पितृकार्य में वर्जनीय होंगे॥१६१॥

हस्तिगोऽश्वोष्ट्रदमको नक्षत्रैर् यश् च जीवति।
पक्षिणां पोषको यश् च युद्धाऽऽचार्यस् तथैव च॥१६२॥

हाथी को अथवा बैल को अथवा घोडे को अथवा ऊँट को सधाने वाला ब्राह्मण, जो नक्षत्रविद्या से (ज्योतिष से) जीविका करता है वह, जो जीविका के लिए पक्षियों को पालने वाला है वह और युद्धविद्या की शिक्षा देने वाला ब्राह्मण भी देवकार्य-पितृकार्य में वर्जनीय है॥१६२॥

स्रोतसां भेदको यश् च तेषां चाऽऽवरणे रतः।
गृहसंवेशको दूतो वृक्षाऽऽरोपक एव च॥१६३॥

जो जल के स्रोतों के मार्ग को बदल देने वाला है वह, जल के स्रोतों को रोकने में संलग्न, गृहनिवेशक (वास्तुविद्योपजीवी), शासकादि का दूत और वृक्षरोपण कर्म से जीविका करने वाला ब्राह्मण भी देवकार्य-पितृकार्य में वर्जनीय है॥१६३॥

श्वक्रीडी श्येनजीवी च कन्यादूषक एव च।
हिंस्रो वृषलवृत्तिश् च गणानां चैव याजकः॥१६४॥

कुत्तों की क्रीडा दिखाकर जीविका करने वाला, बाज पक्षी का खेल दिखाकर जीविका करने वाला, कन्या को मैथुनादि से दूषित करने वाला, हिंसाशील, शूद्रकर्म से जीविका करने वाला और विनायकादि गणदेवताओं का याजन करने वाला ब्राह्मण भी देवकार्य-पितृकार्य में वर्जनीय है॥१६४॥

आचारहीनः क्लीबश् च नित्यं याचनकस् तथा।
कृषिजीवी श्लीपदी च सद्भिर् निन्दित एव च॥१६५॥

गुरुसम्मान-अतिथिसत्कार-स्नान-सन्ध्योपासन-ब्रह्मयज्ञादि आचार से हीन, धर्मकार्य में उत्साह से हीन, सदा याचना करने वाला, स्वयंकृत कृषिकार्य से जीविका करने वाला, श्लीपद (हाथीपाँव=फीलपाँव) रोग का रोगी और वर्णाश्रमधर्म के साधना में संलग्न सत्पुरुषों से निन्दित ब्राह्मण भी देवकार्य-पितृकार्य में वर्जनीय है॥१६५॥

औरभ्रिको माहिषिकः परपूर्वापतिस् तथा।
प्रेतनिर्यातकश् चैव वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥१६६॥

भेडों के पालन से जीविका करने वाला, भैंसों के पालन से जीविका करने वाला, प्रथम पति को छोडने वाली स्त्री का द्वितीय पति, जीविका के लिए मुर्दों का निर्हरण (श्मशान में ले जाने का काम) करने वाला ब्राह्मण भी देवकार्य-पितृकार्य में विशेष प्रयत्न से वर्जनीय होते हैं।॥१६६॥

एतान् विगर्हिताऽऽचारानपाङ्क्तेयान् द्विजाऽधमान्।
द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत् ॥१६७॥

इन निन्दित आचरण वाले, उत्तम ब्राह्मणों की पङ्क्ति में बैठने में अयोग्य, अत्यन्त निकृष्ट ब्राह्मणों को धर्मतत्त्व को जानने वाला ब्राह्मण देवकार्य-पितृकार्य दोनों में वर्जित करे।॥१६७॥

ब्राह्मणस् त्वनधीयानस् तृणाऽग्निरिव शाम्यति।
तस्मै हव्यं न दातव्यं न हि भस्मनि हूयते ॥१६८॥

वेद न पढ़ने वाला ब्राह्मण हवि डालने पर फूस की अग्नि की तरह बूझ जाता है। इस लिए उसको हव्य (देवताओं को उद्दिष्ट करके दिया जाने वाला अन्न) नहीं देना चाहिए, क्योंकि भस्म में हवन नहीं किया जाता है।॥१६८॥

अपाङ्क्तदाने यो दातुर् भवत्यूर्ध्वं फलोदयः।
दैवे हविषि पित्र्ये वा तत् प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥१६९॥

उत्तम ब्राह्मणों की पङ्क्ति में बैठने के लिए अयोग्य ब्राह्मण को देवता को उद्दिष्ट करके दिए जाने वाले अन्न को अथवा पितरों को उद्दिष्ट करके दिए जाने वाले अन्न को देने से देने वाले को देने के बाद जो फल प्राप्त होता है उसको कुछ भी अवशिष्ट न रखकर बताऊँगा।॥१६९॥

अव्रतैर् यद् द्विजैर् भुक्तं परिवेत्त्रादिभिस् तथा।
अपाङ्क्तेयैर् यदन्यैश् च तद् वै रक्षांसि भुञ्जते ॥१७०॥

वेदाध्ययन के व्रत से रहित ब्राह्मणों से जो देवताओं को उद्दिष्ट करके और पितरों को उद्दिष्ट करके दिए गए अन्न को खाया जाता है, वैसे ही परिवेत्ता इत्यादि ब्राह्मणों से जो वैसा अन्न खाया जाता है और उत्तम ब्राह्मणों की पङ्क्ति में बैठने में अयोग्य अन्य ब्राह्मणों से भी जो वैसा अन्न खाया जाता है उस अन्न को राक्षस जीम लेते हैं। [वह अन्न देवताओं को और पितरों को नहीं मिलता है] ॥१७०॥

दाराऽग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते।
परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस् तु पूर्वजः ॥१७१॥

जो पुरुष अग्रज (बडे भाई) का अविवाहित अथवा अनाहिताग्नि रहने पर ही विवाह अथवा अग्न्याधान करता है उसको परिवेत्ता जानना चाहिए। वैसी अवस्था में अग्रज को परिवित्ति जानना चाहिए॥१७१॥

परिवित्तिः परीवेत्ता यया च परिविद्यते।
सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः ॥१७२॥

उक्त परिस्थिति में परिवित्ति (अग्रज), परिवेत्ता (अनुज), जिस कन्या के विवाह से परिवेदन किया गया है वह कन्या, उस कन्या का दाता (पिता, बडा भाई इत्यादि) और उस विवाह में हवनादि कराने वाला पुरोहित, वे सभी चारों पाँचवे स्थान के पुरोहित के साथ में नरक जाते हैं॥१७२॥

भ्रातुर् मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः।
धर्मेणाऽपि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूपतिः ॥१७३॥

मरे हुए भाई की धर्मपूर्वक ही नियुक्त की गई (मनु.९।५९–६१) भार्या में भी जो पुरुष कामपरवश होकर अनुरक्त होता है उसको दिधिषूपति जानना चाहिए॥१७३॥

परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ।
पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान् मृते भर्तरि गोलकः ॥१७४॥

दूसरे की पत्नी में कुण्ड और गोलक ये दो प्रकार के पुत्त्र उत्पन्न होते हैं। पति जीवित ही रहने पर दूसरे पुरुष से जो पुत्त्र उत्पन्न होता है वह कुण्ड है और पति मरने पर दूसरे पुरुष से जो पुत्त्र उत्पन्न होता है वह गोलक है॥१७४॥

तौ तु जातौ परक्षेत्रे प्राणिनौ प्रेत्य चेह च।
दत्तानि हव्यकव्यानि नाशयेते प्रदायिनाम् ॥१७५॥

दूसरे की पत्नी में उत्पन्न वे दोनों प्राणी उनमें दिए गए दाताओं के हव्यों (देवतोद्देश्यक अन्नों) को और कव्यों (पित्रुद्देश्यक अन्नों) को भी परलोक में और इस लोक में भी नष्ट कर देते हैं [निष्फल बना देते हैं]।

विशेष— कुण्ड और गोलक को और उन के सन्तान को गुरु और पुरोहित बनाकर ब्राह्मणकर्म कराना नहीं चाहिए। इन में मुख्य ब्राह्मणत्व नहीं रहता है॥१७५॥

अपाङ्क्त्यो यावतः पाङ्क्त्यान् भुञ्जानाननुपश्यति।
तावतां न फलं तत्र दाता प्राप्नोति बालिशः ॥१७६॥

ब्राह्मणों की पङ्क्ति में बैठने में अयोग्य (पङ्क्तिदूषक) ब्राह्मण पङ्क्ति में बैठे हुए भोजन कर रहे जितने ब्राह्मणों को (पङ्क्ति में बैठकर) देखता है वहाँ अविज्ञ श्राद्धदाता उतने ब्राह्मणों को भोजन कराने का फल नहीं पाता है॥१७६॥

वीक्ष्याऽन्धो नवतेः काणः षष्टेः श्वित्री शतस्य तु।
पापरोगी सहस्रस्य दातुर् नाशयते फलम्॥१७७॥

(पङ्क्ति में बैठा हुआ) अन्धा ब्राह्मण उस से देखने योग्य स्थल में बैठे हुए नब्बे ब्राह्मणों को खिलाने से दाता को मिलने वाले फल को, काना ब्राह्मण साठ ब्राह्मणों को खिलाने से दाता को मिलने वाले फल को, श्वेत कुष्ठ वाला ब्राह्मण सौ ब्राह्मणों को खिलाने से दाता को मिलने वाले फल को और कुष्ठ, क्षय इत्यादि पापरोग से युक्त ब्राह्मण हजार ब्राह्मणों को खिलाने से दाता को मिलने वाले फल को नष्ट कर देता है॥१७७॥

यावतः संस्पृशेदङ्गैर् ब्राह्मणाञ् छूद्रयाजकः।
तावतां न भवेद् दातुः फलं दानस्य पौर्तिकम्॥१७८॥

शूद्र को यज्ञ कराने वाला ब्राह्मण अङ्गों से जितने ब्राह्मणों को छूता है उतने ब्राह्मणों को दिए गए दान का अन्नदानादि पूर्त कर्मों से मिलने वाला फल भी दाता को नहीं मिलेगा॥१७८॥

वेदविच् चाऽपि विप्रोऽस्य लोभात् कृत्वा प्रतिग्रहम्।
विनाशं व्रजति क्षिप्रमामपात्रमिवाऽम्भसि॥१७९॥

वेद को जानने वाला ब्राह्मण भी लोभ से इस शूद्रयाजक से दान लेकर पानी में मिट्टी के कच्चे बर्तन की तरह शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है॥१७९॥

सोमविक्रयिणे विष्ठा भिषजे पूयशोणितम्।
नष्टं देवलके दत्तमप्रतिष्ठं तु वार्धुषौ॥१८०॥

सोमलता का विक्रय करने वाले ब्राह्मण को दिया गया दान दाता के लिए परलोक में विष्ठातुल्य अनुपभोग्य होता है, जीविका के लिए चिकित्सा करने वाले ब्राह्मण को दिया गया दान दाता के लिए परलोक में पीव (मवाद) और लहू की तरह अनुपभोग्य होता है, जीविका के लिए मन्दिर में देवता की पूजा करने वाले ब्राह्मण को दिया गया दान दाता के लिए परलोक में नष्ट (निष्फल) होता है और व्याज से जीविका करने वाले ब्राह्मण को दिया गया दान दाता के लिए परलोक में निराधार (असुरक्षित) होता है॥१८०॥

यत् तु वाणिजके दत्तं नेह नाऽमुत्र तद् भवेत्।
भस्मनीव हुतं हव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे ॥१८१॥

क्रय-विक्रय से जीविका करने वाले ब्राह्मण में दिया गया जो हव्य अथवा कव्य है वह भस्म में डाले गए हवि की तरह इस लोक में भी फल देने वाला नहीं होगा, परलोक में भी फल देने वाला नहीं होगा। पुनर्भू (पति को छोडकर दूसरे पुरुष के साथ में गई हुई) स्त्री के पुत्र द्विजाति को दिया गया हव्य अथवा कव्य भी वैसा ही होगा॥१८१॥

इतरेषु त्वपाङ्क्त्येषु यथोद्दिष्टेष्वसाधुषु।
मेदोऽसृङ्मांसमज्जाऽस्थि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥१८२॥

उत्तम ब्राह्मणों की पङ्क्ति में बैठने में अयोग्य, ऊपर बताए गए स्ववर्णाश्रमधर्मसाधना में शिथिल अन्य असत्पुरुषों में दिए गए हव्यरूप अथवा कव्यरूप अन्न को धर्मतत्त्व के विज्ञ मुनि लोग चर्बी, लहू, मांस, हड्डी के भीतर का गूदा और हड्डी इन के घृण्य मिश्रण के समान दाता के लिए परलोक में अनुपभोग्य बताते हैं॥१८२॥

अपाङ्क्त्योपहता पङ्क्तिः पाव्यते यैर् द्विजोत्तमैः।
तान् निबोधत कार्त्स्न्येन द्विजाऽग्र्यान् पङ्क्तिपावनान् ॥१८३॥

उत्तम ब्राह्मणों की पङ्क्ति में बैठने में अयोग्य पङ्क्तिदूषक अधम ब्राह्मण को बैठाने से दूषित पङ्क्ति जिन श्रेष्ठ ब्राह्मणों से अपनी उपस्थिति से शुद्ध की जाती है उन पङ्क्तिपावन श्रेष्ठ ब्राह्मणों को सम्पूर्ण रूप में आप लोग जानिए॥१८३॥

अग्र्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च।
श्रोत्रियाऽन्वयजाश् चैव विज्ञेयाः पङ्क्तिपावनाः ॥१८४॥

सभी चारों (तीनों) वेदों के ज्ञानियों में श्रेष्ठ, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दश्शास्त्र, ज्योतिष इन छहों वेदाङ्गों के ज्ञानियों में भी श्रेष्ठ और वेदाध्येताओं के वंश में उत्पन्न ब्राह्मणों को पङ्क्तिपावन जानना चाहिए॥१८४॥

त्रिणाचिकेतः पञ्चाऽग्निस् त्रिसुपर्णः षडङ्गवित्।
ब्रह्मदेयाऽऽत्मसन्तानो ज्येष्ठसामग एव च ॥१८५॥

नाचिकेत अग्नि का तीन वार चयन करने वाले अथवा उस अग्नि के प्रतिपादक वेदभाग को विशेष रूप से पढ़ने वाले अथवा नाचिकेताग्नि के चयन में जो इष्टका जितनी इष्टका लगती है और जैसे लगती है उसको अच्छी तरह जानने वाले

ब्राह्मण को; गृह्याग्नि, गार्हपत्याग्नि, आहवनीयाग्नि, दक्षिणाग्नि, सभ्याग्नि इन पाँचों अग्नियों का सेवन करने वाले ब्राह्मण को, ऋग्वेदियों के **'चतुष्कपर्दा युवतिः'** इत्यादि तीन ऋचाओं को (१०।११४।३-५) अथवा कृष्णयजुर्वेदियों के महानारायणोपनिषद् के **'ब्रह्ममेतु माम्'** इत्यादि तीन अनुवाकों को (१०।४८,४९,५०) पढ़ने वाले ब्राह्मण को अथवा सुपर्णचिदग्नि को तीन वार चयन करने वाले ब्राह्मण को, वेद के शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दश्शास्त्र, ज्योतिष इन छहों अङ्गों का व्याख्यान करने वाले ब्राह्मण को, ब्राह्म विवाह से विवाहित ब्राह्मणी के पुत्र ब्राह्मण को, आज्यदोह नाम के ज्येष्ठ सामों को गाने वाले ब्राह्मण को भी पङ्क्तिपावन जानना चाहिए॥१८५॥

वेदार्थवित् प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः ।
शतायुश् चैव विज्ञेया ब्राह्मणाः पङ्क्तिपावनाः ॥१८६॥

वेद के अर्थ को जानने वाले ब्राह्मण को, वेद के अर्थ का प्रवचन करने वाले ब्राह्मण को, ब्रह्मचारी ब्राह्मण को, हजार गायों का दान करने वाले ब्राह्मण को, सौ वर्ष की आयु वाले ब्राह्मण को भी पङ्क्तिपावन जानना चाहिए॥१८६॥

पूर्वेद्युरपरेद्युर् वा श्राद्धकर्मण्युपस्थिते ।
निमन्त्रयेत त्र्यवरान् सम्यग् विप्रान् यथोदितान् ॥१८७॥

श्राद्ध कर्म सन्निहित होने पर श्राद्धदिन से पूर्व दिन में अथवा उत्तर दिन में (श्राद्ध के ही दिन में) बताए गए प्रकार के न्यूनतम तीन ब्राह्मणों को शास्त्रोक्त विधि से अच्छी तरह सत्कार करके न्योता दे॥१८७॥

निमन्त्रितो द्विजः पित्र्ये नियताऽऽत्मा भवेत् सदा ।
न च च्छन्दांस्यधीयीत यस्य श्राद्धं च तद् भवेत् ॥१८८॥

पितरों के कार्य के लिए न्योता दिया गया ब्राह्मण सर्वदा संयत मन वाला (जितेन्द्रिय) होवे। वेदों का अध्ययन भी न करे। जिस का वह श्राद्ध है (जिस को श्राद्ध करना है) वह भी संयत मन वाला होवे और वेदों का अध्ययन भी न करे॥१८८॥

निमन्त्रितान् हि पितर उपतिष्ठन्ति तान् द्विजान् ।
वायुवच् चाऽनुगच्छन्ति तथाऽऽसीनानुपासते ॥१८९॥

पितर लोग न्योता दिए गए उन ब्राह्मण के समीप में खडे रहते हैं, उन ब्राह्मणों के चलने पर वायु की तरह उनके पीछे चलते हैं और उन ब्राह्मणों के बैठने पर उनके समीप में बैठते हैं॥१८९॥

केतितस् तु यथान्यायं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः।
कथञ्चिदप्यतिक्रामन् पापः सूकरतां व्रजेत् ॥१९०॥

देवकार्य में अथवा पितृकार्य में भी शास्त्रोक्त विधि से न्योता दिया गया ब्राह्मण न्योता स्वीकार करके भी यदि किसी कारण से भी न्योते का लङ्घन करता है (भोजन नहीं करता है) तो वह पापी ब्राह्मण मरने पर सूअर के रूप में जन्म लेगा॥१९०॥

आमन्त्रितस् तु यः श्राद्धे वृषल्या सह मोदते।
दातुर् यद् दुष्कृतं किञ्चित् तत् सर्वं प्रतिपद्यते ॥१९१॥

श्राद्ध में निमन्त्रित जो ब्राह्मण शूद्रा स्त्री के साथ रमण (मैथुन) करता है वह श्राद्ध करने वाले के जो जितने पाप हैं उन सब को प्राप्त कर लेता है॥१९१॥

अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः।
न्यस्तशस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्वदेवताः ॥१९२॥

पितर लोग क्रुद्ध होने के स्वभाव से रहित, शारीर और मानस शौच रखने वाले, निरन्तर ब्रह्मचर्य व्रत रखने वाले, शस्त्रत्याग से युक्त, दया क्षमा इत्यादि बडे गुणों से युक्त, अनादिदेवतारूप हैं॥१९२॥

यस्मादुत्पत्तिरेतेषां सर्वेषामप्यशेषतः।
ये च यैरुपचर्याः स्युर् नियमैस् तान् निबोधत ॥१९३॥

इन सब पितरों का जिस से उत्पत्ति हुई है, जो-जो पितर लोग जिन-जिन से नियमों से पूजनीय हैं, उन सब को कुछ भी अवशिष्ट न रखकर जानिए॥१९३॥

मनोर् हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः।
तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥१९४॥

हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) से उत्पन्न मनु के (स्वायम्भुव मनु के) जो मरीचि अत्रि, अङ्गिरा इत्यादि (मनु.१।३५) पुत्र ऋषि हैं, उन सभी ऋषियों के पुत्र ही पितरों के गण समझे गए हैं॥१९४॥

विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः।
अग्निष्वात्ताश् च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः ॥१९५॥

विराट् (प्रजापति) के पुत्र सोमसद् पितर लोग साध्य नामक देवगण के पितर समझे गए हैं, मरीचि के पुत्र और लोक में प्रसिद्ध अग्निष्वात्त पितर लोग देवताओं के पितर हैं॥१९५॥

दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
सुपर्णकिन्नराणां च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः ॥१९६॥

अत्रि के पुत्र बर्हिषद् पितर लोग तो दैत्यों के, दानवों के, यक्षों के, गन्धर्वों के, नागों के, राक्षसों के, सुपर्णों (पक्षियों) के और किन्नरों के भी पितर समझे गए हैं॥१९६॥

सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः।
वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणां तु सुकालिनः ॥१९७॥

सोमप पितर लोग ब्राह्मणों के, हविर्भुक् पितर लोग क्षत्रियों के, आज्यप पितर लोग वैश्यों के और सुकाली पितर लोग शूद्रों के पितर लोग समझे गए हैं॥१९७॥

सोमपास् तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरःसुताः।
पुलस्त्यस्याऽऽज्यपाः पुत्रा वसिष्ठस्य सुकालिनः ॥१९८॥

सोमप पितर लोग भृगु के पुत्र समझे गए हैं, हविष्मान् पितर लोग अङ्गिरा के पुत्र समझे गए हैं, आज्यप पितर लोग पुलस्त्य के पुत्र समझे गए हैं और सुकाली पितर लोग वसिष्ठ के पुत्र समझे गए हैं॥१९८॥

अग्निदग्धाऽनग्निदग्धान् काव्यान् बर्हिषदस् तथा।
अग्निष्वात्तांश् च सौम्यांश् च विप्राणामेव निर्दिशेत् ॥१९९॥

अग्निदग्ध, अनग्निदग्ध, क़ाव्य, बर्हिषद्, अग्निष्वात्त, सौम्य इन को ब्राह्मणों के पितरों के रूप में ही निर्दिष्ट करे॥१९९॥

य एते तु गणा मुख्याः पितृणां परिकीर्तिताः।
तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥२००॥

पितरों के ये जो मुख्य गण (समुदाय) बताए गए उनके भी अनन्त पुत्र-पौत्रों को इस जगत् में स्थित जानना चाहिए॥२००॥

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः।
देवेभ्यस् तु जगत् सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥२०१॥

ऋषियों से पितर लोग उत्पन्न हुए, पितरों से देवता और मानव उत्पन्न हुए, देवताओं से तो क्रमशः सम्पूर्ण जङ्गम और स्थावर जगत् उत्पन्न हुआ॥२०१॥

राजतैर् भाजनैरेषामथो वा रजताऽन्वितैः।
वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते ॥२०२॥

चाँदी से बने हुए वर्तनों से अथवा चाँदी के भाग से युक्त वर्तनों से भी श्रद्धा से इन पितरों को दिया गया पानी भी अक्षय फल देने में समर्थ होता है (अन्य उत्तम द्रव्यों की तो बात ही क्या)॥२०२॥

देवकार्याद् द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते।
दैवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनं स्मृतम्॥२०३॥

द्विजातियों के लिए देवकार्य से पितृकार्य बढ़कर होता है। देवकार्य तो पितृकार्य का पूर्ववर्ती पूरक (अङ्ग) के रूप में तृप्तीकरण करने वाला ही समझा गया है॥२०३॥

तेषामारक्षभूतं तु पूर्वं दैवं नियोजयेत्।
रक्षांसि हि विलुम्पन्ति श्राद्धमारक्षवर्जितम्॥२०४॥

उन पितरों के सभी ओर से रक्षक के रूप में रहे हुए देवकार्य (वैश्वदेव श्राद्ध) को पहले प्रयुक्त करे, क्योंकि सभी ओर से रक्षा करने वाले तत्त्व से रहित श्राद्ध को राक्षस लोग छीन लेते हैं॥२०४॥

दैवाऽद्यन्तं तदीहेत पित्राद्यन्तं न तद् भवेत्।
पित्राद्यन्तं त्वीहमानः क्षिप्रं नश्यति साऽन्वयः॥२०५॥

श्राद्ध को प्रारम्भ में और अन्त में दैवकर्म से युक्त करने की इच्छा करे, श्राद्ध प्रारम्भ में और अन्त में पित्र्य कर्म से युक्त न होवे, श्राद्ध को प्रारम्भ में और अन्त में पित्र्य कर्म से युक्त करने की इच्छा करने वाला श्राद्धकर्ता अपने वंश के साथ शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

विशेष— यह भी प्रायः ऋग्वेदियों का नियम है। कात्यायनश्राद्धकल्पसूत्र में यह नियम नहीं है॥२०५॥

शुचिं देशं विविक्तं च गोमयेनोपलेपयेत्।
दक्षिणाप्रवणं चैव प्रयत्नेनोपपादयेत्॥२०६॥

मल-मूत्र-दुर्गन्धादि से रहित शुद्ध और जनसञ्चार से रहित एकान्त देश को गोबर से लिपवाए और उस देश को यत्नपूर्वक दक्षिण दिशा की ओर ढालवाँ भी बनवाए॥२०६॥

अवकाशेषु चोक्षेषु नदीतीरेषु चैव हि।
विविक्तेषु च तुष्यन्ति दत्तेन पितरः सदा॥२०७॥

शुद्ध स्थलों में, नदियों के तटों में और एकान्त स्थानों में दिए गए श्राद्ध से पितर लोग सदाकाल सन्तुष्ट होते हैं॥२०७॥

आसनेषूपक्लृप्तेषु बर्हिष्मत्सु पृथक्पृथक्।
उपस्पृष्टोदकान् सम्यग् विप्रांस् तानुपवेशयेत्॥२०८॥

श्राद्धस्थल में अलग-अलग रखे हुए और कुशों से युक्त आसनों में स्नान-आचमन-पादप्रक्षालनादि किए हुए उन निमन्त्रित ब्राह्मणों को स्वागतप्रश्न-सत्कारादिपूर्वक अच्छी तरह बैठावे॥२०८॥

उपवेश्य तु तान् विप्रानासनेष्वजुगुप्सितान्।
गन्धमाल्यैः सुरभिभिरर्चयेद् देवपूर्वकम्॥२०९॥

अनिन्दित उन ब्राह्मणों को आसनों में बिठाकर सुगन्धयुक्त चन्दनादि अनुलेपन से और मालाओं से भी पहले वैश्वदेवब्राह्मण की पूजा करके उन सभी ब्राह्मणों की पूजा करे॥२०९॥

तेषामुदकमानीय सपवित्रांस् तिलानपि।
अग्नौ कुर्यादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणैः सह॥२१०॥

उन ब्राह्मणों के हाथों में जल और पवित्रयुक्त तिल भी डालकर उन ब्राह्मणों से अनुमति लेकर ब्राह्मणों से युक्त श्राद्धकर्ता ब्राह्मण अग्नौकरण (पित्र्य हवि के अग्रभाग का हवन) करे॥२१०॥

अग्नेः सोमयमाभ्यां च कृत्वाऽऽप्यायनमादितः।
हविर्दानेन विधिवत् पश्चात् सन्तर्पयेत् पितॄन्॥२११॥

आदि में अग्नि का, सोम का और यम का भी अपने गृह्यसूत्र के विधान के अनुसार हवि के दान से आप्यायन (तृप्तीकरण) करके पीछे पितरों को हवि के दान से अच्छी तरह तृप्त करे॥२११॥

अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत्।
यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर् मन्त्रदर्शिभिरुच्यते॥२१२॥

अग्नि न होने पर तो उस अग्नौकरण को ब्राह्मण के हाथ में ही सम्पन्न करे, क्योंकि जो अग्नि है वही ब्राह्मण है, ऐसा मन्त्रदर्शी ब्राह्मणों से कहा जाता है।

विशेष— यह नियम ऋग्वेदियों का है। अन्य वेदियों का लौकिकाग्नि में अथवा जल में होम होता है॥२१२॥

अक्रोधनान् सुप्रसादान् वदन्त्येतान् पुरातनान्।
लोकस्याऽऽप्यायने युक्ताञ् छ्राद्धदेवान् द्विजोत्तमान्॥२१३॥

धर्मज्ञ मुनि लोग क्रुद्ध होने के स्वभाव से रहित, स्वल्प सत्कार से भी प्रसन्न होने वाले, अनादि अविच्छिन्न परम्परा से सिद्ध, लोक के उपकार में संलग्न ब्राह्मणों को श्राद्ध की देवता बताते हैं॥२१३॥

अपसव्यमग्नौ कृत्वा सर्वमावृत्य विक्रमम्।
अपसव्येन हस्तेन निर्वपेदुदकं भुवि॥२१४॥

अग्नौकरण के सभी अङ्गों से सहित अग्नौकरण को अपसव्यरूप से सम्पन्न करके अपसव्य रूप से ही दाहिने हाथ से पिण्डाधार भूमि में जल (अवनेजन जल) छोड दे॥२१४॥

त्रींस्तु तस्माद् धविःशेषात् पिण्डान् कृत्वा समाहितः।
औदकेनैव विधिना निर्वपेद् दक्षिणामुखः॥२१५॥

उस अग्नौकरण से बचे हुए हवि से तीन पिण्डों को बनाकर एकाग्रचित्त होकर दक्षिण दिशा की ओर मुह करके उक्त उदकदान के विधि से ही उक्त तीन पिण्डों को पितरों के लिए क्रमशः रख दे॥२१५॥

न्युप्य पिण्डांस् ततस् तांस् तु प्रयतो विधिपूर्वकम्।
तेषु दर्भेषु तं हस्तं निमृज्याल् लेपभागिनाम्॥२१६॥

शुद्ध वह कर्ता उन पिण्डों को अपने गृह्यसूत्र में बताए हुए विधि के अनुसार कुशों में रखकर उसके बाद लेपभागी पितरों के लिए उन पिण्डाधार कुशों में पिण्डान्नलेप से युक्त हाथ को पोंछे।

विशेष– यह हाथ पोंछने का कर्म भी सभी वेदियों के लिए आवश्यक नहीं है, जिस के स्वशाखासूत्र में इसका विधान है उसी के लिए आवश्यक है॥२१६॥

आचम्योदक् परावृत्य त्रिरायम्य शनैरसून्।
षड्तूंश् च नमस्कुर्यात् पितॄनेव च मन्त्रवत्॥२१७॥

आचमन करके उत्तर दिशा की ओर मुडकर धीरे-धीरे तीन वार प्राणों को नियन्त्रित करके (तीन प्राणायाम करके) पितरों के रूप के छह वसन्तादि ऋतुओं को भी वेदमन्त्रों से युक्त रूप में नमस्कार करे॥२१७॥

उदकं निनयेच्च् छेषं शनैः पिण्डाऽन्तिके पुनः।
अवजिघ्रेच् च तान् पिण्डान् यथान्युप्तान् समाहितः॥२१८॥

अवनेजन पात्र में बचे हुए जल को धीरे-धीरे पिण्डों के पास में फिर गिरा दे और सावधान होकर रखने के ही क्रम से उन पिण्डों को सूँघे॥२१८॥

पिण्डेभ्यस् त्वल्पिकां मात्रां समादायाऽनुपूर्वशः।
तेनैव विप्रानासीनान् विधिवत् पूर्वमाशयेत्॥२१९॥

सभी तीनों पिण्डों से क्रमशः थोडा-थोडा भाग लेकर बैठे हुए ब्राह्मणों को उसी भाग से विधिपूर्वक पहले खिलाए।

विशेष— पितृपिण्ड से लिए गए भाग से पितृब्राह्मण को, पितामहपिण्ड से लिए गए भाग से पितामहब्राह्मण को और प्रपितामहपिण्ड से लिए गए भाग से प्रपितामहब्राह्मण को खिलाए। किन्तु यह विधान ऋग्वेदियों का है शुक्लयजुर्वेदियों का नहीं॥२१९॥

ध्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत्।
विप्रवद् वाऽपि तं श्राद्धे स्वकं पितरमाशयेत्॥२२०॥

पिता के जीवित ही रहने पर तो पिता से पूर्व के पितरों को (पितामहादि तीन को) ही पिण्ड दे। अथवा श्राद्ध में अपने जीवित पिता को ब्राह्मण की तरह ही खिलाए (और पितामह को और प्रपितामह को ही पिण्ड दे)।

विशेष— मनुस्मृति का यह विधान किसी वेदशाखाविशेष के अनुयायियों के लिए ही अवगत होता है। शुक्लयजुर्वेद के अनुयायियों को तो कात्यायनश्रौतसूत्र में दिखाए गए "न जीवन्तमतीत्य ददाति" (का.श्रौ.४।१।२७) यह श्रुतिवाक्य ही अनुसरणीय होने से स्वस्थ और असन्यासी पिता जीवित रहने पर सामान्यतया श्राद्ध नहीं करने का पक्ष ही ग्राह्य होता है॥२२०॥

पिता यस्य निवृत्तः स्याज् जीवेच् चाऽपि पितामहः।
पितुः स नाम सङ्कीर्त्य कीर्तयेत् प्रपितामहम्॥२२१॥

जिस का पिता दिवङ्गत हो गया है, किन्तु पितामह जीवित है वह पिता का नाम लेकर (पिता को पिण्ड देकर) प्रपितामह का नाम ले (प्रपितामह को पिण्ड दे)। [दो पिण्ड ही देकर दो ब्राह्मणों को ही खिलाए]॥२२१॥

पितामहो वा तच् छ्राद्धं भुञ्जीतेत्यब्रवीन् मनुः।
कामं वा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत्॥२२२॥

अथवा पितामह के श्राद्ध को जीवित पितामह ही ब्राह्मण की तरह खाए, ऐसा मनु ने कहा। अथवा पितामह से अनुमत होकर अपनी इच्छा से पिता का और प्रपितामह का तथा वृद्धप्रपितामह का श्राद्ध करे॥२२२॥

तेषां दत्त्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकम्।
तत्पिण्डाऽग्रं प्रयच्छेत स्वधैषामस्त्विति ब्रुवन्॥२२३॥

पितृब्राह्मणादि रूप में आसनों में बैठे हुए ब्राह्मणों के हाथों में क्रमशः कुश-सहित तिल और जल देकर पिता को स्वधा हो इत्यादि बोलता हुआ उन-उन पितरों के पिण्डों के अग्र भाग को उन-उन से सम्बद्ध ब्राह्मण को दे॥२२३॥

पाणिभ्यां तूपसङ्गृह्य स्वयमन्नस्य वर्धितम्।
विप्राऽन्तिके पितॄन् ध्यायञ् शनकैरुपनिक्षिपेत्॥२२४॥

श्राद्धकर्ता भोज्य अन्नभाग से पूर्ण पात्र को स्वयं दोनों हाथों से पकडकर पिता आदि पितरों को ध्यान करता हुआ उस पात्र को ब्राह्मण के समीप में धीरे से रख दे॥२२४॥

उभयोर् हस्तयोर् मुक्तं यदन्नमुपनीयते।
तद् विप्रलुम्पन्त्यसुराः सहसा दुष्टचेतसः॥२२५॥

दोनों हाथों से नहीं पकडा गया जो अन्न ब्राह्मण के समीप में लाया जाता है उसको दुष्ट चित्त वाले असुर लोग एकाएक छीन लेते हैं।

विशेष— इस लिए एक हाथ से लाकर अन्न नहीं परोसना चाहिए, दोनो हाथों से लाकर अन्न परोसना चाहिए॥२२५॥

गुणांश् च सूपशाकाऽऽद्यान् पयो दधि घृतं मधु।
विन्यसेत् प्रयतः पूर्वं भूमावेव समाहितः॥२२६॥

तत्-तत् पात्रों में रखे हुए दाल शाक इत्यादि व्यञ्जनों को, दूध को, दही को, घी को और मधु को (शहद को) भी शुद्ध होकर और सावधान होकर पहले ही भूमि में ही रखे (मुख्य भोजन पात्र में नहीं)॥२२६॥

भक्ष्यं भोज्यं च विविधं मूलानि च फलानि च।
हृद्यानि चैव मांसानि पानानि सुरभीणि च॥२२७॥

तत्-तत् पात्रों में रखे हुए नाना प्रकार के लड्डू, माषवटक, घृतभूरिका, फेनी, जलेवी, शष्कुली, लाजा इत्यादि भक्ष्य पदार्थ को; खीर, हलुवा, खिचडी इत्यादि भोज्य पदार्थ को; मूली इत्यादि जड के रूप में प्राप्य रुचिकर खाद्य पदार्थ को; आम, केला, सेव, सन्तरा, अमरूद, जामुन, नारियल, छोहरा इत्यादि फलों को और रुच्य और मनोहर विविध प्रकार से संस्कृत और विविध प्रकृति के पशु-पक्ष्यादि-मांसों को तथा सुगन्धी पानकों को (शर्बतों को) भी पहले ही भूमि में ही रखे।

विशेष— श्राद्ध में मांस के प्रयोग की शास्त्रीय व्यवस्था के विषय में जिज्ञासु सज्जन इसी अध्याय के १२३ वें श्लोक की विशेष टिप्पणी में उल्लिखित निबन्ध पढें॥२२७॥

उपनीय तु तत् सर्वं शनकैः सुसमाहितः।
परिवेषयेत् प्रयतो गुणान् सर्वान् प्रचोदयन्॥२२८॥

उन सभी पदार्थों को ब्राह्मणों के समीप में लाकर धीरे से सावधान और शुद्ध होकर उन पदार्थों के मधुर-अम्लादि गुणों का वर्णन करता हुआ श्राद्धकर्ता परोसे॥२२८॥

नाऽस्रमापातयेज् जातु न कुप्येन् नाऽनृतं वदेत्।
न पादेन स्पृशेदन्नं न चैतदवधूनयेत्॥२२९॥

परोसने के समय में कभी भी आँसू नहीं गिरावे, क्रुद्ध न होवे, झूठ न बोले, अन्न को पैर से नहीं छुए और इस अन्न को नहीं हिलाए॥२२९॥

अस्रं गमयति प्रेतान् कोपोऽरीननृतं शुनः।
पादस्पर्शस् तु रक्षांसि दुष्कृतीनवधूननम्॥२३०॥

परोसने के समय में गिराया गया आँसू उस अन्न को प्रेतयोनियों के पास में पहुँचाता है, क्रोध शत्रुओं के पास में पहुँचाता है, झूठ कुत्तों के पास में पहुँचाता है, पैर से किया गया स्पर्श राक्षसों के पास में पहुँचाता है और हिलाना पापियों के पास में पहुँचाता है॥२३०॥

यद्यद् रोचेत विप्रेभ्यस् तत्तद् दद्यादमत्सरः।
ब्रह्मोद्याश् च कथाः कुर्यात् पितृणामेतदीप्सितम्॥२३१॥

डाह न करता हुआ परोसने वाला ब्राह्मणों को जो-जो भक्ष्य-भोज्य-पेय वस्तु अच्छा लगे उन-उन वस्तुओं को दे, परमात्मविषयक चर्चा करे, यह पितरों का अभीष्ट है॥२३१॥

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासांश् च पुराणानि खिलानि च॥२३२॥

श्राद्ध में भोजन में बैठे हुए ब्राह्मणों को स्वशाखावेद को, धर्मशास्त्रों को, सौपर्णाख्यान इत्यादि आख्यानों को, रामायण-महाभारतादि इतिहासों को, ब्रह्मपुराणादि पुराणों को और श्रीसूक्त-शिवसङ्कल्पसूक्त इत्यादि परिशिष्टों (खिलसूक्तों) को भी सुनावे॥२३२॥

हर्षयेद् ब्राह्मणांस् तुष्टो भोजयेच् च शनैःशनैः।
अन्नाद्येनाऽसकृच् चैतान् गुणैश् च परिचोदयेत्॥२३३॥

स्वयम् प्रसन्न होकर श्राद्धकर्ता ब्राह्मणों को हर्षित करे, धीरे-धीरे खिलाए, और भक्ष्य-भोज्य-पेयों का और उनके मधुर-अम्ल-मार्दव-वैशद्यादि गुणों का उल्लेख करता हुआ ब्राह्मणों को खाने-पीने के लिए प्रेरित करे॥२३३॥

व्रतस्थमपि दौहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत्।
कुतपं चाऽऽसने दद्यात् तिलैश् च विकिरेन् महीम्॥२३४॥

दौहित्र (दोहता) को ब्रह्मचर्यव्रत में रहने पर भी श्राद्ध में यत्नपूर्वक खिलाए, आसन में यत्नपूर्वक भी नेपाल-कम्बल दे और भूमि में तिलों का विकरण (बिखेरने का काम) भी करे॥२३४॥

त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस् तिलाः।
त्रीणि चाऽत्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम्॥२३५॥

दौहित्र (दोहता), नेपाल-कम्बल और तिल ये तीन वस्तु श्राद्ध में पवित्र हैं और इसमें (श्राद्ध में) शुद्धता, अक्रोध और अत्वरा (जल्दबाजी न करना) इन तीन को मुनि लोग प्रशंसा करते हैं॥२३५॥

अत्युष्णं सर्वमन्नं स्याद् भुञ्जीरंस् ते च वाग्यताः।
न च द्विजातयो ब्रूयुर् दात्रा पृष्टा हविर्गुणान्॥२३६॥

सभी भक्ष्य-भोज्य अन्न गरमा-गरम होवें, भोजन करने वाले ब्राह्मण मौन-धारण करके भोजन करें, परोसने वाले से पूछे जाने पर भोजन करने वाले ब्राह्मण भक्ष्य-भोज्य अन्नों के मधुर, अम्ल, लवण, मिष्ट, रुच्य इत्यादि गुणों को न कहें॥२३६॥

यावदुष्णं भवत्यन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः।
पितरस् तावदश्नन्ति यावन् नोक्ता हविर्गुणाः॥२३७॥

जब तक ही अन्न गरमा-गरम रहता है, जब तक ही ब्राह्मण मौनधारण करके खाते हैं और जब तक ही ब्राह्मणों से भक्ष्यभोज्य अन्नों के मधुर, अम्ल, लवण, मिष्ट, रुच्य इत्यादि गुण नहीं कहे जाते हैं तब तक ही पितर लोग उन भक्ष्य-भोज्यों को खाते हैं॥२३७॥

यद् वेष्टितशिरा भुङ्क्ते यद् भुङ्क्ते दक्षिणामुखः।
सोपानत्कश् च यद् भुङ्क्ते तद् वै रक्षांसि भुञ्जते॥२३८॥

शिर को पगडी से अथवा साफा से वेष्टित करके अथवा शिर में टोपी लगाकर ब्राह्मणों से जो अन्न खाया जाता है, दक्षिण दिशा की ओर मुख करके जो अन्न खाया जाता है, जूता, चप्पल, चट्टी इत्यादि पहनकर जो अन्न खाया जाता है, उस अन्न को राक्षस खा लेते हैं (वह अन्न देवताओं को और पितरों को नहीं मिलता है)॥२३८॥

चाण्डालश् च वराहश् च कुक्कुटः श्वा तथैव च।
रजस्वला च षण्ढश् च नेक्षेरन्नश्नतो द्विजान्॥२३९॥

श्राद्ध में भोजन करते हुए ब्राह्मणों को चाण्डाल, सूअर, मुर्गा, कुत्ता, रजस्वला स्त्री और नपुंसक मनुष्य भी न देखें॥२३९॥

होमे प्रदाने भोज्ये च यदेभिरभिवीक्ष्यते।
दैवे हविषि पित्र्ये वा तद् गच्छत्ययथातथम्॥२४०॥

देवकृत्य में अथवा पितृकृत्य में भी होम में, दान में और भोजन में भी जो इन चाण्डालादि से देखा जाता है वह जैसे देवादि के यहाँ जाना चाहिए वैसे नहीं जाता है। [ठीकठीक फल नहीं देता है]॥२४०॥

घ्राणेन सूकरो हन्ति पक्षवातेन कुक्कुटः।
श्वा तु दृष्टिनिपातेन स्पर्शेनाऽवरवर्णजः॥२४१॥

देवकृत्य-पितृकृत्य के अन्न को गन्ध प्राप्त करने से ही सूअर निष्फल कर देता है, पङ्ख की हवा से मुर्गा निष्फल कर देता है, दृष्टि डाल देने से ही कुत्ता निष्फल कर देता है, और शूद्र अपने स्पर्श से निष्फल कर देता है॥२४१॥

खञ्जो वा यदि वा काणो दातुः प्रेष्योऽपि वा भवेत्।
हीनाऽतिरिक्तगात्रो वा तमप्यपनयेत् पुनः॥२४२॥

श्राद्धकर्ता का नियोज्य ही होने पर भी जो लंगडा है, अथवा काना है, अथवा कर्ण-हस्तादि किसी अङ्ग से रहित मनुष्य है, अथवा किसी अतिरिक्त अङ्ग से युक्त मनुष्य है, उसको भी श्राद्धदेश से हटाए॥२४२॥

ब्राह्मणं भिक्षुकं वाऽपि भोजनार्थमुपस्थितम्।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः शक्तितः प्रतिपूजयेत्॥२४३॥

भोजन के लिए श्राद्धकाल में उपस्थित ब्राह्मण का अथवा वैदिक सन्न्यासी का भी निमन्त्रित ब्राह्मणों से अनुमति प्राप्त करके अपनी शक्ति के अनुसार भोजन-दानादि से सत्कार करे॥२४३॥

सार्ववर्णिकमन्नाद्यं सन्नीयाऽऽप्लाव्य वारिणा।
समुत्सृजेद् भुक्तवतामग्रतो विकिरन् भुवि॥२४४॥

श्राद्ध के लिए तैयार किए गए, दाल, शाक, लड्डू, हलवा, पायस, चावल इत्यादि सभी प्रकार के भक्ष्य-भोज्य-पेय खाद्य पदार्थों को थोडाथोडा लेकर एकत्रित करके पानी से सानकर भोजन किए हुए ब्राह्मणों के आगे भूमि में दर्भोपरि (कुशाओं पर) बिखेरता हुआ छोड दे॥२४४॥

असंस्कृतप्रमीतानां त्यागिनां कुलयोषिताम्।
उच्छिष्टं भागधेयं स्याद् दर्भेषु विकिरश् च यः॥२४५॥

श्राद्ध में खाने वाले ब्राह्मणों के भोजनपात्रों में जो अन्न भोजन के बाद अवशिष्ट रहता है वह अन्न और कुशाओं के ऊपर बिखेरकर छोडा गया अन्न जो होता है वह भी उपनयन-संस्कार होने से पहले ही मरे हुए कुमारों का और दोषरहित कुलस्त्रियों का त्याग करने वालों का भाग होगा॥२४५॥

उच्छेषणं भूमिगतमजिह्मस्याऽशठस्य च।
दासवर्गस्य तत् पित्र्ये भागधेयं प्रचक्षते॥२४६॥

श्राद्ध में खाने वाले ब्राह्मणों के हाथ से अथवा मुह से अथवा भोजनपात्र से अथवा परोसने वाले की करछुली से गिरा हुआ भूमि में स्थित जो अन्न होता है उसको मुनि लोग उस कुल के अकुटिल और अवञ्चक परलोकगत दासों के वर्ग के पितरों के कर्म में भाग बताते हैं॥२४६॥

आसपिण्डक्रियाकर्म द्विजातेः संस्थितस्य तु।
अदैवं भोजयेच् छ्राद्धं पिण्डमेकं च निर्वपेत्॥२४७॥

जब तक सपिण्डन क्रिया नहीं होती है तब तक तो परलोक में गए हुए द्विजातिजन के लिए वैश्वदेवश्राद्धरहित रूप में श्राद्धान्न का भोजन करावे और एक ही पिण्ड दे॥२४७॥

सहपिण्डक्रियायां तु कृतायामस्य धर्मतः।
अनयैवाऽऽवृता कार्यं पिण्डनिर्वपणं सुतैः॥२४८॥

अपने गृह्यसूत्र में बताए गए विधि से सपिण्डन क्रिया सम्पन्न किए जाने पर तो पुत्रों से इस द्विजातिजन के क्षयाह में इसी पार्वणश्राद्धपद्धति से पिण्डदान किया जाना चाहिए॥२४८॥

श्राद्धं भुक्त्वा य उच्छिष्टं वृषलाय प्रयच्छति।
स मूढो नरकं याति कालसूत्रमवाक्शिराः ॥२४९॥

श्राद्ध का अन्न खाकर जो ब्राह्मण उच्छिष्ट अन्न शूद्र को देता है वह मूर्ख अधश्शिरा होकर कालसूत्र नाम के नरक को जाता है॥२४९॥

श्राद्धभुग् वृषलीतल्पं तदहर् योऽधिगच्छति।
तस्याः पुरीषे तं मासं पितरस् तस्य शेरते ॥२५०॥

श्राद्धशेष का भोजन करके जो श्राद्धकर्ता ब्राह्मण उस दिन में कामुकी स्त्री के साथ सम्भोग करता है उसके पितर लोग उस दिन से लेकर उस चान्द्रमासभर उस कामुकी स्त्री की विष्ठा में सोते हैं॥२५०॥

पृष्ट्वा स्वदितमित्येवं तृप्तानाचामयेत् ततः।
आचान्तांश् चाऽनुजानीयादभि भो रम्यतामिति ॥२५१॥

'स्वदितम्' (खाया गया?) इस प्रकार से पूछकर तृप्त ब्राह्मणों को आचमन करावे और आचमन किए हुए उन ब्राह्मणों को 'भो अभिरम्यताम्' (हे ब्राह्मणों, अब विरत हुआ जाय) ऐसा कहकर यथासुख चेष्टा करने के लिए अनुमति दे॥२५१॥

स्वधाऽस्त्वित्येव तं ब्रूयुर् ब्राह्मणास् तदनन्तरम्।
स्वधाकारः परा ह्याशीः सर्वेषु पितृकर्मसु ॥२५२॥

उसके बाद ब्राह्मण लोग उस श्राद्धकर्ता को 'स्वधाऽस्तु' (पितरों को अन्न प्राप्त हो) ऐसा कहें, क्योंकि सभी पितृकृत्यों में स्वधाशब्द का उच्चारण सर्वोत्तम आशीर्वाद है॥२५२॥

ततो भुक्तवतां तेषामन्नशेषं निवेदयेत्।
यथा ब्रूयुस् तथा कुर्यादनुज्ञातस् ततो द्विजैः ॥२५३॥

उसके बाद भोजन किए हुए उन ब्राह्मणों को अवशिष्ट अन्न निवेदित (समर्पित) करे, उसके बाद ब्राह्मणों से अनुमत श्राद्धकर्ता ब्राह्मण लोग उस अन्न का जिस प्रकार उपयोग करने को कहते हैं उसी प्रकार उपयोग करे॥२५३॥

पित्र्ये स्वदितमित्येव वाच्यं गोष्ठे तु सुशृतम्।
सम्पन्नमित्यभ्युदये दैवे रुचितमित्यपि ॥२५४॥

भोजन किए हुए ब्राह्मणों से तृप्तिप्रश्न करने में पितृश्राद्ध में 'स्वदितम्?' इस प्रकार प्रश्न करना चाहिए, गोष्ठीश्राद्ध में 'सुशृतम्?' इस प्रकार, आभ्युदयिक श्राद्ध में

'सम्पन्नम्?' इस प्रकार और वैश्वदेविकश्राद्ध में 'रुचितम्?' इस प्रकार तृप्तिप्रश्न (स्वशाखानुसार) करना चाहिए॥२५४॥

अपराह्णस् तथा दर्भा वास्तुसम्पादनं तिलाः।
सृष्टिर् मृष्टिर् द्विजाश् चाऽग्र्याः श्राद्धकर्मसु सम्पदः॥२५५॥

अपराह्न काल, यथोक्त लक्षणयुक्त कुश, श्राद्धभूमि का गोमयोपलेपनादि समुचित संस्कार, तिल, अन्नादि का अकृपणता से विसर्ग (दान), अन्न का उत्तम रूप में संस्कार और श्रेष्ठ ब्राह्मण ये श्राद्धकर्मों में सम्पन्नता (उत्कर्ष) लाने वाले पदार्थ हैं॥२५५॥

दर्भाः पवित्रं पूर्वाऽह्णो हविष्याणि च सर्वशः।
पवित्रं यच् च पूर्वोक्तं विज्ञेया हव्यसम्पदः॥२५६॥

कुश, मन्त्र, पूर्वाह्नकाल, सभी प्रकार के व्रीहि यव इत्यादि हविष्य अन्न, पूर्वोक्त अन्य पवित्र वस्तु इन को देवकृत्यों में सम्पन्नता (उत्कर्ष) लाने वाले पदार्थ के रूप में जानना चाहिए॥२५६॥

मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं यच् चाऽनुपस्कृतम्।
अक्षारलवणं चैव प्रकृत्या हविरुच्यते॥२५७॥

तीनी इत्यादि मुनिधान्य, दूध, सोमलतारस, अविकृत मांस और क्षाररहित नमक (सेंधा नमक) भी स्वभाव से ही हवि (हवनयोग्य पदार्थ) कहा जाता है॥२५७॥

विसृज्य ब्राह्मणांस् तांस् तु नियतो वाग्यतः शुचिः।
दक्षिणां दिशमाकाङ्क्षन् याचेतेमान् वरान् पितॄन्॥२५८॥

श्राद्ध में भोजन करने वाले उन ब्राह्मणों को जाने के लिए छोडकर शुद्ध और एकाग्र होकर वाणी को भी नियन्त्रित करके दक्षिण दिशा की ओर देखता हुआ (श्राद्धकर्ता) पितरों से इन (आगे के श्लोकों में उल्लिखित) वरों को माँगे।

विशेष— शुक्लयजुर्वेदियों का तो वर माँगने का कृत्य अपने श्राद्धकल्पसूत्र के अनुसार ब्राह्मणविसर्जन से पहले ही होता है॥२५८॥

दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च।
श्रद्धा च नो मा व्यगमद् बहु देयं च नोऽस्त्विति॥२५९॥

हमारे कुल में दाता लोग बढ़ें, वेद भी बढ़ें, सन्तान भी बढ़े, हमारे कुल में वेदों में श्रद्धा नमिटे, हमारे कुल में दातव्य पदार्थ भी बहुत होवे। [इन वरों को माँगे]॥२५९॥

एवं निर्वपणं कृत्वा पिण्डांस् तांस् तदनन्तरम्।
गां विप्रमजमग्निं वा प्राशयेदप्सु वा क्षिपेत्॥२६०॥

इस प्रकार से पिण्ड देकर उसके बाद उन पिण्डों को गौ को अथवा ब्राह्मण को अथवा बकरे को अथवा अग्नि को खिलाए, अथवा पानी में फेंक दे॥२६०॥

पिण्डनिर्वपणं केचित् पुरस्तादेव कुर्वते।
वयोभिः खादयन्त्यन्ये प्रक्षिपन्त्यनलेऽप्सु वा॥२६१॥

कोई वेदवादी वर्णाश्रमधर्मपालक सत्पुरुष ब्राह्मणभोजन के बाद ही पिण्डदान करते हैं। अन्य कोई सत्पुरुष पिण्डों को पक्षियों को खिलाते हैं अथवा अग्नि में अथवा पानी में छोड देते हैं॥२६१॥

पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा।
मध्यमं तु ततः पिण्डमद्यात् सम्यक् सुतार्थिनी॥२६२॥

प्रथम और तृतीय पिण्ड का उक्त प्रकार से प्रतिपत्ति करने के बाद पतिव्रता (पति का जो व्रत है उसी व्रत का पालन करने वाली), पितरों के सत्कार में तत्पर और पुत्र को जन्म देने की इच्छा करने वाली श्राद्धकर्ता की धर्मपत्नी मध्यम पिण्ड को अच्छी तरह से (शास्त्रोक्त विधि से 'आधत्त पितरो गर्भम्' इत्यादि वेदमन्त्र को पढ़कर) खाए॥२६२॥

आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम्।
धनवन्तं प्रजावन्तं सात्त्विकं धार्मिकं तथा॥२६३॥

इस प्रकार से मध्यम पिण्ड को खाने से श्राद्धकर्ता की पितृभक्ता पतिव्रता धर्मपत्नी आयुष्मान्, यशस्वी, मेधावी, धनवान्, पुत्र-पौत्रादियुक्त, सत्त्वगुणी और धर्माचरणशील पुत्र को उत्पन्न करती है॥२६३॥

प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत्।
ज्ञातिभ्यः सत्कृतं दत्त्वा बान्धवानपि भोजयेत्॥२६४॥

श्राद्धकर्ता हाथों को धोकर आचमन करके श्राद्धशेष अन्न को जातिवालों में जानेवाला बनाए। जातिवालों को सत्कारपूर्वक श्राद्धशेष अन्न देकर मातृपक्ष के बन्धुओं को भी खिलाए॥२६४॥

उच्छेषणं तु तत् तिष्ठेद् यावद् विप्रा विसर्जिताः।
ततो गृहबलिं कुर्यादिति धर्मो व्यवस्थितः॥२६५॥

श्राद्धभोजन करने वाले ब्राह्मणों के भोजनपात्रों में बचा हुआ जो उच्छिष्ट अन्न होता है वह तो जब तक ब्राह्मणविसर्जन नहीं होता है (ब्राह्मण नहीं चले जाते हैं) तब तक वैसे ही पड़ा रहे। ब्राह्मण विसर्जित होने के बाद में गृहबलि (देवयज्ञ-भूतयज्ञादि वैश्वदेवकर्म) करे, ऐसा शास्त्रव्यवस्थापित धर्म है॥२६५॥

हविर् यच् चिररात्राय यच् चाऽनन्त्याय कल्पते।
पितृभ्यो विधिवद् दत्तं तत् प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥२६६॥

पितरों को शास्त्रोक्त विधि से दिया गया जो हवि चिरकाल तक पितरों की तृप्ति के लिए होता है और जो हवि अनन्तकाल तक पितरों की तृप्ति के लिए होता है उस सब को कुछ भी अवशिष्ट न रखकर मैं बताऊँगा॥२६६॥

तिलैर् व्रीहियवैर् माषैरद्भिर् मूलफलेन वा।
दत्तेन मासं तृप्यन्ति विधिवत् पितरो नृणाम्॥२६७॥

तिलों से, व्रीहियों से (भदई धान से), जौ से, (काले) उडदों से, पानी से, मूलों से और फलों से शास्त्रोक्त विधि से दिए गए श्राद्ध से मनुष्यों के पितर लोग एक (चान्द्र) मास तक तृप्त होते हैं॥२६७॥

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन् मासान् हारिणेन तु।
औरभ्रेणाऽथ चतुरः शाकुनेनाऽथ पञ्च वै॥२६८॥

मछली के मांस से दिए गए श्राद्ध से दो महीनों तक, हरिण के मांस से दिए गए श्राद्ध से तीन महीनों तक, भेड़ के मांस से दिए गए श्राद्ध से चार महीने तक, द्विजातियों के भक्ष्य पक्षियों के मांस से दिए गए श्राद्ध से पाँच महीनों तक पितर लोग तृप्त होते हैं॥२६८॥

षण् मासांश् छागमांसेन पार्षतेन च सप्त वै।
अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु॥२६९॥

बकरे के मांस से दिए गए श्राद्ध से छह महीनों तक, चित्तल के मांस से दिए गए श्राद्ध से सात महीनों तक, कृष्णसार मृग के मांस से दिए गए श्राद्ध से आठ महीनों तक और रुरुमृग के मांस से किए गए श्राद्ध से नौ ही महीनों तक पितर लोग तृप्त होते हैं॥२६९॥

दश मासांस् तु तृप्यन्ति वराहमहिषाऽऽमिषैः।
शशकूर्मयोस् तु मांसेन मासानेकादशैव तु॥२७०॥

जङ्गली सूअर के मांस से अथवा भैंसे के मांस से दिए गए श्राद्ध से दश महीनों तक पितर लोग तृप्त होते हैं और खरगोश के मांस से अथवा कछुए के मांस से दिए गए श्राद्ध से ग्यारह महीनों तक पितर लोग तृप्त होते हैं॥२७०॥

संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन च।
वार्ध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर् द्वादशवार्षिकी॥२७१॥

गौ के दूध से अथवा गोदुग्ध से बने खीर से दिए गए श्राद्ध से एक संवत्सर तक पितर लोग तृप्त होते हैं। वार्ध्रीणस के मांस से दिए गए श्राद्ध से पितरों की बारह वर्षों तक रहने वाली तृप्ति होती है।

विशेष— यहाँ 'गव्येन मांसेन' ऐसा अन्वय उचित होने का शङ्खधर का मत हेमाद्रि ने चतुर्वर्गचिन्तामणि के श्राद्धकल्प में (पृ.५८९) दिखाया है। मनुभाष्यकार मेधातिथि ने भी "यत् तु शङ्खेन गोमांसभक्षणे प्रायश्चित्तमाम्नातं तन् मधुपर्काष्टका-श्राद्धेभ्योऽन्यत्र ज्ञेयम्" ऐसा कहकर इस विषय में अपना मत सूचित किया है॥२७१॥

कालशाकं महाशल्काः खड्गलोहाऽऽमिषं मधु।
आनन्त्यायैव कल्प्यन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः॥२७२॥

कालशाक (चुकाभाजी?, नरिचा?, पटुवा?), बडे छिलके की मछलियाँ, गैंडे का मांस, लाल वर्ण के बकरे का मांस, मधु (शहद) और सभी प्रकार के मुन्यन्न (तीनी इत्यादि वन्य अन्न) भी पितरों के अनन्त काल की तृप्ति के लिए समर्थ होते हैं।

विशेष— यहाँ महाशल्कशब्द से शालक को (गोह के आकार के जन्तुविशेष को) लेना उचित दिखाई देता है॥२७२॥

यत् किञ्चिन् मधुना मिश्रं प्रदद्यात् तु त्रयोदशीम्।
तदप्यक्षयमेव स्याद् वर्षासु च मघासु च॥२७३॥

वर्षा ऋतु की मघानक्षत्र वाली (भाद्र-)कृष्णत्रयोदशी में तो मधु से (शहद से) युक्त जो कुछ भी पितरों को श्राद्धकर्ता देगा वह भी पितरों के लिए अक्षय तृप्ति के (अनन्त काल की तृप्ति के) लिए ही होता है॥२७३॥

अपि नः स कुले भूयाद् यो नो दद्यात् त्रयोदशीम्।
पायसं मधुसर्पिर्भ्यां प्राक्छाये कुञ्जरस्य च॥२७४॥

जो हमारे लिए (भाद्र-)कृष्णत्रयोदशी में अथवा हाथी की पूर्व दिशा की ओर जाने वाली छाया में बैठकर किसी तिथि में मधु और घी से युक्त खीर दे ऐसा पुरुष हमारे कुल में भी कभी उत्पन्न होगा!! (पितर लोग ऐसी सम्भावना को हृदय में लेकर रहते हैं)॥२७४॥

यद्यद् ददाति विधिवत् सम्यक् श्रद्धासमन्वितः।
तत्तत् पितॄणां भवति परत्राऽनन्तमक्षयम्॥२७५॥

पूर्ण श्रद्धा से युक्त श्राद्धकर्ता शास्त्रोक्त विधि से अच्छी तरह से जो-जो अन्न पितरों के लिए देता है वह सब परलोक में पितरों के लिए अनन्त काल तक क्षीण न होने वाली तृप्ति को देने वाला होता है॥२७५॥

कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम्।
श्राद्धे प्रशस्तास् तिथयो यथैता न तथेतराः॥२७६॥

चान्द्र मास के कृष्णपक्ष में चतुर्दशी को छोडकर दशमी से लेकर (अमावास्या तक के) सभी तिथियाँ श्राद्ध के लिए उत्तम हैं, श्राद्ध के लिए ये तिथियाँ जैसी उत्तम हैं अन्य तिथियाँ वैसी उत्तम नहीं हैं॥२७६॥

युक्षु कुर्वन् दिनर्क्षेषु सर्वान् कामान् समश्नुते।
अयुक्षु तु पितॄन् सर्वान् प्रजां प्राप्नोति पुष्कलाम्॥२७७॥

युग्म तिथियों में (कृष्णद्वितीयादि सम तिथियों में) और युग्म नक्षत्रों में (रोहिणी इत्यादि सम नक्षत्रों में) पितरों को तृप्त करता हुआ मनुष्य अपनी सभी कामनाओं को प्राप्त करता है, और अयुग्म तिथियों में (कृष्णप्रतिपदादि विषम तिथियों में) और अयुग्म नक्षत्रों में (कृत्तिका इत्यादि विषम नक्षत्रों में) सभी पितरों को तृप्त करता हुआ मनुष्य पर्याप्त सन्तान (पुत्र-पौत्रादि) प्राप्त करता है।

विशेष– इस पद्य में तिथि के अर्थ में दिनशब्द का प्रयोग वैदिक परम्परा में तिथि का अहोरात्रात्मकत्व सूचित करता है। इस विषय में जिज्ञासु लोग चौखम्बा विद्याभवन से प्रकाशित (२००५ क्रै.) संस्कृत में और हिन्दी में कौण्डिन्न्यायन-व्याख्यान से युक्त वेदाङ्गज्योतिष की भूमिका भी देखें॥२७७॥

यथा चैवाऽपरः पक्षः पूर्वपक्षाद् विशिष्यते।
तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णो विशिष्यते॥२७८॥

श्राद्ध के लिए जैसे पूर्वपक्ष से (शुक्लपक्ष से) अपरपक्ष (कृष्णपक्ष) बढ़कर होता है, वैसे ही श्राद्ध के लिए दिन के पूर्व भाग से (दोपहर से पहले के काल से) अपर भाग (दोपहर से पीछे का काल) बढ़कर होता है।

विशेष– यहाँ पर कुल्लूकभट्ट की **"चैत्रसिताद्या मासाः"** यह उक्ति अवैदिक अर्वाचीन ज्योतिष के प्रभाव को दिखाती है। मूल वैदिक परम्परा में वर्ष, अयन, ऋतु, मास सभी तपःशुक्लादि (माघशुक्लादि) होते हैं, चैत्रशुक्लादि नहीं॥२७८॥

प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा।
पित्र्यमा निधनात् कार्यं विधिवद् दर्भपाणिना॥२७९॥

श्राद्धकर्ता को प्राचीनावीती (दाहिने कन्धे में जनेऊ और उत्तरीय रखने वाला), दर्भपाणि (हाथ में कुश लेने वाला) और तन्द्रारहित (ऊँघ से रहित) होकर समाप्ति न होने तक पितरों के सभी कार्य शास्त्र में बताई गई अच्छी रीति से पितृतीर्थ से करना चाहिए॥२७९॥

रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत राक्षसी कीर्तिता हि सा।
सन्ध्ययोरुभयोश् चैव सूर्ये चैवाऽचिरोदिते॥२८०॥

रात में श्राद्ध न करे, क्योंकि रात राक्षसों से सम्बद्ध बताई गई है, दोनों सन्ध्याकालों में भी श्राद्ध न करे, और सूर्य का थोड़ी देर पहले ही उदय होने पर भी (प्रातःकाल में भी) श्राद्ध न करे॥२८०॥

अनेन विधिना श्राद्धं त्रिरब्दस्येह निर्वपेत्।
हेमन्तग्रीष्मवर्षासु पाञ्चयज्ञिकमन्वहम्॥२८१॥

इस पार्वण विधि से इस लोक में हेमन्त ऋतु में, ग्रीष्म ऋतु में और वर्षा ऋतु में प्रतिवर्ष तीन वार श्राद्ध (अवश्य) करे, पञ्चमहायज्ञान्तर्गत श्राद्ध तो प्रतिदिन ही करे।

विशेष– यहाँ पर सूर्यराशिपरक ऋतु लेने की कुल्लूक की उक्ति अवैदिक अर्वाचीन परम्परा की है। मूल वैदिक वाङ्मय में कुम्भ-वृष-कन्याराशियों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। हेमन्तादि ऋतुओं की परिभाषा और निरूपण लगधमुनिप्रोक्त वेदाङ्गज्योतिषानुसार ही वैदिकों को करना चाहिए। वैदिक ऋतुओं का विवेचन संस्कृत में चौखम्बा विद्याभवन से प्रकाशित (२००५ क्रै.) हमारे वेदाङ्गज्योतिष के कौण्डिन्न्यायनव्याख्यान की भूमिका में (पृ.१४८–१५३) और मूल में (पृ.२७१–२७५) देखिए। वैदिक धर्मकृत्यों में चान्द्र ऋतु का ग्राह्यत्व वाराणसीस्थ सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय की अनुसन्धानपत्रिका सारस्वती सुषमा (५१ वर्ष, १–४ अङ्क, २०५३ संवत्) में प्रकाशित "जैमिनीय-धर्ममीमांसाशास्त्रनिर्णीतानां वैदिक-कृत्यकालानां चान्द्रमाननियतत्वम्" नाम के निबन्ध में देखें॥२८१॥

न पैतृयज्ञियो होमो लौकिकेऽग्नौ विधीयते।
न दर्शेन विना श्राद्धमाहिताऽग्नेर् द्विजन्मनः॥२८२॥

पितृयज्ञ का (श्राद्ध का) होम शास्त्र से लौकिक अग्नि में (श्रौताग्नि गृह्याग्निभिन्न अग्नि में) विहित नहीं किया गया है, श्रौत अग्नि से रहित द्विजाति का मासिकश्राद्धरूप अपरपक्षश्राद्ध कृष्णपक्ष की दशम्यादि तिथियों में भी हो सकने पर

भी श्रौत अग्नि से युक्त द्विजाति का तो मासिकश्राद्धरूप अपरपक्षश्राद्ध [पिण्डपितृयज्ञ] अमावास्या को छोडकर दूसरी दशम्यादि तिथियों में नहीं होता है।

विशेष— कामनाविशेष से अतिरिक्त काम्यश्राद्ध के रूप में तो श्रौत अग्नि से युक्त द्विजाति का भी कृष्णपक्ष की दूसरी तिथियों में भी श्राद्ध हो ही सकता है। क्षयाहश्राद्ध तो क्षय कृष्णपक्ष में होने पर श्रौताग्नि से युक्त द्विजाति का भी कृष्णपक्ष की दूसरी तिथि में ही होगा ही॥२८२॥

यदेव तर्पयत्यद्भिः पितॄन् स्नात्वा द्विजोत्तमः।
तेनैव कृत्स्नमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम्॥२८३॥

ब्राह्मण प्रतिदिन स्नान करने के बाद पितरों को जो जल से तर्पित करता है उसी से वह पितृयज्ञकर्म के (श्राद्ध के) सम्पूर्ण फल को पाता है।

विशेष— यह अकिञ्चन ब्राह्मणों के लिए कृष्णपक्षों में किए जाने वाले मासिकश्राद्ध का और पञ्चमहायज्ञान्तर्गत पितृयज्ञ का भी अनुकल्प है॥१८३॥

वसून् वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश् चैव पितामहान्।
प्रपितामहांस् तथाऽऽदित्याञ् छ्रुतिरेषा सनातनी॥२८४॥

पिताओं को वसु कहते हैं, पितामहों को रुद्र कहते हैं, और प्रपितामहों को आदित्य कहते हैं, यह नित्य वेदवचन है॥१८४॥

विघसाशी भवेन् नित्यं नित्यं वाऽमृतभोजनः।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथाऽमृतम्॥२८५॥

द्विजाति सदाकाल विघस खाने वाला होवे अथवा सदाकाल अमृत खाने वाला होवे। ब्राह्मणादि के भोजन से बचा हुआ अन्न विघस है और यज्ञ से बचा हुआ अन्न अमृत है॥१८५॥

एतद् वोऽभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम्।
द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति॥२८६॥

॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां तृतीयोऽध्यायः॥३॥

आप लोगों को यह सब पञ्चमहायज्ञ का विधान बताया गया। द्विजातियों में मुख्य ब्राह्मणों की वृत्तियों का (जीविकाओं का) विधान आप लोगों से सुना जाय ऐसा (भृगु जी ने मुनियों को कहा)॥१८६॥

॥ इस प्रकार कौण्डिन्न्यायनाऽऽचार्य-शिवराजशर्म-द्विजोत्तम से किए गए मनुस्मृति के हिन्दी अनुवाद तथा विशेष व्याख्या में तृतीय अध्याय पूर्ण हुआ॥३॥

◆

अथ चतुर्थोऽध्यायः

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽऽद्यं गुरौ द्विजः ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥१॥

हिन्दी—

मनुस्मृतेश् चतुर्थेऽत्राऽध्याये भाषाऽर्थ उच्यते।
कुल्लूकोक्ताऽर्थमादाय शिवाख्येन द्विजन्मना॥

ब्राह्मण आयु के पहले चौथे भाग में (२५ वर्ष तक) गुरुकुल में निवास करके आयु के दूसरे चौथे भाग में (२६ वर्ष से ५० वर्ष तक) विवाह करके गृहस्थाश्रम में रहे।

विशेष— यह आश्रमसमुच्चय के पक्ष का निदर्शनार्थ प्रायिक वचन है। निश्चित नियम यह नहीं है॥१॥

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।
या वृत्तिस् तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥२॥

ब्राह्मण आपत्काल में न रहने पर प्राणियों को पीडा नहीं देने से अथवा थोडी ही पीडा देने से जो जीवनसाधन मिलता है उसी को लेकर जीवनयात्रा करे॥२॥

यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः ।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम् ॥३॥

ब्राह्मण अनिन्दित अपने कर्मों से शरीर को कष्ट न देकर ही केवल जीवनयात्रा सिद्धि के लिए ही धन का सङ्ग्रह करे॥३॥

ऋताऽमृताभ्यां जीवेत् तु मृतेन प्रमृतेन वा ।
सत्याऽनृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥४॥

ब्राह्मण ऋत और अमृत से जीविका करे अथवा मृत से जीविका करे अथवा प्रमृत से जीविका करे अथवा सत्य और अनृत से भी जीविका करे, किन्तु श्ववृत्ति से (सेवारूप कुत्ते की वृत्ति से) तो जीविका कदाऽपि न करे॥४॥

ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥५॥

उञ्छ को (खेत-खलिहान इत्यादि में छुटे हुए धान्यादि के एक-एक गुडिका को [कण को] चुनने के काम को) और शिल को (खेत-खलिहान इत्यादि में छुटे

हुए धान्यादि के मञ्जरियों को [कणिशों को] चुनने के काम को) **ऋत** जानना चाहिए; विना माँगे जो मिल जाय वह **अमृत** होगा; माँगे गए भिक्षा के समूह को **मृत** जानना चाहिए और कृषिकर्म को **प्रमृत** जानना चाहिए।

विशेष— उञ्छ शब्द का अर्थ अनिन्दित गृहों में थोडाथोडा आमान्न (कच्चा अन्न) माँगना भी है। शुक्लयजुर्वेदियों का उञ्छशास्त्र नाम का परिशिष्ट भी है॥५॥

सत्याऽनृतं तु वाणिज्यं तेन चैवाऽपि जीव्यते।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात् तां परिवर्जयेत्॥६॥

क्रय-विक्रय-जीविका को सत्याऽनृत जानना चाहिए, उस सत्याऽनृत से (वाणिज्य से) भी ब्राह्मणों से जीविका किया जाता है। सभी अवसरों में स्वेच्छाचारी स्वामी के चित्त का अनुसरण करके की जाने वाली सेवा तो **श्ववृत्ति** (कुत्ते की वृत्ति) कही गई है, उस कारण से ब्राह्मण जीविका के लिए की जाने वाली सेवा को वर्जित करे॥६॥

कुसूलधान्यको वा स्यात् कुम्भीधान्यक एव वा।
त्र्यहैहिको वाऽपि भवेदश्वस्तनिक एव वा॥७॥

ब्राह्मण कुसूलधान्यक (तीन वर्ष के लिए पर्याप्त अन्न से युक्त) होवे, अथवा कुम्भीधान्यक (एक वर्ष के लिए पर्याप्त अन्न से युक्त) होवे, अथवा त्र्यहैहिक (तीन दिन के लिए पर्याप्त अन्न का ही सञ्चय चाहने वाला) होवे, अथवा अश्वस्तनिक (कल के लिए भी सञ्चय न करने वाला) होवे।

विशेष— कुसूलधान्यक इत्यादि शब्दों का विभिन्न व्याख्याकारों ने विभिन्न अर्थ बताए हैं॥७॥

चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम्।
ज्यायान् परःपरो ज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः॥८॥

इन चार प्रकार के गृहस्थ ब्राह्मणों में से उत्तर-उत्तर गृहस्थ ब्राह्मण को धर्म से श्रेष्ठ और सब से उत्तम लोक को प्राप्त करने वाला जानना चाहिए॥८॥

षट्कर्मैको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्तते।
द्वाभ्यामेकश् चतुर्थस् तु ब्रह्मसत्रेण जीवति॥९॥

इन में से एक (कुसूलधान्यक) गृहस्थ षट्कर्मा (ऋत, अयाचित, भैक्ष, कृषि, वाणिज्य, कुसीद (सूद) इन छह कर्मों से जीविका करने वाला) होता है; दूसरा (कुम्भीधान्यक) गृहस्थ तीन कर्मों से (याजन-अध्यापन-प्रतिग्रहरूप तीन कर्मों से)

जीविका करता है; अन्य एक (त्र्यहैहिक) गृहस्थ दो कर्मों से (याजन-अध्यापनरूप दो कर्मों से) जीविका करता है और चौथा (अश्वस्तनिक) गृहस्थ ब्रह्मसत्र से (अध्यापन से) जीविका करता है॥९॥

वर्तयंश् च शिलोञ्छाभ्यामग्निहोत्रपरायणः।
इष्टीः पार्वायणान्तीयाः केवला निर्वपेत् सदा॥१०॥

शिल से और उञ्छ से जीविका करने वाला अग्निहोत्रपरायण ब्राह्मण सदा-काल केवल पर्वकाल में और अयनान्त में की जाने वाली इष्टियों को ही (पूर्णमासयाग-दर्शयागों को और आग्रयणेष्टियों को ही) सम्पन्न करे। [अन्य चातुर्मास्ययाग, निरूढपशुबन्ध, अग्निष्टोमसोमयाग इत्यादि न करे]॥१०॥

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम्॥११॥

ब्राह्मण किसी भी हालत में जीविका के लिए परीक्षकेतर (विचारशील से भिन्न) सामान्य लोक की (छल-छद्म-कौटिल्य-भूतद्रोहादियुक्त) चेष्टा का अनुसरण न करे। कुटिलता से रहित और लोकवञ्चना से रहित शुद्ध (क्षत्रियादिवृत्ति से अमिश्रित) ब्राह्मणोचित वृत्ति से जीवनयात्रा सम्पन्न करे॥११॥

सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः॥१२॥

सुख को चाहने वाला ब्राह्मण न्याय्य चेष्टा से प्राप्त जीवनयात्रा-साधन में सर्वथा सन्तोष लेकर मन को वश में रखने वाला होवे, क्योंकि सुख सन्तोष से ही होने वाला तत्त्व है और सन्तोष का विपर्यय (असन्तोष) दुःख का जड (मूल कारण) है॥१२॥

अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस् तु स्नातको द्विजः।
स्वर्ग्याऽऽयुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत्॥१३॥

इस कारण से उक्त वृत्तियों में से किसी एक वृत्ति से जीवनयात्रा चलाने वाला विद्या-व्रत-स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण स्वर्गप्राप्ति के लिए, दीर्घ आयु के लिए और यश के लिए भी उपकारक इन (आगे के श्लोकों में प्रतिपादित) व्रतों का धारण करे॥१३॥

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
तद् धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्॥१४॥

स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण वेद में (वेदमूलक श्रौतसूत्र-गृह्यसूत्र-धर्मसूत्रादि स्मृतियों में भी) बताए गए अपने वर्ण के और अपने आश्रम के कर्म को सदाकाल जागरूक रहता हुआ सम्पन्न करे, क्योंकि अपनी शक्ति के अनुसार उस कर्म को करता हुआ गृहस्थ परम गति को (ब्रह्मलोक को) प्राप्त करता है॥१४॥

नेहेताऽर्थान् प्रसङ्गेन न विरुद्धेन कर्मणा।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नाऽऽर्त्यामपि यतस् ततः॥१५॥

स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण आसक्तिहेतु गीतवाद्यादि से अर्थों की इच्छा न करे, शास्त्रविरुद्ध अयाज्य-याजनादि कर्म से अर्थों को प्राप्त करने की इच्छा भी न करे, जीवनयात्रा के लिए अर्थ अपने पास रहने पर अधिक अर्थ प्राप्त करने की इच्छा भी न करे, अर्थ के अभाव से कष्ट होने पर भी जहाँ कहीं से और जिस किसी से भी अर्थ प्राप्त करने की इच्छा भी न करे॥१५॥

इन्द्रियाऽर्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा सन्निवर्तयेत्॥१६॥

किसी भी इन्द्रिय के विषय में कामना से आसक्त न होवे, इन इन्द्रियों का अपने विषयों में अति आसक्ति को मन में विषयसुख की अनित्यता-परिणाम-विरसतादि की भावना के दृढीकरण के द्वारा अच्छी तरह निवर्तन करे॥१६॥

सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः।
यथातथाऽध्यापयंस् तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता॥१७॥

अपनी शाखा के वेद के विधान के अविरोधी किसी उपाय से जीवन निर्वाह करके वेद को पढ़ता-पढ़ाता हुआ स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण अपनी शाखा के वेद के विधान के विरोधी सभी विषयों का परित्याग करे, उस प्रकार की वेदाध्ययना-ऽध्यापनशीलता ही उसकी कृतकृत्यता है॥१७॥

वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याऽभिजनस्य च।
वेष-वाग्-बुद्धिसारूप्यमाचरन् विचरेदिह॥१८॥

मनुष्य अपने वय का (उम्र का), अपने काम का, अपनी सम्पत्ति का, अपने अध्ययन का और अपने कुल का भी अनुकूल रूप में वेष को (परिधान को), वाक् को (बोलचाल-व्यवहार को) और बुद्धि को (भावना को, विचार को) अपनाकर इस लोक में विचरण करे॥१८॥

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश् चैव वैदिकान्॥१९॥

स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण बुद्धि को शीघ्र बढ़ाने वाले, धनोपार्जन में उपयोगी और हितकारी लौकिक शास्त्रों का और वैदिक निगमों का (वेदव्याख्यानरूप वेदाङ्गों का और वेदोपाङ्गों का तथा रामायण-महाभारतादि इतिहासों का) भी सदाकाल ही अवलोकन करे॥१९॥

यथायथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथातथा विजानाति विज्ञानं चाऽस्य रोचते॥२०॥

मनुष्य जैसे-जैसे शास्त्र को प्राप्त करता है वैसे-वैसे शास्त्रार्थ को विशेष रूप से जानता है और वह विशेष ज्ञान उसको रुचिकर भी होता है॥२०॥

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्॥२१॥

स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण ऋषियज्ञ को (ब्रह्मयज्ञ को), देवयज्ञ को, भूतयज्ञ को (भूतबलि को), मनुष्ययज्ञ को (ब्राह्मण को, भिक्षुक को और अतिथि को अन्न देने के कार्य को), पितृयज्ञ को (पितरों को वैश्वदेवान्न से बलि देने के कार्य को अथवा नित्यश्राद्ध को) भी अपनी शक्ति के अनुसार सदा सम्पन्न करे (लुप्त न करे)॥२१॥

एतानेके महायज्ञान् यज्ञशास्त्रविदो जनाः।
अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति॥२२॥

यज्ञशास्त्र को जानने वाले कोई विद्वान् मनुष्य बाह्य चेष्टा नहीं करते हुए इन महायज्ञों को सदाकाल अपने इन्द्रियों में ही सम्पन्न करते हैं। [पाँच बुद्धीन्द्रियों के विषयों को पाँच इन्द्रियों में ही संयम से विलीन करते हैं]॥२२॥

वाच्येके जुह्वति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा।
वाचि प्राणे च पश्यन्तो यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयाम्॥२३॥

कोई ज्ञानवान् गृहस्थ वाणी में और प्राण में ही अक्षय रूप में यज्ञ की निष्पत्ति को देखते हुए सदाकाल वाणी में प्राण का और प्राण में वाणी का हवन करते हैं [ऐसे हवन की भावना करते हैं]॥२३॥

ज्ञानेनैवाऽपरे विप्रा यजन्त्येतैर् मखैः सदा।
ज्ञानमूलां क्रियामेषां पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषा॥२४॥

ज्ञानचक्षु से इन यज्ञों की क्रिया को ज्ञानमूलक देखते हुए कोई ज्ञानी ब्राह्मण गृहस्थ सदाकाल ज्ञान से ही इन यज्ञों को सम्पन्न करते हैं॥२४॥

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा।
दर्शेन चाऽर्धमासाऽन्ते पौर्णमासेन चैव हि॥२५॥

स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण दिन के और रात्रि के आदि में और अन्त में (प्रतिदिन दो वार) सर्वदा श्रौत अग्नि में अग्निहोत्र (होम) करे, अर्धमासों के (पक्षों के) अन्त में (अमावास्या के अन्त में) दर्शयाग से और (पूर्णिमा के अन्त में) पौर्णमासयाग से यजन करे॥२५॥

सस्याऽन्ते नवसस्येष्ट्या तथर्त्वन्ते द्विजोऽध्वरैः।
पशुना त्वयनस्याऽऽदौ समाऽन्ते सौमिकैर् मखैः॥२६॥

पुराने अन्न के अन्त में (नये अन्न के आगमन में) नवसस्येष्टि से (आग्रयण से), और ऋतुओं (चारचार मास) के अन्त में चातुर्मास्ययागों से, उदगयन के और दक्षिणायन के आदि में निरूढपशुबन्धयाग से और वर्ष के अन्त में सोमयागों से यजन करे।

विशेष– समा-शब्द से यहाँ पर चैत्रादि वर्षका ग्रहण नहीं है, क्योंकि वैदिक आर्तव वर्ष माघादि (शिशिरादि) होने की बात वेदाङ्गज्योतिष से सिद्ध है, इसके लिए चौखम्बाविद्याभवन से प्रकाशित (२००५ क्रै.) संस्कृत में और हिन्दी में कौण्डिन्न्यायन-व्याख्यान से युक्त वेदाङ्गज्योतिषग्रन्थ अथवा भारतवर्षीय ज्योतिष के ज्वलन्त प्रश्न और वेदाङ्गज्योतिष नाम का ग्रन्थ देखिए। यहाँ पर सावन वर्ष का ग्रहण है। एक चातुर्मास्यचक्र के अन्त में प्रत्येक सावनवर्ष के अन्त में वसन्त ऋतु में सोमयाग करना चाहिए॥२६॥

नाऽनिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाऽग्निमान् द्विजः।
नवाऽन्नमद्यान् मांसं वा दीर्घमायुर् जिजीविषुः॥२७॥

श्रौत अग्नियों से युक्त और दीर्घ काल तक जीना चाहने वाला ब्राह्मण गृहस्थ नवसस्येष्टि से (आग्रयण से) यजन के विना नये अन्न को नहीं खावे और निरूढपशुबन्धयाग से यजन के विना मांस नहीं खावे॥२७॥

नवेनाऽनर्चिता ह्यस्य पशुहव्येन चाऽग्नयः।
प्राणानेवाऽत्तुमिच्छन्ति नवाऽन्नाऽऽमिषगर्धिनः॥२८॥

नये अन्न से और पशुमांसरूप हवि से भी अपूजित और नये अन्न में और मांस में लुब्ध होने वाले तीनों श्रौत अग्नि इस आहिताग्नि गृहस्थ के प्राणों को ही खाने की इच्छा करते हैं।

विशेष– पशुयाग के विधान का अनुविधान २६ वें श्लोक से किया गया है। इसी के ये अर्थवाद हैं। अत एव अग्निष्टोम सोमयाग करने वालों के लिए निरूढपशुबन्ध याग अवश्य कर्तव्य है, ऐच्छिक वा छोडा जा सकने वाला नहीं है॥२८॥

आसनाऽशनशय्याभिरद्भिर् मूलफलेन वा।
नाऽस्य कश्चिद् वसेद् गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः ॥२९॥

इस स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण के घर में कोई भी अतिथि इस गृहस्थ के शक्ति के अनुसार आसन-भोजन-शय्याओं से अथवा जल से अथवा कन्दमूलों से अथवा फलों से ही भी असत्कृत होकर निवास न करे॥२९॥

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् बैडालव्रतिकाञ् छठान्।
हैतुकान् बकवृत्तींश् च वाङ्मात्रेणाऽपि नाऽर्चयेत् ॥३०॥

पाखण्डियों को (वेदविरोधियों को), विकर्मस्थों को (अपने वर्ण के और आश्रम के विरुद्ध कर्म में रहने वालों को), बैडालव्रतियों को (बाहर धर्माचरण दिखाकर अन्दर-अन्दर पापाचरण करने वालों को), शठों को (प्रत्यक्ष में वेद में प्रेम दिखाकर परोक्ष में वेद में द्वेष करने वालों को), हैतुकों को (वेदविरुद्ध तर्क करने वालों को) और बकवृत्तियों को (ढोंग रचने वालों को) भी (अभ्यागतों को भी) केवल वाणी मात्र से भी सत्कृत न करे॥३०॥

वेदविद्याव्रतस्नाताञ् श्रोत्रियान् गृहमेधिनः।
पूजयेद् धव्यकव्येन विपरीतांश् च वर्जयेत् ॥३१॥

वेदविद्यास्नातक अथवा वेदव्रतस्नातक अथवा वेदविद्याव्रतोभयस्नातक और वेदाध्ययनशील गृहस्थों को हव्य से (देवतोद्देश्यक अन्न के दान से) और कव्य से (पित्रुद्देश्यक अन्न के दान से) भी सत्कृत करे, अस्नातक और वेदाध्ययनरहित गृहस्थों को वर्जित करे॥३१॥

शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना।
संविभागश् च भूतेभ्यः कर्तव्योऽनुपरोधतः ॥३२॥

गृहस्थ को अपने पोष्य-वर्ग का पीडन नहीं करते हुए अपनी शक्ति के अनुसार अपने हाथ से पाक नहीं करने वाले वैदिक ब्रह्मचारियों को और वैदिक सन्यासियों को भी अन्न देना चाहिए और अन्य प्राणियों के लिए भी अन्न का संविभाग करना चाहिए॥३२॥

राजतो धनमन्विच्छेत् संसीदन् स्नातकः क्षुधा।
याज्याऽन्तेवासिनोर् वाऽपि न त्वन्यत इति स्थितिः ॥३३॥

अन्नादि के अभाव से दुःख में पड़ा हुआ स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण वेदशास्त्रों के अनुसार आचरण करने वाले शास्त्रीय राजा से धन प्राप्त करने की इच्छा करे,

अथवा अपने याज्य से अथवा अपने शिष्य से धन प्राप्त करने की इच्छा करे, दूसरे लोगों से धन प्राप्त करने की इच्छा न करे, यह धर्मशास्त्रव्यवस्था है॥३३॥

न सीदेत् स्नातको विप्रः क्षुधा शक्तः कथञ्चन।
न जीर्णमलवद्वासा भवेच् च विभवे सति॥३४॥

शास्त्रोक्त उपाय से धनोपार्जन करने में समर्थ स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण धनाऽभाव के दुःख में (भूखमरी में) न पड़े, धन वर्तमान होने पर फटे-पुराने और मैले-कुचैले वस्त्रों को पहनने वाला भी न होवे॥३४॥

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुर् दान्तः शुक्लाऽम्बरः शुचिः।
स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान् नित्यमात्महितेषु च॥३५॥

बढे हुए वालों को, नाखूनों को और दाढी-मूँछों को समय-समय में कैंची से कटाने वाला, जितेन्द्रिय, श्वेत वस्त्रों को पहनने वाला, सदा स्नानादि से शुद्ध रहने वाला स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण अपनी शाखा के वेद के अध्ययन में संलग्न होवे और अपना हित करने वाले वस्तु-आचार-विचार-व्यवहारों के सेवन में सर्वदा संलग्न रहे॥३५॥

वैणवीं धारयेद् यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम्।
यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले॥३६॥

बाँस के दण्ड का, जल से युक्त कमण्डलु का, यज्ञोपवीत का, कुशमुष्टि का, और सोने के दो सुन्दर कुण्डलों का भी धारण करे॥३६॥

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नाऽस्तं यन्तं कदाचन।
नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम्॥३७॥

उदित हो रहे सूर्य को न निहारे, अस्तङ्गत हो रहे सूर्य को भी कदापि न निहारे, राहुग्रस्त सूर्य को न निहारे, जल में प्रतिबिम्बित सूर्य को न निहारे और आकाश के मध्य में प्राप्त सूर्य को भी न निहारे॥३७॥

न लङ्घयेद् वत्सतन्त्रीं न प्रधावेच् च वर्षति।
न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा॥३८॥

बछवा बाँधने की रस्सी को न लाँघे, पानी बरसते रहने पर न दौड़े और पानी में पड़ी हुई अपनी परछाई को न निहारे, यह शास्त्र का निर्णय है॥३८॥

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम्।
प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश् च वनस्पतीन्॥३९॥

चलते समय रास्ते में मिले हुए मिट्टी के ढेर को, गौ को, देवतामूर्ति को, ब्राह्मण को, घी को, मधु को (शहद को), चौराहे को और प्रसिद्ध पीपल बड इत्यादि वृक्षों को भी अपने दाहिने हाथ की ओर करता हुआ चले॥३९॥

नोपगच्छेत् प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने।
समानशयने चैव न शयीत तया सह॥४०॥

कामदेव के आवेश से अत्यन्त उन्मत्त होता हुआ भी स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण रजोदर्शन होने पर स्त्री के पास न जावे (सम्भोग न करे), उसके साथ में एक ही शय्या में भी कभी भी न सोए॥४०॥

रजसाऽभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश् चैव प्रहीयते॥४१॥

रज से लथपथ स्त्री से सम्भोग करने वाले पुरुष की बुद्धि, तेज, बल, चक्षु और आयु क्षीण होता है॥४१॥

तां विवर्जयतस् तस्य रजसा समभिप्लुताम्।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश् चैव प्रवर्धते॥४२॥

रज से लथपथ स्त्री को सम्भोग में वर्जित करने वाले पुरुष की बुद्धि, तेज, बल, चक्षु और आयु भी बढती है॥४२॥

नाऽश्नीयाद् भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाऽश्नतीम्।
क्षुवतीं जृम्भमाणां वा न चाऽऽसीनां यथासुखम्॥४३॥

पत्नी के साथ भोजन न करे। भोजन करती हुई पत्नी को नहीं निहारे; छींकती हुई, जम्भाई लेती हुई और स्वेच्छा से जैसे-तैसे सुखपूर्वक बैठी हुई पत्नी को भी न निहारे॥४३॥

नाऽञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे न चाऽभ्यक्तामनावृताम्।
न पश्येत् प्रसवन्तीं च तेजस्कामो द्विजोत्तमः॥४४॥

अपनी तेजस्विता की कामना करने वाला ब्राह्मण अपनी आँखों में काजल लगाती हुई पत्नी को, तैलादि से सनी हुई पत्नी को, उत्तरीय से अनावृत पत्नी को और सन्तान को जन्म देती हुई पत्नी को भी न निहारे॥४४॥

नाऽन्नमद्यादेकवासा न नग्नः स्नानमाचरेत्।
न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे॥४५॥

स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण एक ही वस्त्र को पहनता हुआ अन्न न खावे, नंगा होकर स्नान न करे, रास्ते में पेशाब न करे, राख पर भी पेशाब न करे और गो-घर में भी पेशाब न करे॥४५॥

न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते।
न जीर्णदेवाऽऽयतने न वल्मीके कदाचन॥४६॥

फाली से जोती हुई भूमि में पेशाब न करे, पानी में पेशाब न करे, अग्नि के लिए बनाई गई इष्टकाचिति में पेशाब न करे, पर्वत में पेशाब न करे, देवता के पुराने टूटे हुए मन्दिर में पेशाब न करे, दीमकों से बनाए गए मिट्टी के टीले (बाम्बी) में भी कदापि पेशाब न करे॥४६॥

न ससत्त्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नाऽपि च स्थितः।
न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके॥४७॥

प्राणी से युक्त गड्ढों में पेशाब न करे, चलते हुए पेशाब न करे, खड़े-खड़े भी पेशाब न करे, नदी के तीर में पहुँचकर पेशाब न करे, पहाड की चोटी पर भी पेशाब न करे॥४७॥

वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस् तथैव गाः।
न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम्॥४८॥

वायु को, अथवा आग को, अथवा ब्राह्मण को, अथवा सूर्य को, अथवा पानी को, अथवा गायों को देखते हुए कभी भी मल-मूत्र का विसर्जन न करे॥४८॥

तिरस्कृत्योच्चरेत् काष्ठलोष्टपत्रतृणादिना।
नियम्य प्रयतो वाचं संवीताऽङ्गोऽवगुण्ठितः॥४९॥

लकड़ी, मिट्टी का ढेला, पत्ता, घास इत्यादि में से किसी वस्तु से भूमि को ढककर उच्छिष्टतारूप अशुद्धि से मुक्त होकर वाणी को नियन्त्रित करके अङ्गों को ढककर शिर में भी वस्त्र रखकर मलत्याग (पखाना) करे॥४९॥

मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः।
दक्षिणाऽभिमुखो रात्रौ सन्ध्ययोश् च यथा दिवा॥५०॥

दिन में मल-मूत्र का त्याग उत्तर दिशा की ओर मुख करके करे। रात में मल-मूत्र का त्याग दक्षिण दिशा की ओर मुख करके करे। प्रातःकाल के और सायङ्काल के सन्ध्यासमय में मलमूत्रत्याग दिन की तरह करे॥५०॥

छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः।
यथासुखमुखः कुर्यात् प्राणबाधाभयेषु च ॥५१॥

रात में अथवा दिन में भी छायायुक्त स्थल में और अन्धकारयुक्त स्थल में तो ब्राह्मण सुविधे के अनुसार किसी दिशा की ओर मुख करके मलमूत्रत्याग करे। चोर, डकैत, शत्रु, शेर, बाघ इत्यादि से प्राणबाधा का भय होने पर भी ब्राह्मण सुविधे के अनुसार जिस किसी भी दिशा की ओर मुख करके मलमूत्रत्याग करे॥५१॥

प्रत्यग्निं प्रति सूर्यं च प्रति सोमोदकद्विजान्।
प्रति गां प्रति वातं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः ॥५२॥

आग की ओर, सूर्य की ओर, चन्द्र की ओर, जल की ओर, ब्राह्मण की ओर, गौ की ओर और वायु की ओर मुख करके पेशाब करने वाले की बुद्धि नष्ट हो जाती है॥५२॥

नाऽग्निं मुखेनोपधमेन् नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम्।
नाऽमेध्यं प्रक्षिपेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेत् ॥५३॥

स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण आग को मुख से न फूँके, नङ्गी स्त्री को न निहारे, आग में सिङ्घाण-थूक-मल-मूत्रादि अपवित्र पदार्थ न फेंके और आग में पैरों को न तपाए॥५३॥

अधस्तान् नोपदध्याच् च न चैनमभिलङ्घयेत्।
न चैनं पादतः कुर्यान् न प्राणाऽऽबाधमाचरेत् ॥५४॥

आग को अपने नीचे (अपने खाट चारपाई इत्यादि के नीचे) न रखे, इसको (आग को) लाँघे भी नहीं, इसको (आग को) अपने पैरों की ओर भी न रखे, प्राण को बाधा पहुँचाने वाला काम नहीं करे॥५४॥

नाऽश्नीयात् सन्धिवेलायां न गच्छेन् नाऽपि संविशेत्।
न चैव प्रलिखेद् भूमिं नाऽऽत्मनोऽपहरेत् स्रजम् ॥५५॥

दिन और रात के सन्धि के समय में (सन्ध्याकाल में) न खाए, न चले, न सोए। नाखून इत्यादि से भूमि को खरोचते रहने का काम भी कदापि न करे। अपनी पहनी हुई माला को स्वयम् उतारने का काम भी न करे॥५५॥

नाऽप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत्।
अमेध्यलिप्तमन्यद् वा लोहितं वा विषाणि वा ॥५६॥

मूत्र को, अथवा विष्ठा को, अथवा थूक को, अथवा खखार को जल में न फेंके। मल-मूत्र खखार इत्यादि अमेध्य वस्तु से लिपे हुए अन्य किसी वस्तु को, अथवा लहू को अथवा विषों को भी पानी में न फेंके॥५६॥

नैकः स्वप्याच् छून्यगेहे श्रेयांसं न प्रबोधयेत्।
नोदक्ययाऽभिभाषेत यज्ञं गच्छेन् न चाऽवृतः ॥५७॥

सूने घर में अकेला न सोए, जाति विद्या धर्म धन चरित्र अवस्था इत्यादि से अपने से बड़े को न जगाए, रजस्वला स्त्री से बातचीत न करे, वरण नहीं किया गया ब्राह्मण यज्ञ में न जाए॥५७॥

अग्न्यगारे गवां गोष्ठे ब्राह्मणानां च सन्निधौ।
स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ॥५८॥

अग्नि के घर में, गायों के निवासस्थान में, ब्राह्मणों के समीप में, अपनी शाखा के वेद के अध्ययन के काल में और भोजन के काल में भी दाहिने हाथ को उत्तरीय से और जनेऊ से बाहर रखे॥५८॥

न वारयेद् गां धयन्तीं न चाऽऽचक्षीत कस्य चित्।
न दिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्यचिद् दर्शयेद् बुधः ॥५९॥

पानी अथवा दूध पीती हुई गाय को मना न करे, इस बात को अन्य किसी को कहे भी नहीं। आकाश में इन्द्रधनुष को देखकर धर्मज्ञ स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण किसी दूसरे को दिखाए भी नहीं॥५९॥

नाऽधार्मिके वसेद् ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम्।
नैकः प्रपद्येताऽध्वानं न चिरं पर्वते वसेत् ॥६०॥

अधार्मिक लोगों से युक्त गाँव में निवास न करे, अनेक प्रकार के सङ्क्रामक कड़े दुश्चिकित्स्य व्याधियों से पीडित जनों से युक्त गाँव में भी निवास न करे। लम्बे रास्ते में अकेले नहीं चले। देर तक पर्वत में निवास न करे॥६०॥

न शूद्रराज्ये निवसेन् नाऽधार्मिकजनाऽऽवृते।
न पाषण्डिगणाऽऽक्रान्ते नोपसृष्टेऽन्त्यजैर् नृभिः ॥६१॥

शूद्रस्वामिक जनपद में निवास न करे, अधार्मिक जनों से घिरे हुए जनपद में भी निवास न करे, वेदविरोधी लोगों से आक्रान्त जनपद में भी निवास न करे, शूद्र से प्रतिलोम रूप में जन्म लेने वाले चण्डालादि जनों से दूषित जनपद में भी निवास न करे॥६१॥

न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नाऽतिसौहित्यमाचरेत्।
नाऽतिप्रगे नाऽतिसायं न सायं प्रातराशितः ॥६२॥

मलाई निकाले हुए दूध, दही इत्यादि को, तेल निकाले हुए तिलकल्क (तिलखल) इत्यादि को न खाए, अत्यन्त तृप्ति न करे (ज्यादा न खाए), बहुत सबेरे न खाए, बहुत शाम होने पर भी न खाए, पूर्वाह्ण में खूब खाने पर शाम को नं खाए॥६२॥

न कुर्वीत वृथाचेष्टां न वार्यञ्जलिना पिबेत्।
नोत्सङ्गे भक्षयेद् भक्ष्यान् न जातु स्यात् कुतूहली ॥६३॥

व्यर्थ की चेष्टा न करे, अञ्जलि से पानी न पीए, गोद में भोज्य पदार्थ को लेकर भोजन न करे, कभी भी हर नवीन चीज को जानने की सुनने की और देखने की उत्कट इच्छा वाला भी न होवे॥६३॥

न नृत्येदथवा गायेन् न वादित्राणि वादयेत्।
नाऽऽस्फोटयेन् न च क्ष्वेडेन् न च रक्तो विरावयेत् ॥६४॥

स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण न नाचे, न गाये और वाद्यों को भी न बजाए। हाथ से भुजा को अथवा ऊरु को ठोंककर शब्द निकालने का काम भी न करे, दहाड़ने का काम भी न करे, अनुरक्त होकर विविध रव (शब्द) निकालने का काम भी न करे॥६४॥

न पादौ धावयेत् कांस्ये कदाचिदपि भाजने।
न भिन्नभाण्डे भुञ्जीत न भावप्रतिदूषिते ॥६५॥

काँसे के वर्तन में कभी भी पैर न धुलवाए, फूटे हुए वर्तन में भोजन न करे, अमेध्य-संसर्गादि की शङ्का के कारण से अपनी अरुचि से दूषित वर्तन में भी भोजन न करे॥६५॥

उपानहौ च वासश् च धृतमन्यैर् न धारयेत्।
उपवीतमलङ्कारं स्रजं करकमेव च ॥६६॥

दूसरों से पहने गए जूते, वस्त्र, यज्ञोपवीत (जनेऊ), आभूषण, माला और कमण्डलु इन का धारण न करे॥६६॥

नाऽविनीतैर् व्रजेद् धुर्यैर् न च क्षुद्व्याधिपीडितैः।
न भिन्नशृङ्गाऽक्षिखुरैर् न वालधिविरूपितैः ॥६७॥

गाडी में जुते हुए अच्छी तरह नहीं सधाए गए पशुओं से यात्रा न करे, भूख से अथवा रोग से पीडित पशुओं से भी यात्रा न करे, टूटे हुए सींग से अथवा फूटी हुई आँख से अथवा कटे हुए खुरों से युक्त पशुओं से भी यात्रा न करे, पूँछ से विरूप पशुओं से भी यात्रा न करे॥६७॥

विनीतैस् तु व्रजेन् नित्यमाशुगैर् लक्षणाऽन्वितैः।
वर्णरूपोपसम्पन्नैः प्रतोदेनाऽतुदन् भृशम्॥६८॥

स्नातक अथवा गृहस्थ ब्राह्मण चाबुक से ज्यादा कष्ट नहीं देता हुआ अच्छी तरह सधाए गए, शालिहोत्रादि शास्त्र में प्रतिपादित लक्षणों से युक्त, वर्ण से और रूप से युक्त, शीघ्र चलने वाले, गाड़ी में जुते हुए पशुओं से यात्रा करे॥६८॥

बालाऽऽतपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथाऽऽसनम्।
न च्छिन्द्यान् नखलोमानि दन्तैर् नोत्पाटयेन् नखान्॥६९॥

प्रातःकाल के धूप को वर्जित करना चाहिए, शवदाह के धुएँ को भी वर्जित करना चाहिए, टूटे-फूटे हुए पीठकादि आसन को भी वर्जित करना चाहिए, बढे हुए नाखूनों को और लोमों को स्वयम् न काटे, दाँतों से नाखूनों को न काटे॥६९॥

न मृल्लोष्टं च मृद्नीयान् न च्छिन्द्यात् करजैस् तृणम्।
न कर्म निष्फलं कुर्यान् नाऽऽयत्यामसुखोदयम्॥७०॥

मिट्टी के ढेले को न मसले, नाखूनों से तृण को न काटे, निष्फल कर्म न करे और परिणाम में दुःख लाने वाला काम भी न करे॥७०॥

लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः।
स विनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च॥७१॥

मिट्टी के ढेले को मसलने वाला, नाखूनों से तृण को काटने वाला, नाखूनों को दाँतों से काटने वाला जो मनुष्य है वह शीघ्र ही विनाश में प्राप्त होता है, और चुगलखोर तथा शरीर की और मन की शुद्धि से रहित मनुष्य भी शीघ्र ही विनाश में प्राप्त होता है॥७१॥

न विगृह्य कथां कुर्याद् बहिर् माल्यं न धारयेत्।
गवां च यानं पृष्ठेन सर्वथैव विगर्हितम्॥७२॥

किसी से प्रतिस्पर्धा करके वाद-विवाद न करे, केशकलाप से बाहर माला का धारण न करे। बैलों के पीठ पर सवारी करना सर्वथा ही निन्दित है॥७२॥

अद्वारेण च नाऽतीयाद ग्रामं वा वेश्म वाऽऽवृतम्।
रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत्॥७३॥

चहारदिवारी इत्यादि से घिरे हुए गाँव में अथवा घर में अद्वार से प्रवेश न करे। रात के समय में पेडों की जड को दूर से ही छोड दे॥७३॥

नाऽक्षैः क्रीडेत् कदाचित् तु स्वयं नोपानहौ हरेत्।
शयनस्थो न भुञ्जीत न पाणिस्थं न चाऽऽसने॥७४॥

कभी भी पाशा (जुआ) न खेले। अपना जूता स्वयं कहीं नहीं ले जाए। बिस्तरे में बैठकर भोजन न करे, हाथ में भोज्य पदार्थ रखकर भी भोजन न करे, आसन में भोज्य पदार्थ रखकर भी भोजन न करे॥७४॥

सर्वं च तिलसम्बद्धं नाऽद्यादस्तमिते रवौ।
न च नग्नः शयीतेह न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत्॥७५॥

सूर्य अस्तङ्गत होने पर तिल से सम्बद्ध किसी भी वस्तु को न खाए, सर्वाङ्ग नग्न होकर इस लोक में न सोए, जूठा मुख कहीं न जाए॥७५॥

आर्द्रपादस् तु भुञ्जीत नाऽऽर्द्रपादस् तु संविशेत्।
आर्द्रपादस् तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात्॥७६॥

गीले पैरों वाला होकर भोजन करे, गीले पैरों वाला होकर तो नहीं सोए। गीले पैरों वाला होकर खाने वाला मनुष्य लम्बी आयु को पाएगा॥७६॥

अचक्षुर्विषयं दुर्गं न प्रपद्येत कर्हिचित्।
न विण्मूत्रमुदीक्षेत न बाहुभ्यां नदीं तरेत्॥७७॥

आँखों से नहीं देखे जा सकने वाले दुर्गम प्रदेश में कभी भी न जाए। मल-मूत्र को न निहारे। भुजाओं से तैरकर नदी को पार न करे॥७७॥

अधितिष्ठेन् न केशांस् तु न भस्माऽस्थिकपालिकाः।
न कार्पासाऽस्थि न तुषान् दीर्घमायुर् जिजीविषुः॥७८॥

लम्बी आयु तक जीने की इच्छा करने वाला मनुष्य वालों के ऊपर न बैठे, राख के ऊपर, हड्डी के ऊपर और फूटे मिट्टी के वर्तनों के टुकडों के ऊपर भी न बैठे, कपास की गुठली के ऊपर भी न बैठे, भूसे के ऊपर भी न बैठे॥७८॥

न संवसेच् च पतितैर् न चाण्डालैर् न पुल्कसैः।
न मूर्खैर् नाऽवलिप्तैश् च नाऽन्त्यैर् नाऽन्त्यावसायिभिः॥७९॥

स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण पतितों के साथ में न बैठे, चाण्डालों के साथ में, पुल्कसों के साथ में, मूर्खों के साथ में, अभिमानी लोगों के साथ में, शूद्रों के साथ में और अन्त्यावसायियों के साथ में भी न बैठे।

विशेष– चण्डाल, पुल्कस, अन्त्यावसायी इन शब्दों का अर्थ इसी ग्रन्थ के दशम अध्याय में देखें (१०।१२, १०।१८, १०।३९)॥७९॥

न शूद्राय मतिं दद्यान् नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्।
न चाऽस्योपदिशेद् धर्मं न चाऽस्य व्रतमादिशेत्॥८०॥

स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण शूद्र को लौकिक बुद्धि न दे, उच्छिष्ट (जूठा) भी न दे, यज्ञशेष भी न दे, इसको (शूद्र को) धर्म का उपदेश भी साक्षात् न दे, इस को प्राजापत्यकृच्छ्रादि व्रत का भी साक्षात् उपदेश न करे।

विशेष– उपदेश वस्तुतः व्यक्तिगत सम्बन्ध में निर्भर रहता है। शूद्रमनोवृत्ति के मनुष्य में उपदेश लोककल्याण की दृष्टि से फलदायी न होकर विपरीत फल देने वाला हो सकने से शूद्र को बुद्धि नहीं देने की बात की गई है। ठण्डक से पीडित वानरों को घर बनाने का उपदेश (ज्ञान) देने से पक्षियों का सर्वनाश होने की कथा से भी यही बात पुष्ट होती है। शूद्र के विषय में ही नहीं सभी के विषय में मनुस्मृति में कहा गया है कि **"नाऽपृष्टः कस्य चिद् ब्रूयान् न चाऽन्यायेन पृच्छतः। जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्॥ अधर्मेण च यः प्राह यश् चाऽधर्मेण पृच्छति। तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाऽधिगच्छति"** (२।११०,१११)॥८०॥

यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे यश् चैवाऽऽदिशति व्रतम्।
सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति॥८१॥

जो स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण इसको (शूद्र को) धर्म साक्षात् बताता है और जो इसको प्राजापत्य-कृच्छ्रादि व्रत का साक्षात् विधान करता है वह उसी शूद्र के साथ में असंवृत नाम के नरक में डूबता है॥८१॥

न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः।
न स्पृशेच् चैतदुच्छिष्टो न च स्नायाद् विना ततः॥८२॥

स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण मिले हुए दोनों हाथों से अपने शिर न खुजलावे, उच्छिष्ट (जूठा) रहने पर इसको (शिर को) न छूए, और उसको (शिर को) छोडकर स्नान न करे॥८२॥

केशग्रहान् प्रहारांश् च शिरस्येतान् विवर्जयेत्।
शिरःस्नातश् च तैलेन नाऽङ्गं किञ्चिदपि स्पृशेत्॥८३॥

दूसरे के शिर के वालों को हठात् पकडने के कार्य को और शिर में मारने के कार्य को भी वर्जित करे। शिर के साथ में नहाया हुआ स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण अपने किसी अङ्ग को भी तेल से न छूए॥८३॥

न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितः।
सूनाचक्रध्वजवतां वेशेनैव च जीवताम्॥८४॥

स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण क्षत्रिय माता-पिता से न जन्मे हुए राजा से दान न ले। पशुवधशाला वाले का, तिल सरसों इत्यादि को पेरने का चक्र रखने वाले का, मद्यविक्रयस्थान के चिह्न के रूप में रहने वाले ध्वज को रखने वाले का, और वेश्या के वेतन से जीविका करने वालों का भी दान न ले॥८४॥

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः।
दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः॥८५॥

तिल सरसों इत्यादि पेरने का एक चक्र दश पशुवधशालाओं का बराबर है, मद्यविक्रयशाला का चिह्नरूप एक ध्वज दश चक्रों का बराबर है, वेश्यालयों की एक पङ्क्ति दश ध्वजों का बराबर है, एक राजा वेश्यालयों की दश पङ्क्तियों का बराबर है॥८५॥

दशसूनासहस्राणि यो वाहयति सौनिकः।
तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस् तस्य प्रतिग्रहः॥८६॥

जो सौनिक दश हजार पशुवधशालाओं का सञ्चालन करता है, राजा उसका बराबर है, उसका (राजा का) दान लेना घोर (भयङ्कर) है॥८६॥

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः।
स पर्यायेण यातीमान् नरकानेकविंशतिम्॥८७॥

लोभी और वेद-स्मृति-पुराणशास्त्रव्यवस्था का लङ्घन करके वर्ताव करने वाले राजा का दान जो ब्राह्मण लेता है वह क्रम से इन (आगे के श्लोकों में बताए गए) इक्कीस नरकों में जाता है॥८७॥

तामिस्रमन्धतामिस्रं महारौरव-रौरवौ।
नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च॥८८॥

सञ्जीवनं महावीचिं तपनं सम्प्रतापनम्।
संहातं च सकाकोलं कुड्मलं प्रतिमूर्तिकम्॥८९॥

लोहशङ्कुमृजीषं च पन्थानं शाल्मलीं नदीम्।
असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ॥९०॥

(वैसे राजा का दान लेने वाला ब्राह्मण क्रम से) १. तामिस्र नरक को, २. अन्धतामिस्र नरक को, ३. महारौरव नरक को, ४. रौरव नरक को, ५. कालसूत्र नरक को, ६. महानरक नाम के नरक को, ७. सञ्जीवन नरक को, ८. महावीचि नरक को, ९. तपन नरक को, १०. सम्प्रतापन नरक को, ११. संहात नरक को, १२. काकोल नरक को, १३. कुड्मल नरक को, १४. प्रतिमूर्तिक नरक को, १५. लोहशङ्कु नरक को, १६. ऋजीष नरक को, १७. पन्था नरक को, १८. शाल्मली नरक को, १९. नदी नरक को, २०. असिपत्रवन नरक को, और २१. लोहदारक नरक को (जाता है)।

विशेष— नरकों का विवेचन चौखम्बा विद्याभवन से प्रकाशित हमारी ब्रह्ममीमांसासूत्रवृत्ति में (३।१।१५) हुआ है, जिज्ञासु सज्जन उसको देखें॥८८–९०॥

एतद् विदन्तो विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः।
न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति प्रेत्य श्रेयोऽभिकाङ्क्षिणः ॥९१॥

इस बात को जानते हुए वेदाध्ययनाऽध्यापनशील, धर्मशास्त्र-पुराणादि शास्त्र के विज्ञ और परलोक में अपना कल्याण चाहने वाले ब्राह्मण लोग राजा का दान नहीं लेते हैं॥९१॥

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्माऽर्थौ चाऽनुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश् च तन्मूलान् वेदतत्त्वाऽर्थमेव च ॥९२॥

स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण ब्राह्म मुहूर्त में (रात के उपान्त्य मुहूर्त में) जगे, धर्म का और अर्थ का विचार करे, धर्म की और अर्थ की प्राप्ति में होने वाले शरीर के क्लेशों का भी विचार करे, और वेद के तत्त्वार्थ का (ब्रह्मात्मा का) चिन्तन भी करे। [दिन में और रात में पन्द्रह-पन्द्रह मुहूर्त होते हैं। एक मुहूर्त में दो घटियाँ होती हैं और ४८ मिनट का समय होता है]॥९२॥

उत्थायाऽवश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः।
पूर्वां सन्ध्यां जपंस् तिष्ठेत् स्वकाले चाऽपरां चिरम् ॥९३॥

उठकर आवश्यक कर्म (मलमूत्रत्याग) करके दन्तधावन-हस्तमुखपादप्रक्षालनादि शौचकर्म भी करके एकाग्रचित्त होकर पूर्व सन्ध्या में (प्रातःसन्ध्या में) पवित्र मन्त्रों को जपता हुआ बहुत देर तक खडा रहे, अपने समय में दूसरी सन्ध्या में (सायंसन्ध्या में) भी पवित्र मन्त्रों को जपता हुआ बहुत देर तक आसन में बैठकर रहे।

विशेष– सन्ध्योपासन के विषय में **"पूर्वां सन्ध्याम्"** इत्यादि श्लोक की (मनु.२।१०१) हमारी टिप्पणी देखें॥९३॥

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः ।
प्रज्ञां यशश् च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥९४॥

ऋषियों ने सन्ध्याकाल के अनुष्ठान को लम्बा बनाने वाले होकर लम्बा आयु पाया, बुद्धि, यश कीर्ति और ब्रह्मवर्चस (अध्ययन-चरित्रमूलक तेज) भी पाया॥९४॥

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाऽप्युपाकृत्य यथाविधि ।
युक्तश् छन्दांस्यधीयीत मासान् विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥९५॥

श्रावणी पूर्णिमा में अथवा भाद्रपदी पूर्णिमा में अपने गृह्यसूत्र के विधान के अनुसार उपाकर्म करके आवश्यक नियमों का पालन करता हुआ ब्राह्मण आधे पञ्चम मास से युक्त चार महीनों तक (साढे चार महीनों तक) वेद (शिष्य के लिए) पढ़े (पढ़ाए)।

विशेष– यहाँ श्रावणी से वर्षा ऋतु की पहली पूर्णिमा को और प्रौष्ठपदी से वर्षा ऋतु की दूसरी पूर्णिमा को जानना चाहिए॥९५॥

पुष्ये तु च्छन्दसां कुर्याद् बहिरुत्सर्जनं द्विजः ।
माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥९६॥

साढे चार मास बीतने पर जिस दिन में पुष्य नक्षत्र आता है उस दिन में पूर्वाह्ण में गाँव के बाहर (जल के समीप में) जाकर वेदों का (अपने गृह्यसूत्रों में बताए गए विधि से) उत्सर्जन (अगृहीतवेदभागग्राहणरूप वेदाध्यापनकार्य का विराम) करे। अथवा माघ महीने के शुक्ल पक्ष का प्रथम दिन प्राप्त होने पर पूर्वाह्ण में उक्त उत्सर्जन कर्म करे।

विशेष– यहाँ पर प्रतिपदा तिथि को प्रथम दिन कहा गया है। यह मूल वैदिक परम्परा में तिथि की सावनदिनात्मकता को ज्ञापित करता है। इस विषय में अधिक जिज्ञासु सज्जन चौखम्बा विद्याभवन से प्रकाशित संस्कृत में और हिन्दी में कौण्डिन्न्यायनव्याख्यान से युक्त वेदाङ्गज्योतिष देखें॥९६॥

यथाशास्त्रं तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः ।
विरमेत् पक्षिणीं रात्रिं तदेवैकमहर्निशम् ॥९७॥

अपने गृह्यसूत्र के अनुसार गाँव के बाहर जाकर वेदाध्यापन का उत्सर्जन (विराम) करने पर पक्षिणी रात्री तक (एक दिन, एक रात और एक दिन तक)

वेदाध्ययन न करे अथवा उसी उत्सर्जन दिन के एक दिन और एक रात तक ही वेदाध्ययन न करे॥९७॥

अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत्।
वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु सम्पठेत्॥९८॥

इसके बाद तो शुक्लपक्षों में शास्त्रनियन्त्रित होकर मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदों का धारणाऽध्ययन करे (और कराए)। सभी (प्रातिशाख्यशिक्षा, कल्प, व्याकरण इत्यादि) वेदाङ्गों को कृष्णपक्ष में अच्छी तरह (पूर्वाऽनधीत भाग को भी) पढ़े (पढ़ाए)॥९८॥

नाऽविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसन्निधौ।
न निशान्ते परिश्रान्तो ब्रह्माऽधीत्य पुनः स्वपेत्॥९९॥

स्वरों को और वर्णों को अस्पष्ट रूप में उच्चारण करके वेद न पढ़े, शूद्रजन के समीप में भी वेद न पढ़े। रात के अन्तिम प्रहर में वेद पढ़कर थकित होके फिर न सोए॥९९॥

यथोदितेन विधिना नित्यं छन्दस्कृतं पठेत्।
ब्रह्म च्छन्दस्कृतं चैव द्विजो युक्तो ह्यनापदि॥१००॥

मन्त्रभागरूप वेद को सभी अवस्थाओं में गृह्यसूत्रों में बताए गए विधि से ही (उपाकरणपूर्वक ही) अध्ययन करे, आपत्काल न होने पर तो ब्राह्मण भाग को और मन्त्र भाग को दोनों को ही शास्त्रमर्यादा के पालन में सतत प्रयत्नशील ब्राह्मण गृह्यसूत्रों में बताए गए विधि से ही (उपाकरणपूर्वक ही) पढ़े।

विशेष– जिज्ञासु सज्जन वेदाध्ययन की शास्त्रीयपद्धति का विवरण चौखम्बा विद्याभवन से प्रकाशित (२००४ क्रै.) हमारी ब्रह्मयज्ञपद्धति की विस्तृत संस्कृत प्रस्ताविका में (पृ.९९–१०३) देखें॥१००॥

इमान् नित्यमनध्यायानधीयानो विवर्जयेत्।
अध्यापनं च कुर्वाणः शिष्याणां विधिपूर्वकम्॥१०१॥

वेद को पढ़ने वाला ब्रह्मचारी और शिष्यों को शास्त्रोक्त विधि से पढ़ाने वाला स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण भी सदाकाल ही इन (आगे के श्लोकों में बताए गए) अनध्यायों को (वेदाध्ययन के लिए अयोग्य कालों को) वेद पढ़ने में वर्जित करे॥१०१॥

कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांसुसमूहने।
एतौ वर्षास्वनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते॥१०२॥

रात में वायु कान से सुने जा सकने वाले शब्द के साथ वहते रहने पर और दिन में धूल उडाने वाली गति से वायु वहते रहने पर वेद न पढ़े। वेदज्ञ मुनि लोग वर्षा ऋतु में ही ऐसे कालों को अनध्यायकाल बताते हैं॥१०२॥

विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानां च सम्प्लवे।
आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत्॥१०३॥

बिजली का चमकना, मेघ का गरजना तथा पानी का बरसना एक साथ होने पर और बडी-बडी उल्काओं का इधर उधर गिरने पर, ऐसी स्थिति में जिस समय में ऐसी स्थिति हुई है उस समय से दूसरे दिन उसी समय तक अनध्याय काल होने की बात मनु ने बताई है॥१०३॥

एतांस् त्वभ्युदितान् विद्याद् यदा प्रादुष्कृताऽग्निषु।
तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाऽभ्रदर्शने॥१०४॥

अग्निहोत्र के लिए अथवा सायम्प्रातर्होम के लिए अग्नि को प्रज्वलित करने के समय में वर्षा ऋतु में यदि इन की (बिजली का चमकना, मेघ का गरजना और पानी का बरसना इन तीनों की) एक साथ उत्पत्ति होने की घटना हो जाए तो उस समय अनध्याय जाने। अनृतु में (अकाल में) तो उक्त अग्नि को प्रज्वलित करने के समय में (सायम्प्रातःकाल में) केवल बादलों को ही देखने पर भी अनध्याय जाने॥१०४॥

निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने।
एतानाकालिकान् विद्यादनध्यायानृतावपि॥१०५॥

ऋतु में भी (अपने काल में भी) आकाश में उत्पातसूचक ध्वनि होने पर, भूकम्प होने पर, सूर्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्रों का उपसर्ग (परिवेष अर्थात् मण्डलरूप घिराव) होने पर, इन में जिस समय में ये घटनाएँ होती हैं उस समय से दूसरे दिन उसी समय तक के लिए अनध्याय (वेदाध्ययन के लिए अयोग्य काल) जाने॥१०५॥

प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्तनितनिःस्वने।
सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषे रात्रौ यथा दिवा॥१०६॥

अग्निहोत्र के लिए अथवा सायम्प्रातर्होम के लिए अग्नि को प्रज्वलित करने के समय में बिजली चमकने की और बादल गरजने की घटना एक साथ होने पर तो सज्योति काल के लिए (प्रातःकाल में यह घटना होने पर सूर्यरूप ज्योति रहने तक के [दिन भर के] लिए और सायङ्काल में यह घटना होने पर नक्षत्ररूप ज्योति रहने तक के [रात भर के] लिए अनध्याय (वेदाध्ययन के लिए अयोग्य काल) होगा। उक्त अग्नि को प्रज्वलित करने के समय में पूर्वोक्त तीन घटनाओं में से वर्षणरूप

अवशिष्ट तृतीय घटना होने पर तो दिन में जैसे ही रात में भी (पूरा एक अहोरात्र) अनध्याय होगा॥१०६॥

नित्याऽनध्याय एव स्याद् ग्रामेषु नगरेषु च।
धर्मनैपुण्यकामानां पूतिगन्धे च सर्वशः॥१०७॥

अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से धर्म का अनुसरण करने की इच्छा करने वालों के लिए तो गाँवों में और नगरों में भी सदाकाल ही अनध्याय ही होगा। सभी प्रकार के दुर्गन्धयुक्त स्थल में भी सर्वदा अनध्याय ही होगा॥१०७॥

अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्य च सन्निधौ।
अनध्यायो रुद्यमाने समवाये जनस्य च॥१०८॥

शव से युक्त गाँव में, अधर्मी जन के समीप में, अबालक जन रोते रहने पर और लोगों का सम्मेलन होने पर भी अनध्याय होगा॥१०८॥

उदके मध्यरात्रे च विण्मूत्रस्य विसर्जने।
उच्छिष्टः श्राद्धभुक् चैव मनसाऽपि न चिन्तयेत्॥१०९॥

जल में रहकर, मध्यरात्री में, मलत्याग और मूत्रत्याग करने के समय में, उच्छिष्ट रहकर और श्राद्ध का भोजन करके भी द्विजाति वेद का मन से भी चिन्तन न करे॥१०९॥

प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य केतनम्।
त्र्यहं न कीर्तयेद् ब्रह्म राज्ञो राहोश् च सूतके॥११०॥

एकोद्दिष्ट श्राद्ध के (नवश्राद्ध के) निमन्त्रण को लेकर विद्वान् ब्राह्मण तीन दिन तक वेद का उच्चारण न करे। राजा का सूतक (मरणाद्याशौच) होने पर और सूर्य का अथवा चन्द्र का राहुग्रस्त होने पर भी तीन दिन तक विद्वान् ब्राह्मण वेद का उच्चारण न करे॥११०॥

यावदेकाऽनुदिष्टस्य गन्धो लेपश् च तिष्ठति।
विप्रस्य विदुषो देहे तावद् ब्रह्म न कीर्तयेत्॥१११॥

जब तक विद्वान् ब्राह्मण के शरीर में एकोद्दिष्ट श्राद्ध में लगाए गए कुङ्कुमादि का गन्ध और लेप रहता है तब तक वह विद्वान् ब्राह्मण वेद का उच्चारण न करे॥१११॥

शयानः प्रौढपादश् च कृत्वा चैवाऽवसक्थिकाम्।
नाऽधीयीताऽमिषं जग्ध्वा सूतकाऽन्नाद्यमेव च॥११२॥

सोता हुआ, एक पैर को दूसरे घुटने के ऊपर चढाता हुआ और दोनों घुटनों को मोडकर जङ्घाओं को ऊरुओं के नीचे करता हुआ भी वेद का अध्ययन न करे। मांस खाकर और जननाशौची का अथवा मरणाशौची का अन्नादि खाकर भी वेद का अध्ययन न करे॥११२॥

नीहारे बाणशब्दे च सन्ध्ययोरेव चोभयोः।
अमावास्या-चतुर्दश्योः पौर्णमास्यष्टकासु च॥११३॥

कुहरा लगने पर, तीर का शब्द सुनाइ देते रहने पर, दोनों सन्ध्याओं में, अमावास्या में और चतुर्दशी में, पूर्णिमा में और अष्टमियों में भी वेद का अध्ययन न करे॥११३॥

अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी।
ब्रह्माऽष्टकापौर्णमास्यौ तस्मात् ताः परिवर्जयेत्॥११४॥

अमावास्या में वेद पढ़ने-पढ़ाने से अमावास्या गुरु को क्षति पहुँचाती है, चतुर्दशी में वेद पढ़ने-पढ़ाने से चतुर्दशी शिष्य को क्षति पहुँचाती है, अष्टमी में और पूर्णिमा में वेद पढ़ने-पढ़ाने से अष्टमी और पूर्णिमा वेद को क्षति पहुँचाती हैं, इस कारण से उन तिथियों को वेद पढ़ने-पढ़ाने में वर्जित करे॥११४॥

पांसुवर्षे दिशां दाहे गोमायुविरुते तथा।
श्वखरोष्ट्रे च रुवति पङ्क्तौ च न पठेद् द्विजः॥११५॥

धूल की वर्षा होने पर; दिग्दाह (दिशाओं में अग्निवर्षा) होने पर; गीदड़ का शब्द सुनाइ देते रहने पर तथा कुत्ते के, गदहे के और ऊँट के शब्द करते रहने पर भी ब्राह्मण वेद न पढ़े। (शृगालादि के) पङ्क्ति में बैठकर भी ब्राह्मण वेद न पढ़े॥११५॥

नाऽधीयीत श्मशानाऽन्ते ग्रामाऽन्ते गोव्रजेऽपि वा।
वसित्वा मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च॥११६॥

श्मशान के समीप में, अथवा गाँव के समीप में, अथवा गोशाला में भी वेद का अध्ययन न करे। मैथुन के समय में पहने गए वस्त्र को पहनकर वेद का अध्ययन न करे। श्राद्ध के अन्नादि का दान लेकर भी वेद का अध्ययन न करे॥११६॥

प्राणि वा यदि वाऽप्राणि यत् किञ्चिच् छ्राद्धिकं भवेत्।
तदालभ्याऽप्यनध्यायः पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृतः॥११७॥

गाय, घोडा इत्यादि प्राणी हो अथवा आसन, शय्या, पात्र, वस्त्र इत्यादि अप्राणी हो जो कुछ भी श्राद्धसम्बद्ध वस्तु होगा उसको हाथ से छूकर (दान में

लेकर) भी उस दिन अनध्याय होता है, क्योंकि ब्राह्मण मुखस्थानापन्न हाथ वाला समझा गया है॥११७॥

चोरैरुपद्रुते ग्रामे सम्भ्रमे चाऽग्निकारिते।
आकालिकमनध्यायं विद्यात् सर्वाऽद्भुतेषु च॥११८॥

गाँव चोरों से आक्रान्त होने पर और आग के कारण से (गृहदाहादि से) सम्भ्रम (घवराहट) उत्पन्न होने पर भी जिस समय में ये घटनाएँ हुई हैं उस समय से दूसरे दिन के उसी समय तक अनध्याय जाने। सभी प्रकार के उत्पातों में भी उत्पात दर्शन के समय से अगले दिन उसी समय तक अनध्याय जाने॥११८॥

उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षपणं स्मृतम्।
अष्टकासु त्वहोरात्रमृत्वन्तासु च रात्रिषु॥११९॥

उपाकर्म का कृत्य होने पर और उत्सर्जन का कृत्य होने पर भी तीन अहोरात्र वेदाध्ययन का त्याग कर्तव्य समझा गया है। अष्टका कृत्य होने पर तो एक अहोरात्र ही वेदाध्ययन का त्याग कर्तव्य समझा गया है। ऋतुओं का जिस दिन समाप्ति होती है उस दिन में भी एक अहोरात्र अनध्याय समझा गया है।

विशेष— यहाँ पर ऋतुशब्द से चान्द्र ऋतु को लेने पर अमावास्या में अनध्याय का विधान से ही गतार्थता प्राप्त होने से ऋतु शब्द से वेदाङ्गज्योतिष में **'एकान्तरेऽह्नि मासे च'** इत्यादि से (श्लो.११) सङ्केतित किए गए सौर ऋतु को लेना युक्तियुक्त है। मेषादिराशिपरक ऋतु का तो मूल वैदिक वाङ्मय में कहीं भी उल्लेख नहीं है॥११९॥

नाऽधीयीताऽश्वमारूढो न वृक्षं न च हस्तिनम्।
न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिणस्थो न यानगः॥१२०॥

घोडे में चढ़ा हुआ ब्राह्मण वेद न पढ़े, वृक्ष में चढ़ा हुआ ब्राह्मण भी वेद न पढ़े, हाथी में चढ़ा हुआ ब्राह्मण भी वेद न पढ़े, नाव में चढ़ा हुआ ब्राह्मण भी वेद न पढ़े, गधे में चढ़ा हुआ ब्राह्मण भी वेद न पढ़े, ऊँट में चढ़ा हुआ ब्राह्मण भी वेद न पढ़े, ऊषर भूमि में रहता हुआ ब्राह्मण भी वेद न पढ़े, शकटादि किसी भी यान पर सवार ब्राह्मण भी वेद न पढ़े॥१२०॥

न विवादे न कलहे न सेनायां न सङ्गरे।
न भुक्तमात्रे नाऽजीर्णे न वमित्वा न शुक्तके॥१२१॥

वाद-विवाद चलते रहने पर ब्राह्मण वेद न पढ़े, मार-पीट चलते रहने पर भी ब्राह्मण वेद न पढ़े, सेना में भी ब्राह्मण वेद न पढ़े, युद्ध में भी ब्राह्मण वेद न पढ़े,

भोजन करने के तुरत बाद भी ब्राह्मण वेद न पढ़े, अजीर्ण (अपच) होने पर भी ब्राह्मण वेद न पढ़े, वमन (उल्टी) होने पर भी ब्राह्मण वेद न पढ़े, खट्टी डकार आने पर भी ब्राह्मण वेद न पढ़े॥१२१॥

अतिथिं चाऽननुज्ञाप्य मारुते वाति वा भृशम्।
रुधिरे च स्रुते गात्राच् छस्त्रेण च परिक्षते॥१२२॥

घर में अतिथि रहने पर अतिथि से अनुमति प्राप्त न किए जाने तक अथवा वेग से वायु वहते रहने पर, शरीर से रक्त वहने पर और किसी शस्त्र से शरीर में घाव लगने पर भी ब्राह्मण वेद न पढ़े॥१२२॥

सामध्वनावृग्यजुषी नाऽधीयीत कदाचन।
वेदस्याऽधीत्य वाऽप्यन्तमारण्यकमधीत्य च॥१२३॥

सामवेद की ध्वनि सुनाई पड़ते रहने पर ऋग्वेद और यजुर्वेद कदापि न पढ़े, वेद के अन्त भाग को पढ़कर और वेद के आरण्यक भाग को पढ़कर भी दूसरा वेद कदापि न पढ़े॥१२३॥

ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस् तु मानुषः।
सामवेदः स्मृतः पित्र्यस् तस्मात् तस्याऽशुचिर् ध्वनिः॥१२४॥

ऋग्वेद देवविषयक समझा गया है, यजुर्वेद मनुष्यविषयक समझा गया है और सामवेद पितृविषयक समझा गया है। इस लिए उसका (सामवेद का) ध्वनि अपवित्र समझा गया है॥१२३॥

एतद् विदन्तो विद्वांसस् त्रयीनिष्कर्षमन्वहम्।
क्रमतः पूर्वमभ्यस्य पश्चाद् वेदमधीयते॥१२५॥

तीन वेदों की देव-मनुष्य-पितृ-विषयता को जानते हुए विद्वान् लोग तीनों वेदों से निकाले गए प्रणव-व्याहृति-सावित्रियों को प्रतिदिन पहले क्रमशः दुहराकर पीछे वेद पढ़ते हैं॥१२५॥

पशु-मण्डूक-मार्जार-श्व-सर्प-नकुला-ऽऽखुभिः।
अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम्॥१२६॥

वेद के अध्यापन के समय में उपाध्याय के और शिष्य के बीच में पशु का अथवा मेढक का अथवा बिलाव का अथवा कुत्ते का अथवा सर्प का अथवा नेवले का अथवा चूहे का आगमन होने पर एक अहोरात्र अनध्याय जाने॥१२६॥

द्वावेव वर्जयेन् नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः।
स्वाध्यायभूमिं चाऽशुद्धामात्मानं चाऽशुचिं द्विजः ॥१२७॥

अमेध्य (अपवित्र) वस्तु से दूषित स्वाध्यायभूमि को और शास्त्रोक्त शौच से रहित अपने को इन दो अनध्यायों को ही ब्राह्मण प्रयत्नपूर्वक सर्वदा वर्जित करे॥१२७॥

अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम्।
ब्रह्मचारी भवेन् नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥१२८॥

स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण पत्नी का ऋतुकाल होने पर भी अमावास्या में, अष्टमी में, पूर्णिमा में और चर्तुर्दशी में भी सर्वदा ब्रह्मचारी होवे (मैथुन न करे)॥१२८॥

न स्नानमाचरेद् भुक्त्वा नाऽऽतुरो न महानिशि।
न वासोभिः सहाऽजस्रं नाऽविज्ञाते जलाऽऽशये॥१२९॥

भोजन करकेँ स्नानं न करे, किसी रोग से आक्रान्त होने पर भी स्नान न करे, महानिशा में (रात्रि के बीच के सात मुहूर्तों में) भी स्नान न करे, बहुत वस्त्र पहनकर सर्वदा स्नान न करे, अपरिचित जलाशय में भी स्नान न करे॥१२९॥

देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाऽऽचार्ययोस् तथा।
नाऽऽक्रामेत् कामतश् छायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च॥१३०॥

देवता की मूर्तियों की, गुरु की, राजा की, स्नातक की, आचार्य की, कपिल वर्ण की गाय इत्यादि की और सोमयाग में दीक्षित यजमान की भी छाया में स्वेच्छा से पैर न रखे॥१३०॥

मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे च श्राद्धं भुक्त्वा च सामिषम्।
सन्ध्ययोरुभयोश् चैव न सेवेत चतुष्पथम्॥१३१॥

दोपहर में और आधी रात में, मांससहित श्राद्धान्न खाकर और दोनों सन्ध्याओं में भी चौराहे का सेवन (चौराहे पर देर तक रहने का काम) न करे॥१३१॥

उद्वर्तनमपस्नानं विण्मूत्रे रक्तमेव च।
श्लेष्मनिष्ठ्यूतवान्तानि नाऽधितिष्ठेत् तु कामतः ॥१३२॥

उवटन पर, स्नान के पानी पर, विष्ठा पर, मूत्र पर, लहू पर, खखार पर, थूक पर, वमन किए गए अन्नादि पर भी स्वेच्छा से न ठहरे॥१३२॥

वैरिणं नोपसेवेत सहायांश् चैव वैरिणः।
अधार्मिकं तस्करं च परस्यैव च योषितम्॥१३३॥

शत्रु की सेवा (सङ्ग) न करे, शत्रु के सहायक की भी सेवा (सङ्ग) न करे, अधार्मिक मनुष्य की, चोर की और दूसरे की स्त्री की भी सेवा (सङ्ग) न करे॥१३३॥

न हीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम्॥१३४॥

इस लोक में पुरुष के लिए ऐसा आयु को नष्ट करने वाला दूसरा कार्य कोई नहीं है जैसा दूसरे की स्त्री का सेवन (सङ्ग) है॥१३४॥

क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम्।
नाऽवमन्येत वै भूष्णुः कृशानपि कदाचन॥१३५॥

धन-धान्य-पुत्र-मित्रादि से समृद्ध होते रहने की इच्छा करने वाला मनुष्य तत्काल में अपने से दुर्बल ही होने पर भी क्षत्रिय का, सर्प का और नानाशास्त्रज्ञ ब्राह्मण का भी अनादर न करे॥१३५॥

एतत् त्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानितम्।
तस्मादेतत् त्रयं नित्यं नाऽवमन्येत बुद्धिमान्॥१३६॥

अपमानित होने पर ये तीनों ही अपमानित करने वाले मनुष्य को दग्ध कर सकते हैं। इस लिए बुद्धिमान् मनुष्य इन तीनों में से किसी का भी कदापि अनादर न करे॥१३६॥

नाऽऽत्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः।
आ मृत्योः श्रियमन्विच्छेन् नैनां मन्येत दुर्लभाम्॥१३७॥

अपनी अतीत की निर्धनता से अपना अनादर न करे (अपने को मन्दभाग्य और असमर्थ न समझे)। मृत्यु न होने तक समृद्धि के लिए प्रयत्न करता रहे, इसको (समृद्धि को) दुर्लभ न समझे॥१३७॥

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नाऽनृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥१३८॥

सत्य बोले, सुनने वाले को प्रिय लगने वाली बोली बोले, सुनने वाले को अप्रिय लगने वाली सत्य बोली न बोले, सुनने वाले को प्रिय लगने वाली झूठ बोली भी न बोले, यह शाश्वत धर्म है॥१३८॥

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद् भद्रमित्येव वा वदेत्।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात् केनचित् सह॥१३९॥

कुछ बुरा काम हो जाने पर भी **'भद्रं भद्रम्'** (अच्छा अच्छा) ऐसा ही बोले अथवा **'भद्रम्'** (अच्छा) इतना ही बोले। किसी के साथ विना प्रयोजन विरोध और वाद-विवाद भी न करे॥१३९॥

नाऽतिकल्यं नाऽतिसायं नाऽतिमध्यन्दिने स्थिते।
नाऽज्ञातेन समं गच्छेन् नैको न वृषलैः सह॥१४०॥

दूर देश को जाने के लिए बहुत सबेरे न चले, बहुत शाम होने पर भी न चले, मध्याह्न रहने पर भी न चले, कुल-शील से अपरिचित मनुष्य के साथ भी न चले, अकेला भी न चले, और शूद्रों के साथ में भी न चले॥१४०॥

हीनाऽङ्गानतिरिक्ताऽङ्गान् विद्याहीनान् वयोऽधिकान्।
रूपद्रव्यविहीनांश् च जातिहीनांश् च नाऽऽक्षिपेत्॥१४१॥

किसी अङ्ग से रहित अथवा विकृत (लंगडा, लूला इत्यादि) मनुष्यों पर, कोई अङ्ग अधिक होने वाले (छाँगुर इत्यादि) मनुष्यों पर, विद्या से रहित मनुष्यों पर, बुड्ढे मनुष्यों पर, कुरूप मनुष्यों पर, निर्धन (दरिद्र) मनुष्यों पर और छोटी जाति के मनुष्यों पर भी उनकी हीनाङ्गतादि को लेकर आक्षेप (लंगडा, लूला, छाँगुर, मूर्ख, अनपढ़, बुड्ढा, कुरूप दरिद्र, चण्डाल इत्यादि अपशब्द का प्रयोग) न करे॥१४१॥

न स्पृशेत् पाणिनोच्छिष्टो विप्रो गोब्राह्मणाऽनलान्।
न चाऽपि पश्येदशुचिः सुस्थो ज्योतिर्गणान् दिवि॥१४२॥

जूठे मुह रहकर अथवा मलमूत्र त्याग करने के बाद शौच न करने तक ब्राह्मण हाथ से गौ को, ब्राह्मण को और आग को भी न छूए। स्वस्थावस्था में अशुद्ध रहता हुआ ब्राह्मण आकाश में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र इत्यादि को न निहारे॥१४२॥

स्पृष्ट्वैतानशुचिर् नित्यमद्भिः प्राणानुपस्पृशेत्।
गात्राणि चैव सर्वाणि नाभिं पाणितलेन तु॥१४३॥

अशुद्ध रहकर इन को (गौ, ब्राह्मण, अग्नि को) छूने पर सर्वदा हाथ से पानी लेकर इन्द्रियों को (मुख, नाक, आँख इत्यादि को) छूए, और बाहू, ऊरु, जानु, पाद, नाभि, शिर इन अङ्गों को भी छूए। उसमें नाभि को तो तलहथी से छूए। (अन्य अङ्गों को हस्ताग्र से छुए)॥१४३॥

अनातुरः स्वानि खानि न स्पृशेदनिमित्ततः।
रोमाणि च रहस्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत्॥१४४॥

अस्वस्थ न होने पर स्नातक ब्राह्मण विना कारण अपने इन्द्रियों को न छूए। गुप्ताङ्ग के सभी रोमों को भी छूने में वर्जित करे॥१४४॥

मङ्गलाऽऽचारयुक्तः स्यात् प्रयताऽऽत्मा जितेन्द्रियः।
जपेच् च जुहुयाच् चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः॥१४५॥

मङ्गलकारक गोरोचनादि द्रव्यों से और सदाचार से युक्त होवे। शरीर से और मन से शुद्ध, जितेन्द्रिय तथा जागरूक होकर सदा वेद का अध्ययन करे और अग्नि में हवन भी करे॥१४५॥

मङ्गलाऽऽचारयुक्तानां नित्यं च प्रयताऽऽत्मनाम्।
जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते॥१४६॥

मङ्गलकारक गोरोचनादि द्रव्यों से और सदाचार से युक्त, सर्वदा शरीर से तथा मन से शुद्ध और वेदाध्ययन में तथा होम में निरत द्विजातियों की अधोगति नहीं होती है॥१४६॥

वेदमेव जपेन् नित्यं यथाकालमतन्द्रितः।
तं ह्यस्याऽऽहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते॥१४७॥

स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण सर्वदा अपने समय में जागरूक होकर वेद का ही अभ्यास करे, क्योंकि धर्मज्ञ मुनि लोग उसको (वेदाभ्यास को) ही इसका (स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण का) मुख्य धर्म बताते हैं। अन्य धर्म तो उसके लिए दूसरे दर्जे का धर्म बताया जाता है॥१४७॥

वेदाऽभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम्॥१४८॥

निरन्तर वेद के अभ्यास से, पवित्रता से, तपस्या से और प्राणियों के प्रति अद्रोहभाव से भी ब्राह्मण अपने पूर्व जन्म का स्मरण कर सकता है॥१४८॥

पौर्विकीं संस्मरञ् जातिं ब्रह्मैवाऽभ्यस्यते पुनः।
ब्रह्माऽभ्यासेन चाऽजस्रमनन्तं सुखमश्नुते॥१४९॥

अपने पूर्व जन्म का स्मरण करता हुआ ब्राह्मण जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःखों के निवारण के लिए फिर वेद का ही अभ्यास करता है। निरन्तर वेद का अभ्यास करने से अनन्त सुख को (स्व-स्वरूपानन्दाऽनुभवरूप मोक्ष को) प्राप्त करता है॥१४९॥

सावित्राञ् छान्तिहोमांश् च कुर्यात् पर्वसु नित्यशः।
पितॄंश् चैवाऽष्टकास्वर्चेन् नित्यमन्वष्टकासु च॥१५०॥

पर्वों में (अमावास्या-पूर्णिमाओं में) सर्वदा शान्ति के लिए किए जाने वाले सावित्र-होमों को सम्पन्न करे। अष्टकाओं में (आग्रहायणी पौर्णमासी के बाद आने

वाली कृष्णपक्ष की तीन अष्टमियों में तथा नभस्य [भाद्र] मास के कृष्णपक्ष की अष्टमी में) और अन्वष्टकाओं में (उन अष्टमियों के बाद आने वाली नवमियों में) सदाकाल पितरों का अर्चन (श्राद्ध) भी करे॥१५०॥

दूरादावसथान् मूत्रं दूरात् पादाऽवसेचनम्।
उच्छिष्टाऽन्ननिषेकं च दूरादेव समाचरेत्॥१५१॥

घर से दूर देश में मूत्रत्याग करे, पैरों का धोना भी घर से दूर में ही करे, जूठे अन्नों के धोने के जल का त्याग भी घर से दूर में ही करे।

विशेष– यहाँ पर निषेक शब्द का कुल्लूकभट्टकृत अर्थ सङ्गत नहीं लगता है, इस लिए हम ने अन्य समुचित अर्थ दिया है॥१५१॥

मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम्।
पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम्॥१५२॥

मित्र-देवताक इन्द्रिय का (पायु का) काम (मलत्याग और शौच), शरीर-संस्कार, स्नान, दतुवन लगाने का काम, आँखों में अञ्जन लगाने का अथवा शरीर में तैलमर्दन का काम पूर्वाह्ण में (दोपहर से पहले) करे। देवताओं का पूजन भी पूर्वाह्ण में ही करे॥१५२॥

दैवतान्यभिगच्छेत् तु धार्मिकांश् च द्विजोत्तमान्।
ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरूनेव च पर्वसु॥१५३॥

अमावास्या पूर्णिमा इत्यादि पर्वों में देवमूर्तियों के दर्शन के लिए, धार्मिक ब्राह्मणों से मिलने के लिए, कुटुम्बरक्षा के साधन की प्राप्ति के लिए नृपति-धनिकादि को देखने के लिए और माता, पिता, ज्येष्ठभ्राता इत्यादि गुरुजन के दर्शन के लिए भी जाए।

विशेष– आजकल सार्वजनिक देवमन्दिरों में वैदिक सनातन वर्णाश्रमधर्म-मर्यादा का पालन प्रायः असम्भव होने से वहाँ जाना समुचित नहीं दिखाई देता है। शूद्रपूजित देवता को नमस्कार करना भी पुराणों में निषिद्ध है। यह बात निर्णयसिन्धु में भी आई है (निर्णयसागर, पञ्चमसंस्करण, पृ.२४१), वीरमित्रोदय के पूजाप्रकाश में (पृ.२०) भी यह बात आई है। स्कन्दपुराण में भी (३।१।३६।३७) **"शूद्रेण पूजितं लिङ्गं विष्णुं वा यो नमेद् द्विजः। प्रायश्चित्तं न तस्योक्तं स्मृतिभिस् तत्त्वदर्शिभिः"** ऐसा वचन आया है॥१५३॥

अभिवादयेद् वृद्धांश् च दद्याच् चैवाऽऽसनं स्वकम्।
कृताऽञ्जलिरुपाऽऽसीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात्॥१५४॥

घर पर आए हुए वृद्धजनों का अभिवादन करे, अपने आसन उनको बैठने के लिए छोडे, हाथ जोडकर उनके सामने बैठे और उनके चलने पर उनके पीछेपीछे चले॥१५४॥

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥१५५॥

वेद में और स्मृतियों में अच्छी तरह बताए गए और अपनी शाखा की श्रुति-स्मृतियों में विहित अपने वर्णाश्रम के कर्म से सम्बद्ध तथा धर्म के हेतु सदाचार का जागरूक होकर पालन करे॥१५५॥

आचाराल् लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद् धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥१५६॥

आचार से मनुष्य लम्बी आयु पाता है, आचार से अभिलषित सन्तान पाता है, आचार से क्षीण न होने वाला धन पाता है, आचार मनुष्य के शरीर में और चेष्टा में वर्तमान अशुभ लक्षण को भी नष्ट करता है॥१५६॥

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥१५७॥

दुष्ट आचरण करने वाला मनुष्य लोक में निन्दित होता है। वह निरन्तर दुःख भोगने वाला, रोगी और अल्पायु भी होता है॥१५७॥

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश् च शतं वर्षाणि जीवति ॥१५८॥

सभी शुभलक्षणों से रहित होने पर भी जो मनुष्य सदाचार से युक्त, शास्त्र में और गुरु में श्रद्धा करने वाला और दूसरे के गुणों में भी दोष का आरोप न करने वाला है वह सौ वर्ष तक जीता है॥१५८॥

यद्यत् परवशं कर्म तत्तद् यत्नेन वर्जयेत्।
यद्यदात्मवशं तु स्यात् तत्तत् सेवेत यत्नतः ॥१५९॥

स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण जो-जो कर्म दूसरे के अधीन में है उस-उस कर्म को वर्जित करे और जोजो कर्म अपने अधीन में है उसउस कर्म को यत्नपूर्वक करे॥१५९॥

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥१६०॥

दूसरे के अधीन के सभी काम दुःखदायक होते हैं, अपने अधीन के सभी काम सुखदायक होते हैं। सङ्क्षेप से इसको सुख का और दुःख का लक्षण जाने॥१६०॥

यत् कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत् प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥१६१॥

जिस कार्य के करते रहने पर कर्ता के अन्तरात्मा को सर्वथा सन्तोष हो उस कार्य को प्रयत्न से करे, इसके विपरीत कार्य को (जिस कार्य के करते रहने पर कर्ता के अन्तरात्मा को सर्वथा सन्तोष न हो उस कार्य को) वर्जित करे॥१६१॥

आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम्।
न हिंस्याद् ब्राह्मणान् गाश् च सर्वांश् चैव तपस्विनः॥१६२॥

आचार्य को, वेदार्थ के व्याख्याता को, पिता को, माता को, गुरु को, ब्राह्मणों को, गौओं को और सभी प्रकार के तपस्वियों को भी पीडित न करे॥१६२॥

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम्।
द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत्॥१६३॥

वेदोक्त कर्मफल के अभाव की बुद्धि को, वेद की निन्दा को, देवताओं की निन्दा को, किसी के प्रति भी द्वेष भाव को, लोक को फुसलाने के लिए किए जाने वाले धर्मरूप के आचरण को, अभिमान को, क्रोध को और कठोरता को भी वर्जित करे॥१६३॥

परस्य दण्डं नोद्यच्छेत् क्रुद्धो नैव निपातयेत्।
अन्यत्र पुत्राच् छिष्याद् वा शिष्ट्यर्थं ताडयेत् तु तौ॥१६४॥

पुत्र को और शिष्य को छोडकर दूसरे के ऊपर डण्डा न उठाए, क्रोध के वशीभूत होकर पुत्र को और शिष्य को छोडकर किसी दूसरे के ऊपर डण्डा न मारे, उनको (पुत्र को और शिष्य को) तो शिक्षा के लिए पीटे॥१६४॥

ब्राह्मणायाऽवगूर्यैव द्विजातिर् वधकाम्यया।
शतं वर्षाणि तामिस्रे नरके परिवर्तते॥१६५॥

द्विजाति मनुष्य मारने की इच्छा से ब्राह्मण के ऊपर डण्डा उठाने से ही तामिस्र नाम के नरक में सौ वर्ष तक घूमता है।

विशेष— ब्राह्मणों को यह विशेष स्थान अनादिकाल से ही दिया जा रहा है। यह स्थान वेद की रक्षा के और उसके माहात्म्य के आधार में दिया गया है। यह बात शतपथब्राह्मण से (११।५।७।१) अवगत होती है॥१६५॥

ताडयित्वा तृणेनाऽपि संरम्भान् मतिपूर्वकम्।
एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषु जायते ॥१६६॥

क्रोध से जानबूझकर ब्राह्मण को तृण से भी मारने से द्विजाति मनुष्य इक्कीस जन्म तक नीच योनि में जन्म लेता है॥१६६॥

अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्याऽसृगङ्गतः।
दुःखं सुमहदाप्नोति प्रेत्याऽप्राज्ञतया नरः ॥१६७॥

युद्ध में असंलग्न ब्राह्मण के अङ्ग से शास्त्र के ज्ञान के अभाव के कारण से मारने से लहू बहा देने से मनुष्य मरने पर बहुत भारी दुःख को प्राप्त करता है॥१६७॥

शोणितं यावतः पांसून् सङ्गृह्णाति महीतलात्।
तावतोऽब्दानमुत्राऽन्यैः शोणितोत्पादकोऽद्यते ॥१६८॥

पृथ्वीतल पर गिरा हुआ ब्राह्मण का रक्त पृथ्वीतल से जितने धूलिकणों को अपने में समेट लेता है उतने वर्ष तक परलोक में ब्राह्मण के शरीर से रक्तपात कराने वाला वह मनुष्य दूसरों से (सियार, कुत्ता, गीध इत्यादि से) खाया जाता है॥१६८॥

न कदाचिद् द्विजे तस्माद् विद्वानवगुरेदपि।
न ताडयेत् तृणेनाऽपि न गात्रात् स्रावयेदसृक् ॥१६९॥

उस कारण से शास्त्र को जानने वाला मनुष्य ब्राह्मण के ऊपर कदापि डण्डा न उठाए, तृण से भी ब्राह्मण को न मारे, और ब्राह्मण के अङ्ग से लहू न बहाए॥१६९॥

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाऽप्यनृतं धनम्।
हिंसारतश् च यो नित्यं नेहाऽसौ सुखमेधते ॥१७०॥

जो मनुष्य अधार्मिक है, जिस का धन असत्य-भाषणादि गलत उपायों से कमाया हुआ है, जो मनुष्य परपीडन में रमने वाला है वह इस लोक में सुख से युक्त नहीं हो सकता है॥१७०॥

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन् विपर्ययम् ॥१७१॥

अधर्म से व्यवहार करने वाले पापियों का प्राप्त सुख का शीघ्र ही विपर्यय (दुःख में परिणति) होने की बात को देखता हुआ मनुष्य धर्म से दुःख पाता हुआ भी अधर्म में मन न लगाए॥१७१॥

नाऽधर्मश् चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैराव‍र्तमानस् तु कर्तुर् मूलानि कृन्तति ॥१७२॥

किया गया पापकर्म गौ की तरह तत्काल में फल नहीं देता है। धीरे-धीरे घूमता हुआ पापकर्म कर्ता की जडों को काटता है॥१७२॥

यदि नाऽऽत्मनि पुत्त्रेषु न चेत् पुत्त्रेषु नप्तृषु।
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर् भवति निष्फलः ॥१७३॥

यदि पापकर्म कर्ता में ही फल नहीं देता है तो पुत्रों में फल देता है, पुत्त्रों में फल नहीं देता है तो पौत्त्रों में फल देता है। किया गया पापकर्म कर्ता के लिए निष्फल ही तो नहीं होता है॥१७३॥

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ् जयति समूलस् तु विनश्यति ॥१७४॥

मनुष्य पहले पाप से समृद्धि को प्राप्त करता है और उसके बाद कल्याण (ज्ञाति-बान्धवादिसुख) भी देखता है, उसके बाद शत्रुओं को जीतता है, किन्तु अन्त में जड़ के साथ उखड़ जाता है॥१७४॥

सत्यधर्माऽऽर्यवृत्तेषु शौचे चैवाऽऽरमेत् सदा।
शिष्यांश् च शिष्याद् धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥१७५॥

सत्य में, धर्म में, आर्यचरित्र में और शारीर तथा मानस शुद्धि में भी सर्वदा रमे। अनुशासनीय स्त्री, पुत्त्र, शिष्य, कर्मकर इत्यादि को धर्मपूर्वक यथोचित ही दण्ड दे और वाणी के, भुजाओं के और पेट के भी विषय में संयम वरतने वाला होवे॥१७५॥

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
धर्मं चाऽप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥१७६॥

जो अर्थ और कामोपभोग धर्म से रहित हैं उनको छोड दे, उत्तरकाल में दुःख लाने वाले धर्म को और लोक से विशेष रूप में निन्दित धर्म को भी छोड दे॥१७६॥

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः।
न स्याद् वाक्चपलश् चैव न परद्रोहकर्मधीः ॥१७७॥

स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण पाणिचपल (हाथ से निष्प्रयोजन चेष्टा करने वाला) और पादचपल (पैरों से निष्प्रयोजन यात्रादि करने वाला) भी न होवे, नेत्रचपल (परस्त्री, परद्रव्य, निष्प्रयोजन खेल तमाशा इत्यादि को निहारने वाला) और कुटिल

भी न होवे, वाक्चपल (अनावश्यक रूप में वाणी का प्रयोग करने वाला) भी न होवे, दूसरे को क्षति पहुँचाने वाले काम में बुद्धि लगाने वाला भी न होवे॥१७७॥

येनाऽस्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन् न रिष्यते ॥१७८॥

इसके (स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण के) पिता लोग (पिता के पीढी के पिता पितृव्य इत्यादि लोग) जिस वेदशाखासूत्रादि शास्त्र से निर्दिष्ट धर्ममार्ग से चले, इसके पितामह लोग (पितामह के पीढी के पूर्वज लोग) जिस वेदशाखासूत्रादि शास्त्र से निर्दिष्ट धर्ममार्ग से चले यह स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण भी उसी वेदशाखासूत्रादि शास्त्र से निर्दिष्ट धर्ममार्ग से सत्पुरुषों के मार्ग में चले। उस मार्ग से चलता हुआ वह अधर्म से ग्रस्त नहीं होता है।

विशेष— नित्यानन्द पन्त पर्वतीय प्रभृति कोई लोग शास्त्रविरुद्ध जिस किसी परम्परा को भी मान्य घोषित करने के लिए इस वचन को प्रमाण मानते हैं (संस्कार दीपक, द्वितीय भाग, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६४ क्रै., पृ.९), स्वकुलदेशाचार के अविरुद्ध होने पर ही शास्त्र विवाह में अनुसरणीय होने की बात भी करते हैं; किन्तु वह उनका प्रमाद है, शास्त्र से अविरुद्ध होने पर ही परम्परा और देश-जाति-कुल-धर्म धर्म में प्रमाण होते हैं, शास्त्रविरुद्ध होने पर नहीं; **"श्रुतिस्मृति-विहितो धर्मः, तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्"** (वासिष्ठधर्मशास्त्र १।४,५), **"देश-जाति-कुल-धर्माश् चाऽऽम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम्"** (गौ.ध.सू.२।२।२०) इत्यादि वचनों में और मेधातिथि-कुल्लूकभट्टादि की व्याख्या में भी ध्यान देना चाहिए। इस विषय में और बातें वाराणसीस्थ चौखम्बा विद्याभवन से प्रकाशित (२००४ क्रै.) हमारी ब्रह्मयज्ञ-पद्धति की सुविस्तृत संस्कृत प्रस्ताविका में (पृ.१३-१५) देखें ॥१७८॥

ऋत्विक्पुरोहिताऽऽचार्यैर् मातुलाऽतिथिसंश्रितैः ।
बालवृद्धाऽऽतुरैर् वैद्यैर् ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ॥१७९॥
मातापितृभ्यां जामीभिर् भ्रात्रा पुत्त्रेण भार्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥१८०॥

ऋत्विक् से, पुरोहित से, आचार्य से, मामा से, अतिथि से, अपने में आश्रित जन से, बालक से, वृद्ध से, अस्वस्थ जन से, वैद्य से, जाति वालों से, दामाद इत्यादि सम्बन्धियों से, मातामह इत्यादि मातृपक्ष के बान्धवों से, माता से, पिता से, बहन पुत्त्रवधू भ्रातृवधू इत्यादि स्त्रीजनों से, भाई से, पुत्त्र से, पत्नी से, पुत्री से और दास वर्ग से भी विवाद (वाक्कलह) न करे।।१७९-१८०॥

एतैर् विवादान् सन्त्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते।
एभिर् जितैश् च जयति सर्वाल्ँ लोकानिमान् गृही ॥१८१॥

इन लोगों से विवाद का परिहार करके स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण सभी पापों से मुक्त होता है। इन विवादों को जीतने पर (संयम से इन विवादों से बचने पर) स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण इन (आगे के श्लोकों में बताए गए) सभी लोकों को जीतता है (प्राप्त करता है)॥१८१॥

आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः।
अतिथिस् त्विन्द्रलोकेशो देवलोकस्य चर्त्विजः ॥१८२॥

आचार्य ब्रह्मलोक देने में समर्थ है, पिता प्राजापत्य लोक देने में समर्थ है, अतिथि इन्द्रलोक देने में समर्थ है, ऋत्विक् लोग देवलोक देने में समर्थ हैं॥१८२॥

जामयोऽप्सरसां लोके वैश्वदेवस्य बान्धवाः।
सम्बन्धिनो ह्यपां लोके पृथिव्यां मातृमातुलौ ॥१८३॥

बहन, पुत्त्रवधू इत्यादि स्त्रीजन अप्सरोलोक देने में समर्थ हैं, बान्धव लोग वैश्वदेवलोक के दान में समर्थ हैं, सम्बन्धी लोग अप्-लोक के दान में समर्थ हैं, माता और मामा पृथिवीलोक के दान में समर्थ हैं॥१८३॥

आकाशेशास् तु विज्ञेया बालवृद्धकृशाऽऽतुराः।
भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्त्रः स्वका तनुः ॥१८४॥

बालक, वृद्ध, दुर्बल और अस्वस्थ लोगों को आकाश लोक के दान में समर्थ जानना चाहिए, बडा भाई पिता के तुल्य प्राजापत्यलोक के दान में समर्थ है और पत्नी और पुत्त्र तो अपना ही शरीर हैं॥१८४॥

छाया स्वो दासवर्गश् च दुहिता कृपणं परम्।
तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेताऽसञ्ज्वरः सदा ॥१८५॥

दासवर्ग अपनी ही छाया है, पुत्त्री परम कृपापात्र है। इस कारण से इन से दोषारोपण किए जाने पर सर्वदा सन्ताप से रहित होकर सहन करे (इन से विवाद न करे)॥१८५॥

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गं तत्र वर्जयेत्।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याऽऽशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥१८६॥

जन्म विद्या और चरित्र के कारण दान लेने में समर्थ होने पर भी स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण दान लेने में वारवार प्रवृत्ति को वर्जित करे, क्योंकि दान लेने से

इसका (ब्राह्मण का) ब्रह्मतेज (वेदाध्ययनादि का राष्ट्र में और समाज में पड़ने वाला प्रभाव) शीघ्र ही क्षीण हो जाता है॥१८६॥

न द्रव्याणामविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे।
प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा ॥१८७॥

भूख से (आर्थिक कष्ट से) पीडित होता हुआ भी विचारशील ब्राह्मण विभिन्न द्रव्यों के प्रतिग्रह के (दानग्रहण के) शास्त्रोक्त विधि को विना समझे प्रतिग्रह (दानग्रहण) न करे।॥१८७॥

हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस् तिलान् घृतम्।
प्रतिगृह्णन्नविद्वांस् तु भस्मीभवति दारुवत् ॥१८८॥

सोने का, भूमि का, घोडे का, गौ का, अन्न का, वस्त्र का, तिलों का, घी का प्रतिग्रह करने वाला मूर्ख (वेदाध्ययनरहित) ब्राह्मण तो काष्ठ की तरह भस्म हो जाता है॥१८८॥

हिरण्यमायुरन्नं च भूर् गौश् चाऽप्योषतस् तनुम्।
अश्वश् चक्षुस् त्वचं वासो घृतं तेजस् तिलाः प्रजाः ॥१८९॥

मूर्ख से प्रतिगृहीत सोना और अन्न उसके आयु को जलाते हैं, भूमि और गौ उसके शरीर को जलाते हैं, घोडा उसके आँखों को जलाता है, वस्त्र उसके त्वचा को (चमडे को) जलाता है, घी उसके तेज को जलाता है और तिल उसके सन्तानों को जलाता है॥१८९॥

अतपास् त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर् द्विजः।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥१९०॥

तपस्या से रहित और वेद का अध्ययन न करने वाला जो ब्राह्मण प्रतिग्रह (दानग्रहण) में रुचि लेता है वह ब्राह्मण पानी में पत्थर की नाव से जाने वाला मनुष्य उसी नाव के साथ पानी में जैसे डूबता है वैसे ही उस प्रतिग्रह देने वाले दाता के साथ नरक में डूबता है॥१९०॥

तस्मादविद्वान् बिभियाद् यस्मात्तस्मात् प्रतिग्रहात्।
स्वल्पकेनाऽप्यविद्वान् हि पङ्के गौरिव सीदति ॥१९१॥

उस कारण से अविद्वान् ब्राह्मण जिस किसी वस्तु के प्रतिग्रह से भी डरे, क्योंकि अविद्वान् ब्राह्मण थोडे से वस्तु का दान लेने पर भी कीचड में गौ की तरह नरक में फँस जाता है॥१९१॥

न वार्यपि प्रयच्छेत् तु बैडालव्रतिके द्विजे।
न बकव्रतिके विप्रे नाऽवेदविदि धर्मवित्॥१९२॥

दानधर्म को जानने वाला दाता बैडालव्रतिक (मनु.४।१९५) ब्राह्मण को, बकव्रतिक (मनु.४।१९६) ब्राह्मण को और वेदार्थ न जानने वाले ब्राह्मण को भी जल मात्र भी न दे॥१९२॥

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाऽप्यर्जितं धनम्।
दातुर् भवत्यनर्थाय परत्राऽऽदातुरेव च॥१९३॥

इन तीनों ही में दिया गया शास्त्रविधान के अनुसार ही उपार्जित धन भी परलोक में दान देने वाले के लिए और दान लेने वाले के लिए भी अनर्थ के (नरक के) लिए होता है॥१९३॥

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन्।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ॥१९४॥

जैसे पत्थर की नाव से पानी में तैरता हुआ मनुष्य पानी में डूब जाता है वैसे ही दानधर्म को न जानने वाले दाता और प्रतिग्रहीता भी नरक में डूब जाते हैं॥१९४॥

धर्मध्वजी सदा लुब्धश् छाद्मिको लोकदम्भकः।
बैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाऽभिसन्धकः॥१९५॥

धर्म को ध्वज की तरह लोक के समक्ष में प्रचारार्थ दिखाने वाले सर्वदा लोभी, कपटी, लोक को भ्रम में डालने वाले, परपीडक और सभी को ठगने वाले ब्राह्मण को बैडांलव्रतिक ब्राह्मण जानना चाहिए॥१९५॥

अधोदृष्टिर् नैकृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः।
शठो मिथ्याविनीतश् च बकव्रतचरो द्विजः॥१९६॥

साधुता का भ्रम देने के लिए नीचे देखने वाला, धोखाधडी करने वाला, अपने प्रयोजन की सिद्धि में लगे रहने वाला, प्रत्यक्ष में प्रिय बोलने वाला और परोक्ष में अहित करने वाला और भूठा विनय दिखाने वाला ब्राह्मण बकव्रतचर (बकव्रतिक) ब्राह्मण कहा जाता है॥१९६॥

ये बकव्रतिनो विप्रा ये च मार्जारलिङ्गिनः।
ते पतन्त्यन्धतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा॥१९७॥

जो वकव्रती ब्राह्मण होते हैं और जो बैडालव्रतिक ब्राह्मण होते हैं वे उस पापकर्म से अन्धतामिस्र नाम के नरक में पड़ते हैं॥१९७॥

न धर्मस्याऽपदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत्।
व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन् स्त्रीशूद्रदम्भनम् ॥१९८॥

स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण पाप करके पाप को ढककर धर्मशास्त्र न जानने वाली स्त्रियों को और शूद्रों को व्रत से धोखा देता हुआ धर्म करने के बहाने से व्रत न करे॥१९८॥

प्रेत्येह चेदृशा विप्रा गर्ह्यन्ते ब्रह्मवादिभिः।
छद्मना चरितं यच् च व्रतं रक्षांसि गच्छति ॥१९९॥
अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिमुपजीवति।
स लिङ्गिनां हरत्येनस् तिर्यग्योनौ च जायते ॥२००॥

परलोक की दृष्टि से और इस लोक की दृष्टि से भी ऐसे ब्राह्मण वेदवादी ब्राह्मणों से निन्दित होते हैं। छल से किया गया जो व्रत होता है वह भी राक्षसों को जाता है (करने वाले को उस से कुछ भी फल प्राप्त नहीं होता है)॥१९९॥

वस्तुतः जो वैदिक ब्रह्मचारी अथवा वैदिक गृहस्थ अथवा वैदिक सन्यासी नहीं है, किन्तु उनका वेष लेकर वैदिक ब्रह्मचारी की वृत्ति से अथवा वैदिक गृहस्थ की वृत्ति से अथवा वैदिक सन्यासी की वृत्ति से जीविका करता है वह वैदिक ब्रह्मचारी इत्यादि लिङ्गियों के पाप को अपने में ले लेता है और दूसरे जन्म में पशु-पक्ष्यादि तिर्यग्योंनि में जन्म लेता है॥२००॥

परकीयनिपानेषु न स्नायाद् च कदाचन।
निपानकर्तुः स्नात्वा तु दुष्कृताऽंशेन लिप्यते ॥२०१॥

दूसरे के बनवाए हुए जलाशयों में कदापि स्नान न करे। उन जलाशयों में स्नान करने से स्नान करने वाला उन जलाशयों को बनवाने वालों के पापों के अंश से लिप्त होता है॥२०१॥

यानशय्याऽऽसनान्यस्य कूपोद्यानगृहाणि च।
अदत्तान्युपयुञ्जानः एनसः स्यात् तुरीयभाक् ॥२०२॥

दूसरे के नहीं दिए गए यान का अथवा शय्या का अथवा आसन का अथवा कुएँ का अथवा बगीचे का अथवा घर का उपभोग करता हुआ मनुष्य उसके (यानादि के स्वामी के) पाप के चतुर्थांश के फल को भोगता है॥२०२॥

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरस्सु च।
स्नानं समाचरेन् नित्यं गर्तप्रस्रवणेषु च ॥२०३॥

सर्वदा नदियों में अथवा देवता से बनाए गए तडागों में अथवा प्रकृतिसिद्ध तालावों में अथवा गर्तों में अथवा झरनों में स्नान करे॥२०३॥

यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥२०४॥

धर्मतत्त्व को जानने वाला विचारशील द्विजाति यमों का (सभी के लिए साधारण अहिंसादि धर्मों का) निरन्तर सेवन करे, नियमों का (वर्णविशेषों के, आश्रमिविशेषों के और मनुष्यविशेषों के लिए आवश्यक अग्नीन्धनादि विशेष धर्मों का) तो निरन्तर सेवन न करे (अवस्थानुसार ही सेवन करे)। यमों का सेवन न करता हुआ केवल नियमों का ही सेवन करता हुआ द्विजाति पतित (धर्म से च्युत) हो जाता है॥२०४॥

नाऽश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिकृते तथा।
स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित्॥२०५॥

वेद के अध्ययन से रहित जन से किए गए यज्ञ में, समूहविशेष के याजक से किए गए यज्ञ में, स्त्री से होमे गए यज्ञ में और नपुंसक से होमे गए यज्ञ में भी कहीं भी ब्राह्मण भोजन न करे॥२०५॥

अश्लीकमेतत् साधूनां यत्र जुह्वत्यमी हविः।
प्रतीपमेतद् देवानां तस्मात् तत् परिवर्जयेत्॥२०६॥

जहाँ ये अश्रोत्रिय, ग्रामयाजक, स्त्री और नपुंसक हवि का होम करते हैं वैसा यज्ञ वर्णाश्रमधर्मी सत्पुरुषों के लिए श्रीनाशक और देवताओं का प्रतिकूल है। उस कारण से वैसे यज्ञ को वर्जित करे॥२०६॥

मत्तक्रुद्धाऽऽतुराणां च न भुञ्जीत कदाचन।
केशकीटाऽवपन्नं च पदा स्पृष्टं च कामतः॥२०७॥

मतवाले जन का अथवा क्रोधयुक्त जन का अथवा रोगी जन का अन्न भी स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण न खाए। जिस अन्न में केश अथवा कीड़ा पड़ा है उस अन्न को और इच्छा से ही पैर से छुए गए अन्न को भी स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण न खाए॥२०७॥

भ्रूणघ्नाऽवेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाऽप्युदक्यया।
पतत्रिणाऽवलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च॥२०८॥

भ्रूणहत्या करने वाले मनुष्य से देखे गए अन्न को, रजस्वला स्त्री से छुए गए अन्न को, कौवा इत्यादि पक्षियों से नोचे गए अन्न को, और कुत्ते से छुए गए अन्न को भी स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण न खाए॥२०८॥

गवा चाऽन्नमुपाऽऽघ्रातं घुष्टाऽन्नं च विशेषतः।
गणाऽन्नं गणिकाऽन्नं च विदुषा च जुगुप्सितम् ॥२०९॥

गौ से सूँघे गए अन्न को, विशेष करके 'खाने वाले जो हैं वे आएँ और इस अन्न को खाएँ' इस प्रकार घोषित अन्न को, गण के (समुदायविशेष के) अन्न को, वेश्या के अन्न को और विज्ञ जनों से निन्दित अन्न को भी स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण न खाए।

विशेष— गाय का मुख अमेध्य माना जाता है। याज्ञवल्क्यस्मृति में **"अजाऽश्वयोर् मुखं मेध्यं न गोः"** ऐसा वचन है (१।१९४)। अत्रिस्मृति में **"अजाऽश्वौ मुखतो मेध्यौ गावो मेध्यास् तु पृष्ठतः। ब्राह्मणाः पादतो मेध्याः स्त्रियो मेध्याश् च सर्वतः"** ऐसा वचन आया है (५।१६)॥२०९॥

स्तेनगायनयोश् चाऽन्नं तक्ष्णो वार्धुषिकस्य च।
दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्य निगडस्य च ॥२१०॥

चोर के अन्न को, गायक के अन्न को, बढई के अन्न को, सूदखोर के अन्न को, सोमयाग में दीक्षित यजमान के अन्न को, कृपण के अन्न को और हथकड़ी से नियन्त्रित मनुष्य के अन्न को भी स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण न खाए॥२१०॥

अभिशस्तस्य षण्ढस्य पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च।
शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च ॥२११॥

महापातक दोष से आरोपित मनुष्य के अन्न को, नपुंसक मनुष्य के अन्न को, व्यभिचारिणी स्त्री के अन्न को, लोक को ठगने के लिए धर्मरूप कार्य करने वाले मनुष्य के अन्न को, खट्टे हुए अन्न को, बासी अन्न को, शूद्र के अन्न को और किसी के भी जूठे अन्न को भी स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण न खाए॥२११॥

चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः।
उग्राऽन्नं सूतिकाऽन्नं च पर्याचान्तमनिर्दशम् ॥२१२॥

डाक्टर वैद्य इत्यादि चिकित्सक के अन्न को, व्याध के अन्न को, क्रूर मनुष्य के अन्न को, उच्छिष्टभोजी के अन्न को, भयजनक कार्य करने वाले मनुष्य के अन्न को, सूतिका के लिए बनाए गए अन्न को, पङ्क्ति में बैठकर भोजन करते रहने पर पङ्क्ति में बैठने वाले किसी भोक्ता से भोजनान्त में किए जाने वाला आचमन किए जाने पर पङ्क्ति में बैठे हुए अन्य भोक्ताओं के भोजनपात्रों में बचे हुए अन्न को, दश दिन न बीतने तक के जननाशौची के और मरणाशौची के (द्र.– श्लो. २१७) अन्न को भी स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण न खाए॥२१२॥

अनर्चितं वृथामांसमवीरायाश् च योषितः।
द्विषदन्नं नगर्यन्नं पतितान्नमवक्षुतम्॥२१३॥

विना सत्कार दिए गए अन्न को, देवता-पितृ-ब्राह्मणों के उद्देश्य के विना बने हुए मांस को, पतिपुत्रहीन स्त्री के अन्न को, शत्रु के अन्न को, नगरपति के अन्न को, महापातकादि से पतित द्विजाति के अन्न को, छींकते समय छींकने वाले के सामने में रहे हुए अन्न को भी स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण न खाए॥२१३॥

पिशुनाऽनृतिनोश् चाऽन्नं क्रतुविक्रयिणस् तथा।
शैलूष-तुन्नवायाऽन्नं कृतघ्नस्याऽन्नमेव च॥२१४॥

चुगलखोर के अन्न को, असत्यवादी के अन्न को, यज्ञ का (यज्ञफल का) विक्रय करने वाले के अन्न को, नाटकादि में अभिनय करने वाले के अन्न को, वस्त्र सीने वाले के (दर्जी के) अन्न को, कृतघ्न के (उपकार करने वाले का अपकार करने वाले के) अन्न को भी स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण न खाए॥२१४॥

कर्मारस्य निषादस्य रङ्गाऽवतरकस्य च।
सुवर्णकर्तुर् वेणस्य शस्त्रविक्रयिणस् तथा॥२१५॥

लोहार के अन्न को, निषाद के (मत्स्यघाती के) अन्न को, रङ्गशालाओं में मल्लयुद्ध (कुश्ती) इत्यादि दिखाने वाले के अन्न को, सोनार के अन्न को, वेण के (बंसफोर के) अन्न को और शस्त्रों के विक्रेता के अन्न को भी स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण न खाए॥२१५॥

श्ववतां शौण्डिकानां च चैलनिर्णेजकस्य च।
रञ्जकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर् गृहे॥२१६॥

शिकार इत्यादि के लिए कुत्तों को पालने वालों के अन्न को, मद्य बनाने वालों के और बेचने वालों के अन्न को, धोबी के अन्न को, रङ्गरेज के अन्न को, हिंसक (क्रूर) मनुष्य के अन्न को और जिस के घर में जार अज्ञात रूप में रहता है उसके अन्न को भी स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण न खाए॥२१६॥

मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानां च सर्वशः।
अनिर्दशं च प्रेताऽन्नमतुष्टिकरमेव च॥२१७॥

जो जानकारी में आने पर भी जार का सहन करते हैं उनके अन्न को, जो सभी बातों में स्त्री के वश में हैं उनके अन्न को, दश दिन न बीतने तक के प्रेतश्राद्ध के अन्न को, जिस अन्न को खाने से हृदय में तुष्टि नहीं होती है उस अन्न को भी स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण नहीं खाए॥२१७॥

राजाऽन्नं तेज आदत्ते शूद्राऽन्नं ब्रह्मवर्चसम्।
आयुः सुवर्णकाराऽन्नं यशश् चर्माऽवकर्तिनः ॥२१८॥

राजा का अन्न खाने वाले ब्राह्मण के तेज को ले लेता है, शूद्र का अन्न खाने वाले ब्राह्मण के अध्ययनबल को और चरित्रबल को ले लेता है, सोनार का अन्न खाने वाले ब्राह्मण की आयु को ले लेता है और चमार का अन्न खाने वाले ब्राह्मण के यश को ले लेता है॥२१८॥

कारुकाऽन्नं प्रजां हन्ति बलं निर्णेजकस्य च।
गणाऽन्नं गणिकाऽन्नं च लोकेभ्यः परिकृन्तति ॥२१९॥

शिल्पियों का अन्न खाने वाले ब्राह्मण की सन्तति को क्षति पहुँचाता है, धोबी का अन्न खाने वाले ब्राह्मण के बल को क्षति पहुँचाता है। गण का (आर्थिक अथवा राजनीतिक स्वार्थसिद्धि के लिए सङ्घटित समुदाय का) अन्न और वेश्या का अन्न भी खाने वाले ब्राह्मण को स्वर्गादिलोकों से विच्छिन्न बनाता है॥२१९॥

पूयं चिकित्सकस्याऽन्नं पुंश्चल्यास् त्वन्नमिन्द्रियम्।
विष्ठा वार्धुषिकस्याऽन्नं शस्त्रविक्रयिणो मलम् ॥२२०॥

जीविका के लिए चिकित्सा करने वाले डाक्टर वैद्य इत्यादि का अन्न स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण के लिए पीव जैसा अभोज्य है, व्यभिचारिणी स्त्री का अन्न पुरुष के धातु (वीर्य) के समान अभोज्य है, सूदखोर का अन्न विष्ठा के तुल्य अभोज्य है और शस्त्र बेचने वाले का अन्न शरीर के खखार इत्यादि मल के समान अभोज्य है॥२२०॥

य एतेऽन्ये त्वभोज्याऽन्नाः क्रमशः परिकीर्तिताः।
तेषां त्वगस्थिरोमाणि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥२२१॥

इन चिकित्सकादि से भिन्न जो अभोज्यान्न मनुष्य क्रमशः बताए गए हैं उनके अन्न को धर्मशास्त्रोक्त-कर्मविपाक को जानने वाले विद्वान् चमडे का तुल्य, हड्डी का तुल्य और रोमों का तुल्य अभोज्य बताते हैं॥२२१॥

भुक्त्वाऽतोऽन्यतमस्याऽन्नममत्या क्षपणं त्र्यहम्।
मत्या भुक्त्वा चरेत् कृच्छ्रं रेतोविण्मूत्रमेव च ॥२२२॥

इन में से किसी एक के अन्न को अज्ञान से खाने पर तीन दिन विना भोजन बिताना चाहिए। जानबूझकर उनके अन्न को खाने पर प्राजापत्य कृच्छ्र करे। मनुष्य के वीर्य को, मनुष्य की विष्ठा को और मनुष्य के मूत्र को खाकर भी प्राजापत्य कृच्छ्र करे॥२२२॥

नाऽद्याच् छूद्रस्य पक्वाऽन्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः ।
आददीताऽऽममेवाऽस्मादवृत्तावेकरात्रिकम् ॥२२३॥

विद्वान् ब्राह्मण श्राद्ध न करने वाले शूद्र के पकाए गए अन्न को न खाए। जीविका न होने पर ब्राह्मण इस से (श्राद्ध न करने वाले शूद्र से) एक रात के लिए ही पर्याप्त आम (कच्चे) अन्न को ले ले॥२२३॥

श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः ।
मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन् ॥२२४॥

कृपण श्रोत्रिय के अन्न के गुण-दोषों का और उदार सूदखोर के अन्न के गुण-दोषों का विचार करके देवताओं ने दोनों अन्नों को समान माना॥२२४॥

तान् प्रजापतिराहैत्य मा कृद्वं विषमं समम् ।
श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ॥२२५॥

उन देवताओं के समीप में आकर प्रजापति (ब्रह्मा जी) बोले कि असमान को समान मत करो, उदार सूदखोर का अन्न श्रद्धा से शुद्ध किया गया होता है, और दूसरा (कृपण श्रोत्रिय का अन्न) अश्रद्धा से दूषित किया गया होता है॥२२५॥

श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर् धनैः ॥२२६॥

स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण जागरूक होकर श्रद्धा से इष्ट (श्रौत-स्मार्त-यज्ञ) और पूर्त (वापी-कूप-तडागादि-निर्माण-कार्य) भी सर्वदा करे, क्योंकि धर्मानुकूल उपाय से आए हुए धन से श्रद्धापूर्वक किए गए वे कर्म अक्षय फल (मोक्ष) देने वाले होते हैं॥२२६॥

दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम् ।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः ॥२२७॥

इष्ट कर्म से सम्बद्ध और पूर्तकर्म से सम्बद्ध दानधर्म को सत्पात्र ब्राह्मण मिलने पर अपनी शक्ति के अनुसार सन्तुष्ट चित्त से सदा सम्पन्न करे॥२२७॥

यत्किञ्चिदपि दातव्यं याचितेनाऽनसूयया ।
उत्पत्स्यते हि तत् पात्रं यत् तारयति सर्वतः ॥२२८॥

मागे जाने पर पात्र में दोषदृष्टि न रखकर जो कुछ भी दिया जाना चाहिए, क्योंकि वैसा पात्र भी कभी प्राप्त होगा जो सभी पापों के फल के रूप में मिलने वाले नरकों से पार कर देगा॥२२८॥

वारिदस् तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः ।
तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदश् चक्षुरुत्तमम् ॥२२९॥

जल का दान करने वाला दूसरे जन्म में तृप्ति को प्राप्त करता है, अन्न का दान करने वाला क्षीण न होने वाले सुख को प्राप्त करता है, तिल का दान करने वाला अभीष्ट सन्तान को प्राप्त करता है और दीप का दान करने वाला रोगरहित उत्तम नेत्र को प्राप्त करता है॥२२९॥

भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घमायुर् हिरण्यदः ।
गृहदोऽग्र्याणि वेश्मानि रूप्यदो रूपमुत्तमम् ॥२३०॥

भूमि का दान करने वाला दूसरे जन्म में भूमि को (राज्य को) प्राप्त करता है, सोने का दान करने वाला दीर्घ आयु को प्राप्त करता है, घर का दान करने वाला उत्तम घरों को प्राप्त करता है और चाँदी का दान करने वाला उत्तम रूप को प्राप्त करता है॥२३०॥

वासोदश् चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः ।
अनडुद्दः श्रियं पुष्टां गोदो ब्रध्नस्य विष्टपम् ॥२३१॥

वस्त्र का दान करने वाला परलोक में चन्द्रमा के सालोक्य को (चन्द्रलोक में निवास को) प्राप्त करता है, अश्व का (घोडे का) दान करने वाला अश्विनीकुमारों के सालोक्य को (अश्विनीकुमारों के लोक में निवास को) प्राप्त करता है, बैल का दान करने वाला प्रभूत सम्पत्ति को प्राप्त करता है और गाय का दान करने वाला सूर्य के लोक को प्राप्त करता है॥२३१॥

यानशय्याप्रदो भार्यामैश्वर्यमभयप्रदः ।
धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदो ब्रह्मसार्ष्टिताम् ॥२३२॥

वाहन का दान देने वाला और शय्या का दान देने वाला दूसरे जन्म में सुशीला भार्या को प्राप्त करता है, अभयदान करने वाला ऐश्वर्य को (राज्य को) प्राप्त करता है, व्रीहि-यवादि धान्य का दान देने वाला चिरस्थायी सुख को प्राप्त करता है और वेद का दाता (वेद पढ़ाने वाला और वेद की व्याख्या करने वाला) ब्रह्मा जी की सार्ष्टिता को (ब्रह्मा जी के समान गति को) प्राप्त करता है॥२३२॥

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥२३३॥

जल, अन्न, गौ, भूमि, वस्त्र, तिल, सोना और घी इन सभी वस्तुओं के दानों में से ब्रह्म का (वेद का) दान बढ़कर होता है॥२३३॥

येनयेन तु भावेन यद्यद् दानं प्रयच्छति।
तत्तत् तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः ॥२३४॥

दाता जिस भाव से जो-जो दान देता है दूसरे जन्म में उस-उस भाव से प्रतिपूजित होकर उस-उस वस्तु को प्राप्त करता है॥२३४॥

योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च।
तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥२३५॥

जो ब्राह्मण सत्कारपूर्वक दिए गए वस्तु को ही लेता है और जो दाता सत्कारपूर्वक ही देता है वे दोनों स्वर्ग में जाते है। इसका विपर्यय (असत्कार से दिए गए दान लेने का काम और असत्कार से दान देने का काम) होने पर दोनों ही नरक में जाते हैं॥२३५॥

न विस्मयेत तपसा वदेदिष्ट्वा च नाऽनृतम्।
नाऽऽर्तोऽप्यपवदेद् विप्रान् न दत्त्वा परिकीर्तयेत् ॥२३६॥

अपनी तपस्या की सफलता को देखकर विस्मय (अभिमान) न करे, यज्ञ करके असत्य न बोले, ब्राह्मणों से पीडित होने पर भी ब्राह्मणों को दोष न दे, दान देकर उसका प्रचार न करे॥२३६॥

यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात्।
आयुर् विप्राऽपवादेन दानं च परिकीर्तनात् ॥२३७॥

यज्ञ झूठ बोलने से नष्ट होता है, तपस्या विस्मय से (अभिमान से) नष्ट होती है, आयु ब्राह्मणों को दोष देने से नष्ट होता है, दान प्रचार से नष्ट होता है॥२३७॥

धर्मं शनैः सञ्चिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥२३८॥

किसी प्राणी को भी पीडा नहीं देता हुआ स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण परलोक में सहाय के लिए धर्म को जैसे दीमक धीरे-धीरे मिट्टी के टीले को सञ्चित करते हैं वैसे ही धीरे-धीरे सञ्चित करे॥२३८॥

नाऽमुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्त्रदारा न ज्ञातिर् धर्मस् तिष्ठति केवलः ॥२३९॥

परलोक में सहाय के रूप में पिता भी नहीं रहता है, माता भी नहीं रहती है; पुत्त्र और पत्नी भी नहीं रहते हैं, जाति वाला भी नहीं रहता है, केवल एक ही धर्म रहता है॥२३९॥

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्॥२४०॥

प्राणी अकेला ही पैदा होता है और अकेला ही मरता है। अकेला ही धर्म के फल का अनुभव करता है और अकेला ही पाप के फल का भी अनुभव करता है॥२४०॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस् तमनुगच्छति॥२४१॥

मरे हुए (निर्जीव) शरीर को लकडी और मिट्टी के ढेले की तरह भूमि में छोडकर बन्धु-बान्धव मुँह मोडकर चले जाते है, धर्म उस जीव के पीछे जाता है॥२४१॥

तस्माद् धर्मं सहायाऽर्थं नित्यं सञ्चिनुयाच् छनैः।
धर्मेण हि सहायेन तमस् तरति दुस्तरम्॥२४२॥

उस कारण से परलोक में सहाय के लिए सर्वदा धीरेधीरे धर्म का सञ्चय करे। धर्मरूप सहाय से ही कठिनता से पार किए जा सकने वाले तम (नरक) को पार करता है॥२४२॥

धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम्।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम्॥२४३॥

प्राजापत्यकृच्छ्रादिरूप तपस्या से पापों को नष्ट करने वाले, धर्मपरायण, दीप्तिमान् और आकाश की तरह अदृश्य शरीर से युक्त मनुष्य को धर्म ही शीघ्र स्वर्गादि परलोक में पहुँचाता है॥२४३॥

उत्तमैरुत्तमैर् नित्यं सम्बन्धानाचरेत् सह।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस् त्यजेत्॥२४४॥

अपने कुल को उत्कर्ष में पहुँचाने की इच्छा रखने वाला स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण सर्वदा अपने से बडों-बड़ों के साथ सम्बन्ध करे, और अपने से नीचों-नीचों को छोड दे॥२४४॥

उत्तमानुत्तमान् गच्छन् हीनान्हीनांश् च वर्जयन्।
ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम्॥२४५॥

अपने से बडों-बडों में सम्बन्ध के लिए जाता हुआ और अपने से नीचों-नीचों को छोडता हुआ ब्राह्मण श्रेष्ठता में पहुँचता है, इसके विपरीत अपने से नीचों-नीचों में सम्बन्ध के लिए जाता हुआ और अपने से बडों-बडों को छोडता हुआ ब्राह्मण शूद्रतुल्यता में पहुँचता है॥२४५॥

दृढकारी मृदुर् दान्तः क्रूराऽऽचारैरसंवसन्।
अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत् स्वर्गं तथाव्रतः ॥२४६॥

दृढकारी (विघ्न आने पर भी आरब्ध कार्य को पूरा करके ही छोड़ने वाला), नरम स्वभाव का, शीताऽऽतपादि का सहन करने वाला, क्रूरता से व्यवहार करने वालों से सहवास न करता हुआ, हिंसक स्वभाव से रहित, इस प्रकार के व्रतों से युक्त स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण इन्द्रियनिग्रह से और दान से स्वर्ग को जीत सकता है॥२४६॥

एधोदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च यत्।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयान् मध्वथाऽभयदक्षिणाम् ॥२४७॥

इन्धन का, पानी का, कन्दमूल का, फल का, विना मागे आए हुए (कच्चा) अन्नादि जो पदार्थ हैं उनका, मधु का (शहद का) और अभयदक्षिणा का भी स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण सभी ओर से प्रतिग्रह करे॥२४७॥

आहृताऽभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम्।
मेने प्रजापतिर् ग्राह्यामपि दुष्कृतकर्मणः ॥२४८॥

दान लेने वाले के घर में लाई गई और सामने रक्खी हुई तथा पहले किसी से भी नहीं मगाई गई आमाऽन्नादिभिक्षा को (कच्चे अन्न की भिक्षा को) प्रजापति ने (ब्रह्मा जी ने) पापकारी से भी लेने योग्य माना॥२४८॥

नाऽश्नन्ति पितरस् तस्य दश वर्षाणि पञ्च च।
न च हव्यं वहत्यग्निर् यस् तामभ्यवमन्यते ॥२४९॥

जो ब्राह्मण उस प्रकार लाई गई भिक्षा का अनादर (अस्वीकार) करता है उसके पितर लोग उस से दिए गए अन्नजल को दश और पाँच (पन्द्रह) वर्ष तक नहीं खाते हैं, अग्नि भी दश और पाँच (पन्द्रह) वर्ष तक उस से होमे गए हवि को देवताओं के यहाँ नहीं पहुँचाता है॥२४९॥

शय्यां गृहान् कुशान् गन्धानपः पुष्पं मणीन् दधि।
धाना मत्स्यान् पयो मांसं शाकं चैव न निर्णुदेत् ॥२५०॥

शय्या को, घर को, कुशों को, सुगन्धी द्रव्यों को, जल को, फूल को, मणियों को, दही को, धाना को (भूने हुए जौ को), मछलियों को, दूध को, मांस को और शाक को भी न हटाए (अस्वीकृत न करे)॥२५०॥

गुरून् भृत्यांश् चोज्जिहीर्षन्नर्चिष्यन् देवताऽतिथीन्।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयान् न तु तृप्येत् स्वयं ततः ॥२५१॥

माता पिता इत्यादि मान्य जनों का और अन्य पोष्य वर्ग के जनों का भी अन्नाऽभाव की पीडा से उद्धार करने की इच्छा करता हुआ और देवताओं का तथा अतिथियों का पूजन-सत्कार करने की इच्छा करता हुआ स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण सब से प्रतिग्रह ले ले, किन्तु उस से स्वयम् तृप्त न होवे (अपना पेट न भरे)॥२५१॥

गुरुषु त्वभ्यतीतेषु विना वा तैर् गृहे वसन्।
आत्मनो वृत्तिमन्विच्छन् गृह्णीयात् साधुतः सदा॥२५२॥

माता पिता इत्यादि मान्य जन स्वर्गवासी होने पर अथवा उनके विना ही घर में बैठने पर तो अपने जीविकासाधन को खोजता हुआ स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण सर्वदा सत्पुरुषों से ही दान ले॥२५२॥

आर्धिकः कुलमित्रं च गोपालो दास-नापितौ।
एते शूद्रेषु भोज्याऽन्ना यश् चाऽऽत्मानं निवेदयेत्॥२५३॥

उपज के आधा देने की व्यवस्था से अपने क्षेत्र में खेती करने वाला शूद्र, अपने कुल का मित्र शूद्र, अपनी गायों को पालने वाला शूद्र, अपना दास शूद्र, अपना नापित शूद्र, ये शूद्रों में से भोज्यान्न शूद्र हैं। जो शूद्र अपने को आश्रय के लिए जिस में समर्पित करता है वह उस आश्रयदाता के लिए भोज्याऽन्न होता है।

विशेष– पाणिनीय व्याकरण के **"शूद्राणामनिरवसितानाम्"** (२।४।१०) इस सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि मुनि ने विविध प्रकार के शूद्रों का उल्लेख किया है। जिस के भोजन करने पर पात्र मार्जनादि से भी शुद्ध नहीं माना जाता है उनको निरवसित शूद्र कहा गया हैं। लोक में भोज्यान्न शूद्र, अभोज्यान्न शूद्र, पेयजल शूद्र, अपेयजल शूद्र, स्पृश्य शूद्र, अस्पृश्य शूद्र इत्यादि रूप में शूद्रों के भेद पाए जाते हैं।॥२५३॥

यादृशोऽस्य भवेदात्मा यादृशं च चिकीर्षितम्।
यथा चोपचरेदेनं तथाऽऽत्मानं निवेदयेत्॥२५४॥

अपने को समर्पित करने वाला शूद्र अपना कुलजात्यादि स्वरूप जैसा हो, अपने से किए जाने वाला कार्य जैसा हो, आश्रयदाता की सेवा जिस प्रकार से करने की अपनी इच्छा हो उन सब बातों को यथार्थ रूप में बताकर अपने को आश्रयदाता में समर्पित करे॥२५४॥

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते।
स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्माऽपहारकः॥२५५॥

जो मनुष्य स्वयम् अन्यथा होता हुआ सज्जनों से अपने को अन्यथा बतलाता है, वह इस लोक में सब से बडा पापाचारी है, और वह आत्मा को ही चुराने वाला चोर है॥२५५॥

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
तां तु यः स्तेनयेद् वाचं स सर्वस्तेयकृन् नरः॥२५६॥

सभी पदार्थ वाणी में वाच्य के रूप में सम्बद्ध हैं, सभी पदार्थ वाणी से ही प्रतीत होने से वाङ्मूलक हैं और सभी पदार्थ वेदशब्द रूप वाणी से ही निकले हुए हैं। जो मनुष्य उस प्रकार की वाणी को चुराता है (उस वाणी को वास्तविक अर्थ से अनियत [असम्बद्ध] बनाकर झूठ रूप में प्रयुक्त करता है) वह मनुष्य सभी पदार्थों की चोरी (अपहरण) करने वाला है॥२५६॥

महर्षिपितृदेवानां गत्वाऽऽनृण्यं यथाविधि।
पुत्रे सर्वं समासज्य वसेन् माध्यस्थ्यमाश्रितः॥२५७॥

शास्त्र में बताए गए विधि से ऋषियों के, पितरों के और देवताओं के ऋणों को चुकाकर अपने सभी कर्तव्यों के भार को पुत्र में रखकर अनासक्त भाव को लेकर घर में बैठे॥२५७॥

एकाकी चिन्तयेन् नित्यं विविक्ते हितमात्मनः।
एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति॥२५८॥

एकान्त स्थल में अकेला रहता हुआ सर्वदा अपने हित का (ब्रह्मात्मभाव का) चिन्तन करे, क्योंकि अकेला बैठकर ब्रह्मात्मभाव का चिन्तन करता हुआ पुरुष ही परम श्रेय को (मोक्ष को) प्राप्त करता है॥२५८॥

एषोदिता गृहस्थस्य वृत्तिर् विप्रस्य शाश्वती।
स्नातकव्रतकल्पश् च सत्त्ववृद्धिकरः शुभः॥२५९॥

यह गृहस्थ ब्राह्मण की सनातन व्यवहाररीति बताई गई। मानस बल की वृद्धि करने वाले कल्याणकारी स्नातकव्रत का विधि भी यह बताया गया॥२५९॥

अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन् वेदशास्त्रवित्।
व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते॥२६०॥

॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां चतुर्थोऽध्यायः॥४॥

वेदशास्त्र को जानने वाला पापकर्म से रहित तथा सर्वदा इस प्रकार के चरित्र को लेकर बर्ताव करता हुआ ब्राह्मण ब्रह्मलोक में पूजित होता है। (ब्रह्मलोक में ब्रह्मा जी का तुल्य होकर रहता है)॥२६०॥

॥ इस प्रकार कौण्डिन्न्यायनाऽऽचार्य-शिवराजशर्म-द्विजोत्तम से किए गए मनुस्मृति के हिन्दी अनुवाद तथा विशेष व्याख्या में चतुर्थ अध्याय पूर्ण हुआ॥४॥

◆

अथ पञ्चमोऽध्यायः

श्रुत्वैतानृषयो धर्मान् स्नातकस्य यथोदितान्।
इदमूचुर् महात्मानमनलप्रभवं भृगुम्॥१॥

हिन्दी–

मनुस्मृतेः पञ्चमेऽत्राऽध्याये भाषार्थ उच्यते।
कुल्लूकोक्ताऽर्थमादाय शिवाऽऽख्येन द्विजन्मना॥

ऊपर जैसे बताए गए हैं वैसे इन स्नातकधर्मों को सुनकर ऋषियों ने अग्नि से उत्पन्न महात्मा भृगु को यह कहा–॥१॥

एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्ममनुतिष्ठताम्।
कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो॥२॥

हे प्रभो, जैसे बताया गया है वैसे ही अपने धर्म का आचरण करने वाले और वेदशास्त्र को जानने वाले ब्राह्मणों को (अकाल में) मृत्यु कैसे अपने वश में करता है?॥२॥

स तानुवाच धर्माऽऽत्मा महर्षीन् मानवो भृगुः।
श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर् विप्राञ् जिघांसति॥३॥

उन मनुशिष्य धर्ममय हृदय वाले भृगु ने उन ऋषियों को कहा– 'जिस दोष के कारण से मृत्यु ब्राह्मणों को मारने की इच्छा करती है उसको सुना जाय'॥३॥

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच् च मृत्युर् विप्राञ् जिघांसति॥४॥

वेदों का अभ्यास न करने से, आचार का त्याग करने से, आलस्य से और अन्न के (भोज्य पदार्थ के) दोष से भी मृत्यु ब्राह्मणों को मारने की इच्छा करती है॥४॥

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च॥५॥

लहसुन, रक्तलहसुन, प्याज, विविध प्रकार के कुकुरमुत्ते और अमेध्य भूमि से अथवा वस्तु से उत्पन्न शाकादि भी ब्राह्मणों के लिए अभक्ष्य समझे गए हैं।

विशेष– ब्राह्मणत्वादि जाति के संरक्षण के लिए अन्य वर्ण की कन्या से विवाह नहीं करना और ब्राह्मणादि के लिए अभक्ष्य लहशुन इत्यादि जातिदुष्ट पदार्थों

का और शूद्र-चाण्डालादिस्पृष्ट पक्वान्नादि का भोजन नहीं करना ये दो बातें प्रमुख हैं। इस बात को "तद्वर्णसङ्कराऽभक्ष्यनियमस् तु" (१।७।२४) ऐसा कहकर रोटी-बेटी में परहेज करने की विशेष आवश्यकता को बताकर गौतमधर्मसूत्र में विशेष रूप में सूचित किया गया है॥५॥

लोहितान् वृक्षनिर्यासान् व्रश्चनप्रभवांस् तथा।
शेलुं गव्यं च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत्॥६॥

पेडों के लाल द्रवों को तथा पेडों को काटने से निकलने वाले तरल पदार्थों को, लसोंडे को, गाय के फेनुस को भी प्रयत्नपूर्वक वर्जित करे॥६॥

वृथाकृसरसंयावं पायसाऽपूपमेव च।
अनुपाकृतमांसानि देवाऽन्नानि हवींषि च॥७॥

देव-पितृ-ब्राह्मणों के उद्देश्य के विना बनाई गई तिलमिश्रित खिचडी को, संयाव को (हलुवे को), खीर को, घी में अथवा तेल में पकी हुई रोटी को, यज्ञ में संज्ञप्त (मारित) पशु से भिन्न पशुओं के मांसों को, देवता के लिए बनाए गए किन्तु देवताओं को असमर्पित अन्न को और हवन के लिए बनाए गए किन्तु नहीं होमे गए हवि को भी वर्जित करे॥७॥

अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा।
आविकं सन्धिनीक्षीरं विवत्सायाश् च गोः पयः॥८॥

ब्याने के दिन से जिस के दश दिन नहीं बीते हैं ऐसी गाय के दूध को, ऊँटनी के दूध को, घोडी गधी इत्यादि एक पैर में एक खुर से युक्त स्त्रीपशु के दूध को, भेडी के दूध को, वृषस्यन्ती (गरमाई हुई) स्त्रीपशु के दूध को और बछड़े से रहित गाय के दूध को भी वर्जित करे॥८॥

आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना।
स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि॥९॥

भैंस को छोडकर अन्य सभी जङ्गली पशुओं के दूध को और मानुषी के (नारी के) दूध को भी वर्जित करना चाहिए। सभी प्रकार के शुक्तों को (सन्धानादि से अम्लीकृत पदार्थों को) भी वर्जित करना चाहिए॥९॥

दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसम्भवम्।
यानि चैवाऽभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः॥१०॥

शुक्तों में से दही और इस से बना हुआ सभी प्रकार का वस्तु भोज्य है। शुभ (मद न करने वाले) फूलों से, फलों से और मूलों से जो शुक्त (अम्लीकृत पदार्थ) बनाए जाते हैं वे भी भोज्य हैं॥१०॥

क्रव्यादाञ् छकुनान् सर्वांस् तथा ग्रामनिवासिनः।
अनिर्दिष्टांश् चैकशफांष् टिट्टिभं च विवर्जयेत्॥११॥

कच्चा मांस खाने वाले (गीध चील इत्यादि) पक्षियों को, गाँव में निवास करने वाले (कबूतर इत्यादि) पक्षियों को, वेदशास्त्र के निर्देश से यज्ञ में प्रयुक्त पशुव्यक्ति को छोडकर एक खुर वाले (गदहा इत्यादि) पशुओं को, टिटिहरी पक्षी को भी वर्जित करे॥११॥

कलविङ्कं प्लवं हंसं चक्राह्वं ग्रामकुक्कुटम्।
सारसं रज्जुदालं च दात्यूहं शुकसारिके॥१२॥

गौरैये को, जलकाक को, हाँस को, चकवे को, ग्राम्य मुर्गी को, सारस को, रज्जुदाल को (डोम कौओ को), दात्यूह को (कालकण्ठक को) तोते को और मैने को भी वर्जित करे।

विशेष— ग्रामकुक्कुट अभक्ष्य कहने से आरण्यकुक्कुट भक्ष्य अवगत होता है, ऐसी बात पाणिनीयव्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि ने भी **"अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटोऽभक्ष्यो ग्राम्यशूकर इत्युक्ते गम्यत एतदारण्यो भक्ष्य इति"** ऐसे वाक्य से बताई है (१।१।१)। रज्जुदालशब्द वेदों में भी आया है। इसका अर्थ अनुसन्धेय है॥१२॥

प्रतुदाञ् जालपादांश् च कोयष्टिनखविष्किरान्।
निमज्जतश् च मत्स्याऽदान् सौनं वल्लूरमेव च॥१३॥

चोंच से काटकर खाने वाले पक्षियों को, जालयुक्त पैर वाले पक्षियों को, कोयष्टि को (कोहड़े को), नाखूनों से बिखेरकर खाने वाले पक्षियों को, पानी में डूबकर मछलियों को खाने वाले पक्षियों को, वधशाला में मारे गए पशु-पक्षियों के मांस को और सूखाकर रखे गए मांस को भी वर्जित करे॥१३॥

बकं चैव बलाकां च काकोलं खञ्जरीटकम्।
मत्स्याऽदान् विड्वराहांश् च मत्स्यानेव च सर्वशः॥१४॥

बगुले को, छोटी जाति के बगुले को, काकोल को (द्रोणकाक को, करेरुए को?) खञ्जन को (खिड़रिच को), मछली खाने वाले प्राणियों को, ग्राम्य सूअरों को और सभी प्रकार की मछलियों को भी वर्जित करे। [आरण्य वराह भक्ष्य माना गया है]॥१४॥

यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाऽद उच्यते।
मत्स्याऽदः सर्वमांसाऽदस् तस्मान् मत्स्यान् विवर्जयेत् ॥१५॥

जो जिस के मांस को खाता है वह उसके मांस को खाने वाला कहा जाता है, मछली को खाने वाला सभी प्राणियों के मांस को खाने वाला कहा जाता है, उस कारण से मछलियों को वर्जित करे॥१५॥

पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः।
राजीवान् सिंहतुण्डांश् च सशल्कांश् चैव सर्वशः ॥१६॥

देवकार्य में और पितृकार्य में प्रयुक्त पाठीन मत्स्य (पोठिया मछली) और रोहितमत्स्य (रोहू मछली) भक्ष्य हैं। राजीवमत्स्यों को (बरारी मछलियों को) सिंहतुण्डमत्स्यों को (सिंह के मुँह जैसे मुँह वाली मछलियों को) और छिलकाओं से युक्त सभी प्रकार की मछलियों को भी भक्ष्य जाने॥१६॥

न भक्षयेदेकचरानज्ञातांश् च मृगद्विजान्।
भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान् सर्वान् पञ्चनखांस् तथा ॥१७॥

अकेले चलने वाले (सर्पादि) प्राणियों को न खाए। निषेध न किए जाने से सामान्यतया भक्ष्यवर्ग में आने पर भी अपरिचित जाति के मृगों (पशुओं) को और पक्षियों को न खाए। किसी प्रकार के भी पाँच नख वाले प्राणी को भी न खाए॥१७॥

श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशांस् तथा।
भक्ष्यान् पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश् चैकतोदतः ॥१८॥

पाँच नख वाले प्राणियों में से साही को, शालक को, गोह को, गैंडे को, कछुए को और खरगोश को भी मुनि लोग भक्ष्य बताते हैं। ऊँट को छोडकर अन्य मुँह के अग्र भाग में केवल एक तरफ दाँत वाले (बकरा भेड़ इत्यादि) पशुओं को भी मुनि लोग भक्ष्य बताते हैं।

विशेष– यहाँ पर मेधातिथि ने "उष्ट्रवर्जिता एकतोदतो गोऽव्यजमृगा भक्ष्याः" ऐसा कहा है, राघवानन्द ने भी "एकतोदत एकपङ्क्तिदन्तयुक्तान् गवादीन्" ऐसा कहकर ऐसी ही बात बताई है॥१८॥

छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम्।
पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेद् द्विजः ॥१९॥

कुकुरमुत्ते को, गाँव के सूअर को, लहसुन को, गाँव के मुर्गे को, प्याज को और रक्तलहसुन को भी जानबूझकर खाकर द्विजाति पतित होता है॥१९॥

अमत्यैतानि षड् जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत्।
यतिचान्द्रायणं वाऽपि शेषेषूपवसेदहः ॥२०॥

अनजान में इन छह पदार्थों को खाकर द्विजाति देहशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त रूप में सान्तपन कृच्छ्र (मनु.११।२१२) अथवा यतिचान्द्रायण (मनु.११।२१८) करे। अन्य अभक्ष्य पदार्थों को खाने पर एक अहोरात्र उपवास करे॥२०॥

संवत्सरस्यैकमपि चरेत् कृच्छ्रं द्विजोत्तमः।
अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥२१॥

द्विजाति अज्ञात रूप में खाए गए अभक्ष्य पदार्थ से उत्पन्न देहाऽशुद्धि को हटाने के लिए वर्ष में एक ही साधारण कृच्छ्र (प्राजापत्य कृच्छ्र [मनु.११।२११]) का भी अनुष्ठान करे। जानबूझकर खाए गए अभक्ष्य पदार्थ से उत्पन्न देहाऽशुद्धि को हटाने के लिए तो उसके लिए विशेष रूप में जो कृच्छ्र उपदिष्ट है उस कृच्छ्रविशेष का ही अनुष्ठान करे॥२१॥

यज्ञार्थं ब्राह्मणैर् वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः।
भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत् पुरा ॥२२॥

ब्राह्मणों से यज्ञ के लिए शास्त्रविहित पशु-पक्षियों का वध किया जाना चाहिए। पोष्यवर्ग की वृत्ति के लिए भी ब्राह्मणों से शास्त्राऽनुमत पशु-पक्षियों का वध किया जाना चाहिए, क्योंकि पुराकाल में अगस्त्य मुनि ने ऐसा वध किया था॥२२॥

बभूवुर् हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम्।
पुराणेष्वृषियज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च ॥२३॥

प्राचीन (वेदविहित) यज्ञों में और ब्रह्मसवों में तथा क्षत्रसवों में भी भक्ष्य मृगों (पशुओं) के और पक्षियों के मांस के पुरोडाश (डोशे, पूडे) होते ही थे॥२३॥

यत्किञ्चित् स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगर्हितम्।
तत् पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च यद् भवेत् ॥२४॥

स्नेहयुक्त करके (घी अथवा तेल मिलाकर) बनाए गए और विकाररहित जो कुछ भी भक्ष्य और भोज्य पदार्थ होता है वह तो बासी होने पर भी खाने के लिए योग्य होता है। जो देवताओं को अर्पण करने पर बचा हुआ भक्ष्य-भोज्य पदार्थ होता है वह भी बासी होने पर भी खाने के लिए योग्य होता है॥२४॥

चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहाऽक्तं द्विजातिभिः।
यवगोधूमजं सर्वं पयसश् चैव विक्रिया ॥२५॥

जौ का बना हुआ अथवा गेहूँ का बना हुआ भक्ष्य-भोज्य पदार्थ तो बहुत काल तक रहने पर और स्नेह से (घी से अथवा तेल से) असंयुक्त होने पर भी (अविकृत हो तो) द्विजातियों से खाया जा सकता है। दूध से बना हुआ (खोआ, मलाई, रावडी इत्यादि) पदार्थ भी बहुत काल तक रहने पर भी द्विजातियों से खाया जा सकता है॥२५॥

एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याऽभक्ष्यमशेषतः।
मांसस्याऽतः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने॥२६॥

यह द्विजातियों की भक्ष्य की और अभक्ष्य की व्यवस्था शेष न रखकर सब बताई गई। अब मांस के भक्षण के और वर्जन के विषय के विधि को बताऊँगा॥२६॥

प्रोक्षितं भक्षयेन् मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया।
यथाविधि नियुक्तस् तु प्राणानामेव चाऽत्यये॥२७॥

मन्त्र से प्रोक्षित बकरा भेड़ इत्यादि पशु का हवन से बचे हुए मांस को अवश्य खाए, मधुपर्काऽर्ह अतिथि ब्राह्मण की इच्छा से पशुवध किए जाने पर भी मांस को खाए, (श्राद्ध में) शास्त्रानुसार पङ्क्ति में नियुक्त होने पर भी मांस को खाए, रोग से अथवा अन्य भक्ष्य-भोज्य न होने से प्राण सङ्कट में पड़ने पर भी मांस को खाए॥२७॥

प्राणस्याऽन्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत्।
स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम्॥२८॥

प्रजापति ने (ब्रह्मा जी ने) इस सम्पूर्ण प्राणिजगत् को प्राण का (जीव का) अन्न (भोज्य) बनाया। स्थावर (धान्य फल इत्यादि) और जङ्गम (पशु, पक्षी, मछली इत्यादि) सब ही प्राण का (जीव का) भोजन (खाद्य पदार्थ) है॥२८॥

चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः।
अहस्ताश् च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः॥२९॥

चलने वाले जीवों का (गौ बकरा भेड इत्यादि का) न चलने वाले जीव (तृण वृक्ष इत्यादि) अन्न (भोज्य) हैं, दंष्ट्रा वाले जीवों का (सिंह व्याघ्र इत्यादि का) दंष्ट्रा से रहित जीव (मृग, हाथी इत्यादि) अन्न (भोज्य) हैं, हाथों से युक्त जीवों का (मनुष्य वानर इत्यादि का) हाथों से रहित जीव (पक्षी, मछली फलबीज इत्यादि) अन्न (भोज्य) हैं, शूर जीवों का (चीता, बाघ, सिंह इत्यादि का) भीरु जीव (गौ, मृग, हाथी इत्यादि) अन्न (भोज्य) हैं॥२९॥

नाऽत्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान् प्राणिनोऽहन्यहन्यपि।
धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश् च प्राणिनोऽत्तार एव च॥३०॥

खाए जाने वाले प्राणियों को दिनदिन ही खाता हुआ भी खाने वाला प्राणी दोषी नहीं होता है, क्योंकि खाए जाने वाले प्राणी और खाने वाले प्राणी भी ब्रह्मा जी से ही बनाए गए हैं॥३०॥

यज्ञाय जग्धिर् मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः।
अतोऽन्यथाप्रवृत्तिस् तु राक्षसो विधिरुच्यते॥३१॥

यज्ञ के लिए मांस का भोजन ऐसा यह देवताओं का विधान है, इस से भिन्न रूप में मांसभोजन में प्रवृत्ति तो राक्षसों का विधान कहा जाता है॥३१॥

क्रीत्वा स्वयं वाऽप्युत्पाद्य परोपकृतमेव वा।
देवान् पितॄंश् चाऽर्चयित्वा खादन् मांसं न दुष्यति॥३२॥

खरीदकर अथवा स्वयम् मारकर अथवा दूसरे से दिए जाने पर भी देवताओं को अथवा पितरों को पूजित करके मांस खाता हुआ द्विजाति दोषी नहीं होता है॥३२॥

नाऽद्यादविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः।
जग्ध्वा ह्यविधिना मांसं प्रेतस् तैरद्यतेऽवशः॥३३॥

शास्त्रविधान को जानने वाला ब्राह्मण आपत्काल न रहने पर शास्त्रविधान के विना मांस न खाए, क्योंकि शास्त्रविधान के विना मांस खाने पर परलोक में अपनी रक्षा करने में असमर्थ बना हुआ वह खाने वाला उस ने जिन का मांस खाया था उन से खाया जाता है॥३३॥

न तादृशं भवत्येनो मृगहन्तुर् धनाऽर्थिनः।
यादृशं भवति प्रेत्य वृथामांसानि खादतः॥३४॥

देवता-पितृ-ब्राह्मणों के उद्देश्य से नहीं बनाए गए मांसों (वृथामांसों) को खाने वाले को मरने पर नरक में जैसे पाप का फल भुगतना पड़ता है, वैसा पाप तो धन चाहने वाले मृगहन्ता को (व्याध को) भी नहीं लगता है॥३४॥

नियुक्तस् तु यथान्यायं यो मांसं नाऽत्ति मानवः।
स प्रेत्य पशुतां याति सम्भवानेकविंशतिम्॥३५॥

शास्त्र के अनुसार मधुपर्क में और श्राद्ध में मांस दिए जाने पर जो द्विजाति मनुष्य उस मांस को नहीं खाता है वह मरकर इक्कीस जन्म तक पशुत्व में प्राप्त होता है॥३५॥

असंस्कृतान् पशून् मन्त्रैर् नाऽद्याद् विप्रः कदाचन।
मन्त्रैस् तु संस्कृतानद्याच् छाश्वतं विधिमास्थितः॥३६॥

ब्राह्मण मन्त्रों से असंस्कृत पशूओं के मांसों को कदापि नहीं खाए। सनातन वैदिक विधि में रहता हुआ ब्राह्मण मन्त्रों से संस्कृत पशुओं के मांसों को तो खाए॥३६॥

कुर्याद् घृतपशुं सङ्गे कुर्यात् पिष्टपशुं तथा।
न त्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत् कदाचन॥३७॥

पशुमांसभोजन में आसक्ति होने पर कदाचित् घृतपशु को खाए, कदाचित् पिष्टपशु को खाए, किन्तु यज्ञादि के विना पशु को मारने की इच्छा तो कभी भी न करे॥३७॥

यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वो ह मारणम्।
वृथापशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि-जन्मनि॥३८॥

यज्ञादि के विना पशु को मारने वाला द्विजाति उस मारे गए पशु के शरीर में जितने रोम होते हैं जन्म-जन्म में उतने वार ही मारण को प्राप्त करता है (दूसरों से मारा जाता है), [ऐसी वेदशास्त्र में प्रसिद्धि है]॥३८॥

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा।
यज्ञश् च भूत्यै सर्वस्य तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः॥३९॥

ब्रह्मा जी ने स्वयम् ही यज्ञों के लिए पशुओं की सृष्टि की। यज्ञ सम्पूर्ण जगत् के कल्याण के लिए है। उस कारण से यज्ञ में की जाने वाली पशु की हिंसा अहिंसा ही है॥३९॥

ओषध्यः पशवो वृक्षास् तिर्यञ्चः पक्षिणस् तथा।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितीः पुनः॥४०॥

ओषधियाँ, पशु, वृक्ष, तिर्यक् जीव और पक्षी भी यज्ञ के लिए मरने पर फिर उन्नति को प्राप्त करते हैं (उत्कृष्ट योनि में उत्पन्न होते हैं)॥४०॥

मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि।
अत्रैव पशवो हिंस्या नाऽन्यत्रेत्यब्रवीन् मनुः॥४१॥

मधुपर्क में, यज्ञ में (निरूढपशुबन्धादि में), पितृकर्म में (श्राद्ध में) और देवकर्म में, इन कर्मों में ही पशुओं की हिंसा करनी चाहिए, अन्य कर्मों में नहीं, ऐसा मनु ने कहा॥४१॥

एष्वर्थेषु पशून् हिंसन् वेदतत्त्वाऽर्थविद् द्विजः।
आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम्॥४२॥

इन कार्यों में पशुओं की हिंसा करता हुआ वेद के तत्त्वार्थ को जानने वाला ब्राह्मण अपने को और पशु को भी उत्तम गति में पहुँचाता है॥४२॥

गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान् द्विजः।
नाऽवेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत्॥४३॥

गृहस्थाश्रम में अथवा ब्रह्मचर्याश्रम में अथवा वानप्रस्थाश्रम में रहता हुआ चित्त को वश में रखने वाला ब्राह्मण आपत्काल होने पर भी वेदविहित हिंसा से भिन्न हिंसा को न करे॥४३॥

या वेदविहिता हिंसा नियताऽस्मिंश् चराचरे।
अहिंसामेव तां विद्याद् वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ॥४४॥

इस जगत् में जो वेद से विहित यज्ञादि में नियत हिंसा है उसको अहिंसा ही जाने, क्योंकि धर्म क्या है यह बात केवल वेद से ही प्रकाशित हुआ है।

विशेष– वेद जिस कार्य को धर्म कहता है वही धर्म है, धर्म दूसरे प्रमाण से प्रकाशित नहीं हो सकता है। इसी लिए वैदिक धर्ममीमांसकशिरोमणि कुमारिलभट्ट ने भी वेद के विधि-निषेधों से ही धर्म का और अधर्म का निर्णय करके काम करने की बात बताई है। उनका कथन है– **"तस्मादनुग्रहं पीडां तदभावमपास्य च। धर्माऽधर्मार्थिभिर् नित्यं मृग्यौ विधिनिषेधकौ"** (श्लोकवार्तिक, चोदनासूत्र, श्लो.२४८–२४९)। धर्ममीमांसासूत्र में भी **"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः"** (१।१।२) कहकर यही बात बताई गई है॥४४॥

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश् च मृतश् चैव न क्वचित् सुखमेधते॥४५॥

जो मनुष्य अहिंसक जीवों को अपने सुख की इच्छा से मारता है वह जीता हुआ और मरा हुआ भी कहीं भी सुख से समृद्ध नहीं होता है॥४५॥

यो बन्धनवधक्लेशान् प्राणिनां न चिकीर्षति।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते॥४६॥

जो मनुष्य प्राणियों का बन्धन, वध (हिंसा) और दुःखोत्पादन नहीं करना चाहता है, सम्पूर्ण जगत् का हित चाहने वाला वह मनुष्य अत्यन्त सुख प्राप्त करता है॥४६॥

यद् ध्यायति यत् कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन॥४७॥

जो मनुष्य किसी प्राणी की भी हिंसा नहीं करता है वह जिस वस्तु का चिन्तन करता है, जो कुछ भी करता है और जिस में ध्यान लगाता है उसको यत्न के विना ही प्राप्त करता है॥४७॥

नाऽकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस् तस्मान् मांसं विवर्जयेत्॥४८॥

प्राणियों की हिंसा किए विना कहीं भी मांस उत्पन्न नहीं होता है, प्राणियों की हिंसा स्वर्ग प्राप्त करने में सहायक नहीं है, उस कारण से मांस को वर्जित करे॥४८॥

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्॥४९॥

मांस की उत्पत्ति को तथा प्राणियों के वध (हिंसा) को और बन्धन को विवेकपूर्ण दृष्टि से देखकर सभी प्रकार के मांसो के भक्षण से निवृत्त होवे॥४९॥

न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत्।
स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश् च न पीड्यते॥५०॥

जो मनुष्य पिशाच की तरह शास्त्रविधि को छोडकर मांस नहीं खाता है वह लोक में प्रिय होता है और नाना प्रकार के रोगों से पीडित भी नहीं होता है॥५०॥

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश् चेति घातकाः॥५१॥

मारने की अनुमति देने वाला, मारने वाला, मरे हुए जीव के शरीर के अङ्गों को टुकडे-टुकडे करने वाला, कीनने (खरीदने) वाला, बेचने वाला, पकाने वाला, परोसने वाला और खाने वाला ये सब जीवहिंसा करने वाले हैं॥५१॥

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
अनभ्यर्च्य पितॄन् देवांस् ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत्॥५२॥

जो मनुष्य पितरों को और देवताओं को तृप्त किए विना अपने मांस को दूसरे जीव के मांस से बढ़ाना चाहता है उस से बढ़कर पापकारी कोई दूसरा नहीं है॥५२॥

वर्षेवर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि च न खादेद् यस् तयोः पुण्यफलं समम्॥५३॥

जो सौ वर्ष तक प्रतिवर्ष अश्वमेध यज्ञ करे, और जो किसी प्रकार का मांस न खाए, उन दोनों का पुण्यफल समान होता है॥५३॥

फलमूलाऽशनैर् मेध्यैर् मुन्यन्नानां च भोजनैः।
न तत् फलमवाप्नोति यन् मांसपरिवर्जनात् ॥५४॥

जो फल मांस का वर्जन करने से मनुष्य पाता है उस फल को केवल फलों के और मूलों के शुद्ध भोजन से और केवल तिन्नी इत्यादि वानप्रस्थी के लिए भोज्य अन्नों के ही शुद्ध भोजनों से भी मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकता है॥५४॥

मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाऽद्म्यहम्।
एतन् मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥५५॥

जिस का मैं इस लोक में मांस खाता हूँ मुझ को (मां) वह (स) परलोक में खाएगा, विचारशील लोग 'यही मांस का मांसत्व है' ऐसा कहते हैं।

विशेष— यह मांस-शब्द का निर्वचन अवैधमांसभक्षण के निन्दार्थवाद के रूप में प्रवृत्त है॥५५॥

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस् तु महाफला ॥५६॥

अनिषिद्ध मांस खाने में कोई दोष नहीं है, अनिषिद्ध मद्य पीने में भी कोई दोष नहीं है, अनिषिद्ध मैथुन करने में भी कोई दोष नहीं है, यह मांसभक्षणादि प्राणियों की स्वाभाविक वृत्ति है। इन मांसभक्षणादि से निवृत्ति (हटना) तो बडे पुण्यफल को (स्वर्ग को) देने वाली होती है॥५६॥

प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च।
चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः ॥५७॥

मैं चारों वर्णों की प्रेतशुद्धि को (मरणाशौच में शुद्धि को) और द्रव्यों की शुद्धि को भी क्रम से शास्त्रविधान के अनुसार बताऊँगा।

विशेष— मरणाशौच में शुद्धि के विषय में अपनी वेदशाखा के ग्रन्थ की व्यवस्था ही ग्राह्य होने की बात चौखम्बा विद्याभवन से प्रकाशित हमारे हिन्दी अनुवाद से युक्त गरुडपुराण-प्रेतकल्प की भूमिका में स्पष्ट की गई है, जिज्ञासु सज्जन उसको वहीं देखें। माध्यन्दिनीय-वाजसनेयि-शुक्लयजुर्वेदशाखाध्यायियों के लिए पालनीय पारस्करगृह्यसूत्रोक्त आशौचव्यवस्था का निरूपण सम्पूर्णानन्द-संस्कृतविश्वविद्यालय की अनुसन्धानपत्रिका सारस्वती सुषमा में (५२ वर्ष, ३-४ अङ्क, २०५४ संवत्) प्रकाशित हमारे निबन्ध में देखें॥५७॥

दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते।
अशुद्धा बान्धवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते ॥५८॥

अभी-अभी उत्पन्न दाँतों से युक्त बालक मरने पर, उस बालक से पीछे जन्मा हुआ बालक मरने पर, चूडाकरण संस्कार से युक्त बालक मरने पर (और उपनयन संस्कार से युक्त बालक मरने पर) भी सभी जाति वाले अशुद्ध होते हैं। जननाशौच में भी सभी जाति वाले अशुद्ध होने की बात कही जाती है॥५८॥

दशाऽहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते।
अर्वाक् सञ्चयनादस्थ्नां त्र्यहमेकाऽहमेव वा॥५९॥

शवपात से (मरण से) होने वाला आशौच सपिण्डों में दश दिन तक उपदिष्ट है, अथवा अस्थिसञ्चयन से इधर तक (चार दिन तक) ही उपदिष्ट है, अथवा तीन दिन तक उपदिष्ट है, अथवा एक दिन तक ही उपदिष्ट है॥५९॥

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते।
समानोदकभावस् तु जन्मनाम्नोरवेदने॥६०॥

सपिण्डता सातवीं पींढीं में निवृत्त हो जाती है, और समानोदकता (सोदकता) तो दो पक्षों के मूल पुरुष का जन्म और नाम अज्ञात होने पर निवृत्त होती है। [दो पक्षों का समान पूर्वज इतनी पींढियों से पहले जनमे थे और उनका नाम यह था, ऐसा ज्ञान नरहने पर ही समानोदकता निवृत्त होती है]॥६०॥

यथेदं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते।
जननेऽप्येवमेव स्यान् निपुणं शुद्धिमिच्छताम्॥६१॥

यह मरणाऽऽशौच सपिण्डों में जैसा विहित है अच्छी तरह शुद्धि चाहने वालों के लिए जननाऽऽशौच भी वैसा ही विहित है॥६१॥

सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस् तु सूतकम्।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः॥६२॥

मरणाऽऽशौच सभी सपिण्डों के लिए विहित है, जननाऽऽशौच तो माता-पिता के लिए ही विहित है, अथवा जननाऽऽशौच माता के लिए ही विहित है, जननाऽऽशौच में पिता तो स्नान करने पर शुद्ध हो जाता है॥६२॥

निरस्य तु पुमाञ् शुक्रमुपस्पृश्यैव शुध्यति।
बैजिकादभिसम्बन्धादनुरुन्ध्यादघं त्र्यहम्॥६३॥

पुरुष वीर्यपात करने पर स्नान करके ही शुद्ध होता है। परपूर्वा स्त्री में उत्पन्न पुत्रादि के मरण के आशौच का पिता बीजकृत सम्बन्ध के कारण से तीन दिन तक पालन करे॥६३॥

अह्ना चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः।
शवस्पृशो विशुध्यन्ति त्र्यहादुदकदायिनः॥६४॥

शव को छूने वाले अग्नि-वेदसमन्वितादि सपिण्ड लोग एक दिन से और रात से तथा तीन गुने तीन रातों से (अर्थात् दश दिनों से) शुद्ध होते हैं, शव को छूने वाले सोदक लोग तो तीन दिनों से शुद्ध होते हैं॥६४॥

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस् तु पितृमेधं समाचरन्।
प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुध्यति॥६५॥

मृत असपिण्ड गुरु का और्ध्वदेहिक कर्म (अन्त्येष्टि) करता हुआ शिष्य तो उसमें शव ढोने वालों के साथ दश दिनों में शुद्ध होता है॥६५॥

रात्रिभिर् मासतुल्याभिर् गर्भस्रावे विशुध्यति।
रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला॥६६॥

गर्भस्राव होने पर जितने मास का गर्भ था उतने दिन में माता शुद्ध होती है। रजस्वला स्त्री रज निवृत्त होने पर स्नान करने से साध्वी (शुद्ध) होती है॥६६॥

नृणामकृतचूडानां विशुद्धिर् नैशिकी स्मृता।
निर्वृत्तचूडकानां तु त्रिरात्राच् छुद्धिरिष्यते॥६७॥

चूडाकरण संस्कार से रहित मनुष्यों (बालकों) के मरण में एक दिन बीतने पर शुद्धि होती है। चूडाकरण संस्कार से युक्त मनुष्यों के मरण में तीन दिन बीतने पर शुद्धि होती है॥६७॥

ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर् बान्धवा बहिः।
अलङ्कृत्य शुचौ भूमावस्थिसञ्चयनादृते॥६८॥

दो वर्ष से न्यून अवस्था वाले मरे हुए मनुष्य (बालक) को अलङ्कृत करके बान्धव लोग गाँव से बाहर अस्थिसञ्चयन के विना शुद्ध भूमि में रख दें (गाड़ दें)॥६८॥

नाऽस्य कार्योऽग्निसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया।
अरण्ये काष्ठवत् त्यक्त्वा क्षपेत त्र्यहमेव च॥६९॥

इसका अग्निसंस्कार (दाह) नहीं किया जाना चाहिए, इसकी उदकक्रिया (जलाञ्जलि देने की क्रिया) भी नहीं की जानी चाहिए। इसको जङ्गल में काष्ठ की तरह छोडकर तीन दिन वेदाध्ययनादि धर्मकर्म के विना ही बिताएँ॥६९॥

नाऽत्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया।
जातदन्तस्य वा कुर्युर् नाम्नि वाऽपि कृते सति ॥७०॥

तीन वर्षों की आयु को पूर्ण नहीं करने वाले मरे हुए मनुष्य (बालक) का बान्धवों से उदकक्रिया (और्ध्वदेहिक क्रिया) नहीं की जानी चाहिए। अथवा दाँत उत्पन्न होने पर मरने वाले की उदकक्रिया करें। अथवा नामकरण संस्कार किए जाने पर मरने वाले मनुष्य की भी उदकक्रिया करें॥७०॥

सब्रह्मचारिण्येकाऽहमतीते क्षपणं स्मृतम्।
जन्मन्येकोदकानां तु त्रिरात्राच् छुद्धिरिष्यते ॥७१॥

वैध वेदाध्ययन में सहपाठी रहे हुए मनुष्य के बीतने (मरने) पर एक दिन आशौच समझा गया है। सोदकों के जन्म में तो तीन दिन बीतने पर शुद्धि इष्ट है॥७१॥

स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहाच् छुध्यन्ति बान्धवाः।
यथोक्तेनैव कल्पेन शुध्यन्ति तु सनाभयः ॥७२॥

विवाहसंस्कार से रहित स्त्रियों का वाग्दान होने के बाद मरण होने पर बान्धव (पतिपक्ष के लोग) तीन दिन बीतने पर शुद्ध होते हैं, सनाभि (पितृपक्ष के लोग) भी जैसा कहा गया है उसी विधि से (तीन दिन बीतने पर) ही शुद्ध होते हैं॥७२॥

अक्षारलवणाऽन्नाः स्युर् निमज्जेयुश् च ते त्र्यहम्।
मांसाऽशनं च नाऽश्नीयुः शयीरंश् च पृथक् क्षितौ ॥७३॥

मरणाऽऽशौच में लोग कृत्रिम नमक से रहित अन्न खाने वाले होकर रहें, तीन दिन तक विशेष रूप में स्नान करें, मांससहित अन्न न खाएँ और भूमि पर बिछाए गए कम्बल पुआल इत्यादि में अलग-अलग सोएँ॥७३॥

सन्निधावेष वै कल्पः शावाऽशौचस्य कीर्तितः।
असन्निधावयं ज्ञेयो विधिः सम्बन्धिबान्धवैः ॥७४॥

अपने समीप में मरने पर यह मरणाशौर्च का विधान बताया गया है। दूर देश में मरने पर सम्बन्धियों को और बान्धवों को यह (आगे बताया हुआ) विधान जानना चाहिए॥७४॥

विगतं तु विदेशस्थं शृणुयाद् यो ह्यनिर्दशम्।
यच् छेषं दशरात्रस्य तावदेवाऽशुचिर् भवेत् ॥७५॥

जो परदेश में मरे हुए बान्धव को दश दिन बीतने से पहले ही सुने वह दश दिनों में जितने दिन बाँकी हैं उतने दिन तक ही अशुद्ध होगा॥७५॥

अतिक्रान्ते दशाहे च त्रिरात्रमशुचिर् भवेत्।
संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवाऽऽपो विशुध्यति॥७६॥

जो परदेश में मरे हुए बान्धव को दश दिन बीतने पर सुने वह केवल तीन दिन तक ही अशुद्ध होगा, मास-पक्ष-तिथिबद्ध एक वर्ष बीतने पर जो सुने वह तो केवल स्नान करके ही शुद्ध होता है॥७६॥

निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च।
सवासा जलमाप्लुत्य शुद्धो भवति मानवः॥७७॥

दश दिन बीतने पर सपिण्ड बान्धव के मरण को अथवा पुत्र के जन्म को सुनकर मनुष्य वस्त्रसहित स्नान करके शुद्ध (स्पर्शयोग्य) होता है॥७७॥

बाले देशान्तरस्थे च पृथक्पिण्डे च संस्थिते।
सवासा जलमाप्लुत्य सद्य एव विशुध्यति॥७८॥

बालक मरने पर, विदेशस्थ सपिण्ड मरने पर, और असपिण्ड (समानोदक) जाति वाला मरने पर भी मनुष्य वस्त्रसहित स्नान करके तत्काल शुद्ध होता है॥७८॥

अन्तर्दशाऽहे स्यातां चेत् पुनर् मरणजन्मनी।
तावत् स्यादशुचिर् विप्रो यावत् तत् स्यादनिर्दशम्॥७९॥

पूर्व मरणाऽऽशौच के और पूर्व जननाऽऽशौच के दश दिन के अन्दर ही यदि दूसरा मरण अथवा दूसरा जन्म होता है तो जब तक पूर्व आशौच के दश दिन नहीं बीतते हैं तब तक ही ब्राह्मण अशुद्ध रहेगा॥७९॥

त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति।
तस्य पुत्रे च पत्न्यां च दिवारात्रमिति स्थितिः॥८०॥

आचार्य दिवङ्गत होने पर शिष्य को तीन दिन तक आशौच रहने की बात मुनि लोग बताते हैं, उनका (आचार्य का) पुत्र अथवा पत्नी दिवङ्गत होने पर शिष्य को एक अहोरात्र आशौच रहता है, यह शास्त्रव्यवस्था है॥८०॥

श्रोत्रिये तूपसम्पन्ने त्रिरात्रमशुचिर् भवेत्।
मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यर्त्विग्बान्धवेषु च॥८१॥

समीप में रहने वाला वेदाध्यायी मरने पर मनुष्य तीन दिन तक अशुद्ध होगा। मामा मरने पर मनुष्य पक्षिणी रात्रि तक (दिन+रात+दिन तक अथवा रात+दिन+रात तक) अशुद्ध होगा। शिष्य अथवा ऋत्विक् अथवा कोई बान्धव मरने पर भी पक्षिणी रात्रि तक अशुद्ध होगा॥८१॥

प्रेते राजनि सज्योतिर् यस्य स्याद् विषये स्थितः।
अश्रोत्रिये त्वहः कृत्स्नमनूचाने तथा गुरौ॥८२॥

जिस अभिषिक्त क्षत्रिय राजा के राज्य में निवास किया है उस राजा के मरने पर सज्योति (दिन में मरने पर सूर्यज्योति रहने तक और रात में मरने पर नक्षत्रज्योति रहने तक) अशुद्ध होगा। समीप में रहने वाले वेद नित्य न पढ़ने वाले वेद-वेदाङ्ग के व्याख्याता के मरने पर और वेदाङ्गादि के अध्यापक अथवा लौकिक ज्ञान के दाता गुरु के मरने पर भी पूरा एक दिन अथवा एक रात अशुद्ध होगा।

विशेष— यहाँ पर अनूचानशब्द वेद-वेदाङ्ग के अध्यापक का वाचक अवगत होता है॥८२॥

शुध्येद् विप्रो दशाऽहेन द्वादशाऽहेन भूमिपः।
वैश्यः पञ्चदशाऽहेन शूद्रो मासेन शुध्यति॥८३॥

ब्राह्मण दश दिन में शुद्ध होगा, क्षत्रिय बारह दिन में शुद्ध होगा, वैश्य पन्द्रह दिन में शुद्ध होगा, शूद्र एक महीने में शुद्ध होता है॥८३॥

न वर्धयेदघाऽहानि प्रत्यूहेन् नाऽग्निषु क्रियाः।
न च तत् कर्म कुर्वाणः सनाभ्योऽप्यशुचिर् भवेत्॥८४॥

आशौच के दिनों को न बढाए, अग्नियों में की जाने वाली क्रियाओं में विघ्न न करे, अग्निकार्य करता हुआ सपिण्ड भी अशुद्ध नहीं होगा॥८४॥

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा।
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यति॥८५॥

चण्डाल को, रजस्वला स्त्री को, पतित को, सूतिका स्त्री को, शव को और शव छूने वाले को भी छूकर स्नान करने से शुद्ध होता है॥८५॥

आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने।
सौरान् मन्त्रान् यथोत्साहं पावमानीश् च शक्तितः॥८६॥

चाण्डालादि अशुचि पदार्थों को देखने पर आचमन करके शुद्ध होकर अपने उत्साह के अनुसार यथाशक्ति सूर्य देवता वाले मन्त्रों का और पावमानी ऋचाओं का भी जप करे॥८६॥

नारं स्पृष्ट्वाऽस्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुध्यति।
आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्याऽर्कमीक्ष्य वा॥८७॥

भीतर की गूदा न सूखने तक की मनुष्य की हड्डी को छूकर ब्राह्मण स्नान करके शुद्ध होता है, भीतर की गूदा सूखने के बाद की मनुष्य की हड्डी को छूकर तो केवल आचमन से अथवा गौ का स्पर्श करने से अथवा सूर्य को निहारने से शुद्ध होता है॥८७॥

आदिष्टी नोदकं कुर्यादा व्रतस्य समापनात्।
समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रेणैव शुध्यति॥८८॥

व्रतादेशनं से युक्त मनुष्य (ब्रह्मचारी) व्रत की समाप्ति न होने तक मृत बन्धु को जलाञ्जलि न दे। ब्रह्मचर्य-व्रत समाप्त होने पर तो उदक देने पर तीन दिन ही आशौच में रहकर शुद्ध हो जाता है॥८८॥

वृथासङ्करजातानां प्रव्रज्यासु च तिष्ठताम्।
आत्मनस् त्यागिनां चैव निवर्तेतोदकक्रिया॥८९॥

अवैध वर्णसङ्कर के रूप में जन्मे हुए लोगों का, नाना प्रकार की शैव-पाशुपत-शाक्त-सात्त्वत-जैन-बौद्धादि मत के सन्न्यास में रहने वालों का, अशास्त्रीय रीति से स्वेच्छा से जीवित का त्याग (आत्महत्या) करने वालों का भी द्विजातियों से दाह, उदकदान इत्यादि अन्त्येष्टि नहीं होगी॥८९॥

पाषण्डमाश्रितानां च चरन्तीनां च कामतः।
गर्भभर्तृद्रुहां चैव सुरापीनां च योषिताम्॥९०॥

पाखण्ड का (वेदविरुद्ध धर्म का) आश्रय लेने वाली स्त्रियों का, स्वेच्छा से (वैध विवाह के विना ही) पुरुष से जाने वाली स्त्रियों का, गर्भपतन कराने वाली स्त्रियों का, पति का वध करने वाली स्त्रियों का और सुरापान करने वाली द्विजाति स्त्रियों का भी दाह, उदकदान इत्यादि अन्त्येष्टि नहीं होगी॥९०॥

आचार्यं स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम्।
निर्हृत्य तु व्रती प्रेतान् न व्रतेन वियुज्यते॥९१॥

अपने आचार्य के शव को, अपने उपाध्याय के शव को, पिता के शव को, माता के शव को और गुरु के शव को भी ढोने पर भी ब्रह्मचर्यव्रत में रहता हुआ मनुष्य अपने ब्रह्मचर्यव्रत से भ्रष्ट नहीं होता है॥९१॥

दक्षिणेन मृतं शूद्रं पुरद्वारेण निर्हरेत्।
पश्चिमोत्तरपूर्वैस् तु यथायोगं द्विजन्मनः॥९२॥

मरे हुए शूद्र को नगर के दक्षिण द्वार से निकाले, मरे हुए वैश्य को, क्षत्रिय को और ब्राह्मण को क्रम से नगर के पश्चिम द्वार से, उत्तर द्वार से और पूर्व द्वार से निकाले॥९२॥

न राज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सत्रिणाम्।
ऐन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूता हि ते सदा॥९३॥

राजाओं को मरणाऽऽशौच का दोष नहीं लगता है, व्रत में रहते हुए मनुष्यों को और सत्रयाग में दीक्षित लोगों को भी मरणाऽऽशौच का दोष नहीं लगता है, क्योंकि वे इन्द्रपद में स्थित और सदा ब्रह्मरूप में वर्तमान रहते हैं॥९३॥

राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यः शौचं विधीयते।
प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चाऽत्र कारणम्॥९४॥

माहात्म्ययुक्त राजपद में रहने वाले राजा का प्रजा की रक्षा के लिए तत्काल शुद्धि उपदिष्ट है। इसमें राजा का आसन (पद) ही कारण है॥९४॥

डिम्भाऽऽहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च।
गोब्राह्मणस्य चैवाऽर्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः॥९५॥

राष्ट्रक्षोभादिमूलक विप्लव में मारे जाने वालों के, बिजली गिरने से मारे जाने वालों के, राजा से मारे जाने वालों के, गौ की रक्षा के लिए प्रयत्न करने पर मारे जाने वालों के और ब्राह्मण की रक्षा के लिए प्रयत्न करने पर मारे जाने वालों के भी मरण से होने वाले आशौच की सभी बन्धुबान्धवों के लिए तत्काल शुद्धि होती है। अपने कार्य के अविघात के लिए राजा जिस की (पुरोहितादि की) तत्काल शुद्धि चाहता है उसकी भी मरणाऽऽशौच से तत्काल शुद्धि होती है॥९५॥

सोमाऽग्न्यर्काऽनिलेन्द्राणां वित्ताऽप्पत्योर् यमस्य च।
अष्टानां लोकपालानां वपुर् धारयते नृपः॥९६॥

जनों का रक्षक (राजा) सोम के, अग्नि के, सूर्य के, वायु के, इन्द्र के, धनपति के (कुबेर के), जलपति के (वरुण के) और यम के, इन आठ लोकपालों के शरीर को (रूप को) धारण करता है [इस विषय का प्रतिपादन राजधर्म के प्रकरण में (मनु.७।३–७) भी किया गया है]॥९६॥

लोकेशाऽधिष्ठितो राजा नाऽस्याऽशौचं विधीयते।
शौचाऽशौचं हि मर्त्यानां लोकेशप्रभवाऽप्ययम्॥९७॥

राजा उक्त लोकपालों से नियन्त्रित है, इसका (राजा का) आशौच नहीं बताया जाता है, क्योंकि मनुष्यों का जो शौच और आशौच है वह लोकपालों से ही उत्पन्न होने वाला और नष्ट होने वाला है॥९७॥

उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च।
सद्यः सन्तिष्ठते यज्ञस् तथाऽशौचमिति स्थितिः ॥९८॥

युद्ध में उठाए गए शस्त्रों से क्षत्रियधर्म के अनुसार मारे गए मनुष्य का भी तत्काल यज्ञ पूर्ण होता है (यज्ञफल प्राप्त होता है) और आशौच भी तत्काल समाप्त होता है, यह शास्त्र की व्यवस्था है॥९८॥

विप्रः शुध्यत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियो वाहनाऽऽयुधम्।
वैश्यः प्रतोदं रश्मीन् वा यष्टिं शूद्रः कृतक्रियः ॥९९॥

और्ध्वदेहिक कृत्य समाप्त करने वाला ब्राह्मण दाहिने हाथ से जल का स्पर्श करने से शुद्ध होता है, क्षत्रिय वाहन का और शस्त्राऽस्त्र का स्पर्श करने से शुद्ध होता है, वैश्य चाबुक का अथवा रास का (बाग का) स्पर्श करने से शुद्ध होता है, शूद्र लाठी का स्पर्श करने से शुद्ध होता है॥९९॥

एतद् वोऽभिहितं शौचं सपिण्डेषु द्विजोत्तमाः।
असपिण्डेषु सर्वेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत ॥१००॥

हे ब्राह्मणों, सपिण्डों के (सात पुरुष तक के जाति वालों के) विषय में यह शौच आप लोगों को बताया गया, (अब) सभी असपिण्डों के विषय में मरणाऽऽशौच की शुद्धि को जानिए॥१००॥

असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत्।
विशुध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश् च बान्धवान् ॥१०१॥

मरे हुए असपिण्ड ब्राह्मण के शव को बन्धु की तरह ढोकर ब्राह्मण तीन दिन आशौच में रहकर शुद्ध होता है। माता के नजदीक के भाई बहन इत्यादि बान्धवों के शव को ढोकर भी ब्राह्मण (उनका अन्न नहीं खाता हुआ भी एक ही घर में रहने पर) तीन दिन आशौच में रहकर शुद्ध होता है॥१०१॥

यद्यन्नमत्ति तेषां तु दशाऽहेनैव शुध्यति।
अनदन्नन्नमह्नैव न चेत् तस्मिन् गृहे वसेत् ॥१०२॥

यदि उनका (आशौची का) अन्न खाता है तो दश दिन तक आशौच में रहकर ही शुद्ध होता है, और यदि उनके घर में नहीं रहता है तो उनका अन्न न खाता हुआ उनके शव को ढोने वाला ब्राह्मण एक दिन ही आशौच में रहकर शुद्ध होता है॥१०२॥

अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च।
स्नात्वा सचैलः स्पृष्ट्वाऽग्निं घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥१०३॥

जाति वाले के अथवा भिन्न जाति वाले के शव का स्वेच्छा से अनुगमन करने पर ब्राह्मण वस्त्रसहित स्नान करके अग्नि को छूकर और घी खाकर शुद्ध होता है॥१०३॥

न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण नाययेत्।
अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच् छूद्रसंस्पर्शदूषिता ॥१०४॥

मरने वाले के बान्धव लोग उपस्थित रहने पर मरे हुए ब्राह्मण के शव को शूद्र द्वारा श्मशान को न लेजाए, क्योंकि शूद्र के स्पर्श से दूषित उस शव की अग्नि में की गई आहुति स्वर्गप्राप्ति के लिए योग्य नहीं होगी॥१०४॥

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन् मनो वार्युपाऽञ्जनम्।
वायुः कर्माऽर्क-कालौ च शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम् ॥१०५॥

ज्ञान, तपस्या, अग्नि, आहार, मिट्टी, मन, पानी, उपलेपन, वायु, कर्म, सूर्य और काल ये अशुद्ध प्राणियों के लिए शुद्धि के कारण होते हैं॥१०५॥

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर् हि स शुचिर् न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥१०६॥

सभी प्रकार के शौचों में धन का शौच (धनोपार्जन के उपाय का शुद्धत्व) बडा समझा गया है। जो धन में शुद्ध है वही शुद्ध है, केवल मिट्टी से और पानी से शरीर की शुद्धि करने वाला मनुष्य शुद्ध नहीं है॥१०६॥

क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसो दानेनाऽकार्यकारिणः।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥१०७॥

विद्वान् क्षमा से शुद्ध होते हैं, पाप करने वाले दान से शुद्ध होते हैं, गुप्त रूप में किए गए पापों से युक्त द्विजाति वेदाध्ययन से (वेदमन्त्रों के जप से) शुद्ध होते हैं, वेद के परमार्थ को जामने वाले लोग तपस्या से शुद्ध होते हैं॥१०७॥

मृत्तोयैः शुध्यते शोध्यं नदी वेगेन शुध्यति।
रजसा स्त्री मनोदुष्टा सन्न्यासेन द्विजोत्तमः ॥१०८॥

शुद्ध करने योग्य पात्र इत्यादि वस्तु मिट्टी और पानी से शुद्ध होता है, नदी वेग से (वहने से) शुद्ध होती है, परपुरुष-मैथुन के सङ्कल्प से दूषित स्त्री रजोदर्शन से शुद्ध होती है, ब्राह्मण सन्न्यास से शुद्ध होता है॥१०८॥

अद्भिर् गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूताऽऽत्मा बुद्धिर् ज्ञानेन शुध्यति ॥१०९॥

शरीर के अङ्ग पानी से शुद्ध होते हैं, मन सत्य के अवलम्बन से शुद्ध होता है, जीवात्मा ब्रह्मविद्या से और तपस्या से शुद्ध होता है, बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है।।१०९।।

एष शौचस्य वः प्रोक्तः शारीरस्य विनिर्णयः।
नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृणुत निर्णयम्।।११०।।

यह शरीर के शौच का निर्णय आप लोगों को बताया गया। नाना प्रकार के द्रव्यों की शुद्धि का निर्णय सुनिए।।११०।।

तैजसानां मणीनां च सर्वस्याऽश्ममयस्य च।
भस्मनाऽद्भिर् मृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः।।१११।।

तैजस पात्रों का (ताँबा, पीतल, काँसा इत्यादि धातुओं के पात्रों का) स्फटिकादि मणियों के पात्रों का, सभी प्रकार के पत्थर के वस्तुओं का भी राख से, पानी से और मिट्टी से भी शुद्धि होने की बात विचारशील मुनियों ने बताई है।।१११।।

निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भिरेव विशुध्यति।
अब्जमश्ममयं चैव राजतं चाऽनुपस्कृतम्।।११२।।

अमेध्य वस्तु के अथवा उच्छिष्ट के लेप से रहित सोने का वर्तन केवल पानी से ही शुद्ध होता है। वैसा ही शङ्ख शुक्ति इत्यादि जल से उत्पन्न वस्तुओं का वर्तन, पत्थर का वर्तन और फूल-बूटा इत्यादि से रहित चाँदी का वर्तन भी केवल पानी से शुद्ध होता है।।११२।।

अपामग्नेश् च संयोगाद् धेम रूप्यं च निर्बभौ।
तस्मात् तयोः स्वयोन्यैव निर्णेको गुणवत्तरः।।११३।।

पानी के और अग्नि के संयोग से सोने का विकार और चाँदी का विकार भी निकल आया है। उस कारण उनका अपने कारण से ही शोधन अधिक गुणवान् (उत्तम) होता है।।११३।।

ताम्राऽयःकांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च।
शौचं यथाऽर्हं कर्तव्यं क्षाराऽम्लोदकवारिभिः।।११४।।

ताँबे के, लोहे के, काँसे के, पीतल के, राँगे के और सीसे के वर्तन इत्यादि वस्तुओं का भी शौच यथायोग्य रूप में क्षार से (राख से) अम्लजल से और जल से करना चाहिए।।११४।।

द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिरुत्पवनं स्मृतम्।
प्रोक्षणं संहतानां च दारवाणां च तक्षणम्।।११५।।

सभी द्रव (तरल) पदार्थों का उत्पवन (कुश के पवित्र से उसके कुछ बिन्दुओं को उछालने का कार्य) ही शोधन करने वाला समझा गया है। परस्पर में सटे हुए पदार्थों का प्रोक्षण (जलकणों से सेचन) ही शोधन करने वाला समझा गया है, काष्ठ के पदार्थों का थोडा-थोडा छीलना ही शोधन करने वाला समझा गया है॥११५॥

मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि।
चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु॥११६॥

यज्ञ के कामों में यज्ञपात्रों का ब्राह्मण के हाथों से मलना ही शोधन करने वाला समझा गया है। यज्ञपात्रों में से चमसों का और ग्रहों का तो (उष्ण जल से) धोने से शुद्धि होती है॥११६॥

चरूणां स्रुक्स्रुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा।
स्फ्यशूर्पशकटानां च मुसलोलूखलस्य च॥११७॥

पाकस्थालियों की, स्रुचों की, स्रुवों की, स्फ्य (काष्ठ का खड्ग) की, शूर्प की, शकट की, मूसल की और ओखली की भी गर्म पानी से धोने से यज्ञ के कामों के लिए शुद्धि होती है॥११७॥

अद्भिस् तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम्।
प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते॥११८॥

बहुत से धान्यों का और वस्त्रों का जलकणों से सेचन ही शोधन करने वाला होता है, थोडे से धान्यों का और वस्त्रों का तो पानी से धोने से शोधन होने की बात उपदिष्ट है॥११८॥

चैलवच् चर्मणां शुद्धिर् वैदलानां तथैव च।
शाकमूलफलानां च धान्यवच् छुद्धिरिष्यते॥११९॥

चमडों की और बाँस वेत इत्यादि को चीरकर बनाई गई सामग्री से बनाए गए पदार्थों की (वंशपात्रादि की) भी वस्त्रों की शुद्धि की तरह ही शुद्धि होती है। शाकों की, मूलों की और फलों की भी शुद्धि धान्यों की तरह ही इष्ट मानी गई है॥११९॥

कौशेयाऽऽविकयोरूषैः कुतपानामरिष्टकैः।
श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः॥१२०॥

रेशमी वस्त्रों की और भेड के रोमों के वस्त्रों की खारी मिट्टी से शुद्धि की जानी चाहिए, नेपाल-कम्बलों की रीठों से शुद्धि की जानी चाहिए, पट्टवस्त्रों की (सन इत्यादि के छाल से बने वस्त्रों की) बेल के फल से शुद्धि की जानी चाहिए,

क्षौमवस्त्रों की (आलसी के छाल से बने वस्त्रों की) पीले सरसों के कल्क से शुद्धि की जानी चाहिए।।१२०।।

क्षौमवच् छङ्खशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च।
शुद्धिर् विजानता कार्या गोमूत्रेणोदकेन वा ।।१२१।।

शङ्खों की और (गवयादि के) सींगो की तथा (हाथी की) हड्डी से अथवा दाँत से बने हुए पदार्थों की भी शुद्धि क्षौमवस्त्र की तरह ही की जानी चाहिए। अथवा उक्त पदार्थों की शुद्धि विज्ञ जनों से गोमूत्र से या जल से की जानी चाहिए।।१२१।।

प्रोक्षणात् तृणकाष्ठं च पलालं चैव शुध्यति।
मार्जनोपाऽञ्जनैर् वेश्म पुनःपाकेन मृन्मयम् ।।१२२।।

घास, लकडी और पुआल भी जलकणों से सेचन करने से शुद्ध होता है। बुहारने से और लीपने से घर शुद्ध होता है। मिट्टी से बना हुआ घट-शरावादि (घडा, मिट्टी का तौला इत्यादि) पदार्थ आग में फिर पकाने से शुद्ध होता है।।१२२।।

मद्यैर् मूत्रैः पुरीषैर् वा ष्ठीवनैः पूय-शोणितैः।
संस्पृष्टं नैव शुध्येत पुनःपाकेन मृन्मयम् ।।१२३।।

मद्यों से, मूत्रों से, विष्ठाओं से, थूक से अथवा खखार से, पीव से और लहू से संयोग होने पर मिट्टी का वर्तन फिर आग में पकाने से भी शुद्ध नहीं होगा।।१२३।।

सम्मार्जनोपाऽञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च।
गवां च परिवासेन भूमिः शुध्यति पञ्चभिः ।।१२४।।

बुहारने से, लीपने से, सेचन से, खरोचने से और गायों का एक अहोरात्र निवास से इन पाँच कार्यों से भूमि शुद्ध होती है।।१२४।।

पक्षिजग्धं गवाऽघ्रातमवधूतमवक्षुतम्।
दूषितं केशकीटैश् च मृत्प्रक्षेपेण शुध्यति ।।१२५।।

पक्षी से खाया गया पदार्थ, गौ से सूँघा गया पदार्थ, अशुद्ध वस्तु से हवा दिया गया पदार्थ, ऊपर छींकने से दूषित पदार्थ, केशों से दूषित पदार्थ, कीडों से दूषित पदार्थ भी उसमें कुछ शुद्ध मिट्टी डाल देने से शुद्ध हो जाता है।।१२५।।

यावन् नाऽपैत्यमेध्याऽक्ताद् गन्धो लेपश् च तत्कृतः।
तावन् मृद्वारि चाऽऽदेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ।।१२६।।

सभी प्रकार की द्रव्यशुद्धियों में विष्ठा इत्यादि अशुचि पदार्थों से लिप्त वस्तु से विष्ठा इत्यादि से किया गया गन्ध और लेप जब तक न चला जाता है, तब तक मिट्टी और पानी सभी ओर देता रहना चाहिए।।१२६।।

त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन्।
अदृष्टमद्भिर् निर्णिक्तं यच् च वाचा प्रशस्यते ।।१२७।।

जिस में अशुद्धि नहीं देखी गई है ऐसा पदार्थ, अशुद्धि की आशङ्का होने पर जल से धोया गया पदार्थ, अशुद्धि की शङ्का होने पर ब्राह्मण के वचन से शुद्ध बताया गया पदार्थ इन तीन प्रकार के पदार्थों को ब्राह्मणों के लिए देवताओं ने पवित्र बनाया है।।१२७।।

आपः शुद्धा भूमिगता वैतृष्ण्यं यासु गोर् भवेत्।
अव्याप्ताश् चेदमेध्येन गन्धवर्णरसाऽन्विताः ।।१२८।।

यदि अशुचि पदार्थों से दूषित नहीं है और स्वाभाविक गन्ध से, रूप से और रस से (स्वाद से) युक्त है तो भूमि में रहा हुआ (कम से कम) उतने परिमाण का जल जितने से एक गाय की प्यास दूर हो सकती है, शुद्ध माना जाता है।।१२८।।

नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्ये यच् च प्रसारितम्।
ब्रह्मचारिगतं भैक्षं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः ।।१२९।।

कारीगर का हाथ (अमेध्य वस्तु से लिप्त न होने पर) सर्वदा शुद्ध माना जाता है, जो बाजार में फैलाया गया विक्रेय पदार्थ है वह भी सर्वदा शुद्ध माना जाता है, ब्रह्मचारी को प्राप्त भिक्षा का अन्न भी सर्वदा शुद्ध माना जाता है, यह शास्त्र की निश्चित व्यवस्था है।।१२९।।

नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणां शकुनिः फलपातने।
प्रस्रवे च शुचिर् वत्सः श्वा मृगग्रहणे शुचिः ।।१३०।।

स्त्रियों का मुख सर्वदा शुद्ध माना जाता है, वृक्ष से फल को गिराने में काकादि पक्षी शुद्ध माना जाता है, पेन्हाने में बछडा सर्वदा शुद्ध माना जाता है, मृगों को पकडने में कुत्ता सर्वदा शुद्ध माना जाता है।।१३०।।

श्वभिर् हतस्य यन् मांसं शुचि तन् मनुरब्रवीत्।
क्रव्याद्भिश् च हतस्याऽन्यैश् चण्डालाद्यैश् च दस्युभिः ।।१३१।।

कुत्तों से मारे गए मृगादि का जो मांस है उसको मनु ने शुद्ध बताया। कच्चे मांस को खाने वाले चीता, बाघ इत्यादि से मारे गए मृगादि के जो मांस है उसको भी

मनु ने शुद्ध बताया। अन्य चण्डाल इत्यादि दस्युओं से मारे गए मृगादि के जो मांस है उसको भी मनु ने शुद्ध बताया॥१३१॥

ऊर्ध्वं नाभेर् यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः।
यान्यधस् तान्यमेध्यानि देहाच् चैव मलाश् च्युताः॥१३२॥

द्विजाति के शरीर के नाभि से ऊपर के जो मुख नाक इत्यादि छिद्र हैं वे शुद्ध हैं, जो नाभि से नीचे वाले मलमार्गादि छिद्र हैं वे अशुद्ध हैं, देह से गिरे हुए पसीना, थूक, खखार, विष्ठा, मूत्र इत्यादि मल भी अशुद्ध हैं॥१३२॥

मक्षिका विप्रुषश् छाया गौरश्वः सूर्यरश्मयः।
रजो भूर् वायुरग्निश् च स्पर्शे मेध्यानि निर्दिशेत्॥१३३॥

मक्खी, मुख से निकले हुए छींटे, छाया, गौ, घोडा, सूर्य के किरण, धूलि, भूमि, वायु और अग्नि इन सब को छूने के लिए शुद्ध बताए॥१३३॥

विण्मूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थं मृद्वार्यादेयमर्थवत्।
दैहिकानां मलानां च शुद्धिषु द्वादशस्वपि॥१३४॥

मलत्याग से और मूत्रत्याग से होने वाली अशुद्धि की शुद्धि के लिए कार्य सम्पन्न करने के लिए पर्याप्त मिट्टी और पानी लेना चाहिए। देह से निकलने वाले बारह प्रकार के मलों (मनु.५।१३५) के सम्पर्क से होने वाली अशुद्धियों की बारह प्रकार की ही शुद्धियों के लिए भी कार्य सम्पन्न करने के लिए पर्याप्त मिट्टी और पानी लेना चाहिए॥१३४॥

वसा शुक्रमसृङ् मज्जा मूत्रं विड् घ्राणकर्णविट्।
श्लेष्माऽश्रु दूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः॥१३५॥

चर्बी, वीर्य, लहू, हड्डी का गूदा, मूत्र, विष्ठा, सिङ्घाण (नकटी), कान का मैल, खखार, आँसू, आँखों का कीचड, पसीना ये बारह मनुष्यों के मल हैं॥१३५॥

एका लिङ्गे गुदे तिस्रस् तथैकत्र करे दश।
उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता॥१३६॥

अच्छी शुद्धि चाहने वाले को लिङ्ग में एक वार, गुदा में तीन वार, और एक हाथ में (मल हटाने वाले बाएँ हाथ में) दश वार, और दोनों हाथों में सात वार मिट्टी देनी चाहिए॥१३६॥

एतच् छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम्।
त्रिगुणं स्याद् वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम्॥१३७॥

यह शौच गृहस्थों के लिए होगा, (नैष्ठिक) ब्रह्मचारियों के लिए इसका द्विगुण (दूना) शौच होगा, वानप्रस्थों के लिए इसका तिगुना शौच होगा, सन्यासियों के लिए इसका चौगुना शौच होगा॥१३७॥

कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा खान्याचान्त उपस्पृशेत्।
वेदमध्येष्यमाणश् च अन्नमश्नंश् च सर्वदा॥१३८॥

मूत्रत्याग करके अथवा मलत्याग करके आचमन करने पर (शिर के) इन्द्रियच्छिद्रों को (जलयुक्त) हाथ से छूए। वेद पढ़ने के लिए अथवा अन्न खाने के लिए आचमन करने पर भी (शिर के) इन्द्रियच्छिद्रों को (जलयुक्त) हाथ से छूए॥१३८॥

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात् ततो मुखम्।
शारीरं शौचमिच्छन् हि स्त्री शूद्रस् तु सकृत्सकृत्॥१३९॥

शरीर की शुद्धि को चाहने वाला द्विजाति पहले तीन वार जल को चुल्लू में लेकर पीए, उसके बाद मुख को दो वार पोंछे। स्त्री और शूद्र तो पहले एक वार जल को चुल्लू में लेकर पीए और उसके बाद मुख को एक वार ही पोंछे॥१३९॥

शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्तिनाम्।
वैश्यवच् छौचकल्पश् च द्विजोच्छिष्टं च भोजनम्॥१४०॥

शास्त्रोक्त धर्म में रहने वाले (द्विजसेवक) शूद्रों का प्रतिमास मुण्डन करना चाहिए। शूद्र का आशौच का पालन वैश्य की तरह होना चाहिए। द्विजों के भोजन के बाद पाकभाण्ड में बचा हुआ अन्न शूद्र का भोजन होना चाहिए।

विशेष– यह सभी शूद्रों का नियम नहीं है। यह केवल ब्राह्मणों के घर में घरेलु सेवक के रूप में काम करने वाले शूद्रों का है। यहाँ उच्छिष्ट शब्द का अर्थ जूठा नहीं है, यहाँ केवल द्विजों के भोजन के बाद अवशिष्ट (बचे हुए) भोज्यपदार्थ को उच्छिष्ट कहा गया है। कर्मकर शूद्र को द्विजभोजन के बाद ही भोजन का अवसर देना कोई निन्दनीय विषय नहीं माना जा सकता है। रजनीकान्त शास्त्री इत्यादि का इस विषय में मनुस्मृति को दोष देना अविवेकपूर्ण कार्य है॥१४०॥

नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या विप्रुषोऽङ्गे पतन्ति याः।
न श्मश्रूणि गतान्यास्यं न दन्तान्तरधिष्ठितम्॥१४१॥

मुख से जो छोटी-छोटी बूंदें शरीर में पड़ती हैं वे मनुष्य को उच्छिष्ट नहीं करती हैं, मुख में पड़े हुए मूँछ के वाल भी उच्छिष्ट नहीं करते हैं, दाँतों के बीच में अटके हुए अन्नादि के कण भी उच्छिष्ट नहीं करते हैं॥१४१॥

स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ य आचामयतः परान्।
भौमिकैस् ते समा ज्ञेया न तैरप्रयतो भवेत्॥१४२॥

दूसरों को आचमन कराते हुए जो बूँदे आचमन कराने वाले के पैरों को छूते हैं वे बूँदे भूमि में पड़ी हुई बूँदों की तरह ही जाननी चाहिए, उन से मनुष्य अशुद्ध नहीं होगा॥१४२॥

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथञ्चन।
अनिधायैव तद् द्रव्यमाचान्तः शुचितामियात्॥१४३॥

हाथ में (शरीर में) किसी द्रव्य को (किसी प्रकार से) लेता हुआ मनुष्य दूसरे उच्छिष्ट मनुष्य से किसी प्रकार छूए जाने पर उस द्रव्य को भूमि में न रखकर ही आचमन करने से शुद्ध हो जाएगा॥१४३॥

वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत्।
आचामेदेव भुक्त्वाऽन्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम्॥१४४॥

वमन होने पर और विरेचन (ज्यादा दस्त) होने पर भी शुद्धि के लिए स्नान करके घी का प्राशन करे, अन्न खाकर तो शुद्धि के लिए केवल आचमन करे। मैथुन करने वाले की शुद्धि के लिए स्नान कर्तव्य समझा गया है॥१४४॥

सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्त्वाऽनृतानि च।
पीत्वाऽपोऽध्येष्यमाणश् च आचामेत् प्रयतोऽपि सन्॥१४५॥

सोकर, छींककर, अन्न खाकर, खखार निकाल कर, झूठ बोलकर, पानी पीकर और वेदाध्ययन करने को जा रहने पर तो शुद्ध ही रहने पर भी द्विजाति आचमन करे॥१४५॥

एष शौचविधिः कृत्स्नो द्रव्यशुद्धिस् तथैव च।
उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान् निबोधत॥१४६॥

यह सभी वर्णों के शौच का सम्पूर्ण विधान और द्रव्यों की शुद्धि का विधान भी आप लोगों को बताया गया। (अब) स्त्रियों के धर्मों को जानिए॥१४६॥

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वाऽपि योषिता।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित् कार्यं गृहेष्वपि॥१४७॥

बाला स्त्री से अथवा युवती स्त्री से अथवा वृद्धा स्त्री से भी घर में भी कोई भी काम स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं किया जाना चाहिए।

विशेष– मनुस्मृति के इस प्रकरण का स्त्रीधर्म मुख्यतया सर्वथा अविच्छेद्य धर्मविवाह में जुडने वाली ब्राह्मणियों के लिए उपदिष्ट है। नवम अध्याय का स्त्रीधर्म सभी स्त्रियों का साधारण धर्म है। अत एव ब्राह्मणसमाज की अनादि परम्परा को ध्यान में रखकर प्रवृत्त मनुस्मृति का यह उपदेश उच्च कुलीन विवाहित ब्राह्मणियों से स्वतः हृदय से स्वीकृत विषय होने से इस विषय को लेकर आधुनिक विचारों से मनुस्मृति को दिया गया दोष अविवेकमूलक है॥१४७॥

बाल्ये पितुर् वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्त्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम्॥१४८॥

स्त्री बचपन में पिता के अधीन में रहे, जवानी में पाणिग्रहण (शास्त्रोक्त विवाह) करने वाले पति के अधीन में रहे, पति दिवङ्गत होने पर (बुढापे में) पुत्त्रों के अधीन में रहे, स्त्री स्वतन्त्रता का उपभोग न करे।

विशेष– यह उपदेश ब्राह्मणियों के लिए व्यभिचार के सर्वथा परिहार के उपाय के रूप में किया गया है। स्त्रियों में स्वतन्त्रता से आत्मचरित्ररक्षा करने में प्रकृति से ही रहने वाले असामर्थ्य को ध्यान में रखकर यह उपदेश किया गया है। असुरक्षित होने पर स्त्रियाँ बलात्कृत भी हो सकती हैं। अतः आज भी स्त्रियों को विशेष सुरक्षा की आवश्यकता अनुभूत हो रही है। इसमें कोई अनौचित्य नहीं है॥१४८॥

पित्रा भर्त्रा सुतैर् वाऽपि नेच्छेद् विरहमात्मनः।
एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले॥१४९॥

स्त्री पिता से अथवा पति से अथवा पुत्त्रों से भी अपना वियोग (स्वतन्त्रता) न चाहे (इन में से किसी न किसी के साथ में रहे), क्योंकि इन में से किसी के भी साथ में न रहने से स्त्री पितृकुल और पतिकुल दोनों ही कुलों को निन्दनीय बना सकती है॥१४९॥

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्ये च दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चाऽमुक्तहस्तया॥१५०॥

स्त्री को सर्वदा प्रसन्न रहना चाहिए, घर के कामों में उद्यमशील (जागरूक) रहना चाहिए, घर के उपकरणों को स्वच्छ रखने वाली होना चाहिए और व्यय में (खर्चे में) मुट्ठी ज्यादा नहीं खोलने वाली (ज्यादा खर्च नहीं करने वाली) होना चाहिए॥१५०॥

यस्मै दद्यात् पिता त्वेनां भ्राता वाऽनुमते पितुः।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत॥१५१॥

पिता इसको (स्त्री को) जिसे देगा, अथवा पिता की अनुमति से बडा भाई इसको जिसे देगा जीते हुए उसकी (पति की) सेवा करे, दिवङ्गत होने पर भी उसका (पति का) (व्यभिचार-श्राद्धलोपादि से) लङ्घन न करे॥१५१॥

मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश् चाऽऽसां प्रजापतेः।
प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम्॥१५२॥

इन स्त्रियों के विवाहों में स्वस्तिवाचनादि कर्म तथा प्रजापति को हवि का दान भी मङ्गल के लिए किया जाता है। इन के ऊपर पति के स्वामित्व का कारण तो पिता से अथवा उसके अनुमति से भ्राता से पति को किया गया इन का प्रदान (प्रथम दान=वाग्दान) ही है।

विशेष— यहाँ पर पत्नी में पति का जो स्वाम्य बताया गया है, वह मुख्य रूप में ब्राह्मणियों के विषय में बताया गया है। जिन ब्राह्मणों में कन्यादान जल लेकर विशेष रूप से किया जाता है, जिस का उल्लेख मनुस्मृति में ही **"अद्भिरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं विशिष्यते। इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया"** (३।३५) इस श्लोक से किया गया है, उन ब्राह्मणों के विषय में यह विधान है। यह अव्यभिचारी दाम्पत्य के लिए अत्यन्त समुचित व्यवस्था है। अङ्गाङ्गिभाव से ही अच्छी एकता हो सकती है, समप्राधान्य माने जाने से एकता बिगड सकती है। पतिपत्नी दो में से एक को प्रमुख और दूसरे को उसके सहयोगी मानना आवश्यक ही है। इस अवस्था में प्राकृतिक स्वभाव को भी देखकर पतिको प्रमुख और पत्नी को उसकी सहयोगिनी के रूप में शास्त्र में निर्दिष्ट किया गया है। इस ब्राह्मणधर्म का क्षत्रियादि भी स्वेच्छा से अनुसरण करके लाभ ले सकते हैं, और ले रहे भी हैं। अत एव अनादि काल से चले आरहे इस ब्राह्मणधर्म के विषय में अविज्ञ लोगों से की गई आलोचना अविवेकमूलक है॥१५२॥

अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत् पतिः।
सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः॥१५३॥

स्त्री का मन्त्र से संस्कार (विवाह) करने वाला पति ऋतुकाल में और अन्य काल में भी इस लोक में सदा सुख देने वाला है और परलोक में भी सुख देने वाला है॥१५३॥

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर् वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत् पतिः॥१५४॥

अच्छे स्वभाव से रहित अथवा स्वेच्छाचारी अथवा धन विद्या इत्यादि गुण से रहित होने पर भी सती स्त्री को सदाकाल पति का देवता की तरह आराधना करनी चाहिए।

विशेष– अविच्छेद्य धर्मविवाह में जुडी हुई ब्राह्मणियों के लिए अव्यभिचारी दाम्पत्यधर्म से अपना और लोक का भी कल्याण सिद्ध करने के लिए इस प्रकार के पति की भी सेवनीयता होती है तो गुणवान् पति की सेवनीयता की तो क्या बात करना, यह इस श्लोक का तात्पर्य है। पत्नी का श्लोकोक्त प्रकार के समर्पणभाव से पति का कठोर हृदय भी पिघल जाएगा और दाम्पत्यजीवन सुखमय और सफल हो जाएगा। इस श्लोक के अर्थ में 'कामवृत्त' शब्द का अर्थ कोई लोग परस्त्रीगामी बताते हैं, किन्तु वह उनका भूल है। यहाँ कामवृत्त का अर्थ स्वेच्छाचारी है। अत श्लोक के मुख्य तात्पर्य में ध्यान देना चाहिए और सर्वकल्याणकामी शास्त्रकार मे और शास्त्र में उनके तात्पर्य को समझे विना अविवेकपूर्ण दोषारोपण नहीं करना चाहिए। जो शास्त्र में अविवेकपूर्ण दोषारोपण करते हैं, वे हमारे गौरवास्पद शास्त्रों के पूर्वाग्रही विरोधी ही हैं॥१५४॥

नाऽस्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाऽप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥१५५॥

स्त्री का पति के विना यज्ञ भी नहीं होता है, व्रत भी नहीं होता है, उपवास भी नहीं होता है। स्त्री जो पति की सेवा करती है उसी से स्वर्ग में भी पूजित होती है।

विशेष– अविच्छेद्य धर्मविवाह में पति से जुडी हुई ब्राह्मणी का पति से एकीभाव होने से उसका पति से अलग होकर किया जाने वाला यज्ञादि न होना स्वाभाविक है। यज्ञादिकार्य में पति का सहयोग करने से ही उसको स्वर्गप्राप्ति होने की बात भी अत्यन्त स्वाभाविक है। वैदिक धर्म में पति और पत्नी सर्वथा अविच्छेद्य होने से पति को भी सामान्यतया पत्नी के विना धर्मकर्म करने का अधिकार नहीं होता है। वैदिक धर्म में निर्दिष्ट पति और पत्नी की एकता टुटाने के लिए स्त्रियों की स्वतन्त्रता की बात को उठाना अविवेकमूलक और परचक्रियों का षड्यन्त्रमूलक कार्य है। वैदिक परम्परा के पतिपत्नीसम्बन्ध को समझे विना उसके विविध पक्षों की आलोचना करना भी उचित नहीं है॥१५५॥

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाऽऽचरेत् किञ्चिदप्रियम्॥१५६॥

पति से प्राप्त किए गए स्वर्गादि लोक को चाहने वाली सती स्त्री जीवित अथवा मृत भी पति को अप्रिय लगन वाला कोई भी काम न करे॥१५६॥

कामं तु क्षपयेद् देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामाऽपि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु॥१५७॥

पति दिवङ्गत होने पर सती स्त्री पवित्र फूल, मूल, फल इत्यादि का ही आहार लेकर वर्ताव करती हुई शरीर का चाहे विसर्जन भी कर दे, किन्तु पति से दूसरे पुरुष का तो नाम भी न ले।

विशेष– यह विधवाधर्म भी अविच्छेद्य धर्मविवाहसम्बन्ध से पति से जुडी हुई ब्राह्मणियों का ही है। इसको क्षत्रियादि की स्त्रियाँ भी अपनाकर अपना और लोक का कल्याण सिद्ध कर सकती हैं। व्यभिचारी पतिपत्नीसम्बन्ध से बच्चों में, कुटुम्ब में और समाज में क्या दुष्प्रभाव पड़ सकता है, इस पक्ष में भी ध्यान देना चाहिए। इस प्रकरण के स्त्रीधर्म का तात्पर्य इसी रीति से समझा जाना चाहिए। शब्दों के बाह्य अर्थों में ही नहीं, तात्पर्यों में भी ध्यान देना चाहिए॥१५७॥

आसीताऽऽ मरणात् क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।
यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम्॥१५८॥

एक ही पति को स्वीकार करने वाली पतिव्रता स्त्रियों का जो धर्म है उस सर्वश्रेष्ठ धर्म का पालन करने की इच्छा करती हुई सती (विधवा) स्त्री न मरने तक क्षमायुक्त, संयम रखने वाली और ब्रह्मचर्यव्रत में स्थिर होकर रहे॥१५८॥

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्।
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम्॥१५९॥

नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले ब्राह्मणों के हजारों हजार पुरुष कुल का विस्तार किए विना ही स्वर्ग गए हैं॥१५९॥

मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्राऽपि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥१६०॥

जैसे वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी अपुत्र होने पर भी स्वर्ग गए वैसे ही पति मरने पर ब्रह्मचर्यव्रत में दृढ होकर रहती हुई सती स्त्री अपुत्र होने पर भी स्वर्ग जाती है॥१६०॥

अपत्यलोभाद् या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते।
सेह निन्दामवाप्नोति परलोकाच् च हीयते॥१६१॥

जो स्त्री सन्तान के लोभ से अपने दिवङ्गत पति का लङ्घन करती है (दूसरे पुरुष से पुत्रोत्पादन करती है) वह इस लोक में निन्दा पाती है और पति के लोक से च्युत भी होती है॥१६१॥

नाऽन्योत्पन्ना प्रजाऽस्तीह न चाऽप्यन्यपरिग्रहे।
न द्वितीयश् च साध्वीनां क्वचिद् भर्तोपदिश्यते॥१६२॥

इस शास्त्र में पति से भिन्न पुरुष से उत्पन्न प्रजा धर्म्य नहीं मानी जाती है, दूसरे की पत्नी में उत्पन्न प्रजा भी धर्म्य नहीं मानी जाती है, साध्वी स्त्रियों का दूसरा पति भी किसी शास्त्र में भी विहित नहीं है॥१६२॥

पतिं हित्वाऽपकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते।
निन्द्यैव सा भवेल् लोके परपूर्वेति चोच्यते॥१६३॥

जाति-विद्या-चरित्र-धन से निकृष्ट पति को छोडकर जो स्त्री जाति-विद्या-चरित्र-धन से उत्कृष्ट दूसरे पुरुष का सेवन करती है वह स्त्री लोक में निन्दनीय ही होगी और वह परपूर्वा (पूर्वपति वाली) ऐसा भी कही जाती है॥१६३॥

व्यभिचारात् तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।
शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश् च पीड्यते॥१६४॥

पति को छोडकर दूसरे पुरुष से जाने वाली स्त्री लोक में निन्दनीयता प्राप्त करती है, दूसरे जन्म में सियार की योनि में जन्म लेती है और कष्टदायक कुष्ठादि रोगों से पीडित भी होती है॥१६४॥

पतिं या नाऽभिचरति मनोवाग्देहसंयता।
सा भर्तृलोकानाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते॥१६५॥

मन से, वचन से और देह से भी संयम बरतने वाली जो स्त्री पति को छोडकर नहीं चलती है वह पति से धर्माचरण से प्राप्त किए जाने वाले लोक को प्राप्त करती है, वर्णाश्रमधर्मानुयायी सत्पुरुषों से साध्वी (पतिव्रता सती स्त्री) ऐसा भी कही जाती है॥१६५॥

अनेन नारी वृत्तेन मनोवाग्देहसंयता।
इहाऽग्र्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च॥१६६॥

मन से, वचन से और देह से भी संयम बरतने वाली स्त्री इस चरित्र से इस लोक में उत्तम कीर्ति को और परलोक में पति द्वारा धर्म से अर्जित लोक को भी प्राप्त करती है॥१६६॥

एवंवृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम्।
दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश् च धर्मवित्॥१६७॥

धर्म जानने वाला द्विजाति पुरुष पहले मरने वाली ऐसे चरित्र से युक्त अपनी जाति की विवाहिता स्त्री को यज्ञपात्रों के साथ में श्रौत अग्नियों से (गार्हपत्य आहवनीय दक्षिणाग्नि इन अग्नियों से) जलाए॥१६७॥

भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्त्वाऽग्नीनन्त्यकर्मणि।
पुनर् दारक्रियां कुर्यात् पुनराधानमेव च ॥१६८॥

पहले मरने वाली पत्नी को अन्त्यकर्म में श्रौत अग्नियों को देकर वयस्थ द्विजातिपुरुष फिर विवाह करे और फिर श्रौत अग्नियों का आधान करे।

विशेष— यह व्यवस्था अग्निहोत्री ब्राह्मणों के लिए है। अग्निहोत्री के वयोऽवस्था (अपने उम्र) के अनुसार ही पुनर्विवाह और पुनर् अग्न्याधान की व्यवस्था होती है। फिर अग्न्याधान करना चाहने वाले मृतपत्नीक पुरुष के लिए ही पुनर्विवाह की व्यवस्था दी गई है। यह व्यवस्था अग्निहोत्रादिधर्म के निर्वाह के लिए है, कामोपभोग की दृष्टि से यह व्यवस्था दी गई नहीं है। पतिपत्नियों में एक की प्रधानता और दूसरे की अङ्गता स्वाभाविक होने से प्रकृति के अनेक शाश्वत पक्षों को ध्यान में रखकर पति की (पुरुष की) प्रधानता और पत्नी की (स्त्री की) अङ्गता वैदिक धर्म में स्वीकृत की गई है, इसमें समुचित रूप में ध्यान दिया जाना चाहिए॥१६८॥

अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान् न हापयेत्।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥१६९॥

॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां पञ्चमोऽध्यायः॥५॥

इस विधि से द्विजाति गृहस्थ ब्रह्मयज्ञ देवयज्ञ इत्यादि पाँच महायज्ञों को तो (मनु.३।७०) कदापि लुप्त न करे। विवाह करके आयु के द्वितीय भाग तक (पचास वर्ष तक) गृहस्थाश्रम में रहे॥१६९॥

॥ इस प्रकार कौण्डिन्न्यायनाऽऽचार्य-शिवराजशर्म-द्विजोत्तम से किए गए मनुस्मृति के हिन्दी अनुवाद तथा विशेष व्याख्या में पञ्चम अध्याय पूर्ण हुआ॥५॥

◆

अथ षष्ठोऽध्यायः

एवं गृहाऽऽश्रमे स्थित्वा विधिवत् स्नातको द्विजः।
वने वसेत् तु नियतो यथावद् विजितेन्द्रियः ॥१॥

हिन्दी—

मनुस्मृतेर् हि षष्ठेऽत्राऽध्याये भाषाऽर्थ उच्यते।
कुल्लूकोक्ताऽर्थमादाय शिवाख्येन द्विजन्मना॥

स्नातक ब्राह्मण इस प्रकार गृहस्थाश्रम में रहकर शास्त्रनियन्त्रित और जितेन्द्रिय होकर शास्त्रविधान के अनुसार वन में (वानप्रस्थाश्रम में) रहे।

विशेष— गृहस्थ भी अरण्यक्षेत्र में निवास कर सकते हैं। इसके उदाहरण इतिहास, पुराण, रघुवंश इत्यादि ग्रन्थों में मिलते हैं। वानप्रस्थ तो अरण्यक्षेत्र में ही निवास कर सकते हैं, गाँव में नहीं॥१॥

गृहस्थस् तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चाऽपत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत्॥२॥

जब गृहस्थ अपने शरीर में झुर्रियों को तथा वालों में सफेदी को और अपने पुत्र-पुत्रियों के पुत्र-पुत्रियों को (पोते पोतियों को) देखे उस समय में वन का आश्रय ले (वानप्रस्थाश्रम में जाय)।

विशेष— यह आश्रमसमुच्चय (आश्रमों का क्रमशः आश्रयण करने के पक्ष) का निदर्शनार्थ सामान्य दिग्दर्शन है, निश्चित नियम नहीं है। शास्त्रों में ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रमरूप एक ही आश्रम लेने की और आश्रमविकल्पों की भी व्यवस्था दी गई है॥२॥

सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा॥३॥

गाँव में उगने वाले अन्नादि के भोजन का और गाँव के सभी गृहोपकरणों का भी त्याग करके पालन के लिए पत्नी को पुत्रों को सौंपकर अथवा पत्नी के साथ में ही वन को जाए॥३॥

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाऽग्निपरिच्छदम्।
ग्रामादरण्यं निस्सृत्य निवसेन् नियतेन्द्रियः॥४॥

अग्निहोत्र के साधन गार्हपत्यादि श्रौत अग्नियों को और गृह्य अग्नि को तथा उन अग्नियों के स्रुक्, स्रुव, स्फ्य (काठ का खड्ग) इत्यादि उपकरणों को भी लेकर गाँव से निकलकर वन में जाकर जितेन्द्रिय होकर रहे॥४॥

मुन्यन्नैर् विविधैर् मेध्यैः शाक-मूल-फलेन वा।
एतानेव महायज्ञान् निर्वपेद् विधिपूर्वकम्॥५॥

अनेक प्रकार के पवित्र नीवारादि मुनिभोज्य अन्नों से अथवा शाक से अथवा मूल से अथवा फल से इन्ही (गृहस्थाश्रम में बताए गए) पञ्च महायज्ञों को शास्त्रोक्त विधि से सम्पन्न करे॥५॥

वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात् प्रगे तथा।
जटाश् च बिभृयान् नित्यं श्मश्रु-लोम-नखानि च ॥६॥

वन के मृगों के चमडों को अथवा वृक्षादि के छिलकों के रेसे से बनाए गए वस्त्रों को पहने, सायङ्काल में और प्रातःकाल में भी स्नान करे, सर्वदा जटाओं का, दाढी-मूछों का और नाखूनों का धारण करे। [वालों को दाढी-मूछों को और नाखूनों को नहीं कटाए] ॥६॥

यद् भक्ष्यं स्यात् ततो दद्याद् बलिं भिक्षां च शक्तितः।
अम्-मूल-फल-भिक्षाभिरर्चयेदाश्रमाऽऽगतान् ॥७॥

अपना जो भोज्य पदार्थ होगा उस से बलिहरण करे और अपनी शक्ति के अनुसार भिक्षा दे। अपने आश्रम में (कुटी में) आए हुए अतिथियों का पानी की, मूल की और फल की भिक्षा से सत्कार करे॥७॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूताऽनुकम्पकः ॥८॥

स्नातक वानप्रस्थ ब्राह्मण सर्वदा अपनी शाखा के वेद के अध्ययन में संलग्न होवे; जितेन्द्रिय, सभी प्राणियों के प्रति मित्रभाव रखने वाला, एकाग्र चित्तवाला, सदा दान करने वाला और दान न लेने वाला तथा सभी प्राणियों के प्रति कृपा करने वाला होवे॥८॥

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि।
दर्शमस्कन्दयन् पर्व पौर्णमासं च योगतः ॥९॥

वानप्रस्थ ब्राह्मण शास्त्र के विधान के अनुसार श्रौत अग्नि में किया जाने वाला अग्निहोत्र-होम करे, पर्व काल को व्यतीत न करता हुआ अपने समय में दर्शेष्टि और पौर्णमासेष्टि भी करे॥९॥

ऋक्षेष्ट्याग्रयणं चैव चातुर्मास्यानि चाऽऽहरेत्।
तुरायणं च क्रमशो दक्षस्याऽयनमेव च ॥१०॥

नक्षत्रेष्टि को, आग्रयणेष्टि को और चातुर्मास्येष्टियों को भी सम्पन्न करे, तथा क्रमप्राप्त रूप में तुरायण यज्ञ और दाक्षायण यज्ञ भी करे॥१०॥

वासन्तशारदैर् मेध्यैर् मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः।
पुरोडाशांश् चरूंश् चैव विधिवन् निर्वपेत् पृथक् ॥११॥

स्वयम् वनोद्देशों से लाए गए, वसन्त ऋतु में पकने वाले और शरत्काल में पकने वाले पवित्र मुनिभोज्य अन्नों से पुराडाशों को (डोशाओं को) तथा चरुओं को (भातों को) शास्त्रविधान के अनुसार अलग-अलग तैयार करे॥११॥

देवताभ्यस् तु तद् धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः।
शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयङ्कृतम्॥१२॥

वन में उत्पन्न अधिक पवित्र उस पुरोडाश-चरुरूप हवि को देवताओं के लिए होमकर उसके बचे हुए भाग का अपने लिए उपयोग करे, अपने से ही खारी मिट्टी से बनाए गए नमक का भी अपने लिए उपयोग करे॥१२॥

स्थलजौदकशाकानि पुष्प-मूल-फलानि च।
मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात् स्नेहांश् च फलसम्भवान्॥१३॥

भूमि में उत्पन्न और जल में उत्पन्न शाकों को, पवित्र वृक्षों से उत्पन्न फूलों को, मूलों को और फलों को तथा फल से निकलने वाले स्नेहों को (तैलों को) भी खाए॥१३॥

वर्जयेन् मधु मांसं च भौमानि कवकानि च।
भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च॥१४॥

मधु को (शहद को), मांस को, भूमि में उत्पन्न होने वाले कुकुरमुत्तों को, भूस्तृण को (गन्धतृण को, एक विशेष प्रकार की खुमी को, भूफोड को), सहिजन को और लसोडे के फलों को भी वर्जित करे [न खाए]॥१४॥

त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसञ्चितम्।
जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च॥१५॥

पहले सञ्चित किए गए मुन्यन्नों को आश्विन मास में त्याग दे। पुराने वस्त्रों को तथा पुराने शाकों को, मूलों को और फलों को भी आश्विन मास में त्याग दे॥१५॥

न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित्।
न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च॥१६॥

वानप्रस्थ द्विजाति फाली से जुती हुई भूमि में उगे हुए और किसी से खेतों में छोडे गए अथवा किसी प्रकार छोडे गए अन्न को भी न खाए, कष्ट में पड़ने पर भी गाँव में उत्पन्न मूलों को और फलों को भी न खाएं॥१६॥

अग्निपक्वाऽशनो वा स्यात् कालपक्वभुगेव वा।
अश्मकुट्टो भवेद् वाऽपि दन्तोलूखलिकोऽपि वा॥१७॥

आग में पके हुए अन्नादि को खाने वाला होवे, अथवा काल से ही पके हुए फलादि को ही खाने वाला होवे, पत्थर से कूटकर खाने वाला होवे, अथवा दाँतों को ही ओखली के रूप में प्रयुक्त करने वाला होवे॥१७॥

सद्यःप्रक्षालको वा स्यान् माससञ्चयिकोऽपि वा।
षण्मासनिचयो वा स्यात् समानिचय एव वा॥१८॥

वानप्रस्थ द्विजाति तत्काल हाथ धोने वाला (कल के लिए कुछ भी सञ्चित न करने वाला) होवे, अथवा एक मास के लिए पर्याप्त मुन्यन्नों का सञ्चय करने वाला होवे, अथवा छह महीनों के लिए पर्याप्त मुन्यन्नों का सञ्चय करने वाला होवे, अथवा एक वर्ष के लिए पर्याप्त मुन्यन्नों का सञ्चय करने वाला होवे॥१८॥

नक्तं चाऽन्नं समश्नीयाद् दिवा वाऽऽहृत्य शक्तितः।
चतुर्थकालिको वा स्यात् स्याद् वाऽप्यष्टमकालिकः॥१९॥

खोजकर लाकर शाम को अन्न खाए, अथवा दिन में ही अन्न खाए। अथवा सामान्यतया भोजन के लिए नियत शाम-सबेरे के समयों में से तीन समयों को छोडकर चौथे समय में ही खाने वाला होवे, अथवा भोजन के लिए नियत शाम-सबेरे के समयों में से सात समयों को छोडकर आठवें समय में ही खाने वाला होवे॥१९॥

चान्द्रायणविधानैर् वा शुक्लकृष्णे च वर्तयेत्।
पक्षाऽन्तयोर् वाऽप्यश्नीयाद् यवागूं क्वथितां सकृत्॥२०॥

चान्द्रायणव्रत के विधान से (मनु.११।२१६) महीने के शुक्लपक्षों को और कृष्णपक्षों को बिताए। अथवा शुक्लपक्ष के अन्त में और कृष्णपक्ष के अन्त में ही तरल रूप में पकाई गई यवागू को एक वार खाए।

विशेष— उबाले गए अन्न के दाने थोडे और पानी अधिक होने से तरल जैसा बना हुआ भात यवागू कहा जाता है॥२०॥

पुष्प-मूल-फलैर् वाऽपि केवलैर् वर्तयेत् सदा।
कालपक्वैः स्वयंशीर्णैर् वैखानसमते स्थितः॥२१॥

वैखानसशास्त्र के मत में रहता हुआ वानप्रस्थ सदा अपने आप गिरे हुए केवल फूलों से अथवा केवल मूलों से अथवा अपने समय में पके हुए और अपने आप गिरे हुए केवल फलों से जीवनयात्रा चलाए॥२१॥

भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद् वा प्रपदैर् दिनम्।
स्थानाऽऽसनाभ्यां विहरेत् सवनेषूपयन्नपः॥२२॥

वानप्रस्थ दिनभर भूमि पर निरन्तर करवट बदलता रहे अथवा दिनभर पैर के अग्रभाग मात्र के बल पर खडा रहे। [सोमयाग के] प्रातःसवन के माध्यन्दिन सवन के और तृतीय सवन के कालों (प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायाह्नकाल) में स्नान करता हुआ कुछ समय तक खडा ही रहता हुआ और कुछ समय तक बैठता ही रहता हुआ विहार करे॥२२॥

ग्रीष्मे पञ्चतपास् तु स्याद् वर्षास्वभ्राऽवकाशिकः।
आर्द्रवासास् तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस् तपः॥२३॥

क्रम से तपस्या को बढ़ाता हुआ वानप्रस्थ ग्रीष्मकाल में (गर्मी में) पाँच ओर से तपाया जाने वाला होवे, वर्षाकाल में मेघ के नीचे खुले आकाश में रहने वाला होवे, हेमन्त ऋतु में (जाडे में) गोले वस्त्रों को पहनने वाला होवे।

विशेष— यहाँ ग्रीष्म में वसन्त का भी अन्तर्भाव अभीष्ट है, इसी प्रकार वर्षा में शरद् भी अन्तर्भूत जानना चाहिए, एवमेव हेमन्त से शिशिर का भी ग्रहण है॥२३॥

उपस्पृशंस् त्रिषवणं पितॄन् देवांश् च तर्पयेत्।
तपश् चरंश् चोग्रतरं शोषयेद् देहमात्मनः॥२४॥

तीनों सवनों में स्नान करता हुआ वानप्रस्थ पितरों को और देवताओं को जल से तर्पित करे। कठोर, और ज्यादा कठोर, और अधिक कठोर तपस्या करता हुआ वानप्रस्थ अपने शरीर को सुखाए॥२४॥

अग्नीनात्मनि वैतानान् समारोप्य यथाविधि।
अनग्निरनिकेतः स्यान् मुनिर् मूलफलाऽशनः॥२५॥

[तपस्या को और अधिक बढाता हुआ] वानप्रस्थ शास्त्र के विधान के अनुसार श्रौत अग्नियों को भी अपने में ही समारोपित करके बाह्य अग्नि से और घर से रहित वानप्रस्थ द्विजाति केवल मूलों को और फलों को ही खाने वाला होवे॥२५॥

अप्रयत्नः सुखाऽर्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।
शरणेष्वममश् चैव वृक्षमूलनिकेतनः॥२६॥

वानप्रस्थ सुख के साधनों के लिए प्रयत्न न करने वाला, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाला, भूमि में ही सोने वाला, आश्रयस्थलों में ममता से रहित और वृक्षमूल को ही आश्रयस्थान बनाने वाला होवे॥२६॥

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत्।
गृहमेधिषु चाऽन्येषु द्विजेषु वनवासिषु॥२७॥

[स्वयम् भोज्य पदार्थ जुटाने में असमर्थ होने पर] वानप्रस्थ ब्राह्मण वानप्रस्थ ब्राह्मणों से ही केवल प्राणधारणार्थ मात्र भिक्षा मागकर लाए। वैसे वानप्रस्थ ब्राह्मण न मिलने पर वन में निवास करने वाले अन्य गृहस्थ ब्राह्मणों से भी भिक्षा माँगकर लाए॥२७॥

ग्रामादाहृत्य वाऽश्नीयादष्टौ ग्रासान् वने वसन्।
प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा॥२८॥

अथवा गाँव से भिक्षा मागकर लाकर वानप्रस्थ द्विजाति पर्णपुट से अथवा हाथ से अथवा वृक्षवल्कल के खण्ड से लेकर आठ ग्रास (कौर) ही खाए॥२८॥

एताश् चाऽन्याश् च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।
विविधाश् चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः॥२९॥

वानप्रस्थ ब्राह्मण इन व्रतों का और अन्य वैखानसशास्त्रोक्त व्रतों का भी सेवन करे। आत्मसिद्धि के (आत्मज्ञान के) लिए नाना प्रकार की उपनिषत्काण्ड की श्रुतियों का भी अनुशीलन करे॥२९॥

ऋषिभिर् ब्राह्मणैश् चैव गृहस्थैरेव सेविताः।
विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये॥३०॥

ऋषियों से और गृहस्थ ब्राह्मणों से भी विद्या की और तपस्या की वृद्धि के लिए तथा शरीर की शुद्धि के लिए भी सेवित उपनिषत्काण्ड की श्रुतियों का अनुशीलन करे॥३०॥

अपराजितां वाऽऽस्थाय व्रजेद् दिशमजिह्मगः।
आ निपाताच् छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाऽशनः॥३१॥

मन की एकाग्रता से युक्त वानप्रस्थ केवल पानी को और वायु को ही खाता हुआ और सीधा-सीधा चलता हुआ ईशान दिशा को लक्षित करके जब तक शरीर नहीं गिरता है तब तक चलता रहे।

विशेष— इस विषय के विशेष प्रतिपादन के लिए रेणुदीक्षितकृत कातीय-गृह्यकारिका (पृ.१५३) देखें। ऐसे प्रस्थान को महाप्रस्थान कहते हैं। महाभारत में युधिष्ठिर इत्यादि का महाप्रस्थान वर्णित है। इस प्रसङ्ग का वर्णन करने वाले महाभारत के सत्रहवें पर्व को महाप्रस्थानिक पर्व कहा गया है॥३१॥

आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वाऽन्यतमया तनुम्।
वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते॥३२॥

महर्षियों की इन चर्याओं में से किसी एक चर्या से शरीर का त्याग करके शोक से और भय से मुक्त ब्राह्मण ब्रह्मलोक में पूजित होता है॥३२॥

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्॥३३॥

इस प्रकार से आयु के तृतीय भाग तक (५१ वर्ष से ७५ वर्ष तक) वनों में विहार करके आयु के चतुर्थ भाग में सभी सङ्गों का त्याग करके प्रव्रजन करे (सन्यासाऽऽश्रम लेकर चले)।

विशेष– यह आयु के विभाग के अनुसार आश्रमों के सेवन का विधान आश्रमों का समुच्चय (क्रमशः आश्रयण) करने के पक्ष का निदर्शनार्थ सामान्य दिग्दर्शन मात्र है, निश्चित नियम नहीं है। शास्त्रों में आश्रमों के सेवन के विषय में आश्रम-बाध-विकल्पादि विविध व्यवस्थाएँ हैं॥३३॥

आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः।
भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्धते॥३४॥

इन्द्रियों को जीतने वाला, यज्ञ करने वाला, भिक्षादान-बलिदानादि आश्रम-कृत्यों के अनुष्ठान से थका हुआ द्विजाति एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाकर सम्पूर्ण सङ्गों का त्याग करके चलता हुआ (सन्यासाश्रम में जाता हुआ) परलोक में बढता है। [ब्रह्मसालोक्यादि उन्नत स्थिति में प्राप्त होता है]॥३४॥

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥३५॥

तीन ऋणों को (ऋषिऋण-पितृऋण-देवऋणों को) चुकाकर द्विजाति मन को मोक्ष में लगाए। इन ऋणों को विना चुकाए मोक्षधर्म का सेवन करता हुआ द्विजाति नरक को जाता है॥३५॥

अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रांश् चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर् मनो मोक्षे निवेशयेत्॥३६॥

ऋषिऋण चुकाने के लिए शास्त्रोक्त विधि से वेदों को पढ़कर, पितृऋण चुकाने के लिए धर्मविवाह से पुत्रों का उत्पादन करके और देवऋण चुकाने के लिए अपने धनबल-जनबल-शरीरबल के अनुसार यज्ञों से देवता का प्रीणन भी करके मन को मोक्ष में लगाए॥३६॥

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश् च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः॥३७॥

विना वेदों का अध्ययन किए, विना पुत्रों का उत्पादन किए और विना यज्ञों से देवताओं का प्रीणन किए मोक्ष की इच्छा करता हुआ द्विजाति नीचे की ओर (नरक को) जाता है॥३७॥

प्राजापत्यां निरुप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्॥३८॥

सर्वस्व दक्षिणा वाली प्राजापत्य इष्टि को सम्पन्न करके और अग्नियों को अपने में ही आरोपित करके ब्राह्मण घर से सदा के लिए चल दे (सन्यासाश्रम में जाय)॥३८॥

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः॥३९॥

जो ब्रह्मवादी (ब्राह्मण) सम्पूर्ण प्राणियों को अभयदान देकर घर से सदा के लिए चल देता है, उसको ज्योतिर्मय लोक (हिरण्यगर्भलोकादि लोक) प्राप्त होते हैं॥३९॥

यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान् नोत्पद्यते भयम्।
तस्य देहाद् विमुक्तस्य भयं नाऽस्ति कुतश्चन॥४०॥

जिस ब्राह्मण से प्राणियों के लिए थोडा सा भी भय उत्पन्न नहीं होता है देह से मुक्त उस ब्राह्मण के लिए कहीं से भी भय नहीं होता है॥४०॥

अगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत्॥४१॥

घर से निकला हुआ और जलपवित्रादि उपकरणों से ही युक्त मुनि सभी क़ाम्य विषय को हृदय से हटाए जाने पर पत्नी-पुत्र-गृह-क्षेत्र-स्वादुभोजनादि की अपेक्षा से रहित होकर पृथ्वी में विचरण करे॥४१॥

एक एव चरेन् नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान्।
सिद्धिमेकस्य सम्पश्यन् न जहाति न हीयते॥४२॥

ब्रह्मज्ञान के (मोक्षप्राप्ति के) लिए किसी भी सहायक से रहित होकर परिव्राजक (सन्यासी) सदा अकेला ही भूमि में विचरण करे। अकेले का ही मोक्ष को देखता हुआ मनुष्य कुछ भी नहीं छोडता है और किसी से भी नहीं छोडा जाता है॥४२॥

अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नाऽर्थमाश्रयेत्।
उपेक्षकोऽसङ्कुसुको मुनिर् भावसमाहितः॥४३॥

परिव्राजक (सन्यासी) अग्नि से रहित और नियत निवासस्थान से रहित होवे, अन्न के लिए गाँव का आश्रय करे। वह सभी प्राणियों की और वस्तुओं की उपेक्षा करने वाला, अचञ्चलबुद्धि, मननशील और चित्तवृत्ति की एकाग्रता से युक्त होवे॥४३॥

कपालं वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन् मुक्तस्य लक्षणम्॥४४॥

भिक्षा माँगने के लिए फूटे हुए घडे का टुकडा, रहने के लिए पेडों का मूल (जड), पहनने के लिए रथ्याओं में लोगों से फेका गया पुराना वस्त्र, अकेलापन, सभी प्राणियों में और वस्तुओं में समता, यह मुक्त का (परिव्राजक का) लक्षण है॥४४॥

नाऽभिनन्देत मरणं नाऽभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्वेशं भृतको यथा॥४५॥

मृत्यु की कामना भी न करे जीवन की कामना भी न करे, जैसे मजदूर मजदूरी प्राप्त होने वाले काल की ही प्रतीक्षा करता है वैसे ही परिव्राजक भी काल की ही प्रतीक्षा करे॥४५॥

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥४६॥

पैर रखने में बाधक वस्तु न देखे जाने पर ही पैर रखे, वस्त्र से छानने से पवित्र (कीटादिरहित) जल ही पीए, सत्य से पवित्र बात बोले, मन से पवित्र (सन्देहरहित रूप में आचरणीय) व्यवहार का ही आचरण करे॥४६॥

अतिवादांस् तितिक्षेत नाऽवमन्येत कञ्चन।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥४७॥

सत्य-धर्ममर्यादा का लङ्घन करके कही गई बातों का भी सहन करे, किसी का भी अनादर न करे, इस देह के लिए किसी से भी शत्रुता न करे॥४७॥

क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
सप्तद्वाराऽवकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत्॥४८॥

अपने ऊपर क्रोध करते हुए मनुष्य के प्रति भी क्रोध न करे, गाली दिए जाने पर भी कल्याणकारी वचन ही बोले, सात द्वारों से (पाँच ज्ञानेन्द्रियों से और मन और बुद्धि इन सात ज्ञान के द्वारों से) निकाला गया भूठ वचन भी न बोले॥४८॥

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह॥४९॥

शरीरों से ऊपर के तत्त्व में (आत्मा में) ही रमण करने वाला होकर रहने वाला परिव्राजक किसी वस्तु की भी अपेक्षा से रहित और विषयसुखरूपी आमिष के प्रलोभन से भी मुक्त होकर निरतिशय सुख को चाहता हुआ इस लोक में केवल अपने शरीररूपी सहायक के साथ ही विचरण करे॥४९॥

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राऽङ्गविद्यया।
नाऽनुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित्॥५०॥

परिव्राजक (सन्यासी) भूकम्पादि उत्पात के फल को अथवा उसकी शान्ति के विधि को बताकर अथवा आँख का फडकना इत्यादि निमित्तों के फल को अथवा उसकी शान्ति के विधि को बताकर अधिक भिक्षा प्राप्त करने की इच्छा कभी न करे। नक्षत्रविद्या के (ज्योतिष के) अथवा हस्तरेखा-विज्ञानादि सामुद्रिक विद्या के आधार में भी अधिक भिक्षा प्राप्त करने की इच्छा भी कभी न करे। नीतिविद्यादि के अथवा व्यवहाररीति के उपदेश से अथवा शास्त्र के सिद्धान्तों के व्याख्यान से भी अधिक भिक्षा प्राप्त करने की इच्छा भी कभी न करे॥५०॥

न तापसैर् ब्राह्मणैर् वा वयोभिरपि वा श्वभिः।
आकीर्णं भिक्षुकैर् वाऽन्यैरगारमुपसंव्रजेत्॥५१॥

वानप्रस्थों से अथवा गृहस्थ ब्राह्मणों से अथवा पक्षियों से अथवा कुत्तों से अथवा अन्य ब्रह्मचारिरूप अथवा परिव्राजकरूप भिक्षुकों से भरे हुए घर में परिव्राजक (सन्यासी) न जाए॥५१॥

क्लृप्त-केश-नख-श्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान्।
विचरेन् नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन्॥५२॥

बढे हुए वालों को, नाखूनों को और दाढी-मूँछों को समय-समय में कैंची से कटाने वाला, भिक्षा पात्र को लेने वाला, दण्ड (लाठी) से युक्त और कमण्डलु (अलावुपात्र) लेने वाला परिव्राजक (सन्यासी) संयमशील होकर किसी भी प्राणी को पीडित न करता हुआ सदाकाल विचरण करता रहे॥५२॥

अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर् निर्व्रणानि च।
तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाऽध्वरे॥५३॥

उसके (सन्न्यासी के) पात्र ताँबा पीतल काँसा इत्यादि धातु के न हों और व्रणरहित (क्षत-कोटरादि से रहित) भी हों, उन पात्रों का यज्ञों में चमसों की (काष्ठपात्रविशेषों की) तरह केवल पानी से ही शौच (शुद्धि) समझा गया है॥५३॥

अलाबुं दारुपात्रं च मृन्मयं वैदलं तथा।
एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥५४॥

तुम्बे को, लकडी के पात्र को, मिट्टी के पात्र को और बेंत बाँस इत्यादि की टहनियों को फाडकर बनाई गई सामग्री से निर्मित पात्र को, इन पात्रों को ही स्वायम्भुव मनु ने यतियों के (वैदिक सन्न्यासियों के) लिए पात्र (वर्तन) बताया॥५४॥

एककालं चरेद् भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे।
भैक्षप्रसक्तो हि यतिर् विषयेष्वपि सज्जति॥५५॥

एक शाम ही भिक्षायाचन करे, भिक्षा के विस्तार में न लगे, क्योंकि भिक्षा के विस्तार में आसक्त भिक्षु विषयों में भी आसक्त हो सकता है॥५५॥

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
वृत्ते शरावसम्पाते भिक्षां नित्यं यतिश् चरेत्॥५६॥

धूवाँ निकलना बन्द होने पर, मुसल विरत होने पर, अङ्गार शान्त होने पर, घर के जनों से भोजन करने पर और भोजन के सकोरे हटाए जाने पर सदाकाल भिक्षु भिक्षा माँगे॥५६॥

अलाभे न विषादी स्याल् लाभे चैव न हर्षयेत्।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान् मात्राऽऽसङ्गाद् विनिर्गतः॥५७॥

भिक्षा प्राप्त न होने पर विषाद करने वाला न होवे, भिक्षा प्राप्त होने पर हर्षित भी न होवे। कन्था, दण्ड, कमण्डलु इत्यादि उपकरणों में आसक्ति से परे रहने वाला परिव्राजक केवल प्राणधारण के लिए ही भिक्षा माँगने वाला होवे॥५७॥

अभिपूजितलाभांस् तु जुगुप्सेतैव सर्वशः।
अभिपूजितलाभैश् च यतिर् मुक्तोऽपि बध्यते॥५८॥

आदर-सत्कारपूर्वक दी गई भिक्षाओं के लाभों को तो सर्वथा घृणित माने, क्योंकि आदर-सत्कारपूर्वक दी गई भिक्षाओं के लाभ से तो मुक्त सन्न्यासी भी फिर ादिबन्धन में [illegible] ै॥५८॥

अल्पाऽन्नाभ्यवहारेण रहःस्थानाऽऽसनेन च।
ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत्॥५९॥

विषयों से अपनी ओर खींचे जा रहे इन्द्रियों को थोडे अन्न का ही भोजन करने से और एकान्त स्थान में रहने से भी विषयों से निवृत्त करे॥५९॥

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते॥६०॥

इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोकने से, राग-द्वेषों के ह्रास से और प्राणियों की अहिंसा से भी परिव्राजक अमृतत्व में (ब्रह्मभाव में) प्राप्त होने के लिए समर्थ होता है॥६०॥

अवेक्षेत गतीर् नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः।
निरये चैव पतनं यातनाश् च यमक्षये॥६१॥

मनुष्यों की अपने कर्मों के दोष से उत्पन्न पशु-पक्षि-सरीसृपादि स्थावरान्त अधोगतियों का, नरक में पतन का और यमराज के घर में मिलने वाली यातनाओं का भी परिव्राजक (सन्यासी) चिन्तन करता रहे॥६१॥

विप्रयोगं प्रियैश् चैव संयोगं च तथाऽप्रियैः।
जरया चाऽभिभवनं व्याधिभिश् चोपपीडनम्॥६२॥

मनुष्यों के प्रिय जनों से और प्रिय वस्तुओं से वियोग को तथा अप्रिय जनों से और अप्रिय वस्तुओं से संयोग को, बुढापे के आक्रमण को और नाना प्रकार के रोगों से पीडन को भी परिव्राजक चिन्तन करता रहे॥६२॥

देहादुत्क्रमणं चाऽस्मात् पुनर् गर्भे च सम्भवम्।
योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश् चाऽस्याऽन्तरात्मनः॥६३॥

मनुष्यों के इस अन्तरात्मा का वर्तमान देह से निकलने का, फिर गर्भ में उत्पन्न होने का और हजारों करोड योनियों में जाने का भी परिव्राजक चिन्तन करता रहे॥६३॥

अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम्।
धर्माऽर्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम्॥६४॥

शरीरधारियों के अधर्म के आचरण से होने वाले दुःख के आगमनों का तथा धर्म के आचरण से प्राप्त होने वाले अर्थरूप ब्रह्मज्ञान से होने वाले अक्षय सुख के आगमन का (मोक्ष का) भी परिव्राजक चिन्तन करता रहे॥६४॥

सूक्ष्मतां चाऽन्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः।
देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च॥६५॥

मनोयोग से (मन की परमात्मा में एकाग्रता से) परमात्मा की सूक्ष्मता का चिन्तन करे और परमात्मा का ही मनुष्य-शूद्र-वैश्य-क्षत्रिय-ब्राह्मणादि के उत्तम देहों में और पशु-पक्षि-सरीसृप-कृमि-कीटादि के और तृण-वल्ली-लता-गुल्म-वृक्षादि स्थावरों के अधम देहों में हो रहे जन्म का भी परिव्राजक चिन्तन करे॥६५॥

दूषितोऽपि चरेद् धर्मं यत्रतत्राऽऽश्रमे रतः।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम्॥६६॥

जिस किसी भी आश्रम में रहता हुआ भी द्विजाति वर्णाश्रमविरुद्ध कतिपय आचरणों से दूषित अथवा अभिशस्त होने पर भी सभी प्राणियों में ब्रह्मदृष्टि से समभाव रखता हुआ स्वधर्म का आचरण करे। केवल दण्ड, कमण्डलु इत्यादि लिङ्ग ही धर्म का कारण नहीं है (ज्ञान और अनुष्ठान ही धर्म का कारण है)॥६६॥

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम्।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति॥६७॥

यद्यपि निर्मली का फल पानी को स्वच्छ करने वाला होता है, तथापि उसके नाम लेने से ही तो पानी स्वच्छ नहीं होता है (इसी तरह केवल लिङ्गधारण मात्र धर्म का कारण नहीं होता है, ज्ञान और अनुष्ठान ही धर्म का कारण होता है)॥६७॥

संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा।
शरीरस्याऽत्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत्॥६८॥

शरीर में भारी कष्ट होने पर भी रात में अथवा दिन में भी सदाकाल जन्तुओं को अपने पैरों के आघात से बचाने के लिए अच्छी तरह भूमि को देखकर चले॥६८॥

अह्ना रात्र्या च याञ् जन्तून् हिनस्त्यज्ञानतो यतिः।
तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान् षडाचरेत्॥६९॥

परिव्राजक (सन्न्यासी) अज्ञान से दिनभर में और रातभर में भी जिन प्राणियों की हिंसा करता है उनकी हिंसा के पाप से मुक्ति के (शुद्धि के) लिए स्नान करके छह प्राणायाम करे॥६९॥

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत् कृताः।
व्याहृतिप्रणवैर् युक्ता विज्ञेयं परमं तपः॥७०॥

ब्राह्मण के (सन्यासी के) लिए शास्त्रोक्त विधि से किए गए, (सात) व्याहृतियों से और (दश) प्रणवों से (ओङ्कारों से) युक्त केवल तीन ही प्राणायाम को भी उत्तम तपस्या जानना चाहिए॥७०॥

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥७१॥

धौंकने से सोना चाँदी इत्यादि धातुओं के मल जिस प्रकार जल जाते हैं उसी प्रकार प्राण के निग्रह से (प्राणायाम से) इन्द्रियों के दोष जल जाते हैं॥७१॥

प्राणायामैर् दहेद् दोषान् धारणाभिश् च किल्बिषम्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनाऽनीश्वरान् गुणान्॥७२॥

प्राणायामों से नाडीदोषादि शरीर के दोषों को जलाए, धारणा से (चित्त की एकाग्रता से) पापों को जलाए, प्रत्याहार से (विषयों से इन्द्रियों को अपनी ओर खींचने से) विषयों में आसक्तियों को जलाए और परमात्मा के ध्यान से अपने क्रोध, लोभ, असूया इत्यादि की भावना को जलाए॥७२॥

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृताऽऽत्मभिः।
ध्यानयोगेन सम्पश्येद् गतिमस्याऽन्तराऽऽत्मनः॥७३॥

मन की साधना से रहित मनुष्यों से सहसा न जाने जा सकने वाली इस अन्तरात्मा की नाना प्रकार के प्राणियों में होने वाली गतियों को (जन्मप्राप्तियों को) ध्यानयोग से निहारे॥७३॥

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर् न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस् तु संसारं प्रतिपद्यते॥७४॥

यथार्थ ज्ञान से युक्त पुरुष कर्मों से संसार में नहीं बाँधा जाता है, यथार्थ ज्ञान से रहित पुरुष तो कर्मों से जन्म-मरणादि संसार को (बन्धन को) प्राप्त करता है॥७४॥

अहिंसयेन्द्रियाऽसङ्गैर् वैदिकैश् चैव कर्मभिः।
तपसश् चरणैश् चोग्रैः साधयन्तीह तत् पदम्॥७५॥

अहिंसा से, इन्द्रियों के विषयों में अनासक्ति से, वैदिक यज्ञादि कर्मों से और कठोर तपस्याओं के आचरणों से भी इस जगत् में उस ब्रह्मपद को प्राप्त करते हैं॥७५॥

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम्।
चर्माऽवनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः॥७६॥

जराशोकसमाविष्टं रोगाऽऽयतनमातुरम्।
रजस्वलमनित्यं च भूताऽऽवासमिमं त्यजेत्॥७७॥

हड्डीरूप खम्भों से युक्त, स्नायुयों से (अस्थिबन्धनों से) युक्त, मांस के और लहू के लेपन से युक्त, चमडे से ढके हुए, दुर्गन्ध से युक्त, मूत्र से और विष्ठा से पूर्ण, बुढापे से और शोक से घिरे हुए, रोगों के घर, भूख, प्यास, जाडा, धूप इत्यादि से आर्त, रजोगुण से युक्त तथा नाशशील इस जीव के घर को (शरीर को) त्याग दे॥७६-७७॥

नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर् यथा।
तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद् ग्राहाद् विमुच्यते॥७८॥

जैसे नदी के तट में रहा हुआ वृक्ष अपने ढह जाने के समय को नहीं जानता हुआ नदी के प्रवाह से डहाए जाने पर नदी के तट को छोडता है वैसे ही अथवा जैसे पक्षी स्वाधीन रूप में वृक्ष को छोडता है वैसे ही इस देह को छोडता हुआ जीव कष्टदायक संसाररूप ग्राह से मुक्त होता है॥७८॥

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम्।
विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माऽभ्येति सनातनम्॥७९॥

ब्रह्मज्ञानी परिव्राजक अपने प्रियजनों में अपने पुण्यफल को और अपने अप्रिय जनों में अपने पापफल को छोडकर निदिध्यासन से नित्य ब्रह्म में प्राप्त होता है।

विशेष– यह विषय ब्रह्ममीमांसासूत्र (३।३।२६) में भी विवेचनपूर्वक अच्छी तरह निर्णीत है॥७९॥

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निस्स्पृहः।
तदा सुखमवाऽऽप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥८०॥

जब परिव्राजक सभी पदार्थों में मन से ही निस्पृह हो जाता है तब इस लोक में और मरने पर भी नित्य सुख को प्राप्त करता है॥८०॥

अनेन विधिना सर्वांस् त्यक्त्वा सङ्गाञ् छनैश्शनैः।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवाऽवतिष्ठते॥८१॥

इस विधान से सभी विषयाऽऽसक्तियों को धीरे-धीरे छोडकर राग-द्वेष, सुख-दुःख इत्यादि सभी द्वन्द्वों से मुक्त होकर परिव्राजक ब्रह्म में ही रहने वाला होता है॥८१॥

ध्यानिकं सर्वमेवैतद् यदेतदभिशब्दितम्।
न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाऽश्नुते॥८२॥

जो यह परिव्राजक का क्रियाकलाप उपदिष्ट हुआ है वह सब परमात्मनिदिध्यासन से सम्बद्ध है, जीव से ऊपर के परमात्मा को नहीं जानने वाला कोई भी साधक केवल उपदिष्ट क्रियाकलाप के आचरण से ही तो उस क्रियाकलाप के फल को (मोक्ष को) प्राप्त नहीं कर सकता है॥८२॥

अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च।
आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताऽभिहितं च यत्॥८३॥

परिव्राजक (सन्न्यासी) यज्ञ के प्रतिपादक वेदभाग का जप करे, देवताओं के प्रतिपादक वेदभाग का भी जप करे, शरीरों से ऊपर के जीव के प्रतिपादक वेदभाग का भी जप करे और वेदान्त से अभिहित ब्रह्मात्मैक्यप्रतिपादक वेदभाग (उपनिषद्) का भी जप करे॥८३॥

इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम्।
इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम्॥८४॥

यह वेदरूप ब्रह्म अज्ञों का भी आश्रयदाता रक्षक है, विज्ञों का भी आश्रयदाता रक्षक है, यह स्वर्ग चाहने वालों का भी आश्रयदाता रक्षक है और यह ही मोक्ष चाहने वालों का भी आश्रयदाता रक्षक है॥८४॥

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माऽधिगच्छति॥८५॥

इस आचरणक्रम से जो ब्राह्मण गृहादि सबकुछ छोडकर चल देता है (सन्न्यास लेता है) वह इस लोक में सभी पापों को हटाकर परम ब्रह्म को प्राप्त करता है॥८५॥

एष धर्मोऽनुशिष्टो वो यतीनां नियतात्मनाम्।
वेदसन्न्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत॥८६॥

चित्त को वश में रखने वाले परिव्राजकों का यह धर्म आप लोगों को बताया गया। वेदसन्न्यासिक लोगों का तो जो कर्मयोग है उसको आप लोग अब जानिए।

विशेष— यहाँ पर कहे गए वेदसन्न्यासिक गृहस्थ ही हैं। अतः यहाँ पर गृहस्थ को ही वेदसन्न्यासिक मानने वाले गोविन्दराज का अर्थ ही ठीक लगता है। कुल्लूकभट्ट ने भी चतुर्थ अध्याय के "ज्ञानेनैवाऽपरे विप्राः" इत्यादि श्लोक की (श्लो.२४) व्याख्या में वेदसन्न्यासी गृहस्थों का उल्लेख तो किया ही है॥८६॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश् च वानप्रस्थो यतिस् तथा।
एते गृहस्थप्रभवाश् चत्वारः पृथगाश्रमाः॥८७॥

ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम ये चार अलग-अलग आश्रम हैं, ये गृहस्थाश्रम से ही निकलने वाले आश्रम हैं। [सभी आश्रमों का मूल गृहस्थाश्रम ही है]॥८७॥

सर्वेऽपि क्रमशस् त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः।
यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम्॥८८॥

ये सब ही आश्रम क्रम से शास्त्र के अनुसार पालित होने पर शास्त्र के अनुसार आचरण करने वाले ब्राह्मण को परम गति में (मोक्ष में) पहुँचाते हैं॥८८॥

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि॥८९॥

इन सभी आश्रमों में भी वेदों के और श्रौतसूत्र-गृह्यसूत्र-धर्मसूत्रादि स्मृतियों के विधानों को देखकर गृहस्थ श्रेष्ठ बताया जाता है, क्योंकि गृहस्थाश्रम ही ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम इन तीनों आश्रमों का पोषण करता है॥८९॥

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाऽऽश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥९०॥

जैसे सभी नदियाँ और नद समुद्र में आश्रय पाते हैं वैसे ही सभी आश्रमधर्मी लोग गृहस्थ में आश्रय पाते हैं॥९०॥

चतुर्भिरपि चैवैतैर् नित्यमाश्रमिभिर् द्विजैः।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः॥९१॥

इन चारों आश्रमधर्मी ब्राह्मणों से सदाकाल ही प्रयत्नपूर्वक दश रूपों से युक्त धर्म का सेवन किया जाना चाहिए॥९१॥

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर् विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥९२॥

धैर्य, क्षमा, विकार का हेतु उपस्थित होने पर भी मन का अविकार, परधन का अग्रहण, शौच, इन्द्रियों का नियन्त्रण, शास्त्रार्थ का ज्ञान, आत्मज्ञान, यथार्थ वचन, क्रोध का त्याग, यह दश प्रकारों से युक्त सर्वाश्रमसाधारण धर्म का रूप है॥९२॥

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते।
अधीत्य चाऽनुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम्॥९३॥

इन सर्वाश्रमसाधारण धर्म के दश रूपों को जो ब्राह्मण पढ़ते हैं और पढ़कर अनुसरण भी करते हैं वे परमगति को (मोक्ष को) प्राप्त करते हैं॥९३॥

दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन् समाहितः।
वेदान्तं विधिवच् छ्रुत्वा सन्न्यसेदनृणो द्विजः॥९४॥

ऋषिऋृण, पितृऋृण और देवऋृण को चुकाकर ब्राह्मण मन को संयत करके उक्त दश रूपों से युक्त धर्म का आचरण करता हुआ शास्त्र के विधान के अनुसार वेदान्त का श्रवण करके सन्न्यास-आश्रम में जाए॥९४॥

सन्न्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपाऽनुदन्।
नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत्॥९५॥

सभी कर्मों का सन्न्यास (त्याग) करके कर्म के दोषों को हटाता हुआ मन को वश में रखकर वेद का अभ्यास करके वेदसन्न्यासिक (कुटीचर) सन्न्यासी पुत्र के संरक्षण में सुख से रहे॥९५॥

एवं सन्न्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः।
सन्न्यासेनाऽपहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम्॥९६॥

इस प्रकार से श्रौतगृह्यादि कर्मों को छोडकर केवल ब्रह्मज्ञानरूप अपने ही कार्य में समर्पित वेदसन्न्यासिक (कुटीचर) सन्न्यासी किसी भी अन्य विषय की इच्छा नहीं करता हुआ सर्वकर्मसन्न्यास से पाप को नष्ट करके परम गति को (ब्रह्मात्मभाव को) प्राप्त करता है॥९६॥

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत॥९७॥

॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां षष्ठोऽध्यायः॥६॥

पवित्र और परलोक में कभी क्षीण नहीं होने वाले फल को देने वाला (मोक्ष देने वाला) यह ब्राह्मणों का चार प्रकार का (चार आश्रमों का पृथक्-पृथक्) धर्म आप लोगों को बताया गया। अब आप लोग क्षत्रिय राजाओं के धर्म को जानिए॥९७॥

॥ इस प्रकार कौण्डिन्न्यायनाऽऽचार्य-शिवराजशर्म-द्विजोत्तम से किए गए मनुस्मृति के हिन्दी अनुवाद तथा विशेष व्याख्या में षष्ठ अध्याय पूर्ण हुआ॥६॥

❁

अथ सप्तमोऽध्यायः

राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन् नृपः।
सम्भवश् च यथा तस्य सिद्धिश् च परमा यथा॥१॥

हिन्दी–

मनुस्मृतेः सप्तमेऽत्राऽध्याये भाषार्थ उच्यते।
कुल्लूकोक्तार्थमादाय शिवाख्येन द्विजन्मना॥

मनुष्यों के रक्षक को (राजा को) जिस प्रकार के चरित्र से युक्त होना चाहिए, उसकी उत्पत्ति जिस प्रकार से हुई है, उसकी उत्तम सफलता जिस प्रकार से काम करने से होती है, इस दृष्टि से अब मैं राजा के धर्मों को बताऊँगा॥१॥

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि।
सर्वस्याऽस्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम्॥२॥

वेद से बताए गए (उपनयनरूप) संस्कार पाए हुए क्षत्रिय को शास्त्र के विधान के अनुसार इस सम्पूर्ण लोक का (अपने शासन क्षेत्र के स्थावर-जङ्गम प्राणी, भूमि, जल, वायु इत्यादि सम्पूर्ण जगत् का) न्याय से सभी ओर से रक्षा करनी चाहिए।

विशेष– इस श्लोक में प्रतिपादित व्यवस्था से वैदिक शास्त्र के अन्तर्गत जो राजा होता है उसका केवल वेद, ब्राह्मण और गाय की ही नहीं, स्थावर जङ्गम प्राणी इत्यादि सभी की ही न्यायपूर्वक रक्षा करना कर्तव्य माने जाने की बात स्पष्ट होती है। अतः राजा को वेद, ब्राह्मण इत्यादि का ही रक्षक मानकर आलोचना करने की बात शास्त्रीय राजा के विषय में उचित नहीं मानी जा सकती है। इस श्लोक में **यथाविधि** शब्द यह बता रहा है कि रक्षा भी मनमाने ढङ्ग से नहीं, शास्त्र के विधान के अनुसार ही करनी चाहिए। इस से राजा का संवैधानिक राजा होना स्पष्ट होता है। यह संविधान वेद, स्मृति, पुराण, इतिहास, रामायण इत्यादि ही हैं, जिस के अधीन में राजा को रहना चाहिए॥२॥

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः॥३॥

राजा से रहित यह लोक डर से सभी ओर भागने को परवश होने पर इस सम्पूर्ण जगत् की रक्षा के लिए ईश्वर ने (ब्रह्मा ने) राजा को उत्पन्न किया॥३॥

इन्द्रा-ऽनिल-यमा-ऽर्काणामग्नेश् च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश् चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥४॥

इन्द्र के, वायु के, यम के, सूर्य के, अग्नि के, वरुण के, चन्द्रमा के और कुबेर के भी नित्य अंशों को लेकर ईश्वर ने राजा को उत्पन्न किया।

विशेष— राजा की यह सब प्रशंसा राजा को प्रोत्साहित करके उसको वास्तविक रूप में सभी प्राणियों की रक्षा करने में समर्थ बनाने की दृष्टि से की गई है॥४॥

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा॥५॥

चूँकि इन्द्र इत्यादि इन श्रेष्ठ देवताओं के अंशों से मनुष्यों का रक्षक (राजा) ईश्वर से बनाया गया है उसी कारण से यह (राजा) तेज से सभी प्राणियों को अभिभूत (विजित) करता है॥५॥

तपत्यादित्यवच् चैष चक्षुंषि च मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम्॥६॥

यह (राजा) अपने को निहारने वालों के आँखों को और मन को सूर्य की तरह तापित करता है, पृथ्वीतल में इसको (राजा को) सीधे निहारने में कोई भी समर्थ नहीं होता है॥६॥

सोऽग्निर् भवति वायुश् च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः॥७॥

वह (राजा) अपने प्रभाव से अग्नि होता है और वायु भी होता है, वह सूर्य होता है और चन्द्र भी होता है, वह धर्मराज (यम) होता है, वह कुबेर होता है, वह वरुण होता है, वह इन्द्र होता है॥७॥

बालोऽपि नाऽवमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥८॥

बालक होने पर भी राजा को 'यह भी मनुष्य ही तो है' ऐसा समझकर अनादर नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह बडी देवता मनुष्य का रूप लेकर रहती है॥८॥

एकमेव दहत्यग्निर् नरं दुरुपसर्पिणम्।
कुलं दहति राजाऽग्निः सपशुद्रव्यसञ्चयम्॥९॥

अग्नि असावधानी से अपने समीप में आने वाले एक ही मनुष्य को जलाती है, किन्तु असावधानी से एक ही मनुष्य राजा के समीप में जाने पर भी राजरूप अग्नि तो केवल उसी मनुष्य को ही नहीं, अपि तु उस मनुष्य के पशुओं से और धन से सहित सम्पूर्ण कुल को ही जलाती है॥९॥

कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः।
कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनःपुनः ॥१०॥

कार्यविशेष को सम्पन्न करने के लिए वह (राजा) अपनी शक्ति का, देश विशेष का और कालविशेष का भी यथार्थ रूप में विचार करके वार-वार कार्यविशेष में नाना प्रकार के रूपों का ग्रहण करता है॥१०॥

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर् विजयश् च पराक्रमे।
मृत्युश् च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः ॥११॥

जिस की प्रसन्नता में कमलपुष्पतुल्य मनोहर लक्ष्मी रहती है, जिस के पराक्रम में विजय रहता है, जिस के क्रोध में मृत्यु भी रहता है, अतः वह (राजा) सभी देवताओं के तेजों से युक्त है॥११॥

तं यस् तु द्वेष्टि सम्मोहात् स विनश्यत्यसंशयम्।
तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः ॥१२॥

जो मनुष्य अविवेक से उसका (राजा का) द्वेष करता है वह अवश्य ही नष्ट हो जाता है, क्योंकि राजा उसका शीघ्र विनाश करने में मन को लगाता है॥१२॥

तस्माद् धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन् नराऽधिपः।
अनिष्टं चाऽप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत् ॥१३॥

उस कारण से वह (राजा) शास्त्र में उक्त वैकल्पिक धर्मों में जिस धर्म को अनुसरणीय रूप में निश्चित करता है, और शास्त्र में निषिद्ध धर्मों में जिस धर्म को विशेष रूप से सर्वथा अकर्तव्य रूप में निश्चित करता है, उस राजकृत धर्म का लङ्घन न करे॥१३॥

तस्याऽर्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत् पूर्वमीश्वरः ॥१४॥

उसके (राजा के) लिए ईश्वर ने सभी प्राणियों का रक्षक, धर्मरूप, ब्रह्मा के तेज से निर्मित, स्वकीयपुत्ररूप दण्ड को राजा की सृष्टि से पहले ही उत्पन्न किया॥१४॥

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
भयाद् भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान् न चलन्ति च ॥१५॥

उसके (दण्ड के) भय से ही सभी स्थावर और जङ्गम प्राणी अपने-अपने कर्मफलादि के भोग में समर्थ होते हैं और अपने धर्म से विचलित भी नहीं होते हैं॥१५॥

तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चाऽवेक्ष्य तत्त्वतः ।
यथाऽर्हतः सम्प्रणयेन् नरेष्वन्यायवर्तिषु ॥१६॥

राजा उस दण्ड को देश का, काल का, अन्यायी की शक्ति का और विद्या का भी यथार्थ रूप में विचार करके अन्यायमार्ग में चलने वाले मनुष्यों में यथायोग्य रूप में प्रयुक्त करे॥१६॥

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥१७॥

वही (दण्ड ही) राजा है, पुरुष भी वही है, वही नेता है, वही शासक भी है, वही चारों आश्रमों के धर्म के विचलन का निरोधक भी है॥१७॥

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाऽभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर् बुधाः ॥१८॥

दण्ड सभी प्रजाओं को कर्तव्याऽकर्तव्य का उपदेश देता है, दण्ड ही सभी ओर से रक्षा करता है, लोगों के सोने पर भी दण्ड जागता ही रहता है, समझदार लोग दण्ड को ही धर्म के रूप में जानते हैं॥१८॥

समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः ।
असमीक्ष्य प्रणीतस् तु विनाशयति सर्वतः ॥१९॥

सभी पक्षों में ध्यान देकर अच्छी तरह प्रयुक्त करने पर दण्ड सभी प्रजा को प्रसन्न करता है, सभी पक्षों में ध्यान न देकर अनुचित रूप में प्रयुक्त करने पर तो दण्ड सभी ओर से विनाश ही करता है॥१९॥

यदि न प्रणयेद् राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः ।
शूले मत्स्यानिवाऽपक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः ॥२०॥

यदि राजा जागरूक होकर अन्याय करने वाले दण्डनीय जनों को दण्ड नहीं देता तो जैसे मनुष्य मछलियों को लोहे की सलाख में पकाते हैं वैसे ही अधिक बलवान् मनुष्य दुर्बल मनुष्यों को पकाते॥२०॥

अद्यात् काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्याद् धविस् तथा ।
स्वाम्यं च न स्यात् कस्मिंश् चित् प्रवर्तेताऽधरोत्तरम् ॥२१॥

अन्याय करने वाले दण्डनीय जनों को यदि राजा दण्ड नहीं देता तो कौवा पुरोडाश को (यज्ञ के लिए बनाए गए डोशे को) खाता, कुत्ता हवि को (हवन करने

के लिए तैयार किए गए चरु, यवागू, पायस इत्यादि हवनीय वस्तु को) चाटता, और किसी वस्तु पर किसी का भी स्वामित्व (स्वत्व) नहीं रहता, तथा जन्म, विद्या, चरित्र इत्यादि से नीच लोग ऊपर और उच्च लोग नीचे पड़ जाने की स्थिति होने लगेगी॥२१॥

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर् नरः।
दण्डस्य हि भयात् सर्वं जगद् भोगाय कल्पते॥२२॥

सब लोग दण्ड के वश में हैं, लोक में शुद्ध मन से सन्मार्ग में चलने वाला मनुष्य दुर्लभ (विरल) है। दण्ड के डर के कारण से ही सब जगत् अपनेअपने भोग में समर्थ होता है॥२२॥

देव-दानव-गन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः॥२३॥

देवता, दानव, गन्धर्व, राक्षस, पक्षी, सर्प इत्यादि जो हैं वे भी दण्ड से व्यवस्थापित होने पर ही अपने-अपने भोग में समर्थ होते हैं॥२३॥

दुष्येयुः सर्ववर्णाश् च भिद्येरन् सर्वसेतवः।
सर्वलोकप्रकोपश् च भवेद् दण्डस्य विभ्रमात्॥२४॥

दण्ड का विचलन होगा तो सभी ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्ण के मनुष्य विवाह-आचार-विचार-भोजनादि की अव्यवस्था से विकृत हो जाएंगे, सभी सीमाएँ (मर्यादाएँ) टूट जाएंगी, सम्पूर्ण लोक का क्षोभ भी हो जाएगा॥२४॥

यत्र श्यामो लोहिताऽक्षो दण्डश् चरति पापहा।
प्रजास् तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत् साधु पश्यति॥२५॥

यदि दण्ड का प्रयोग करने वाला पुरुष ठीक प्रकार से देखता है तो जहाँ श्याम वर्ण वाला, लाल नेत्रों से युक्त और शास्त्रनिषिद्ध आचरण को रोकने वाला दण्ड घूमता रहता है वहाँ प्रजा कर्तव्याऽकर्तव्य के विषय में भ्रम में नहीं पड़ती हैं॥२५॥

तस्याऽऽहुः सम्प्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामाऽर्थकोविदम्॥२६॥

सत्य बोलने वाले, सभी ओर से देखकर काम करने वाले, समझदार, धर्म-अर्थ-कामों के विषय में विशेषज्ञ राजा को ही मुनि लोग। उस दण्ड का प्रयोग करने में योग्य बताते हैं॥२६॥

तं राजा प्रणयन् सम्यक् त्रिवर्गेणाऽभिवर्धते।
कामाऽऽत्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते॥२७॥

उस दण्ड को ठीक प्रकार से प्रयोग करता हुआ राजा धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों की प्राप्ति से समृद्ध होता है; अपनी कामना को ही प्रधानता देने वाला, शास्त्र के निर्देशन को न मानकर समान स्थिति में किसी के प्रति कुछ और किसी के प्रति कुछ व्यवहार करने वाला (न्यायप्रदान में पक्षपात करने वाला) और छोटे विचार का (विना गम्भीर विचार दण्ड का प्रयोग करने वाला) राजा उसी दण्ड से (अमात्य, सुहृत्, प्रजा इत्यादि का प्रकोप होने पर) मारा जाता है॥२७॥

दण्डो हि सुमहत् तेजो दुर्धरश् चाऽकृताऽऽत्मभिः।
धर्माद् विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्॥२८॥

दण्ड बहुत ही बडा तेज है, उसको विषयज्ञान से और समुचित भावना से सुपरिष्कृत बुद्धि से रहित पुरुषों से ठीक प्रकार से प्रयोग में लाना कठिन है। दण्ड स्वधर्म से विचलित राजा को उसके बान्धवों के साथ ही नष्ट कर देता है॥२८॥

ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम्।
अन्तरिक्षगतांश् चैव मुनीन् देवांश् च पीडयेत्॥२९॥

दण्ड का प्रयोक्ता राजा स्वधर्म से विचलित होने पर सभी बान्धवों से सहित राजा को नष्ट करने के बाद दण्ड कीले को, राष्ट्र को, स्थावर और जङ्गम प्राणियों से युक्त पृथ्वीलोक को, अन्तरिक्ष में रहने वाले मुनियों को और देवताओं को भी पीडित कर सकता है॥२९॥

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाऽकृतबुद्धिना।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च॥३०॥

वह दण्ड योग्य सहायकों से रहित, व्यवहार के विषयों को ठीक प्रकार से न समझ सकने वाले, लोभी, ज्ञान से और भावना से परिष्कृत बुद्धि से रहित और अर्थ-काम-सम्बद्ध विषयों में आसक्ति से युक्त पुरुष से न्याय मार्ग में नहीं ले जाया जा सकता है॥३०॥

शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्राऽनुसारिणा।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता॥३१॥

अर्थशौचादि शौच से युक्त, अपनी प्रतिज्ञा की पालना करने वाले, शास्त्र के अनुसार व्यवहार करने वाले, योग्य सहायकों से युक्त और शास्त्रपरिष्कृत बुद्धि वाले पुरुष से ही दण्ड ठीक प्रकार से प्रयुक्त किया जा सकता है॥३१॥

स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद् भृशदण्डश् च शत्रुषु।
सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमाऽन्वितः॥३२॥

राजा अपनी जनता के प्रति न्यायसम्मत वर्ताव करने वाला होवे, शत्रुओं के प्रति कठोर बल का प्रयोग करने वाला होवे, अपने में प्रेम रखने वाले सज्जनों के प्रति सरल व्यवहार करने वाला होवे, ब्राह्मणों के प्रति क्षमा करने वाला होवे।

विशेष– इस श्लोक में राजा को अपने राष्ट्र के सभी लोगों के प्रति न्यायपूर्ण व्यवहार करने के लिए निर्देशन किया गया है॥३२॥

एवंवृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनाऽपि जीवतः।
विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाऽम्भसि॥३३॥

इस प्रकार के चरित्र से युक्त होने पर शिलोञ्छ से (बहुत अल्प साधनों से) जीवन निर्वाह करने वाले राजा का भी यश पानी में तेल की बूँद की तरह लोक में फैल जाता है॥३३॥

अतस् तु विपरीतस्य नृपतेरजिताऽऽत्मनः।
सङ्क्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाऽम्भसि॥३४॥

इस से विपरीत चरित्र से युक्त और मन को वश में नहीं रख सकने वाले राजा का यश तो पानी में घी की बूँद की तरह लोक में सिकुड जाता है॥३४॥

स्वेस्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता॥३५॥

शास्त्रोक्त क्रम से अपने-अपने धर्म में प्रवृत्त ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि वर्ण के मनुष्यों की और ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थाश्रम इत्यादि आश्रम के मनुष्यों की भी रक्षा करने वाला राजा ब्रह्मा जी से उत्पन्न किया गया है।

विशेष– अपनेअपने शास्त्रोक्त धर्म में रहने वालों की रक्षा करके रक्षणरूप स्वधर्म पालन करने वाला ही राजा माना जाता है। उसी को देवता का अंश माना गया है। रक्षणरूप स्वधर्म का पालन नहीं करने वाला राजा तो राक्षस का अंश माना जाता है। शुक्रनीति में कहा ही गया है– "यो हि धर्मपरो राजा देवाऽंशोऽन्यश् च रक्षसाम्। अंशभूतो धर्मलोपी प्रजापीडाकरो भवेत्" (१।७०)॥३५॥

तेन यद्यत् सभृत्येन कर्तव्यं रक्षता प्रजाः।
तत्तद् वोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥३६॥

प्रजा की रक्षा में संलग्न राजा से अपने भृत्यों को साथ में लेकर जो-जो कार्य किया जाना चाहिए उस-उस कार्य को यथार्थ रूप में क्रम से मैं आप लोगों को बताऊँगा॥३६॥

ब्राह्मणान् पर्युपाऽऽसीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः।
त्रैविद्यवृद्धान् विदुषस् तिष्ठेत् तेषां च शासने॥३७॥

राजा प्रतिदिन प्रातःकाल में उठकर ऋग्वेद में, यजुर्वेद में और सामवेद में पारङ्गत तथा समझदार ब्राह्मणों के पास में जाए और उनकी आज्ञा के अनुसार काम करे।

विशेष— इस व्यवस्था से वैदिक परम्परा का राजा निरङ्कुश शासक नहीं है, यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। वैदिक परम्परा के राजा का उस से स्वयम् की गई प्रतिज्ञा से, धर्मभावना से, शास्त्र से, पुरोहित से, वृद्ध मन्त्रियों से और ब्रह्मवर्चस-युक्त ब्राह्मणों से भी स्वेच्छाचारिता से नियन्त्रण होने की बात शास्त्र बताते हैं॥३७॥

वृद्धांश् च नित्यं सेवेत विप्रान् वेदविदः शुचीन्।
वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते॥३८॥

राजा शुद्ध हृदय वाले और वेद जानने वाले वृद्ध ब्राह्मणों की सेवा सदाकाल करता रहे, क्योंकि वृद्धों की सेवा करने वाला मनुष्य राक्षसों से भी सदाकाल पूजित (सम्मानित) होता है (मनुष्यों की तो बात ही क्या है)॥३८॥

तेभ्योऽधिगच्छेद् विनयं विनीताऽऽत्माऽपि नित्यशः।
विनीताऽऽत्मा हि नृपतिर् न विनश्यति कर्हिचित्॥३९॥

वशीकृत मन से युक्त ही होने पर भी राजा उन शुद्ध हृदय वाले वेदज्ञ वृद्ध ब्राह्मणों से शरीर-इन्द्रिय-मन का वशीकरण सर्वदा सीखता रहे, क्योंकि वशीकृत मन से युक्त राजा ही कदापि नष्ट नहीं होता है॥३९॥

बहवोऽविनयान् नष्टा राजानः सपरिच्छदाः।
वनस्था अपि राज्यानि विनयात् प्रतिपेदिरे॥४०॥

बन्धु, सेना, वाहन, धन इत्यादि उपकरणों से सहित बहुत-से राजा अविनय के कारण नष्ट हुए हैं, वन में रहने वाले बहुत-से राजाओं ने विनय के कारण राज्य पाए हैं॥४०॥

वेनो विनष्टोऽविनयान् नहुषश् चैव पार्थिवः।
सुदाः पैजवनश् चैव सुमुखो निमिरेव च॥४१॥

राजा वेन अविनय के कारण से नष्ट हुआ, राजा नहुष भी अविनय से ही नष्ट हुआ, पिजवन का पुत्त्र सुदा, सुमुख और निमि भी अविनय से नष्ट हुए।

विशेष— वेन की कथा महाभारत में (१२।५९।९३–९८) विष्णुपुराण में (१।१३।१०–२९) और भागवत में (४।१४।२–४२) भी है; नहुष की कथा महाभारत में (१।७५।२६–३०; ५।१७।१४–१८; १२।३४२।४४–५२; १३।९९।१०–१००।२५), ब्रह्माण्ड-पुराण में, भागवत में (६।१३।१६) और मत्स्यपुराणादि में भी आई है; पैजवन का उल्लेख महाभारत में (१२।६०।३९) है; सुदा पैजवन की कथा और सुमुख निमि की कथा तो लोक में प्रसिद्ध नहीं है॥४१॥

पृथुस् तु विनयाद् राज्यं प्राप्तवान् मनुरेव च।
कुबेरश् च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः॥४२॥

विनय के कारण से ही पृथु ने राज्य पाया, मनु ने भी विनय के कारण से ही राज्य पाया, विनय के कारण से ही कुबेर ने धन का स्वामित्व पाया और गाधिपुत्र विश्वामित्र ने विनय से ही ब्राह्मणत्व पाया। [पृथु, मनु, कुबेर और विश्वामित्र की कथाएँ पुराणों में प्रसिद्ध हैं।]॥४२॥

त्रैविद्येभ्यस् त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीं चाऽऽत्मविद्यां वार्तारम्भांश् च लोकतः॥४३॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के विज्ञ आचार्यों से वेदविद्या को सीखे, अनादिपरम्पराऽऽगत राजनीति को भी विज्ञों से सीखे, वस्तुस्वभाव की परीक्षा से ज्ञान देने वाली आन्वीक्षिकी विद्या को (तर्कविद्या को) भी सीखे, ब्रह्मात्मविद्या को भी सीखे और कृषि-पशुपालन-वाणिज्य विषयक ज्ञान को भी लोक से (लोकव्यवहार से) सीखे॥४३॥

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद् दिवानिशम्।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः॥४४॥

राजा रात-दिन इन्द्रियों को जीतने में प्रयत्न करे, क्योंकि इन्द्रियों को जीतने वाला ही प्रजा को वश में रख सकता है॥४४॥

दश कामसमुत्थानि तथाऽष्टौ क्रोधजानि च।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत्॥४५॥

काम से उत्पन्न होने वाले दश और क्रोध से उत्पन्न आठ अन्त (उच्छेद) करने में कठिन व्यसनों (लतों) को यत्नपूर्वक परिहार करे॥४५॥

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु॥४६॥

काम से उत्पन्न होने वाले व्यसनों में फँसा हुआ राजा अर्थ से (धन से) और धर्म से वियुक्त होता है, क्रोध से उत्पन्न व्यसनों में फँसा हुआ राजा तो शरीर से ही वियुक्त हो जाता है (मृत्यु को ही प्राप्त करता है)॥४६॥

मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाऽट्या च कामजो दशको गणः॥४७॥

१. शिकार करना, २. जुआ खेलना, ३. दिन में सोना, ४. किसी के दोषों का वर्णन में रमना, ५. नई-नई स्त्रियों से सम्भोग करना, ६. नशे में चूर रहना, ७. नाच देखने में लगे रहना, ८. गीत सुनने में लगे रहना, ९. वाद्यवादन सुनने में लगे रहना और १०. व्यर्थ भ्रमण में लगे रहना, यह काम से उत्पन्न होने वाले दश व्यसनों का समूह है॥४७॥

पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽसूयाऽर्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः॥४८॥

१. चुगलखोरी, २. अन्यायपूर्ण वध-बन्धन-स्त्रीसङ्ग्रहणादि कार्य, ३. अपकार, ४. दूसरे के गुण का असहन, ५. दूसरे के गुण में भी दोष का आरोपण, ६. दूसरे को आर्थिक हानि पहुँचाना, ७. वाक्पारुष्य (बुरी गाली देना), ८. दण्डपारुष्य (कठोर दण्ड देना), यह क्रोध से उत्पन्न होने वाले आठ व्यसनों का समूह है॥४८॥

द्वयोरप्येतयोर् मूलं यं सर्वे कवयो विदुः।
तं यत्नेन जयेल् लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ॥४९॥

सभी परोक्षदर्शी विद्वान् जिस को इन दोनों व्यसनसमूहों का जड मानते हैं उस लोभ को प्रयत्न से जीते, ये दोनों गण (कामजगण और क्रोधजगण) उसी लोभ से उत्पन्न हैं॥४९॥

पानमक्षास् स्त्रियश् चैव मृगया च यथाक्रमम्।
एतत् कष्टतमं विद्याच् चतुष्कं कामजे गणे॥५०॥

काम से उत्पन्न व्यसनों के गण में दुस्त्यजत्वातिशय के क्रम से निर्दिष्ट मद्यपान, जूआ, अनेक स्त्रियों से सम्भोग और शिकार इन चारों के समुदाय को अत्यन्त कष्टकारक जाने॥५०॥

दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात् कष्टमेतत् त्रिकं सदा॥५१॥

क्रोध से उत्पन्न व्यसनों के गण में भी कठोर दण्डप्रयोग (दण्डपारुष्य), कटु वचन का प्रयोग और आर्थिक हानि पहुँचाना इन तीनों के समुदाय को सदा विशेष कष्टकर जाने॥५१॥

सप्तकस्याऽस्य वर्गस्य सर्वत्रैवाऽनुषङ्गिणः।
पूर्वंपूर्वं गुरुतरं विद्याद् व्यसनमात्मवान्॥५२॥

मन को वश में रखने वाला राजा सभी राजाओं में अनुगत रूप में रहने वाले सात व्यसनों से युक्त इस समुदाय में पाठक्रम से पहले-पहले व्यसन को दूसरे-दूस व्यसन से अधिक कष्टदायक व्यसन जाने॥५२॥

व्यसनस्य च मृत्योश् च व्यसनं कष्टमुच्यते।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर् यात्यव्यसनी मृतः॥५३॥

व्यसन (लत) और मृत्यु इन दो में व्यसन अधिक दुःखदायक बताया जाता है, क्योंकि व्यसन वाला मरने पर भी एक नरक से दूसरे अधिक कष्टदायक नरक में जाता रहता है, व्यसन से रहित मनुष्य तो मरने पर स्वर्ग को जाता है॥५३॥

मौलाञ् छास्त्रविदः शूरालँ लब्धलक्षान् कुलोद्भवान्।
सचिवान् सप्त चाऽष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्॥५४॥

राजा वंशक्रम से आए हुए, शास्त्र जानने वाले, शूरवीर, लक्षवेध करने में निपुण, उच्च कुल में उत्पन्न तथा विविध उपायों से परीक्षा करने पर योग्य पाए गए सात अथवा आठ मनुष्यों को धीसचिव (मन्त्री) बनाए॥५४॥

अपि यत् सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किं नु राज्यं महोदयम्॥५५॥

जो काम सुख से किया जा सकने वाला है वह भी अकेले मनुष्य से किए जाने पर दुःख से ही किया जा सकता है, विशेष रूप में जो महान् फल देने वाला राजकर्म है वह सहायों से रहित मनुष्य से कैसे किया जा सकता है (अतः सात वा आठ पूर्वोक्तलक्षणयुक्त मनुष्यों को मन्त्री बनाए)॥५५॥

तैः सार्धं चिन्तयेन् नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च॥५६॥

उन मन्त्रियों के साथ में सामान्य रूप से सन्धि का, विग्रह का, स्थान का (दण्ड-कोश-पुर-राष्ट्ररूप स्थान का), समुदय का (राजभागरूप आय का), गुप्ति का (अपनी और सम्पूर्ण राष्ट्र की रक्षा का) और प्राप्त भूमि-हिरण्यादि धन के सदुपयोग का भी चिन्तन करे॥५६॥

तेषां स्वंस्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक्-पृथक्।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद् धितमात्मनः ॥५७॥

उपस्थित कार्यों के विषय में उन मन्त्रियों में से एकएक के अभिप्राय को अलग-अलग रूप में लेकर फिर सभी के सामूहिक अभिप्राय को भी लेकर अपना हित करे॥५७॥

सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता।
मन्त्रयेत् परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम् ॥५८॥

उन मन्त्रियों में से उत्तम दूरस्थकार्यतत्त्वदर्शी ब्राह्मण मन्त्री के साथ सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध, आश्रय इन छह कार्यगुणों के विचार से किए जाने वाले अन्तिम निर्णय के विषय में सम्मन्त्रणा करे॥५८॥

नित्यं तस्मिन् समाश्वस्तः सर्वकार्याणि निक्षिपेत्।
तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत् ॥५९॥

उस विशिष्ट मन्त्री में सदाकाल विश्वस्त होकर सभी कार्य उसके आगे रख दे, उसके साथ में विचार करके कार्यनिर्णय करके ही उसके बाद कार्यारम्भ करे॥५९॥

अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन् प्राज्ञानवस्थितान्।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान् सुपरीक्षितान् ॥६०॥

राजा और भी शुद्धहृदय वाले, समझदार, अपने पक्ष में स्थिर, अच्छी तरह से राजस्व का सङ्कलन करने,वाले, विविध परीक्षाओं से परीक्षण करने पर योग्य पाए गए मनुष्यों को अमात्य (कार्यसचिव) बनाए॥६०॥

निर्वर्तेताऽस्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः।
तावतोऽतन्द्रितान् दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥६१॥

अपने से सम्पादनीय सभी काम जितने मनुष्यों से सम्पन्न हो सकते हैं उतने ही जागरूक, आलस्यरहित और ततृतत् कार्य को अच्छी तरह जानने वाले मनुष्यों को अमात्य (कार्यसचिंव) बनाए॥६१॥

तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान् दक्षान् कुलोद्गतान्।
शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥६२॥

उन अमात्यों में से शूरवीर, चतुर, कुलक्रम से आए हुए और अर्थव्यवहार में सच्चाई से काम करने वाले अमात्यों को विविध प्रकार के आय-व्ययरूप

अर्थव्यवहार में और सोना चाँदी इत्यादि के खानों के काम में नियुक्त करे, डरने वाले स्वभाव के अमात्यों को राजगृह के अन्दरूनी कामों में लगाए॥६२॥

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्।
इङ्गिताऽऽकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम्॥६३॥

सभी शास्त्रों में निपुण, मनुष्य के अभिप्रायविशेष के सूचक स्वरविशेषादि विशेषों का, कोप-प्रसादादि मनोभावों के सूचक मुखरागादि मुखावस्थाविशेषों का और अभिप्रायविशेष के सूचक हस्तपादादि के गतिविशेषों का भी विज्ञ, शुद्धहृदय वाले, चतुर और कुलीन मनुष्य को दूत बनाए।

विशेष— आन्तरिक इरादों का आभास देने वाला और दूसरे कार्य में लगने पर भी अनायास प्रकट होने वाला रोमाञ्चादि लक्षणविशेष इङ्गित कहा जाता है॥६३॥

अनुरक्तः शुचिर् दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित्।
वपुष्मान् वीतभीर् वाग्ग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते॥६४॥

(जनता में) अनुराग से युक्त, शुद्धहृदय वाला, चतुर, विशिष्ट स्मरणशक्ति से युक्त, देश की और काल की विशेषताओं को जानने वाला, आकर्षक शरीर वाला, भयरहित तथा उचित परिमित और स्पष्ट बोली बोलने वाला मनुष्य राजा के दूत के रूप में प्रशंसनीय (ग्राह्य) माना जाता है॥६४॥

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया।
नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते सन्धिविपर्ययौ॥६५॥

दण्ड (सेना) अमात्य के (सेनापति के) अधीन में रहता है, स्वजनों को और परजनों को भी स्वाभीष्ट मार्ग में ले जाने की क्रिया दण्ड के (सेना के) अधीन में रहता है, कोश और राष्ट्र (जनता) राजा के अधीन में रहते हैं और सन्धि और विग्रह दूत के अधीन में रहते हैं॥६५॥

दूत एव हि सन्धत्ते भिनत्त्येव च संहतान्।
दूतस् तत् कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः॥६६॥

दूत ही विग्रह में रहे हुए राजाओं को जोडता है (सन्धि कराता है) और सन्धि में रहे हुए राजाओं को फुटाता भी है (विग्रह कराता भी है)। दूत वैसा कर्म भी करता है जिस से मिले हुए मनुष्य परस्पर में फूट जाते हैं॥६६॥

स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितैः।
आकारमिङ्गितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम्॥६७॥

दूत दूसरे राजा के क्रियाकलापों में व्यक्त गुप्त इङ्गितों से और चेष्टाओं से भी उस राजा के भृत्यों के विषय में प्रवृत्त आकार को, इङ्गित को और चेष्टा को तथा किए जा रहे काम को भी जाने॥६७॥

बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम्।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद् यथाऽऽत्मानं न पीडयेत्॥६८॥

दूसरे राजा से किए जा रहे कार्य को विविध उपायों से यथार्थ रूप में मालूम करके उस प्रकार से यत्न करे जिस से दूसरा राजा अपने को पीडित नहीं कर सके॥६८॥

जाङ्गलं सस्यसम्पन्नमार्यप्रायमनाविलम्।
रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत्॥६९॥

राजा अल्प जल और तृण से युक्त तथा प्रचुर वायु-प्रचार और सूर्यातप से युक्त, धान्यादि उपजने वाले, आर्यजनबहुल, कीचड से रहित, रमणीय, वशीकृत सामन्तों से युक्त और सुलभ जीवनसाधन से सम्पन्न देश में निवास करे॥६९॥

धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत् पुरम्॥७०॥

राजा मरुभूमिरूप दुर्ग का अथवा पृथिवीदुर्ग का अथवा जलदुर्ग का अथवा वृक्षों के दुर्ग का अथवा मनुष्यदुर्ग का अथवा पर्वतदुर्ग का आश्रय लेकर नगर में (कीले में) निवास करे॥७०॥

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत्।
एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते॥७१॥

राजा सभी प्रयत्न से गिरिदुर्ग का आश्रय करे, क्योंकि उक्त दुर्गों में से दुर्गगुण की अधिकता से गिरिदुर्ग सब से विशिष्ट होता है॥७१॥

त्रीण्याद्यान्याश्रितास् त्वेषां मृग-गर्ताऽऽश्रया-ऽप्सराः।
त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवङ्गम-नरा-ऽमराः॥७२॥

इन दुर्गों में से मृग, सर्पादि और जलचर क्रमशः पहले तीन दुर्गों में आश्रित रहते हैं, तथा वानर, मनुष्य और देवता क्रमशः अन्तिम तीन दुर्गों में आश्रित रहते हैं॥७२॥

यथा दुर्गाऽऽश्रितानेतान् नोपहिंसन्ति शत्रवः।
तथाऽरयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम्॥७३॥

जैसे अपने-अपने दुर्ग में आश्रित इन मृग, सर्प इत्यादि को इन के शत्रु नहीं मार सकते हैं वैसे ही दुर्ग में आश्रित राजा को भी शत्रु नहीं मार सकते हैं॥७३॥

एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः।
शतं दशसहस्राणि तस्माद् दुर्गं विधीयते॥७४॥

प्राकार में (दुर्ग में) रहता हुआ एक धनुर्धारी बाहर से आने वाले सौ योद्धाओं को युद्ध में व्यस्त कर सकता है और प्राकारों में रहते हुए सौ धनुर्धारी बाहर से आने वाले दश हजार योद्धाओं को युद्ध में व्यस्त कर सकते हैं, उस कारण से शास्त्र में दुर्गविधान का उपदेश किया जाता है॥७४॥

तत् स्यादायुधसम्पन्नं धनधान्येन वाहनैः।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर् यन्त्रैर् यवसेनोदकेन च॥७५॥

वह दुर्ग हथियारों से, धन से, खाद्यान्नों से, वाहनों से, ब्राह्मणों से, कारीगरों से, यन्त्रों से, पशुखाद्य घास पुआल इत्यादि से और जल से भी सम्पन्न होवे॥७५॥

तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद् गृहमात्मनः।
गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम्॥७६॥

उस दुर्ग के (कीले के) बीच में अपने लिए सुरक्षित, सभी ऋतुओं का अनुकूल, सफेद, जल से तथा वृक्षों से युक्त और आवश्यक सभी विषयों के लिए जगह देने में योग्य घर बनवाए॥७६॥

तदध्यास्योद्वहेद् भार्यां सवर्णां लक्षणाऽन्विताम्।
कुले महति सम्भूतां हृद्यां रूपगुणाऽन्विताम्॥७७॥

उस घर में रहकर राजा अपने वर्ण की, सुलक्षणों से युक्त, बडे कुल में उत्पन्न, अपने हृदय की अनुकूल, रूप से और स्त्रीगुणों से युक्त भार्या को ब्याहे॥७७॥

पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजः।
तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर् वैतानिकानि च॥७८॥

राजा पुरोहित का भी वरण करे और ऋत्विक् लोगों का भी वरण करे। वे लोग इसके गृह्य अग्नि में किए जाने वाले सायम्प्रातर् अग्निपरिचरणादि कर्म और श्रौत अग्नि में किए जाने वाले अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास-आग्रयण-चातुर्मास्य-निरूढ-पशुबन्धादि कर्म करें॥७८॥

यजेत राजा क्रतुभिर् विविधैराप्तदक्षिणैः।
धर्माऽर्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद् भोगान् धनानि च॥७९॥

राजा पर्याप्त दक्षिणाओं से युक्त नाना प्रकार के सोमयागों से यजन करे और धर्म के लिए ब्राह्मणों को स्त्री, गृह, शय्या, वस्त्रादि भोग्य द्रव्य और गौ, सुवर्ण, भूमि इत्यादि धन भी दे॥७९॥

सांवत्सरिकमाप्तैश् च राष्ट्रादाहारयेद् बलिम्।
स्याच् चाऽऽम्नायपरो लोके वर्तेत पितृवन् नृषु॥८०॥

राजा राष्ट्र से (जनता से) आप्त पुरुषों के द्वारा वार्षिक कर प्राप्त करे। लोक में करग्रहणादि में वेदादिशास्त्र का अनुसरण करने वाला होवे, और मनुष्यों के ऊपर पिता की तरह वर्ताव करने वाला होवे।

विशेष— इस से वैदिक परम्परा के राजा को स्वेच्छाचारिता का छूट नहीं है, उसको शास्त्र के निर्देशन के अनुसार ही काम करना चाहिए, यह बात अवगत होती है। साथ ही **"नृषु"** इस पद से अपने राष्ट्र के मानवमात्र में पितृवत् हितैषी भी राजा को होना चाहिए यह बात भी स्पष्ट होती है॥८०॥

अध्यक्षान् विविधान् कुर्यात् तत्रतत्र विपश्चितः।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन् नृणां कार्याणि कुर्वताम्॥८१॥

उस-उस विभाग में तत्तद् विषय के विद्वान् विभिन्न अध्यक्षों को नियुक्त करे। वे उस-उस विभाग में काम करने वाले मनुष्यों के सभी कार्यों का अवेक्षण करें।

विशेष— अध्यक्षों का विवरण कौटलीय अर्थशास्त्र में मिलता है। उसी को लेकर हम ने वेदभाषानिघण्टु के भूलोककाण्ड के क्षत्त्रवर्ग में दिया है। मन्त्रिपरिषदध्यक्ष, अक्षपटलाध्यक्ष, पुराध्यक्ष, कनकाध्यक्ष, लक्षणाध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष, सीताध्यक्ष, गोध्यक्ष, पण्याध्यक्ष, पौतवाध्यक्ष, मानाध्यक्ष, शुल्काध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, नावध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, कोष्ठागाराध्यक्ष, कुप्याध्यक्ष, सुराध्यक्ष, गणिकाध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, हस्त्यध्यक्ष, पत्त्यध्यक्ष इत्यादि अध्यक्ष वहाँ उल्लिखित हैं॥८१॥

आवृत्तानां गुरुकुलाद् विप्राणां पूजको भवेत्।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर् ब्राह्मोऽभिधीयते॥८२॥

राजा गुरुकुल से लौटे हुए ब्राह्मणों को पूजने वाला होवे, क्योंकि ये गुरुकुल से लौटे हुए ब्राह्मण राजाओं का कभी क्षीण नहीं होने वाला ब्राह्म खजाना बताया जाता है॥८२॥

न तं स्तेना न चाऽमित्रा हरन्ति न च नश्यति।
तस्माद् राज्ञा निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः॥८३॥

उस खजाने को चोर भी नहीं चोर सकते हैं, शत्रु भी हरण नहीं कर सकते हैं, वह खजाना नष्ट भी नहीं होता है। उस कारण से राजा को ब्राह्मणों में कभी क्षीण नहीं होने वाला खजाना रखना चाहिए॥८३॥

न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित्।
वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम्॥८४॥

ब्राह्मण के मुख में (हाथ में) होमा गया हवि (दिया गया दान) बाहर नहीं गिरता है, दूषित भी नहीं होता है और कभी भी नष्ट भी नहीं होता है, अत एव (ब्राह्मण को दिया गया दान) अग्निहोत्रादि सभी प्रकार के हवनों से श्रेष्ठ है॥८४॥

सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे।
प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे॥८५॥

अब्राह्मण क्षत्रियादि में दिया गया दान दत्तवस्तुतुल्य फल देने वाला होता है, ब्राह्मणब्रुव (क्रियाहीन) ब्राह्मण में दिया गया दान दत्तवस्तु का दुगुना फल देने वाला होता है, वेद के अध्ययन का प्रारम्भ किए हुए ब्राह्मण को दिया गया दान दत्तवस्तु का लाखगुना फल देने वाला होता है, वेद में पारङ्गत ब्राह्मण को दिया गया दान तो अनन्त फल देने वाला होता है॥८५॥

पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्दधानतयैव च।
अल्पं वा बहु वा प्रेत्य दानस्य फलमश्नुते॥८६॥

देय पात्र की विशेषता से और दाता की श्रद्धा के तारतम्य से भी दाता परलोक में दान का थोडा अथवा बहुत फल पाता है॥८६॥

समोत्तमाऽधमै राजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः।
न निवर्तेत सङ्ग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्॥८७॥

क्षत्रिय के धर्म का स्मरण करता हुआ और प्रजा का पालन करता हुआ राजा अपने तुल्य राजा से अथवा अपने से बडे राजा से अथवा अपने से छोटे राजा से भी युद्ध के लिए बुलाए जाने पर युद्ध से पराङ्मुख नहीं होवे॥८७॥

सङ्ग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम्।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम्॥८८॥

युद्ध से नहीं भागना, प्रजाओं का पालन करना और ब्राह्मणों की सेवा करना ये तीन कार्य राजाओं के लिए परम कल्याणकारी होते हैं॥८८॥

आहवेषु मिथोऽन्योऽन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः॥८९॥

युद्धों में एक-दूसरे को मारने की इच्छा करते हुए अपनी सम्पूर्ण शक्ति से युद्ध करने वाले राजा लोग पीठ दिखाकर युद्ध से नहीं भागते हुए मरने पर स्वर्ग जाते हैं॥८९॥

न कूटैरायुधैर् हन्याद् युध्यमानो रणे रिपून्।
न कर्णिभिर् नाऽपि दिग्धैर् नाऽग्निज्वलिततेजनैः॥९०॥

युद्ध में लडता हुआ राजा शत्रुओं में छद्मशस्त्रों से प्रहार न करे, कर्णाकार अग्रभागों से युक्त हथियार से भी प्रहार न करे, विष से लिप्त हथियार से भी प्रहार न करे, आग से जलते हुए अग्रभाग वाले हथियार से भी प्रहार न करे॥९०॥

न च हन्यात् स्थलाऽऽरूढं न क्लीबं न कृताऽञ्जलिम्।
न मुक्तकेशं नाऽऽसीनं न तवाऽस्मीतिवादिनम्॥९१॥

युद्ध से बचने के लिए किसी उच्च स्थल में आरूढ शत्रु में भी प्रहार न करे, नपुंसक (उत्साहहीन शत्रु) में भी प्रहार न करे, हाथ जोडते हुए शत्रु में भी प्रहार न करे, वाल खोले हुए शत्रु में भी प्रहार न करे, बैठे हुए शत्रु में भी प्रहार न करे, 'आप का हूँ' ऐसा कहने वाले शत्रु में भी प्रहार न करे॥९१॥

न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम्।
नाऽयुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम्॥९२॥

सोए हुए शत्रु में भी प्रहार न करे, कवच से रहित शत्रु में भी प्रहार न करे, नङ्गे शत्रु में भी प्रहार न करे, शस्त्राऽस्त्र से रहित शत्रु में भी प्रहार न करे, युद्ध में असंलग्न और युद्ध को देखने वाले मनुष्य में भी प्रहार न करे, दूसरे से द्वन्द्वयुद्ध में संलग्न शत्रु में भी प्रहार न करे॥९२॥

नाऽऽयुधव्यसनप्राप्तं नाऽऽर्तं नाऽतिपरिक्षतम्।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन्॥९३॥

सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण करता हुआ युद्ध में प्रवृत्त राजा हथियार बिगड जाने से असमञ्जस में पड़े हुए शत्रु में भी प्रहार न करे, पुत्रशोकादि से पीडित शत्रु में भी प्रहार न करे, बूरी तरह घायल शत्रु में भी प्रहार न करे, डरे हुए शत्रु में भी प्रहार न करे, युद्ध से लौटे हुए (पराङ्मुख) शत्रु में भी प्रहार न करे॥९३॥

यस् तु भीतः परावृत्तः सङ्ग्रामे हन्यते परैः।
भर्तुर् यद् दुष्कृतं किञ्चित् तत् सर्वं प्रतिपद्यते॥९४॥

जो डरा हुआ और युद्ध से लौटता हुआ (पराङ्मुख) योद्धा युद्ध में शत्रुओं से मारा जाता है वह तो स्वामी का जो कुछ पाप है उस सब पाप को प्राप्त करता है॥९४॥

यच् चाऽस्य सुकृतं किञ्चिदमुत्राऽर्थमुपाऽर्जितम्।
भर्ता तत् सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु॥९५॥

युद्ध से पराङ्मुख होने पर मारे जाने पर तो इसका परलोक के लिए जो कुछ धर्म अर्जित किया गया होता है वह सब स्वामी ले लेता है॥९५॥

रथाऽश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून् स्त्रियः।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज् जयति तस्य तत्॥९६॥

युद्ध में रथ, घोडा, हाथी, छाता, धन, धान्य, पशु, स्त्रियाँ, सभी प्रकार के द्रव्य, सोना-चाँदी से भिन्न ताँबा-पीतल इत्यादि द्रव्य, इन में से जिस-जिस वस्तु को जो-जो जीतकर लाता है वह उसी-उसी का होता है॥९६॥

राज्ञश् च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग् जितम्॥९७॥

जीते हुए वस्तुओं में से योद्धा लोग उत्कृष्ट वस्तु राजा को दें, ऐसी वैदिकों की श्रुति है। सामूहिक रूप में जीता गया द्रव्य तो राजा को सभी योद्धाओं में बाँट देना चाहिए॥९७॥

एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मः सनातनः।
अस्माद् धर्मान् न च्यवेत क्षत्रियो घ्नन् रणे रिपून्॥९८॥

यह अनादि परम्परा से आया हुआ और अपनी ओर से तोडमरोड नहीं किया गया योद्धा का धर्म बताया गया। युद्ध में शत्रुओं को मारता हुआ क्षत्रिय इस धर्म से भ्रष्ट नहीं होवे॥९८॥

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत् प्रयत्नतः।
रक्षितं वर्धयेच् चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत्॥९९॥

नहीं पाए गए भूमि सुवर्ण इत्यादि धन को पाने की इच्छा करे, पाए गए धन की रक्षा प्रयत्न से करे, रक्षित धन को (प्रयत्न से) बढाए भी, बढे हुए धन को पात्रों में रख दे (सत्पात्रों में दान दे)॥९९॥

एतच् चतुर्विधं विद्यात् पुरुषार्थप्रयोजनम्।
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक् कुर्यादतन्द्रितः ॥१००॥

राजा इन चार प्रकार के कर्म को स्वर्गप्राप्त्यादिरूप पुरुषार्थसिद्धि को पाने के लिए किया जाने वाला जाने। जागरूक होकर इन चार प्रकार के कर्म का सर्वदा अच्छी तरह सम्पादन करे॥१००॥

अलब्धमिच्छेद् दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया।
रक्षितं वर्धयेद् वृद्ध्या वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥१०१॥

नहीं पाए गए भूमि सुवर्ण इत्यादि धन को दण्ड से (सेना के बल पर) पाने का प्रयत्न करे, पाए गए धन की देखभाल से रक्षा करे, रक्षित धन को बुद्धिपूर्वक प्रयुक्त उपायों से बढाए, बढे हुए धन को सत्पात्रों में रख दे (सत्पात्रों में दान दे)॥१०१॥

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान् नित्यं विवृतपौरुषः।
नित्यं संवृतसंवार्यो नित्यं छिद्रानुसार्यरेः ॥१०२॥

राजा सर्वदा उद्यमशील सेना वाला होवे, सर्वदा अपने पौरुष को प्रकाशित करने वाला होवे, सर्वदा गुप्त रखने योग्य मन्त्र छिद्र इत्यादि को गुप्त रखने वाला होवे, सर्वदा शत्रु के व्यसन-प्रकृतिकोप इत्यादि छिद्रों को देखकर कार्य करने वाला होवे॥१०२॥

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत्।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥१०३॥

सर्वदा उद्यमशील सेना से युक्त राजा से सम्पूर्ण जगत् डरता है। उस कारण से सभी प्राणियों को सेना से ही अपने वश में रखे॥१०३॥

अमाययैव वर्तेत न कथञ्चन मायया।
बुध्येताऽरिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥१०४॥

राजा निष्कपट रूप में ही वर्ताव करे, किसी भी प्रकार से कपट से वर्ताव न करे। अच्छी तरह सर्वदा अपनी रक्षा करता हुआ राजा शत्रु से प्रयुक्त कपट को समझे॥१०४॥

नाऽस्य च्छिद्रं परो विद्याद् विद्याच् छिद्रं परस्य तु।
गूहेत् कूर्म इवाऽङ्गानि रक्षेद् विवरमात्मनः ॥१०५॥

इस राजा के छिद्र को शत्रु राजा न जान पाए, स्वयम् तो शत्रु राजा के छिद्र को जाने। अपने राष्ट्र सेना इत्यादि अङ्गों को कछुए की तरह गुप्त रखे, अपने प्रकृतिकोपादि छिद्रों का परिहार करे॥१०५॥

बकवच् चिन्तयेदर्थान् सिंहवच् च पराक्रमेत्।
वृकवच् चाऽवलुम्पेत शशवच् च विनिष्पतेत्॥१०६॥

राजा बगुले की तरह एकाग्रचित्त होकर अर्थों का चिन्तन करे, सिंह की (शेर की) तरह अपनी सम्पूर्ण शक्ति को लगाकर शत्रु में आक्रमण करे, भेडिए की तरह शत्रु को छकाकर उसकी भूमि का भोग करे, खरगोश की तरह उछलकर शत्रु के घेरे से बाहर निकलकर भागे॥१०६॥

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः।
तानानयेद् वशं सर्वान् सामादिभिरुपक्रमैः॥१०७॥

इस प्रकार विजय कर रहे राजा के जो विरोधी हों उन सब को साम, दान इत्यादि उपायों से अपने वश में लाए॥१०७॥

यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस् त्रिभिः।
दण्डेनैव प्रसह्यैतान् छनकैर् वशमानयेत्॥१०८॥

यदि वे पहले तीन (साम, दान, भेद) उपायों से अपने वश में न रहे तो सेना से ही आक्रमण करके उनको धीरे-धीरे अपने वश में लाए॥१०८॥

सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः।
सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राऽभिवृद्धये॥१०९॥

साम इत्यादि चारों उपायों में सदसद्विवेक वाले मनुष्य राष्ट्र की अभिवृद्धि के लिए सर्वदा साम को और दण्ड को श्रेष्ठ उपाय बताते हैं॥१०९॥

यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति।
तथा रक्षेन् नृपो राष्ट्रं हन्याच् च परिपन्थिनः॥११०॥

जैसे निराई करने वाला मनुष्य घास को उखाडकर फेंकता है और धान्य की रक्षा करता है वैसे ही राजा भी राष्ट्र की रक्षा करे और शत्रुओं का वध करे॥११०॥

मोहाद् राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज् जीविताच् च सबान्धवः॥१११॥

जो राजा अज्ञानवश अपने राष्ट्र का देख-भाल नहीं करके उसका कर्षण करता है (राष्ट्र को कष्ट देता है) वह राजा शीघ्र ही राज्य से भ्रष्ट होता है और बन्धु-बान्धवों के साथ जीवन से भी भ्रष्ट हो जाता है (परिवारजनों के साथ मरता है)॥१११॥

शरीरकर्षणात् प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात्॥११२॥

जैसे शरीर के कर्षण से (शरीर को अनशन इत्यादि से कष्ट देने से) प्राणियों के प्राण क्षीण हो जाते हैं वैसे ही राष्ट्र के कर्षण से राजाओं के प्राण भी क्षीण हो जाते हैं॥११२॥

राष्ट्रस्य सङ्ग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत्।
सुसङ्गृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते॥११३॥

राष्ट्र को अपने वश में रखने के लिए सर्वदा इस (कहे जा रहे) विधान को अपनाए, क्योंकि राष्ट्र को अच्छी तरह अपने वश में रखने वाला राजा ही सुख से समृद्ध होता है॥११३॥

द्वयोस् त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम्।
तथा ग्रामशतानां च कुर्याद् राष्ट्रस्य सङ्ग्रहम्॥११४॥

दो गाँवों के बीच में अथवा तीन गाँवों के बीच में अथवा पाँच गाँवों के बीच में और सौ गाँवों के बीच में भी राष्ट्र को वश में रखने वाला योग्य आप्त पुरुष से अधिष्ठित सैनिकों के यथोचित रूप के गुल्म को (समूहविशेष को) रखे॥११४॥

ग्रामस्याऽधिपतिं कुर्याद् दशग्रामपतिं तथा।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च॥११५॥

राष्ट्र के वशीकरण के लिए एक गाँव का एक अधिपति (व्यवस्थापक-नियन्त्रक-रक्षक) बनाए, और दश गाँवों का एक अधिपति बनाए, बीस गाँवों का एक अधिपति बनाए, सौ गाँवों का एक अधिपति भी बनाए और हजार गाँवों का एक अधिपति भी बनाए॥११५॥

ग्रामदोषान् समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम्।
शंसेद् ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने॥११६॥
विंशतीशस् तु तत् सर्वं शतेशाय निवेदयेत्।
शंसेद् ग्रामशतेशस् तु सहस्रपतये स्वयम्॥११७॥

गाँव का अधिपति अपने गाँव में उत्पन्न दोषों को धीरे-धीरे स्वयम् ही दश गाँवों के अधिपति को कहे, दश गाँवों का अधिपति बीस गाँवों के अधिपति को कहे, बीस गाँवों का अधिपति सौ गाँवों के अधिपति को कहे, सौ गाँवों का अधिपति हजार गाँवों के अधिपति को स्वयम् कहे॥११६-११७॥

यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः।
अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस् तान्यवाप्नुयात् ॥११८॥

गाँव में निवास करने वालों से प्रतिदिन जो अन्न, पेय, इन्धन इत्यादि राजा को देय होते हैं उनको ग्रामाधिपति पाएगा॥११८॥

दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्च कुलानि च।
ग्रामं ग्रामशताऽध्यक्षः सहस्राऽधिपतिः पुरम् ॥११९॥

दश गाँवों का अधिपति गाँव की एक कुलभूमि से (दो हलों से दिनभर में जितनी भूमि जोती जाती है उस से) राजा को जो जितना मिलता है उसका भोग करे, बीस गाँवों का अधिपति गाँव की पाँच कुलभूमि से राजा को जो जितना मिलता है उसका भोग करे, सौ गाँवों का अधिपति एक गाँव से राजा को जो जितना मिलता है उसका भोग करे, हजार गाँवों का अधिपति एक शाखानगर से राजा को जो जितना मिलता है उसका भोग करे॥११९॥

तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि।
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस् तानि पश्येदतन्द्रितः ॥१२०॥

उन ग्रामादि के अधिपतियों के जो गाँव से सम्बन्ध रखने वाले और अन्य भी कार्य होते हैं उनको राजा में प्रेम करने वाला दूसरा सचिव जागरूक होता हुआ देखे॥१२०॥

नगरेनगरे चैकं कुर्यात् सर्वाऽर्थचिन्तकम्।
उच्चैःस्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥१२१॥

राजा प्रत्येक नगर में उच्च पद में रहने वाले, भयङ्कर रूप से युक्त, नक्षत्रों में से ग्रह की तरह अधिक तेजस्वी (योग्य) पुरुष को नगरव्यवस्था के सभी विषयों के विचार करने वाले के रूप में नियुक्त करे॥१२१॥

स तानुनुपरिक्रामेत् सर्वानेव सदा स्वयम्।
तेषां वृत्तं परिणयेत् सम्यग् राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥१२२॥

वह नगर का अधिपति सर्वदा ग्रामाधिपति इत्यादि सभी अधिपतियों में स्वयं घूमता रहे। राष्ट्र में उन लोगों का जो वर्ताव है उसको गुप्तचरों से अपने यहाँ लाता रहे॥१२२॥

राज्ञो हि रक्षाऽधिकृताः परस्वाऽऽदायिनः शठाः।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः॥१२३॥

राजा से प्रजा की रक्षा में नियुक्त भृत्य प्रायः परधन लेने वाले और वञ्चक होते हैं, उन से इन प्रजाओं की रक्षा करे॥१२३॥

ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात् प्रवासनम्॥१२४॥

रक्षा में नियुक्त जो पापबुद्धि भृत्य कार्य वाले प्रजाजन से घूस के रूप में धन ले लें राजा उनका सर्वस्व लेकर अपने राष्ट्र से उनका निर्वासन कर दे।

विशेष— भ्रष्टाचार के निवारण के लिए कैसी कठोरता आवश्यक है, यह बात इस श्लोक में बताई गई है॥१२४॥

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च।
प्रत्यहं कल्पयेद् वृत्तिं स्थानकर्माऽनुरूपतः॥१२५॥

राजा कामों में नियुक्त स्त्रियों का और सेवकों का भी प्रतिदिन स्थान और कर्म के अनुसार वृत्ति (वेतन) की व्यवस्था करे॥१२५॥

पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम्।
षाण्मासिकस् तथाऽऽच्छादो धान्यद्रोणस् तु मासिकः॥१२६॥

अपकृष्ट कर्मकर को प्रतिदिन एक पण वेतन देना चाहिए और उत्कृष्ट कर्मकर को छह पण वेतन देना चाहिए, प्रत्येक छह महीनों में वस्त्र देना चाहिए और प्रत्येक मास में एक द्रोण धान्य भी देना चाहिए।

विशेष— एक तोले की ताँवे की मुद्रा पण कही जाती है, वह लगभग ११.६६४ ग्राम की होती है। द्रोण कहने से लगभग ५० किलो समझना चाहिए॥१२६॥

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्।
योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य वणिजो दापयेत् करान्॥१२७॥

राजा खरीदमूल्य को, विक्रीमूल्य को, रास्ते को, खरीदविक्री के अन्तराल में होने वाले भोजनादिव्यय को और अन्य सम्बद्ध व्यय को तथा लाभप्राप्ति को और

उसकी रक्षा को भी अच्छी तरह देखकर व्यापारियों को कर देने में बाध्य करे [व्यापारियों से कर व़सूल करे]॥१२७॥

यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम्।
तथाऽवेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत् सततं करान्॥१२८॥

जैसे राजा को भी फल मिले काम करने वालों को भी फल मिले वैसे ही कार्य को अच्छी तरह देखकर राजा सदाकाल राष्ट्र में करों का निर्धारण करे॥१२८॥

यथाऽल्पाऽल्पमदन्त्याद्यं वार्योको-वत्स-षट्पदाः।
तथाऽल्पाऽल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद् राज्ञाऽऽब्दिकः करः॥१२९॥

जैसे जोंक, बछडे और भौंरे अपने खाद्य पदार्थ को थोडा-थोडा करके खाते हैं वैसे ही राजा को भी राष्ट्र से वर्ष-वर्ष में थोडा-थोडा कर लेना चाहिए॥१२९॥

पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा॥१३०॥

राजा को पशुओं के और सुवर्ण के लाभांश के पचासवाँ भाग कर में लेना चाहिए, अन्नों का उपज का आठवाँ भाग अथवा छठा भाग अथवा बारहवाँ भाग ही कर में लेना चाहिए॥१३०॥

आददीताऽथ षड्भागं द्रु-मांस-मधु-सर्पिषाम्।
गन्धौषधिरसानां च पुष्प-मूल-फलस्य च॥१३१॥
पत्र-शाक-तृणानां च चर्मणां वैदलस्य च।
मृन्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याऽश्ममयस्य च॥१३२॥

वृक्षों के, मांसों के, मधुओं के (शहदों के), घियों के, सुगन्धी द्रव्यों के, ओषधियों के, नमक इत्यादि रसों के, फूलों के, जडियों के, फलों के, पत्तों के, शाकों के, घासों के, चमडों के; बेत, बाँस इत्यादि के उपकरणों के; मिट्टी के वर्तनों के और पत्थर की बनी वस्तुओं के भी लाभांश में छठे भाग को कर के रूप में राजा लेवे॥१३१-१३२॥

म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात् करम्।
न च क्षुधाऽस्य संसीदेच् छ्रोत्रियो विषये वसन्॥१३३॥

मरता हुआ भी (अत्यन्त धनाऽभाव में रहता हुआ भी) राजा वेद पढ़ने वाले ब्राह्मणों से कर न ले। इसके शासनक्षेत्र में निवास करता हुआ वेद पढ़ने वाला ब्राह्मण वृत्ति के अभाव से पीडित भी न हो॥१३३॥

यस्य राज्ञस् तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा।
तस्याऽपि तत् क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति॥१३४॥

जिस राजा के शासनक्षेत्र में वेद पढ़ने वाला ब्राह्मण वृत्ति के अभाव से पीडित होता है उसका वह राष्ट्र भी शीघ्र ही वृत्ति के अभाव से पीडित होता है॥१३४॥

श्रुतवृत्ते विदित्वाऽस्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत्।
संरक्षेत् सर्वतश् चैनं पिता पुत्त्रमिवौरसम्॥१३५॥

राजा वेद पढ़ने वाले ब्राह्मण के अध्ययन को और चरित्र को जानकर उसकी धर्मानुकूल वृत्ति की व्यवस्था करे और उसकी औरस पुत्त्र की तरह सभी ओर से रक्षा भी करे॥१३५॥

संरक्ष्यमाणो राज्ञा यं कुरुते धर्ममन्वहम्।
तेनाऽऽयुर् वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च॥१३६॥

राजा से संरक्षित होता हुआ वेद पढ़ने वाला ब्राह्मण प्रतिदिन जो धर्म करता है उस से राजा की आयु बढती है और धन तथा राष्ट्र भी बढता है॥१३६॥

यत्किञ्चिदपि वर्षस्य दापयेत् करसंज्ञितम्।
व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम्॥१३७॥

राजा अपने राष्ट्र में (क्रयविक्रयादि) व्यवहार से जीविका करने वाले अपकृष्ट जन को थोडा कुछ भी जो हो सके उस रूप में वार्षिक कर देने के लिए प्रेरित करे॥१३७॥

कारुकाञ् छिल्पिनश् चैव शूद्रांश् चाऽऽत्मोपजीविनः।
एकैकं कारयेत् कर्म मासिमासि महीपतिः॥१३८॥

राजा कारीगरों को, शिल्पियों को और भारवहनादि शारीर श्रम से जीविका करने वाले शूद्रों को भी प्रतिमास एक-एक काम करवाए॥१३८॥

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चाऽतितृष्णया।
उच्छिन्दन् ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश् च पीडयेत्॥१३९॥

राजा अतितृष्णा से अपने और दूसरों के भी जड का उच्छेद न करे (प्रजास्नेह से कर न लेना और लोभ से अत्यधिक कर लेना दोनों न करे)। अपने जड का उच्छेद करता हुआ राजा अपने को और दूसरों को भी पीडित करेगा॥१३९॥

तीक्ष्णश् चैव मृदुश् च स्यात् कार्यं वीक्ष्य महीपतिः ।
तीक्ष्णश् चैव मृदुश् चैव राजा भवति सम्मतः ॥१४०॥

आगे उपस्थित कार्य को देखकर राजा यथोचित रूप में कठोर और कोमल (मुलायम) भी होवे, यथोचित रूप में कठोर और कोमल (मुलायम) होने वाला राजा लोक का प्रिय होता है॥१४०॥

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम् ।
स्थापयेदासने तस्मिन् खिन्नः कार्येक्षणे नृणाम् ॥१४१॥

मनुष्यों के कार्यों को देखने में श्रम का अनुभव करता हुआ राजा उस कार्य-दर्शन के आसन में धर्म जानने वाले, समझदार, जितेन्द्रिय, कुलीन मुख्य अमात्य को (कार्यसचिव को) रखे॥१४१॥

एवं सर्वं विधायेदमितिकर्तव्यमात्मनः ।
युक्तश् चैवाऽप्रमत्तश् च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥१४२॥

इस प्रकार से अपने इस सम्पूर्ण कर्तव्य का निर्वाह करके राजा विचारयुक्त और प्रमादरहित होकर इन अपनी प्रजाओं का सभी ओर से रक्षा करे॥१४२॥

विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद् ह्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः ।
सम्पश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥१४३॥

जिस के राष्ट्र से सैनिकादि से सहित राजा के देखते रहने पर ही चिल्लाती हुई प्रजाएँ डकैतों से अपहृत होती हैं, वह राजा तो मरा हुआ है, जीवित नहीं।

विशेष— प्रजा की दस्युओं से और आतङ्ककारियों से रक्षा करना कितना आवश्यक है, यह बात इस श्लोक में बताई गई है॥१४३॥

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम् ।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥१४४॥

प्रजाओं की रक्षा करना ही क्षत्रिय का (राजा का) परम धर्म है, शास्त्र से विहित करादि का ही भोग करने वाला राजा धर्मफल को प्राप्त करता है॥१४४॥

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः, समाहितः ।
हुताऽग्निर् ब्राह्मणांश् चाऽर्च्य प्रविशेत् स शुभां सभाम् ॥१४५॥

राजा रात के अन्तिम प्रहर में उठकर मूत्र-पुरीषत्याग, शौच, दन्तधावन और स्नानादि करके एकाग्रचित्त होकर अग्नि में होम तथा ब्राह्मणों का पूजन भी करके शुभलक्षणों से युक्त मन्त्रणागृह में प्रवेश करे॥१४५॥

तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत्।
विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत् सह मन्त्रिभिः ॥१४६॥

उस मन्त्रणागृह में रहता हुआ राजा वहाँ उपस्थित सभी प्रजाओं को प्रसन्न बनाकर विसर्जित करे। सभी प्रजाओं को विसर्जित करके मन्त्रियों के साथ में कार्यों के विषय में मन्त्रणा करे॥१४६॥

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः।
अरण्ये निश्शलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥१४७॥

राजा पहाड की चोटी पर चढ़कर अथवा महल के ऊपरी मञ्जिल में चढ़कर एकान्त में, अथवा दूसरे मनुष्यों से सर्वथा रहित एकान्त वन में दूसरों से अदृष्ट और अज्ञात रहता हुआ मन्त्रणा करे॥१४७॥

यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः ॥१४८॥

जिस के गुप्त मन्त्रणा के निर्णय को समीप में आकर मन्त्रियों से भिन्न मनुष्य नहीं जानते हैं वह अल्पधन वाला भी राजा सम्पूर्ण भूमि का भोग करता है॥१४८॥

जडमूकाऽन्धबधिरांस् तैर्यग्योनान् वयोऽतिगान्।
स्त्री-म्लेच्छ-व्याधित-व्यङ्गान् मन्त्रकालेऽपसारयेत् ॥१४९॥

राजा मन्त्रणा के समय में जड को (मन्दबुद्धि को), मूक को (गूँगे को), बधिर को (बहरे को), तिर्यग्योनि में उत्पन्न तोता मैना इत्यादि को, अतिवृद्ध व्यक्तियों को, स्त्रियों को, म्लेच्छों को, रोगियों को और विकलाङ्गों को भी दूर हटाए॥१४९॥

भिन्दन्त्यवमता मन्त्रं तैर्यग्योनास् तथैव च।
स्त्रियश् चैव विशेषेण तस्मात् तत्राऽऽदृतो भवेत् ॥१५०॥

अनादृत जडादि लोग मन्त्र का प्रकाशन कर देते हैं, उसी प्रकार तोता मैना इत्यादि तिर्यग्योनि में उत्पन्न प्राणी भी मन्त्र का प्रकाशन कर देते हैं, विशेष रूप में स्त्रियाँ भी मन्त्र का प्रकाशन कर देती हैं, उस कारण से उनमें विशेष ध्यान देने वाला होवे॥१५०॥

मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः।
चिन्तयेद् धर्मकामाऽर्थान् सार्धं तैरेक एव वा ॥१५१॥

दो पहर में अथवा आधी रात में विश्राम करके शारीर और मानस श्रम के हटने पर मन्त्रियों के साथ में अथवा अकेला ही धर्म का अर्थ का और काम का परिचिन्तन करे॥१५१॥

परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम्।
कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्॥१५२॥

प्रायः परस्पर में विरुद्ध धर्म अर्थ और काम का उपायों से परस्पर अविरुद्ध रूप में उपार्जन का, कन्याओं के दान का और राजकुमारों के संरक्षण का भी चिन्तन करे॥१५२॥

दूतसम्प्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च।
अन्तःपुरप्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम्॥१५३॥

दूतों के प्रेषण का, तथा अवशिष्ट कार्य का, अन्तःपुर के (रनिवास के) क्रियाकलाप का और गुप्तचरों की क्रियाओं का भी चिन्तन करे॥१५३॥

कृत्स्नं चाऽष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्त्वतः।
अनुरागाऽपरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च॥१५४॥

राजा आठ प्रकार के (१. करग्रहण, २. भृत्यभरण, ३. पुरुषनियोजन, ४. अनिष्टकर्मनिवारण, ५. कार्यविशेषाऽऽदेश, ६. व्यवहारदर्शन, ७. दण्ड, ८. प्रायश्चित्त) सम्पूर्ण कर्म का, पाँच प्रकार के (१. कापटिक, २. उदास्थित, ३. गृहपतिव्यञ्जन, ४. वैदेहिकव्यञ्जन, ५. तापसव्यञ्जन) गुप्तचरों का, प्रकृति के अपने में अनुराग का और विराग का तथा शत्रु-मित्र-उदासीनादि राजमण्डल की चेष्टाओं का भी वास्तविक रूप में चिन्तन करे।

विशेष— मध्यम, विजिगीषु, उदासीन, शत्रु, मित्र, अरिमित्र, मित्रमित्र, अरिमित्रमित्र, पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार, आक्रन्दासार इन राजाओं के समूह को राजमण्डल अथवा मण्डल कहते हैं॥१५४॥

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश् च चेष्टितम्।
उदासीनप्रचारं च शत्रोश् चैव प्रयत्नतः॥१५५॥

राजा राजाओं के मण्डल में मध्यम राजा के कार्यों का, विजिगीषु राजा की चेष्टाओं का, उदासीन राजा के कार्यों का और शत्रु राजा की चेष्टाओं का भी प्रयत्न से चिन्तन करे॥१५५॥

एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः।
अष्टौ चाऽन्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृताः ॥१५६॥

ये प्रकृतियाँ सङ्क्षेप में राजमण्डल के मूल हैं, अन्य आठ (आगे का शत्रु, उसके बाद का मित्र, उसके बाद का शत्रु का मित्र, उसके बाद का मित्र का मित्र तथा पीछे का पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार और आक्रन्दासार) भी प्रकृतियाँ बताई गई हैं, कूल मिलाकर बारह प्रकृतियाँ समझी गई हैं॥१५६॥

अमात्य-राष्ट्र-दुर्गा-ऽर्थ-दण्डाऽऽख्याः पञ्च चाऽपराः।
प्रत्येकं कथिता ह्येताः सङ्क्षेपेण द्विसप्ततिः ॥१५७॥

उक्त बारह प्रकृतियों के प्रत्येक के १. अमात्य, २. राष्ट्र, ३. दुर्ग, ४. कोष और ५. दण्ड (सेना) नाम की ये पाँच अन्य प्रकृतियाँ बताई गई हैं। सङ्कलन करने पर ये बहत्तर प्रकृतियाँ होती हैं [(४+८=१२)+(५×१२=६०)=७२]॥१५७॥

अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव च।
अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम् ॥१५८॥

अपनी सीमा से संलग्न राजा को शत्रु जाने, शत्रु के सेवक को भी शत्रु ही जाने। शत्रु के बाद के राजा को मित्र जाने, इन शत्रु राजा और मित्र राजा के बाद के राजा को उदासीन जाने॥१५८॥

तान् सर्वानभिसन्दध्यात् सामादिभिरुपक्रमैः।
व्यस्तैश् चैव समस्तैश् च पौरुषेण नयेन च ॥१५९॥

उन सभी राजाओं को साम, दान इत्यादि एक-एक उपाय से अथवा सम्पूर्ण उपायों से अथवा पराक्रम से और नीति से भी अपने अनुकूल बनाए॥१५९॥

सन्धिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च।
द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश् चिन्तयेत् सदा ॥१६०॥

शत्रु से किए जाने वाले १. सन्धि का, २. वैरभाव का, ३. शत्रु के प्रति आक्रमण का, ४. प्रतीक्षण का, ५. द्विविधचेष्टा-प्रदर्शन का, ६. बलवान् राजा के संश्रयण का, इन छह उपकारक गुणों का सदा चिन्तन करे॥१६०॥

आसनं चैव यानं च सन्धिं विग्रहमेव च।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥१६१॥

राजा कार्य को देखकर आसन का, यान का, सन्धि का, विग्रह का, द्वैधनीति का और संश्रयण का भी यथोचित प्रयोग करे॥१६१॥

सन्धिं तु द्विविधं विद्याद् राजा विग्रहमेव च।
उभे यानाऽऽसने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥१६२॥

राजा सन्धि को दो प्रकार का जाने, विग्रह को भी दो प्रकार का ही जाने, दोनों यान और आसन को भी दोदो प्रकारों का ही जाने, संश्रय भी दो प्रकार का ही समझा गया है॥१६२॥

समानयानकर्मा च विपरीतस् तथैव च।
तदात्वाऽऽयतिसंयुक्तः सन्धिर् ज्ञेयो द्विलक्षणः ॥१६३॥

तत्काल प्राप्त होने वाले फल के लिए अथवा उत्तरकाल में प्राप्त होने वाले फल के लिए साथ-साथ में शत्रु पर आक्रमण करने के लिए किया जाने वाला सन्धि (समानयानकर्मा सन्धि) और भिन्न काल में शत्रु पर आक्रमण करने के लिए किया जाने वाला सन्धि (असमानयानकर्मा सन्धि), इस प्रकार दो प्रकार के सन्धि को जानना चाहिए॥१६३॥

स्वयंकृतश् च कार्यार्थमकाले काल एव वा।
मित्रस्य चैवाऽपकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥१६४॥

शास्त्रोक्त काल में अथवा शास्त्राऽनुक्त काल में विजय के लिए अपनी ही ओर से आरम्भ किया गया विग्रह (स्वयंकृत विग्रह) और अपने मित्र में दूसरे से अपकार किए जाने पर किया गया विग्रह (मित्रकृत विग्रह), इस प्रकार विग्रह दो प्रकार का समझा गया है॥१६४॥

एकाकिनश् चाऽऽत्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया।
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥१६५॥

समय अतीत हो सकने वाला कार्य दैवगति से अकस्मात् प्राप्त होने पर अकेला ही शत्रु के प्रति आक्रमण (एकाकियान) और मित्र से मिलकर शत्रु के प्रति आक्रमण (समित्रयान), इस प्रकार यान दो प्रकार का कहा जाता है॥१६५॥

क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात् पूर्वकृतेन वा।
मित्रस्य चाऽनुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥१६६॥

दैवगति से (पूर्वजन्म के कर्म के परिणाम से) अथवा इसी जन्म के पूर्वकर्म से क्रमशः क्षीण होते जा रहे राजा का स्वयम् ही निष्क्रिय रहना (स्वयमासन) और मित्र के अनुरोध से निष्क्रिय रहना (मित्रार्थासन), इस प्रकार आसन दो प्रकार का समझा गया है॥१६६॥

बलस्य स्वामिनश् चैव स्थितिः कार्याऽर्थसिद्धये।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥१६७॥

कार्यरूप अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए बल की (सेना की) एकत्र स्थिति (बलद्वैध) और अन्यत्र स्वामी की स्थिति (स्वामिद्वैध), इस प्रकार षाड्गुण्य के गुणों को जानने वालों से द्वैध दो प्रकार का बताया जाता है॥१६७॥

अर्थसम्पादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः।
साधुषु व्यपदेशाऽर्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥१६८॥

शत्रुओं से पीडित हो रहे राजा का तत्काल अपने प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए साधु राजाओं में आश्रयण (अर्थसंश्रय) और शत्रुओं से तत्काल पीडित न होने पर भी उत्तरकाल में शत्रुओं से हो सकने वाले धर्षण के परिहार के लिए 'वह बलवान् अमुक राजा का आश्रित है' ऐसे ख्यापन के लिए साधु राजाओं में आश्रयण (व्यपदेशसंश्रय), इस प्रकार संश्रय दो प्रकार का समझा गया है॥१६८॥

यदाऽवगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः।
तदात्वे चाऽल्पिकां पीडां तदा सन्धिं समाश्रयेत् ॥१६९॥

राजा जब उत्तरकाल में अपना निश्चित आधिक्य होने वाला जाने और वर्तमान काल में थोडी-सी ही पीडा होने वाली जाने, उस समय में सन्धि का आश्रय ले॥१६९॥

यदा प्रहृष्टा मन्येत सर्वास् तु प्रकृतीर् भृशम्।
अत्युच्छ्रितं तथाऽऽत्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥१७०॥

राजा जब अपनी सब प्रकृति को (अमात्यादि को) अत्यन्त प्रसन्न (उत्साहित) समझे, और अपने को कोष-दण्डादि से अत्यन्त बलसम्पन्न समझे, उस समय में विग्रह (शत्रु का अपकार) करे॥१७

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम्।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद् रिपुं प्रति ॥१७१॥

राजा जब अपनी सेना को हृदय से प्रसन्न (उत्साहित) तथा साधनों से पुष्ट (सम्पन्न) ठाने और शत्रु की सेना को हृदय से अप्रसन्न (अनुत्साहित) तथा साधनों से अपुष्ट (विकल) ठाने उस समय में शत्रु पर चढाई करे॥१७१॥

यदा तु स्यात् परिक्षीणो वाहनेन बलेन च।
तदाऽऽसीत प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन्नरीन् ॥१७२॥

राजा जब हाथी, घोडा, ऊँट, रथ इत्यादि वाहनों से और सेना से भी क्षीण (अभावग्रस्त) हो, उस समय में शत्रुओं को धीरे-धीरे कोपरहित करने की चेष्टा करता हुआ (अपकारचेष्टा के वर्जनादि से आक्रमण का परिहार करके समय की प्रतीक्षा करता हुआ) चुपचाप रहे॥१७२॥

मन्येताऽरिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम्।
तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत् कार्यमात्मनः॥१७३॥

राजा जब शत्रु को अपने से सर्वथा अधिक बलवान् समझे उस समय में अपनी सेना को दो भागों में विभक्त करके अपना कार्य सिद्ध करे॥१७३॥

यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत्।
तदा तु संश्रयेत् क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम्॥१७४॥

जब तो राजा शत्रु की सेना के लिए सुख से आक्रमणीय हो उस समय में तो शीघ्र ही बलवान् धार्मिक राजा का संश्रय (आश्रय) करे॥१७४॥

निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद् योऽरिबलस्य च।
उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर् गुरुं यथा॥१७५॥

जो संश्रित (आश्रयदाता) राजा अपनी अमात्यादि प्रकृति को और शत्रु की सेना को भी अपने नियन्त्रण में रख सके उस राजा की गुरु की तरह सभी यत्नों से सर्वदा सेवा करे॥१७५॥

यदि तत्राऽपि सम्पश्येद् दोषं संश्रयकारितम्।
सुयुद्धमेव तत्राऽपि निर्विशङ्कः समाचरेत्॥१७६॥

राजा यदि वहाँ भी संश्रय से होने वाले अपने विलयादि दोष को निश्चित रूप में देखे तो वहाँ भी (वैसी अवस्था में [दुर्बल अवस्था में] भी) शङ्का से रहित होकर पूरे उत्साह से और पूरे बल से ठीक प्रकार से युद्ध ही करे॥१७६॥

सर्वोपायैस् तथा कुर्यान् नीतिज्ञः पृथिवीपतिः।
यथाऽस्याऽभ्यधिका न स्युर् मित्रोदासीनशत्रवः॥१७७॥

नीति को जानने वाला राजा सभी उपायों से वैसा कार्य करे जैसे उसके मित्र राजा, उदासीन राजा, और शत्रु राजा भी उस से अधिक बलवान् न हों॥१७७॥

आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत्।
अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः॥१७८॥

सभी कार्यों के उत्तरकाल में होने वाली परिणति का और तत्काल की स्थिति का भी विचार करे। अतीत काल में किए गए सभी कार्यों के गुणों का और दोषों का भी यथार्थ रूप में विचार करे॥१७८॥

आयत्यां गुणदोषज्ञस् तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः।
अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर् नाऽभिभूयते॥१७९॥

कार्य के उत्तर काल में उत्पन्न होने वाले गुणों को और दोषों को जानने वाला, तत्काल फल देने वाले कार्य के विषय में शीघ्र निर्णय करने वाला और बीते हुए काल में किए गए अधूरे कार्य की पूर्ति करने में भी ध्यान देने वाला राजा शत्रुओं से पीडित नहीं किया जाता है॥१७९॥

यथैनं नाऽभिसन्दध्युर् मित्रोदासीनशत्रवः।
तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः॥१८०॥

जैसे कार्य करने में राजा को मित्र राजा, उदासीन राजा और शत्रु राजा भी बाधित न कर सकें सभी कार्यों को वैसी ही रीति से सम्पन्न करे, सङ्क्षेप में यही नीति है॥१८०॥

यदा तु यानमातिष्ठेदरिराष्ट्रं प्रति प्रभुः।
तदाऽनेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः॥१८१॥

समर्थ राजा जब शत्रुराष्ट्र की ओर विजययात्रा करे तब इस विधान से (आगे कहे हुए प्रकार से) शत्रु के कीले की ओर धीरे-धीरे यात्रा करे॥१८१॥

मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद् यात्रां महीपतिः।
फाल्गुनं वाऽथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथाबलम्॥१८२॥

राजा अपनी सेना के स्वरूपविशेष के अनुसार समुचित मार्गशीर्ष मास में युद्ध करने के लिए विजययात्रा में जाए अथवा फाल्गुन मास में अथवा चैत्र मास में युद्ध करने के लिए विजययात्रा में जाए॥१८२॥

अन्येष्वपि तु कालेषु यदा पश्येद् ध्रुवं जयम्।
तदा यायाद् विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः॥१८३॥

राजा जब अपना विजय निश्चित रूप से होने वाला समझे तब अन्य कालों में भी शत्रु का अपकार करके ही विजययात्रा करे। शत्रु का व्यसन उत्पन्न होने पर भी अन्य काल में भी राजा विजययात्रा करे॥१८३॥

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि।
उपगृह्याऽऽस्पदं चैव चारान् सम्यग् विधाय च॥१८४॥
संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम्।
साम्परायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः॥१८५॥

अपने मूल कीले में युद्धशास्त्र के विधान के अनुसार विजययात्रा से सम्बद्ध व्यवस्था करके, यात्राक्रम में सेना के मुख्य शिबिर के स्थान को अपने वश में लेकर, अच्छी तरह से गुप्तचरों को नियुक्त करके, तीनों प्रकार के (जाङ्गल भूमि के, जलप्राय भूमि के और वनप्राय भूमि के) मार्गों को ठीक बनाकर, अपनी छहों प्रकार की (हाथी, घोडा, रथ, पैदल, कोषादिवाहक और कर्मकर की) सेना को भी ठीक करके युद्धयात्रा की रीति से धीरे-धीरे शत्रु के कीले की ओर यात्रा करे॥१८४-१८५॥

शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत्।
गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः॥१८६॥

गुप्त रूप में शत्रु की सेवा करने वाले मित्र में अधिक सावधान होवे। एक वार शत्रु पक्ष में जाकर लौटे हुए पुरुष में भी अधिक सावधान होवे, क्योंकि वह अधिक कष्ट देने वाला शत्रु होता है॥१८६॥

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात् तु शकटेन वा।
वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा॥१८७॥

शत्रु राजा के कीले की ओर जाने के मार्ग में दण्डव्यूह बनाकर जाए, अथवा शकटव्यूह बनाकर जाए, अथवा वराहव्यूह बनाकर जाए, अथवा मकरव्यूह बनाकर जाए, अथवा सूचीव्यूह बनाकर जाए, अथवा गरुडव्यूह बनाकर जाए।

विशेष— सेना के विन्यासविशेष को व्यूह कहते हैं, दण्डव्यूहादि का परिचय कुल्लूकभट्ट की संस्कृत व्याख्या में देखें॥१८७॥

यतश् च भयमाशङ्केत् ततो विस्तारयेद् बलम्।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम्॥१८८॥

जिधर से भय की आशङ्का हो उधर सेना का विस्तार करे, स्वयम् तो सदाकाल पद्मव्यूह बनाकर मध्य में रहे॥१८८॥

सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत्।
यतश् च भयमाशङ्केत् प्राचीं तां कल्पयेद् दिशम्॥१८९॥

सेनापति को (सैनिक को युद्ध कार्य के लिए आदेश देने वाले नायक को) और बलाध्यक्ष को (सेना के लिए रसद-पानी इत्यादि की व्यवस्था करने वाले प्रशासक को) भी सभी दिशाओं में रखे। जिधर से भय की आशङ्का हो उसको प्रकृष्टरूप से गन्तव्य दिशा बनाए॥१८९॥

गुल्मांश् च स्थापयेदाप्तान् कृतसञ्ज्ञान् समन्ततः ।
स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः ॥१९०॥

आप्त पुरुष से अधिष्ठित, सूचना के सङ्केतविशेष के ज्ञान से युक्त किए गए, सुरक्षित रूप से रहने में और युद्ध करने में भी निपुण, शूर-वीर और शत्रु उपजाप (भडकाव) से न बिगडने वाले सैनिक जत्थों को सभी ओर रखे॥१९०॥

संहतान् योधयेदल्पान् कामं विस्तारयेद् बहून् ।
सूच्या वज्रेण चैवैतान् व्यूहेन व्यूह्य योधयेत् ॥१९१॥

राजा सैनिक अल्प सङ्ख्या में होने पर उनको सङ्घटित रूप में युद्ध करने में लगाए, सैनिक अधिक सङ्ख्या में होने पर तो इच्छानुसार उनको दूर तक फैलकर युद्ध करने में लगाए। इन को सूचीव्यूह से और वज्रव्यूह से विन्यस्त करके युद्ध में लगाए॥१९१॥

स्यन्दनाऽश्वैः समे युध्येदनूपे नौद्विपैस् तथा ।
वृक्षगुल्माऽऽवृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥१९२॥

राजा समस्थल में रथों से और घोडों से युद्ध करे, जलप्राय स्थल में नाव से और हाथियों से युद्ध करे, वृक्षों से और झाडियों से ढकी हुई भूमि में धनुषों से और उच्च स्थल में तलवार, ढाल, भाला इत्यादि हथियारों से युद्ध करे॥१९२॥

कुरुक्षेत्रांश् च मत्स्यांश् च पञ्चालाञ् शूरसेनजान् ।
दीर्घाल्ँ लघूंश् चैव नरानग्राऽनीकेषु योजयेत् ॥१९३॥

कुरुक्षेत्र में उत्पन्न, मत्स्यदेश में उत्पन्न, पञ्चाल देश में उत्पन्न और शूरसेनदेश में उत्पन्न लम्बे कद वाले और पतले फूर्तीले मनुष्यों को अग्रगामी सेना में लगाए॥१९३॥

प्रहर्षयेद् बलं व्यूह्य तांश् च सम्यक परीक्षयेत् ।
चेष्टाश् चैव विजानीयादरीन् योधयतामपि ॥१९४॥

व्यूह में निविष्ट सैनिकों को राजा हर्षित (उत्साहित) करे, उनकी अच्छी तरह (हर्षित हैं या असन्तुष्ट) परीक्षा भी करे, शत्रुओं से युद्ध करते हुए सैनिकों की भी चेष्टाओं का परख भी करता रहे॥१९४॥

उपरुध्याऽरिमासीत राष्ट्रं चाऽस्योपपीडयेत्।
दूषयेच् चाऽस्य सततं यवसाऽन्नोदकेन्धनम् ॥१९५॥

आक्रामक राजा शत्रु का अन्न, जल, घास, इन्धन इत्यादि के मार्गों को अवरुद्ध करके बैठे, इसके (शत्रु के) राष्ट्र को पीडित भी करे, इसके घास को, अन्न को, जल को और इन्धन को भी निरन्तर दूषित करता रहे॥१९५॥

भिन्द्याच् चैव तडागानि प्राकारपरिखास् तथा।
समवस्कन्दयेच् चैनं रात्रौ वित्रासयेत् तथा ॥१९६॥

शत्रु के राष्ट्र के तालावों को, कीले के परकोटे को और परिखा को (खाई को) भी तोड दे। शत्रु पर धोखे से (अनाशङ्कित रूप से) अकस्मात् आक्रमण कर दे और रात में रणवाद्यादि से शत्रु को भयभीत कराए॥१९६॥

उपजप्यानुपजपेद् बुध्येतैव च तत्कृतम्।
युक्ते च दैवे युध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः ॥१९७॥

उपजाप के (भडकाव के) विषयभूत असन्तुष्ट शत्रुसेनापति प्रभृति का उपजाप करे (अपना विजय होने पर महावेतनदानादि का प्रलोभन देकर अपने शत्रु के सेनापति प्रभृति को अपने पक्ष में लाए)। इस प्रकार अपने पक्ष में लाए गए मनुष्यों के कामों को समझता रहे। विजय चाहने वाला राजा दैव अनुकूल होने पर निर्भय होकर युद्ध करे॥१९७॥

साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्।
विजेतुं प्रयतेताऽरीन् न युद्धेन कदाचन ॥१९८॥

साम से, दान से और भेद से, इन सब का एक साथ प्रयोग करके अथवा अलग-अलग प्रयोग करके शत्रुओं को जीतने का प्रयत्न करे, (केवल) युद्ध से जीतने का प्रयत्न कदापि न करे॥१९८॥

अनित्यो विजयो यस्माद् दृश्यते युध्यमानयोः।
पराजयश् च सङ्ग्रामे तस्माद् युद्धं विवर्जयेत् ॥१९९॥

क्योंकि युद्ध करने वालों का युद्ध में जीत और हार अनिश्चित देखी जाती है, इस लिए युद्ध को वर्जित करे॥१९९॥

त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसम्भवे।
तथा युध्येत सम्पन्नो विजयेत रिपून् यथा ॥२००॥

पूर्वोक्त सामादि तीनों उपायों का प्रयोग सम्भव न होने पर बलसम्पन्न राजा उस प्रकार से युद्ध करे जिस प्रकार से युद्ध करने से शत्रुओं को जीत सके॥२००॥

जित्वा सम्पूजयेद् देवान् ब्राह्मणांश् चैव धार्मिकान्।
प्रदद्यात् परिहारांश् च ख्यापयेदभयानि च॥२०१॥

शत्रु राजा को जीतने पर देवताओं की और धार्मिक ब्राह्मणों की पूजा करे, ब्राह्मणों को करमुक्त भूमियों का अथवा अग्रहाररूप गाँवों का दान करे, विजित प्रदेश में उस देश के निवासियों में अभयदान की घोषणा भी करे॥२०१॥

सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम्।
स्थापयेत् तत्र तद्वंश्यं कुर्याच् च समयक्रियाम्॥२०२॥

विजित देश के राजा मन्त्री और विशिष्ट पुरुष इत्यादि सभी लोगों की इच्छा को सङ्क्षेप से समझकर उस विजित देश में पूर्व राजा के वंशज को ही शासक के रूप में रखे और उसके काम के सम्बन्ध में सम्झौता करे॥२०२॥

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान् यथोदितान्।
रत्नैश् च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह॥२०३॥

विजित देश के लोगों के शास्त्रोक्त प्रकार के धर्मसम्मत व्यवहारों को स्वानुमोदित रूप में प्रमाणित करे। प्रधान पुरुषों के साथ में नवस्थापित शासक का रत्नों से सत्कार भी करे॥२०३॥

आदानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम्।
अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते॥२०४॥

किसी की अभीष्ट वस्तुओं का लेना अप्रिय बनाने वाला होता है और देना प्रिय बनाने वाला होता है, उचित काल में ठीक प्रकार से लेना और देना दोनों ही प्रशंसनीय होते हैं॥२०४॥

सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवमानुषे।
तयोर् दैवमचिन्त्यं तु मानुषे विद्यते क्रिया॥२०५॥

यह सम्पूर्ण कार्य दैव विधान में और मानुष विधान में निर्भर रहता है। उनमें दैव विधान (पूर्वजन्मकृत कर्म का फल) अचिन्त्य है, मानुष विधान में (वर्तमान काल के कर्म में) तो उपाय (विचारपूर्वक यत्नविशेष) किया जा सकता है॥२०५॥

सह वाऽपि व्रजेद् युक्तः सन्धिं कृत्वा प्रयत्नतः।
मित्रं हिरण्यं भूमिं वा सम्पश्यंस् त्रिविधं फलम्॥२०६॥

मित्रप्राप्ति अथवा धनप्राप्ति अथवा भूमिप्राप्ति इन तीन प्रकारों के विजययात्राफल को देखता हुआ उनमें से एक भी प्राप्त होने पर विजिगीषु राजा आक्रमणीय राजा से यत्नपूर्वक सन्धि करके सावधान होकर अपने देश को चले॥२०६॥

पार्ष्णिग्राहं च सम्प्रेक्ष्य तथाऽऽक्रन्दं च मण्डले।
मित्रादथाऽप्यमित्राद् वा यात्राफलमवाप्नुयात्॥२०७॥

राजाओं के मण्डल में पार्ष्णिग्राह राजा की स्थिति को और आक्रन्द राजा की स्थिति को भी देखकर विजययात्रा करने वाला राजा मित्रीभूत शत्रु से अथवा शत्रु से विजययात्रा का फल (मित्र, हिरण्य और भूमि में से कुछ) पा सकेगा।

विशेष— विजययात्रा में निकले हुए राजा को पीछे से आक्रमण करने वाला राजा पार्ष्णिग्राह कहा जाता है, उस प्रकार से आक्रमण करने वाले राजा को उसके पीछे से आक्रमण करके उसको नियन्त्रित करने वाला दूसरा राजा आक्रन्द कहा जाता है॥२०७॥

हिरण्यभूमिसम्प्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते।
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम्॥२०८॥

धन की प्राप्ति से अथवा भूमि की प्राप्ति से भी विजिगीषु राजा उस प्रकार वृद्धि को नहीं प्राप्त कर सकता है, जिस प्रकार दुर्बल होने पर भी उत्तर काल में काम देने वाले स्थिर मित्र को पाकर वृद्धि को प्राप्त कर सकता है॥२०८॥

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च।
अनुरक्तं स्थिराऽऽरम्भं लघु मित्रं प्रशस्यते॥२०९॥

धर्म को जानने वाला, उपकार को समझने वाला, सन्तुष्ट अमात्यादि प्रकृति से युक्त, अनुरागयुक्त, कार्य में स्थिर रहने वाला, अपने से छोटा मित्र प्रशंसनीय होता है॥२०९॥

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च।
कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुररिं बुधाः॥२१०॥

समझदार, उच्चकुलीन, शूरवीर, उत्साही, दाता, उपकार समझने वाला और धैर्यशाली शत्रु को विज्ञ लोग कष्टसाध्य (जीतने में कठिन) बताते हैं॥२१०॥

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता।
स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः॥२११॥

सज्जनता, मनुष्यों के गुणों का पहचान, शूरता, कृपापात्रविज्ञता, दानशीलता यह उदासीन राजा में अभीष्ट गुणों का समुदाय है॥२११॥

क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि।
परित्यजेन् नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन्॥२१२॥

स्वास्थ्यकर, अन्नोत्पादन के लिए उत्तम, सर्वदा पशुओं की वृद्धि करने वाली भूमि को भी राजा अपनी रक्षा के लिए आवश्यक होने पर छोडें या न छोडें ऐसी दुविधा में न पड़कर छोड ही दे॥२१२॥

आपदर्थं धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि॥२१३॥

आपत्ति के समय के लिए धन की रक्षा करे (धन को सञ्चित करे), धन के त्याग से भी अपनी पत्नी की रक्षा करे, पत्नी और धन के त्याग से भी अपनी रक्षा निरन्तर करे॥२१३॥

सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्याऽऽपदो भृशम्।
संयुक्तांश् च वियुक्तांश् च सर्वोपायान् सृजेद् बुधः॥२१४॥

कोशक्षय, प्रकृतिकोप इत्यादि सभी आपत्तियों को उत्कट रूप में एक साथ उत्पन्न देखकर भी विज्ञ राजा साथ-साथ में और एक-एक करके भी सभी उपायों का (साम-दानादि का) प्रयोग करे॥२१४॥

उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश् च कृत्स्नशः।
एतत्त्रयं समाश्रित्य प्रयतेताऽर्थसिद्धये॥२१५॥

उपायों का प्रयोग करने वाले को (अपने को), उपायों के प्रयोग के विषयभूत शत्रुप्रभृति मनुष्यों को, और साम-दानादि सभी उपायों को भी, इन तीनों को सम्पूर्ण रूप में लेकर अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए प्रयत्न करे॥२१५॥

एवं सर्वमिदं राजा सह सम्मन्त्र्य मन्त्रिभिः।
व्यायम्याऽऽप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत्॥२१६॥

इस प्रकार इन सब विषयों में मन्त्रियों के साथ सम्मन्त्रणा करके राजा मध्याह्न में व्यायाम और स्नान भी करके भोजन के लिए अन्तःपुर में (रनिवास में) प्रवेश करे॥२१६॥

तत्राऽऽत्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः।
सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान् मन्त्रैर् विषाऽपहैः॥२१७॥

वहाँ अपने आत्मा के तुल्य, काल को समझने वाले, शत्रुपक्ष से उनके पक्ष में नहीं मिलाए जा सकने वाले परिचारकों से बनाए गए और परोसे गए तथा विषयोगादि के अभाव को सिद्ध करने वाली विविध परीक्षाओं से अच्छी तरह परीक्षित अन्न-पान को विषहरण करने वाले मन्त्रों से मन्त्रित करके उनका उपभोग करे॥२१७॥

विषघ्नैरगदैश् चाऽस्य सर्वद्रव्याणि योजयेत्।
विषघ्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत् सदा॥२१८॥

राजा के सभी उपकरणों को विष को नष्ट करने वाले औषधों से युक्त करे। राजा सर्वदा नियमित रूप से विष को नष्ट करने वाले रत्नों का धारण करे॥२१८॥

परीक्षिताः स्त्रियश् चैनं व्यजनोदकधूपनैः।
वेषाऽऽभरणसंशुद्धाः स्पृशेयुः सुसमाहिताः॥२१९॥

परीक्षित होने पर वेष से और आभूषणों से भी शुद्ध (विषयोग-शस्त्रयोगादि से रहित) पाई गई स्त्रियाँ ही अत्यन्त सावधान होकर पङ्खे से, जल से, और धूपन से भी इसका (राजा का) सम्पर्क करें॥२१९॥

एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्याऽऽसनाऽशने।
स्नाने प्रसाधने चैव सर्वाऽलङ्कारकेषु च॥२२०॥

राजा इसी प्रकार का परीक्षण-संशोधनादि यत्न अपने वाहन में, शय्या में, आसन में, भोजन में, स्नान में, अनुलेपन-धूपनादि प्रसाधनों में और सभी अलङ्कारों में भी करे॥२२०॥

भुक्तवान् विहरेच् चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह।
विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत्॥२२१॥

राजा भोजन करके अन्तःपुर में (रनिवास में) स्त्रियों के साथ विहार करे। विहार करके यथासमय फिर राजकार्यों का चिन्तन करे॥२२१॥

अलङ्कृतश् च सम्पश्येदायुधीयं पुनर् जनम्।
वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च॥२२२॥

अलङ्कारों से शोभित राजा आयुधधारण करने वाले जन का निरीक्षण करे। सभी वाहनों का, शस्त्रों का और भूषणों का भी निरीक्षण करे॥२२२॥

सन्ध्यां चोपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत्।
रहस्याऽऽख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम्॥२२३॥

गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत् समनुज्ञाप्य तं जनम्।
प्रविशेद् भोजनार्थं च स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः ॥२२४॥

सायंसन्ध्या में सूर्य का उपासन करके दूसरी कक्षा में जाकर घर के भीतर के भाग में रहकर शस्त्रधारण करता हुआ राजा गुप्त वृत्तान्त को बताने वालों की और गुप्तचरों की चेष्टाओं को सुने। गुप्त वार्ता सुनाने वाले गुप्तचरों को बिदा करके स्त्रियों से घिरा हुआ राजा भोजन के लिए फिर अन्तःपुर में (रनिवास में) प्रवेश करे॥२२३-२२४॥

तत्र भुक्त्वा पुनः किञ्चित् तूर्यघोषैः प्रहर्षितः।
संविशेत् तु यथाकालमुत्तिष्ठेच् च गतक्लमः ॥२२५॥

वहाँ फिर कुछ भोजन करके राजा वाद्यशब्दों से प्रहर्षित होता हुआ सोए, और श्रम दूर होने पर उचित समय में उठे॥२२५॥

एतद् विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः।
अस्वस्थः सर्वमेतत् तु भृत्येषु विनियोजयेत्॥२२६॥

॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां सप्तमोऽध्यायः॥७॥

रोग से रहित राजा ऐसे विधान का अनुसरण करे। अस्वस्थ राजा तो इस सब विधान को अमात्यों को सौंप दे॥२२६॥

॥ इस प्रकार कौण्डिन्न्यायनाऽऽचार्य-शिवराजशर्म-द्विजोत्तम से किए गए मनुस्मृति के हिन्दी अनुवाद तथा विशेष व्याख्या में सप्तम अध्याय पूर्ण हुआ॥७॥

अथाऽष्टमोऽध्यायः

व्यवहारान् दिदृक्षुस् तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः।
मन्त्रज्ञैर् मन्त्रिभिश् चैव विनीतः प्रविशेत् सभाम्॥१॥

हिन्दी—

मनुस्मृतेर् ह्यष्टमेऽत्राऽध्याये भाषार्थ उच्यते।
कुल्लूकोक्तार्थमादाय शिवाख्येन द्विजन्मना॥

व्यवहारों को (मुकदमों को) देखने की इच्छा करता हुआ राजा ब्राह्मणों के और मन्त्र जानने वाले मन्त्रियों के साथ विनीत होकर सभा में (धर्माधिकरण में) प्रवेश करे॥१॥

तत्राऽऽसीनः स्थितो वाऽपि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम्।
विनीतवेषाऽऽभरणः पश्येत् कार्याणि कार्यिणाम्॥२॥

वहाँ बैठता हुआ अथवा खडा ही रहता हुआ सौम्य वेष से तथा अलङ्कारों से युक्त राजा दाहिने हाथ को उठाकर कार्यार्थियों के कार्यों को (मुकदमों को) देखे॥२॥

प्रत्यहं देशदृष्टैश् च शास्त्रदृष्टैश् च हेतुभिः।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक्पृथक्॥३॥

स्वदेश में प्रसिद्ध और शास्त्र में प्रसिद्ध हेतुओं से अठारह मार्गों में वर्गीकृत कार्यियों के कार्यों को (मुकदमों को) राजा प्रतिदिन अलग-अलग देखे॥३॥

तेषामाद्यमृणाऽऽदानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः।
सम्भूय च समुत्थानं दत्तस्याऽनपकर्म च॥४॥
वेतनस्यैव चाऽदानं संविदश् च व्यतिक्रमः।
क्रयविक्रयाऽनुशयो विवादः स्वामिपालयोः॥५॥
सीमाविवादधर्मश् च पारुष्ये दण्डवाचिके।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसङ्ग्रहणमेव च॥६॥
स्त्रीपुंधर्मो विभागश् च द्यूतमाह्वय एव च।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह॥७॥

उन व्यवहारों में पहला व्यवहार (१) ऋण लेना है, (२) धरोहर रखना, (३) अस्वामी से की गई बिक्री, (४) साझेदारी का काम, (५) वचन से दिए गए पदार्थ का न देना, (६) वेतन नहीं देना, (७) समझौते को तोडना, (८) खरीदने पर अथवा बेचने पर पश्चात्ताप, (९) स्वामी और पशुपालक में विवाद (१०) सीमा का विवाद, (११) मारपीट, (१२) गाली देना, (१३) चोरी, (१४) डकैती-आगजनी, (१५) परस्त्री के प्रति दुर्व्यवहार (१६) स्त्री-पुरुषों का परस्पर व्यवहार (१७) दाय-विभाग और (१८) जूआ तथा बाजी लगाना, इस शास्त्र में व्यवहार-व्यवस्था में ये अठारह व्यवहारविषय माने गए हैं॥४–७॥

एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम्।
धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात् कार्यविनिर्णयम्॥८॥

इन विषयों में ज्यादा विवाद करने वाले मनुष्यों के कार्यों का (मुकदमों का) शाश्वत (सनातन, प्राकृत, तर्कसङ्गत) धर्म का आधार लेकर निर्णय (निपटेरा) करे॥८॥

यदा स्वयं न कुर्यात् तु नृपतिः कार्यदर्शनम् ।
तदा नियुञ्ज्याद् विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥९॥

जब राजा स्वयम् मुकदमों को देखने का काम न करे तब मुकदमों को देखने के लिए राजा विद्वान् ब्राह्मण को नियुक्त करे॥९॥

सोऽस्य कार्याणि सम्पश्येत् सभ्यैरेव त्रिभिर् वृतः ।
सभामेव प्रविश्याऽग्र्यामासीनः स्थित एव वा ॥१०॥

वह ब्राह्मण तीन सभ्यों से युक्त होकर श्रेष्ठ न्यायाधिकरण में (धर्माधिकरण में) प्रवेश करके बैठता हुआ अथवा खड़ा ही रहता हुआ राजा से देखने योग्य कार्यों (मुकदमों) को देखे॥१०॥

यस्मिन् देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस् त्रयः ।
राज्ञश् चाऽधिकृतो विद्वान् ब्रह्मणस् तां सभां विदुः ॥११॥

जिस स्थान में वेद जानने वाले तीन ब्राह्मण और राजा से नियुक्त विद्वान् ब्राह्मण भी बैठते हैं उस स्थान को ब्रह्मा की सभा के रूप में विज्ञ लोग जानते हैं॥११॥

धर्मो विद्धस् त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।
शल्यं चाऽस्य न कृन्तन्ति विद्धास् तत्र सभासदः ॥१२॥

अधर्म से विद्ध धर्म जिस सभा में उपस्थित होता है और जहाँ सभासद लोग इसके शल्य को (काटे को) नहीं काटते हैं, वहाँ सभासद ही अधर्म से विद्ध (अधर्म से युक्त) होते हैं॥१२॥

सभा वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन् विब्रुवन् वाऽपि नरो भवति किल्बिषी ॥१३॥

सभा में प्रवेश ही नहीं करना चाहिए अथवा सभा में प्रवेश करके युक्तियुक्त बात ही बोलनी चाहिए; सभा में प्रवेश करके युक्तियुक्त बात न बोलता हुआ अथवा अयुक्तियुक्त बात बोलता हुआ भी मनुष्य पातकयुक्त होता है॥१३॥

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्राऽनृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास् तत्र सभासदः ॥१४॥

जिस सभा में सभासदों के देखते रहने पर ही धर्म अधर्म से तिरस्कृत होता है और सत्य झूठ से दबाया जाता है वहाँ सभासद ही मारे गए (मृततुल्य) होते हैं॥१४॥

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत्॥१५॥

नष्ट किया गया धर्म ही नष्ट करता है और रक्षित किया गया धर्म ही रक्षा करता है, इस लिए धर्म को नष्ट नहीं करना चाहिए, नष्ट किया गया धर्म हम को नष्ट न करे॥१५॥

वृषो हि भगवान् धर्मस् तस्य यः कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर् देवास् तस्माद् धर्मं न लोपयेत्॥१६॥

भगवान् धर्म ही वृष हैं, उनका जो निवारण करता है उसको देवता वृषल (धर्मोच्छेदक) के रूप में जानते हैं, इस लिए धर्म को लुप्त न करे॥१६॥

एक एव सुहृद् धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद् धि गच्छति॥१७॥

जो मरने पर भी साथ में जाता है वैसा एक मात्र मित्र धर्म है, और सभी तत्त्व तो शरीर के नाश के साथ ही नष्ट हो जाते हैं। [अतः अन्य सभी से बढ़कर धर्म को महत्त्व देना चाहिए]॥१७॥

पादोऽधर्मस्य कर्तारं पादः साक्षिणमृच्छति।
पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति॥१८॥

अधर्म का पहला चौथाई भाग अधर्म करने वाले को जाता है, अधम का दूसरा चौथाई भाग साक्षी को जाता है, अधर्म का तीसरा चौथाई भाग सभी सभासदों को जाता है और अधर्म का चौथा चौथाई भाग राजा को जाता है॥१८॥

राजा भवत्यनेनास् तु मुच्यन्ते च सभासदः।
एनो गच्छति कर्तारं निन्दाऽर्हो यत्र निन्द्यते॥१९॥

निन्दा के योग्य पापी की जिस सभा में निन्दा की जाती है (पापी को दण्ड दिया जाता है) वहाँ राजा पापरहित हो जाता है, सभासद भी पाप से मुक्त हो जाते हैं, पाप केवल पाप करने वाले को ही जाता है॥१९॥

जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद् ब्राह्मणब्रुवः।
धर्मप्रवक्ता नृपतेर् न तु शूद्रः कथञ्चन॥२०॥

केवल जाति मात्र को लेकर जीने वाला ही क्यों न हो, अथवा अपने को ब्राह्मण कहने वाला मात्र भी क्यों न हो, वह मनुष्य राजा का धर्मप्रवक्ता (प्राड्विवाक) हो सकता है, शूद्र तो राजा का धर्मप्रवक्ता कथमपि नहीं हो सकता है॥२०॥

यस्य शूद्रस् तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम्।
तस्य सीदति तद् राष्ट्रं पङ्के गौरिव पश्यतः ॥२१॥

जिस राजा का धर्म-विवेचन शूद्र करता है उस राजा के देखते रहने पर ही वह राष्ट्र कीचड में फँसी हुई गाय की तरह दुःख पाता है॥२१॥

यद् राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाऽऽक्रान्तमद्विजम्।
विनश्यत्याशु तत् कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम् ॥२२॥

जो राष्ट्र शूद्रबहुल है, वेद में और वेदोक्त पारलौकिक कर्मफल में विश्वास न करने वाले (परलोकभय से रहित) जनों से व्याप्त है, और ब्राह्मणों से रहित है वह सम्पूर्ण राष्ट्र दुर्भिक्ष से (अन्नाऽभाव से) और रोगों से पीडित होकर शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है॥२२॥

धर्माऽऽसनमधिष्ठाय संवीताऽङ्गः समाहितः।
प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत् ॥२३॥

धर्मासन में बैठकर अङ्गों को यथोचित रूप में ढककर सावधन होकर [इन्द्र, अग्नि, यम इत्यादि आठ] लोकपालों को प्रणाम करके मुकदमों का देखना प्रारम्भ करे॥२३॥

अर्थाऽनर्थावुभौ बुद्ध्वा धर्माऽधर्मौ च केवलौ।
वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत् कार्याणि कार्यिणाम् ॥२४॥

अर्थ को और अनर्थ को समझकर और धर्म को और अधर्म को ही ध्यान में रखकर कार्यार्थियों के (न्याय माँगने वालों के) सभी कार्यों को (मुकदमों को) ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्णों के क्रम से देखे॥२४॥

बाह्यैर् विभावयेल् लिङ्गैर् भावमन्तर्गतं नृणाम्।
स्वरवर्णेङ्गिताऽऽकारैश् चक्षुषा चेष्टितेन च ॥२५॥

कार्यों को देखता हुआ राजा कार्यार्थी तथा साक्षी मनुष्यों के शरीर में देखे जाने वाले चिह्नों से, जैसे स्वर से, वर्ण से, इङ्गित से, आकार से, आँखों से और हस्तपादादिचेष्टा से भी भीतरी भाव को समझे।

विशेष— इङ्गित का अर्थ अन्य कार्य में संलग्न होने पर भी शरीर में अकस्मात् उत्पन्न होने वाली रोमाञ्च, वेपथु (कम्पन) इत्यादि चेष्टा है॥२५॥

आकारैरिङ्गितैर् गत्या चेष्टया भाषितेन च।
नेत्रवक्त्रविकारैश् च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥२६॥

आकारों से, इङ्गितों से, गति की विशेषता से, हस्तपादादिचेष्टा से, बोली की विशेषता से और आँखों के तथा मुख के विकारों से भी मनुष्य का भीतरी भाव समझा जा सकता है॥२६॥

बालदायादिकं रिक्थं तावद् राजाऽनुपालयेत्।
यावत् स स्यात् समावृत्तो यावच् चाऽतीतशैशवः ॥२७॥

नाबालिग मनुष्य के दायभाग इत्यादि रूप के धन का राजा तब तक रक्षा करे जब तक वह गुरुकुल से लौटा हुआ होगा, अथवा जब तक वह व्यतीत-बालभाव वाला (बालिग) होता है॥२७॥

वशाऽपुत्रासु चैवं स्याद् रक्षणं निष्कुलासु च।
पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥२८॥

बन्ध्या स्त्रियों के विषय में, पुत्ररहित स्त्रियों के विषय में, स्वकुल के मनुष्यों से रहित स्त्रियों के विषय में, रोगग्रस्त असमर्थ पतिव्रता विधवा स्त्रियों के विषय में भी धनरक्षा की यही व्यवस्था होगी [राजा ही उनके धन की रक्षा करे]॥२८॥

जीवन्तीनां तु तासां ये तद् धरेयुः स्वबान्धवाः।
ताञ् छिष्याच् चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥२९॥

जीवित रहती हुई उस प्रकार की स्त्रियों के धन को उनके जो बन्धु हरण करेंगे उनको धार्मिक राजा चोर के समान दण्डित करके शिक्षा दे॥२९॥

प्रनष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत्।
अर्वाक् त्र्यब्दाद् धरेत् स्वामी परेण नृपतिर् हरेत् ॥३०॥

जिस धन का स्वामी नहीं देखा गया है उस धन को राजा तीन वर्ष तक सुरक्षित करे, तीन वर्ष पूर्ण होने से पहले यदि उस धन का कोई स्वामी प्रमाणित होता है तो उस धन को स्वामी ले जावे, तीन वर्ष पूर्ण होने के बाद भी कोई स्वामी प्रमाणित न होने पर राजा ही उस धन को लेवे॥३०॥

ममेदमिति यो ब्रूयात् सोऽनुयोज्यो यथाविधि।
संवाद्य रूपसङ्ख्यादीन् स्वामी तद् द्रव्यमर्हति ॥३१॥

उस लावारिस धन को जो यह मेरा है ऐसा बोलेगा उसको शास्त्रोक्त रीति से पूछना चाहिए, उस द्रव्य के रूप और सङ्ख्या इत्यादि को यथार्थ रूप में बताने पर वह स्वामी उस द्रव्य को पाने में योग्य होता है॥३१॥

अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः।
वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति॥३२॥

वह द्रव्य मेरा है ऐसा तो कहता है किन्तु वास्तविक रूप में वह द्रव्य नष्ट होने के देश को, काल को और उस द्रव्य के वर्ण को, रूप को और सङ्ख्यादि प्रमाण को भी नहीं बता सकता है तो उस दाबेदार को उस द्रव्य के तुल्य धन जुर्माना करना उचित होता है॥३२॥

आददीताऽथ षड्भागं प्रनष्टाऽधिगतान् नृपः।
दशमं द्वादशं वाऽपि सतां धर्ममनुस्मरन्॥३३॥

सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण करता हुआ राजा नष्ट होकर मिले हुए धन से छठा भाग अथवा दशवाँ भाग अथवा बारहवाँ भाग लेवे॥३३॥

प्रनष्टाऽधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद् युक्तैरधिष्ठितम्।
यांस् तत्र चौरान् गृह्णीयात् तान् राजेभेन घातयेत्॥३४॥

चुराया गया द्रव्य राजपुरुषों से बरामद किए जाने पर वह द्रव्य राजपुरुषों से सुरक्षित होकर रहे। उस द्रव्य के चुराने वाले जिन चोरों को राजा पकडे उनको राजा हाथी से मरवाए॥३४॥

ममाऽयमिति यो ब्रूयान् निधिं सत्येन मानवः।
तस्याऽऽददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा॥३५॥

जो मनुष्य गुप्त रूप में भूमि में छिपाकर रखे गए धन को स्वयम् पाने पर अथवा दूसरे से पाए जाने पर यह धन मेरा है ऐसा सत्य रूप में कहता है उस से उस धन का छठा अथवा बारहवाँ भाग राजा लेवे॥३५॥

अनृतं तु वदन् दण्ड्यः स्ववित्तस्याऽंशमष्टमम्।
तस्यैव वा निधानस्य सङ्ख्ययाऽल्पीयसीं कलाम्॥३६॥

झूठ रूप में 'यह निधि मेरा है' ऐसा कहते हुए मनुष्य को तो उसके सम्पूर्ण धन का आठवाँ भाग दण्ड करना चाहिए, अथवा जिस निधि को झूठ रूप में 'मेरा है' ऐसा कहा है उसी निधि के गणित से थोडा-सा भाग दण्ड करना चाहिए॥३६॥

विद्वांस् तु ब्राह्मणो दृष्ट्वा पूर्वोपनिहितं निधिम्।
अशेषतोऽप्याददीत सर्वस्याऽधिपतिर् हि सः॥३७॥

पहले रखे गए निधि को पाकर विद्वान् ब्राह्मण तो राजभाग भी न देकर सम्पूर्ण निधि को लेवे, क्योंकि विद्वान् ब्राह्मण सम्पूर्ण जगत् के धन का अधिपति है॥३७॥

यं तु पश्येन् निधिं राजा पुराणं निहितं क्षितौ।
तस्माद् द्विजेभ्यो दत्त्वाऽर्धमर्धं कोशे प्रवेशयेत्॥३८॥

राजा भूमि में छिपाकर रखे गए अस्वामिक पुराने जिस धन को पाए उस धन में से आधा ब्राह्मणों को देकर आधा अपने कोश में प्रविष्ट कराए॥३८॥

निधीनां तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ।
अर्धभाग् रक्षणाद् राजा भूमेरधिपतिर् हि सः॥३९॥

पुराने निधियों का (पृथ्वी में गुप्त रूप में रखे गए पुराने अस्वामिक धन का) और सोना चाँदी इत्यादि पृथिवी में मिलने वाले धातुओं का भी राजा आधा भाग पाने वाला है, क्योंकि वह भूमि की रक्षा करने से भूमि का अधिपति है॥३९॥

दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरैर् हृतं धनम्।
राजा तदुपयुञ्जानश् चौरस्याऽऽप्नोति किल्बिषम्॥४०॥

चोरों से चुराया गया धन जिस किसी भी वर्ण का हो वह धन जिस का है उसी को राजा से दिया जाना चाहिए, उस चोरी के धन का उपयोग करता हुआ राजा चोर के पाप को प्राप्त करता है॥४०॥

जातिजानपदान् धर्माञ् श्रेणीधर्मांश् च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश् च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥४१॥

धर्म के तत्त्व को जानने वाला राजा जातिधर्मों को, देशधर्मों को, वणिक्, तन्तुवाय, स्वर्णकार इत्यादि की श्रेणियों के धर्मों को और कुलों के धर्मों को भी अच्छी तरह देखकर उनके अपने-अपने धर्मों की व्यवस्था कर दे॥४१॥

स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तोऽपि मानवाः।
प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वेस्वे कर्मण्यवस्थिताः॥४२॥

अपने-अपने कर्म में स्थिर होकर रहे हुए अपना-अपना काम करते हुए मनुष्य दूर देश में रहते हुए भी लोगों के प्रिय होते हैं॥४२॥

नोत्पादयेत् स्वयं कार्यं राजा नाऽप्यस्य पूरुषः।
न च प्रापितमन्येन ग्रसेताऽर्थं कथञ्चन॥४३॥

राजा स्वयम् अपनी ओर से कार्य (मुकदमा) पैदा न करे, राजा का आदमी भी अपनी ओर से कार्य (मुकदमा) उत्पन्न न करे, दूसरे से विषय उपस्थापित किए (मुकदमा दिए) जाने पर उसको किसी प्रकार से भी दबाने का काम भी न करे॥४३॥

यथा नयत्यसृक्पातैर् मृगस्य मृगयुः पदम्।
नयेत् तथाऽनुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम्॥४४॥

जैसे शिकारी लहू के बिन्दुओं के पतनों से बाण से घायल मृग के स्थान का पता करता है वैसे ही राजा दृष्ट लिङ्गों के आधार पर अनुमान करके धर्म के यथार्थ रूप का पता करे॥४४॥

सत्यमर्थं च सम्पश्येदात्मानमथ साक्षिणः।
देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः॥४५॥

व्यवहारों के (मुकदमों के) दर्शन में बैठा हुआ राजा मुकदमों के वास्तविक तत्त्व को, उसके फल के गौरव को, अपने को, साक्षियों को, देश को, मुकदमे के लाघव-गौरव युक्त रूप को और काल को भी देखे॥४५॥

सद्भिराचरितं यत् स्याद् धार्मिकैश् च द्विजातिभिः।
तद् देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत्॥४६॥

सत्पुरुषों से जो व्यवस्था मानी गई है, धर्मप्रधान ब्राह्मणों से जो व्यवस्था मानी गई है, देश की कुल की और जाति की उस धर्मव्यवस्था को शास्त्रविरुद्ध न होने पर राजा भी उत्कृष्ट धर्म के रूप में माने॥४६॥

अधमर्णाऽर्थसिद्ध्यर्थमुत्तमर्णेन चोदितः।
दापयेद् धनिकस्याऽर्थमधमर्णाद् विभावितम्॥४७॥

ऋण लेने वाले से धन दिलाने के लिए ऋण देने वाले से प्रेरित राजा प्रमाणों से साधित ऋण देने वाले के धन को ऋण लेने वाले से दिला दे॥४७॥

यैर्यैरुपायैरर्थं स्वं प्राप्नुयादुत्तमर्णिकः।
तैस्तैरुपायैः सङ्गृह्य दापयेदधमर्णिकम्॥४८॥

ऋण देने वाला जिन-जिन उपायों से अपना धन प्राप्त कर सके उन-उन उपायों से ऋण लेने वाले को वश में करके राजा ऋण लेने वाले से ऋण देने वाले को उसका धन दिला दे॥४८॥

धर्मेण व्यवहारेण च्छलेनाऽऽचरितेन च।
प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च॥४९॥

धर्म से, व्यवहार से, छल से, आचरणविशेष से और पाँचवें उपाय के रूप के बल से भी ऋण के रूप में दिया गया धन ऋण देने वाला ऋण लेने वाले से प्राप्त करे॥४९॥

यः स्वयं साधयेदर्थमुत्तमर्णोऽधमर्णिकात्।
न स राज्ञाऽभियोक्तव्यः स्वकं संसाधयन् धनम्॥५०॥

जो ऋण देने वाला मनुष्य ऋण लेने वाले मनुष्य से अपना धन उक्त उपायों में से किसी उपाय से स्वयम् ही प्राप्त करे वह अपने धन को प्राप्त करता हुआ मनुष्य राजा से दण्डित नहीं किया जाना चाहिए॥५०॥

अर्थेऽपव्ययमानं तु करणेन विभावितम्।
दापयेद् धनिकस्याऽर्थं दण्डलेशं च शक्तितः॥५१॥

ऋण में लिए गए धन के विषय में सचाई को छुपाते हुए मनुष्य से तो ऋण देने वाले का प्रमाण से सिद्ध धन ऋण देने वाले को राजा दिलवाए, और ऋण लेने वाले से उसकी अर्थशक्ति को देखकर थोडा सा दण्ड भी ऋण देने वाले को दिलवाए॥५१॥

अपह्नवेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसदि।
अभियोक्ता दिशेद् देश्यं करणं वाऽन्यदुद्दिशेत्॥५२॥

सभा में (धर्माधिकरण में) 'ऋण देने वाले का धन दे दो' ऐसा प्राड्विवाक से कहे जाने पर यदि ऋण लेने वाला सच्चाई को छुपाए तो अभियोग करने वाला (ऋण देने वाला) अपने देश के साक्षी का निर्देश करे, अथवा और कोई प्रमाण बताए॥५२॥

अदेश्यं यश् च दिशति निर्दिश्याऽपह्नुते च यः।
यश् चाऽधरोत्तरानर्थान् विगीतान् नाऽवबुध्यते॥५३॥

अपदिश्याऽपदेश्यं च पुनर् यस् त्वपधावति।
सम्यक् प्रणिहितं चाऽर्थं पृष्टः सन् नाऽभिनन्दति॥५४॥

असम्भाष्ये साक्षिभिश् च देशे सम्भाषते मिथः।
निरुच्यमानं प्रश्नं च नेच्छेद् यश् चाऽपि निष्पतेत्॥५५॥

ब्रूहीत्युक्तश् च न ब्रूयादुक्तं च न विभावयेत्।
न च पूर्वाऽपरं विद्यात् तस्मादर्थात् स हीयते॥५६॥

जो अभियोक्ता (आवेदन करने वाला) अनिर्देश्य साक्ष्यादि का निर्देश करता है, निर्देश करके फिर जो उस निर्देश का अस्वीकार करता है, जो आगे-पीछे के विषयों का परस्पर मिलान न होने की बात को नहीं समझ सकता है, जो निर्देश्य साक्ष्यादि का निर्देश करके फिर उस बात से हट जाता है, अभियोगपत्र में अच्छी

तरह लिखे गए विषय में पूछे जाने पर भी उसका समर्थन नहीं करता है, निषिद्ध स्थल में साक्षियों से गोप्य बातचीत करता है, जो प्रश्न पूछे जाने को इष्ट नहीं मानता है (प्रश्न का उत्तर नहीं देता है), जो निर्दिष्ट स्थान से सहसा बाहर चला जाए, जो 'कहो' कहने पर न कहे, जो कहे हुए विषय को प्रमाणित नहीं कर सके, और जो साधन को (प्रमाण को) और साध्य को (प्रमेय को) न जाने वह उस प्रतिज्ञात साध्य अर्थ की सिद्धि से हीन हो जाता है [उस मुकदमें में वह हार जाता है]॥५३-५६॥

साक्षिणः सन्ति मेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन् न यः।
धर्मस्थः कारणैरेतैर् हीनं तमपि निर्दिशेत्॥५७॥

'मेरे साक्षी हैं' ऐसा कहकर भी 'दिखाओ' ऐसा कहे जाने पर ज़ो साक्षियों का निर्देश नहीं करे उसको भी इन कारणों से धर्मस्थ (प्राड्विवाक) प्रतिज्ञात अर्थ की सिद्धि से हीन (पराजित) बताए॥५७॥

अभियोक्ता न चेद् ब्रूयाद् वध्यो दण्ड्यश् च धर्मतः।
न चेत् त्रिपक्षात् प्रब्रूयाद् धर्मं प्रति पराजितः॥५८॥

जो अभियोक्ता (अर्थी) बाद में कुछ न कहे वह धर्म के अनुसार वध्य और दण्ड्य होता है, अभियुक्त (प्रत्यर्थी) भी यदि तीन पक्षों के (४५ दिनों के) भीतर प्रतिवाद (अभियोक्ता के अभियोग का समुचित उत्तर) न दे तो वह भी धर्म से पराजित होता है।

विशेष— यहाँ 'त्रिपक्षात्' इस उल्लेख से वैदिक परम्परा में लोकव्यवहार में भी चान्द्र मान का ही प्रयोग सूचित होता है। इस विषय में जिज्ञासु सज्जन चौखम्बा विद्या-भवन से प्रकाशित कौण्डिन्न्यायनव्याख्यानयुक्त वेदाङ्गज्योतिष की भूमिका देखें॥५८॥

यो यावन् निह्नुवीताऽर्थं मिथ्या यावति वा वदेत्।
तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद्द्विगुणं दमम्॥५९॥

जो जितने धन के विषय में सच्चाई को छुपाए अथवा जो जितने धन के विषय में झूठ बोले, धर्म को न जानने वाले वे दोनों ही राजा से उतने से दुगुना धन (दण्ड) देने को बाध्य (मजबूर) किए जाने चाहिए॥५९॥

पृष्टोऽपव्ययमानस् तु कृताऽवस्थो धनैषिणा।
त्र्यवरैः साक्षिभिर् भाव्यो नृपब्राह्मणसन्निधौ॥६०॥

प्राड्विवाक से राजपुरुष के द्वारा सभास्थल में बुलाकर लाया गया प्रत्यर्थी (ऋण लेने वाला) प्राड्विवाक से पूछे जाने पर ऋण लेने की बात को अस्वीकार करता है तो वह अपने धन को प्राप्त करने की इच्छा करने वाले से (ऋणदाता से)

राजा के और ब्राह्मण के समक्ष में कम से कम तीन साक्षियों द्वारा गालित (ऋणग्रहण स्वीकार करने वाला=साबित) किया जाना चाहिए॥६०॥

यादृशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः।
तादृशान् सम्प्रवक्ष्यामि यथा वाच्यमृतं च तैः॥६१॥

धनियों से (ऋण देने वालों से) व्यवहारों में जैसे मनुष्य साक्षी बनाए जाने चाहिए वैसे मनुष्यों को बताऊँगा, और उन साक्षियों से जैसे सत्य बताया जाना चाहिए उसको भी बताऊँगा॥६१॥

गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्र-विट्-शूद्रयोनयः।
अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केचिदनापदि॥६२॥

अर्थी से (अभियोक्ता से) बताए गए, गृहस्थ, पुत्त्रयुक्त, कुलीन, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जाति के मनुष्य साक्षी के काम के लिए योग्य होते हैं, आपत् न रहने पर (उक्त प्रकार के मनुष्यों को छोडकर) जो कोही मनुष्य साक्षी के काम के लिए योग्य नहीं होते हैं॥६२॥

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस् तु वर्जयेत्॥६३॥

सभी वर्णों में सत्यवादी, सभी धर्मों को जानने वाले और लोभरहित मनुष्य ही मुकदमों में साक्षी बनाए जाने चाहिए, विपरीत धर्म वाले (असत्यवादी, धर्मों को न जानने वाले और लोभी) मनुष्य को तो साक्षी बनाने में वर्जित करे॥६३॥

नाऽर्थसम्बन्धिनो नाऽऽप्ता न सहाया न वैरिणः।
न दृष्टदोषाः कर्तव्या न व्याध्यार्ता न दूषिताः॥६४॥

अभियोक्ता से (मुद्दई से) अथवा अभियोज्य से (मुद्दालह से) धन से सम्बन्ध रखने वाले मनुष्य साक्षी नहीं बनाए जाने चाहिए, उनके मित्र भी नहीं, सहायक भी नहीं, वैरी भी नहीं, असत्यवादित्वादि दोष से युक्त रूप में ज्ञात मनुष्य भी साक्षी नहीं बनाए जाने चाहिए, रोग से पीडित मनुष्य भी नहीं, महापातक इत्यादि बडे पापों से दूषित मनुष्य भी साक्षी नहीं बनाए जाने चाहिए॥६४॥

न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुक-कुशीलवौ।
न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न सङ्गेभ्यो विनिर्गतः॥६५॥

राजा भी साक्षी नहीं बनाया जाना चाहिए, शिल्पी लोग और नर्तक-गायक लोग भी साक्षी नहीं बनाए जाने चाहिए, वेद का नित्य अध्ययन करने वाला मनुष्य

(ब्राह्मण) भी नहीं, वर्णिलिङ्ग धारण करने वाला मनुष्य (ब्रह्मचारी) भी नहीं, सभी सङ्गों से मुक्त मनुष्य (सन्यासी) भी साक्षी नहीं बनाया जाना चाहिए॥६५॥

नाऽध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर् न विकर्मकृत्।
न वृद्धो न शिशुर् नैको नाऽन्त्यो न विकलेन्द्रियः ॥६६॥

अन्य जन के अधीन में रहता हुआ मनुष्य भी साक्षी नहीं, लोक से वचनीय (निन्दित) कर्म करने वाला मनुष्य भी नहीं, क्रूर कर्म करने वाला मनुष्य भी नहीं, स्वकर्म को छोडकर विकर्म करने वाला मनुष्य भी नहीं, वृद्ध (७० वर्षों से अधिक उम्र वाला) मनुष्य भी नहीं, बालक (१६ वर्षों से न्यून उम्र वाला) मनुष्य भी नहीं, अकेला मनुष्य भी नहीं, अन्त्य (जातियों में अन्त्य चाण्डालादि जाति का) मनुष्य भी नहीं, अन्ध बधिर इत्यादि विकलेन्द्रिय मनुष्य भी साक्षी नहीं बनाया जाना चाहिए॥६६॥

नाऽऽर्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृष्णोपपीडितः।
न श्रमाऽऽर्तो न कामाऽऽर्तो न क्रुद्धो नाऽपि तस्करः ॥६७॥

बन्धुविनाशादि के शोक से दुःखित मनुष्य भी साक्षी नहीं बनाया जाना चाहिए, मद्यपानादि से मत्त मनुष्य भी नहीं, पागल मनुष्य भी नहीं, भूख से अथवा प्यास से अत्यन्त पीडित मनुष्य भी नहीं, परिश्रम से अत्यन्त पीडित मनुष्य भी नहीं, कामदेव से अत्यन्त पीडित मनुष्य भी नहीं, गुस्से में रहा हुआ मनुष्य भी नहीं, चोर मनुष्य भी नहीं॥६७॥

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर् द्विजानां सदृशा द्विजाः।
शूद्राश् च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥६८॥

स्त्रियों के व्यवहार में साक्षी का कार्य स्त्रियाँ ही करें, ब्राह्मणों के व्यवहार में साक्षी का कार्य तुल्य गुण वाले ब्राह्मण ही करें, शूद्रों के व्यवहार में सज्जन शूद्र ही साक्षी का कार्य करें, चण्डालादि अन्त्यजों के व्यवहार में चण्डालादि अन्त्यज ही साक्षी का काम करें॥६८॥

अनुभावी तु यः कश्चित् कुर्यात् साक्ष्यं विवादिनाम्।
अन्तर्वेश्मन्यरण्ये वा शरीरस्याऽपि चाऽत्यये ॥६९॥

घर के भीतर हुए व्यवहार में अथवा वन में हुए व्यवहार में अथवा शरीर की पीडा से सम्बद्ध व्यवहार में तो विवादयुक्त मनुष्यों के व्यवहार में साक्षात् अनुभव करने वाला (देखने वाला अथवा सुनने वाला) जो कोई भी मनुष्य साक्षी का कार्य करे॥६९॥

स्त्रियाऽप्यसम्भवे कार्यं बालेन स्थविरेण वा।
शिष्येण बन्धुना वाऽपि दासेन भृतकेन वा॥७०॥

अन्य साक्षी का प्राप्त होना सम्भव न होने पर स्त्री से भी साक्षी का कार्य किया जाना चाहिए, बालक से अथवा वृद्ध से अथवा शिष्य से अथवा बन्धु से अथवा दास से अथवा मजदूरी लेकर काम करने वाले से भी साक्षी का कार्य किया जाना चाहिए॥७०॥

बालवृद्धाऽऽतुराणां च साक्ष्येषु वदतां मृषा।
जानीयादस्थिरां वाचमुत्सिक्तमनसां तथा॥७१॥

साक्षी के काम में असत्य बोलने वाले बालकों की, वृद्धों की, रोगियों की और स्वभावतः चञ्चलचित्त वालों की वाणी को भी अस्थिर जानें। [अतः इन की वाणी से अनुमान करके वस्तुस्थिति को जाने]॥७१॥

साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसङ्ग्रहणेषु च।
वाग्दण्डयोश् च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः॥७२॥

सभी प्रकार के साहसकर्म में (डकैती, आग लगाना इत्यादि में), चोरी में, परस्त्री के विविध प्रकार के धर्षणों में, वाक्पारुष्य में (गालीगलौज में), दण्डपारुष्य में (मारपीट में) भी साक्षियों की परीक्षा न करे। [जिस किसी को भी देखने वाले को और सुनने वाले को साक्षी के रूप में लेवे]॥७२॥

बहुत्वं परिगृह्णीयात् साक्षिद्वैधे नराधिपः।
समेषु तु गुणोत्कृष्टान् गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान्॥७३॥

साक्षियों में दो विभाग (मतभेद) होने पर राजा बहुमत को स्वीकार करे, दोनों विभागों में तुल्य सङ्ख्या होने पर गुण से उच्च कोटि के साक्षियों को स्वीकृत करे, दोनों विभागों में समान गुण वाले साक्षी देखे जाने पर सुकर्मयुक्त ब्राह्मणों को स्वीकृत करे॥७३॥

समक्षदर्शनात् साक्ष्यं श्रवणाच् चैव सिध्यति।
तत्र सत्यं ब्रुवन् साक्षी धर्माऽर्थाभ्यां न हीयते॥७४॥

साक्षी का कार्य प्रत्यक्ष रूप में देखने से और प्रत्यक्ष रूप में सुनने से सिद्ध होता है। उसमें सत्य बोलता हुआ साक्षी धर्म से और अर्थ से भी च्युत नहीं होता है॥७४॥

साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद् विब्रुवन्नार्यसंसदि।
अवाङ् नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच् च हीयते॥७५॥

आर्यों की सभा में (न्यायालय में) देखे गए और सुने गए अर्थों से विचलित होकर (झूठ) बोलता हुआ साक्षी मरने पर अधोमुख होकर नरक में जाता है और स्वर्गप्राप्ति के अवसर से भी च्युत हो जाता है॥७५॥

यत्राऽनिबद्धोऽपीक्षेत शृणुयाद् वाऽपि किञ्चन।
पृष्टस् तत्राऽपि तद् ब्रूयाद् यथादृष्टं यथाश्रुतम्॥७६॥

जिस विषय में लेख्य पत्र में साक्षी के रूप में उल्लिखित न होने पर भी यदि कोई मनुष्य किसी बात को देखे अथवा सुने तो पूछे जाने पर उस विषय में भी जैसा देखा था और जैसा सुना था वैसा ही कहे॥७६॥

एकोऽलुब्धस् तु साक्षी स्याद् बह्व्यः शुच्योऽपि न स्त्रियः।
स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वात् तु दोषैश् चाऽन्येऽपि ये वृताः॥७७॥

एक ही पुरुष भी लोभरहित होने पर साक्षी हो सकेगा, स्त्रियाँ तो अधिक सङ्ख्या में और हृदय से शुद्ध होने पर भी स्त्रीबुद्धि अस्थिर होने से साक्षी नहीं हो सकेंगी। दोषों से घिरे हुए होने पर अन्य पुरुष भी साक्षी नहीं हो सकेंगे॥७७॥

स्वभावेनैव यद् ब्रूयुस् तद् ग्राह्यं व्यावहारिकम्।
अतो यदन्यद् विब्रूयुर् धर्मार्थं तदपार्थकम्॥७८॥

साक्षी लोग स्वभाव से ही जो कहें उसको व्यवहारनिर्णय के लिए लेना चाहिए, इस से भिन्न रूप में राग, द्वेष, भय, लोभ इत्यादि किसी भी कारण से सत्य से विचलित होकर जो कहें वह धर्मनिर्णय के लिए निरर्थक (अनुपयोगी) होता है॥७८॥

सभाऽन्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ।
प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिनाऽनेन सान्त्वयन्॥७९॥

सभा के भीतर आए हुए साक्षियों को प्राड्विवाक (न्यायाधीश) वादी के (मुद्दई के) और प्रतिवादी के (मुद्दालह के) समीप में इस (आगे कहे गए) विधि से साक्षियों को आश्वस्त करता हुआ पूछे॥७९॥

यद् द्वयोरनयोर् वेत्थ कार्येऽस्मिंश् चेष्टितं मिथः।
तद् ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता॥८०॥

इस व्यवहार में इन दोनों के (वादी और प्रतिवादी के) जो परस्पर क्रिया-कलाप आप लोग जानते हैं उस सब को सत्य रूप में बताइए, क्योंकि इस व्यवहार में (मुद्दे में) आप लोगों की साक्षिता उल्लिखित है॥८०॥

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन् साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान्।
इह चाऽनुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता॥८१॥

साक्षी का काम करते समय सत्य बोलता हुआ साक्षी मरने पर पर्याप्त भोग-सामग्रियों से युक्त ब्रह्मलोकादि लोकों को प्राप्त करता है, और इस लोक में भी सब से उत्तम कीर्ति को प्राप्त करता है, यह वाणी ब्रह्मा जी से अनुमोदित है॥८१॥

साक्ष्येऽनृतं वदन् पाशैर् बध्यते वारुणैर् भृशम्।
विवशः शतमा जातीस् तस्मात् साक्ष्यं वदेदृतम्॥८२॥

साक्षी का काम करते समय झूठ बोलता हुआ मनुष्य परवश होकर सौ जन्म तक वरुण के पाशों से बाँधा जाता है, इस लिए साक्षी के काम में सत्य बोले॥८२॥

सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते।
तस्मात् सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः॥८३॥

सत्य से साक्षी शुद्ध (पापमुक्त) किया जाता है, सत्य से धर्म बढता है, इस लिए सभी वर्णों के व्यवहारों में साक्षियों से सत्य ही बोला जाना चाहिए॥८३॥

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथाऽऽत्मनः।
माऽवमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम्॥८४॥

आत्मा (अन्तःकरण) ही अपना साक्षी है, और आत्मा (अन्तःकरण) ही अपनी सद्गति का और असद्गति का भी कारण है, इस लिए मनुष्यों के उत्तम साक्षी अपने आत्मा का (अन्तःकरण का) अपमान न करो।

विशेष— इसका आशय यह है कि— सत्य-असत्य, दृष्ट-अदृष्ट-अन्यथादृष्ट, श्रुत-अश्रुत-अन्यथाश्रुत वस्तु को अन्तःकरण यथार्थ रूप में जानता ही है, उसका लङ्घन करके दृष्ट-श्रुत से भिन्न असत्य बात मत कहो॥८४॥

मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित् पश्यतीति नः।
तांस् तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवाऽन्तरपूरुषः॥८५॥

पाप करने वाले समझते हैं कि गुप्त रूप से पाप कर रहे हम को कोई भी नहीं देखता है, किन्तु उनको देवता लोग देखते हैं और उन्हीं का अपना ही अन्तःकरण वा अन्तःकरणसाक्षी पुरुष भी देखता है॥८५॥

द्यौर् भूमिरापो हृदयं चन्द्रा-ऽर्का-ऽग्नि-यमा-ऽनिलाः।
रात्रिः सन्ध्ये च धर्मश् च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम्॥८६॥

आकाश, भूमि, जल, हृदयस्थ जीव, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, यम, वायु, रात्रि, दो सन्ध्याएँ तथा धर्म ये सभी देहधारियों के चरित्र को जानने वाले हैं॥८६॥

देवब्राह्मणसान्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान्।
उदङ्मुखान् प्राङ्मुखान् वा पूर्वाह्णे वै शुचिः शुचीन्॥८७॥

देह, इन्द्रिय और मन से शुद्ध प्राड्विवाक (न्यायाधीश) पूर्वाह्ण में देह, इन्द्रिय और मन से शुद्ध, पूर्व की ओर अथवा उत्तर की ओर मुख करके रहते हुए द्विजाति साक्षियों को देवताओं के और ब्राह्मणों के समीप में सत्य साक्षिवक्तव्य पूछे॥८७॥

ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत् सत्यं ब्रूहीति पार्थिवम्।
गोबीजकाञ्चनैर् वैश्यं शूद्रं सर्वैस् तु पातकैः॥८८॥

'कहिए' कहकर ब्राह्मण साक्षी को पूछे, 'सत्य कहिए' कहकर क्षत्रिय साक्षी को पूछे, गौ बीज और सोने का स्पर्श कराकर 'असत्य बोलने पर गौ बीज और सोना मुझ को नष्ट करे' ऐसा शपथ कराकर वैश्य साक्षी को पूछे, 'असत्य बोलने पर मुझ को ब्रह्महत्या इत्यादि सभी पातकों का फल मिले' ऐसा शपथ कराकर शूद्र साक्षी को पूछे॥८८॥

ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः।
मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य ते ते स्युर् ब्रुवतो मृषा॥८९॥

ब्रह्महत्या करने वाले को प्राप्त होने वाले जो नरकलोक स्मृत हैं, स्त्रीहत्या करने वाले को प्राप्त होने वाले जो नरकलोक हैं, बालहत्या करने वाले को प्राप्त होने वाले जो नरकलोक हैं, मित्र का द्रोह (अपकार) करने वाले को प्राप्त होने वाले जो नरकलोक हैं, कृतघ्न को (उपकार करने वाले का अपकार करने वाले को) प्राप्त होने वाले जो नरकलोक हैं, झूठ बोलते हुए तुम को वे सब नरकलोक मिलेंगे। [शूद्र साक्षी को ऐसा सुनाकर प्राड्विवाक (न्यायाधीश) गवाही पूछे]॥८९॥

जन्मप्रभृति यत् किञ्चित् पुण्यं भद्र त्वया कृतम्।
तत् ते सर्वं शुनो गच्छेद् यदि ब्रूयास् त्वमन्यथा॥९०॥

हे सत्कर्मकारिन्, यदि तुम देखे गए और सुने गए सत्य से भिन्न बात बोलोगे तो तुम ने जन्मकाल से लेकर जो कुछ पुण्य किया है वह सब कुत्तों को जाएगा। [शूद्र साक्षी को ऐसा सुनाकर न्यायाधीश गवाही पूछे]॥९०॥

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत् त्वं कल्याण मन्यसे।
नित्यं स्थितस् ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः॥९१॥

हे कल्याणकर्मकारिन्, तुम अपने को 'मैं अकेला हूँ' ऐसा जो समझते हो, यह यथार्थ समझ नहीं, तुम्हारे हृदय में पुण्य को और पाप को देखने वाला मुनि (साक्षिपुरुष) सदाकाल ही अवस्थित रहता है॥९१॥

यमो वैवस्वतो देवो यस् तवैष हृदि स्थितः।
तेन चेदविवादस् ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः॥९२॥

तुम्हारे हृदय में अवस्थित जो सर्वनियामक, सर्वप्रकाशक देव (परमात्मा) है उसके साथ यदि बोलते हुए तुम्हारा सत्य-असत्य विषय में विवाद नहीं है तो (असत्यभाषणादि से होने वाले पाप को धोने के लिए) गङ्गा में और कुरुक्षेत्र में मत जाओ (गङ्गा में और कुरुक्षेत्र में जाने की कोई आवश्यकता नहीं है)।

विशेष— यहाँ गङ्गा और कुरुक्षेत्र का पापनाशक बडे तीर्थस्थल के रूप में उल्लेख हुआ है। जिज्ञासु लोग अन्य उपस्नात इत्यादि बडे तीर्थस्थलों के प्राचीन उल्लेख को पाणिनीयव्याकरणभाष्य (महाभाष्य) में (२।२।२९) देखें॥९२॥

नग्नो मुण्डः कपालेन भिक्षार्थी क्षुत्पिपासितः।
अन्धः शत्रुकुलं गच्छेद् यः साक्ष्यमनृतं वदेत्॥९३॥

जो साक्षी का वक्तव्य असत्य रूप में बोलेगा उसको (दूसरे जन्म में) नङ्गा तथा मुण्डित होकर भूख और प्यास से पीडित होते हुए भिक्षा माँगने वाला और अन्धा होकर हाथ में ठिकडा (कपाल) लेकर शत्रु के घर में जाना पड़ेगा॥९३॥

अवाक्शिरास् तमस्यन्धे किल्बिषी नरकं व्रजेत्।
यः प्रश्नं वितथं ब्रूयात् पृष्टः सन् धर्मनिश्चये॥९४॥

विवादपद के (मुकदमें के) निर्णय के लिए पूछा गया हुआ जो साक्षी प्रश्न का झूठ उत्तर देगा वह पापी अधश्शीर्ष (उलटा) होकर गहरे अन्धकार में चलता हुआ नरक को जाएगा॥९४॥

अन्धो मत्स्यानिवाऽश्नाति स नरः कण्टकैः सह।
यो भाषतेऽर्थवैकल्यमप्रत्यक्षं सभां गतः॥९५॥

धर्मसभा में (न्यायालय में) गया हुआ जो मनुष्य अपने से प्रत्यक्ष रूप में नहीं जाने गए विषय को सत्य से विकल रूप में बोलता है वह मनुष्य अन्धा मनुष्य जैसे मछलियों को काँटे के साथ में ही खाता है वैसे ही अपने प्राप्तव्य सुख को भी दुःख से मिश्रित रूप में ही भोग पाता है॥९५॥

यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाऽभिशङ्कते।
तस्मान् न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥९६॥

कहते हुए जिस का स्वाऽनुभूत सब विषय को जानता हुआ अन्तरात्मा (जीवसाक्षिरूप आत्मा) वक्ता की बोली असत्य होने की शङ्का नहीं करता है (वक्ता की बोली को शङ्कारहित रूप में सत्य मानता है), देवता लोग लोक में उस वक्ता से श्रेष्ठ दूसरे पुरुष को नहीं मानते हैं॥९६॥

यावतो बान्धवान् यस्मिन् हन्ति साक्ष्येऽनृतं वदन्।
तावतः सङ्ख्यया तस्मिञ् छृणु सौम्याऽनुपूर्वशः ॥९७॥

हे सौम्य, जिस व्यवहारविशेष के गवाही में झूठ बोलता हुआ साक्षी जितने बान्धवों को हानि पहुँचाता है (नरक में डालता है) उस विवादपद में सङ्ख्या से उतने बान्धवों को क्रम से सुनो॥९७॥

पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवाऽनृते।
शतमश्वाऽनृते हन्ति सहस्रं पुरुषाऽनृते ॥९८॥

क्षुद्र पशु के विवादपद में (मुकदमे में) झूठ बोलता हुआ साक्षी अपने पाँच सम्बन्धियों को हानि पहुँचाता है, गौ के विवादपद में (मुकदमे में) झूठ बोलता हुआ साक्षी अपने दश सम्बन्धियों को हानि पहुँचाता है, घोडे के विवादपद में झूठ बोलता हुआ साक्षी अपने सौ सम्बन्धियों को हानि पहुँचाता है और मनुष्य के विवादपद में झूठ बोलता हुआ साक्षी अपने हजार सम्बन्धियों को हानि पहुँचाता है (नरक में डालता है)॥९८॥

हन्ति जातानजातांश् च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन्।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदीः ॥९९॥

सुवर्ण के (सोने के) विवादपद में (मुकदमे में) झूठ बोलता हुआ साक्षी अपने जन्मे हुए (अतीत) और न जन्मे हुए (आगामी) भी सम्बन्धियों को हानि पहुँचाता है, भूमि के (जमीन के) विवादपद में झूठ बोलता हुआ साक्षी सभी को हानि पहुँचाता है, इस लिए भूमि के विवादपद में झूठ नहीं बोलो॥९९॥

अप्सु भूमिवदित्याहुः स्त्रीणां भोगे च मैथुने।
अब्जेषु चैव रत्नेषु सर्वेष्वश्ममयेषु च ॥१००॥

पानी के विवादपद में, स्त्रियों के मैथुनरूप भोग के विवादपद में, पानी में उत्पन्न होने वाले रत्नों के विवादपद में और पत्थर के सभी रत्नों के विवादपद में भी

भूठ बोलता हुआ साक्षी भूमि के विवादपद में भूठ बोलते हुए साक्षी की तरह ही सभी को हानि पहुँचाता है, ऐसा धर्मज्ञ मुनि लोग बताते हैं॥१००॥

एतान् दोषानवेक्ष्य त्वं सर्वाननृतभाषणे।
यथाश्रुतं यथादृष्टं सर्वमेवाऽञ्जसा वद॥१०१॥

भूठ बोलने में इन सब दोषों को देखकर तुम जैसा सुना और जैसा देखा सब यथार्थ कहो॥१०१॥

गोरक्षकान् वाणिजिकांस् तथा कारुकुशीलवान्।
प्रेष्यान् वार्धुषिकांश् चैव विप्राञ् शूद्रवदाचरेत्॥१०२॥

वृत्ति के लिए गोरक्षा करने वाले ब्राह्मणों को, व्यापार करने वाले ब्राह्मणों को, सूपकार बढई लोहार इत्यादि का काम करने वाले ब्राह्मणों को, नाच-गान करने वाले ब्राह्मणों को, किसी की आज्ञा से काम करने वाले (आज्ञापालक) ब्राह्मणों को, वृद्धिजीवी (सूदखोर) ब्राह्मणों को भी गवाही के प्रश्न में राजा शूद्रों की तरह ही ले॥१०२॥

तद् वदन् धर्मतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यथा नरः।
न स्वर्गाच् च्यवते लोकाद् दैवीं वाचं वदन्ति ताम्॥१०३॥

विभिन्न विवादपदों के विषय में सत्य को जानता हुआ भी मनुष्य अवस्था-विशेष के धर्मविशेष को जानकर अन्यथा (असत्य) बोलता हुआ भी स्वर्ग लोक से च्युत नहीं होता है, उस प्रकार की वाणी को धर्मतत्त्वज्ञ मुनि लोग दैवी वाणी कहते हैं॥१०३॥

शूद्र-विद्-क्षत्र-विप्राणां यत्रर्तोक्तौ भवेद् वधः।
तत्र वक्तव्यमनृतं तद् धि सत्याद् विशिष्यते॥१०४॥

जिस विवादपद के विषय में सत्य बोलने पर शूद्र का अथवा वैश्य का अथवा क्षत्रिय का अथवा ब्राह्मण का वध हो सकता है, उसमें भूठ बोलना चाहिए, वह भूठ वचन ही सत्य वचन से बढिया होता है।

विशेष– यहाँ पर शूद्र को भी मृत्युदण्ड से बचाने के लिए भूठ बोलने की अनुमति और उस कार्य के महत्त्व का प्रतिपादन शूद्र प्रति भी मनुस्मृति का अपक्षपात सूचित करता है॥१०४॥

वाग्दैवत्यैश् च चरुभिर् यजेरंस् ते सरस्वतीम्।
अनतस्यैनसस् तस्य कुर्वाणा निष्कृतिं पराम्॥१०५॥

उस प्रकार झूठ बोलने वाले साक्षी लोग उस झूठ वचनरूप पाप का उत्तम प्रायश्चित्त करते हुए वाणी देवता वाले चरुओं से सरस्वती देवी का याग करें॥१०५॥

कूष्माण्डैर् वाऽपि जुहुयाद् घृतमग्नौ यथाविधि।
उदित्यृचा वा वारुण्या तृचेनाऽब्दैवतेन वा॥१०६॥

अथवा कूष्माण्ड मन्त्रों से ("यद् देवाः" इत्यादि तीन मन्त्रों से) अग्नि में विधिपूर्वक घी का हवन करे, अथवा वरुण देवता वाली **"उदुत्तमम्"** इत्यादि ऋचा से अग्नि में विधिपूर्वक घी का हवन करे, अथवा **"आपो हि ष्ठाः"** इत्यादि अप् देवता वाले ऋक्त्रय से अग्नि में विधिपूर्वक घी का हवन करे॥१०६॥

त्रिपक्षादब्रुवन् साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः।
तदृणं प्राप्नुयात् सर्वं दशबन्धं च सर्वतः॥१०७॥

स्वस्थ रहते हुए भी तीन पक्ष तक (४५ दिन तक) ऋणादान इत्यादि विषय के व्यवहार में (मुकदमे में) साक्षी का वक्तव्य न बोलते हुए लेख्यपत्र (तमस्सुक) में उल्लिखित साक्षी मनुष्य को उस सब ऋणद्रव्य को अपने मत्थे में ढोना पड़ेगा, और उस सब ऋणद्रव्य का दशमांश दण्ड भी देना पड़ेगा॥१०७॥

यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः।
रोगोऽग्निर् ज्ञातिमरणमृणं दाप्यो दमं च सः॥१०८॥

धर्मनिर्णय-सभा में साक्षी का वक्तव्य वाक्य बोले हुए जिस साक्षी का उस वाक्य को बोलने के बाद सात दिनों के भीतर रोग उत्पन्न होगा अथवा अग्नि का उपद्रव होगा अथवा पुत्रादि निकट सम्बन्धी का मरण होगा तो वह साक्षी ऋणद्रव्य और दण्डद्रव्य भी देने के लिए राजा से बाध्य किया जाना चाहिए॥१०८॥

असाक्षिकेषु त्वर्थेषु मिथो विवदमानयोः।
अविन्दंस् तत्त्वतः सत्यं शपथेनाऽपि लम्भयेत्॥१०९॥

साक्षी से रहित विषयों में परस्पर विवाद करने वाले मुनष्यों में सत्य का यथार्थ रूप में परख नहीं कर सकता हुआ राजा शपथ से भी सत्य का ज्ञान प्राप्त करे॥१०९॥

महर्षिभिश् च देवैश् च कार्यार्थं शपथाः कृताः।
वसिष्ठश् चाऽपि शपथं शेपे पैजवने नृपे॥११०॥

महर्षियों से और देवताओं से भी कार्य के निर्णय के लिए शपथ किए गए थे, पैजवन सुदास् राजा के समक्ष में वसिष्ठ ने भी शपथ ली थी॥११०॥

न वृथा शपथं कुर्यात् स्वल्पेऽप्यर्थे नरो बुधः।
वृथा हि शपथं कुर्वन् प्रेत्य चेह च नश्यति ॥१११॥

समझदार मनुष्य छोटे काम के लिए भी व्यर्थ में शपथ न करे, क्योंकि व्यर्थ में शपथ लेता हुआ मनुष्य मरकर परलोक में और इस लोक में भी नष्ट होता है॥१११॥

कामिनीषु विवाहेषु गवां भक्ष्ये तथेन्धने।
ब्राह्मणाऽभ्युपपत्तौ च शपथे नाऽस्ति पातकम् ॥११२॥

स्त्रियों को प्रसन्न करने के लिए, विवाहों के लिए, गायों के भूसा-घास इत्यादि के लिए, होमादि के लिए समिधा लकडी इत्यादि के लिए और ब्राह्मण के उद्धार के लिए शपथ लेने में कोई पातक नहीं होता है॥११२॥

सत्येन शापयेद् विप्रं क्षत्रियं वाहनाऽऽयुधैः।
गोबीजकाञ्चनैर् वैश्यं शूद्रं सर्वैस् तु पातकैः ॥११३॥

ब्राह्मण को सत्य का शपथ कराए; क्षत्रिय को वाहनों का और हथियारों का शपथ कराए; वैश्य को गौ, बीज और सोने का शपथ कराए; शूद्र को सभी प्रकार के पातकों का शपथ कराए॥११३॥

अग्निं वाऽऽहारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत्।
पुत्त्रदारस्य वाऽप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत् पृथक् ॥११४॥

इसको (शूद्र को) हथेली में आग लेकर चलने को प्रेरित करे, अथवा इसको पानी में डुबाए, अथवा इसको पुत्त्र के शिर का अथवा पत्नी के शिर का अलग-अलग स्पर्श कराए॥११४॥

यमिद्धो न दहत्यग्निरापो नोन्मज्जयन्ति च।
न चाऽऽर्तिमृच्छति क्षिप्रं स ज्ञेयः शपथे शुचिः ॥११५॥

जिस को जलता हुआ अग्नि नहीं जलाता है, पानी जिस को ऊपर को नहीं फेंकता है, जो शीघ्र ही रोग से पीडित नहीं होता है उसको शपथ में सच्चा समझना चाहिए॥११५॥

वत्सस्य ह्यभिशस्तस्य पुरा भ्रात्रा यवीयसा।
नाऽग्निर् ददाह रोमाऽपि सत्येन जगतः स्पशः ॥११६॥

प्राचीन काल में अपने (सौतेले) छोटे भाई से दोष से आरोपित वत्स ऋषि के रोम को भी सत्य के कारण से ही जगत् के कामों को देखने वाला (गुप्तचर) अग्नि नहीं जला सका॥११६॥

यस्मिन्यस्मिन् विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत्।
तत्तत् कार्यं निवर्तेत कृतं चाऽप्यकृतं भवेत्॥११७॥

जिस-जिस विवादपद में (मुकदमे में) झूठी गवाही की गई होती है, झूठी गवाही के आधार में किया गया वह-वह कार्य निवृत्त (निरस्त) होगा और किया गया दण्डादि कौ निर्णय भी अकृत (निरस्त) होगा॥११७॥

लोभान् मोहाद् भयान् मैत्रात् कामात् क्रोधात् तथैव च।
अज्ञानाद् बालभावाच् च साक्ष्यं वितथमुच्यते॥११८॥

लोभ से अथवा विपरीत ज्ञान से अथवा डर से अथवा मित्रभाव से अथवा काम से अथवा क्रोध से और उसी प्रकार से अज्ञान से अथवा असावधानी से भी साक्षी का वक्तव्य (गवाही) झूठे रूप में बोला जाता है॥११८॥

एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत्।
तस्य दण्डविशेषांस् तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः॥११९॥

इन लोभादियों में से किसी कारण से जो साक्षी का वक्तव्य (गवाही) असत्य रूप में बोलेगा, उसके दण्डों में रहने वाले विशेषों को क्रम से कहूँगा॥११९॥

लोभात् सहस्रं दण्ड्यस् तु मोहात् पूर्वं तु साहसम्।
भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्रात् पूर्वं चतुर्गुणम्॥१२०॥
कामाद् दशगुणं पूर्वं क्रोधात् तु त्रिगुणं परम्।
अज्ञानाद् द्वे शते पूर्णे बालिश्याच् छतमेव तु॥१२१॥

लोभ से झूठा साक्ष्य देने वाला हजार (१०००) पण दण्डनीय होता है, विपरीत ज्ञान से झूठा साक्ष्य देने वाला पूर्वसाहस (प्रथम साहस) (२५० पण) दण्डनीय होता है, डर से झूठा साक्ष्य देने वाला दो मध्यम साहस (५००+५००=१००० पण) दण्डनीय होता है, मित्रभाव से झूठा साक्ष्य देने वाला चौगुना प्रथम साहस (२५०+२५०+२५०+२५०=१००० पण) दण्डनीय होता है, काम से झूठा साक्ष्य देने वाला दश गुना प्रथम साहस (२५०×१०=२५०० पण) दण्डनीय होता है, क्रोध से झूठा साक्ष्य देने वाला तिगुना मध्यम साहस (५००×३=१५०० पण) दण्डनीय होता है, अज्ञान से झूठा साक्ष्य देने वाला पूरा दो सौ (२००) पण दण्डनीय होता है, असावधानी से झूठा साक्ष्य देने वाला तो सौ (१००) पण ही दण्डनीय होता है॥१२०-१२१॥

एतानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान् दण्डान् मनीषिभिः।
धर्म [illegible]यभिचारार्थमधर्मनियमाय च॥१२२॥

असत्य साक्ष्य दिए जाने पर धर्म के निश्चय के लिए और अधर्म के निवारण के लिए विवेकशील विद्वान् लोगों से इन दण्डों को प्रतिपादित बताते हैं॥१२२॥

कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणांस् त्रीन् वर्णान् धार्मिको नृपः।
प्रवासयेद् दण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत्॥१२३॥

धार्मिक राजा झूठ साक्ष्य देने वाले क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीनों वर्णों को तो दण्डित करके अपने राष्ट्र से निकाल दे और झूठ साक्ष्य देने वाले ब्राह्मण को तो केवल अपने राष्ट्र से निकाल दे॥१२३॥

दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्।
त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत्॥१२४॥

क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों में जो हो सकते हैं वे दण्ड के दश स्थान स्वयम्भू के (ब्रह्मा के) पुत्त्र मनु ने कहे हैं, ब्राह्मण तो शारीर दण्ड से अदण्डित ही (स्वदेश से बाहर) जाएगा।

विशेष— ब्राह्मण लोग अनादि काल से ही राजाओं से भी ऊपर उठकर वेद की रक्षा से और ज्ञान के दान से जो लोक का उपकर करते आए हैं, उसी कारण से ब्राह्मण को अवध्यता, प्रतिग्रह (दान) लेने का अधिकार इत्यादि की सुविधा देने की भारतवर्ष की अनादि परम्परा है। यह बात शतपथब्राह्मण में स्पष्ट की गई है (११।५।७।१)। इस लिए मनुस्मृति में दण्ड के विषय में ब्राह्मण को जो विशेष सुविधा दी गई है वह सहेतुक और अनादिपरम्परासिद्ध बात है, कोई व्यक्तिविशेषरूप ग्रन्थकार का मनमाने पक्षपात की बात नहीं है। इस सिद्धान्त में अन्तर्निहित सिद्धान्त विशेष मननीय है। इसमें विना विवेक-विचार दोष देना उचित नहीं है॥१२४॥

उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम्।
चक्षुर् नासा च कर्णौ च धनं देहस् तथैव च॥१२५॥

१. उपस्थ (प्रजननमार्ग), २. पेट, ३. जीभ, ४. हाथ, ५. पाँचवाँ पैर, ६. नेत्र (आँख), ७. नाक ८. कान, ९. धन और उसी प्रकार से १०. देह (ये दण्ड के दश स्थान हैं)॥१२५॥

अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः।
साराऽपराधौ चाऽऽलोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत्॥१२६॥

अपराध के अभ्यास को, देश को और काल को भी यथार्थ रूप में जानकर और अपराधी के शरीरबल-धनबलों को तथा अपराध की गम्भीरता को भी देखकर दण्डनीय जनों को दण्ड दे॥१२६॥

अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम्।
अस्वर्ग्यं च परत्राऽपि तस्मात् तत् परिवर्जयेत्॥१२७॥

अधर्म से दण्ड करना लोक में जीवितावस्था की ख्याति का नाश करने वाला, मरण के बाद की ख्याति का विनाश करने वाला और परलोक में भी स्वर्गप्राप्ति में बाधा पहुँचाने वाला होता है, उस कारण से उसको (अधर्म से दण्ड करने के काम को) वर्जित करे॥१२७॥

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश् चैवाऽप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति॥१२८॥

दण्ड करने में अयोग्य जनों को दण्डित करता हुआ और दण्ड करने योग्य जनों को दण्डित नहीं करता हुआ राजा बडे अपयश को प्राप्त करता है और नरक को भी जाता है॥१२८॥

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद् धिग्दण्डं तदनन्तरम्।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम्॥१२९॥

राजा पहले वाग्दण्ड करे, उसके बाद धिक्कार रूप दण्ड करे, तृतीय स्थान में धनदण्ड करे, उसके बाद वधदण्ड (ताडनादिरूप दण्ड) करे॥१२९॥

वधेनाऽपि यदा त्वेतान् निग्रहीतुं न शक्नुयात्।
तदैषु सर्वमप्येतत् प्रयुञ्जीत चतुष्टयम्॥१३०॥

जब तो वधदण्ड से भी इन अपराधियों को राजा नियन्त्रित नहीं कर सके तब इन अपराधियों में इन चारों प्रकारों के दण्डों के समुदाय का (एक साथ) प्रयोग करे॥१३०॥

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि।
ताम्र-रूप्य-सुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥१३१॥

लोक के व्यवहार के लिए ताँवे, चाँदी और सोने के परिमाणविशेष की जो संज्ञाएँ पृथ्वी में प्रसिद्ध हैं उनको कुछ शेष न रखकर सब बताऊँगा॥१३१॥

जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
प्रथमं तत् प्रमाणानां त्रसरेणु प्रचक्षते॥१३२॥

खिडकी इत्यादि के छिद्र से सूर्य के किरण प्रविष्ट होने पर जो सब से सूक्ष्म धूलिकण दिखलाई पड़ता है उसको परिमाणों में प्रथम त्रसरेणु कहते हैं॥१३२॥

त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः।
ता राजसर्षपस् तिस्रस् ते त्रयो गौरसर्षपः ॥१३३॥

आठ त्रसरेणुओं का समुदाय परिमाण में एक लिक्षा होती है, वे तीन लिक्षाएँ संयुक्त रूप में एक **राजसर्षप** होता है, वे तीन राजसर्षप संयुक्त रूप में एक **गौरसर्षप** होता है॥१३३॥

सर्षपाः षड् यवो मध्यस् त्रियवं त्वेककृष्णलम्।
पञ्चकृष्णलको माषस् ते सुवर्णस् तु षोडश ॥१३४॥

छह गौरसर्षप संयुक्त रूप में एक मझोला **यव** (जौ) होता है, तीन यवों का एक **कृष्णल** (रत्ती) होता है, पाँच कृष्णल वाला एक **माष** होता है, वे सोलह माष संयुक्त रूप में एक **सुवर्ण** होता है॥१३४॥

पलं सुवर्णाश् चत्वारः पलानि धरणं दश।
द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रूप्यमाषकः ॥१३५॥

चार सुवर्ण संयुक्त रूप में एक **पल** होते हैं, दश पल संयुक्त रूप में एक **धरण** होते हैं, दो कृष्णल बराबर रूप में काँटे पर रखने पर दूसरे तरफ के चाँदी का परिमाण **रौप्यमाषक** कहा जाता है (दो कृष्णल का [रत्ती का] बराबर चाँदी एक रौप्यमाषक समझा जाना चाहिए)॥१३५॥

ते षोडश स्याद् धरणं पुराणश् चैव राजतः।
कार्षापणस् तु विज्ञेयस् ताम्रिकः कार्षिकः पणः ॥१३६॥

वे सोलह रौप्यमाषक एक **धरण** होते हैं, वे ही **राजतपुराण** भी होते हैं। ताँवे के एक कर्ष परिमाण के टुकडे को **कार्षापण** जानना चाहिए।

विशेष– कर्ष एक सुवर्ण का अर्थात् लगभग एक तोले का (११.६६४ ग्राम का) तुल्य परिमाण है॥१३६॥

धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस् तु राजतः।
चतुःसौवर्णिको निष्को विज्ञेयस् तु प्रमाणतः ॥१३७॥

दश धरण (३२×१०=३२० कृष्णलतुल्य परिमाण) संयुक्त रूप में एक राजत **शतमान** होते हैं, प्रमाण से चार सुवर्णों से तुल्य परिमाण को एक **निष्क** जानना चाहिए॥१३७॥

पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः।
मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः ॥१३८॥

ढाई सौ (२५०) पण संयुक्त रूप में प्रथम साहस समझे गए हैं। पाँच सौ पण संयुक्त रूप में मध्यम साहस समझे गए हैं। एक हजार पण तो संयुक्त रूप में उत्तम साहस समझे गए हैं॥१३८॥

ऋणे देये प्रतिज्ञाते पञ्चकं शतमर्हति।
अपह्नवे तद् द्विगुणं तन् मनोरनुशासनम् ॥१३९॥

ऋण को देय स्वीकार करने पर ऋण लेने वाला सम्पूर्ण ऋणद्रव्य का पाँच प्रतिशत दण्ड देने में योग्य होता है, ऋण लेने पर भी उसको छुपाने का प्रयत्न करने पर ऋण लेने वाला उसके दुगुना (दश प्रतिशत) दण्ड देने में योग्य होता है, वह मनु का अनुशासन है॥१३९॥

वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद् वित्तविवर्धिनीम्।
अशीतिभागं गृह्णीयान् मासाद् वार्धुषिकः शते ॥१४०॥

धनप्रयोग करने वाला साहूकार धन को बढाने वाली वसिष्ठ से निर्धारित वृद्धि को (ब्याज को) उत्पन्न करे। धनवृद्धि से जीविका करने वाला मनुष्य एक मास बीतने पर सौ में अस्सीवाँ भाग ($१०० \times \frac{१}{८०} = \frac{१००}{८०} = १\frac{२०}{८०} = १\frac{१}{४}$, सौ रुपयों में सवा रुपया) वृद्धि ले॥१४०॥

द्विकं शतं वा गृह्णीयात् सतां धर्ममनुस्मरन्।
द्विकं शतं हि गृह्णानो न भवत्यर्थकिल्बिषी ॥१४१॥

अथवा सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण करता हुआ वृद्धिजीवी (ब्याज से जीविका करने वाला) मनुष्य जीविका के लिए आवश्यक होने पर एक महीना बीतने पर सौ में दो वृद्धि (सूद) ले, सौ में दो वृद्धि लेता हुआ मनुष्य धन के सम्बन्ध से पापी नहीं होता है॥१४१॥

द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च शतं समम्।
मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद् वर्णानामनुपूर्वशः ॥१४२॥

सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण करता हुआ वृद्धिजीवी मनुष्य (जीविका के लिए आवश्यक होने पर) एक महीना बीतने पर ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्णों के क्रम से सौ में कम बेसी के विना पूरा दो, पूरा तीन, पूरा चार और पूरा पाँच (ब्राह्मण से सौ

में दो, क्षत्रिय से सौ में तीन, वैश्य से सौ में चार और शूद्र से सौ में पाँच) वृद्धि (सूद) ले॥१४२॥

न त्वेवाऽऽधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात्।
न चाऽऽधेः कालसंरोधान् निसर्गोऽस्ति न विक्रयः॥१४३॥

उपकार करने वाले (उपभोग्य) आधि से (रेहन अथवा गिरवी से) युक्त ऋण में ऋण देने वाला मनुष्य धनप्रयोग से प्राप्त होने वाली वृद्धि को नहीं पाएगा, चिरकाल से आधि (गिरवी) का संरोध (अवस्थान) होने पर भी ऋणदाता से आधि का निसर्ग (आधि का प्रत्यर्पण और ऋण लेने वाले से अपने धन का याचन) और आधि का विक्रय भी नहीं हो सकता है॥१४३॥

न भोक्तव्यो बलादाधिर् भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत्।
मूल्येन तोषयेच् चैनमाधि-स्तेनोऽन्यथा भवेत्॥१४४॥

आधि का (आभूषण इत्यादि बन्धक में रखी हुई वस्तु का) ऋण लेने वाले की अनुमति न होने पर बलपूर्वक भोग नहीं करना चाहिए, आधि का भोग करता हुआ ऋणदाता वृद्धि को छोडे (सूद न ले), आधि की क्षति अथवा नाश होने पर ऋणदाता उसके मूल्य के दान से आधि रखने वाले को सन्तुष्ट करे, वैसा नहीं करने पर ऋणदाता बन्धकचोर माना जाएगा॥१४४॥

आधिश् चोपनिधिश् चोभौ न कालाऽत्ययमर्हतः।
अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ॥१४५॥

आधि (बन्धक में रखी हुई वस्तु) और उपनिधि (न्यास के रूप में रखने के लिए दी गई वस्तु) दोनों कालात्यय दोष से युक्त होने में योग्य नहीं होते हैं। लम्बे समय तक रहने पर भी वे दोनों उनके स्वामियों को प्रत्यर्पणीय होते हैं॥१४५॥

सम्प्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन।
धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो यश् च दम्यः प्रयुज्यते॥१४६॥

परस्पर प्रेम के कारण से उपभोग किए गए पदार्थ भी उनके स्वामी के लिए कभी भी नष्ट नहीं होते हैं, अर्थात् उनमें उनके स्वामी का स्वामित्व लुप्त नहीं होता है। कुछ काल दूध के लिए दूसरे से रखी गई गाय, कुछ काल भारवहन के लिए दूसरे से रखा गया ऊँट अथवा घोडा, दूसरे से दमन के (विनय के) लिए प्रयोग में लाया जा रहा जो कोई बैल घोडा इत्यादि पशु भी उनके स्वामी के लिए कभी भी नष्ट नहीं होते हैं॥१४६॥

यत् किञ्चिद् दश वर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी।
भुज्यमानं परैस् तूष्णीं न स तल् लब्धुमर्हति ॥१४७॥

जिस किसी प्रकार के धन का स्वामी समीप में रहता हुआ दश वर्ष तक दूसरों से उपयोग किए जा रहे अपने जिस किसी धन को चूप-चाप देखता रहता है तो वह स्वामीं उस धन को पाने में योग्य नहीं हो सकता है॥१४७॥

अजडश् चेदपोगण्डो विषये चाऽस्य भुज्यते।
भग्नं तद् व्यवहारेण भोक्ता तद् धनमर्हति ॥१४८॥

यदि किसी प्रकार के धन का स्वामी जड (मानसिक रूप में असमर्थ) नहीं है और पोगण्ड (नाबालिग) भी नहीं हैं और उसके समीप में ही उस धन का दूसरे से भोग किया जाता है तो उस धनी का वह धन व्यवहार से नष्ट होता है (उस धन में उस स्वामी का स्वत्व लुप्त हो जाता है), भोग करने वाला ही उस धन के स्वामित्व को पाने में योग्य होता है॥१४८॥

आधिः सीमा बालधनं निक्षेपोपनिधिः स्त्रियः।
राजस्वं श्रोत्रियस्वं च न भोगेन प्रणश्यति ॥१४९॥

बन्धक रखा गया धन, सीमारूप भूमि, नाबालिग का धन, निक्षेप (धरोहर), उपनिधि (न्यास), दासी इत्यादि स्त्रियाँ, राजा का धन और वेदाध्ययनपरायण ब्राह्मण का धन भी दूसरे से किए गए भोग से नष्ट नहीं होते हैं (उनमें मुख्य स्वामी का स्वत्व लुप्त नहीं होता है)॥१४९॥

यः स्वामिनाऽननुज्ञातमाधिं भुङ्क्तेऽविचक्षणः।
तेनाऽर्धवृद्धिर् मोक्तव्या तस्य भोगस्य निष्कृतिः ॥१५०॥

जो विचारहीन ऋणदाता स्वामी की अनुमति न होने पर भी बन्धक रखी गई वस्तु का उपभोग करता है, उस से उस भोग के बदले में आधी वृद्धि (सूद) छोडी जानी चाहिए (आधी ही वृद्धि लेनी चाहिए)॥१५०॥

कुसीदवृद्धिर् द्वैगुण्यं नाऽत्येति सकृदाहृता।
धान्ये सदे लवे वाह्ये नाऽतिक्रामति पञ्चताम् ॥१५१॥

ऋण में दिए गए धन की एक वार ही दी गई वृद्धि (सूद) मूल धन की दुगुने को नहीं लाँघती है। [मूल धन और वृद्धि जोडने से मूल धन द्विगुणित होने पर और अधिक वृद्धि नहीं होती है]। अन्न में, वृक्षफल में, ऊन में और बैल, गधा, ऊँट इत्यादि भारवहन साधन में एक ही वार दी गई वृद्धि मूल धन के पँचगुने को नहीं

लाँघती है [मूल धन और वृद्धि जोडने से मूल धन पञ्चगुणित होने पर और अधिक वृद्धि नहीं होती है]॥१५१॥

कृताऽनुसारादधिका व्यतिरिक्ता न सिध्यति।
कुसीदपथमाहुस् तं पञ्चकं शतमर्हति॥१५२॥

शास्त्र से (मनु.८।१४२) की गई व्यवस्था से अधिक रूप में ऋणदाता से की गई अतिरिक्त वृद्धि की व्यवस्था धर्म से सिद्ध नहीं होती है। [राजकीय धर्मसभा में वैसी वृद्धि सिद्ध नहीं होती है]। उत्तमर्ण से (ऋण देने वाले से) उस प्रकार की अतिरिक्त वृद्धि लेने के व्यवहार को धर्मज्ञ मुनि लोग कुसीदपथ कहते हैं, उस कुसीदपथ में ऋणदाता सभी वर्णों से प्रतिमास सौ में पाँच तक वृद्धि लेने में योग्य होता है॥१५२॥

नाऽतिसांवत्सरीं वृद्धिं न चाऽदृष्टां पुनर् हरेत्।
चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिका च या॥१५३॥

धार्मिक ऋणदाता एक वर्ष से अधिक समय की व्यवस्था से की गई वृद्धि को (सूद को) न ले, शास्त्र में नहीं बताई गई वृद्धि को (प्रतिमास सौ में पाँच की वृद्धि से अधिक वृद्धि को भी) कभी न ले, चक्रवृद्धि (सूद का सूद), कालवृद्धि [कालिका वृद्धि] (यदि अमुक समय तक ऋण नहीं चुकाओगे तो धन का दुगुना देना होगा इत्यादि रूप से ली जाने वाली वृद्धि), कारिता वृद्धि (ऋण लेने वाले से कबूल कराकर ली जाने वाली प्रतिमास सौ में पाँच से अधिक वृद्धि) और कायिका वृद्धि (ऋण न चुकाने तक इस प्रकार का इतना मनुष्यकार्य अथवा पशुकार्य शारीरश्रम प्रतिदिन अथवा प्रतिपक्ष अथवा प्रतिमास वृद्धि के रूप में करना होगा इत्यादि रूप से ऋणी से ली जाने वाली वृद्धि) भी जो है उसको भी धार्मिक ऋणदाता न ले॥१५३॥

ऋणं दातुमशक्तो यः कर्तुमिच्छेत् पुनः क्रियाम्।
स दत्त्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्तयेत्॥१५४॥

भाषित समय में ऋण चुकाने में असमर्थ जो ऋण लेने वाला फिर ऋणपत्र (तमसुक) लिखवाना चाहे, वह उस समय तक दिई जाने वाली वृद्धि (सूद) को देकर ऋणपत्र (तमसुक) बदल दे॥१५४॥

अदर्शयित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत्।
यावती सम्भवेद् वृद्धिस् तावतीं दातुमर्हति॥१५५॥

उस भाषित काल में वृद्धि देने में भी असमर्थ होने पर ऋण लेने वाला मूल को और वृद्धि को पृथक् न दिखाकर (वृद्धि को भी मूल धन में ही समाविष्ट करके)

बदले गए ऋणपत्र में (तमसुक में) मूल धन के राशि को परिवर्तित करे (नवीन रूप में उल्लिखित करे)। अब एकत्रीकृत धन की जितनी वृद्धि होती है ऋण लेने वाले को उतनी ही वृद्धि देनी चाहिए। [इस स्थिति में चक्रवृद्धि अधर्म्य होने पर भी व्यावहारिक रूप में देनी होती है]॥१५५॥

चक्रवृद्धिं समारूढो देशकालव्यवस्थितः।
अतिक्रामन् देशकालौ न तत्फलमवाप्नुयात्॥१५६॥

चक्रयुक्त यान से वहन करने पर वृद्धि लेने के लिए देशविशेषव्यवस्था और कालविशेषव्यवस्था से युक्त व्यवस्था करने वाला शकटादिस्वामी देशव्यवस्था का और कालव्यवस्था का पालन न करने पर उस चक्रवृद्धिव्यवस्था का विशेष फल नहीं पाएगा।

विशेष— अदेश में अथवा काल पूर्ण न होने पर ही शकटादि मूल धन का अथवा उस से होने वाली वृद्धि का याचन करता हुआ शकटादिस्वामी सामान्य शास्त्रानुमत फल ही पाएगा विशेषफल नहीं पाएगा॥१५६॥

समुद्रयानकुशला देशकालाऽर्थदर्शिनः।
स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राऽधिगमं प्रति॥१५७॥

समुद्रयात्रा इत्यादि वाणिज्ययात्रा में कुशल और देश को, काल को और लाभरूप अर्थ को जानने वाले लोग उस प्रकार की यात्रा के लिए दिए गए ऋण में जो जितनी वृद्धि की व्यवस्था करते हैं वृद्धि पाने के लिए वही व्यवस्था राजकीय धर्मसभा में (न्यायालय में) भी मान्य होती है॥१५७॥

यो यस्य प्रतिभूस् तिष्ठेद् दर्शनायेह मानवः।
अदर्शयन् स तं तस्य यतेत स्वधनादृणम्॥१५८॥

जो मनुष्य इस ऋणादानव्यवहार में जिस ऋणी को दिखाने के लिए (उपस्थित कराने के लिए) प्रतिभू (जमानतदार) होकर रहे, यदि वह उस ऋणी को नहीं दिखा सकता है (उपस्थित नहीं करा सकता है) तो वह दर्शनप्रतिभू अपने धन से उस ऋण को चुका देने का प्रयत्न करे॥१५८॥

प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकं च यत्।
दण्डशुल्काऽवशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति॥१५९॥

पिता से प्रतिभू (जमानत देने वाला) होने के कारण से देय धन को, हंसी-मजाक में देने के लिए पिता से कहे गए धन को, जूए के कारण से पिता से देय धन को, और जो सुरापान के (मद्यपान के) कारण से पिता से देय धन है उसको तथा

पिता से देय दण्डरूप धन के और शुल्करूप धन के शेष को भी देने में पुत्त्र बाध्य नहीं होता है॥१५९॥

दर्शनप्रातिभाव्ये तु विधिः स्यात् पूर्वचोदितः।
दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥१६०॥

दर्शनप्रतिभू (ऋणी को धनिक के पास उपस्थित कराने वाला जमानतदार) होने के कारण से देय धन के विषय में पूर्वोक्त विधि है, दानप्रतिभू (ऋणी से ऋण न चुकाए जाने पर स्वयम् ऋण चुकाने की प्रतिज्ञा करके बना हुआ जमानतदार) मरने पर तो उसके दायादों को (पुत्त्रों को) भी उस ऋण को चुकाने के लिए बाध्य करे॥१६०॥

अदातरि पुनर् दाता विज्ञातप्रकृतावृणम्।
पश्चात् प्रतिभुवि प्रेते परीप्सेत् केन हेतुना ॥१६१॥

दानप्रतिभूभिन्न (दर्शनप्रतिभू) मनुष्य कोई द्रव्य बन्धक लेकर ही प्रतिभू हुआ है ऐसा ज्ञात होने पर ऋण देने वाला मनुष्य पीछे वह दर्शनप्रतिभू मरने पर किस कारण से ऋण के रूप में दिए गए धन को प्राप्त करने की इच्छा करे?॥१६१॥

निरादिष्टधनश् चेत् तु प्रतिभूः स्यादलंधनः।
स्वधनादेव तद् दद्यान् निरादिष्ट इति स्थितिः ॥१६२॥

यदि दर्शनप्रतिभू को ऋणी ने ऋण चुकाने के लिए धन पहले ही दिया था और दर्शनप्रतिभू उस धन से ऋण चुकाने के लिए पर्याप्त धन वाला बन गया था तो, वैसा निरादिष्ट धन दर्शनप्रतिभू मरने पर उसका निरादिष्टधन दर्शनप्रतिभू के स्थान में रहने वाला पुत्त्र भी अपने धन से ऋण चुका दे, यही शास्त्रव्यवस्था है॥१६२॥

मत्तोन्मत्ताऽऽर्ताऽध्यधीनैर् बालेन स्थविरेण वा।
असम्बद्धकृतश् चैव व्यवहारो न सिध्यति ॥१६३॥

नशे से मतवाले से, पागल से, रोग-शोकादि से अत्यन्त पीडित से, पराधीन से, सोलह वर्ष से न्यून वय (उम्र) के बालक से, अस्सी वर्ष से ऊपर के बूढे से और असम्बद्ध मनुष्य से किया गया ऋणादानादि व्यवहार धर्मसभा में (न्यायालय में) मान्य नहीं होता है॥१६३॥

सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात् प्रतिष्ठिता।
बहिश् चेद् भाष्यते धर्मान् नियताद् व्यावहारिकात् ॥१६४॥

यदि धर्म से निश्चित और व्यवहार से प्रसिद्ध व्यवस्था से बाहर होकर भाषा (कबूल) की जाती है तो लेख से, साक्षियों से और अन्य आवश्यक व्यवस्थाओं से स्थिर की गई होने पर भी वह भाषा (कबूल) सत्य (सिद्ध) नहीं होती है॥१६४॥

योगाऽऽधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम्।
यत्र वाऽप्युपधिं पश्येत् तत् सर्वं विनिवर्तयेत्॥१६५॥

जो कपट से बन्धक रखने का कार्य हुआ है, जो कपट से बिक्री करने का कार्य हुआ है, जो कपट से दान देने का कार्य हुआ है, जो कपट से दान लेने का काम हुआ है, और जिस किसी काम में भी कपट व्यवहार दिखाई देता है, उस सब कार्य को धर्मसभास्थ राजा अकृतवत् कर दे॥१६५॥

ग्रहीता यदि नष्टः स्यात् कुटुम्बार्थे कृतो व्ययः।
दातव्यं बान्धवैस् तत् स्यात् प्रविभक्तैरपि स्वतः॥१६६॥

यदि ऋण लेने वाला मर गया है तो भी उस ऋण से लिए गए धन का व्यय (खर्च) संयुक्त कुटुम्ब के (परिवार के) लिए किया गया था तो वह ऋण उक्त कुटुम्ब के विभक्तधन वाले (अलग हुए) जनों से भी अपने धन से चुकाया जाना चाहिए॥१६६॥

कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि व्यवहारं यमाचरेत्।
स्वदेशे वा विदेशे वा तं ज्यायान् न विचालयेत्॥१६७॥

कुटुम्ब के लिए अत्यावश्यक होने पर पुत्र छोटा भाई 'इत्यादि पराधीन मनुष्य भी स्वदेश में अथवा विदेश में भी जो ऋणादानभूमिविक्रयादि व्यवहार करे उसमें पिता बडा भाई इत्यादि ज्येष्ठ मनुष्य गडबडी न करे (अनुमोदन करे)॥१६७॥

बलाद् दत्तं बलाद् भुक्तं बलाद् यच् चाऽपि लेखितम्।
सर्वान् बलकृतानर्थानकृतान् मनुरब्रवीत्॥१६८॥

अनुचित बलप्रयोग के कारण से दिए गए दान को, अनुचित बलप्रयोग से किए गए भोग को, जो अनुचित बलप्रयोग से लिखाया गया है उसको, अनुचित बलप्रयोग से किए गए सभी व्यवहारों को मनु ने अकृत (अमान्य) बताया है॥१६८॥

त्रयः परार्थे क्लिश्यन्ति साक्षिणः प्रतिभूः कुलम्।
चत्वारस् तूपचीयन्ते विप्र आढ्यो वणिङ् नृपः॥१६९॥

साक्षी लोग, प्रतिभू (जमानतदार) और कुल (कुलवृद्ध) ये तीन दूसरों के लिए काम करते हुए दुःख झेलते (दुःख उठाते) हैं। ब्राह्मण, धनी, व्यापारी और राजा ये चार तो दूसरों के लिए काम करते हुए धनसञ्चय वाले बनते हैं॥१६९॥

अनादेयं नाऽऽददीत परिक्षीणोऽपि पार्थिवः।
न चाऽऽदेयं समृद्धोऽपि सूक्ष्ममप्यर्थमुत्सृजेत् ॥१७०॥

धन, सेना, वाहन, शस्त्रास्त्र इत्यादि से क्षीण होने पर भी राजा लेने में अयोग्य दण्डधनादि का ग्रहण नहीं करे, धनादि से समृद्ध होने पर भी राजा लेने योग्य थोडे-से दण्डादि-धन को भी न छोडे॥१७०॥

अनादेयस्य चाऽऽदानादादेयस्य च वर्जनात्।
दौर्बल्यं ख्याप्यते राज्ञः स प्रेत्येह च नश्यति ॥१७१॥

लेने में अयोग्य दण्डधनादि के ग्रहण से और लेने योग्य दण्डधनादि को छोडने से भी दूसरों से राजा की दुर्बलता प्रचारित की जाती है, ऐसा राजा परलोक में और इस लोक में भी नष्ट हो जाता है॥१७१॥

स्वाऽऽदानाद् वर्णसंसर्गादबलानां च रक्षणात्।
बलं सञ्जायते राज्ञः स प्रेत्येह च वर्धते ॥१७२॥

ग्राह्य राजस्व के ग्रहण से, स्ववर्ण के जनों से ही विवाह सम्बन्ध करने से (अथवा वर्णसाङ्कर्य से लोगों को बचाने से) और दुर्बलों के रक्षण से भी राजा का बल उत्पन्न होता है, ऐसा राजा परलोक में और इस लोक में भी समृद्ध होता है॥१७२॥

तस्माद् यम इव स्वामी स्वयं हित्वा प्रियाऽप्रिये।
वर्तेत याम्यया वृत्त्या जितक्रोधो जितेन्द्रियः ॥१७३॥

उस कारण से राजा यम की तरह अपने प्रिय को और अप्रिय को छोडकर क्रोध को जीतकर और इन्द्रियों को भी वश में रखकर यम की सर्वत्र समतास्वभाव वाली व्यवहाररीति से वर्ताव करे॥१७३॥

यस् त्वधर्मेण कार्याणि मोहात् कुर्यान् नराधिपः।
अचिरात् तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः ॥१७४॥

अविवेक से जो राजा प्रजा के व्यवहारपदों को (मुकदमों को) अधर्म से देखना इत्यादि कार्य करेगा उस दुरात्मा राजा को थोडे ही समय में शत्रु राजा लोग अपने वश में करते हैं।

विशेष— याज्ञवल्क्यस्मृति में परराष्ट्र को वश में लाने को राजा का धर्म कहा गया है। इस से राजा को प्रजाहितकारी होने के लिए प्रेरणा मिलती है। प्रजा को असन्तुष्ट करने पर समीपवर्ती राजा का बल बढता है और उसके वशीभूत होना वा राज्यभ्रष्ट होना पड़ता है॥१७४॥

कामक्रोधौ तु संयम्य योऽर्थान् धर्मेण पश्यति।
प्रजास् तमनुवर्तन्ते समुद्रमिव सिन्धवः ॥१७५॥

काम को और क्रोध को नियन्त्रित करके जो राजा प्रजा के कार्यों को धर्म से देखता है, नदियाँ जैसे समुद्र की ओर आकृष्ट होती हैं, वैसे ही प्रजाएँ उस राजा की ओर आकृष्ट होती हैं॥१७५॥

यः साधयन्तं छन्देन वेदयेद् धनिकं नृपे।
स राज्ञा तच्चतुर्भागं दाप्यस् तस्य च तद् धनम् ॥१७६॥

अपनी इच्छा के अनुकूल उचित उपाय से अपना धन वसूल करते हुए ऋणदाता को जो ऋण लेने वाला मनुष्य राजा में निवेदित करे वह ऋण लेने वाला मनुष्य राजा से ऋण का चौथाई दण्ड और ऋण देने वाले का धन भी देने में बाध्य किया जाना चाहिए॥१७६॥

कर्मणाऽपि समं कुर्याद् धनिकायाऽधमर्णिकः।
समोऽवकृष्टजातिस् तु दद्याच् छ्रेयांस् तु तच् छनैः ॥१७७॥

धनिक से तुल्य जाति का अथवा छोटी जाति का ऋणी काम से (शारीरश्रम से) भी धनी से अपनी समता करे (धन को चुकता करके धनिक और ऋणी के भेद को मिटाकर अपने को धनिक से तुल्य करे), धनिक से बडी जाति का ऋणी तो धनी के धन को धीरे-धीरे चुकता करे॥१७७॥

अनेन विधिना राजा मिथो विवदतां नृणाम्।
साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतां नयेत् ॥१७८॥

राजा इस विधि से परस्पर में विवाद करने वाले मनुष्यों के साक्षी इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध कार्यों को (झगडों को) सुलझाए॥१७८॥

कुलजे वृत्तसम्पन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि।
महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद् बुधः ॥१७९॥

समझदार मनुष्य उच्च कुल में जन्मे हुए, सच्चरित्र वाले, धर्म को जानने वाले, सत्य बोलने वाले, बहुत बन्धु-बान्धवों से युक्त, धनवान् और सरल प्रकृति के मनुष्य के पास निक्षेप (धरोहर) रखे॥१७९॥

यो यथा निक्षिपेद् हस्ते यमर्थं यस्य मानवः।
स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस् तथा ग्रहः ॥१८०॥

जो मनुष्य जिस के हाथ में जो वस्तु जिस प्रकार से धरोहर के रूप में रखे उस वस्तु को उस मनुष्य से उसी प्रकार से वापस लेनी चाहिए, जैसा देना वैसा लेना उचित है॥१८०॥

यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेप्तुर् न प्रयच्छति।
स याच्यः प्राड्विवाकेन तन् निक्षेप्तुरसन्निधौ॥१८१॥

जो मनुष्य निक्षेप को (धरोहर को) लौटाने के लिए कहे जाने पर निक्षेप रखने वाले को निक्षेप नहीं लौटाता है वह उस निक्षेपकर्ता के परोक्ष में प्राड्विवाक से (चारों के द्वारा) धरोहर माँगा जाना चाहिए॥१८१॥

साक्ष्यभावे प्रणिधिभिर् वयोरूपसमन्वितैः।
अपदेशैश् च सन्न्यस्य हिरण्यं तस्य तत्त्वतः॥१८२॥

उम्र से और रूप से युक्त गुप्तचरों के द्वारा कुछ बहाना कराकर साक्षियों से रहित काल में ही उस धरोहर वाले के पास में यथार्थ रूप में धरोहर के रूप में धन रखवाकर [वह धरोहर वाला प्राड्विवाक से चारों के द्वारा धरोहर माँगा जाना चाहिए]॥१८२॥

स यदि प्रतिपद्येत यथान्यस्तं यथाकृतम्।
न तत्र विद्यते किञ्चिद् यत् परैरभियुज्यते॥१८३॥

वह धरोहर वाला यदि जिस प्रकार से गुप्तचरों से धरोहर रखा गया था, जिस प्रकार से बना हुआ माल धरोहर में रखा गया था वैसा ही स्वीकार करे और धरोहर लौटाए तो उसके विरुद्ध दूसरों से जो अभियोग किया जाता है उसमें कोई सत्यता नहीं, ऐसा प्राड्विवाक जाने॥१८३॥

तेषां न दद्याद् यदि तु तद् हिरण्यं यथाविधि।
उभौ निगृह्य दाप्यः स्यादिति धर्मस्य धारणा॥१८४॥

यदि उन गुप्तचरों को उन से धरोहर में रखे गए धन को शास्त्रव्यवस्था के अनुसार नहीं लौटाए तो उसको पकडकर आवेदन वाले के और गुप्तचरों के दोनों धरोहरों को लौटाने के लिए उसको बाध्य किया जाना चाहिए, ऐसा राजधर्म का निश्चय है॥१८४॥

निक्षेपोपनिधी नित्यं न देयौ प्रत्यनन्तरे।
नश्यतो विनिपाते तावनिपाते त्वनाशिनौ॥१८५॥

निक्षेप (धरोहर) और उपनिधि (न्यास, थाती) कभी भी निक्षेपधारी-उपनिधि-धारी से निक्षेप रखने वाले के और उपनिधि रखने वाले के निकटसम्बन्धी पुत्र-

भ्रात्रादि को नहीं देना चाहिए, क्योंकि निक्षेप अथवा उपनिधि रखने वाले को उस धन को सौंपने से पहले ही उन निकटसम्बन्धियों का मृत्यु या विदेशगमनादि होने पर वे निक्षेप और उपनिधि नष्ट हो सकते हैं, उस प्रकार मृत्यु या विदेशगमनादि न होने पर तो नष्ट नहीं होते हैं॥१८५॥

स्वयमेव तु यो दद्यान् मृतस्य प्रत्यनन्तरे।
न स राज्ञा नियोक्तव्यो न निक्षेप्तुश् च बन्धुभिः ॥१८६॥

निक्षेप अथवा उपनिधि रखने के लिए देने वाला मर जाने पर उसके निकट सम्बन्धी को जो निक्षेपधारी अथवा उपनिधिधारी उस निक्षेप को अथवा उपनिधि को स्वयम् लौटा देता है उसको तो राजा से अभियोग नहीं किया जाना चाहिए, निक्षेपकर्ता के अथवा उपनिधिकर्ता के बन्धुओं से भी अभियोग नहीं किया जाना चाहिए॥१८६॥

अच्छलेनैव चाऽन्विच्छेत् तमर्थं प्रीतिपूर्वकम्।
विचार्य तस्य वा वृत्तं साम्नैव परिसाधयेत् ॥१८७॥

यदि उस निक्षेपधारी में अथवा उपनिधिधारी में और भी द्रव्य निक्षिप्त अथवा उपनिहित होने की आशङ्का हो तो उस द्रव्य को छलछद्म के विना ही प्रीतिपूर्वक ही प्राप्त करने का प्रयत्न करे, अथवा उस निक्षेपधारी के अथवा उपनिधिधारी के चरित्र को विचार में रखकर उसको खुश करके ही उस द्रव्य को प्राप्त करे॥१८७॥

निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु विधिः स्यात् परिसाधने।
स-मुद्रे नाऽऽप्नुयात् किञ्चिद् यदि तस्मान् न संहरेत् ॥१८८॥

इन सभी निक्षेपों में (धरोहरों में) निक्षिप्त धन को प्राप्त करने का यही विधि है। मुहरबन्द धरोहर लेने वाला यदि जालिया मुहर बनाकर अपहरण न करे तो (मुहर जैसे का तैसा रहने पर) वह कोई दोष नहीं पाएगा॥१८८॥

चौरैर् हृतं जलेनोढमग्निना दग्धमेव वा।
न दद्याद् यदि तस्मात् स न संहरति किञ्चन ॥१८९॥

यदि धरोहर लेने वाला उस धरोहर से कुछ भी नहीं लेता है तो वह चोरों से चुराए गए धरोहर को अथवा पानी से बहाए गए धरोहर को अथवा आग से जलाए गए धरोहर को न लौटाए (उसकी कोई क्षतिपूर्ति न दे)॥१८९॥

निक्षेपस्याऽपहर्तारमनिक्षेप्तारमेव च।
सर्वैरुपायैरन्विच्छेच् छपथैश् चैव वैदिकैः ॥१९०॥

निक्षेप का (धरोहर का) अपहरण करने वाले का और निक्षेप (धरोहर) रखे विना ही माँगने वाले का उक्त सभी उपायों से और वैदिक शपथों से भी अन्वेषण (निर्णय) करे॥१९०॥

यो निक्षेपं नाऽर्पयति यश् चाऽनिक्षिप्य याचते।
तावुभौ चौरवच् छास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम्॥१९१॥

जो निक्षेप लेने वाला निक्षेप नहीं लौटाता है और जो निक्षेप रखे विना ही निक्षेप लौटाने के लिए कहता है वे दोनों ही चोरों की तरह दण्डित किए जाने चाहिए अथवा निक्षेप के तुल्य धनराशि दण्ड के रूप में देने के लिए बाध्य किए जाने चाहिए॥१९१॥

निक्षेपस्याऽपहर्तारं तत्समं दापयेद् दमम्।
तथोपनिधिहर्तारमविशेषेण पार्थिवः॥१९२॥

निक्षेप का (धरोहर का) अपहरण करने वाले को (धरोहर लेकर न लौटाने वाले को) निक्षेप का तुल्य धनराशि दण्ड के रूप में देने के लिए राजा बाध्य करे, और उपनिधि का (मुहरबन्द धरोहर का) अपहरण करने वाले को भी कुछ भेद नहीं करके उपनिधि का तुल्य धनराशि दण्ड के रूप में देने के लिए राजा बाध्य करे॥१९२॥

उपधाभिश् च यः कश्चित् परद्रव्यं हरेन् नरः।
ससहायः स हन्तव्यः प्रकाशं विविधैर् वधैः॥१९३॥

जो मनुष्य जिस किसी प्रकार के छल से दूसरे के धन का अपहरण करे राजा उसको उसके सहायक के साथ में लोक के समक्ष में ही विविध प्रकार की ताडनाओं से ताडित करे॥१९३॥

निक्षेपो यः कृतो येन यावांश् च कुलसन्निधौ।
तावानेव स विज्ञेयो विब्रुवन् दण्डमर्हति॥१९४॥

जिस ने जो जितना निक्षेप साक्षिसमुदाय के समक्ष में किया है वह उतना ही निक्षेप समझा जाना चाहिए, उसमें अन्यथा बोलता हुआ निक्षेपधारी अथवा निक्षेप-कर्ता दण्डनीय होता है॥१९४॥

मिथो दायः कृतो येन गृहीतो मिथ एव वा।
मिथ एव प्रदातव्यो यथा दायस् तथा ग्रहः॥१९५॥

जिस ने एकान्त में धरोहर देने का काम किया है अथवा जिस ने एकान्त में धरोहर लेने का काम किया है उसको एकान्त में ही धरोहर लौटाने का काम करना चाहिए, जैसा देना वैसा लेना उचित है॥१९५॥

निक्षिप्तस्य धनस्यैवं प्रीत्योपनिहितस्य च।
राजा विनिर्णयं कुर्यादक्षिण्वन् न्यासधारिणम्॥१९६॥

निक्षेप के रूप में रखे गए धन का और प्रेमपूर्वक मुद्रित (मुहरबन्द) रूप में रखे गए धन का भी राजा इस प्रकार निक्षेपधारी को और उपनिधिधारी को भी पीडित नहीं करता हुआ निर्णय करे॥१९६॥

विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसम्मतः।
न तं नयेत साक्ष्यं तु स्तेनमस्तेनमानिनम्॥१९७॥

जो स्वयम् स्वामी नहीं होता हुआ और स्वामी से अनुमत भी नहीं होता हुआ दूसरों की सम्पत्ति को बेच देता है, अपने को चोर न मानने वाले उस चोर को राजा किसी भी काम में साक्षित्व में (प्रमाण में) न ले॥१९७॥

अवहार्यो भवेच् चैव साऽन्वयः षट्शतं दमम्।
निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच् चौरकिल्बिषम्॥१९८॥

यदि यह वास्तविक स्वामी से सम्बन्ध रखने वाला पुत्र भ्रात्रादि है तो छह सौ कार्षापण दण्डनीय होता है, यदि वास्तविक स्वामी से सम्बन्ध रखने वाला नहीं है और क्रय-प्रतिग्रहादि किसी प्रकार से भी सङ्क्रान्त स्वामित्व से युक्त भी नहीं है तो वह चोर की तरह ही पाप में (पापफल दण्ड में) प्राप्त होता है। [यदि वह सम्पत्ति उस ने किसी से खरीदा हुआ अथवा दान में या बख्शीस में पाया हुआ दिखाई देता है तो वह चोर की तरह दण्डनीय नहीं होता है]॥१९८॥

अस्वामिना कृतो यस् तु दायो विक्रय एव वा।
अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथा स्थितिः॥१९९॥

सम्पत्ति के वास्तविक स्वामी से भिन्न मनुष्य से किया गया दान अथवा विक्रय जो है उसको तो व्यवहार में जैसी व्यवस्था स्थापित है उसके अनुसार तो अकृत (नहीं किया गया) ही जानना चाहिए॥१९९॥

सम्भोगो दृश्यते यत्र न दृश्येताऽऽगमः क्वचित्।
आगमः कारणं तत्र न सम्भोग इति स्थितिः॥२००॥

जहाँ किसी सम्पत्ति का उपभोग तो दिखाई देता है उसका आगमन (मिलने का मार्ग) तो नहीं दिखाई देता है तो वहाँ आगमन का मार्ग ही स्वामित्व में कारण माना जाना चाहिए, केवल उपभोग स्वामित्व का कारण नहीं, यही धर्मशास्त्र की व्यवस्था है॥२००॥

विक्रयाद् यो धनं किञ्चिद् गृह्णीयात् कुलसन्निधौ।
क्रयेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम्॥२०१॥

जो मनुष्य विक्रयस्थान से व्यवहार करने वाले जनों के समक्ष में (लोकवेद्य रूप में) कोई भी द्रव्य खरीद करता है, यदि वहाँ अस्वामी ने विक्रय किया है और राजा से वह कार्य नहीं किया गया बताया जाता है तो विक्री करने वाले से खरीद करने वाला मूल्य में दिए गए धन से तुल्य धन को न्याय से प्राप्त करता है॥२०१॥

अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रयशोधितः।
अदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम्॥२०२॥

यदि अस्वामिविक्रय करने वाला मनुष्य मरने से अथवा देशान्तरगमनादि से उपस्थापित नहीं किया जा सकता है तो लोक के समक्ष में खरीद करने से निर्दोष क्रेता अदण्डनीय होता है और राजा से मुक्त किया जाता है, जिस का चुराया गया अथवा खोया हुआ धन अस्वामी से बेचे जाने से क्रेता के हाथ में गया था वह स्वामी (नाष्टिक) अपना धन क्रेता से (आधा मूल्य में) प्राप्त करता है॥२०२॥

नाऽन्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति।
न चाऽसारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम्॥२०३॥

एक वस्तु दूसरी वस्तु से मिली हुई नहीं बेची जानी चाहिए। साररहित वस्तु सारसहित कहकर नहीं बेची जानी चाहिए। तौल में कम वस्तु पूरी तौल वाली कहकर नहीं बेची जानी चाहिए। दूर से दिखाकर भी वस्तु नहीं बेची जानी चाहिए। वस्तु के वास्तविक रूप को रङ्ग चढाकर छिपाकर भी वस्तु नहीं बेची जानी चाहिए॥२०३॥

अन्यां चेद् दर्शयित्वाऽन्या वोढुः कन्या प्रदीयते।
उभे त एकशुल्केन वहेदित्यब्रवीन् मनुः॥२०४॥

यदि शुल्कव्यवस्था के समय में एक सुन्दरी गुणवती कन्या को दिखाकर शुल्क लेकर वर को दूसरी अल्प गुण वाली कन्या दी जाती है तो वर उन दोनो कन्याओं को एक ही शुल्क से ब्याहे, ऐसा मनु ने कहा॥२०४॥

नोन्मत्ताया न कुष्ठिन्या न च या स्पृष्टमैथुना।
पूर्वं दोषानभिख्याप्य प्रदाता दण्डमर्हति॥२०५॥

पहले ही दोष को प्रकाशित करके पगली कन्या देने वाला दाता भी दण्डनीय नहीं होता है, पहले ही दोष को प्रकाशित करके कुष्ठिनी कन्या देने वाला दाता भी दण्डनीय नहीं होता है, पहले ही दोष को प्रकाशित करके विवाह से पहले जिस ने मैथुन अनुभूत किया है ऐसी कन्या देने वाला दाता भी दण्डनीय नहीं होता है॥२०५॥

ऋत्विग् यदि वृतो यज्ञे स्वकर्म परिहापयेत्।
तस्य कर्माऽनुरूपेण देयोऽंशः सहकर्तृभिः॥२०६॥

यज्ञ में वरण किया हुआ ऋत्विक् यदि किसी समुचित कारण से अपना कर्म पूर्ण नहीं कर सके तो उसको उस से किए गए कर्म के अनुसार दक्षिणाभाग उसके सहकारी अन्य ऋत्विक् लोगों से दिया जाना चाहिए॥२०६॥

दक्षिणासु च दत्तासु स्वकर्म परिहापयन्।
कृत्स्नमेव लभेताऽंशमन्येनैव च कारयेत्॥२०७॥

दक्षिणा दिए जाने के बाद अपना कर्म नहीं कर सकने वाला ऋत्विक् उसका पूर्ण ही भाग पाएगा, उसका कर्म दूसरे ही ऋत्विक् से यजमान करवाए॥२०७॥

यस्मिन् कर्मणि यास् तु स्युरुक्ताः प्रत्यङ्गदक्षिणाः।
स एव ता आददीत भजेरन् सर्व एव वा॥२०८॥

जिस कर्म में जो अङ्ग-अङ्गों की दक्षिणाएँ शास्त्र में विहित हैं उन दक्षिणाओं को उस-उस अङ्ग को सम्पन्न करने वाला ऋत्विक् ही ले?, अथवा सभी ऋत्विक् बाँटकर लें? (क्या करें?)॥२०८॥

रथं हरेत चाऽध्वर्युर् ब्रह्माऽऽधाने च वाजिनम्।
होता वाऽपि हरेदश्वमुद्गाता चाऽप्यनः क्रये॥२०९॥

श्रौत अग्न्याधान कर्म में रथ को अध्वर्यु ले, घोडे को ब्रह्मा ले, अथवा घोडे को होता ले, सोमक्रयण में शकट को उद्गाता ले॥२०९॥

सर्वेषामर्धिनो मुख्यास् तदर्धेनाऽर्धिनोऽपरे।
तृतीयिनस् तृतीयाऽंशाश् चतुर्थाऽंशाश् च पादिनः॥२१०॥

सभी ऋत्विजों में अपनेअपने गण के मुख्य ब्रह्मा इत्यादि चार ऋत्विक् सम्पूर्ण अङ्गिदक्षिणा में आधी दक्षिणा पाने वाले होते हैं, उनके बाद के ब्राह्मणाच्छंसी इत्यादि चार ऋत्विक् ब्रह्मादि की दक्षिणा की आधी दक्षिणा से ब्रह्मादि की दक्षिणा की आधी दक्षिणा पाने वाले होते हैं, तृतीय स्थान के पोता इत्यादि चार ऋत्विक् ब्रह्मादि की दक्षिणा का तृतीय भाग दक्षिणा पाने वाले होते हैं और चतुर्थ स्थान के अग्नीत् (आग्नीध्र) इत्यादि चार ऋत्विक् ब्रह्मादि की दक्षिणा का चतुर्थ भाग दक्षिणा पाने वाले होते हैं।

विशेष— कात्यायन के अनुसार पोता और आग्नीध्र क्रमशः तृतीयी और पादी हैं। किन्तु कुल्लूक ने कात्यायन का उल्लेख करके भी आपस्तम्ब के अनुसार इन का क्रम (उलटा) उल्लिखित किया है॥२१०॥

सम्भूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिरिह मानवैः ।
अनेन विधियोगेन कर्तव्याऽंशप्रकल्पना ॥२११॥

इस लोक में मिलकर अपना काम करने वाले मनुष्यों से इसी प्रकार के विधि का आश्रयण करके भागों की कल्पना करनी चाहिए॥२११॥

धर्माऽर्थं येन दत्तं स्यात् कस्मैचिद् याचते धनम्।
पश्चाच् च न तथा तत् स्यान् न देयं तस्य तद् भवेत्॥२१२॥

ज़िस ने धर्मकर्म के लिए धन माँगने वाले को धन देने का वंचन दिया था, किन्तु पीछे जाकर माँगने वाला धर्मकर्म करने की स्थिति में न रहे और पहले दिए गए वचन को लेकर धन माँगे तो उसको वह वचन से दिया गया धन देने में योग्य नहीं होगा (यदि धन दिया जा चुका हो तो वह वापस लेने में योग्य होगा)॥२१२॥

यदि संसाधयेत् तत् तु दर्पाल् लोभेन वा पुनः।
राज्ञा दाप्यः सुवर्णं स्यात् तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः॥२१३॥

यदि माँगने वाला अभिमान से अथवा लोभ से उस वचन से दिए गए धन को जोर जुलुम इत्यादि किसी प्रकार से प्राप्त करे तो वह माँगने वाला उस चोरी के (पाप के) प्रायश्चित्त के रूप में एक सुवर्ण (८० रत्ती सोना) दण्ड देने में राजा से बाध्य किया जाना चाहिए॥२१३॥

दत्तस्यैषोदिता धर्म्या यथावदनपक्रिया।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्याऽनपक्रियाम्॥२१४॥

यह धर्म की अनुकूल दत्ताऽनपक्रिया (दी गई वस्तु का नहीं देना) यथार्थ रूप में बताई गई। अब आगे धर्म की अनुकूल वेतन की अनपक्रिया (मजदूरी का नहीं देना) बताऊँगा॥२१४॥

भृतोऽनार्तो न कुर्याद् यो दर्पात् कर्म यथोदितम्।
स दण्ड्यः कृष्णलान्यष्टौ न देयं चाऽस्य वेतनम्॥२१५॥

वेतन देकर रखा गया मनुष्य अस्वस्थ न होता हुआ भी अभिमान से प्रतिज्ञा अनुसार काम न करे तो वह आठ रत्ती सोना दण्ड देने में बाध्य किया जाना चाहिए और उसको वेतन (मजदूरी) भी नहीं दिया जाना चाहिए॥२१५॥

आर्तस् तु कुर्यात् स्वस्थः सन् यथाभाषितमादितः।
स दीर्घस्याऽपि कालस्य तल् लभेतैव वेतनम्॥२१६॥

रोग-शोकादि से अत्यन्त पीडित भृतक तो स्वस्थ होने पर प्रतिज्ञा अनुसार काम करे, वह लम्बे काल से भी उस भाषित वेतन को पाएगा ही॥२१६॥

यथोक्तमार्तः सुस्थो वा यस् तत् कर्म न कारयेत्।
न तस्य वेतनं देयमल्पोनस्याऽपि कर्मणः ॥२१७॥

रोगादिपीडित अथवा स्वस्थ भी जो भृतक प्रतिज्ञा के अनुसार उस कर्म को सम्पन्न नहीं कराए अथवा नहीं करे तो थोडे से ही अपूर्ण काम के लिए भी उसको प्रतिज्ञा के अनुसार वेतन (मजदूरी) नहीं दिया जाना चाहिए॥२१७॥

एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेतनाऽदानकर्मणः।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयभेदिनाम्॥२१८॥

यह वेतनाऽनपाक्रिया की (मजदूरी नहीं देने की) व्यवस्था सम्पूर्ण रूप में बताई गई। अब आगे सम्भौता तोड़ने वालों की व्यवस्था को बताऊँगा॥२१८॥

यो ग्रामदेशसङ्घानां कृत्वा सत्येन संविदम्।
विसंवदेन् नरो लोभात् तं राष्ट्राद् विप्रवासयेत्॥२१९॥

जो मनुष्य ग्रामवासियों से, देशवासियों से और सङ्घ से सत्य का शपथ लेकर सम्भौता करके लोभ से उसको तोडे उसको राजा राष्ट्र से बाहर निकाल दे॥२१९॥

निगृह्य दापयेच् चैनं समयव्यभिचारिणम्।
चतुःसुवर्णान् षण्निष्कांश् छतमानं च राजतम्॥२२०॥

इस सम्भौता तोड़ने वाले को पकडकर चार सुवर्ण, चार सुवर्ण (मनु.८।१३४) वाले छह निष्क (मनु.८।१३७) और एक चाँदी का शतमान (मनु.८।१३७) भी दण्ड के रूप में देने के लिए बाध्य करे (औचित्यानुसार कोई एक धनराशि दण्ड के रूप में दिलाए)॥२२०॥

एतद्दण्डविधिं कुर्याद् धार्मिकः पृथिवीपतिः।
ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम्॥२२१॥

धार्मिक राजा गाँव के साथ, जाति वालों के साथ और अन्य समूहों के साथ किए गए सम्भौते को तोड़ने वालों में ऐसा दण्डविधान प्रयुक्त करे॥२२१॥

क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चिद् यस्येहाऽनुशयो भवेत्।
सोऽन्तर्दशाऽहात् तद् द्रव्यं दद्याच् चैवाऽऽददीत वा॥२२२॥

किसी वस्तु को खरीद करने पर अथवा बेचने पर लोक में जिस को पश्चात्ताप होने लगे, वह दश दिन के भीतर उस वस्तु को वापस कर दे अथवा वापस ले ले॥२२२॥

परेण तु दशाऽहस्य न दद्यान् नाऽपि दापयेत्।
आददानो ददच् चैव राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट्॥२२३॥

दश दिन के बाद तो न तो वापस दे न वापस दिलवाए। बलप्रयोग करके वापस लेने वाला और वापस देने वाला राजा से छह सौ कार्षापण दण्ड देने में बाध्य किया जाना चाहिए॥२२३॥

यस् तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय प्रयच्छति।
तस्य कुर्यान् नृपो दण्डं स्वयं षण्णवतिं पणान्॥२२४॥

जो दोष से युक्त कन्या का दोष न कहकर उसका दान करता है उसको राजा स्वयम् ही छियानवे (९६) कार्षापण (मनु.८।१३६) दण्ड के रूप में देने के लिए बाध्य करे॥२२४॥

अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद् द्वेषेण मानवः।
स शतं प्राप्नुयाद् दण्डं तस्या दोषमदर्शयन्॥२२५॥

जो मनुष्य केवल द्वेष से कन्या को अकन्या (परपूर्वा वा क्षतयोनि) कहे तो वह उस कन्या के दोष को प्रामाणिक रूप में दिखाने में असमर्थ होता हुआ सौ कार्षापण के दण्ड को प्राप्त करेगा॥२२५॥

पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः।
नाऽकन्यासु क्वचिन् नृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः॥२२६॥

मनुष्यों के पाणिग्रहण से (विवाह से) सम्बद्ध मन्त्र कन्याओं के विषय में ही व्यवस्थित हैं, किसी भी शास्त्र में अकन्याओं के विषय में व्यवस्थित नहीं हैं, क्योंकि अकन्याएँ (परपूर्वाएँ) जो दूसरे पति से संयोग करती हैं वे धर्मविवाह-क्रिया से रहित ही होती हैं॥२२६॥

पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम्।
तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे॥२२७॥

विवाह से सम्बद्ध मन्त्रों का शास्त्रानुसार प्रयोग ही पत्नीत्व का सम्पादक लक्षण है, उन मन्त्रों की पूर्णता तो विद्वानों से सातवें पदन्यास में (सप्तपदीप्रक्रमण का विधि सम्पन्न होने पर) होने वाली समझी जानी चाहिए॥२२७॥

यस्मिन्यस्मिन् कृते कार्ये यस्येहाऽनुशयो भवेत्।
तमनेन विधानेन धर्म्ये पथि निवेशयेत्॥२२८॥

जिस-जिस कार्य के करने के बाद इस लोक में जिस मनुष्य को पश्चात्ताप हो उसको इस (पूर्वोक्त) विधान से राजा धर्म के मार्ग में स्थापित करे॥२२८॥

पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे।
विवादं सम्प्रवक्ष्यामि यथावद् धर्मतत्त्वतः॥२२९॥

रक्षणीय पशुओं के विषय में पशुओं के स्वामियों का और पालों का (चरवाहों का) मतभेद होने पर विचारणीय विवादपद को धर्मतत्त्व के अनुसार यथार्थ रूप में बताऊँगा॥२२९॥

दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि तद्गृहे।
योगक्षेमेऽन्यथा चेत् तु पालो वक्तव्यतामियात्॥२३०॥

दिन में पाल को (चरवाह को) सौंपे जाने पर पशुओं के योगक्षेम के (रक्षा के) विषय में पाल में (चरवाह में) उत्तरदायित्व रहता है, रात में स्वामी को सौंपे जाने पर स्वामी के घर में स्थित पशुओं के योगक्षेम के विषय में स्वामी में उत्तरदायित्व रहता है, यदि अन्यथा व्यवस्था (रात में भी पाल की ही रेखदेख में पशुओं के रहने की व्यवस्था) की गई है तो रात में भी पाल (चरवाह) ही उत्तरदायी होगा॥२३०॥

गोपः क्षीरभृतो यस् तु स दुह्याद् दशतो वराम्।
गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सा स्यात् पालेऽभृते भृतिः॥२३१॥

दूध से मजदूरी चुकाया जाने वाला जो गोपालक भृतक है वह दश गायों की रक्षा की मजदूरी के रूप में दश गायों में से एक श्रेष्ठ दुधारू गाय को गोस्वामी के अनुमति से अपने लिए दुहे, वही अन्नादि से अपोषित पाल के (चरवाह के) विषय में भृति (मजदूरी) होगी॥२३१॥

नष्टं विनष्टं कृमिभिः श्वहतं विषमे मृतम्।
हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात् पाल एव तु॥२३२॥

पुरुष के प्रयत्न से बचाया जा सकने की अवस्था में पुरुष का उचित प्रयत्न न होने से खोए हुए पशु को, कीटविशेषों से नाशित पशु को, वन्य कुक्कुर से (भेडिये) से मारे गए पशु को और विषम स्थल में पड़कर मरे हुए पशु को भी पाल (चरवाह) ही स्वामी को दे। [उक्त प्रकार की स्थिति में पशुओं का नुकसान होने पर चरवाह ही हर्जाना दे]॥२३२॥

विघुष्य तु हृतं चौरैर् न पालो दातुमर्हति।
यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति॥२३३॥

यदि उचित देश में और उचित काल में अपने स्वामी को कहता है तो चोरों से घोषणा करके चुराए गए पशु का हर्जाना स्वामी को देने के लिए पाल (चरवाह) बाध्य नहीं किया जाना चाहिए॥२३३॥

कर्णौ चर्म च वालांश् च बस्तिं स्नायुं च रोचनाम्।
पशुषु स्वामिनां दद्यान् मृतेष्वङ्गानि दर्शयेत्॥२३४॥

पशुओं के स्वयम् मरने पर पाल (रखवाला) उस पशु के कानों को, चमडे को, पूँछ के वालों को, बस्ति को (मूत्र थैली को), स्नायु को (अस्थिबन्धनों को) और गोरोचन को भी स्वामी में समर्पित करे, खुर सींग इत्यादि अङ्गों को भी दिखलाए॥२३४॥

अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति।
यां प्रसह्य वृको हन्यात् पाले तत् किल्बिषं भवेत्॥२३५॥

पाल (चरवाह) न आने से भेड़बकरियों का समूह भेड़ियों से रोके जाने पर जिस बकरी को या भेड़ को भेड़िया पकडकर मारे उसका दोष पाल में (चरवाह में) होगा॥२३५॥

तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने।
यामुत्प्लुत्य वृको हन्यान् न पालस् तत्र किल्बिषी॥२३६॥

पाल से (चरवाह से) वन में निश्चित स्थल में यत्न से एकत्रित करके रखी गई और चरती हुई बकरियों और भेड़ों में से यदि किसी एक को भेड़िया अकस्मात् उछलकरके आकर मार दे तो वहाँ पाल (चरवाह) दोषी नहीं होता है॥२३६॥

धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात् समन्ततः।
शम्यापातास् त्रयो वाऽपि त्रिगुणो नगरस्य तु॥२३७॥

गाँव के चारों तरफ सौ धनुष तक (चार सौ हाथ तक) अथवा तीन वार शम्या (काष्ठशकल) फेंकने पर वह अन्तिम वार जहाँ गिरती है वहाँ तक परीहार (कृषिकर्मरहित खुली भूमि) हो, नगर के चारों तरफ तो उसका तिगुना परीहार (खुली भूमि) हो॥२३७॥

तत्राऽपरिवृतं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि।
न तत्र प्रणयेद् दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम्॥२३८॥

उस परीहार के अन्दर वृति (घिराव, झाडबन्दी) से रहित फसल को यदि पशु नुकसान पहुँचाए तो उसमें राजा पशु के रक्षकों को दण्ड देने का काम न करे॥२३८॥

वृतिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो न विलोकयेत्।
छिद्रं च वारयेत् सर्वं श्वसूकरमुखाऽनुगम्॥२३९॥

उस परीहार के अन्दर की भूमि में फसल लगाने वाला फसल में वैसी उच्च वृति (झाड़बन्दी) लगाए जिस से बाहर से ऊँट फसल को नहीं देख सके, उस वृति में सभी छिद्रों को भी इस प्रकार बन्द करे जिस से उन छिद्रों से कुत्ते और सूअर अपना मुँह भीतर न ले जा सकें॥२३९॥

पथि क्षेत्रे परिवृते ग्रामान्तीयेऽथवा पुनः।
सपालः शतदण्डाऽर्हो विपालान् वारयेत् पशून्॥२४०॥

मार्ग में बाड से घिरे हुए खेत में अथवा गाँव के समीप के परीहार के बाड से घिरे हुए खेत में भी यदि पशु फसल को नुकसान पहुँचाए तो यदि वह पशु पाल से (चरवाह से) युक्त है तो वह सौ कार्षापण दण्ड देने में योग्य होता है, यदि पशु पाल से रहित हैं तो उन पशुओं को खेत का रक्षक भगा दे॥२४०॥

क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं पणमर्हति।
सर्वत्र तु सदो देयः क्षेत्रिकस्येति धारणा॥२४१॥

अन्य खेतों में तो फसल को नुकसान पहुँचाने वाला पशु (पशुपाल) सवा एक कार्षापण दण्ड के रूप में देने में योग्य होता है, जहाँ-जहाँ पशु फसल को नुकसान पहुँचाता है उन सब घटनाओं में पशु के स्वामी से क्षेत्र के स्वामी को फसल की क्षतिपूर्ति देनी चाहिए॥२४१॥

अनिर्दशाहां गां सूतां वृषान् देवपशूंस् तथा।
सपालान् वा विपालान् वा न दण्ड्यान् मनुरब्रवीत्॥२४२॥

ब्याने से दश दिन के भीतर की गाय को, धार्मिक विधि से छोडे गए वृषभों को और देवताओं को समर्पित किए गए पशुओं को भी पाल (चरवाह) से युक्त होने पर अथवा पाल से रहित होने पर भी मनु ने अदण्डनीय कहा॥२४२॥

क्षेत्रिकस्याऽत्यये दण्ड्यो भागाद् दशगुणो भवेत्।
ततोऽर्धदण्डो भृत्यानामज्ञानात् क्षेत्रिकस्य तु॥२४३॥

खेत के स्वामी की लापरवाही से पशुओं से फसल को नुकसान पहुँचाए जाने पर खेत के स्वामी से राजा को उस खेत से जितना राजभाग प्राप्तव्य है उसके

दशगुणा दण्ड खेत के स्वामी को होगा, खेत के स्वामी से अज्ञात रूप में खेत की रक्षा करने वाले कर्मकरों की लापरवाही से पशुओं से फसल को नुकसान पहुँचाए जाने पर तो उस दण्ड का आधा दण्ड होगा॥२४३॥

एतद् विधानमातिष्ठेद् धार्मिकः पृथिवीपतिः।
स्वामिनां च पशूनां च पालानां च व्यतिक्रमे॥२४४॥

धार्मिक राजा खेत के और पशुओं के स्वामियों के, पशुओं के और पशुओं के तथा खेतों के रक्षकों के भी स्वमर्यादा के अतिक्रमण में (दोष में) इस विधान का प्रयोग करे॥२४४॥

सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर् द्वयोः।
ज्येष्ठे मासि नयेत् सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु॥२४५॥

दो गाँवों में सीमा के विषय में विवाद उत्पन्न होने पर ज्येष्ठ महीने में सीमा के चिह्न तृण-लतादि से आच्छादित न होकर प्रकट होने पर सीमा को निर्णीत करे॥२४५॥

सीमावृक्षांश् च कुर्वीत न्यग्रोधा-ऽश्वत्थ-किंशुकान्।
शाल्मलीन् साल-तालांश् च क्षीरिणश् चैव पादपान्॥२४६॥

राजा बड को, पीपल को, ढाक को, सेमल को, साल को, ताड को और दूध वाले (गूलर इत्यादि) वृक्षों को भी सीमाचिह्नरूप वृक्ष बनाए॥२४६॥

गुल्मान् वेणूंश् च विविधाञ् छमीवल्लीस्थलानि च।
शरान् कुब्जकगुल्मांश् च तथा सीमा न नश्यति॥२४७॥

गुल्मों को (प्रकाण्डरहित पौधों को), अनेक प्रकार के बाँसों को, शमी वृक्ष को, भूमि में ही फैलने वाली लताओं को, ऊँचे-ऊँचे मिट्टी के टीलों को, सरकण्डों को, कुब्जक (गुलाब) के गुल्मों को भी सीमा का चिह्न बनाए, वैसा करने से सीमा नष्ट नहीं होती है॥२४७॥

तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च।
सीमासन्धिषु कार्याणि देवतायतनानि च॥२४८॥

सीमा के सन्धियों में तालाब, कुएँ, बावलियाँ, झरने और देवताओं के मन्दिर भी बनाए जाने चाहिए॥२४८॥

उपच्छन्नानि चाऽन्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत्।
सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम्॥२४९॥

सीमाज्ञान के विषय में लोक में सदा होने वाले भ्रम को देखकर राजा और भी गुप्त सीमाचिह्नों को बनवाए॥२४९॥

अश्मनोऽस्थीनि गोवालांस् तुषान् भस्म कपालिकाः।
करीषमिष्टकाऽङ्गाराञ् छर्करा वालुकास् तथा॥२५०॥
यानि चैवम्प्रकाराणि कालाद् भूमिर् न भक्षयेत्।
तानि सन्धिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत्॥२५१॥

पत्थरों को, हड्डियों को, गौ के वालों को, भूमे को, राख को, ठीकरों को, सूखे गोबर को, ईंटों को, कोयलों को, कङ्कडों को, बालुकाओं को और अन्य भी इस प्रकार की जो वस्तुएँ हैं, जिस को दीर्घ काल में भी गलाकर भूमि अपने में नहीं मिलाती है, उनको भी सीमा के सन्धियों में गुप्त करके रखवाए॥२५०-२५१॥

एतैर् लिङ्गैर् नयेत् सीमां राजा विवदमानयोः।
पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्याऽऽगमेन च॥२५२॥

विवाद करने वाले गाँवों की सीमा को इन चिह्नों से, लोगों के पहले के उपभोग से और दोनों गाँवों के बीच के जल के प्रवाह से भी सदाकाल राजा निर्णीत करे॥२५२॥

यदि संशय एव स्याल् लिङ्गानामपि दर्शने।
साक्षिप्रत्यय एव स्यात् सीमावादविनिर्णयः॥२५३॥

यदि चिह्नों को देखने से भी सीमा के विषय में सन्देह ही रहे तो सीमा-विवाद का निर्णय साक्षियों के कथन के विश्वास के आधार में ही होगा॥२५३॥

ग्रामेयककुलानां च समक्षं सीम्नि साक्षिणः।
प्रष्टव्याः सीमलिङ्गानि तयोश् चैव विवादिनोः॥२५४॥

सम्बद्ध गाँव में रहने वालों के कुलों के और विवाद में संलग्न पक्षों के प्रमुख दो विवादियों के समक्ष में सीमा के साक्षियों को सीमा के चिह्नों के विषय में पूछना चाहिए॥२५४॥

ते पृष्टास् तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निश्चयम्।
निबध्नीयात् तथा सीमां सर्वांस् तांश् चैव नामतः॥२५५॥

पूछे गए वे सब सीमा के विषय में जैसा निर्णय बताएँ वैसी ही सीमा को और नाम से उन सब साक्षियों को भी राजा निबन्धपुस्तक में (पञ्जीपुस्तक में) निबद्ध करे (दर्ज करे)॥२५५॥

शिरोभिस् ते गृहीत्वोर्वीं स्रग्विणो रक्तवाससः।
सुकृतैः शापिताः स्वैःस्वैर् नयेयुस् ते समञ्जसम्॥२५६॥

माला पहने हुए और लाल कपड़ा पहने हुए तथा अपने-अपने पुण्य से शपथ करवाए गए वे साक्षी लोग शिर में भूमि को (मिट्टी को) लेकर सत्यपूर्ण रूप में सीमा को निर्णीत करें॥२५६॥

यथोक्तेन नयन्तस् ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः।
विपरीतं नयन्तस् तु दाप्याः स्युर् द्विशतं दमम्॥२५७॥

जैसा शास्त्रों में कहा गया है वैसे सत्य मार्ग से सीमा का निर्णय करते हुए वे सत्य के साक्षी लोग शुद्ध (निष्पाप, निर्दोष) होते हैं। उसके विपरीत शास्त्रविरुद्ध असत्य मार्ग से सीमा का निर्णय करते हुए वे तो दो सौ कार्षापण दण्ड के रूप में देने के लिए बाध्य किए जाने चाहिए॥२५७॥

साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सामन्तवासिनः।
सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसन्निधौ॥२५८॥

गाँव की सीमा के विवाद में साक्षी न मिलने पर उन गाँवों के चारों ओर के गाँवों में निवास करने वाले चार ग्राममुख्य लोग (पूर्वोक्त रीति से साक्षिधर्म से) शुद्ध होकर राजा के समक्ष में सीमा का निर्णय करें॥२५८॥

सामन्तानामभावे तु मौलानां सीम्नि साक्षिणाम्।
इमानप्यनुयुञ्जीत पुरुषान् वनगोचरान्॥२५९॥

सीमा के विवाद में समीपवर्ती गाँवों के परम्परागत रूप में उन गाँवों में निवास करने वाले साक्षियों के न मिलने पर वन में विचरण करने वाले इन (आगे के श्लोक में कहे गए) पुरुषों को भी राजा पूछे॥२५९॥

व्याधाञ् छाकुनिकान् गोपान् कैवर्तान् मूलखानकान्।
व्यालग्राहानुञ्छवृत्तीनन्यांश् च वनचारिणः॥२६०॥

व्याधाओं को, बहेलियों को (चिडियामारों को), गोपालों को (पशुपालों को), मल्लाहों को, कन्दमूल खोदने वालों को, सपेरों को, उञ्छवृत्ति से जीविका करने वालों को और अन्य भी वन में घूमने वालों को (राजा सीमा के विषय में पूछे)॥२६०॥

ते पृष्टास् तु यथा ब्रूयुः सीमासन्धिषु लक्षणम्।
तत् तथा स्थापयेद् राजा धर्मेण ग्रामयोर् द्वयोः॥२६१॥

पूछे गए वे लोग सीमा के सन्धियों के विषय में जैसा चिह्न कहें उसको उसी रूप में राजा धर्मपूर्वक दो गाँवों के बीच में सीमाचिह्न के रूप में स्थापित करे॥२६१॥

क्षेत्र-कूप-तडागानामारामस्य गृहस्य च।
सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥२६२॥

खेतों की, कुओं की, तालावों की, बगीचों की तथा घर की भी सीमा के विभाजक चिह्नों का निर्णय समीप के जनों के कथन के विश्वास के आधार में ही होता है॥२६२॥

सामन्ताश् चेन् मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम्।
सर्वे पृथक्पृथग् दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥२६३॥

सीमा के विभाजक चिह्नों के विषय में विवाद करते हुए मनुष्यों के विवाद-पद के निर्णय में यदि समीप के गाँवों में निवास करने वाले झूठ बोलें तो वे सब ही एक-एक करके राजा से मध्यम साहस (पाँच सौ कार्षापण) दण्ड के रूप में देने के लिए बाध्य किए जाने चाहिए॥२६३॥

गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन्।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञानाद् द्विशतो दमः ॥२६४॥

डर दिखाकर घर का अथवा तालाब का अथवा बगीचे का अथवा खेत का हरण करता हुआ मनुष्य राजा से पाँच सौ कार्षापण दण्ड के रूप में देने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए। अज्ञान से (स्वत्वभ्रान्ति से) घर, तालाव इत्यादि का हरण करते हुए मनुष्य को दो सौ कार्षापणों का दण्ड किया जाना चाहिए॥२६४॥

सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित्।
प्रदिशेद् भूमिमेतेषामुपकारादिति स्थितिः ॥२६५॥

सीमा का निर्णय न किए जा सकने पर धर्म को जानने वाला राजा स्वयम् ही इन लोगों के लिए विशेष उपकारक होने से यहाँ तक की भूमि इस गाँव की है, ऐसा निर्णय दे, यह धर्मशास्त्र की व्यवस्था है॥२६५॥

एषोऽखिलेनाऽभिहितो धर्मः सीमाविनिर्णये।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम् ॥२६६॥

सीमा-विवाद के निर्णय के विषय में यह व्यवस्था सम्पूर्ण रूप में बताई गई है। अब आगे वाक्पारुष्य (गाली) के विषय में उत्पन्न विवाद के निर्णय की रीति को बताऊँगा॥२६६॥

शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति।
वैश्योऽध्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस् तु वधमर्हति॥२६७॥

ब्राह्मण को 'तुम चोर हो' इत्यादि रूप से गाली देने पर क्षत्रिय सौ कार्षापण दण्ड के रूप में देने में बाध्य किया जाना चाहिए, वैश्य डेढ़ सौ अथवा दो सौ कार्षापण दण्ड के रूप में देने में बाध्य किया जाना चाहिए और शूद्र तो ताडनादिरूप वधदण्ड पाने में योग्य होता है।

विशेष— यहाँ पर "**शूद्रस् तु वधमर्हति**" इस अंश को लेकर लोग मनुस्मृति में दोषारोपण करने में उतारू होते हैं। किन्तु यहाँ वधशब्द का अर्थ जान से मारना नहीं है, केवल ताडन है। अन्य लोगों को अर्थदण्ड की व्यवस्था देने पर भी शूद्र को ताडन-रूप शारीर दण्ड देने की व्यवस्था औचित्य के आधार में ही की गई अवगत होती है। शूद्रों में प्रायः शरीर बल के अभिमान से अपराध करने की प्रवृत्ति पाई जाने से शूद्रों को शारीर दण्ड देने की व्यवस्था दी गई है। दण्ड की व्यवस्था में मुख्य दृष्टि तो अपराध की प्रवृत्ति को हतोत्साहित करना ही है। आज भी दण्ड देने के सिद्धान्त में यही दृष्टि अपनाई जाती है। कुल्लूकभट्ट ने भी यहाँ पर वधशब्द का अर्थ 'ताडनादि-रूप' ही बताया है॥२६७॥

पञ्चाशद् ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याऽभिशंसने।
वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशच् छूद्रे द्वादशको दमः॥२६८॥

क्षत्रिय को 'तुम चोर हो' इत्यादि रूप से गाली देने पर ब्राह्मण पचास कार्षापण दण्ड के रूप में देने में बाध्य किया जाना चाहिए। वैश्य को उक्त रूप से गाली देने पर ब्राह्मण पचास का आधा (पच्चीस) कार्षापण दण्ड के रूप में देने में बाध्य किया जाना चाहिए। शूद्र में उस प्रकार की गाली देने पर ब्राह्मण को बारह कार्षापणों का दण्ड होगा॥२६८॥

समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे।
वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत्॥२६९॥

द्विजातियों में तुल्य वर्ण में सद्व्यवहार का अतिक्रमण (कटुभाषण) होने पर बारह कार्षापणों का ही दण्ड होगा। ['तुम मातृगामी हो' इत्यादि] अवाच्य वचनों के प्रयोग करने पर उक्त शतादि दण्ड का दुगुना दण्ड होगा॥२६९॥

एकजातिर् द्विजातींस् तु वाचा दारुणया क्षिपन्।
जिह्वायाः प्राप्नुयाच् छेदं जघन्यप्रभवो हि सः॥२७०॥

द्विजातियों को 'तुम मातृगामी हो' इत्यादि महापातक का आरोप करने वाली अत्यन्त कठोर वाणी से आक्षेप करता हुआ शूद्र तो जीभ का (जीभ के एकदेश का) छेदनरूप दण्ड पाएगा, क्योंकि वह सब से पिछले अङ्ग से उत्पन्न है।

विशेष— यहाँ पर जिह्वा का छेद जीभ को काटकर निकालना नहीं है, जीभ में सामान्य छेद बनाना है। इस लिए इस दण्ड को अत्यधिक क्रूर नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः यह दण्डव्यवस्था शूद्रों की अपराध की प्रवृत्ति को रोकने के लिए ही है। अधिक उद्दण्ड और उच्छृङ्खल अपराधी को आजकल भी उसके स्वभाव को देखकर दण्ड की व्यवस्था की जाती है॥२७०॥

नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः।
निक्षेप्योऽयोमयः शङ्कुर् ज्वलन्नास्ये दशाऽङ्गुलः॥२७१॥

गाली के रूप में 'रे यज्ञदत्त तुम तुच्छ ब्राह्मण हो' इत्यादि रूप में द्विजातियों का नाम और जाति का उच्चारण करने वाले शूद्र के मुँह में राजा से लोहे की दश अङ्गुल लम्बी जलती हुई कील डाली जानी चाहिए।

विशेष— यह दण्डव्यवस्था दण्ड का डर दिखाकर अपराधप्रवृत्ति को रोकने के लिए ही है। यह दण्ड शायद ही कभी प्रयोग में आया होगा॥२७१॥

धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः।
तप्तमासेचयेत् तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः॥२७२॥

अभिमान से ब्राह्मणों को धर्म का उपदेश करते हुए इस (शूद्र) के मुह में और कान में भी राजा गर्म तेल डलवाए।

विशेष— ब्राह्मणों को धर्मोपदेश करना सामान्यतया राजा के लिए भी निषिद्ध बात है (मनु.८।३९०,३९१)। इस लिए शूद्रों को ब्राह्मण प्रति धर्मोपदेश देने का निषेध और घमण्ड से ब्राह्मणों को धर्मोपदेश देने में प्रवृत्त होने पर शूद्रों को तीक्ष्ण दण्ड का डर दिखाना लोककल्याणकारी वैदिक सनातन वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा की रक्षा की दृष्टि से समुचित ही कार्य अवगत होता है। यहाँ पर भी दण्ड की व्यवस्था अपराधी में दण्ड का प्रयोग करने की दृष्टि से नहीं अपराध-प्रवृत्ति को रोकने की ही दृष्टि से ही की जाती है, इस बात को नहीं भूलना चाहिए॥२७२॥

श्रुतं देशं च जातिं च कर्म शारीरमेव च।
वितथेन ब्रुवन् दर्पाद् दाप्यः स्याद् द्विशतं दमम्॥२७३॥

अभिमान से 'तुम ने वेद तो सुना भी नहीं है', 'तुम म्लेच्छदेश के ब्राह्मण हो' इत्यादि रूप में मनुष्य के अध्ययन को, देश को, जाति को और शारीरसंस्कार को भी

ब्राह्मणादि के विषय में असत्य रूप में कहता हुआ ब्राह्मणादि समान वर्ण का मनुष्य दो सौ कार्षापण दण्ड के रूप में देने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए॥२७३॥

काणं वाऽप्यथवा खञ्जमन्यं वाऽपि तथाविधम्।
तथ्येनाऽपि ब्रुवन् दाप्यो दण्डं कार्षापणाऽवरम्॥२७४॥

काने को अथवा लंगडे को अथवा और अन्य भी इसी प्रकार के विकलाङ्ग मनुष्य को सत्य रूप में भी अरे काने, अरे लंगडे इत्यादि रूप से कहने वाला मनुष्य कम में भी एक कार्षापण दण्ड के रूप में देने में बाध्य किया जाना चाहिए॥२७४॥

मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम्।
आक्षारयञ् छतं दाप्यः पन्थानं चाऽदद् गुरोः॥२७५॥

माता को, पिता को, पत्नी को, भाई को, पुत्त्र को और गुरु को अगम्यमैथुनसम्बन्ध से गाली देता हुआ मनुष्य और गुरु को रास्ता न छोडता हुआ मनुष्य भी राजा से दण्ड के रूप में सौ कार्षापण देने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए॥२७५॥

ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु दण्डः कार्यो विजानता।
ब्राह्मणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये त्वेव मध्यमः॥२७६॥

दण्डविधान के विवेचनात्मक ज्ञान से युक्त राजा से ब्राह्मण को और क्षत्रिय को उक्तविध वाक्पारुष्य में यथोचित दण्ड किया जाना चाहिए। क्षत्रिय को अगम्यमैथुनसम्बन्ध से गाली देने वाले ब्राह्मण में पूर्व साहस (२५० कार्षापण) दण्ड उचित होता है, ब्राह्मण को अगम्यमैथुनसम्बन्ध से गाली देने वाले क्षत्रिय में तो मध्यम साहस (५०० कार्षापण) दण्ड उचित होता है॥२७६॥

विट्शूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः।
छेदवर्जं प्रणयनं दण्डस्येति विनिश्चयः॥२७७॥

वैश्य के और शूद्र के विषय में भी उक्तविध वाक्पारुष्य में यथोचित दण्ड किया जाना चाहिए। [वैश्य को अगम्यमैथुनसम्बन्ध से गाली देने वाले ब्राह्मण में सौ कार्षापण दण्ड उचित होता है शूद्र को अगम्यमैथुनंसम्बन्ध से गाली देने वाले ब्राह्मण में पचास कार्षापण दण्ड उचित होता है, वैश्य को अगम्यमैथुनसम्बन्ध से गाली देने वाले क्षत्रिय में दो सौ कार्षापण और शूद्र को वैसी गाली देने वाले क्षत्रिय में सौ कार्षापण दण्ड उचित होता है। ब्राह्मण को और क्षत्रिय को अगम्यमैथुनसम्बन्ध से गाली देने वाले वैश्य में क्रमशः उत्तम साहस (१००० कार्षापण) और मध्यम साहस (५०० कार्षापण) दण्ड उचित होता है; ब्राह्मण को, क्षत्रिय को और वैश्य को अगम्यमैथुनसम्बन्ध से गाली देने वाले शूद्र में जिह्वाछेद दण्ड उचित होता है।] शूद्र में तो अपनी जाति के

मनुष्य को अगम्यमैथुनसम्बन्ध से गाली देने पर ही जिह्वाछेदरहित बारह कार्षापण इत्यादि रूप के दण्ड का प्रयोग उचित होता है, यही धर्मशास्त्र का निर्णय है।

विशेष— यहाँ कुल्लूकभट्ट की व्याख्या तो अपर्याप्त और अयथार्थ प्रतीत होती है॥२७७॥

एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम्॥२७८॥

वाक्पारुष्यरूप अपराध में यथार्थ रूप से यह दण्डविधान बताया गया। अब आगे दण्डपारुष्यरूप अपराध में दण्ड का निर्णय करने की रीति को बताऊँगा॥२७८॥

येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्चेच्छ्रेष्ठमन्त्यजः।
छेत्तव्यं तत्तदेवाऽस्य तन् मनोरनुशासनम्॥२७९॥

शूद्र जिस-जिस अङ्ग से द्विजाति को ताडित करे राजा से उस शूद्र के उसी-उसी अङ्ग को काट दिया जाना चाहिए, वह मनु का अपराधानुसारी दण्डविधान है।

विशेष— यहाँ पर छेदन उस-उस अङ्ग को काटकर सर्वथा अपसारण नहीं है, केवल उस-उस अङ्ग में अपराधानुसार साधारण अथवा विशेष क्षत बनाना ही है। यद्यपि यह दण्डव्यवस्था कुछ क्रूर जैसी मालूम पडती है, तथापि अपराधप्रवृत्ति के नियन्त्रण के लिए आवश्यक मात्रा में ही प्रयुक्त करने का दण्ड का मूल सिद्धान्त होने से अनिन्दनीय ही है॥२७९॥

पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति।
पादेन प्रहरन् कोपात् पादच्छेदनमर्हति॥२८०॥

द्विजाति को मारने के लिए हाथ अथवा डण्डा उठाने पर शूद्र हस्तच्छेदनरूप दण्ड पाने में योग्य होता है, क्रोध से द्विजाति को पैर से मारता हुआ शूद्र पादच्छेदनरूप दण्ड पाने में योग्य होता है।

विशेष— यहाँ पर छेदन उस-उस अङ्ग को काटकर सर्वथा अपसारण नहीं है, केवल उस-उस अङ्ग में अपराधानुसार साधारण अथवा विशेष क्षत बनाना ही है। यद्यपि यह दण्डव्यवस्था कुछ क्रूर जैसी मालूम पडती है, तथापि अपराधप्रवृत्ति के नियन्त्रण के लिए आवश्यक मात्रा में ही प्रयुक्त करने का दण्ड का मूल सिद्धान्त होने से अनिन्दनीय ही है॥२८०॥

सहाऽऽसनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्याऽपकृष्टजः।
कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः स्फिचं वाऽस्याऽवकर्तयेत्॥२८१॥

उत्कृष्ट से (ब्राह्मण से) एक साथ आसन में बैठने की इच्छा करने वाला (बैठने वाला) अपकृष्टज (शूद्र) कटि में तप्त (गर्म) लोहादि से चिह्नित बनाकर राष्ट्र से निकाल देने में योग्य होता है, अथवा राजा इसके नितम्ब को (नितम्ब के एकदेश को) कटवा दे।

विशेष– अनादि परम्परागत वर्णाश्रमधर्ममर्यादा की रक्षा के लिए यह दण्ड-व्यवस्था दी गई है। यहाँ पर आए हुए "अवकर्तयेत्" इस पद से थोडा सा खरोचने की ही व्यवस्था को सूचित किया गया है॥२८१॥

अवनिष्ठीवतो दर्पाद् द्वावोष्ठौ छेदयेन् नृपः।
अवमूत्रयतो मेढ्रमवशर्धयतो गुदम्॥२८२॥

अभिमान से ब्राह्मण को थूक देने वाले शूद्र के दोनों होठों को राजा कटवादे, ब्राह्मण को मूत देने वाले शूद्र के लिङ्ग को राजा कटवा दे और ब्राह्मण की ओर अपानवायु (पाद) छोडने वाले शूद्र के गुदा को राजा कटवा दे।

विशेष– यहाँ पर भी छेदन सामान्य अवकर्तन ही है। इसी अध्याय के २७२ वें श्लोक में लिखी गई विशेष टिप्पणी भी देखिए॥२८२॥

केशेषु गृह्णतो हस्तौ छेदयेदविचारयन्।
पादयोर् दाढिकायां च ग्रीवायां वृषणेषु च॥२८३॥

अभिमान से बालों में अथवा पैरों में अथवा दाढ़ी में अथवा गर्दन में अथवा अण्डकोषादि में ब्राह्मण को पकडने वाले शूद्र के हाथों को राजा कटवाएँ या नहीं कटवाएँ ऐसी विचारणा नहीं करके (अवश्य) कटवा दे।

विशेष– पूर्वश्लोकों में (८।१२४, २६७, २७०-२७२, २७९-२८२) लिखी गई विशेष टिप्पणी देखिए। उन टिप्पणियों से इस श्लोक की भी समीक्षा हो जाती है॥२८३॥

त्वग्भेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च दर्शकः।
मांसभेत्ता तु षण् निष्कान् प्रवास्यस् त्वस्थिभेदकः॥२८४॥

समान जाति के अथवा अपकृष्ट जाति के मनुष्य के चमडे को छेदने वाला मनुष्य अथवा लहू को दिखाने वाला (वहाने वाला) मनुष्य दण्ड के रूप में सौ कार्षापण देने में बाध्य किया जाना चाहिए; मांस को छेदने वाला मनुष्य तो दण्ड के रूप में छह निष्क देने में बाध्य किया जाना चाहिए, हड्डी को फोड देने वाला मनुष्य तो राष्ट्र से ही निकाल देने में योग्य होता है॥२८४॥

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगो यथायथा।
तथातथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा॥२८५॥

सभी वनस्पतियों के उपभोगों में जैसी-जैसी उत्तमता होती है उसी-उसी के अनुसार उन वनस्पतियों को नुकसान पहुँचाने में दण्ड किया जाना चाहिए, ऐसा धर्मशास्त्र का निर्णय है॥२८५॥

मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहृते सति।
यथायथा महद् दुःखं दण्डं कुर्यात् तथातथा॥२८६॥

मनुष्यों के और पशुओं के दुःख के लिए (उनको पीडा देने के लिए) प्रहार किए जाने पर जैसा-जैसा बडा दुःख होता है वैसा-वैसा ही अधिक दण्ड करे॥२८६॥

अङ्गाऽवपीडनायां च व्रणशोणितयोस् तथा।
समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथाऽपि वा॥२८७॥

अङ्गों की पीडा किए जाने पर और घाव होने पर और लहू वहने पर भी उस से स्वास्थ्यलाभ करने में जो व्यय (समुत्थानव्यय) होता है उसको देने में पीडक को बाध्य किया जाना चाहिए अथवा समुत्थानव्यय और दण्ड दोनों को दण्ड के रूप में देने में पीडक को बाध्य किया जाना चाहिए॥२८७॥

द्रव्याणि हिंस्याद् यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा।
स तस्योत्पादयेत् तुष्टिं राज्ञे दद्याच् च तत्समम्॥२८८॥

जो जिस के द्रव्यों (वस्तुओं) को ज्ञान से अथवा अज्ञान से नुकसान पहुँचाए वह उसकी क्षतिपूर्ति से द्रव्यस्वामी की सन्तुष्टि को उत्पन्न करे, दण्ड के रूप में उस नुकसान का बराबर द्रव्य राजा को भी दे॥२८८॥

चर्मचार्मिकभाण्डेषु काष्ठलोष्टमयेषु च।
मूल्यात् पञ्चगुणो दण्डः पुष्पमूलफलेषु च॥२८९॥

चमडे में, चमडे के उपकरणों में, लकडी के उपकरणों में, मिट्टी के उपकरणों में, फूलों में, मूलों में और फलों में भी नुकसान पहुँचाए जाने पर उनके मूल्य से पाँच गुना दण्ड (राजा द्वारा) किया जाना चाहिए।

विशेष– नुकसान पहुँचाने वाले से नुकसान पहुँचाए गए द्रव्य के स्वामी की सन्तुष्टि भी उत्पन्न की जानी चाहिए॥२८९॥

यानस्य चैव यातुश् च यानस्वामिन एव च।
दशाऽतिवर्तनान्याहुः शेषे दण्डो विधीयते॥२९०॥

रथ गाडा इत्यादि यान का, चालक का और यान के स्वामी का भी दश अवस्थाएँ दण्डातीत (दण्डमुक्त) होती हैं, बाँकी अवस्थाओं में दण्डविधान किया जाता है॥२९०॥

छिन्ननास्ये भग्नयुगे तिर्यक्-प्रतिमुखाऽऽगते।
अक्षभङ्गे च यानस्य चक्रभङ्गे तथैव च॥२९१॥
छेदने चैव यन्त्राणां योक्त्ररश्म्योस् तथैव च।
आक्रन्दे चाऽप्यपैहीति न दण्डं मनुरब्रवीत्॥२९२॥

१. बैल के नाथ टूटने पर, २. जूआ टूटने पर, ३. दाईं ओर से अथवा बाईं ओर से अकस्मात् आ जाने पर, ४. सीधे सम्मुख में अकस्मात् आ जाने पर, ५. अक्ष (धुरा) टूटने पर, ६. पहिया टूट जाने पर, ७. यन्त्रों के कट जाने पर, ८. योक्त्ररज्जु टूट जाने पर, ९. रास के टूट जाने पर और १०. हटो-हटो कहकर चिल्लाने पर भी यदि यान से किसी वस्तु की अथवा प्राणी की कुछ क्षति हो तो उसमें कोई दण्ड नहीं करने को मनु ने कहा।

विशेष— यहाँ पर कुल्लूकभट्ट की व्याख्या अपूर्ण दिखाई देती है॥२९१-२९२॥

यत्राऽपवर्तते युग्यं वैगुण्यात् प्राजकस्य तु।
तत्र स्वामी भवेद् दण्ड्यो हिंसायां द्विशतं दमम्॥२९३॥

जहाँ सारथि के सम्यक् प्रशिक्षित न होने से यान गलत रूप में चलता है वहाँ द्रव्य को अथवा प्राणी को नुकसान पहुँचने पर यान का स्वामी दण्ड के रूप में दो सौ कार्षापण देने में बाध्य किया जाना चाहिए॥२९३॥

प्राजकश् चेद् भवेदाप्तः प्राजको दण्डमर्हति।
युग्यस्थाः प्राजकेऽनाप्ते सर्वे दण्ड्याः शतंशतम्॥२९४॥

यदि सारथि सम्यक् प्रशिक्षित है तो सारथि ही दण्ड पाने में योग्य होता है, यदि सारथि सम्यक् प्रशिक्षित नहीं है तो यान में बैठने वाले सभी एक-एक करके दण्ड के रूप में सौ-सौ कार्षापण देने में बाध्य किए जाने चाहिए॥२९४॥

स चेत् तु पथि संरुद्धः पशुभिर् वा रथेन वा।
प्रमापयेत् प्राणभृतस् तत्र दण्डोऽविचारितः॥२९५॥

यदि रास्ते में पशुओं से अथवा रथ से अवरुद्ध होने पर सारथि गलत रूप से यान हाँकने से किसी प्राणी को मारता है तो वहाँ सारथि को निश्चित रूप से दण्ड होगा॥२९५॥

मनुष्यमारणे क्षिप्रं चौरवत् किल्बिषं भवेत्।
प्राणभृत्सु महत्स्वर्धं गोगजोष्ट्रहयादिषु॥२९६॥

[यान के धक्के से] मनुष्य को मारने पर तुरत ही चोर के समान सारथि का दोष होगा [उत्तम साहस (१००० कार्षापण) दण्ड होगा], गौ, हाथी, ऊँट, घोडा इत्यादि बडे प्राणियों को मारने पर उसका आधा [मध्यम साहस (५०० कार्षापण)] दण्ड होगा॥२९६॥

क्षुद्रकाणां पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः।
पञ्चाशत् तु भवेद् दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु॥२९७॥

[यान से कुचलकर] छोटे पशुओं को मारने पर दो सौ कार्षापण का दण्ड होगा। (चीतल इत्यादि) शुभ मृगों के और (शुक हंस इत्यादि) शुभ पक्षियों को मारने पर पचास कार्षापण का दण्ड होगा॥२९७॥

गर्दभाऽजाविकानां तु दण्डः स्यात् पञ्चमाषिकः।
माषिकस् तु भवेद् दण्डः श्वसूकरनिपातने॥२९८॥

[यान के धक्के से] गधा अथवा बकरा अथवा भेड के मारे जाने पर पाँच मासे (चाँदी) का दण्ड होगा। कुत्ते के अथवा सूअर के मारे जाने पर एक मासे (चाँदी) का दण्ड होगा॥२९८॥

भार्या पुत्रश् च दासश् च प्रेष्यो भ्राता च सोदरः।
प्राप्ताऽपराधास् ताड्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा॥२९९॥

अपराध करने पर पत्नी, पुत्र, दास, कर्मकर और सहोदर छोटा भाई भी रस्सी से अथवा बाँस की पतली त्वचा से ताडन करने में योग्य होते हैं॥२९९॥

पृष्ठतस् तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कथञ्चन।
अतोऽन्यथा तु प्रहरन् प्राप्तः स्याच् चौरकिल्बिषम्॥३००॥

ताडन शरीर के पिछले भाग में किया जाना चाहिए, शिर में किसी भी रीति से ताडन नहीं किया जाना चाहिए। इस नियम से भिन्न रीति से प्रहार (ताडन) करता हुआ पति, पिता इत्यादि मनुष्य चोर का दोष (चोर के समान दण्ड) पाएगा॥३००॥

एषोऽखिलेनाऽभिहितो दण्डपारुष्यनिर्णयः।
स्तेनस्याऽतः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डविनिर्णये॥३०१॥

यह दण्डपारुष्यरूप अपराध का (मारपीट का) निर्णय सम्पूर्ण रूप में बताया गया। अब चोर के दण्ड के निर्णय की रीति को बताऊँगा॥३०१॥

परमं यत्नमातिष्ठेत् स्तेनानां निग्रहे नृपः।
स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते॥३०२॥

राजा चोरों के नियन्त्रण में अधिकतम प्रयत्न करे। चोरों के नियन्त्रण से इसका (राजा का) यश और राष्ट्र भी बढता है॥३०२॥

अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः सततं नृपः।
सत्रं हि वर्धते तस्य सदैवाऽभयदक्षिणम्॥३०३॥

जो राजा अभय का दाता है वह सम्माननीय होता है। उसका अभय दक्षिणा वाला यज्ञ सर्वदा बढता है॥३०३॥

सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः।
अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः॥३०४॥

रक्षा करने वाले राजा को अपने राष्ट्र के सभी धार्मिकों से किए गए धर्मों में से छठा भाग मिलता है और रक्षा न करने वाले राजा को अपने राष्ट्र के सभी पापियों-अपराधियों से किए गए पापों में से और अपराधों में से भी छठा भाग मिलता है॥३०४॥

यदधीते यद् यजते यद् ददाति यदर्चति।
तस्य षड्भागभाग् राजा सम्यग् भवति रक्षणात्॥३०५॥

अच्छी तरह रक्षा करने से राजा अपने राष्ट्र में प्रजा जो वेदाध्ययन करती है, जो यज्ञ करती है, जो दान करती है और जो देव-ब्राह्मणादि का सत्कार करती है उस पुण्य के छठे भाग का भागी होता है॥३०५॥

रक्षन् धर्मेण भूतानि राजा वध्यांश् च घातयन्।
यजतेऽहरहर् यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः॥३०६॥

धर्म से सभी स्थावर-जङ्गम प्राणियों की रक्षा करता हुआ और जान से मारने योग्य अपराधियों को जान से मारता हुआ राजा दिन पर दिन लाख गायों की दक्षिणा से युक्त यज्ञों से यजन करता है॥३०६॥

योऽरक्षन् बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः।
प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत्॥३०७॥

रक्षा नहीं करता हुआ जो राजा फसलों से अपने लिए भाग (बलि) लेता है, ग्राम-नगरवासियों से प्रत्येक घर से प्रतिवर्ष लिए जाने वाले मुद्राद्रव्यरूप धन को (कर को) लेता है, व्यापारियों से रास्ते की जगह-जगह की शुल्कशालाओं में शुल्क

(चुङ्गी) लेता है, फल-कुसुमादि अन्य उत्पादनों में अपना भाग (प्रतिभाग) लेता है और विविध अपराधियों से दण्ड का धन भी लेता है वह राजा (आयु क्षीण होने से) तुरत ही नरक को जाता है॥३०७॥

अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम्।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम्॥३०८॥

बलिरूप छठे भाग को लेने वाला किन्तु रक्षा न करने वाला जो राजा है उसको धर्मज्ञ मुनि लोग सम्पूर्ण लोक के सम्पूर्ण पाप को लेने वाला बताते हैं॥३०८॥

अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुम्पकम्।
अरक्षितारमत्तारं नृपं विद्यादधोगतिम्॥३०९॥

शास्त्रमर्यादा की कोई अपेक्षा न रखने वाले, नास्तिक, प्रजा के धन को लूटने वाले, रक्षा न करने वाले और बलि-कर-शुल्क-प्रतिभाग-दण्डों के धन को खाने वाले राजा को नरक जाने वाला जाने।

विशेष— राजा को धर्म, शास्त्र, गुरु, ब्राह्मण इत्यादि की मर्यादा में रहना चाहिए, यह बात इस श्लोक से सूचित है। मर्यादा में नहीं रहने वाले राजा को यहाँ नरकगामी बताया गया है। इस से वैदिक परम्परा का राजा निरङ्कुश नहीं है, यह बात स्पष्ट हो जाती है॥३०९॥

अधार्मिकं त्रिभिर् न्यायैर् निगृह्णीयात् प्रयत्नतः।
निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च॥३१०॥

राजा पापी को (अपराधी को) प्रयत्नपूर्वक कारागार में बन्द करने से; हथकडी, बेडी इत्यादि से बाँधने से और विभिन्न प्रकार के ताडन-मारणों से इन तीन उपायों से नियन्त्रित करे॥३१०॥

निग्रहेण हि पापानां साधूनां सङ्ग्रहेण च।
द्विजातय इवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः॥३११॥

पापियों के नियन्त्रण से और सज्जनों के उपकार से राजा लोग यज्ञों से जैसे ब्राह्मण सदा शुद्ध किए जाते हैं वैसे ही सदा शुद्ध किए जाते हैं॥३११॥

क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपतां कार्यिणां नृणाम्।
बालवृद्धाऽऽतुराणां च कुर्वता हितमात्मनः॥३१२॥

अपना हित करने (चाहने) वाले प्रभु से (राजा से) वादियों के और प्रतिवादियों के तथा असमझदार बालकों के, वृद्धों के और रोगियों के आक्षेपों का (गालियों का) सहन किया जाना चाहिए॥३१२॥

यः क्षिप्तो मर्षयत्यार्तैस् तेन स्वर्गे महीयते।
यस् त्वैश्वर्यान् न क्षमते नरकं तेन गच्छति॥३१३॥

जो प्रभु (राजा) पीडित जनों से आक्षेप किए जाने पर (गाली दिए जाने पर) उसका सहन करता है उस से वह स्वर्ग में भी पूज्य होता है, जो प्रभु (राजा) तो अपनी शक्ति के कारण से उसका सहन नहीं करता है उस से वह नरक में जाता है।

विशेष— यहाँ पराजित पक्ष से न्यायनिर्णेता को आक्षेप करने पर दण्ड करने का निषेध किया गया है। यह विधान मौखिक अथवा लिखित रूप में न्यायनिर्णेता की आलोचना करने पर न्यायालय का अपमान किए जाने का दोष मानकर दण्ड करने के आधुनिक विधान को अनुचित बताती है॥३१३॥

राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धावता।
आचक्षाणेन तत् स्तेयमेवङ्कर्माऽस्मि शाधि माम्॥३१४॥
स्कन्धेनाऽऽदाय मुसलं लगुडं वाऽपि खादिरम्।
शक्तिं चोभयतस् तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा॥३१५॥

(ब्राह्मण का एक तोला अथवा उस से अधिक सोना चुराने वाला) चोर कन्धे पर मुसल अथवा कत्थे की बडी लाठी अथवा दोनों ओर धार वाली बर्छी अथवा लोहे का डण्डा लेकर बालों को खोलकर और दौडकर जो चोरी की है उसका उल्लेख करके मैं ने ऐसा काम किया है मुझ को दण्डित कीजिए ऐसा कहता हुआ राजा के समीप में जाए॥३१४-३१५॥

शासनाद् वा विमोक्षाद् वा स्तेनः स्तेयाद् विमुच्यते।
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याऽऽप्नोति किल्बिषम्॥३१६॥

राजा से दण्डित होने से अथवा मुक्त होने से चोर चोरी के पाप से (दोष से) मुक्त हो जाता है, उस चोर को दण्ड न देने पर राजा चोर के पाप को प्राप्त करता है॥३१६॥

अन्नाऽदे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्याऽपचारिणी।
गुरौ शिष्यश् च याज्यश् च स्तेनो राजनि किल्बिषम्॥३१७॥

भ्रूणहत्या करने वाला मनुष्य अपने अन्न खाने वाले में, व्यभिचार करने वाली स्त्री अपने वैध पति में, शिष्य और यजमान अपने गुरु में और याजक में तथा चोर राजा में अपने पाप को पोंछते है [पाप को सङ्क्रमित करते हैं]।

विशेष– भ्रूणहत्या करने वाले के अन्न का बहिष्कार करके भ्रूणहत्या जैसे पातक के प्रसार को रोकना समाज के सभी लोगों का, पत्नी को सन्मार्ग में चलाना पति का, शिष्यों को और याज्यों को सन्मार्ग में चलाना गुरु-पुरोहितों का तथा चोर इत्यादि अपराधियों को दण्ड देकर समाज में अपराधों का निवारण करना राजा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण धर्म माने जाने की बात इस वचन से स्पष्ट होती है॥३१७॥

राजभिः कृतदण्डास् तु कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥३१८॥

पाप करके भी राजाओं से दण्डित होने पर मनुष्य पापरहित होते हुए सुकर्म करने वाले सज्जनों के समान स्वर्ग को जाते हैं॥३१८॥

यस् तु रज्जुं घटं कूपाद् धरेद् भिन्द्याच् च यः प्रपाम्।
स दण्डं प्राप्नुयान् माषं तच् च तस्मिन् समाहरेत्॥३१९॥

जो चोर कुएँ से रस्सी अथवा घडा चुराता है और जो प्याउ तोडता है उसको एक मासा (लगभग १$\frac{१}{८}$ ग्राम) सोना दण्ड में देना होगा और उस चुराए हुए वस्तु को भी वहीं लाना होगा (प्याउ को भी बनवाना होगा)॥३१९॥

धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः।
शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस् तस्य च तद् धनम्॥३२०॥

दश कुम्भ से अधिक अन्न को चुराने वाले को वधरूप दण्ड प्राप्त होता है। उस से न्यून अन्न को चुराने वाला मनुष्य चुराए गए अन्न का ग्यारहगुना दण्ड और चुराए गए धन के स्वामी का चुराया गया धन भी देने में बाध्य किया जाना चाहिए।

विशेष– कुल्लूकभट्ट ने २०० पल का १ द्रोण और २० द्रोण का १ कुम्भ बताया है॥३२०॥

तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः।
सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम्॥३२१॥

काँटे से तौलकर परिमाण निश्चित किए जाने वाले सोना चाँदी इत्यादि द्रव्यों के और श्रेष्ठ वस्त्रों के भी सौ इकाइयों से अधिक की चोरी में चोर को वध ही दण्ड मिलना चाहिए॥३२१॥

पञ्चाशतस् त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते।
शेषे त्वेकादशगुणं मूल्याद् दण्डं प्रकल्पयेत्॥३२२॥

पचास इकाइयों से अधिक की चोरी में चोर को हस्तच्छेदनरूप दण्ड देना इष्ट है। उस से न्यून की चोरी में चुराए गए पदार्थ के मूल्य से ग्यारहगुने दण्ड की व्यवस्था करे॥३२२॥

पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषतः।
मुख्यानां चैव रत्नानां हरणे वधमर्हति॥३२३॥

कुलीन पुरुषों की, विशेष करके कुलीन स्त्रियों की और हीरा, मोती, माणिक, पद्मराग, मरकत, वैदूर्य, नील इत्यादि मुख्य रत्नों की चोरी में चोर वधरूप दण्ड पाने में योग्य होता है॥३२३॥

महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च।
कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत्॥३२४॥

हाथी, घोडा, ऊँट, बैल इत्यादि बडे पशुओं की, तलवार इत्यादि शस्त्रों की और औषधों की चोरी में भी राजा काल का और प्रयोजन का भी विचार करके उचित दण्ड की व्यवस्था करे॥३२४॥

गोषु ब्राह्मणसंस्थासु छूरिकायाश् च भेदने।
पशूनां हरणे चैव सद्यः कार्योऽर्धपादिकः॥३२५॥

ब्राह्मण के स्वत्व में रही गायों की चोरी में, गाडा खीचने वाली बाँझ गाय को नाथने में और बकरी भेड इत्यादि पशुओं की चोरी में भी चोर तुरत ही आधा पैर से खण्डित किया जाना चाहिए (चोर का आधा पैर काट देना चाहिए)।

विशेष— यहाँ श्लोक का कुल्लूककृत अर्थ असङ्गत ही प्रतीत होता है। **'छूरिकायाः'** इसके स्थान में मेधातिथि का **'खरिकायाः'** पाठ है, गोविन्दराज का पाठ **'नासिकायाः'** है। अतः इस पद का वास्तविक रूप और इस श्लोक का अर्थ विशेष चिन्तनीय है। इसका विशेष विचार हम हमारी वैदिकप्रिया व्याख्या में करेंगे॥३२५॥

सूत्रकार्पासकिण्वानां गोमयस्य गुडस्य च।
दध्नः क्षीरस्य तक्रस्य पानीयस्य तृणस्य च॥३२६॥
वेणुवैदलभाण्डानां लवणानां तथैव च।
मृन्मयानां च हरणे मृदो भस्मन एव च॥३२७॥

मत्स्यानां पक्षिणां चैव तैलस्य च घृतस्य च।
मांसस्य मधुनश् चैव यच् चाऽन्यत् पशुसम्भवम्॥३२८॥
अन्येषां चैवमादीनां मद्यानामोदनस्य च।
पक्वाऽन्नानां च सर्वेषां तन्मूल्याद् द्विगुणो दमः॥३२९॥

सूत की, रूई की, सुराबीज की, गोबर की, गुड की, दही की, दूध की, छाछ की, पानी की, घास की, बाँस की पतली त्वचा से बने हुए वर्तनों की, नमकों की, उसी प्रकार मिट्टी के उपकरणों की चोरी में; मिट्टी की, राख की, मछलियों की, पक्षियों की, तेल की, घी की, मांस की, शहद की, जो कोई भी पशु से उत्पन्न होने वाले उपभोग्य पदार्थ की, इसी प्रकार के अन्य पदार्थों की, मद्यों की, भात की, सभी प्रकार के पकवानों की चोरी में भी चुराए हुए पदार्थ के मूल्य से दुगुना दण्ड किया जाना चाहिए॥३२६–३२९॥

पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवल्लीनगेषु च।
अन्येष्वपरिपूतेषु दण्डः स्यात् पञ्चकृष्णलः॥३३०॥

फूल, हरा धान्य, प्रकाण्डरहित पौधा, भूमि में फैलने वाली लता, पेड और अन्य भूसा-पुआल इत्यादि से युक्त धान्य (एक पुरुष के बोझ के बराबर) चुराए जाने पर चोर को पाँच कृष्णल चाँदी अथवा सोना दण्ड किया जाना चाहिए॥३३०॥

परिपूतेषु धान्येषु शाकमूलफलेषु च।
निरन्वये शतं दण्डः साऽन्वयेऽर्धशतं दमः॥३३१॥

भूसा पुआल इत्यादि को हटाकर साफ किए गए धान्य, शाक, मूल (कन्द-मूल) और फल भी चुराए जाने पर चुराए गए पदार्थ के स्वामी से समानग्रामवासादि किसी भी सम्बन्ध से रहित चोर में सौ कार्षापण दण्ड किया जाना चाहिए, चुराए गए पदार्थ के स्वामी से समानग्रामवासादि किसी प्रकार के सम्बन्ध से युक्त चोर में आधा सौ (पचास) कार्षापण दण्ड किया जाना चाहिए॥३३१॥

स्यात् साहसं त्वन्वयवत् प्रसभं कर्म यत् कृतम्।
निरन्वयं भवेत् स्तेयं हृत्वाऽपव्ययते च यत्॥३३२॥

स्वामी से अथवा रक्षकों से युक्त अवस्था में उनके देखते रहने पर जो द्रव्यहरणादि काम बलपूर्वक किया जाता है वह साहस कहा जाता है। स्वामी से अथवा रक्षकों से रहित अवस्था में जो द्रव्यहरणादि काम किया जाता है वह और जहाँ हरण करके भी हरण का अस्वीकार किया जाता है वह स्तेय (चोरी) है॥३३२॥

यस् त्वेतान्युपक्लृप्तानि द्रव्याणि स्तेनयेन् नरः।
तमाद्यं दण्डयेद् राजा यश् चाऽग्निं चोरयेद् गृहात् ॥३३३॥

जो मनुष्य संस्कार करके उपभोग करने के लिए तैयार किए गए ऊपर बताए गए सूत्रादि द्रव्यों को चुराए, और जो अग्निगृह से श्रौत अग्नि को अथवा गृह्य अग्नि को चुराए उसको राजा दण्ड के रूप में प्रथम साहस (२५० कार्षापण) देने के लिए बाध्य करे॥३३३॥

येनयेन यथाऽङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते।
तत्तदेव हरेत् तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥३३४॥

चोर जिस-जिस अङ्ग से मनुष्यों में जिस प्रकार से चेष्टा करता है उसको उस अङ्ग से उस प्रकार से फिर चेष्टा करने से रोकने के लिए राजा उसके उस-उस अङ्ग को ही अपहृत करे (कटवाए)॥३३४॥

पिताऽऽचार्यः सुहृन् माता भार्या पुत्रः पुरोहितः।
नाऽदण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥३३५॥

जो अपने धर्म में नहीं रहता है वह पिता हो, आचार्य हो, मित्र हो, माता हो, पत्नी हो, पुत्र हो, पुरोहित हो जो कुछ भी हो राजा के लिए अदण्डनीय नहीं होता है (स्वधर्म में नहीं रहने वाले सब ही राजा के लिए दण्डनीय ही होते हैं)।

विशेष– इस श्लोक से मनुस्मृति का निष्पक्ष न्याय देने में और धर्म की अथवा व्यवस्था की रक्षा में कितना ध्यान है, यह बात स्पष्ट होती है। व्यवस्था बिगाडने के लिए मनुस्मृति किसी को भी छूट नहीं देती है॥३३५॥

कार्षापणं भवेद् दण्ड्यो यत्राऽन्यः प्राकृतो जनः।
तत्र राजा भवेद् दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥३३६॥

जिस अपराध में दूसरा साधारण मनुष्य एक कार्षापण दण्ड देने में योग्य होता है उस अपराध में राजा एक हजार कार्षापण दण्ड देने में योग्य होता है, यह धर्मशास्त्र का सिद्धान्त है।

विशेष– सामान्य जन की अपेक्षा सामन्त राजा को हजार गुना अधिक दण्ड देने की व्यवस्था करने से मनुस्मृति की दण्डव्यवस्था सर्वथा युक्तियुक्त और औचित्यानुसारी होने की बात प्रमाणित होती है॥३३६॥

अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम्।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत् क्षत्रियस्य च ॥३३७॥

ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वाऽपि शतं भवेत्।
द्विगुणा वा चतुःषष्टिस् तद्दोषगुणविद् धि सः ॥३३८॥

चोरी में पढ़े-लिखे (कार्याऽकार्यादिविषयक शास्त्रीय ज्ञान से युक्त) शूद्र को साधारण शूद्र की अपेक्षा से आठगुना दोष (दण्ड) लगता है, पढ़े-लिखे वैश्य को सोलहगुना दोष (दण्ड) लगता है, पढ़े-लिखे क्षत्रिय को बत्तीसगुना दोष (दण्ड) लगता है, पढ़े-लिखे ब्राह्मण को चौसठगुना दोष (दण्ड) लगता है। अथवा ब्राह्मण को पूरा सौगुना दोष (दण्ड) लगता है, अथवा चौसठ का दुगुना (एक-सौ-अट्ठाइसगुना) दोष (दण्ड) लगता है, क्योंकि वह पढ़ा-लिखा शूद्र इत्यादि मनुष्य चोरी के गुण-दोष की अधिकता समझ सकने वाला होता है।

विशेष– इन श्लोकों में चोरी के अपराध में शूद्र की अपेक्षा वैश्यों को और क्षत्रियों को बहुत अधिक दण्ड देने की व्यवस्था की गई है। शूद्र की अपेक्षा ब्राह्मण को तो सोलह गुना ज्यादा दण्ड देने की व्यवस्था दी गई है। अधिक विवेकी जाति ब्राह्मण से किया गया अविवेकपूर्ण कार्य में ब्राह्मण को अविवेकी जाति शूद्र की तुलना में अधिक दण्ड देना उचित ही है। इस से मनु की दण्डव्यवस्था औचित्य को ध्यान में रखकर ही की गई है, यह बात स्पष्ट होती है। इस से मनुस्मृति में अनुचित रूप में वैश्य-शूद्रों के प्रति कड़ाई की गई है, यह कथन निराधार प्रमाणित होता है॥३३७–३३८॥

वानस्पत्यं मूलफलं दार्वग्न्यर्थं तथैव च।
तृणं च गोभ्यो ग्रासार्थमस्तेयं मनुरब्रवीत् ॥३३९॥

विना घेरी हुई वनस्पतियों के मूल को और फल को, उसी प्रकार होम के अग्नि के लिए लकडी को, और गायों को खिलाने के लिए घास को भी लेने को मनु ने अस्तेय (चोरी से भिन्न) कहा।

विशेष– इन वस्तुओं को मनुष्य परकीय भूमि से भी ले सकता है, उसको दण्ड नहीं होता है॥३३९॥

योऽदत्ताऽऽदायिनो हस्ताल् लिप्सेत ब्राह्मणो धनम्।
याजनाऽध्यापनेनाऽपि यथा स्तेनस् तथैव सः ॥३४०॥

जो ब्राह्मण अदत्त परधन को लेने वाले मनुष्य के हाथ से याजन करके अथवा अध्यापन करके भी धन लेना चाहता है (धन लेता है) वह ब्राह्मण भी चोर जैसा दोषी होता है वैसा ही दोषी होता है॥३४०॥

द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर् द्वाविक्षू द्वे च मूलके।
आददानः परक्षेत्रान् न दण्डं दातुमर्हति ॥३४१॥

रास्ते में चलता हुआ ब्राह्मण भोज्य पदार्थ के अभाव से ग्रस्त होने पर दूसरे के खेत से दो गन्ने और दो मूली लेता हुआ दण्ड देने में योग्य नहीं होता है (अदण्डनीय होता है)। [उस से अधिक लेने पर तो दण्डनीय होता ही है] ॥३४१॥

असन्दितानां सन्दाता सन्दितानां च मोक्षकः।
दासा-ऽश्व-रथहर्ता च प्राप्तः स्याच् चौरकिल्बिषम् ॥३४२॥

दूसरे के विना बँधे हुए पशुओं को बाँधने वाला और बाँधे हुए पशुओं को खोल देने वाला तथा दास का, घोडे का और रथ का हरण करने वाला भी चोर का दोष प्राप्त करने वाला होगा॥३४२॥

अनेन विधिना राजा कुर्वाणः स्तेननिग्रहम्।
यशोऽस्मिन् प्राप्नुयाल् लोके प्रेत्य चाऽनुत्तमं सुखम् ॥३४३॥

इस विधि से चोरों का नियन्त्रण करता हुआ राजा इस लोक में यश को प्राप्त करेगा और मरकर भी श्रेष्ठतम सुख को प्राप्त करेगा॥३४३॥

ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर् यशश् चाऽक्षयमव्ययम्।
नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥३४४॥

इन्द्र के पद को तथा कभी क्षीण न होने वाले और कभी नष्ट नहीं होने वाले यश को भी पाने में इच्छुक राजा साहस कर्म करने वाले अपराधी की एक क्षण भी उपेक्षा न करे। [साहसरूप अपराध करने वाले का तुरत नियन्त्रण करे] ॥३४४॥

वाग्दुष्टात् तस्कराच् चैव दण्डेनैव च हिंसतः।
साहसस्य नरः कर्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥३४५॥

साहसरूप अपराध करने वाले मनुष्य को वाणी से दुष्ट मनुष्य से, चोर से और डण्डे से मारने वाले से भी अधिक पापकारी (बडा अपराधी) जानना चाहिए॥३४५॥

साहसे वर्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः।
स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाऽधिगच्छति ॥३४६॥

साहसरूप अपराध कर रहे मनुष्य को जो राजा सहन करता है वह शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होता है, और लोक के विद्वेष को भी प्राप्त करता है॥३४६॥

न मित्रकारणाद् राजा विपुलाद् वा धनाऽऽगमात्।
समुत्सृजेत् साहसिकान् सर्वभूतभयाऽऽवहान् ॥३४७॥

राजा मित्रता के कारण से अथवा धन का बहुत बड़ा राशि प्राप्त होने के कारण से भी सभी प्राणियों को भय देने वाले साहसरूप अपराध करने वाले मनुष्यों को न छोड़े॥३४७॥

शस्त्रं द्विजातिभिर् ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते॥३४८॥
आत्मनश् च परित्राणे दक्षिणानां च सङ्गरे।
स्त्रीविप्राऽभ्युपपत्तौ च घ्नन् धर्मेण न दुष्यति॥३४९॥

जहाँ धर्म पीडित होता है वहाँ और कालविशेष के कारण से हुए द्विजातियों के वर्णों के विप्लव में भी ब्राह्मणों से भी (और वैश्यों से भी) शस्त्र लिया जाना चाहिए॥३४८॥

आत्मरक्षा के लिए, दक्षिणा के विषय में उत्पन्न युद्ध में और स्त्री के तथा ब्राह्मण के उपकार के लिए भी धर्मपूर्वक प्रहार करता हुआ द्विजाति दोषी नहीं होता है (इन अवस्थाओं में दण्ड नहीं किया जाना चाहिए)॥३४९॥

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाऽविचारयन्॥३५०॥

वध करने के लिए तत्पर होकर आ रहे गुरु को अथवा बालक को अथवा वृद्ध को अथवा बहुश्रुत (वेदवेदाङ्गादिविज्ञ) ब्राह्मण को भी विचारणा नहीं करके मारे ही॥३५०॥

नाऽऽततायिवधे दोषो हन्तुर् भवति कश्चन।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस् तं मन्युमृच्छति॥३५१॥

वध करने के लिए तत्पर होकर आ रहे मनुष्य का लोक के समक्ष में अथवा एकान्त में भी वध करने में वध करने वाले का कोई दोष नहीं होता है, वध करने वाले का मन्यु (क्रोध) ही वध किए जाने वाले के मन्यु को विशिष्ट रीति से काट देता है॥३५१॥

परदाराऽभिमर्शेषु प्रवृत्तान् नॄन् महीपतिः।
उद्वेजनकरैर् दण्डैश् चिह्नयित्वा प्रवासयेत्॥३५२॥

राजा परस्त्री के धर्षण में लगे हुए मनुष्यों को उद्वेग उत्पन्न करने वाले दण्डों से चिह्नित कर के (नाक, कान, होंठ इत्यादि कटवाकर) राष्ट्र से बाहर निकाल दे॥३५२॥

तत्समुत्थो हि लोकस्य जायते वर्णसङ्करः।
येन मूलहरोऽधर्मः सर्वनाशाय कल्पते॥३५३॥

परस्त्री के धर्षण से उत्पन्न होने वाला वर्णसाङ्कर्य लोक में बढ जाता है, जिस से धर्म के जड़ को ही ध्वस्त करने वाला अधर्म सम्पूर्ण लोक को नष्ट करने में समर्थ हो जाता है॥३५३॥

परस्य पत्न्या पुरुषः सम्भाषां योजयन् रहः।
पूर्वमाक्षारितो दोषैः प्राप्नुयात् पूर्वसाहसम्॥३५४॥

पहले भी मैथुनसम्बद्ध दोषों से निन्दित मनुष्य दूसरे की पत्नी से एकान्त में बातचीत करता हुआ पूर्वसाहस (२५० कार्षापण) दण्ड प्राप्त करेगा॥३५४॥

यस् त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषेत कारणात्।
न दोषं प्राप्नुयात् किञ्चिन् न हि तस्य व्यतिक्रमः॥३५५॥

पहले मैथुनसम्बद्ध दोषों से अनिन्दित जो मनुष्य उचित कारण से दूसरे की पत्नी से एकान्त में बोलेगा वह कुछ भी दोष नहीं प्राप्त करेगा, उसका कोई मर्यादालङ्घन नहीं है॥३५५॥

परस्त्रियं योऽभिवदेत् तीर्थेऽरण्ये वनेऽपि वा।
नदीनां वाऽपि सम्भेदे स सङ्ग्रहणमाप्नुयात्॥३५६॥

जो मनुष्य केवल पानी लेने के लिए जाने वालों के मार्ग में अथवा गाँव के बाहर लतागुल्मादियुक्त निर्जन प्रदेश में अथवा घने वृक्षों से युक्त वन में अथवा नदीयों के सङ्गम के स्थल में परस्त्री से बोलेगा वह सङ्ग्रहणरूप (परस्त्री के भोग की इच्छा का चिह्नरूप) अपराध का दण्ड प्राप्त करेगा॥३५६॥

उपचारक्रिया केलिः स्पर्शो भूषणवाससाम्।
सह खट्वाऽऽसनं चैव सर्वं सङ्ग्रहणं स्मृतम्॥३५७॥

परस्त्री को माल्यपुष्पादि भेजकर सत्कार करना, परस्त्री से हँसी-मजाक इत्यादि करना, परस्त्री के आभूषणों को अथवा वस्त्रों को छूना और परस्त्री के साथ में एक ही खाट पर बैठना यह सब कार्य सङ्ग्रहण (परस्त्री के भोग की इच्छा का चिह्न) समझा गया है॥३५७॥

स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत् तया।
परस्परस्याऽनुमते सर्वं सङ्ग्रहणं स्मृतम्॥३५८॥

परस्त्री को अस्पर्शनीय अङ्ग में जो छुए, अथवा परस्त्री से अपने अस्पर्शनीय अङ्गों में छुए जाने पर जो चूपचाप सहन करे, परस्पर की अनुमति से किए जाने वाले ऐसे सब कार्य सङ्ग्रहण (परस्त्री के भोग की इच्छा का चिह्न) समझे गए हैं॥३५८॥

अब्राह्मणः सङ्ग्रहणे प्राणाऽन्तं दण्डमर्हति।
चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्ष्यतमाः सदा॥३५९॥

ब्राह्मण से भिन्न पुरुष सङ्ग्रहण रूप अपराध में प्राणान्तरूप (मृत्युरूप) दण्ड पाने में योग्य होता है, क्योंकि चारों वर्णों की स्त्रियाँ सदा सर्वाधिक रूप में रक्षणीय हैं।

विशेष— यहाँ पर कुल्लूकभट्ट का अर्थ अनुचित दिखाई देता है, इसको हम हमारी वैदिकप्रिया संस्कृतव्याख्या में विशेष स्पष्ट करेंगे॥३५९॥

भिक्षुका बन्दिनश् चैव दीक्षिताः कारवस् तथा।
सम्भाषणं सह स्त्रीभिः कुर्युरप्रतिवारिताः॥३६०॥

भिक्षुक लोग, चारण भाट इत्यादि लोग, यज्ञ में दीक्षित लोग (यज्ञ में वृत ऋत्विक् लोग) और कारीगर लोग भी सम्बद्ध जनों से निवारित न होते हुए परस्त्रियों से बातचीत करें॥३६०॥

न सम्भाषां परस्त्रीभिः प्रतिषिद्धः समाचरेत्।
निषिद्धो भाषमाणस् तु सुवर्णं दण्डमर्हति॥३६१॥

मना किया गया पुरुष परस्त्रियों से बातचीत न करे, मना किए जाने पर भी परस्त्री से बोलता हुआ पुरुष तो दण्ड के रूप में एक सुवर्ण (८० रत्ती सोना) देने में योग्य होता है॥३६१॥

नैष चारणदारेषु विधिर् नाऽऽत्मोपजीविषु।
सज्जयन्ति हि ते नारीर् निगूढाश् चारयन्ति च॥३६२॥

यह सम्भाषणनिषेधादिविधि चारणों की स्त्रियों के विषय में लागू नहीं होता है, स्त्री के देह से जीविका करने वालों की स्त्रियों के विषय में भी लागू नहीं होता है, क्योंकि वे अपनी स्त्रियों को परपुरुषों से मिलाते हैं और स्वयम् छिपते हुए स्त्रियों से व्यवहार कराते हैं॥३६२॥

किञ्चिदेव तु दाप्यः स्यात् सम्भाषां ताभिराचरन्।
प्रेष्यासु चैकभक्तासु रहः प्रव्रजितासु च॥३६३॥

एकान्त में चारणस्त्री इत्यादि से, एक पुरुष में नियत दासियों से, और विविध भिक्षुकियों से भी बातचीत करता हुआ पुरुष दण्ड के रूप में थोडा-सा धन देने में बाध्य किया जाना चाहिए॥३६३॥

योऽकामां दूषयेत् कन्यां स सद्यो वधमर्हति।
सकामां दूषयंस् तुल्यो न वधं प्राप्नुयान् नरः॥३६४॥

जो पुरुष सम्भोग की इच्छा से रहित कन्या को सम्भोग से दूषित करता है वह तत्काल वधरूप दण्ड पाने में योग्य होता है। सम्भोग की इच्छा करने वाली कन्या को सम्भोग से दूषित करने वाला कन्या के समान जाति का पुरुष वधरूप दण्ड नहीं पाएगा॥३६४॥

कन्यां भजन्तीमुत्कृष्टं न किञ्चिदपि दापयेत्।
जघन्यं सेवमानां तु संयतां वासयेद् गृहे॥३६५॥

अपने से बडी जाति के पुरुष के साथ सम्भोग करती हुई कन्या को दण्ड के रूप में कुछ भी देने में बाध्य न करे। अपने से छोटे जाति के पुरुष के साथ सम्भोग करती हुई कन्या को तो घर में नियन्त्रित करके रखे॥३६५॥

उत्तमां सेवमानस् तु जघन्यो वधमर्हति।
शुल्कं दद्यात् सेवमानः समामिच्छेत् पिता यदि॥३६६॥

अपने से बडी जाति की कन्या से सम्भोग करता हुआ छोटी जाति का पुरुष वधरूप दण्ड पाने में योग्य होता है। समान जाति की कन्या से सम्भोग करता हुआ पुरुष यदि कन्यापिता चाहता है तो उसको कन्याशुल्क दे [उसी कन्या से विवाह भी करे]॥३६६॥

अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्याद् दर्पेण मानवः।
तस्याऽऽशु कर्त्ये अङ्गुल्यौ दण्डं चाऽर्हति षट्शतम्॥३६७॥

जो मनुष्य अभिमान से बलपूर्वक कन्या की योनि में (अपत्यपथ में) उंगलियों को घुसाकर कन्या को दूषित करता है उसकी दो उंगलियाँ शीघ्र ही काट देनी चाहिए, और वह दण्ड के रूप में छह सौ कार्षापण देने में भी योग्य होता है॥३६७॥

सकामां दूषयंस् तुल्यो नाऽङ्गुलिच्छेदमाप्नुयात्।
द्विशतं तु दमं दाप्यः प्रसङ्गविनिवृत्तये॥३६८॥

वैसी क्रिया को चाहने वाली कन्या की योनि में उंगलियाँ घुसाकर कन्या को दूषित करने वाला कन्या के समान जाति का पुरुष अङ्गुलिच्छेदरूप दण्ड को नहीं

प्राप्त करेगा। उस काम में भविष्य में भी प्रवृत्त होने से रोकने के लिए वह पुरुष दण्ड के रूप में दो सौ कार्षापण देने में बाध्य किया जाना चाहिए॥३६८॥

कन्यैव कन्यां या कुर्यात् तस्याः स्याद् द्विशतो दमः।
शुल्कं च द्विगुणं दद्याच् छिफाश् चैवाऽऽप्नुयाद् दश॥३६९॥

जो कन्या दूसरी कन्या की योनि में उंगलियाँ घुसाकर उसको दूषित करेगी उसको दो सौ कार्षापणों का दण्ड होगा। वह कन्या दूषित कन्या के पिता को कन्या-शुल्क का दुगुना भी दे। वह दूषित करने वाली कन्या कोडे से दश वार की जाने वाली पिटाई भी पाएगी॥३६९॥

या तु कन्यां प्रकुर्यात् स्त्री सा सद्यो मौण्ड्यमर्हति।
अङ्गुल्योरेव वा छेदं खरेणोद्वहनं तथा॥३७०॥

जो विवाहिता स्त्री कन्या की योनि में उंगलियाँ घुसाकर कन्या को दूषित करती है वह तत्काल शिरोमुण्डन के लिए योग्य होती है, अथवा उंगलियों के छेदन के लिए योग्य होती है अथवा गधे द्वारा ढुलवाकर नगरपरिक्रमा कराए जाने के लिए योग्य होती है॥३७०॥

भर्तारं लङ्घयेद् या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता।
तां श्वभिः खादयेद् राजा संस्थाने बहुसंस्थिते॥३७१॥

जो स्त्री अपने पिता इत्यादि मायके वालों के (पीहर वालों के) कारण से अथवा अपने गुणों के कारण से दर्पित (अभिमान करने वाली) होकर अपने पति का लङ्घन (जारसेवन) करती है उसको राजा बहुत लोगों से युक्त स्थल में (लोगों के समक्ष में) कुत्तों से कटवाए॥३७१॥

पुमांसं दाहयेत् पापं शयने तप्त आयसे।
अभ्यादध्युश् च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत्॥३७२॥

जार होकर परस्त्री का भोग करने वाले पापी पुरुष को राजा लोहे के जलते हुए खाट पर सुलाकर दग्ध करे, उस पर जल्लाद लोग सुखी लकडियाँ भी रख दें, वह पाप करने वाला वहाँ जले॥३७२॥

संवत्सराऽभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः।
व्रात्यया सह संवासे चाण्डाल्या तावदेव तु॥३७३॥

पहले भी उस स्त्री से मैथुन करने के दोष से निन्दित पुरुष का एक वर्ष बीतने पर फिर उसी दोष से दूषित होने पर उसको पूर्वोक्त दण्ड से दुगुना दण्ड होगा।

व्रात्यस्त्री से सम्भोग करने पर चाण्डाली से सम्भोग करने में जितना दण्ड होता है (मनु.८।३८५) उतना हो दण्ड होगा॥३७३॥

शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन्।
अगुप्तमङ्गसर्वस्वैर् गुप्तं सर्वेण हीयते॥३७४॥

पति इत्यादि द्वारा सुरक्षित अथवा असुरक्षित ब्राह्मणी स्त्री से सम्भोग करता हुआ शूद्र यदि असुरक्षित ब्राह्मणी स्त्री से सम्भोग करता है तो अङ्ग से (लिङ्ग से) और सर्वस्व से हीन किया जाता है, यदि सुरक्षित ब्राह्मणी स्त्री से सम्भोग करता है तो सम्पूर्ण शरीर से और सर्वस्व से हीन किया जाता है। [जान से मारा जाता है और उसका सर्वस्वहरण भी किया जाता है]॥३७४॥

वैश्यः सर्वस्वदण्डः स्यात् संवत्सरनिरोधतः।
सहस्रं क्षत्रियो दण्ड्यो मौण्ड्यं मूत्रेण चाऽर्हति॥३७५॥

सुरक्षित ब्राह्मणी स्त्री से सम्भोग करता हुआ वैश्य एक वर्ष तक कारागार में रखने के बाद सर्वस्वहरणरूप दण्ड पाने वाला होगा। सुरक्षित ब्राह्मणी स्त्री से सम्भोग करता हुआ क्षत्रिय दण्ड रूप में एक हजार कार्षापण देने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए। वह गधे के मूत्र से शिर भिगोकर शिर मुडवाने में भी योग्य होता है॥३७५॥

ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ।
वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात् क्षत्रियं तु सहस्रिणम्॥३७६॥

पति पिता इत्यादि द्वारा अरक्षित (गुणहीन, जातिमात्र) ब्राह्मणी से यदि वैश्य और क्षत्रिय सम्भोग करते हैं तो दण्ड के रूप में वैश्य को पाँच सौ कार्षापण देने वाला और क्षत्रिय को एक हजार कार्षापण देने वाला करे।

विशेष— अरक्षित ब्राह्मणी में गमन करने में वैश्य से क्षत्रिय को अधिक दण्ड देने की व्यवस्था करने से मनुस्मृति की दण्डव्यवस्था औचित्यानुसारी होने की बात पुष्ट होती है॥३७६॥

उभावपि तु तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह।
विप्लुतौ शूद्रवद् दण्ड्यौ दग्धव्यौ वा कटाऽग्निना॥३७७॥

सुरक्षित (गुणयुक्त) ब्राह्मणी से मैथुनसंसर्ग में चिरकाल से पड़े हुए वे क्षत्रिय वैश्य दोनों ही शूद्र की तरह ही दण्डनीय होते हैं, अथवा वे दोनों चटाई में लपेटकर चटाई में आग सुलगाकर जलाने में योग्य होते हैं।

विशेष— रक्षित ब्राह्मणी में गमन करने में केवल वैश्य को ही नहीं, क्षत्रिय को भी शूद्रतुल्य रूप में कठोर दण्ड देने की व्यवस्था करने से मनुस्मृति की दण्डव्यवस्था युक्तियुक्त, औचित्यपूर्ण और पक्षपातरहित प्रमाणित होती है॥३७७॥

सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां विप्रां बलाद् व्रजन्।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादिच्छन्त्या सह सङ्गतः ॥३७८॥

सुरक्षित परस्त्री ब्राह्मणी से बलपूर्वक सम्भोग करने वाला ब्राह्मण दण्ड के रूप में एक हजार कार्षापण देने में बाध्य किया जाना चाहिए। सम्भोग की इच्छा करती हुई परस्त्री ब्राह्मणी से सम्भोग करने वाला ब्राह्मण दण्ड के रूप में पाँच सौ कार्षापण देने में बाध्य किया जाना चाहिए॥३७८॥

मौण्ड्यं प्राणाऽन्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते।
इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणाऽन्तिको भवेत् ॥३७९॥

ब्राह्मण को शिरोमुण्डन ही मृत्युदण्डस्थानापन्न दण्ड धर्मशास्त्र में विहित किया जाता है। अन्य वर्णों को तो अपराध के अनुसार मृत्युदण्डरूप दण्ड भी होगा।

विशेष— इस विषय में इसी अध्याय के १२४ वें श्लोक में दी गई विशेष टिप्पणी देखिए॥३७९॥

न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात् समग्रधनमक्षतम् ॥३८०॥

सभी प्रकार के पापों में लिप्त होने पर भी ब्राह्मण को कभी भी न मारे (मृत्युदण्ड न दे)। इसको (ब्राह्मण को) बड़ा अपराध करने पर शारीरदण्ड से रहित और समग्र धन से युक्त रूप में राजा अपने राष्ट्र से बाहर निकाल दे॥३८०॥

न ब्राह्मणवधाद् भूयानधर्मो विद्यते भुवि।
तस्मादस्य वधं राजा मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥३८१॥

ब्राह्मण के वध से बडा अधर्म भूलोक में कोई नहीं है। इस लिए राजा इसके (ब्राह्मण के) वध की मन से भी कल्पना न करे॥३८१॥

वैश्यश् चेत् क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो व्रजेत्।
यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः ॥३८२॥

यदि वैश्य सुरक्षित (गुणहीन) क्षत्रिय परस्त्री से मैथुन करे और क्षत्रिय सुरक्षित (गुणवती) वैश्यजातीय परस्त्री से मैथुन करे तो वे दोनों असुरक्षित ब्राह्मणी से मैथुन

करने में उनके लिए जो दण्ड विहित है (मनु.८।३७६) उसी दण्ड को प्राप्त करने में योग्य होते हैं॥३८२॥

सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन्।
शूद्रायां क्षत्रियविशोः साहस्रो वै भवेद् दमः ॥३८३॥

सुरक्षित वैश्यजातीय परस्त्री से अथवा सुरक्षित क्षत्रियजातीय परस्त्री से मैथुन करता हुआ ब्राह्मण दण्ड के रूप में एक हजार कार्षापण देने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए। सुरक्षित शूद्रजातीय परस्त्री से मैथुन करते हुए क्षत्रिय को और वैश्य को एक हजार कार्षापणों का दण्ड होगा॥३८३॥

क्षत्रियायामगुप्तायां वैश्ये पञ्चशतं दमः।
मूत्रेण मौण्ड्यमृच्छेत् तु क्षत्रियो दण्डमेव वा ॥३८४॥

असुरक्षित क्षत्रियजातीय परस्त्री में मैथुन करने वाले वैश्य में पाँच सौ कार्षापणों का दण्ड होगा। असुरक्षित क्षत्रियजातीय परस्त्री से मैथुन करने पर क्षत्रिय गधे के मूत से शिर भिगोकर शिर मुडवाने का दण्ड पाएगा अथवा पाँच सौ कार्षापणों का दण्ड पाएगा॥३८४॥

अगुप्ते क्षत्रियावैश्ये शूद्रां वा ब्राह्मणो व्रजन्।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यात् सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम् ॥३८५॥

असुरक्षित क्षत्रियजातीय परस्त्री से अथवा असुरक्षित वैश्यजातीय परस्त्री से अथवा असुरक्षित शूद्रजातीय परस्त्री से मैथुन करता हुआ ब्राह्मण दण्ड के रूप में पाँच सौ कार्षापण देने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए। असुरक्षित चाण्डालादि अन्त्यजजातीय परस्त्री से मैथुन करता हुआ ब्राह्मण दण्ड के रूप में एक हजार कार्षापण देने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए॥३८५॥

यस्य स्तेनः पुरे नाऽस्ति नाऽन्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्।
न साहसिक-दण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक् ॥३८६॥

जिस राजा के राष्ट्र में चोर नहीं है, परस्त्री से सम्भोग करने वाला नहीं है, वाक्पारुष्यरूप अपराध करने वाला (गाली देने वाला) नहीं है, साहसरूप (डकैती इत्यादि) अपराध करने वाला नहीं है और दण्डपारुष्यरूप (मारपीट इत्यादि) अपराध करने वाला भी नहीं है वह राजा इन्द्रलोक प्राप्त करने वाला होता है।

विशेष— जिस के राज्य में चोर नहीं होता है, कदर्य नहीं होता है, मद्यपान करने वाला नहीं होता है, अनाहिताग्नि नहीं होता है, अविद्वान् नहीं होता है, परस्त्री में जाने वाला पुरुष और परपुरुष में जाने वाली स्त्री भी नहीं होते हैं, ऐसा राजा श्रेष्ठ

होता है, ऐसा सङ्केत छान्दोग्योपनिषद् के "न मे स्तेनो जनपदे" इत्यादि वचन में (५।११।५) भी प्राप्त होता है॥३८६॥

एतेषां निग्रहो राज्ञः पञ्चानां विषये स्वके।
साम्राज्यकृत् सजात्येषु लोके चैव यशस्करः ॥३८७॥

अपने शासनक्षेत्र में इन पाँच प्रकार के अपराधियों का पूर्ण नियन्त्रण राजा का समानजातीय राजाओं में साम्राज्य स्थापित करने वाला और लोक में यश बढ़ाने वाला भी होता है॥३८७॥

ऋत्विजं यस् त्यजेद् याज्यो याज्यं चर्त्विक् त्यजेद् यदि।
शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर् दण्डः शतंशतम् ॥३८८॥

जो यजमान याजन करने में समर्थ और महापातकादि बड़े पातक से अदूषित ऋत्विक् का त्याग करता है और जो ऋत्विक् यज्ञ करने में समर्थ और महापातकादि बड़े पातक से अदूषित याज्य का (यजमान का) त्याग करता है उनको दण्ड के रूप में सौ-सौ कार्षापण देने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए॥३८८॥

न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस् त्यागमर्हति।
त्यजन्नपतितानेतान् राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥३८९॥

माता त्याग के लिए योग्य नहीं होती है, पिता भी त्याग के लिए योग्य नहीं होता है, पत्नी भी त्याग के लिए योग्य नहीं होती है, पुत्र भी त्याग के लिए योग्य नहीं होता है। अपतित इन का त्याग करते हुए मनुष्य को राजा से छह सौ कार्षापणों का दण्ड किया जाना चाहिए॥३८९॥

आश्रमेषु द्विजातीनां कार्ये विवदतां मिथः।
न विब्रूयान् नृपो धर्मं चिकीर्षन् हितमात्मनः ॥३९०॥

अपना हित करने की इच्छा करने वाला राजा आश्रमों के कार्य के विषय में परस्पर में विवाद करते हुए ब्राह्मणों को देखकर वहाँ धर्म को निर्णीत रूप में न बोले॥३९०॥

यथाऽर्हमेतानभ्यर्च्य ब्राह्मणैः सह पार्थिवः।
सान्त्वेन प्रशमय्याऽऽदौ स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥३९१॥

ब्राह्मणों के साथ में रहता हुआ राजा विवाद करते हुए इन ब्राह्मणों का यथोचित सत्कार करके पहले समझा बूझाकर शान्त करके उनका अपना धर्म समझाए॥३९१॥

प्रातिवेश्याऽनुवेश्यौ च कल्याणे विंशतिद्विजे।
अर्हावभोजयन् विप्रो दण्डमर्हति माषकम्॥३९२॥

बीस ब्राह्मणों को भोजन कराए जाने वाले उत्सव में योग्य प्रतिवेशी (अपने गृह के सामने की गृहपङ्क्ति के गृह के) ब्राह्मण को और योग्य अनुवेशी (अपने गृह के गृहपङ्क्ति के गृह के) ब्राह्मण को भोजन न कराने वाला ब्राह्मण दण्ड के रूप में एक मासा चाँदी देने में योग्य होता है॥३९२॥

श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुं भूतिकृत्येष्वभोजयन्।
तदन्नं द्विगुणं दाप्यो हिरण्यं चैव माषकम्॥३९३॥

वेद पढ़ने वाले सत्पुरुष प्रतिवेशी अथवा अनुवेशी ब्राह्मण को विवाहादि आभ्युदयिक उत्सवों में भोजन नहीं कराने वाला वेद पढ़ने वाला ब्राह्मण उस ब्राह्मणभोजन का दुगुना अन्न और एक मासा सोना भी दण्ड के रूप में देने के लिए राजा से बाध्य किया जाना चाहिए॥३९३॥

अन्धो जडः पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश् च यः।
श्रोत्रियेषूपकुर्वंश् च न दाप्याः केनचित् करम्॥३९४॥

अन्धा, जड (बालबुद्धि), पङ्गु और जो सत्तर वर्षों से अधिक वर्षों का बूढ़ा है वह तथा वेद पढ़ने वाले ब्राह्मणों का उपकारक मनुष्य भी किसी से भी कर देने के लिए बाध्य नहीं किए जाने चाहिए॥३९४॥

श्रोत्रियं व्याधिताऽऽर्तौ च बालवृद्धावकिञ्चनम्।
महाकुलीनमार्यं च राजा सम्पूजयेत् सदा॥३९५॥

राजा वेद पढ़ने वाले ब्राह्मण का, दीर्घरोगी का, रोग-शोकादि से पीडित का, बालक का, वृद्ध का, धन से सर्वथा रहित मनुष्य का, बड़े कुल के मनुष्य का और चरित्रशाली सज्जन का भी सर्वदा सत्कार-उपकार करे॥३९५॥

शाल्मलीफलके श्लक्ष्णे नेनिज्यान् नेजकः शनैः।
न च वासांसि वासोभिर् निर्हरेन् न च वासयेत्॥३९६॥

वस्त्र धोने वाला शिल्पी (धोबी) वस्त्रों को सेमल की लकड़ी के बने हुए चिकने तख्ते पर धीरे-धीरे धोए, एक के वस्त्रों को दूसरे के वस्त्रों को देकर हरण न करे (न बदल दे) और एक के वस्त्रों को दूसरों को कुछ काल के लिए पहनने के लिए भी न दे॥३९६॥

तन्तुवायो दशपलं दद्यादेकपलाऽधिकम्।
अतोऽन्यथा वर्तमानो दाप्यो द्वादशकं दमम्॥३९७॥

कपड़ा बुनने वाला दश पल सूत लेकर एक पल अधिक (ग्यारह पल) कपड़ा दे। इस से भिन्न रीति से व्यवहार करता हुआ कपड़ा बुनने वाला बारह कार्षापणों का दण्ड देने में बाध्य किया जाना चाहिए।

विशेष– कपडा बुनने वाला बुनने में सुविधा के लिए सूत में माँड मिलाता है। इस लिए कपड़े का तौल सूत से ज्यादा होता है। इस से कितने सूत में कितना माँड मिलाना चाहिए, यह व्यवस्था दी गई है॥३९७॥

शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः।
कुर्युरर्घं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेत्॥३९८॥

सभी प्रकार के पण्यद्रव्यों का विवेचन कर सकने वाले कुशल लोग जलमार्ग-स्थलमार्गादि के शुल्कशालाओं में पण्यवस्तु के अनुसार वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करें, उस निर्धारित मूल्य का बीसवाँ भाग राजा शुल्क के रूप में प्राप्त करे॥३९८॥

राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च।
तानि निर्हरतो लोभात् सर्वहारं हरेन् नृपः॥३९९॥

राजा से ही विक्रेय पदार्थ के रूप में प्रसिद्ध पदार्थों को और जो पदार्थ राजा से निर्यात के लिए निषिद्ध हैं उनको भी लोभ से स्वदेश से बाहर विक्रय के लिए ले जाते हुए व्यापारी के उस सम्पूर्ण भाण्ड को (पदार्थ को) राजा हरण करे॥३९९॥

शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी।
मिथ्यावादी च सङ्ख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम्॥४००॥

शुल्कशाला के रास्ते को छोड़कर दूसरे रास्ते से सौदा ले जाने वाला, असमय में (रात में) क्रय-विक्रय करने वाला, सङ्ख्या में असत्य (विक्रेय द्रव्य की सङ्ख्या कम) बोलने वाला भी शुल्क के रूप में न्याय्य रूप से देने योग्य धन का आठगुना धन दण्ड के रूप में देने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए॥४००॥

आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ।
विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत् क्रयविक्रयौ॥४०१॥

राजा वस्तु के आयात को, निर्यात को, विक्रय के लिए लगने वाले समय को, मूल्य की वृद्धि को (लाभ को) और उसके विक्रय में होने वाले व्यय को भी विचार में रखकर सभी वस्तुओं का समुचित मूल्य में क्रय-विक्रय करावे॥४०१॥

पञ्चरात्रेपञ्चरात्रे पक्षेपक्षेऽथवा गते।
कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः॥४०२॥

पाँच-पाँच दिन बीतने पर अथवा पक्ष-पक्ष (पन्द्रह-पन्द्रह दिन) बीतने पर राजा इन व्यापारियों के समक्ष में (विचार-विमर्श करके) वस्तुओं के मूल्यों का निर्धारण करे।

विशेष— पञ्चरात्रे-पञ्चरात्रे इत्यादि कालावधिविधान वैदिकों के लौकिक व्यवहार में भी चान्द्रमान का ही प्रचलन रहने की बात को सूचित करता है। मौर्य-काल के ग्रन्थ कौटलीय अर्थशास्त्र में भी पक्ष से छोटा कालविभाग पञ्चरात्र है (२।७)। उस समय में भी भारतवर्ष में ७ वारों का और सप्ताह का लोकव्यवहार में प्रयोग न होने की बात अवगत होती है॥४०२॥

तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात् सुलक्षितम्।
षट्सुषट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत्॥४०३॥

तुला, प्रस्थ-द्रोणादि मानभाण्ड, तराजू के प्रतीमान (बटवारा, बाँट) सभी अच्छी तरह राजचिह्न से चिह्नित होवें। छह-छह महीनों में उनका फिर परीक्षण करावे॥४०३॥

पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्धपणं तरे।
पादं पशुश् च योषिच् च पादाऽर्धं रिक्तकः पुमान्॥४०४॥

नाव से पार करने में खाली गाड़ी एक कार्षापण शुल्क देने में बाध्य की जानी चाहिए, नाव से पार करने में पुरुष से ढोने योग्य बोझ आधा कार्षापण शुल्क देने में बाध्य किया जाना चाहिए, पशु और स्त्री प्रत्येक चौथाई कार्षापण शुल्क देने में बाध्य किए जाने चाहिए, भाररहित पुरुष चौथाई कार्षापण का आधा शुल्क देने में बाध्य किया जाना चाहिए॥४०४॥

भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः।
रिक्तभाण्डानि यत्किञ्चित् पुमांसश् चाऽपरिच्छदाः॥४०५॥

विक्रेय वस्तु से पूर्ण गाड़ियाँ उनकी वस्तु के मूल्य के अनुसार तरणशुल्क देने में बाध्य की जानी चाहिए। खाली बोरा आदि भाण्ड जो कुछ हो थोडा शुल्क देने में बाध्य किए जाने चाहिए। उपकरण से रहित दरिद्र मनुष्य भी जो कुछ हो थोडा ही शुल्क देने में बाध्य किए जाने चाहिए॥४०५॥

दीर्घाऽध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत्।
नदीतीरेषु तद् विद्यात् समुद्रे नाऽस्ति लक्षणम्॥४०६॥

नदी मार्ग में दूर तक जाने के लिए देश के अनुसार और काल के अनुसार तरणशुल्क होगा। यह शुल्क व्यवस्था नदी के तीर के लिए है, समुद्र में तरणशुल्क की व्यवस्था (निश्चित) नहीं है॥४०६॥

गर्भिणी तु द्विमासादिस् तथा प्रव्रजितो मुनिः।
ब्राह्मणा लिङ्गिनश् चैव न दाप्यास् तारिकं तरे॥४०७॥

दो मास से अधिक समय के गर्भ से युक्त स्त्री और सन्यासी, वानप्रस्थ, ब्राह्मण तथा ब्रह्मचारी लोग भी नाव से पार करने में तरणशुल्क देने में बाध्य नहीं किए जाने चाहिए॥४०७॥

यन् नावि किञ्चिद् दाशानां विशीर्येताऽपराधतः।
तद् दाशैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोऽंशतः॥४०८॥

जो मल्लाहों के दोष से नाव में द्रव्य नष्ट होगा वह मल्लाहों से ही मिलकर अपने-अपने भाग में से दिया जाना चाहिए॥४०८॥

एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः।
दाशाऽपराधतस् तोये दैविके नाऽस्ति निग्रहः॥४०९॥

मल्लाहों के दोष से पानी में द्रव्य नष्ट होने पर नाव में सवार होने वालों में उत्पन्न होने वाले विवादपद का यह निर्णय बताया गया है, दैवगति से (नाव डूब जाने से) नाव में द्रव्य की अथवा प्राणी की क्षति होने पर मल्लाहों को कोई दण्ड नहीं होता है॥४०९॥

वाणिज्यं कारयेद् वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च।
पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम्॥४१०॥

राजा वैश्य से क्रयविक्रय (व्यापार), व्याज में धन लगाने का काम, खेती और पशुपालन करवाए। राजा शूद्र से द्विजाति का दास्य करवाए॥४१०॥

क्षत्रियं चैव वैश्यं च ब्राह्मणो वृत्तिकर्शितौ।
बिभृयादानृशंस्येन स्वानि कर्माणि कारयन्॥४११॥

जीविका के अभाव से पीडित क्षत्रिय को और वैश्य को धनयुक्त ब्राह्मण करुणापूर्वक अपना काम करवाता हुआ पोषित करे॥४११॥

दास्यं तु कारयल्ँ लोभाद् ब्राह्मणः संस्कृतान् द्विजान्।
अनिच्छतः प्राभवत्याद् राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट्॥४१२॥

लोभ से और अपनी प्रभुता के कारण से दासकर्म करने में अनिच्छुक संस्कृत (उपनयन किए गए) द्विजातियों को विवश बनाकर दासकर्म करवाता हुआ ब्राह्मण तो राजा से दण्ड के रूप में छह सौ कार्षापण देने में बाध्य किया जाना चाहिए॥४१२॥

शूद्रं तु कारयेद् दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा।
दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयम्भुवा॥४१३॥

खरीदे गए और नहीं खरीदे गए भी शूद्र को तो दासकर्म करवाए क्योंकि वह ब्रह्मा जी से ब्राह्मण का दास्य करने के लिए ही उत्पादित है।

विशेष– शूद्र शब्द से यहाँ पर जन्मजात रूप से अनुद्बुद्ध, खाना-पीना और छोटा-मोटा लौकिक इन्द्रियसुखभोग करना इतने में ही सीमित और दूसरे के संरक्षण में अपने को सुरक्षित मानने वाले मनुष्य को लिया गया है। उस प्रकार का मनुष्य यदि दासकर्म को स्वीकार करता है तो उस से दासकर्म कराया जा सकता है, क्योंकि विधाता ने अथवा प्रकृति ने उसको दासकर्म करने के लिए योग्य रूप में जन्म दिया है, इतना ही इस श्लोक का भाव है। **"कारयेत्"** पद से 'जो स्वयम् करता है उसको करने में प्रेरणा करे' इतना ही अर्थ आता है। 'अनिच्छुक को भी जोर-जुलुम करके करने में बाध्य करे' ऐसा अर्थ नहीं आता है। यह बात **"दास्यं तु कारयलँ लोभात्"** इत्यादि (मनु.८।४१२) श्लोक के प्रसङ्ग में **"शूद्रं तु कारयेत्"** इत्यादि श्लोक रखे जाने से स्पष्ट होती है। अतः अङ्ग्रेजों से निकटभूतकाल में अफ्रिका के हब्सियों को बलात् पकड-पकडके जहाजों में ठूँस-ठूँस करके बेलायत में पहुँचाकर खरीद-बिक्री करके उनको जैसी क्रूरता और अन्याय से दासकर्म करने में बाध्य कराया गया था वैसी क्रूरता और अन्याय की बात यहाँ पर नहीं है। यहाँ पर तो दासकर्म करने में भी जो प्रसन्न होकर ही प्रवृत्त होता है उस से दासकर्म कराने में अनौचित्य का अभाव ही बताया गया है। इस लिए इस वचन को लेकर मनुस्मृति की निन्दा करना अविवेकपूर्ण काम है॥४१३॥

न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद् विमुच्यते।
निसर्गजं हि तत् तस्य कस् तस्मात् तदपोहति॥४१४॥

स्वामी से मुक्त किया गया शूद्र भी दासकर्म से मुक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि दास्य उसका स्वभावसिद्ध है, उस से उसका स्वभावसिद्ध दास्य कौन हटा सकता है।

विशेष– यहाँ पर "निसर्गजं हि तत् तस्य" इस अंश में विशेष ध्यान देना चाहिए। जो प्रकृति से ही जन्मजात रूप में दास्य के लिए तत्पर और अनुकूल स्वभाव को लेकर जन्म लिया है उसके उस स्वभाव को कौन मिटा सकता है? कोई नहीं, यह इस अंश का अर्थ है। वस्तुतः आजकल ब्राह्मणकुल में जन्म पाने वाले भी

अधिकतर लोग स्वतन्त्रता के महत्त्व को भूलकर नौकरी के लिए लालायित दिखे जाते हैं, अपने धर्मरूप और मोक्षरूप पुरुषार्थ को भूलकर केवल अर्थकामपरायणता की ओर दौड रहे दिखाई देते हैं। अतः यह दास्यकर्म का अनुकूल भाव प्राणियों में बहुत व्यापक है। संस्कार से और शिक्षा से इस भाव को हटाकर द्विजत्व का उन्मीलन (प्रकटीकरण) और दार्ढ्य (दृढता) कराने की व्यवस्था ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों के लिए शास्त्र ने की है। यह अनादि परम्परा से चला आया प्रयत्न ठीक प्रकार से नहीं किए जाने से आजकल दास्यभाव ही सुलभ और द्विजभाव दुर्लभ होता जा रहा है। अतः 'शूद्रों में प्राकृतरूप से ही दासता का भाव विद्यमान होता है' ऐसा शाश्वत सत्य कहने वाली स्मृति की आलोचना विवेकहीन मनुष्य ही कर सकता है॥४१४॥

ध्वजाऽऽहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्त्रिमौ।
पैत्रिको दण्डदासश् च सप्तैते दासयोनयः ॥४१५॥

१. पराजित राजा से उसके ध्वज के साथ लाया गया दास, २. भात खाने के लिए स्वयम् दास्य स्वीकार करने वाला दास, ३. अपने घर में परम्परा से रहते आए दास से उत्पन्न दास, ४. खरीदा हुआ दास, ५. दान में दिया गया दास, ६. पिता के समय से रहता आया दास, ७. राजा से दण्डित करके बनाया गया दास, ये सात दास की प्रकृतियाँ (उत्पत्तिस्थान अथवा उत्पत्तिनिमित्त) हैं।

विशेष– दासों के ध्वजाहृत इत्यादि ७ प्रकार शास्त्र से अथवा शास्त्रकार मनु से बनाए गए नहीं है। अनादि परम्परा से सिद्ध प्रकारों का केवल उल्लेख ही शास्त्र में किया गया है। इस लिए मनु को दासप्रथा का सर्जक मानना अविवेकपूर्ण कार्य है। दण्डदास तो ब्राह्मण भी सन्न्यास लेकर फिर गृहस्थाश्रम में लौटने पर अथवा मैथुनसेवनादि से पतित होने पर शासक की दासता में प्राप्त होने से हो जाता है। अतः शूद्र के ऊपर ही दासभाव थोपा जाता है, यह बात नहीं है। क्षत्रिय-वैश्य भी स्वेच्छा से तो ब्राह्मण के दास हो सकते ही हैं। अतः इस विषय में शास्त्रव्यवस्था को अच्छी तरह समझकर ही बात करनी चाहिए। मनमाना बोलकर और लिखकर भ्रम नहीं फैलाना चाहिए और द्विजातियों में और शूद्रों में विद्वेष बढाकर हमारे भारतवर्षीय समाज में विखण्डन लाने के पाश्चात्त्य लोगों के षड्यन्त्र में नहीं फसना चाहिए॥४१५॥

भार्या पुत्त्रश् च दासश् च त्रय एवाऽधनाः स्मृताः।
यत् ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद् धनम्॥४१६॥

पत्नी, पुत्त्र और दास, ये तीनों ही अपने धन से रहित होते हैं, वे जो धन प्राप्त करते हैं वह वे जिस के हैं उसी का होता है।

विशेष– इस श्लोक में कुटुम्ब में (परिवार में) धन का स्वामित्व किस का होगा, यह बताया गया है। यहाँ पर पुत्त्र को और पत्नी को भी स्वतन्त्र धनस्वामित्व

से रहित माना जाना बताया गया है। इस लिए इस श्लोक के सम्बन्ध में दास में अन्याय करने की बात नहीं की जा सकती है॥४१६॥

विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद् द्रव्योपादानमाचरेत्।
न हि तस्याऽस्ति किञ्चित् स्वं भर्तृहार्यधनो हि सः॥४१७॥

[आवश्यकता पड़ने पर] ब्राह्मण सन्देह को छोडकर दास शूद्र से द्रव्य का ग्रहण करे, क्योंकि उसका कोई धन नहीं है, वह स्वामी से लिए जाने योग्य धन से ही युक्त होता है।

विशेष— प्रकरण से यह वचन साधारण शूद्र को लेकर नहीं है, दास शूद्र को लेकर है, यह बात स्पष्ट है। दास के रूप में अपने को समर्पित करने वाले शूद्र की कमाई स्वामी की होना स्वाभाविक ही है। इस श्लोक को लेकर मनुस्मृति को दोष देना अविवेकपूर्ण कार्य है। आज भी पूँजीपतियों से वेतनभोगी मजदूरों के परिश्रम से उपार्जित लाभ में से अत्यधिक लाभ को अपने हाथों में लेकर अधिक धनवान् हो ही रहे हैं। इस प्रकार मजदूरों के परिश्रम के फल को हड़पा ही जा रहा है। इसमें और अपने से पालित दास से उपार्जित धन को लेने में बहुत अन्तर नहीं है। इस प्रकार के दासभावयुक्त शूद्र के और उसके पत्नी-पुत्रों के भरण-पोषण की जिम्मेदारी स्वामी ब्राह्मण के ऊपर ही होती है। अतः ऐसे शूद्र की धनाभावकृत निर्वृत्तिकता का प्रश्न ही नहीं उठता है। इसमें आलोचक लोग क्यों ध्यान नहीं देते हैं॥४१७॥

वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत्।
तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत्॥४१८॥

राजा वैश्य से और शूद्र से प्रयत्नपूर्वक अपना-अपना काम करवाए, क्योंकि अपने काम से विमुख होते हुए वे इस जगत् को क्षुब्ध (विचलित) कर सकते हैं।

विशेष— इस वचन को लेकर भारत के स्वतन्त्रतासङ्ग्राम के समय में १९४४ क्रैस्ताब्द में भारतीय जनता में फूट डालने के लिए ग्रन्थ लिखने वाले परप्रेरित रजनीकान्त ने "हिन्दू जाति का उत्थान और पतन" नाम के ग्रन्थ में (पृ.१७२) कहा है कि—

"मनु की बदनीयत और भी स्पष्ट हो जाती है तब वे राजाओं को निम्नलिखित श्लोक के द्वारा वैश्यों और शूद्रों को अपने-अपने कर्म में सदा जुटाए रखने का आदेश देते हैं- "वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत्। तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत्" (मनु.८।४१८)। अर्थ- राजा को चाहिए कि वैश्यों और शूद्रों को अपने-अपने कर्मों में यत्नपूर्वक लगाए रहे, अर्थात् उन से अपना-अपना कर्म करवाता रहे, क्योंकि यदि ये अपने-अपने कर्मों से भ्रष्ट होंगे, अर्थात् उन्हे छोड़देंगे, तो ये जगत को व्याकुल कर देंगे।"

इस श्लोक को दिखाकर मनु में बदनीयत का आरोप करने का रजनीकान्त का उक्त काम अत्यन्त अविवेकपूर्ण है। राष्ट्र में जीविका के साधन वैश्यकर्म से और शूद्रकर्म से ही उत्पादित होते हैं। यह शाश्वत बात है। अब भी भूमण्डल में देखिए वैश्यकर्म और शूद्रकर्म के विना कौन राष्ट्र टिक सकता है? जब वैश्यकर्म और शूद्र-कर्म प्राथमिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए अत्यावश्यक हैं, तब राष्ट्र में उस कर्म को सुचारु रूप में चलाने की व्यवस्था मिलाना राष्ट्रप्रमुख का अत्यावश्यक कर्तव्य ही है। आज के विकसित कहे जाने वाले सभी राष्ट्र किसानों को अनुदान देदेकर उनको कृषिकर्म में संलग्न कराने में लगे ही हैं। उद्योगों को संरक्षण देदेकर उद्योगियों को वैश्यकर्म में यत्नपूर्वक प्रवृत्त करा ही रहे हैं। यह तो राष्ट्र का अथवा राष्ट्रप्रमुख का शाश्वत धर्म है। मनुस्मृति में इसी शाश्वत धर्म की पालना करने में राजा को प्रेरित किया गया है। इसमें मनु कि राष्ट्रकल्याणकामिता ही स्पष्ट होती है। इसमें बदनीयत दिखाने का रजनीकान्त का प्रयत्न ही बदनीयतपूर्ण है। भारतवर्षीय ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रों में परस्पर में विद्वेष फैलाकर और फूट डालकर भारतवर्ष में अङ्ग्रेजों का साम्राज्य टिकाने में सहयोग पहुँचाने के लिए ही रजनीकान्त ने भारतवर्षीय मौलिक चातुर्वर्ण्यव्यवस्था में और शास्त्रव्यवस्था में अनेक काल्पनिक दोष थोपने का प्रयास किया है। इस विषय में पाठकों को अच्छी तरह विवेक करना चाहिए। ऐसे विषयों को हम ने वैदिक धर्म के सर्वाङ्गीण प्रामाणिक परिचय देने के लिए लिखे गए **'वैदिक धर्म मूल रूपमा'** नाम के नेपाली भाषा में लिखे गए ग्रन्थ के उपोद्घात में सप्रमाण युक्तिपूर्वक स्पष्ट किया है॥४१८॥

अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान् वाहनानि च।
आयव्ययौ च नियतावाकरान् कोशमेव च॥४१९॥

राजा दिन पर दिन कृषि, शुल्क इत्यादि कर्म के स्थानों का, वाहनों का, नियमित आयों का और व्ययों का, खानों का और कोष का (खजाने का) भी अवलोकन करे॥४१९॥

एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान् समापयन्।
व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम्॥४२०॥

॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायामष्टमोऽध्यायः॥८॥

इस प्रकार से इन सब व्यवहारों को अच्छी तरह सम्पन्न करता हुआ राजा सभी पापों को हटाकर परम गति को (ब्रह्मलोक को) प्राप्त करता है॥४२०॥

॥ इस प्रकार कौण्डिन्न्यायनाऽऽचार्य-शिवराजशर्म-द्विजोत्तम से किए गए मनुस्मृति के हिन्दी अनुवाद तथा विशेष व्याख्या में अष्टम अध्याय पूर्ण हुआ॥८॥

* * *

अथ नवमोऽध्यायः

पुरुषस्य स्त्रियाश् चैव धर्म्ये वर्त्मनि तिष्ठतोः।
संयोगे विप्रयोगे च धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान्॥१॥

हिन्दी—

मनुस्मृतेर् हि नवमेऽध्याये भाषार्थ उच्यते।
कुल्लूकोक्तार्थमादाय शिवाख्येन द्विजन्मना॥

धर्म के मार्ग में चलने वाले पुरुष के और स्त्री के परस्पर संयोग के काल में और वियोग के काल में भी पालनीय सनातन धर्मों को बताऊँगा॥१॥

अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर् दिवानिशम्।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे॥२॥

स्त्रियाँ अपने पुरुषों से रात-दिन अस्वतन्त्र बनाकर रक्षित की जानी चाहिए। अनुकूल विषयों में भी ज्यादा आसक्त स्त्रियाँ उन विषयों से हटाकर अपने पुरुषों से अपने वश में रखी जानीं चाहिए॥२॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥३॥

बचपन में स्त्री की रक्षा पिता करता है, यौवनावस्था में स्त्री की रक्षा पति करता है, वृद्धावस्था में स्त्री की रक्षा पुत्त्र करता है। स्त्री किसी अवस्था में भी स्वतन्त्रता के लिए योग्य नहीं होती है (अरक्षित रहने में योग्य नहीं होती है)॥३॥

कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश् चाऽनुपयन् पतिः।
मृते भर्तरि पुत्त्रस् तु वाच्यो मातुररक्षिता॥४॥

समय में वर को कन्या न सौंपने वाला पिता गर्हणीय (निन्दनीय) होता है, समय में (ऋतुकाल में) सम्भोग न करने वाला पति गर्हणीय होता है, पति मरने पर माता की रक्षा न करने वाला पुत्त्र गर्हणीय होता है॥४॥

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः।
द्वयोर् हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः॥५॥

चरित्ररक्षा के प्रतिकूल छोटे-छोटे देश-काल-जन-विशेष-संयोगों से भी स्त्रियाँ विशेष रूप से रक्षित की जानीं चाहिए, क्योंकि अरक्षित स्त्रियाँ पितृकुल और भर्तृकुल दोनों कुलों में सन्ताप उत्पन्न कर सकती हैं॥५॥

इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम्।
यतन्ते रक्षितुं भार्यां भर्तारो दुर्बला अपि॥६॥

सभी ब्राह्मणादि वर्णों के इस (आगे के श्लोकों में बताए गए) उत्तम धर्म को देखते हुए दुर्बल भी पति पत्नी की रक्षा के लिए प्रयत्न करते हैं॥६॥

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति॥७॥

अपनी पत्नी की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करता हुआ पुरुष ही अपनी सन्तति की, अपने चरित्र की, अपने कुल की, अपनी और अपने धर्म की भी रक्षा कर सकता है॥७॥

पतिर् भार्यां सम्प्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते।
जायायास् तद् हि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः॥८॥

पति पत्नी में प्रविष्ट होके गर्भ में रहकर इस लोक में जन्म लेता है। जाया का यही जायात्व है कि इस (जाया) में पति (पुत्र के रूप में) पुनः उत्पन्न होता है॥८॥

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम्।
तस्मात् प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत् प्रयत्नतः॥९॥

स्त्री जिस प्रकार के पुरुष का सेवन करती है उसी प्रकार के पुत्र को जन्म देती है। इस लिए सन्तान की शुद्धि के लिए पति पत्नी की रक्षा प्रयत्नपूर्वक करे॥९॥

न कश्चिद् योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम्।
एतैरुपाययोगैस् तु शक्यास् ताः परिरक्षितुम्॥१०॥

कोई भी पुरुष स्त्रियों को जबरन् रक्षा नहीं कर सकता है, किन्तु इन (आगे के श्लोकों में बताए गए) उपायों के प्रयोगों से तो वे (स्त्रियाँ) सभी ओर से सुरक्षित की जा सकती हैं॥१०॥

अर्थस्य सङ्ग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य वेक्षणे॥११॥

स्त्री को धन के सङ्ग्रह में और व्यय में भी लगाए; शरीर, वस्त्र, वर्तन, घर इत्यादि की सफाई में, पतिसेवन, पूजा, व्रत, उत्सव, यज्ञ इत्यादि के कार्यों में, खाद्य पदार्थों के पाकों में, और घर के भीतर की शय्या, आसन, वर्तन, अन्न, खाद्य-पेय, धन-दौलत इत्यादि वस्तुओं के देखभाल में भी स्त्री को लगाए॥११॥

अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः ।
आत्मानमात्मना यास् तु रक्षेयुस् ताः सुरक्षिताः ॥१२॥

आप्त और प्रभावकारी पुरुषों से घर में रोकी गई स्त्रियाँ भी अच्छी तरह सुरक्षित नहीं होती हैं, जो स्त्रियाँ अपने को स्वयम् ही (धर्मविचार से और संयम से) रक्षित करती हैं वे अच्छी तरह रक्षित होती हैं॥१२॥

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश् च नारीसन्दूषणानि षट् ॥१३॥

मद्यपान, दुर्जनों से सम्पर्क, पति से वियोग, (अकेले) भ्रमण, (असुरक्षित स्थान में) शयन, दूसरे के घर में निवास ये छह बातें नारी के चरित्र के दूषण में हेतु होते हैं॥१३॥

नैता रूपं परीक्षन्ते नाऽऽसां वयसि संस्थितिः ।
सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥१४॥

ये (स्त्रियाँ) रूप की ओर भी नहीं देखती हैं, इन की (स्त्रियों की) अवस्था में (उम्र में) भी कोई आदर नहीं होता है। सुरूप हो अथवा कुरूप (युवक हो अथवा किशोर हो अथवा वृद्ध) पुरुष है इतने से ही ये उसका उपभोग करती हैं।

विशेष– यहाँ पर शास्त्रकार ने लोकसिद्ध स्त्रीस्वभाव का ही वर्णन किया है। उसमें शास्त्रकार का स्त्रीजाति की निन्दा में तात्पर्य नहीं है। शास्त्रकार ने स्त्रियों को यत्नपूर्वक अनिष्ट प्रसङ्ग से बचाने के लिए पुरुषों को सावधान किया है। इतना ही है। प्रकरण से यह बात अत्यन्त स्पष्ट रूप में अवगत होती है। इस बात को सोलहवें श्लोक में अत्यन्त स्पष्ट रूप में बताया है॥१४॥

पौंश्चल्याच् चलचित्ताच् च नैस्नेह्याच् च स्वभावतः ।
रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते ॥१५॥

सुरूप युवक पुरुष को देखते ही मन विचलित होने से, मन की स्वाभाविक चञ्चलता से, स्वभाव से ही स्नेहबन्धन से मुक्त होने से भी यत्नपूर्वक रक्षित होने पर भी ये (स्त्रियाँ) लोक में पतियों में व्यवस्थित होने के विषय में विकार में प्राप्त होती हैं। [व्यभिचार में फँस जाती हैं]॥१५॥

एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽऽसां प्रजापतिनिसर्गजम् ।
परमं यत्नमातिष्ठेत् पुरुषो रक्षणं प्रति ॥१६॥

इन के ब्रह्मा जी की सृष्टि से ही उत्पन्न इस प्रकार के स्वभाव को जानकर पुरुष इन के रक्षा के लिए अत्यन्त उच्च प्रयत्न करे॥१६॥

शय्याऽऽसनमलङ्कारं कामं क्रोधमनार्जवम्।
द्रोहभावं कुचर्यां च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत्॥१७॥

शयनशीलता को, आसनप्रियता को (अनुद्यमशीलता को), आभूषणों की उत्कट इच्छा को, कामवासना को, क्रोध को, कुटिलता को, दूसरों को क्षति पहुँचाने की इच्छा को और दुश्चरित्र को भी मनु ने (प्रजापति ने) स्त्रियों के लिए बनाया। [इस लिए स्त्रियों की अच्छी तरह रक्षा करनी चाहिए]।

विशेष— इस श्लोक से लेकर इक्कीसवें श्लोक तक के सन्दर्भ का तात्पर्य भी स्त्री की विशेष रूप से रक्षणीयता के प्रतिपादन में ही है। स्त्रीजाति की निन्दा में नहीं॥१७॥

नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः।
निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश् च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः॥१८॥

स्त्रियों की संस्कारक्रिया वेदमन्त्रों से नहीं किया जाता है, ऐसी धर्मशास्त्र में (गृह्यसूत्र में) व्यवस्था है। स्त्रियाँ धर्मप्रमाणरहित, मन्त्ररहित और असत्य की तरह अशुभ होती हैं, यही शास्त्रोक्त वस्तुस्थिति है [इस लिए स्त्रियों की अच्छी तरह रक्षा की जानी चाहिए]॥१८॥

तथा च श्रुतयो बह्व्यो निगीता निगमेष्वपि।
स्वालक्षण्यपरीक्षार्थं तासां शृणुत निष्कृतीः॥१९॥

वेदों में भी स्त्री के उक्त प्रकार के व्यभिचारशील स्वभाव को सभी ओर से देखने के लिए बहुत वाक्य पढ़े गए हैं। स्त्रियों की व्यभिचारशीलता के प्रायश्चित्त बताने वाली श्रुतियों को आप लोग सुनिए॥१९॥

यन् मे माता प्रलुलुभे विचरन्त्यपतिव्रता।
तन् मे रेतः पिता वृङ्क्तामित्यस्यैतन् निदर्शनम्॥२०॥

मेरी माता अपतिव्रता होकर घुमती हुई जो परपुरुष में लुब्ध हुई उस अशुद्ध स्त्रीबीज़ को मेरे पिता शुद्ध करें, ऐसे अर्थ का वाचक वेदवाक्य इस विषय का निदर्शन है।

विशेष— यह वेदवाक्य इस समय उपलभ्यमान वेदों में तो नहीं मिलता है, कौषीतकिगृह्यसूत्र में (३।५।१५) तथा शाङ्खायनगृह्यसूत्र में (३।१३।५) अष्टकाश्राद्ध-प्रकरण में कुछ पाठभेद के साथ मिलता है॥२०॥

ध्यायत्यनिष्टं यत्किञ्चित् पाणिग्राहस्य चेतसा।
तस्यैष व्यभिचारस्य निह्नवः सम्यगुच्यते॥२१॥

मन्त्रपूर्वक पाणिग्रहण करने वाले पति का अनिष्ट परपुरुषगमनादि जो कुछ स्त्री मन से सोचती है उस मानस व्यभिचार का (पुत्रकर्तृक) यह मन्त्रपाठरूप प्रायश्चित्त अच्छी तरह बताई जाती है॥२१॥

यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि।
तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा॥२२॥

समुद्र से मिलने से नदी जैसे समुद्र के गुणों से युक्त होती है वैसे ही स्त्री जिस प्रकार के गुणों से युक्त पति से गृह्यसूत्ररूप शास्त्र के विधान के अनुसार संयुक्त होती है उसी प्रकार के गुणों से युक्त होती है।

विशेष— यह अत्यन्त प्रकृष्ट (उत्कृष्ट) गुण से युक्त तथा अर्थकामपरायणता में कभी भी नहीं बहने वाले अलौकिक प्रभावयुक्त ऋषिमुनियों की बात है। यह बात नीचे दिए गए उदाहरणों से स्पष्ट होती है। इसको साधारण जन के विषय में नहीं लगाना चाहिए॥२२॥

अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा।
शारङ्गी मन्दपालेन जगामाऽभ्यर्हणीयताम्॥२३॥

वसिष्ठ से संयुक्त होने वाली नीच योनि में उत्पन्न अक्षमाला और मन्दपाल से संयुक्त होने वाली नीच योनि में उत्पन्न शारङ्गी (चटका) पूज्यता में प्राप्त हुई थी॥२३॥

एताश् चाऽन्याश् च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैःस्वैर् भर्तृगुणैः शुभैः॥२४॥

ये और अन्य भी निचले योनि में उत्पन्न स्त्रियाँ इस लोक में अपने-अपने पति के शुभगुणों के कारण से उच्चता को प्राप्त हुई थीं॥२४॥

एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा।
प्रेत्येह च सुखोदर्कान् प्रजाधर्मान् निबोधत॥२५॥

यह स्त्री की और पुरुष की सदाकाल की अच्छी लोकयात्रा बताई गई है। (अब) परलोक में और इस लोक में भी सुखद परिणाम लाने वाले प्रजाओं के धर्मों को आप लोग जानिए॥२५॥

प्रजनार्थं महाभागाः पूजाऽर्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश् च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन॥२६॥

प्रजा के उत्पादनादि के लिए अत्यन्त बडा स्थान रखने वाली, वस्त्र-आभूषण इत्यादि से सत्कार करने में योग्य, घर में उज्ज्वलता को (चमक को) लाने वाली स्त्रियाँ घर में लक्ष्मी भी हैं, स्त्री में और लक्ष्मी में कोई फर्क नहीं है॥२६॥

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम्॥२७॥

सन्तान का उत्पादन, उत्पन्न सन्तान का पालन-पोषण, दिन पर दिन का भोजन-पानादि व्यवहार का भी सभी अर्थों में स्त्री ही प्रत्यक्ष रूप में कारण है॥२७॥

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराधीनस् तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश् च ह॥२८॥

सन्तान, धर्मकार्य, अपने (पति के) शरीर की शुश्रूषा (हिफाजत) और निरापद उत्तम सम्भोग पत्नी के अधीन में हैं, और उसी प्रकार पितरों का और अपना भी स्वर्ग भी पत्नी के अधीन में है॥२८॥

पतिं या नाऽभिचरति मनोवाग्देहसंयता।
सा भर्तृलोकानाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते॥२९॥

मन से वचन से और शरीर से भी संयमशील जो स्त्री पति का अतिक्रमण नहीं करती है वह मरकर पति जिस लोक में जाता है उसी लोक को पाती है, सत्पुरुषों से साध्वी कहकर प्रशंसित भी होती है॥२९॥

व्यभिचारात् तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।
सृगालयोनिं चाऽऽप्नोति पापरोगैश् च पीड्यते॥३०॥

पति के अतिक्रमण से तो स्त्री लोक में निन्दनीयत्व में प्राप्त होती है, मरकर सृगाल (सियार) की योनि को प्राप्त करती है और कष्टकर रोगों से पीडित भी होती है॥३०॥

पुत्रं प्रत्युदितं सद्भिः पूर्वजैश् च महर्षिभिः।
विश्वजन्यमिमं पुण्यमुपन्यासं निबोधत॥३१॥

पुत्र के विषय में सज्जन पूर्वज महर्षियों से कहे गए सर्वजनहितकारी पवित्र इस (आगे के श्लोकों में प्रतिपादित) कथन को आप लोग जानिए॥३१॥

भर्तुः पुत्रं विजानन्ति श्रुतिद्वैधं तु भर्तरि।
आहुरुत्पादकं केचिदपरे क्षेत्रिणं विदुः॥३२॥

पुत्त्र को पिता का ही मानते हैं, पिता के विषय में तो दो प्रकार की श्रुतियाँ हैं, कोई उत्पादक को (परपत्नी में पुत्त्रोत्पादन करने वाले नियोगी को) पिता बताते हैं, कोई जिस की विवाहिता पत्नी में (नियोगी से) पुत्त्र उत्पन्न होता है उसी को बच्चे का पिता मानते हैं॥३२॥

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्।
क्षेत्रबीजसमायोगात् सम्भवः सर्वदेहिनाम्॥३३॥

स्त्री क्षेत्ररूप (खेत की तरह) समझी गई है, पुरुष बीजरूप (धान्यादि के बीज के समान) समझा गया है। सभी प्राणियों का जन्म क्षेत्र के और बीज के संयोग से होता है॥३३॥

विशिष्टं कुत्रचिद् बीजं स्त्रीयोनिस् त्वेव कुत्रचित्।
उभयं तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते॥३४॥

कहीं पर बीज प्रधान होता है, कहीं पर स्त्री की योनि ही प्रधान होती है, जहाँ पर दोनों तुल्य प्रधान होते हैं वह जन्म उत्तम माना जाता है॥३४॥

बीजस्य चैव योन्याश् च बीजमुत्कृष्टमुच्यते।
सर्वभूतप्रसूतिर् हि बीजलक्षणलक्षिता॥३५॥

बीज में और योनि में बीज को प्रधान बताया जाता है, क्योंकि सभी प्राणियों के सन्तान बीज के लक्षण से ही युक्त होते हैं॥३५॥

यादृशं तूप्यते बीजं क्षेत्रे कालोपपादिते।
तादृग् रोहति तत् तस्मिन् बीजं स्वैर् व्यञ्जितं गुणैः॥३६॥

समुचित काल से युक्त क्षेत्र में जैसा बीज बोया जाता है उस क्षेत्र में वह बीज अपने गुणों से अभिव्यक्त होकर वैसा ही उगता है॥३६॥

इयं भूमिर् हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते।
न च योनिगुणान् कांश् चिद् बीजं पुष्यति पुष्टिषु॥३७॥

यह भूमि ही प्राणियों की सनातन योनि कही जाती है। किन्तु बीज अपनी अङ्कुर-शाखादिभावरूप वृद्धि में योनि के किन्हीं गुणों को भी नहीं बढाता है। [बीज के अपने गुणों को ही बढाता है]॥३७॥

भूमावप्येककेदारे कालोप्तानि कृषीवलैः।
नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः॥३८॥

भूमि में एक ही खेत में भी समय में किसानों से बोए गए अनेक प्रकार के बीज अपने-अपने स्वभाव से इस लोक में अनेक रूप में ही अङ्कुरित होते हैं। [खेत एक होने से एक रूप में नहीं अङ् कुरित होते हैं] ॥३८॥

व्रीहयः शालयो मुद्गास् तिला माषास् तथा यवाः ।
यथाबीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस् तथा ॥३९॥

व्रीहि (भदई धान), शालि (अगहनी धान), मूँग, तिल, उडद, जौ, लहसुन और गन्ना इत्यादि सभी ही बीज के अनुसार (एक ही खेत में) उगते हैं॥३९॥

अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन् नोपपद्यते ।
उप्यते यद् धि यद् बीजं तत्तदेव प्ररोहति ॥४०॥

दूसरा ही बीज बोया गया और उस से भिन्न चीज उगा ऐसी बात हो ही नहीं सकती है, जो-जो बोया जाता है उस-उस बीज से वही-वही चीज उगता है॥४०॥

तत् प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना ।
आयुष्कामेन वप्तव्यं न जातु परयोषिति ॥४१॥

उस कारण से समझदार, सत्कर्म करने के समुचित उपाय के ज्ञान और अभ्यास से युक्त (विनीत), ज्ञान-विज्ञान जानने वाले तथा दीर्घ आयु की कामना करने वाले पुरुष को कभी भी परस्त्री में बीज नहीं बोना चाहिए॥४१॥

अत्र गाथा वायुगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।
यथा बीजं न वप्तव्यं पुंसा परपरिग्रहे ॥४२॥

इस विषय में पुराकाल के वृत्त को जानने वाले लोग जिस कारण से पुरुष से परपत्नी में बीज नहीं बोया जाना चाहिए उस कारण को स्पष्ट करने वाली वायु द्वारा गाई गई गाथाओं का पाठ करते हैं॥४२॥

नश्यतीषुर् यथा विद्धः खे विद्धमनुविध्यतः ।
तथा नश्यति वै क्षिप्रं बीजं परपरिग्रहे ॥४३॥

दूसरे से विद्ध मृग में उसी छिद्र में पीछे वेध करने वाले शिकारी का वेधा हुआ बाण जैसे निष्फल होता है वैसे ही परपत्नी में बोया गया बीज भी निष्फल होता है॥४३॥

पृथोरपीमां पृथिवीं भार्यां पूर्वविदो विदुः ।
स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः शल्यवतो मृगम् ॥४४॥

पूर्ववृत्त जानने वाले लोग पंहले पृथु से सँवारी गई इस पृथ्वी को पृथु की भार्या (पत्नी) बताते हैं, ठूठ पेड काटकर भूमि को समतल बनाने वाले का ही खेत बताते हैं और जिस बाण से मृग का पहले वेध किया है उस बाण वाले का ही मृग बताते हैं॥४४॥

एतावानेव पुरुषो यज् जायाऽऽत्मा प्रजेति ह।
विप्राः प्राऽऽहुस् तथा चैतद् यो भर्ता सा स्मृताऽङ्गना॥४५॥

ब्राह्मणलोग जो पत्नी, स्वयम् और प्रजा इन तीनों का समुदाय है वही पुरुष है ऐसा बताते हैं, तब तो जो पति है वही पत्नी समझी गई है। [यह भी ब्राह्मणों के कथन से ही सिद्ध होता है]॥४५॥

न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर् भार्या विमुच्यते।
एवं धर्मं विजानीमः प्राक् प्रजापतिनिर्मितम्॥४६॥

बेचने से अथवा त्याग देने से भी पति से पत्नी पत्नीत्वसम्बन्ध से मुक्त नहीं होती है। ब्रह्मा जी से पहले बनाए गए धर्म को हम लोग इस रूप में ही जानते हैं॥४६॥

सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्॥४७॥

दायभाग एक वार ही प्राप्त होता है, कन्या एक वार ही दी जाती है, अन्य वस्तु को भी एक वार ही 'देता हूँ' ऐसा कहता है, ये तीन ही सज्जनों के एक वार ही होते हैं॥४७॥

यथा गोऽश्वोष्ट्रदासीषु महिष्यजाऽविकासु च।
नोत्पादकः प्रजाभागी तथैवाऽन्याऽङ्गनास्वपि॥४८॥

जैसे गायों में, घोडियों में, ऊँटनियों में, दासियों में, भैंसों में, बकरियों में और भेडों में भी उत्पादक प्रजा को प्राप्त करने वाला नहीं होता है वैसे ही परस्त्रियों में भी उत्पादक प्रजा को प्राप्त करने वाला नहीं होता है। [गाय इत्यादि जिस की हैं उनमें उत्पादित बछडा इत्यादि भी उसी के होते हैं, स्त्री जिस की है उसमें उत्पादित सन्तान भी उसी के होते हैं]॥४८॥

येऽक्षेत्रिणो बीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः।
ते वै सस्यस्य जातस्य न लभन्ते फलं क्वचित्॥४९॥

जो क्षेत्रस्वामित्व से रहित, दूसरे के क्षेत्र में बीज बोने वाले बीजयुक्त मनुष्य हैं वे उगे हुए फसल का फल कहीं भी कभी भी नहीं पाते हैं॥४९॥

यदन्यगोषु वृषभो वत्सानां जनयेच् छतम्।
गोमिनामेव ते वत्सा मोघं स्कन्दितमार्षभम्॥५०॥

यदि दूसरे की गायों में साँड़ सौ बछडों को उत्पन्न करे तो भी वे बछडे जिस की गाय हैं उसी के (गोस्वामी के) होते हैं, साँड़ का वीर्यसेचन (साँड़ के स्वामी के लिए बछडों को प्राप्त कराने में) व्यर्थ होता है॥५०॥

तथैवाऽक्षेत्रिणो बीजं परक्षेत्रप्रवापिणः।
कुर्वन्ति क्षेत्रिणामर्थं न बीजी लभते फलम्॥५१॥

उसी प्रकार से क्षेत्रस्वामित्व से रहित और दूसरे के क्षेत्र में बीज बोने वाले पुरुष का बीज क्षेत्र के स्वामी के लिए ही फल उत्पन्न करता है, बीज वाला पुरुष फल नहीं पाता है॥५१॥

फलं त्वनभिसन्धाय क्षेत्रिणां बीजिनां तथा।
प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद् योनिर् गरीयसी॥५२॥

फल के विषय में क्षेत्रस्वामी के और बीज वाले पुरुष के बीच में विशेष समझौता न होने पर फल प्रत्यक्ष रूप में क्षेत्र के स्वामी का ही होता है, इस लिए बीज से योनि ही महत्त्वपूर्ण है॥५२॥

क्रियाऽभ्युपगमात् त्वेतद् बीजार्थं यत् प्रदीयते।
तस्येह भागिनौ दृष्टौ बीजी क्षेत्रिक एव च॥५३॥

समझौते के काम को स्वीकार करके यदि बीज बोने के लिए क्षेत्र दिया जाता है तो उसके फल को बीज बोने वाला और क्षेत्र का स्वामी दोनों ही पाने वाले देखे गए हैं॥५३॥

ओघवाताऽऽहृतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति।
क्षेत्रिकस्यैव तद् बीजं न वप्ता लभते फलम्॥५४॥

बाढ़ से अथवा वायु से लाया गया बीज जिस के खेत में उगता है वह बीज खेत के स्वामी का ही होता है, बोने वाला कोई फल नहीं पाता है (इसी प्रकार परपत्नी में गर्भाधान करने वाला पुरुष उसकी सन्तति को प्राप्त नहीं करता है)॥५४॥

एष धर्मो गवाऽश्वस्य दास्युष्ट्राऽजाऽविकस्य च।
विहङ्गमहिषीणां च विज्ञेयः प्रसवं प्रति॥५५॥

गायों के, घोडियों के, दासियों के, ऊँटनियों के, बकरियों के, भेडों के, पक्षियों के और भैंसों के भी सन्तान के विषय में यह नियम है॥५५॥

एतद् वः सारफल्गुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्तितम्।
अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥५६॥

बीज के और योनि के गौरव और लाघव के विषय में यह व्यवस्था आप लोगों को बताई गई, इस से आगे आपत्काल में नारियों के धर्म को बताऊँगा॥५६॥

भ्रातुर् ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा।
यवीयसस् तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ॥५७॥

बडे भाई की जो पत्नी है वह छोटे भाई के लिए गुरुपत्नी (माता) समझी गई है। छोटे भाई की जो पत्नी है वह बडे भाई के लिए स्नुषा (पतोहू) समझी गई है॥५७॥

ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान् वाऽग्रजस्त्रियम्।
पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥५८॥

आपत्काल से अन्य काल में नियुक्त होने पर भी छोटे भाई की पत्नी में जाकर बडा भाई, और बडे भाई की पत्नी में जाकर छोटा भाई पतित होते हैं।

विशेष– इस अत्यन्त व्यवस्थित और केवल धर्म्य-सन्तति के लिए ही प्रयोग में लाई जाने वाली नियोगव्यवस्था को लेकर जो आलोचना की गई है, वह केवल अविवेकपूर्ण पूर्वाग्रह का ही फल है। इतिहास में भी गुणवान् राजकुल की रक्षा के लिए ही इस व्यवस्था का उपयोग किए जाने की बात मिलती है। ब्राह्मणकुल की रक्षा के लिए इस व्यवस्था का उपयोग किए जाने का तो इतिहास नहीं मिलता है। नियोगव्यवस्था वेदमन्त्रों में भी सूचित है॥५८॥

देवराद् वा सपिण्डाद् वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया।
प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥५९॥

सन्तान का सभी प्रकार से क्षय होने पर अच्छी तरह नियुक्त स्त्री द्वारा देवर से अथवा अन्य सपिण्ड से अभीष्ट सन्तान (पुत्र) प्राप्त किया जाना चाहिए॥५९॥

विधवायां नियुक्तस् तु घृताऽक्तो वाग्यतो निशि।
एकमुत्पादयेत् पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन ॥६०॥

विधवा में नियुक्त पुरुष शरीर में घी लगाकर तथा वाणी को नियन्त्रित करके (मौनी होकर) रात में ही (बीजसेचन करके) एक ही पुत्र को उत्पन्न करे, दूसरे पुत्र को किसी तरह भी उत्पन्न न करे॥६०॥

द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः।
अनिर्वृतं नियोगार्थं पश्यन्तो धर्मतस् तयोः ॥६१॥

नियोग धर्म के विज्ञ कोई मुनि एक ही पुत्र के उत्पादन से नियोग का प्रयोजन सिद्ध न हो सकने की बात को देखते हुए उनका धर्मपूर्वक दूसरे पुत्र का उत्पादन उचित मानते हैं॥६१॥

विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि।
गुरुवच् च स्नुषावच् च वर्तेयातां परस्परम्॥६२॥

विधवा में नियोग का प्रयोजन सिद्ध होने पर तो वे शास्त्र के विधान के अनुसार गुरु की तरह और स्नुषा (पतोहू) की तरह ही परस्पर वर्ताव करें (देवर और भाभी भी इसी प्रकार परस्पर यथोचित वर्ताव करें)॥६२॥

नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः।
तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ॥६३॥

नियुक्त होने पर जो बडा भाई और छोटा भाई शास्त्र के विधान की मर्यादा को छोडकर कामवशीभूत होकर सम्भोगादि व्यवहार करते हैं वे तो स्नुषागामी और गुरुपत्नीगामी के रूप में पतित होंगे॥६३॥

नाऽन्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः।
अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम्॥६४॥

द्विजातियों से विधवा स्त्री पतिभिन्न पुरुष में प्रजोत्पादन के लिए नियुक्त नहीं की जानी चाहिए। पति से भिन्न पुरुष में स्त्री को नियुक्त करते हुए द्विजाति लोग वेदोक्त सनातन धर्म को नष्ट करेंगे॥६४॥

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः॥६५॥

विवाह के वेदमन्त्रों में कहीं भी नियोग का कथन नहीं किया गया है। वैदिक विवाह के विधि में विधवा का दूसरे पुरुष से पुनर्विवाह भी नहीं कहा गया है॥६५॥

अयं द्विजैर् हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति॥६६॥

यह पशुधर्मतुल्य नियोगव्यवहार विद्वान् ब्राह्मणों से निन्दित है। वेन के राज्य-शासन के काल में मनुष्यों के लिए भी यह नियोगधर्म बताया गया था॥६६॥

स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा।
वर्णानां सङ्करं चक्रे कामोपहतचेतनः॥६७॥

राजर्षियों में सब से बलवान् होकर सम्पूर्ण भूमि का पालन करते हुए उस ने (वेन ने) कामवासना से विवेकचेतना गँवाकर ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्णों का सङ्कर किया॥६७॥

ततः प्रभृति यो मोहात् प्रमीतपतिकां स्त्रियम्।
नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः॥६८॥

उस समय से (वेन के राज्यकाल से) प्रारम्भ करके जो द्विजाति शास्त्रार्थ के अज्ञान से पति के मर जाने पर उस स्त्री को सन्तान के लिए परपुरुष (देवरादि) में नियुक्त करता है उसका सत्पुरुष निन्दा करते हैं॥६८॥

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः॥६९॥

वाणी से कन्यादान सत्य किए जाने पर जिस कन्या का भावी पति मरेगा उसको इस (आगे के श्लोक में कहे गए) विधान से अपना देवर प्राप्त करे॥६९॥

यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम्।
मिथो भजेताऽऽप्रसवात् सकृत्सकृदृतावृतौ॥७०॥

शास्त्रोक्त विवाहविधि से इस कन्या को प्राप्त करके सफेद वस्त्र पहनने वाली और शुचित्व (पवित्रता) के लिए व्रतों का पालन करने वाली इस स्त्री से गुप्त स्थल में गर्भधारण न होने तक प्रत्येक ऋतुकाल में एक-एक वार ही सम्भोग करे॥७०॥

न दत्त्वा कस्यचित् कन्यां पुनर् दद्याद् विचक्षणः।
दत्त्वा पुनः प्रयच्छन् हि प्राप्नोति पुरुषाऽनृतम्॥७१॥

विवेकशाली मनुष्य किसी को कन्या देकर उस कन्या को फिर दूसरे को न दे, एक वार किसी को देकर फिर उसी कन्या को दूसरे को देता हुआ मनुष्य मनुष्य के विषय में असत्य बोलने का पाप प्राप्त करता है॥७१॥

विधिवत् प्रतिगृह्याऽपि त्यजेत् कन्यां विगर्हिताम्।
व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम्॥७२॥

शास्त्र के विधान के अनुसार ही प्रतिग्रहण करके भी निन्दित (अभिशस्त) कन्या को, क्षय-कुष्ठादि दीर्घ रोग से पीडित कन्या को, पुरुष द्वारा दूषित कन्या को, और छल करके दी गई कन्या को भी त्याग दे॥७२॥

यस् तु दोषवतीं कन्यामनाख्यायोपपादयेत्।
तस्य तद् वितथं कुर्यात् कन्यादातुर् दुरात्मनः॥७३॥

जो कन्यादाता दोष से युक्त कन्या को उसके दोष को नहीं कहकर देगा उस दुष्ट चित्त वाले कन्यादाता के उस दान को वर असत्य (व्यर्थ) कर दे॥७३॥

विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत् कार्यवान् नरः।
अवृत्तिकर्शिता हि स्त्री प्रदुष्येत् स्थितिमत्यपि॥७४॥

आवश्यक कार्य से युक्त पुरुष पत्नी की जीविका की व्यवस्था करके प्रवास में जाय, क्योंकि जीविका के अभाव से पीडित स्त्री सुशीला होती हुई भी दुष्टों में फँस जा सकती है॥७४॥

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन् नियममास्थिता।
प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच् छिल्पैरगर्हितैः॥७५॥

जीविका की व्यवस्था करके पति प्रवास में जाने पर स्त्री शृङ्गारत्याग-परगृहगमनत्याग इत्यादि नियमों में रहती हुई जीवनयात्रा करे, जीविका की व्यवस्था नहीं करके ही पति प्रवास में जाने पर अनिन्दनीय शिल्पकर्मों से जीविका करती हुई स्त्री जीवनयात्रा चलाए॥७५॥

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः।
विद्याऽर्थं षड् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस् तु वत्सरान्॥७६॥

धर्म कार्य के लिए प्रवास में गया हुआ पति (पत्नी द्वारा) आठ वर्ष तक प्रतीक्षणीय (बाट जोहने के लिए योग्य) होता है, विद्या के लिए अथवा यश के लिए प्रवास में गया हुआ पति छह वर्ष तक प्रतीक्षणीय होता है, अन्य काम्य अर्थों के लिए प्रवास में गया हुआ पति तीन वर्ष तक प्रतीक्षणीय होता है॥७६॥

संवत्सरं प्रतीक्षेत द्विषन्तीं योषितं पतिः।
ऊर्ध्वं संवत्सरात् त्वेनां दायं हृत्वा न संवसेत्॥७७॥

पति का द्वेष करने वाली स्त्री की एक वर्ष तक पुरुष प्रतीक्षा करे, एक वर्ष से ऊपर तो अपने से दिए गए अलङ्कार-धनादि को छीनकर उसके साथ सहवास करना बन्द कर दे।

विशेष— यहाँ पर द्वेषिणी स्त्री से केवल सहवास न करने का उपदेश है, विवाहिता धर्मपत्नी को द्वेषिणी होने पर भी सामान्य अन्न, वस्त्र और वासस्थान देकर भरण-पोषण तो करना ही चाहिए॥७७॥

अतिक्रामेत् प्रमत्तं या मत्तं रोगाऽऽर्तमेव वा।
सा त्रीन् मासान् परित्याज्याऽविभूषणपरिच्छदा॥७८॥

जुआ इत्यादि में फँसकर प्रमाद करने वाले अथवा मद्यपान में आसक्त अथवा रोग से पीडित पति का जो स्त्री देखभाल-हिफाजत न करके अनादर करती है वह आभूषण और शय्या आसन इत्यादि उपकरणों से वियुक्त बनाकर तीन महीने तक सहवास वर्जित कर देने में योग्य होती है॥७८॥

उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणम्।
न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश् च न च दायाऽपवर्तनम्॥७९॥

पागल पति का अथवा पतित पति का अथवा नपुंसक पति का अथवा गर्भधारण में समर्थ बीज से रहित पति का अथवा कुष्ठ-क्षय इत्यादि पापरोगों से पीडित पति का द्वेष (अनादर) करने वाली स्त्री का तो त्याग विहित नहीं है, पति से दिए गए अलङ्कार-धनादि का वापस लेना भी विहित नहीं है॥७९॥

मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत्।
व्याधिता वाऽधिवेत्तव्या हिंस्राऽर्थघ्नी च सर्वदा॥८०॥

जो स्त्री मद्यपान करने वाली अथवा दुश्चरित्र वाली अथवा पति का प्रतिकूल व्यवहार करने वाली अथवा दीर्घरोगपीडित अथवा हिंसाशील अथवा सर्वदा धन में क्षति पहुँचाने वाली होगी उसके ऊपर तो सौत ब्याहना उचित होता है॥८०॥

वन्ध्याऽष्टमेऽधिवेद्याऽब्दे दशमे तु मृतप्रजा।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस् त्वप्रियवादिनी॥८१॥

बाँझ स्त्री प्रथम रजोदर्शन से आठवें वर्ष में, मृत बच्चों को अथवा जन्म के बाद थोडे ही समय में मरने वाले बच्चों को जन्म देने वाली स्त्री दसवें वर्ष में, केवल कन्याओं को ही जन्म देने वाली स्त्री ग्यारहवें वर्ष में और अप्रियवचन बोलने वाली (पुत्ररहित) स्त्री तो तत्काल ही उसके ऊपर सौत ब्याहने में योग्य होती है॥८१॥

या रोगिणी स्यात् तु हिता सम्पन्ना चैव शीलतः।
साऽनुज्ञाप्याऽधिवेत्तव्या नाऽवमान्या च कर्हिचित्॥८२॥

जो पति का हित चिताने वाली और शुभ शीलों से युक्त दीर्घरोगिणी स्त्री है वह तो उसकी अनुमति से ही उसके ऊपर सौत ब्याहने में योग्य होती है, और वह अनादृत होने में कभी भी योग्य नहीं होती है॥८२॥

अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेद् रुषिता गृहात्।
सा सद्यः सन्निरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसन्निधौ॥८३॥

सौत ब्याहे जाने पर रुष्ट होकर जो स्त्री घर से निकलती है वह तत्काल रोकी जानी चाहिए, अथवा कुलवृद्धों के समक्ष में त्याग दी जानी चाहिए।

विशेष– समुचित कारण से और समुचित रीति से सौत ब्याहे जाने पर भी रुष्ट होने वाली स्त्री के प्रति यह व्यवहार उपदिष्ट है, इस विषय में अच्छी तरह ध्यान देना चाहिए॥८३॥

प्रतिषिद्धा पिबेद् या तु मद्यमभ्युदयेष्वपि।
प्रेक्षासमाजं गच्छेद् वा सा दण्ड्या कृष्णलानि षट्॥८४॥

निषिद्ध होने पर भी जो स्त्री विवाहादि उत्सवों में भी मद्यपान करेगी अथवा निषेध किए जाने पर भी नाटकादि को देखने के लिए प्रेक्षागृह में अथवा खुले प्रेक्षासमाज में जाएगी वह दण्ड के रूप में छह कृष्णल सोना देने में बाध्य की जानी चाहिए॥८४॥

यदि स्वाश् चाऽपराश् चैव विन्देरन् योषितो द्विजाः।
तासां वर्णक्रमेण स्याज् ज्यैष्ठ्यं पूजा च वेश्म च॥८५॥

यदि द्विजाति पुरुष अपनी जाति की और अन्य जाति की भी स्त्रियों को ब्याहें तो उनका ब्राह्मणादि वर्णों के क्रम से ज्येष्ठता, सम्मान और घर होगा॥८५॥

भर्तुः शरीरशुश्रूषां धर्मकार्यं च नैत्यकम्।
स्वा चैव कुर्यात् सर्वेषां नाऽस्वजातिः कथञ्चन॥८६॥

सभी द्विजातियों की अपनी जाति की स्त्री ही पति के शरीर का देखभाल-हिफाजत और नित्य धर्मकार्य भी करे, विजातीय (निचली जाति की) स्त्री उन कार्यों को किसी भी तरह न करे॥८६॥

यस् तु तत् कारयेन् मोहात् सजात्या स्थितयाऽन्यया।
यथा ब्राह्मणचाण्डालः पूर्वदृष्टस् तथैव सः॥८७॥

अपनी जाति की पत्नी समीप में वर्तमान होने पर भी जो पुरुष मूर्खता से अन्य जाति की पत्नी से अपने शरीर का देखभाल-हिफाजत और धर्मकार्य करवाता है वह पूर्व ऋषियों से बताया गया ब्राह्मणचण्डाल जैसा है वैसा ही है॥८७॥

उत्कृष्टायाऽभिरूपाय वराय सदृशाय च।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद् यथाविधि॥८८॥

अपने से उच्च कुल-विद्यादि गुणों से युक्त, सुरूप, समानजातीय वर को तो विवाह की उम्र में नहीं पहुँची हुई छोटी उम्र की कन्या को भी शास्त्रविधान के अनुसार दे॥८८॥

काममा मरणात् तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत् तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥८९॥

रजस्वला भी कन्या मृत्यु न होने तक भी भले ही पिता के घर में रह जाय, तथापि गुणहीन वर को तो कन्या कभी भी न दे॥८९॥

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद् विन्देत सदृशं पतिम्॥९०॥

रजस्वला होती हुई कन्या रजस्वला होने के प्रारम्भ से तीन वर्ष तक पिता आदि द्वारा अपने दान की प्रतीक्षा करे, इस काल से आगे भी दान न किए जाने पर अपने जाति के और गुण के अनुरूप पति को [विधिपूर्वक] स्वयम् प्राप्त करे॥९०॥

अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद् यदि स्वयम्।
नैनः किञ्चिदवाऽऽप्नोति न च यं साऽधिगच्छति॥९१॥

नहीं दी जा रही कन्या यदि स्वयम् पति को प्राप्त करे तो वह कोई पाप को (दोष को) नहीं प्राप्त करती है, वह जिस पति को प्राप्त करती है वह पुरुष भी कोई पाप को (दोष को) प्राप्त नहीं करता है॥९१॥

अलङ्कारं नाऽऽददीत पित्र्यं कन्या स्वयंवरा।
मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद् यदि तं हरेत्॥९२॥

स्वयम् पति को वरण करके विवाह करने वाली कन्या पिता से दिए गए अथवा माता से दिए गए अथवा भाई से दिए गए आभूषण को न ले (अपने साथ में न ले जाए), यदि उस आभूषण को ले जाएगी तो वह चोर हो जाएगी॥९२॥

पित्रे न दद्याच् छुल्कं तु कन्यामृतुमतीं हरन्।
स हि स्वाम्यादतिक्रामेदृतूनां प्रतिरोधनात्॥९३॥

रजस्वला कन्या को ब्याहने वाला वर कन्या के पिता को कोई कन्याशुल्क न दे, क्योंकि कन्या के ऋतुओं को गर्भग्रहण के अवसर से रोकने से (वञ्चित करने से) वह कन्यापिता कन्या के स्वामित्व से बाहर हो जाएगा॥९३॥

त्रिंशद्वर्षोद्वहेत् कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः॥९४॥

तीस वर्ष का वर बारह वर्ष की मनोहर कन्या को ब्याहे, अथवा गृहस्थधर्म सङ्कट में पड़ने पर गृहस्थधर्म को संभालने के लिए शीघ्रता करता हुआ चौबीस वर्ष का वर आठ वर्ष की कन्या को ब्याहे॥९४॥

देवदत्तां पतिर् भार्यां विन्दते नेच्छयाऽऽत्मनः।
तां साध्वीं बिभृयान् नित्यं देवानां प्रियमाचरन्॥९५॥

पति देवताओं से दी गई पत्नी को प्राप्त करता है, अपनी इच्छा से नहीं, देवताओं से दी गई साध्वी पत्नी को सदाकाल देवताओं का प्रिय आचरण करता हुआ पति पालन-पोषण करे॥९५॥

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः।
तस्मात् साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः॥९६॥

स्त्रियाँ गर्भधारण के लिए ब्रह्मा जी से बनाई गई हैं, पुरुष अपने सन्तान-विस्तार के लिए बह्मा जी से बनाए गए हैं, इस लिए वेद में पत्नी के साथ में उभय-साधारण रूप में पति का अग्न्याधानादि धर्म बताया गया है। [दोनों की सहकार्य-कारिता है, इस लिए पत्नी का अच्छी तरह पालन-पोषण करना चाहिए।]॥९६॥

कन्यायां दत्तशुल्कायां म्रियेत यदि शुल्कदः।
देवराय प्रदातव्या यदि कन्याऽनुमन्यते॥९७॥

कन्या का शुल्क दिए जाने पर शुल्क देने वाला वर मरे तो यदि कन्या स्वीकार करती है तो वह कन्या देवर को दी जानी चाहिए॥९७॥

आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददत्।
शुल्कं हि गृह्णन् कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम्॥९८॥

(द्विजातियों की तो बात ही क्या) कन्या देता हुआ शूद्र भी कन्याशुल्क न ले, क्योंकि कन्याशुल्क लेता हुआ मनुष्य परोक्ष रूप में पुत्री का विक्रय करता है॥९८॥

एतत् तु न परे चक्रुर् नाऽपरे जातु साधवः।
यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते॥९९॥

जो एक को (कन्या) देने की प्रतिज्ञा करके फिर दूसरे को दिया जाता है, यह कार्य तो न तो पूर्ववर्ती (प्राचीन) शिष्ट लोगों ने कभी किया, न तो वर्तमान काल के (अर्वाचीन) शिष्ट लोग कभी करते हैं॥९९॥

नाऽनुशुश्रुम जात्वेतत् पूर्वेष्वपि हि जन्मसु।
शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छन्नं दुहितृविक्रयम्॥१००॥

शुल्क नामक मूल्य से परोक्ष रूप में पुत्री का विक्रय जो है उसको पूर्व जन्मों में (कल्पों में) भी कभी भी हम ने नहीं सुना॥१००॥

अन्योऽन्यस्याऽव्यभीचारो भवेदामरणाऽन्तिकः।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः॥१०१॥

मरण न होने तक पति-पत्नियों का परस्पर अनतिक्रमण होवे, सङ्क्षेप में स्त्री का और पुरुष का यही उत्कृष्ट धर्म समझा जाना चाहिए॥१०१॥

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ।
यथा नाऽभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम्॥१०२॥

विवाहक्रिया निष्पन्न करने वाले स्त्री और पुरुष सदाकाल उस प्रकार से प्रयत्न करें जिस से परस्पर में वियुक्त होकर धर्म-अर्थ-कामों के सम्पादन में प्रवृत्त न हों॥१०२॥

एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः।
आपद्यपत्यप्राप्तिश् च दायभागं निबोधत॥१०३॥

स्त्री का और पुरुष का परस्पर अनुरागवर्धन गुण से युक्त यह धर्म आप लोगों को बताया गया, आपत्काल में सन्तान की प्राप्ति की व्यवस्था भी बताई गई, अब दायभाग को (बँटवारे को) आप लोग जानिए॥१०३॥

ऊर्ध्वं पितुश् च मातुश् च समेत्य भ्रातरः समम्।
भजेरन् पैतृकं रिक्थमनीशास् ते हि जीवतोः॥१०४॥

पिता के और माता के मरण के बाद सभी भाई मिलकर पिता के (और माता के) धन को समान रूप से विभाग करे, क्योंकि पिता-माता जीवित रहने तक वे उस धन के स्वामी नहीं होते हैं॥१०४॥

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात् पित्र्यं धनमशेषतः।
शेषास् तमुपजीवेयुर् यथैव पितरं तथा॥१०५॥

ज्येष्ठ पुत्त्र ही पिता के सम्पूर्ण धन को ले, अवशिष्ट पुत्त्र जीविका के लिए जैसे पिता में आश्रित होकर रहते थे वैसे ही उसमें आश्रित होकर रहें॥१०५॥

ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः।
पितॄणामनृणश् चैव स तस्मात् सर्वमर्हति॥१०६॥

ज्येष्ठ पुत्त्र का जन्म होने से ही मनुष्य पुत्त्रवान् हो जाता है और पितरों के ऋण से मुक्त भी हो जाता है, इस लिए वह (ज्येष्ठ पुत्त्र) पिता के सम्पूर्ण धन को प्राप्त करने में योग्य होता है॥१०६॥

यस्मिन्नृणं सन्नयति येन चाऽऽनन्त्यमश्नुते।
स एव धर्मजः पुत्त्रः कामजानितरान् विदुः॥१०७॥

जिस में ऋषिऋण का, देवऋण का, पितृऋण का और मनुष्यऋण का भी भार (पिता) रखता है, जिस से अमृतत्व प्राप्त करता है वही धर्म से उत्पन्न पुत्त्र है, अन्य द्वितीयादि पुत्त्रों को तो मुनि लोग केवल कामवासना से उत्पन्न पुत्त्र मानते हैं।

विशेष– मनुष्य जन्म लेते ही ऋषि, पितृ, मनुष्य और देवताओं के प्रति ऋणी होकर जनम लेता है और उस ऋण को चुकाने के लिए इसको केवल अर्थकामपरक क्रियाकलाप मात्र में न लगकर वेदादिशास्त्रों का अध्ययन, धर्मपूर्वकसन्तानोत्पादन, अतिथिसत्कार (दूसरे व्यक्ति के प्रति अपने कर्तव्य का पालन) और यजन (यज्ञ) करना चाहिए, ऐसी वेद की व्यवस्था (कहना) है (द्रष्टव्य– माध्यन्दिनीय-वाजसनेयि-शुक्लयजुर्वेद-शतपथब्राह्मण १।७।२।१, तैत्तिरीयसंहिता ६।२।१०।५)। पिता लौकिक ऋण के साथ में ऋषिऋणादि को भी पुत्त्र में विश्रान्त करता है, यह भी वैदिक सिद्धान्त है (ऐतरेयिब्राह्मण ३३।१), इसके विधि को सम्प्रत्ति कहते हैं (मा.वा.शतपथ-ब्राह्मण १४।४।३।२५–२६, बृहदारण्यकोपनिषद् १।५।१७)॥१०७॥

पितेव पालयेत् पुत्त्राञ् ज्येष्ठो भ्रातॄन् यवीयसः।
पुत्त्रवच् चाऽपि वर्तेरञ् ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः॥१०८॥

जैसे पिता पुत्त्रों का पालन करता है वैसे ही जेठा भाई छोटे भाइयों का पालन करे, छोटे भाई लोग जेठे भाई में धर्म से पुत्त्रों की तरह वर्ताव करें॥१०८॥

ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः।
ज्येष्ठः पूज्यतमो लोके ज्येष्ठः सद्भिरगर्हितः॥१०९॥

जेठा भाई कुल को बढ़ा सकता है अथवा फिर नष्ट भी कर सकता है, लोक में जेठा सब से पूज्य होता है, जेठा सत्पुरुषों से अनिन्दित भी होता है॥१०९॥

यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान् मातेव स पितेव सः।
अज्येष्ठवृत्तिर् यस् तु स्यात् स सम्पूज्यस् तु बन्धुवत्॥११०॥

जो जेठा जेठे की तरह वर्ताव करता है वह माता की तरह और पिता की तरह भी होता है, जो जेठा जेठे की तरह वर्ताव नहीं करता है वह तो मामा इत्यादि बन्धुओं की तरह मान्य होता है॥११०॥

एवं सह वसेयुर् वा पृथग् वा धर्मकाम्यया।
पृथग् विवर्धते धर्मस् तस्माद् धर्म्या पृथक्क्रिया॥१११॥

इस प्रकार से भाई एक साथ रहें अथवा धर्म की इच्छा से अलग-अलग रहें। अलग-अलग रहने से धर्म बढता है, उस कारण से अलग-अलग रहने का काम धर्म का अविरुद्ध (धर्म्य) ही है।।१११।।

ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच् च यद् वरम्।
ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात् तुरीयं तु यवीयसः ।।११२।।

जेठे पुत्र को पिता के सम्पूर्ण धन में से बीसवाँ भाग अलग मिलता है, सभी द्रव्यों में से जो श्रेष्ठ द्रव्य है वह भी जेठे को मिलता है, मझले पुत्र को उसका आधा (चालीसवाँ भाग) अलग मिलता है और सब से छोटे पुत्र को उसका चौथाई भाग (अस्सीवाँ भाग) अलग मिलता है [अवशिष्ट धन सभी में बराबर बाँटा जाता है] ।।११२।।

ज्येष्ठश् चैव कनिष्ठश् च संहरेतां यथोदितम्।
येऽन्ये ज्येष्ठकनिष्ठाभ्यां तेषां स्यान् मध्यमं धनम् ।।११३।।

जेठा पुत्र और सब से छोटा पुत्र ऊपर बताए गए अलग धन को (उद्धार को) ले लें, जेठे और सब से छोटे से भिन्न बीच के जो जितने हैं उन सब को मध्यम धन (चालीसवाँ भाग) अलग धन के रूप में (उद्धार के रूप में) प्राप्त होगा।।११३।।

सर्वेषां धनजातानामाददीताऽग्र्यमग्रजः।
यच् च सातिशयं किञ्चिद् दशतश् चाप्नुयाद् वरम् ।।११४।।

धन के सभी प्रकारों में से एक-एक श्रेष्ठ वस्तु को जेठा भाई लेवे। यदि कोई एक ही वस्तु अत्यन्त उत्तम है तो उसको भी जेठा भाई पाएगा। पशुओं में दश-दश में एक-एक श्रेष्ठ पशु को भी जेठा भाई पाएगा।।११४।।

उद्धारो न दशस्वस्ति सम्पन्नानां स्वकर्मसु।
यत्किञ्चिदेव देयं तु ज्यायसे मानवर्धनम् ।।११५।।

ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्णों में अपने कर्मों में उत्तम भाइयों में जेठे भाई का दश-दश पशुओं में एक-एक पशु का अलग लेना नहीं होता है। जेठे भाई को सम्मान बढाने वाला कोई एक वस्तु दिया जाना चाहिए।।११५।।

एवं समुदधृतोद्धारे समानंशान् प्रकल्पयेत्।
उद्धारेऽनुदधृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना ।।११६।।

इस प्रकार से कुछ अलग सम्पत्ति (उद्धार) लिए जाने पर अवशिष्ट धन में सभी भाइयों का समान भाग कर ले। कुछ अलग सम्पत्ति (उद्धार) न लिए जाने पर तो भाग की कल्पना ऐसी (आगे के श्लोक में बताई गई) होगी।।११६।।

एकाऽधिकं हरेज् ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्धं ततोऽनुजः।
अंशमंशं यवीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः॥११७॥

जेठा पुत्र एक अंश अधिक अंश लेवे (दो अंश लेवे), उसके बाद का पुत्र आधा अंश अधिक अंश (डेढ अंश लेवे), अन्य सभी छोटे भाई एक-एक अंश लेवें, ऐसा धर्म (प्रजापति से) व्यवस्थापित है॥११७॥

स्वेभ्योऽंशेभ्यस् तु कन्याभ्यः प्रदद्युर् भ्रातरः पृथक्।
स्वात्स्वादंशाच् चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः॥११८॥

भाई लोग भाइयों के अंशों से अपने-अपने अंश से चौथाई-चौथाई भाग अलग-अलग बहनों को दें। इस रीति से देने की इच्छा नहीं करने वाले भाई लोग पतित (स्वकर्तव्यच्युत) होंगे॥११८॥

अजाऽविकं सैकशफं न जातु विषमं भजेत्।
अजाऽविकं तु विषमं ज्येष्ठस्यैव विधीयते॥११९॥

बकरियों की, भेडों की, घोडों की, खच्चरों की, गधों की सङ्ख्या सभी भाइयों में समभाग करने में अनुपयुक्त रूप में विषम होने पर उनका विभाग कभी भी न करे। विषम सङ्ख्या की बकरियाँ, भेड़, घोड़ा, खच्चर, गधा सब जेठे भाई के ही होने की बात शास्त्र में विहित है॥११९॥

यवीयाञ् ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद् यदि।
समस् तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः॥१२०॥

यदि छोटा भाई जेठे भाई की पत्नी में (नियोग से) पुत्र उत्पन्न करता है तो वहाँ विभाग सम रूप में होगा, ऐसा धर्म (प्रजापति से) व्यवस्थापित है॥१२०॥

उपसर्जनं प्रधानस्य धर्मतो नोपपद्यते।
पिता प्रधानं प्रजने तस्माद् धर्मेण तं भजेत्॥१२१॥

गौण वस्तु प्रधान के धर्म से सर्वथा सम्पन्न नहीं हो सकता है, प्रजनन में उत्पादक पिता प्रधान है, इस लिए उक्त धर्म से ही क्षेत्रज पुत्र को विभक्त करे॥१२१॥

पुत्रः कनिष्ठो ज्येष्ठायां कनिष्ठायां च पूर्वजः।
कथं तत्र विभागः स्यादिति चेत् संशयो भवेत्॥१२२॥

यदि पहले ब्याही गई पत्नी में उत्पन्न पुत्र छोटा है और पीछे ब्याही गई पत्नी में उत्पन्न पुत्र बडा है तो वहाँ दायभाग कैसे होगा, यदि ऐसा सन्देह हो तो–॥१२२॥

एकं वृषभमुद्धारं संहरेत स पूर्वजः।
ततोऽपरे ज्येष्ठवृषास् तदूनानां स्वमातृतः॥१२३॥

वह पहले ब्याही गई पत्नी में उत्पन्न छोटा पुत्र एक श्रेष्ठ बैल को अलग रूप से (उद्धार के रूप में) लेवे। उस से अवशिष्ट जो श्रेष्ठ बैल होते हैं वे अपनी माता की कनिष्ठता के क्रम से उस से कनिष्ठों के होंगे॥१२३॥

ज्येष्ठस् तु जातो ज्येष्ठायां हरेद् वृषभषोडशाः।
ततः स्वमातृतः शेषा भजेरन्निति धारणा॥१२४॥

पहले ब्याही गई पत्नी में उत्पन्न और पुत्रों में भी सब से पहले उत्पन्न पुत्र तो सोलहवें बैल से युक्त पन्द्रह गायों को अलग रूप से (उद्धार के रूप में) लेवे, उसके बाद अवशिष्ट भाई अपनी माता के विवाह के क्रम से भाग लेवें, ऐसा शास्त्र का निर्णय है॥१२४॥

सदृशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः।
न मातृतो ज्यैष्ठ्यमस्ति जन्मतो ज्यैष्ठ्यमुच्यते॥१२५॥

तुल्य जाति की पत्नियों में उत्पन्न पुत्रों में विशेष (फर्क) न होने से माता के (ब्याह के) क्रम से ज्येष्ठता नहीं होती है, जन्म से ही ज्येष्ठता कही जाती है॥१२५॥

जन्मज्येष्ठेन चाऽऽह्वानं सुब्रह्मण्यास्वपि स्मृतम्।
यमयोश् चैव गर्भेषु जन्मतो ज्येष्ठता स्मृता॥१२६॥

श्रौत यज्ञों के सुब्रह्मण्याह्वानों में भी जन्म से जेठे पुत्र का नाम लेकर सुब्रह्मण्याह्वान किया जाता है। गर्भों में जुडवों के रूप में रहे हुए जातकों में भी जन्म से ही ज्येष्ठता समझी गई है।

विशेष— सुब्रह्मण्याह्वान सोमयागों में होता है। इसमें सोमपान के लिए इन्द्रादि का आह्वान किया जाता है। इसमें यजमान को अमुक का पुत्र, अमुक का पौत्र, अमुक का प्रपौत्र, अमुक का पिता इत्यादि रूप में उल्लिखित किया जाता है। सुब्रह्मण्याह्वान का उदाहरण काठमाण्डू के स्वाद्ध्यायशालाकुटुम्ब से प्रकाशित हमारी कौण्डिन्न्यायनशिक्षा (२०४९ वै.) के स्वरप्रकरण में (श्लो.७३, पृ.३८९–३९०) स्पष्ट रूप में दिखाया गया है॥१२६॥

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम्।
यदपत्यं भवेदस्यां तन् मम स्यात् स्वधाकरम्॥१२७॥

[अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलङ्कृताम्।
अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति॥]

पुत्र से रहित पुरुष 'इस कन्या में जो पुत्र होगा वह मेरा पिण्डदाता होगा' ऐसा कहकर इस विधि से पुत्री को 'पुत्रिका' बनाए॥१२७॥

[आप को मैं भाई से रहित विभूषित कन्या दूंगा, इसमें जो पुत्र उत्पन्न होता है वह मेरा पुत्र होगा, ऐसा कहे।]

अनेन तु विधानेन पुरा चक्रेऽथ पुत्रिकाः।
विवृद्ध्यर्थं स्ववंशस्य स्वयं दक्षः प्रजापतिः॥१२८॥

स्वयं दक्ष प्रजापति से अपने वंश की फैलाव के लिए पुराकाल में इसी विधि से पुत्रिकाएँ बनाई गई थीं॥१२८॥

ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश।
सोमाय राज्ञे सत्कृत्य प्रीताऽऽत्मा सप्तविंशतिम्॥१२९॥

उन्हों ने प्रसन्नचित्त होकर सत्कार करके दश पुत्रिकाएँ धर्म को, तेरह पुत्रिकाएँ कश्यप को और सोम राजा को सत्ताईस पुत्रिकाएँ दी थीं॥१२९॥

यथैवाऽऽत्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥१३०॥

जैसा स्वयम् है पुत्र वैसा ही है, पुत्री पुत्र से तुल्य ही है। आत्मस्वरूपा उस पुत्री के रहने पर दूसरा मनुष्य कैसे उसके पिता का धन ले सकेगा॥१३०॥

मातुस् तु यौतकं यत् स्यात् कुमारीभाग एव सः।
दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याऽखिलं धनम्॥१३१॥

माता का अपने विवाह के समय में पितृपक्ष के जनों से दिया गया जो धन (दहेज) है वह तो अविवाहित पुत्री का ही भाग है। पुत्र से रहित मनुष्य के सम्पूर्ण धन को पुत्रिका का पुत्र ही लेवे॥१३१॥

दौहित्रो ह्यखिलं रिक्थमपुत्रस्य पितुर् हरेत्।
स एव दद्याद् द्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च॥१३२॥

पुत्र से रहित पिता के सम्पूर्ण धन को पुत्रिका का पुत्र (दौहित्र) ही लेवे। वह ही अपने पिता को और नाना को भी दो पिण्ड देवे [दोनों का और्ध्वदेहिक क्रिया करे और सांवत्सरिक श्राद्ध भी किया करे]॥१३२॥

पौत्रदौहित्रयोर् लोके न विशेषोऽस्ति धर्मतः।
तयोर् हि मातापितरौ सम्भूतौ तस्य देहतः॥१३३॥

पोते (पौत्र) में और धेवते (दौहित्र) में धर्म से कोई विशेष (फर्क) नहीं है, क्योंकि उनमें पोते का पिता और धेवते की माता उसके (उसी पिता के) देह से उत्पन्न हुए हैं॥१३३॥

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते।
समस् तत्र विभागः स्याज् ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः॥१३४॥

यदि पुत्रिका बनाई जाने पर पीछे पुत्र उत्पन्न होता है तो वहाँ सम विभाग होगा, क्योंकि स्त्री की ज्येष्ठता शास्त्र में नहीं मानी गई है॥१३४॥

अपुत्रायां मृतायां तु पुत्रिकायां कथञ्चन।
धनं तत्पुत्रिकाभर्ता हरेतैवाऽविचारयन्॥१३५॥

किसी तरह पुत्रिका पुत्र को जन्म न देकर ही मर जाती है तो भी उस पुत्रिका का धन पुत्रिका का पति 'लें अथवा न लें' ऐसा विचार नहीं करके लेवे ही॥१३५॥

अकृता वा कृता वाऽपि यं विन्देत् सदृशात् सुतम्।
पौत्री मातामहस् तेन दद्यात् पिण्डं हरेद् धनम्॥१३६॥

वचन से पुत्रिका बनाई गई हो अथवा नहीं बनाई गई हो तो भी वह (सङ्कल्प मात्र से पुत्रिका बनाई गई स्त्री भी) सजातीय पुरुष से जो पुत्र प्राप्त करती है उस पुत्र से स्वपुत्ररहित नाना पुत्रवान् होता है, इस लिए वह पुत्र मातामह को पिण्ड दे और उसका धन लेवे॥१३६॥

पुत्रेण लोकाञ् जयति पौत्रेणाऽऽनन्त्यमश्नुते।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याऽऽप्नोति विष्टपम्॥१३७॥

पुत्र से लोकों को प्राप्त करता है, पौत्र से उन लोकों की अनन्तता को (अनन्त काल तक उन लोकों में निवास को) प्राप्त करता है। उसके आगे पुत्र के पौत्र से सूर्य के लोक को [प्रकाशमय लोक को, अज्ञान-तमो-रहित लोक को] प्राप्त करता है॥१३७॥

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् त्रायते पितरं सुतः।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा॥१३८॥

क्योंकि पुत् नाम के नरक में पड़ने से पिता को बचाता है इस लिए ब्रह्मा जी ने स्वयम् ही पुरुष सन्तान को पुत्र (पुत्र) बताया है।

विशेष— **"पुदिति नरकं ख्यातं दुःखं च नरकं विदुः। पुदस् त्राणात् ततः पुत्रमिहेच्छति परत्र च"** ऐसा वचन महाभारत के खिलभाग हरिवंश में (३।७३।२९-३०) है, और वराहपुराण में (१९३।२७) भी कुछ इसी प्रकार का वचन पाया जाता है। चौखम्बा विद्याभवन से प्रकाशित (सन् २००४) मूल गरुडपुराण के ४९ अध्यायात्मक द्वितीयांशरूप धर्मकाण्ड के (प्रेतकल्प के) हमारे हिन्दी अनुवाद में (२१।३३, पृ.२८९) इस विषय के ग्रन्थान्तरों.का विवरण भी देखें॥१३८॥

पौत्रदौहित्रयोर् लोके विशेषो नोपपद्यते।
दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं सन्तारयति पौत्रवत्॥१३९॥

पोते (पौत्र) में और धेवते (दौहित्र) में कोई विशेष (फर्क) नहीं हो सकता है, क्योंकि धेवता भी इसको परलोक में पोते की तरह ही नरक से पार उतारता है॥१३९॥

मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत् पुत्रिकासुतः।
द्वितीयं तु पितुस् तस्यास् तृतीयं तत्पितुः पितुः॥१४०॥

पुत्रिका का पुत्र पहले माता को पिण्ड दे, दूसरे स्थान में उसके (माता के) पिता को पिण्ड दे, तीसरे स्थान में उसके (माता के) पिता के पिता को पिण्ड दे॥१४०॥

उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दत्त्रिमः।
स हरेतैव तद्रिक्थं सम्प्राप्तोऽप्यन्यगोत्रतः॥१४१॥

जिस का सभी गुणों से युक्त दत्तक-पुत्र है वह दत्तक-पुत्र यदि अन्य गोत्र से आया हुआ हो तो भी उसका धन प्राप्त करेगा ही॥१४१॥

गोत्ररिक्थे जनयितुर् न हरेद् दत्त्रिमः क्वचित्।
गोत्ररिक्थाऽनुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा॥१४२॥

दत्तक पुत्र अपने उत्पादक के गोत्र को और धन को भी कहीं भी प्राप्त नहीं करेगा, पिण्ड गोत्र का और धन का अनुगामी होता है, पुत्र-दान करने वाले को उस पुत्र से प्राप्त होने वाली स्वधा (पिण्ड) नहीं प्राप्त होती है॥१४२॥

अनियुक्तासुतश् चैव पुत्रिण्याऽऽप्तश् च देवरात्।
उभौ तौ नाऽर्हतो भागं जारजातक-कामजौ॥१४३॥

अनियुक्ता स्त्री का परपुरुष से उत्पन्न पुत्र और पुत्रवती स्त्री का देवर से उत्पन्न पुत्र भी वे दोनों ही क्रमशः जार से उत्पन्न और केवल कामवासना से उत्पन्न होने से धन में भाग (दायभाग) पाने में योग्य नहीं होते हैं॥१४३॥

नियुक्तायामपि पुमान् नार्यां जातोऽविधानतः।
नैवाऽर्हः पैतृकं रिक्थं पतितोत्पादितो हि सः ॥१४४॥

नियुक्ता स्त्री में भी शास्त्र के विधान से विरुद्ध रूप में उत्पन्न पुत्र पिता के धन को प्राप्त करने में योग्य नहीं होता है, क्योंकि वह पतित से उत्पादित है॥१४४॥

हरेत् तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः।
क्षेत्रिकस्य तु तद् बीजं धर्मतः प्रसवश् च सः ॥१४५॥

नियुक्ता स्त्री में उत्पन्न (क्षेत्रज) पुत्र औरस पुत्र की तरह ही पिता के धन को प्राप्त करे। देवरादि से निषिक्त होने पर भी वह बीज धर्म से तो क्षेत्रिक का (क्षेत्र को [स्त्री को] ब्याह करने वाले स्वामी का) ही है, उस बीज से उत्पन्न वह सन्तान भी उसी का है॥१४५॥

धनं यो बिभृयाद् भ्रातुर् मृतस्य स्त्रियमेव च।
सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात् तस्यैव तद् धनम् ॥१४६॥

मरे हुए भाई के धन को और पत्नी को जो लेता है (रक्षा करता है) वह भाई की पत्नी में (नियोग से) भाई का सन्तान उत्पन्न करके उसी को वह धन भी दे॥१४६॥

या नियुक्ताऽन्यतः पुत्रं देवराद् वाऽप्यवाऽऽप्नुयात्।
तं कामजमरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते ॥१४७॥

जो नियुक्ता स्त्री अन्य पुरुष से अथवा देवर से पुत्र प्राप्त करेगी यदि वह धर्मज न होकर कामज है तो उसको धर्मतत्त्वज्ञ मुनि लोग व्यर्थ उत्पन्न और पिता के धन को प्राप्त करने में अयोग्य बताते हैं॥१४७॥

एतद् विधानं विज्ञेयं विभागस्यैकयोनिषु।
बह्वीषु चैकजातानां नानास्त्रीषु निबोधत ॥१४८॥

एक ही जाति की स्त्रियों में उत्पन्न पुत्रों में पिता के धन के विभाग का यह विधान जानना चाहिए। [अब] एक पिता से भिन्न जाति की अनेक स्त्रियों में उत्पन्न पुत्रों में पिता के धन के विभाग का विधान जानिए॥१४८॥

ब्राह्मणस्याऽऽनुपूर्व्येण चतस्रस् तु यदि स्त्रियः।
तासां पुत्रेषु जातेषु विभागेऽयं विधिः स्मृतः ॥१४९॥

यदि ब्राह्मण के वर्णक्रम से चार विवाहित स्त्रियाँ होती हैं तो, उनके पुत्र उत्पन्न होने पर धन के विभाग में यह (आगे बताया जा रहा) विधि मुनियों से समझा गया है॥१४९॥

कीनाशो गोवृषो यानमलङ्कारश् च वेश्म च।
विप्रस्यौद्धारिकं देयमेकाऽंशश् च प्रधानतः॥१५०॥

ब्राह्मण को (ब्राह्मणीपुत्र को) एक हरवाहा दास, गाय का साँड़, घोड़ा इत्यादि एक वाहन, (पिता का) मुख्य आभूषण, (पिता का) मुख्य घर धन के प्रकारों में से एक-एक श्रेष्ठ वस्तु उद्धार के रूप में अलग दिया जाना चाहिए॥१५०॥

त्र्यंशं दायाद् धरेद् विप्रो द्वावंशौ क्षत्रियासुतः।
वैश्याजः साऽर्धमेवाऽंशमंशं शूद्रासुतो हरेत्॥१५१॥

पिता के धन में से ब्राह्मण (ब्राह्मणी का पुत्र) तीन भाग ले, क्षत्रिया का पुत्र दो भाग ले, वैश्या का पुत्र डेढ़ भाग ले और शूद्रा का पुत्र एक भाग ले॥१५१॥

सर्वं वा रिक्थजातं तद् दशधा परिकल्प्य च।
धर्म्यं विभागं कुर्वीत विधिनाऽनेन धर्मवित्॥१५२॥

अथवा पिता के उस सम्पूर्ण धन को दश समान भागों में बाँटकर धर्मतत्त्व जानने वाला पुरुष इस (आगे बताए जा रहे) विधि से धर्म का अविरुद्ध विभाग करे॥१५२॥

चतुरोऽंशान् हरेद् विप्रस् त्रीनंशान् क्षत्रियासुतः।
वैश्यापुत्रो हरेद् द्व्यंशमंशं शूद्रासुतो हरेत्॥१५३॥

(उन दश भागों में से) ब्राह्मण (ब्राह्मणी का पुत्र) चार भाग ले, क्षत्रिया का पुत्र तीन भाग ले, वैश्या का पुत्र दो भाग ले और शूद्रा का पुत्र एक भाग ले॥१५३॥

यद्यपि स्यात् तु सत्पुत्रोऽप्यसत्पुत्रोऽपि वा भवेत्।
नाऽधिकं दशमाद् दद्याच् छूद्रापुत्राय धर्मतः॥१५४॥

पिता यदि द्विजाति स्त्री में उत्पन्न पुत्र से युक्त हो अथवा द्विजाति स्त्री में उत्पन्न पुत्र से रहित हो तो भी धर्म को विचार में रखकर शूद्रा स्त्री में उत्पन्न पुत्र को (धन का सन्निहित द्विजाति अधिकारी) उस धन में से दशवें भाग से अधिक न दे॥१५४॥

ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभाक्।
यदेवाऽस्य पिता दद्यात् तदेवाऽस्य धनं भवेत्॥१५५॥

ब्राह्मण का अथवा क्षत्रिय का अथवा वैश्य का (सङ्गृहीता) शूद्रा स्त्री में उत्पन्न पुत्र दायभाग पाने वाला नहीं होता है, पिता इसको जो कुछ देगा वही इसका धन होगा॥१५५॥

समवर्णासु ये जाताः सर्वे पुत्रा द्विजन्मनाम्।
उद्धारं ज्यायसे दत्त्वा भजेरन्नितरे समम्॥१५६॥

द्विजातियों के समान वर्ण वाली स्त्रियों में उत्पन्न सभी पुत्र जेठे भाई को कुछ अतिरिक्त धन (उद्धार) देकर अवशिष्ट धन का सभी भाई समान भाग प्राप्त करें॥१५६॥

शूद्रस्य तु सवर्णैव नाऽन्या भार्या विधीयते।
तस्यां जाताः समांशाः स्युर् यदि पुत्रशतं भवेत्॥१५७॥

शूद्र की तो सवर्णा (शूद्रा) स्त्री ही भार्या शास्त्र से विहित है, दूसरी स्त्री शास्त्रविहित नहीं, यदि सौ भी पुत्र हों तो भी शूद्र की सवर्णा भार्या में उत्पन्न सभी पुत्र पिता के धन से समान रूप में ही भाग पाने वाले होंगे॥१५७॥

पुत्रान् द्वादश यानाह नृणां स्वायम्भुवो मनुः।
तेषां षड् बन्धुदायादाः षडदायादबान्धवाः॥१५८॥

स्वायम्भुव मनु ने मनुष्यों के जो बारह प्रकार के पुत्र बताएँ है उनमें से छह [औरस, क्षेत्रज, दत्त्रिम, कृत्रिम, गूढज और अपविद्ध] बन्धु (पिण्ड-पानी देने वाले) और दायाद (पैतृक धन पाने वाले) होते हैं, छह [कानीन, सहोढ, क्रीतक, पौनर्भव, स्वयंदत्त और पारशव] अदायाद (पैतृक धन न पाने वाले) बान्धव (पिण्ड पानी देने वाले) होते हैं॥१५८॥

औरसः क्षेत्रजश् चैव दत्तः कृत्रिम एव च।
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश् च दायादा बान्धवाश् च षट्॥१५९॥

औरस पुत्र, क्षेत्रज पुत्र, दत्तक पुत्र, कृत्रिम पुत्र, गूढोत्पन्न पुत्र और अपविद्ध पुत्र ये छह पुत्र दायाद (पैतृक धन पाने वाले) और बान्धव (पिण्ड-पानी देने वाले) भी होते हैं। [इन पुत्रों का लक्षण आगे (१६६–१७१ श्लो.) बताया जाएगा]॥१५९॥

कानीनश् च सहोढश् च क्रीतः पौनर्भवस् तथा।
स्वयंदत्तश् च शौद्रश् च षडदायादबान्धवाः॥१६०॥

कानीन पुत्र, सहोढ पुत्र, क्रीत पुत्र, पौनर्भव पुत्र, स्वयंदत्त पुत्र और शौद्र (पारशव) पुत्र ये छह अदायाद (पैतृक धन न पाने वाले) बान्धव (पिण्ड-पानी देने वाले) पुत्र हैं। [इन पुत्रों का लक्षण आगे (१७२–१७८ श्लो.) बताया जाएगा]॥१६०॥

यादृशं फलमाप्नोति कुप्लवैः सन्तरञ् जलम्।
तादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रैः सन्तरंस् तमः॥१६१॥

टूटी फूटी छिद्र वाली (खराब) नावों से अगाध जल को पार करने में उद्यत मनुष्य जैसा फल पाता है, कुपुत्रों से नरकरूप अन्धकार को पार करने में उद्यत मनुष्य भी वैसा ही फल पाता है॥१६१॥

यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ सुतौ।
यस्य यत् पैतृकं रिक्थं स तद् गृह्णीत नेतरः॥१६२॥

यदि किसी प्रकार औरस पुत्र और क्षेत्रज पुत्र एक ही पिता के धन के सम्भावित उत्तराधिकारी होते हैं तो जिस का जो बीजद पिता का धन है वही उस धन को लेवे, दूसरा नहीं॥१६२॥

एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः।
शेषाणामानृशंस्यार्ऽथं प्रदद्यात् तु प्रजीवनम्॥१६३॥

केवल औरस पुत्र ही पिता के धन का स्वामी है, (क्षेत्रज पुत्र को छोडकर) अन्य पुत्रों को तो कारुण्य की रक्षा के लिए केवल जीविकासाधन ही दे॥१६३॥

षष्ठं तु क्षेत्रजस्यार्ऽशं प्रदद्यात् पैतृकाद् धनात्।
औरसो विभजन् दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा॥१६४॥

पैतृक धन का विभाग करता हुआ औरस पुत्र क्षेत्रज पुत्र को तो पैतृक धन से छठा अथवा पाँचवाँ ही भाग दे॥१६४॥

औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ।
दशार्ऽपरे तु क्रमशो गोत्ररिक्थार्ऽशभागिनः॥१६५॥

औरस पुत्र और क्षेत्रज पुत्र ये दो ही पिता के धन का भाग पाने वाले होते हैं, अन्य दश प्रकार के पुत्र तो गोत्र और (पूर्व-पूर्व के अभाव में) क्रमशः रिक्थांश (जीविका) मात्र पाने वाले होते हैं॥१६५॥

स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद् धि यम्।
तमौरसं विजानीयात् पुत्रं प्रथमकल्पितम्॥१६६॥

गृह्यसूत्र के अनुसार अपने से ही विवाहसंस्कार से संस्कृत अपनी पत्नी में जो पुरुष स्वयम् ही जिस पुत्र का उत्पादन करेगा उस पुरुष के उस पुत्र को पुत्रों में प्रथम स्थान में रखा गया औरस पुत्र जाने॥१६६॥

यस् तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा।
स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः॥१६७॥

मरे हुए पुरुष की अथवा नपुंसक पुरुष की अथवा दीर्घरोगपीडित पुरुष की अपने धर्म के अनुसार नियुक्त की गई पत्नी में दूसरे पुरुष से (नियोगधर्म से) जो पुत्र उत्पन्न होता है वह क्षेत्रज पुत्र समझा गया है॥१६७॥

माता पिता वा दद्यातां यमद्‌भिः पुत्त्रमापदि।
सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्त्रिमः सुतः ॥१६८॥

माता अथवा पिता पुत्र के अभाव से आपत् में पड़े हुए पुरुष के लिए जिस समानजातीय पुत्र को प्रेम से पानी लेकर देते हैं उसको दत्त्रिम (दत्तक) पुत्र जानना चाहिए॥१६८॥

सदृशं तु प्रकुर्याद् यं गुणदोषविचक्षणम्।
पुत्त्रं पुत्त्रगुणैर् युक्तं स विज्ञेयश् च कृत्रिमः ॥१६९॥

पिण्डदानादि कर्मों के करने में गुणों को और न करने में दोषों को जानने वाले, पुत्रगुणों से युक्त और समानजातीय जिस अन्यपुत्र को मनुष्य स्वपुत्र बनाता है उसको कृत्रिम पुत्र (धर्मपुत्र) जानना चाहिए॥१६९॥

उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य सः।
स गृहे गूढ उत्पन्नस् तस्य स्याद् यस्य तल्पजः ॥१७०॥

जो पुत्र किसी के घर में गुप्त रूप में (सवर्ण पुरुष से) उत्पन्न होता है, किन्तु वह किस के वीर्य से उत्पन्न हुआ है, यह नहीं जाना जाता है तो वह जिस की पत्नी में उत्पन्न हुआ है उसी का गूढज पुत्र होगा॥१७०॥

मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा।
यं पुत्त्रं परिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते ॥१७१॥

माता-पिता दोनों से अथवा उनमें से किसी एक से छोडे गए जिस बालक पुरुष को मनुष्य (सवर्ण) पुत्र के रूप में लेगा वह उस मनुष्य का अपविद्ध पुत्र कहा जाता है॥१७१॥

पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्त्रं जनयेद् रहः।
तं कानीनं वदेन् नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्‌भवम् ॥१७२॥

पिता के घर में रहती हुई कन्या जिस पुत्र को गुप्त रूप में उत्पन्न करती है कन्या में उत्पन्न उस पुत्र को उस कन्या को ब्याहने वाले का नाम से (सवर्ण) कानीन पुत्र कहे॥१७२॥

या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताऽज्ञाताऽपि वा सती।
वोढुः स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते॥१७३॥

गर्भिणी के रूप में जानी गई अथवा नहीं जानी गई भी जो गर्भिणी कन्या विवाहसंस्कार से संस्कृत करके ली जाती है उसका वह गर्भ विवाह करने वाले का होता है और उस गर्भ से उत्पन्न पुत्र सहोढ पुत्र कहा जाता है॥१७३॥

क्रीणीयाद् यस् त्वपत्यार्थं मातापित्रोर् यमन्तिकात्।
स क्रीतकः सुतस् तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा॥१७४॥

माता-पिता के पास से जिस को सन्तान के लिए जो मनुष्य कीनेगा गुण से तुल्य (सजातीय) अथवा गुण से अतुल्य (असजातीय) जो भी हो तो भी वह उसका क्रीतकपुत्र होता है॥१७४॥

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया।
उत्पादयेत् पुनर् भूत्वा स पौनर्भव उच्यते॥१७५॥

जो पति से छोडी गई स्त्री अथवा विधवा स्त्री अपनी इच्छा से फिर अन्य पुरुष की स्त्री होकर जिस पुत्र को उत्पन्न करेगी वह पुत्र (उत्पादक का) पौनर्भव पुत्र कहा जाता है॥१७५॥

सा चेदक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्यागताऽपि वा।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति॥१७६॥

यदि वह पति से छोडी गई स्त्री अथवा विधवा स्त्री अक्षतयोनि (सम्भोग से रहित) है तो उस से आश्रित दूसरे पति से वह फिर संस्कृत की जा सकती है; यदि कोई स्त्री विवाह करने वाले प्रथम पति को छोडकर दूसरे पुरुष के यहाँ जाकरके भी लौटकर विवाह करने वाले प्रथम पति के यहाँ आती है वह भी प्रथम पति से फिर संस्कृत की जा सकती है [यहाँ संस्कार मूल संस्कार नहीं है, दूसरी कोटि का संस्कार है]॥१७६॥

मातापितृविहीनो यस् त्यक्तो वा स्यादकारणात्।
आत्मानं स्पर्शयेद् यस्मै स्वयन्दत्तस् तु स स्मृतः॥१७७॥

माता-पिता से रहित अथवा विना कारण ही माता-पिता से परित्यक्त जो पुरुष स्वयम् ही अपने को पुत्र के रूप में जिस को देता है वह उसका स्वयंदत्त पुत्र समझा गया है॥१७७॥

यं ब्राह्मणस् तु शूद्रायां कामादुत्पादयेत् सुतम्।
स पारयन्नेव शवस् तस्मात् पारशवः स्मृतः ॥१७८॥

जिस पुत्र को ब्राह्मण पुरुष शूद्रा स्त्री में कामवासना के वशीभूत होकर उत्पन्न करता है, वह लौकिक कार्य पार करता हुआ (जीता हुआ) ही (पिता के और्ध्वदेहिक कार्य के लिए सर्वथा अयोग्य होने से) शवतुल्य होता है, इस लिए वह पारशव समझा गया है॥१७८॥

दास्यां वा दासदास्यां वा यः शूद्रस्य सुतो भवेत्।
सोऽनुज्ञातो हरेदंशमिति धर्मो व्यवस्थितः ॥१७९॥

स्वयम् दासी में अथवा दास की दासी में जो शूद्र का पुत्र होगा वह पिता से अनुमत होने पर विवाहिता शूद्रा के पुत्रों के समान ही दायभाग प्राप्त करेगा, यह धर्मशास्त्र में निर्णीत है॥१७९॥

क्षेत्रजादीन् सुतानेतानेकादश यथोदितान्।
पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान् मनीषिणः ॥१८०॥

ऊपर जैसे वर्णित किए गए हैं उन क्षेत्रज इत्यादि ग्यारह पुत्रों को विद्वान् लोग पुत्रोत्पादनविधान के और पिण्डोदक-क्रियाओं के लोप का प्रसङ्ग आने से (वैसा न हो इस प्रयोजन के लिए) पुत्र के प्रतिनिधि के रूप में बनाए गए पुत्र बताते हैं॥१८०॥

य एतेऽभिहिताः पुत्राः प्रसङ्गादन्यबीजजाः।
यस्य ते बीजतो जातास् तस्य ते नेतरस्य तु ॥१८१॥

जो ये दूसरे के बीज से उत्पन्न (क्षेत्रजादि) पुत्र औरसपुत्र के प्रसङ्ग में बताए गए हैं, वे जिस के बीज से उत्पन्न हैं वे उसी के पुत्र हैं, दूसरे के नहीं।

विशेष— पूर्वश्लोक से ग्यारह प्रकार के क्षेत्रजादि पुत्रों का विधान किया गया है, इस श्लोक से भङ्गीविशेष में उन पुत्रों का निषेध किया गया है। इस से क्षेत्रजादि पुत्र बनाने की व्यवस्था वैकल्पिक अवगत होती है। अतः कानीन, सहोढ, पौनर्भव, गूढज रिक्थभागी नहीं माने जाते है॥१८१॥

भ्रातॄणामेकजातानामेकश् चेत् पुत्रवान् भवेत्।
सर्वांस् तांस् तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत् ॥१८२॥

एक माता-पिता से उत्पन्न भाइयों में यदि एक पुत्रवान् होगा तो उस पुत्र से उन सभी भाइयों को मनु ने पुत्रवान् कहा॥१८२॥

सर्वासामेकपत्नीनामेका चेत् पुत्रिणी भवेत्।
सर्वास् तास् तेन पुत्रेण प्राऽऽह पुत्रवतीर् मनुः ॥१८३॥

एक पुरुष के सभी पत्नियों में से यदि कोई एक पुत्रवती होगी तो उस पुत्र से उन सभी पत्नियों को मनु पुत्रवती कहते हैं॥१८३॥

श्रेयसः श्रेयसोऽलाभे पापीयान् रिक्थमर्हति।
बहवश् चेत् तु सदृशाः सर्वे रिक्थस्य भागिनः ॥१८४॥

उत्तम-उत्तम पुत्र के अभाव में निकृष्ट-निकृष्ट पुत्र पिता का धन पाने में योग्य होता है। यदि समान रूप के अनेक पुत्र हैं तो सभी पिता के धन में भाग पाने वाले होते हैं॥१८४॥

न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः।
पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च ॥१८५॥

किसी के भाई उसका धन पाने वाले नहीं होते हैं, पिता लोग भी किसी का धन पाने वाले नहीं होते हैं, पुत्र ही (औरस पुत्र के अभाव में क्षेत्रजादि पुत्र ही) पिता का धन पाने वाले होते हैं। पुत्र से रहित मनुष्य का धन पिता लेवे, अथवा भाई लोग लेवें॥१८५॥

त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते।
चतुर्थः सम्प्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते ॥१८६॥

[असुतास् तु पितुः पत्न्यः समानांशाः प्रकीर्तिताः।
पितामह्यश् च ताः सर्वा मातृकल्पाः प्रकीर्तिताः ॥]

तीन पुरुषों को (पिता, पितामह और प्रपितामह को) पानी देना चाहिए, पिण्ड भी तीन पुरुषों में ही प्रवृत्त होता है, इन में चौथा पानी का और पिण्ड का दाता होता है, पिण्ड-पानी देने वालों और पाने वालों में पाँचवाँ कोई नहीं हो सकता है॥१८६॥

[पिता के पुत्र से रहित पत्नियाँ तथा पितामह की पत्नियाँ भी समान दायभाग पाने वाली होती हैं, वे सब माता की समान बताई गई हैं।]

अनन्तरः सपिण्डाद् यस् तस्यतस्य धनं भवेत्।
अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा ॥१८७॥

किसी का धन उसके सपिण्डों में से जो-जो उसका व्यवधायकरहित (सब से नजदीक का) सपिण्ड है उसी-उसी का होगा, सपिण्ड के अभाव में उसका

व्यवधायकरहित समानोदक सकुल्य उसका धन पाने वाला होगा, समानोदक सकुल्य के अभाव में उसका आचार्य उसका धन पाने वाला होगा, आचार्य के अभाव में उसका शिष्य उसका धन पाने वाला होगा।

विशेष– यद्यपि सपिण्ड इत्यादि शब्द यौगिक हैं तथापि ये अर्थविशेष में रूढ भी हैं। अतः ये यौगिकरूढ हैं। एक ही पुरुष से निकले हुए सातवें पुरुष तक के पुरुष सपिण्ड, उस से आगे चौदहवें पुरुष तक के पुरुष समानोदक और उस से आगे इक्कीसवें पुरुष तक के पुरुष सकुल्य तथा उस से आगे के सभी पुरुष सगोत्र कहे जाते हैं॥१८७॥

सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थभागिनः।
त्रैविद्याः शुचयो दान्तास् तथा धर्मो न हीयते॥१८८॥

उक्त सभी का अभाव होने पर तीन वेद को पढ़ने वाले शुद्ध हृदय वाले जितेन्द्रिय ब्राह्मण उसके धन को पाने वाले होते हैं, वैसा करने से धर्म नहीं छूट जाता है॥१८८॥

अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः।
इतरेषां तु वर्णानां सर्वाऽभावे हरेन् नृपः॥१८९॥

ब्राह्मण का धन राजा से कदापि नहीं लिया जाना चाहिए, ऐसी धर्मशास्त्र की व्यवस्था है, अन्य वर्णों का धन तो उक्त सभी लोगों के अभाव में राजा लेवे॥१८९॥

संस्थितस्याऽनपत्यस्य सगोत्रात् पुत्रमाहरेत्।
तत्र यद् रिक्थजातं स्यात् तत् तस्मिन् प्रतिपादयेत्॥१९०॥

सन्तान से रहित होकर मरे हुए पुरुष के लिए सगोत्र पुरुष से उसकी पत्नी नियोगधर्म से पुत्र प्राप्त करे। उस मरने वाले पुरुष में जो जितना धन होगा, वह सब धन उस क्षेत्रज पुत्र को देवे॥१९०॥

द्वौ तु यौ विवदेयातां द्वाभ्यां जातौ स्त्रिया धने।
तयोर् यद् यस्य पित्र्यं स्यात् तत् स गृह्णीत नेतरः॥१९१॥

दो पुरुषों से एक स्त्री में उत्पन्न दो पुत्र (औरस पुत्र और पौनर्भव पुत्र) यदि उस स्त्री के अधीन में स्थित धन के प्राप्ति के लिए विवाद करते हैं तो उनमें से जो धन जिस के पिता का होगा उस धन को वही लेवे, दूसरा नहीं॥१९१॥

जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः।
भजेरन् मातृकं रिक्थं भगिन्यश् च सनाभयः॥१९२॥

माता मर जाने पर सभी सहोदर भाई और सहोदर बहनें माता के धन को बराबर बाँटकर लेवें॥१९२॥

यास् तासां स्युर् दुहितरस् तासामपि यथाऽर्हतः।
मातामह्या धनात् किञ्चित् प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम्॥१९३॥

उन बहनों की जो पुत्रियाँ होंगी उनको भी यथोचित रूप में नानी के धन से कुछ धन प्रेमपूर्वक देना चाहिए॥१९३॥

अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि।
भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्॥१९४॥

१. विवाह के अग्नि के समीप में प्राप्त धन, २. पति के घर में लाई गई दुल्हन को पतिगृह में प्रवेश के समय में प्राप्त धन, ३. प्रसन्नता के किसी कार्य के समय में पति, श्वशुर (ससुर), श्वश्रू (सास) इत्यादि से प्राप्त धन, ४. भाइयों से प्राप्त धन, ५. माता से प्राप्त धन, ६. पिता से प्राप्त धन, इस प्रकार स्त्रीधन छह प्रकार का समझा गया है॥१९४॥

अन्वाधेयं च यद् दत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत्।
पत्यौ जीवति वृत्तायाः प्रजायास् तद् धनं भवेत्॥१९५॥

विवाह के बाद भर्तृकुल में अथवा पितृकुल में प्राप्त धन और प्रसन्न पति से जो प्राप्त है वह धन भी पति जीवित रहने पर ही मरी हुई स्त्री का जो जितना धन है वह सब उस स्त्री की प्रजा का (पुत्रों का और पुत्रियों का) ही होगा (पति का नहीं)॥१९५॥

ब्राह्म-दैवा-ऽऽर्ष-गान्धर्व-प्राजापत्येषु यद् वसु।
अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते॥१९६॥

ब्राह्म विवाह में (मनु.३।२७), दैव विवाह में (मनु.३।२८), आर्ष विवाह में (मनु.३।२९), गान्धर्व विवाह में (मनु.३।३२) और प्राजापत्य विवाह में (मनु.३।३०) प्राप्त जो धन स्त्री का होता है, स्त्री सन्तति के विना ही मर जाने पर वह धन पति का ही होना धर्मतत्त्वज्ञ मुनियों को इष्ट है॥१९६॥

यत् त्वस्याः स्याद् धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु।
अप्रजायामतीतायां मातापित्रोस् तदिष्यते॥१९७॥

आसुर इत्यादि (मनु.३।३१, ३३, ३४) विवाहों में दिया गया जो धन इसका (स्त्री का) होगा, स्त्री सन्तान के विना ही मर जाने पर उस धन का स्त्री के माता-पिता का होना धर्मतत्त्वज्ञ मुनियों को इष्ट है॥१९७॥

स्त्रियां तु यद् भवेद् वित्तं पित्रा दत्तं कथञ्चन।
ब्राह्मणी तद् धरेत् कन्या तदपत्यस्य वा भवेत्॥१९८॥

पिता से दिया गया जो धन किसी प्रकार से स्त्री में रहेगा (पति जीवित रहने पर ही स्त्री मर जाने पर) उस धन को ब्राह्मणी में उत्पन्न कन्या ले, अथवा जिस क्षत्रिया वैश्या स्त्री का वह धन है उसके सन्तान का वह धन होगा॥१९८॥

न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद् बहुमध्यगात्।
स्वकादपि च वित्ताद् धि स्वस्य भर्तुरनाज्ञया॥१९९॥

अनेक कुटुम्बजनों से भोग्य कुटुम्ब-धन से स्त्रियाँ अपने आभूषण इत्यादि के लिए व्यय (खर्चा) न करें, अपने ही स्वतन्त्र धन से भी पति की आज्ञा के विना स्त्रियाँ अपने आभूषण इत्यादि के लिए व्यय न करें॥१९९॥

पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलङ्कारो धृतो भवेत्।
न तं भजेरन् दायादा भजमानाः पतन्ति ते॥२००॥

पति जीवित रहने पर स्त्रियों से जो आभूषण पहना गया हो उसको दायाद लोग (हिस्सेदार लोग) आपस में न बाँटें, उसको बाँटते हुए वे लोग पतित हो जाते हैं॥२००॥

अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा।
उन्मत्तजडमूकाश् च ये च केचिन् निरिन्द्रियाः॥२०१॥

नपुंसक और पतित दायभाग नहीं पाने वाले होते हैं, जन्मान्ध और जन्मजात बहरे भी दायभाग नहीं पाने वाले होते हैं, उसी प्रकार पागल, जड (बालबुद्धि), गूँगा और जो कोई भी (जिस किसी प्रकार के भी अचिकित्स्य) इन्द्रिय-विकल लोग भी दायभाग नहीं पाने वाले होते हैं॥२०१॥

सर्वेषामपि तु न्याय्यं दातुं शक्त्या मनीषिणा।
ग्रासाऽऽच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यदद् भवेत्॥२०२॥

इन सब के लिए शक्ति के अनुसार भोजन और वस्त्र देना विचारशील जन के लिए न्याय का अनुकूल कार्य है, क्योंकि इन को कुछ भी नहीं देता हुआ मनुष्य पतित होगा॥२०२॥

यद्यर्थिता तु दारैः स्यात् क्लीबादीनां कथञ्चन।
तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति॥२०३॥

नपुंसक इत्यादि मनुष्यों का किसी तरह पत्नी प्राप्त करने की इच्छा होगी तो उनकी सन्तान उत्पन्न होने पर वह सन्तान दायभाग (अपना हिस्सा) पाने में योग्य होती है।।२०३।।

यत्किञ्चित् पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति।
भागो यवीयसां तत्र यदि विद्याऽनुपालिनः ।।२०४।।

पिता मर जाने पर जेठा भाई जो कुछ अधिक धन उपार्जित करता है, यदि विद्या का अनुपालन करने वाले हैं तो उसमें छोटे भाइयों का भी भाग (हिस्सा) होगा।।२०४।।

अविद्यानां तु सर्वेषामीहातश् चेद् धनं भवेत्।
समस् तत्र विभागः स्यादपित्र्य इति धारणा ।।२०५।।

विद्यारहित सभी भाइयों के प्रयत्न से यदि धन उपार्जित होता है तो उस अपैतृक धन में भी सभी भाइयों का समान भाग होगा, ऐसा (धर्मतत्त्वज्ञ मुनियों का) निर्णय है।।२०५।।

विद्याधनं तु यद् यस्य तत् तस्यैव धनं भवेत्।
मैत्र्यमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च ।।२०६।।

विद्या से उपार्जित धन तो जो धन जिस की विद्या से उपार्जित है वह धन उसी का होगा, मित्रता से प्राप्त धन, विवाह से प्राप्त धन और मधुपर्क में प्राप्त धन भी जो-जो धन जिस-जिस को मित्रता इत्यादि से प्राप्त है वह-वह धन उसी-उसी का होगा।।२०६।।

भ्रातॄणां यस् तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा।
स निर्भाज्यः स्वकादंशात् किञ्चिद् दत्त्वोपजीवनम् ।।२०७।।

भाइयों में से जो भाई अपने काम से धन आर्जन करने में समर्थ होने से पैतृक धन लेने की इच्छा न करे वह उसके अंश से उपभोग्य कुछ वस्तु देकर अलग किया जाना चाहिए।।२०७।।

अनुपघ्नन् पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम्।
स्वयमीहितलब्धं तन् नाऽकामो दातुमर्हति ।।२०८।।

पुरुष से पिता के धन में क्षति नहीं पहुँचाते हुए अपने श्रम से जो धन उपार्जित है उस अपनी चेष्टा से उपार्जित धन को स्वयम् अनिच्छुक होने पर वह दूसरे भाइयों को देने के लिए योग्य नहीं होता है।।२०८।।

पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात्।
न तत् पुत्रैर् भजेत् सार्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥२०९॥

पहले (पिता के असामर्थ्य से) अप्राप्त पैतृक द्रव्य को अपने विशेष प्रयत्न से जो प्राप्त करेगा वह अनिच्छुक होने पर अपने से अर्जित उस द्रव्य से पुत्रों को भाग न दे॥२०९॥

विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन् पुनर् यदि।
समस् तत्र विभागः स्याज् ज्यैष्ठ्यं तत्र न विद्यते ॥२१०॥

एक वार अलग हुए भाई फिर सम्मिलित होकर साथ में रहने पर यदि फिर धनविभाग करते हैं तो वहाँ सब का समान भाग होगा, वहाँ जेठे का उद्धार (जेठे का अतिरिक्त भाग) नहीं होता है॥२१०॥

येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेताऽंशप्रदानतः।
म्रियेताऽन्यतरो वाऽपि तस्य भागो न लुप्यते ॥२११॥

फिर मिले हुए जिन भाइयों में अंश प्रदान के समय में बड़ा अथवा छोटा भाई किसी कारण से छूट जाय, अथवा उनमें से कोई मर जाय तो भी उस भाई का भाग [अलग करना होगा] लुप्त नहीं होगा॥२११॥

सोदर्या विभजेरंस् तं समेत्य सहिताः समम्।
भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश् च सनाभयः ॥२१२॥

उस प्रकार से अलग किए गए भाग को उसके सहोदर भाई और सहोदर बहनें और पुनः मिलित होने पर तो जो असहोदर भाई हैं वे भी सभी एक जहग में आकर मिलते हुए समान भाग करके सभी को बाँटें॥२१२॥

यो ज्येष्ठो विनिकुर्वीत लोभाद् भ्रातॄन् यवीयसः।
सोऽज्येष्ठः स्यादभागश् च नियन्तव्यश् च राजभिः ॥२१३॥

जो जेठा भाई लोभ से छोटे भाइयों पर कुटिल व्यवहार करे वह जेठा नहीं रहेगा (जेठे के रूप में मान्य नहीं होगा) उसके (अपने) विशेष भाग से (उद्धार से) रहित भी होगा, वह राजाओं से नियन्त्रणीय भी होगा॥२१३॥

सर्व एव विकर्मस्था नाऽर्हन्ति भ्रातरो धनम्।
न चाऽदत्त्वा कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत यौतकम् ॥२१४॥

निज वर्णाश्रमकर्म के विरुद्ध अनाचार-द्यूत-वेश्यागमनादि कर्म में रहने वाले सब ही भाई पैतृक धन को प्राप्त करने में योग्य नहीं रहते हैं। जेठा भाई छोटे भाइयों को न देकर अपने ही लिए पैतृक धन से वृद्धि उपार्जित न करे॥२१४॥

भ्रातृणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत् सह।
न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात् कथञ्चन॥२१५॥

अलग नहीं हुए और पिता के साथ में रहते हुए भाइयों का यदि सहकार्य से धनोपार्जन होगा तो पिता दायभाग के काल में किसी भी रीति से किसी पुत्र को भी विषम भाग नहीं दे॥२१५॥

ऊर्ध्वं विभागाज् जातस् तु पित्र्यमेव हरेद् धनम्।
संसृष्टास् तेन वा ये स्युर् विभजेत स तैः सह॥२१६॥

अलग होने के बाद उत्पन्न पुत्र तो पिता का भाग ही लेवे। अथवा अन्य भाई अलग होने पर भी यदि कोई भाई पिता के साथ मिलकर रहे हैं तो अलग होने के बाद उत्पन्न पुत्र पिता के साथ मिलकर रहने वाले भाइयों से धन-विभाग करे॥२१६॥

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात्।
मातर्यपि च वृत्तायां पितुर् माता हरेद् धनम्॥२१७॥

सन्तान से रहित पुत्र मरने पर उसका धन माता पाएगी, माता भी मर चुकने पर पिता की माता उसके धन को लेवे॥२१७॥

ऋणे धने च सर्वस्मिन् प्रविभक्ते यथाविधि।
पश्चाद् दृश्येत यत्किञ्चित् तत् सर्वं समतां नयेत्॥२१८॥

शास्त्र के विधान के अनुसार ऋण और धन सब बाँटे जाने पर पीछे जो कुछ (ऋण वा धन) नहीं बाँटा हुआ दिखाई देता है उस सब को भी बाँटकर समभाग करले॥२१८॥

वस्त्रं पत्रमलङ्कारं कृताऽन्नमुदकं स्त्रियः।
योगक्षेमं प्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते॥२१९॥

पहनने के वस्त्र को, वाहन को, आभूषण को, पकाए गए अन्न को, जलस्रोत को, दासी स्त्रियों को, राजा धनिक इत्यादि से किसी भाई को प्राप्त आयसाधन कर्म को, सभी के भाग के गृह-क्षेत्रादि की रक्षा करने वाले प्राकारादि को, और सभी के गमनाऽऽगमनादि के लिए आवश्यक अङ्गन-मार्गादि को भी धर्मज्ञ मुनि लोग भाग करने में अयोग्य बताते हैं॥२१९॥

अयमुक्तो विभागो वः पुत्त्राणां च क्रियाविधिः।
क्रमशः क्षेत्रजादीनां द्यूतधर्मं निबोधत॥२२०॥

(हे मुनियों), यह धन के विभाग का विधान और क्रम से आवश्यकतानुसार क्षेत्रजादि पुत्त्रों को बनाने का विधान भी आप लोगों को बताया गया। अब द्यूतधर्म को (जुए के नियम को) जानिए॥२२०॥

द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान् निवारयेत्।
राज्याऽन्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम्॥२२१॥

राजा द्यूत को (जुए को) और समाह्वय को (प्राणी द्वारा दाँव लगाने को) भी अपने राष्ट्र से निवारित करे, क्योंकि राजाओं के ये दो दोष राज्य का विनाश करने वाले होते हैं॥२२१॥

प्रकाशमेतत् तास्कर्यं यद् देवनसमाह्वयौ।
तयोर् नित्यं प्रतीघाते नृपतिर् यत्नवान् भवेत्॥२२२॥

जो जूआ और दाँव लगाना है वह प्रत्यक्ष चोरी है, इस लिए उनके निवारण के लिए राजा सदाकाल प्रयत्न करने वाला होवे॥२२२॥

अप्राणिभिर् यत् क्रियते तल् लोके द्यूतमुच्यते।
प्राणिभिः क्रियते यस् तु स विज्ञेयः समाह्वयः॥२२३॥

अप्राणिरूप साधन से (पाशा, कौड़ी इत्यादि से) बाजी लगाकर खेलना द्यूत (जूआ) कहा जाता है, प्राणिरूप साधन से (बटेर, तीतर, मुर्गा, बैल, भेड़, घोड़ा, कुत्ता इत्यादि से) बाजी लगाकर जो खेलना है उसको समाह्वय जानना चाहिए॥२२३॥

द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात् कारयेत वा।
तान् सर्वान् घातयेद् राजा शूद्रांश् च द्विजलिङ्गिनः॥२२४॥

जो मनुष्य द्यूत अथवा समाह्वय करे अथवा कराए उन सब को राजा मरवाए, द्विजाति के चिह्न को (यज्ञोपवीतादि को) धारण करने वाले शूद्रों को भी राजा मरवाए॥२२४॥

कितवान् कुशीलवान् क्रूरान् पाषण्डस्थांश् च मानवान्।
विकर्मस्थाञ् छौण्डिकांश् च क्षिप्रं निर्वासयेत् पुरात्॥२२५॥

जुआरी मनुष्यों को, नाचने गाने वाले मनुष्यों को, प्राणियों के प्रति निर्दयतापूर्वक व्यवहार करने वाले मनुष्यों को, वेदविरुद्ध प्रव्रज्यादि में रहने वाले मनुष्यों

को, अपने वर्णाश्रम के विरुद्ध कर्म में रहने वाले मनुष्यों को और मद्य बनाने वाले मनुष्यों को भी राजा अपने मुख्य नगर से (राष्ट्र से) शीघ्र ही निकाल दे॥२२५॥

एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः।
विकर्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः॥२२६॥

राजा के राष्ट्र में रहने वाले ये अचौररूप (गुप्त) चोर ठगी की क्रिया से सर्वदा सीधी सादी जनता को पीडित करते हैं॥२२६॥

द्यूतमेतत् पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं महत्।
तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान्॥२२७॥

क्योंकि यह जूआ प्राचीन काल में बड़ा वैरकारक देखा गया था, इस लिए बुद्धिमान् मनुष्य हँसी-मजाक के लिए भी जुए का सेवन न करे॥२२७॥

प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन् निषेवेत यो नरः।
तस्य दण्डविकल्पः स्याद् यथेष्टं नृपतेस् तथा॥२२८॥

जो मनुष्य गुप्त रूप से अथवा प्रकट रूप से उसका (जुए का) सेवन करेगा उसको दिए जाने वाले दण्ड के विभिन्न प्रकार राजा की इच्छा से निश्चित होंगे॥२२८॥

क्षत्र-विट्-शूद्रयोनिस् तु दण्डं दातुमशक्नुवन्।
आनृण्यं कर्मणा गच्छेद् विप्रो दद्याच् छनैःशनैः॥२२९॥

क्षत्रिययोनि का मनुष्य, वैश्ययोनि का मनुष्य और शूद्रयोनि का मनुष्य भी राजा से किए गए दण्ड को चुकौता करने में असमर्थ होता हुआ काम से उसको चुकौता करे, ब्राह्मण धीरे-धीरे (दण्ड को द्रव्य देकर) चुकौता करे॥२२९॥

स्त्री-बालोन्मत्त-वृद्धानां दरिद्राणां च रोगिणाम्।
शिफा-विदल-रज्ज्वाद्यैर् विदध्यान् नृपतिर् दमम्॥२३०॥

स्त्री को, बालक को, पागल को, वृद्ध को, दरिद्रों को और रोगियों को राजा कोड़े से अथवा बेंत-बाँस से मारकर अथवा रस्सी से बाँधकर दण्ड देने का काम करे [धनदण्ड न करे]॥२३०॥

ये नियुक्तास् तु कार्येषु हन्युः कार्याणि कार्यिणाम्।
धनोष्मणा पच्यमानास् तान् निःस्वान् कारयेन् नृपः॥२३१॥

कार्यों में नियुक्त जो मनुष्य धन के घमण्ड से फूलते हुए अपने समक्ष में आए हुए कार्यार्थियों के कार्यों को बिगाड़ देते हैं, उनको राजा सर्वस्वहरण करके सर्वथा निर्धन बना दे॥२३१॥

कूटशासनकर्तॄंश् च प्रकृतीनां च दूषकान्।
स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश् च हन्याद् द्विट्सेविनस् तथा॥२३२॥

जाली राजाऽऽज्ञापत्र लिखने वालों को, अमात्य मित्र इत्यादि राज्य के अङ्गों को बिगाड़ने वालों को, स्त्री का जान से मारने वालों को, बालक को जान से मारने वालों को, ब्राह्मण को जान से मारने वालों को और शत्रु का सेवन करने वालों को भी राजा जान से मार दे॥२३२॥

तीरितं चाऽनुशिष्टं च यत्र क्वचन यद् भवेत्।
कृतं तद् धर्मतो विद्यान् न तद् भूयो निवर्तयेत्॥२३३॥
[तीरितं चाऽनुशिष्टं च यो मन्येत विकर्मणा।
द्विगुणं दण्डमास्थाय तत् कार्यं पुनरुद्धरेत्॥]

जहाँ कहीं भी शास्त्रानुसार निर्णीत और दण्ड से अनुशासित जो कार्य होता है उस कार्य को धर्म से हो चुका ही जाने, उसका फिर निवर्तन (निरस्त करने का काम) न करे॥२३३॥

[शास्त्रानुसार निर्णीत और दण्ड निश्चित किए गए कार्य को भी जो अनुचित रीति से निर्णीत मानता है, वह उस कार्य को अपना पराजय होने पर दुगुना दण्ड देने में तत्पर होकर पुनर्विचार कराए।]

अमात्याः प्राड्विवाको वा यत् कुर्युः कार्यमन्यथा।
तत् स्वयं नृपतिः कुर्यात् तान् सहस्रं च दण्डयेत्॥२३४॥

मन्त्री, कर्मसचिव, सेनापति इत्यादि अमात्य अथवा प्राड्विवाक (न्यायाधीश) जिस कार्य को अशास्त्रीय (अन्यायपूर्ण) रूप से निर्णीत करते हैं उस कार्य को राजा स्वयम् शास्त्रीय रूप से सम्पन्न करे, और उनको दण्ड के रूप में एक हजार कार्षापण देने में बाध्य भी करे॥२३४॥

ब्रह्महा च सुरापश् च स्तेयी च गुरुतल्पगः।
एते सर्वे पृथग् ज्ञेया महापातकिनो नराः॥२३५॥

ब्राह्मण को जान से मारने वाला, अन्न से निष्पन्न मद्य को (सुरा को) पीने वाला द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य), (ब्राह्मण का एक तोला सोना अथवा उस से अधिक सोना चुराने वाला) चोर और गुरु की पत्नी में गमन करने वाला, ये सभी मनुष्य अलग-अलग ही महापातकी होते हैं॥२३५॥

चतुर्णामपि चैतेषां प्रायश्चित्तमकुर्वताम्।
शारीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत्॥२३६॥

शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं करने वाले इन चारों को ही धनदण्ड से युक्त और धर्म का अविरोधी शारीरदण्ड की भी यथोचित व्यवस्था राजा करे॥२३६॥

गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः।
स्तेये च श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान्॥२३७॥

गुरुपत्नी के गमन में महापातकी के ललाट में योनि का (आजीवन स्थायी) चिह्न बनाया जाना चाहिए, सुरापान में महापातकी के ललाट में सुराध्वज का (शराब की दुकान के बाहर टंगे जाने वाले झण्डे का) चिह्न बनाया जाना चाहिए, चोरी में महापातकी के ललाट में कुत्ते के पैर का चिह्न बनाया जाना चाहिए, ब्रह्महत्या में महापातकी के ललाट में शिररहित पुरुष का चिह्न बनाया जाना चाहिए॥२३७॥

असम्भोज्या ह्यसंयाज्या असम्पाठ्याऽविवाहिनः।
चरेयुः पृथिवीं दीनाः सर्वधर्मबहिष्कृताः॥२३८॥

साथ में बैठकर भोजन करने में अयोग्य, साथ में यज्ञ करने में अयोग्य, साथ में बैठकर वेदादि के अध्ययन करने में अयोग्य, कन्या लेने-देने में भी अयोग्य और सभी धर्मों से बहिष्कृत ये महापातकी लोग दीन (दरिद्र और दुर्गत) होकर पृथ्वी में घूमा करें॥२३८॥

ज्ञातिसम्बन्धिभिस् त्वेते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः।
निर्दया निर्नमस्कारास् तन् मनोरनुशासनम्॥२३९॥

चिह्नित किए गए ये लोग जाति वालों से और मामा इत्यादि सम्बन्धियों से भी दया करने में और नमस्कार करने में भी अयोग्य होने से त्याग देने में योग्य होते हैं। वह मनु का अनुशासन (उपदेश) है॥२३९॥

प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः पूर्वे वर्णा यथोदितम्।
नाऽङ्क्या राज्ञा ललाटे स्युर् दाप्यास् तूत्तमसाहसम्॥२४०॥

शास्त्र में जैसा बताया गया है वैसा प्रायश्चित्त करने वाले तो सभी वर्ण के ही महापातकी लोग राजा से ललाट में चिह्नित नहीं किए जाने चाहिए, वे दण्ड के रूप में उत्तम साहस (१००० कार्षापण) देने को बाध्य किए जाने चाहिए॥२४०॥

आगस्सु ब्राह्मणस्यैव कार्यो मध्यमसाहसः।
विवास्यो वा भवेद् राष्ट्रात् सद्रव्यः सपरिच्छदः॥२४१॥

उक्त महापातकरूप अपराधों में (विशेष इच्छा के विना प्रवृत्त) ब्राह्मण को मध्यम साहस का (५०० कार्षापणों का) दण्ड किया जाना चाहिए। अथवा (विशेष इच्छा से इन अपराधों को करने वाला) वह ब्राह्मण उसके सम्पूर्ण धन से और उपकरणों से युक्त रूप में राष्ट्र से निकाल देने में योग्य होता है॥२४१॥

इतरे कृतवन्तस् तु पापान्येतान्यकामतः।
सर्वस्वहारमर्हन्ति कामतस् तु प्रवासनम्॥२४२॥

इन पापों को विशेष इच्छा के विना करने वाले ब्राह्मणभिन्न (क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) वर्ण तो सर्वस्वहरणरूप दण्ड के लिए योग्य होते हैं, विशेष इच्छा से इन पापों को करने वाले ब्राह्मणभिन्न वर्ण तो मृत्युदण्ड पाने में योग्य होते हैं।

विशेष– महापातकों में सुरापानरूप महापातक शूद्र के लिए महापातक नहीं माना जाता है। शूद्र के लिए सुरापान के जगह में ब्राह्मणीगमन इत्यादि महापातक माने जाते हैं॥२४२॥

नाऽददीत नृपः साधुर् महापातकिनो धनम्।
आददानस् तु तल् लोभात् तेन दोषेण लिप्यते॥२४३॥

धार्मिक राजा महापातक करने वालों का धन न ले, लोभ से उनके धन को लेता हुआ राजा उनके पातक से लिप्त होता है॥२४३॥

अप्सु प्रवेश्य तं दण्डं वरुणायोपपादयेत्।
श्रुतवृत्तोपपन्ने वा ब्राह्मणे प्रतिपादयेत्॥२४४॥

राजा महापातक करने वालों से दण्ड के रूप में लिए गए धन को अगाध जल में प्रविष्ट करके वरुण को समर्पित करे, अथवा वेद के अध्ययन से और सद्वृत्त (सच्चरित्र) से सम्पन्न ब्राह्मण को समर्पित करे॥२४४॥

ईशो दण्डस्य वरुणो राज्ञां दण्डधरो हि सः।
ईशः सर्वस्य जगतो ब्राह्मणो वेदपारगः॥२४५॥

वरुण दण्ड के स्वामी हैं, क्योंकि वे राजा के अपचार में राजा को दण्ड देने वाले हैं। वेद में पारङ्गत ब्राह्मण सम्पूर्ण जगत् के स्वामी हैं॥२४५॥

यत्र वर्जयते राजा पापकृद्भ्यो धनाऽऽगमम्।
तत्र कालेन जायन्ते मानवा दीर्घजीविनः॥२४६॥

निष्पद्यन्ते च सस्यानि यथोप्तानि विशां पृथक्।
बालाश् च न प्रमीयन्ते विकृतं न च जायते॥२४७॥

जिस राष्ट्र में राजा महापातक करने वालों से धन का लेना वर्जित करता है वहाँ मनुष्य परिपूर्ण काल से उत्पन्न होते हैं और दीर्घजीवी भी होते हैं, वैश्यों के फसल जैसे बोए गए हैं वैसे ही अलग-अलग अच्छी तरह पकते हैं, बालक नहीं मरते हैं, विकलाङ्गादि विकृत मनुष्य पशुँ इत्यादि भी उत्पन्न नहीं होते हैं॥२४६-२४७॥

ब्राह्मणान् बाधमानं तु कामादवरवर्णजम्।
हन्याच् चित्रैर् वधोपायैरुद्वेजनकरैर् नृपः ॥२४८॥

विशेष अभिप्रायपूर्वक ब्राह्मणों को पीडित करते हुए शूद्र को राजा उस प्रकार के लोगों को उद्वेजित करने वाले नाना प्रकार के ताडन हस्त-पादच्छेदन इत्यादि वध के उपायों से जान से मार दे [ताकि दूसरे शूद्र लोग ब्राह्मण को पीडित करने की बात को ही विचार में न लाएँ]॥२४८॥

यावानवध्यस्य वधे तावान् वध्यस्य मोक्षणे।
अधर्मो नृपतेर् दृष्टो धर्मस् तु विनियच्छतः ॥२४९॥

अवध्य का वध करने में राजा का जितना अधर्म होता है, वध्य को छोड देने में भी राजा का उतना ही अधर्म शास्त्र से ज्ञात होता है। अपराधियों को नियन्त्रित करते हुए राजा को तो धर्म मिलता है॥२४९॥

उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः।
अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥२५०॥

अठारह प्रकार के विषयों में परस्पर विवाद करने वालों के व्यवहार क। (मुकदमों का) यह निर्णय विस्तारपूर्वक कहा गया॥२५०॥

एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक् कुर्वन् महीपतिः।
देशानलब्धाल्ँ लिप्सेत लब्धांश् च परिपालयेत्॥२५१॥

इस प्रकार से धर्म के अविरोधी कार्यों को अच्छी तरह करता हुआ राजा नहीं पाए गए देश को पाने की इच्छा करे और पाए गए देशों का अच्छी तरह सभी ओर से पालन करे॥२५१॥

सम्यङ्‌निविष्टदेशस् तु कृतदुर्गश् च शास्त्रतः।
कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद् यत्नमुत्तमम्॥२५२॥

अच्छी तरह व्यवस्थापित देश वाला और शास्त्र के अनुसार बनाए गए दुर्ग से युक्त राजा कण्टकों को (चोर, डाँकू इत्यादि लोक को कष्ट पहुँचाने वाले काटों को) उखाड फेंकने में सर्वदा अच्छी तरह प्रयत्न करे॥२५२॥

रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात्।
नरेन्द्रास् त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः ॥२५३॥

प्रजा के पालन में तत्पर राजा लोग सद्वृत्त वाले लोगों की रक्षा करने से और चोर, डाँकू, उपद्रवी इत्यादि लोककण्टकों को उखाड फेंकने से स्वर्ग जाते हैं॥२५३॥

अशासंस् तस्करान् यस् तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच् च परिहीयते ॥२५४॥

चोरों को दण्डित नहीं करता हुआ जो राजा (प्रजा से) राजभाग लेता है उसका राष्ट्र आतङ्कित होता है, और वह राजा स्वर्ग प्राप्त करने के अवसर से भी वञ्चित होता है॥२५४॥

निर्भयं तु भवेद् यस्य राष्ट्रं बाहुबलाऽऽश्रितम्।
तस्य तद् वर्धते नित्यं सिच्यमान इव द्रुमः ॥२५५॥

जिस के बाहुबल में आश्रित राष्ट्र निर्भय होता है उसका वह राष्ट्र सींचे गए वृक्ष की तरह सदा बढ़ता है॥२५५॥

द्विविधांस् तस्करान् विद्यात् परद्रव्याऽपहारकान्।
प्रकाशांश् चाऽप्रकाशांश् च चारचक्षुर् महीपतिः ॥२५६॥

गुप्तचररूप नेत्र से युक्त राजा दूसरे के धन को चुराने वाले प्रकट रूप वाले और गुप्त रूप वाले इन दो प्रकारों के चोरों को जाने॥२५६॥

प्रकाशवञ्चकास् तेषां नानापण्योपजीविनः।
प्रच्छन्नवञ्चकास् त्वेते ये स्तेनाऽऽटविकादयः ॥२५७॥

उनमें से विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को बेचने वाले लोग प्रकट रूप से दूसरों को ठगने वाले हैं; जो चोर, डाँकू, वनवासी लुटेरा इत्यादि लोग हैं वे छिप कर दूसरों को ठगने वाले हैं॥२५७॥

उत्कोचकाश् चौपधिका वञ्चकाः कितवास् तथा।
मङ्गलाऽऽदेशवृत्ताश् च भद्राश् चेक्षणिकैः सह ॥२५८॥
असम्यक्कारिणश् चैव महामात्राश् चिकित्सकाः।
शिल्पोपचारयुक्ताश् च निपुणाः पण्ययोषितः ॥२५९॥
एवमादीन् विजानीयात् प्रकाशाल्ँ लोककण्टकान्।
निगूढचारिणश् चाऽन्याननार्यानार्यलिङ्गिनः ॥२६०॥

घूस लेने वाले, भयप्रदर्शन इत्यादि करके लोगों को छल से फँसाने वाले, ठग, जुआरी, शुभ फल बताकर धन लेने वाले, साधु वेष-भूषा से लोगों को ठगने वाले पापी, हस्तरेखादि देखकर फल बताने वाले, ठीक प्रकार से अपना कार्य नहीं करने वाले हाथीवान्, ठीक प्रकार से अपना कार्य न करने वाले चिकित्सक (वैद्य डाक्टर इत्यादि), ठीक प्रकार से अपना कार्य न करने वाले विभिन्न शिल्प कर्म करने वाले लोग, मिथ्या-प्रेम दिखाकर ठगने वाली अत्यन्त कुशल वेश्याएँ, इस प्रकार के लोगों को राजा प्रकट रूप के लोककण्टक जाने और सज्जन के वेष-भूषा से युक्त होकर गुप्त रूप से विचरण करके ठगी करने वाले अन्य दुर्जनों को भी राजा पहचाने॥२५८-२६०॥

तान् विदित्वा सुचरितैर् गूढैस् तत्कर्मकारिभिः।
चारैश् चाऽनेकसंस्थानैः प्रोत्साह्य वशमानयेत्॥१६१॥

उन लोककण्टकों को पहचानकर राजा अच्छे चरित्र वाले और उस-उस कार्य को करने वाले गुप्त पुरुषों के द्वारा और विभिन्न रूप के गुप्तचरों के द्वारा भी उन लोककण्टकों को दुष्कर्म करने के लिए प्रोत्साहित करके उनको पकडके नियन्त्रित करे॥२६१॥

तेषां दोषानभिख्याप्य स्वेस्वे कर्मणि तत्त्वतः।
कुर्वीत शासनं राजा सम्यक् साराऽपराधतः॥२६२॥

उनके अपने-अपने कार्यों में उन से किए गए दुष्कार्यों को यथार्थ रूप में लोक में प्रचारित करके उनके शरीर के, बल के और धन के अनुसार तथा उनके अपराधों की गहनता के अनुसार राजा उनको ठीक प्रकार से दण्डित करे॥२६२॥

न हि दण्डादृते शक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः।
स्तेनानां पापबुद्धीनां निभृतं चरतां क्षितौ॥२६३॥

पृथ्वी में छिपकर चलते हुए पापपूर्ण बुद्धि वाले चोरों के पापों का दण्ड के प्रयोग के विना नियन्त्रण नहीं किया जा सकता है॥२६३॥

सभा-प्रपा-ऽपूपशाला-वेश-मद्याऽन्नविक्रयाः।
चतुष्पथाश् चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च॥२६४॥
जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकाऽऽवेशनानि च।
शून्यानि चाऽप्यगाराणि वनान्युपवनानि च॥२६५॥

एवंविधान् नृपो देशान् गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः।
तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश् चाऽप्यनुचारयेत्॥२६६॥

सभागृह, पौसेरा, हलवाइयों की दूकानें, वेश्याओं के टोले, मदिरा की दूकानें, अन्न की दूकानें, चौराहे, चबूतरे के पेड, गोष्ठियाँ, नाटकादि देखने के स्थल, पुराने बँगीचे, घने वन, विभिन्न शिल्पियों के टोलें, सूने घर, वन, बँगीचे, इस प्रकार के स्थलों को चोरों के निवारण के लिए राजा स्थिर और सञ्चरणशील सैनिकसमूहों से तथा गुप्तचरों से भी सञ्चारित करे॥२६४-२६६॥

तत्सहायैरनुगतैर् नानाकर्मप्रवेदिभिः।
विद्यादुत्सादयेच् चैव निपुणैः पूर्वतस्करैः॥२६७॥

चोरों के सहायक के रूप में रखे हुए तथा अपने वश में वर्तमान, नाना प्रकार के चौरकार्य जानने वाले, गुप्तचर के छलों में निपुण पुराने चोरों से चोरों को राजा पहचाने और उनको निर्मूल भी करे॥२६७॥

भक्ष्यभोज्याऽपदेशैश् च ब्राह्मणानां च दर्शनैः।
शौर्यकर्माऽपदेशैश् च कुर्युस् तेषां समागमम्॥२६८॥

सब मिलकर भक्ष्य-भोज्य खाने के बहाने से, उत्कृष्ट ब्राह्मणों के दर्शन के और उन से अपने भविष्य को पूछने के तथा अपने अभिलषित वस्तु पाने के उपाय को पूछने के बहाने से तथा विलक्षण शौर्य कर्म को देखने के बहाने से भी चोरों के सहायक के रूप में रखे गए गुप्तचर लोग चोरों का एकत्र सम्मेलन करें॥२६८॥

ये तत्र नोपसर्पेयुर् मूलप्रणिहिताश् च ये।
तान् प्रसह्य नृपो हन्यात् समित्रज्ञातिबान्धवान्॥२६९॥

उस सम्मेलन में जो चोर वैसे ही नहीं आते हैं उनको और बुलाने वालों में तथा बुलावट के कारण में विशेष ध्यान देकर विचार करने से जो नहीं आते हैं उनको भी राजा उनके मित्रों जाति वालों और बन्धुओं के साथ ही प्रभूत बल का प्रयोग करके जान से मार दे॥२६९॥

न होढेन विना चौरं घातयेद् धार्मिको नृपः।
सहोढं सोपकरणं घातयेदविचारयन्॥२७०॥

चोरी के धन के चिह्न के विना धार्मिक राजा चोर को नहीं मरवाए, चोरी के धन के चिह्न से युक्त और चोरी करने के उपकरणों से युक्त चोर को तो 'मरवाएँ अथवा न मरवाएँ' ऐसी विचारणा न करके मरवाए ही॥२७०॥

ग्रामेष्वपि च ये केचिच् चौराणां भक्तदायकाः ।
भाण्डाऽवकाशदाश् चैव सर्वांस् तानपि घातयेत् ॥२७१॥

गाँवों में भी जानबूझकर जो चोरों को भोजन देने वाले, चोरी के लिए उपकरण देने वाले अथवा चोरों को निवासस्थान देने वाले हैं उन सभी लोगों को भी राजा मरवाए॥२७१॥

राष्ट्रेषु रक्षाऽधिकृतान् सामन्तांश् चैव चोदितान् ।
अभ्याघातेषु मध्यस्थाञ् शिष्याच् चौरानिव द्रुतम् ॥२७२॥

चोरों से, डकैतों से, लुटेरों से और अन्य उपद्रवियों से भी गाँवों में और रास्तों में आक्रमण होने पर भी समुचित प्रयत्न न करके उदासीन होकर रहने वाले राष्ट्र में रक्षा के लिए नियुक्त पुरुषों को और राष्ट्र की सीमा में रहने वाले रक्षा के लिए प्रेरित लोगों को (सीमारक्षकों को) भी राजा शीघ्र ही चोरों की तरह ही दण्डित करे॥२७२॥

यश् चाऽपि धर्मसमयात् प्रच्युतो धर्मजीवनः ।
दण्डेनैव तमप्योषेत् स्वकाद् धर्माद् धि विच्युतम् ॥२७३॥

अपने धर्मविशेष के सिद्धान्त के अनुकूल आचरण से विचलित होता हुआ जो धर्मविशेष के आधार में जीविका करने वाला (ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, सन्यासी, देवलक, पूजक इत्यादि) मनुष्य है अपने धर्म से विचलित उस मनुष्य को भी राजा दण्ड से ही जलाए॥२७३॥

ग्रामघाते हिताभङ्गे पथि मोषाऽभिदर्शने ।
शक्तितो नाऽभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदाः ॥२७४॥

गाँव में चोर, डकैत इत्यादि से आक्रमण होने पर, जलसेतु टूटने पर और रास्ते में चोर देखे जाने पर भी अपनी शक्ति के अनुसार चोरादि के निवारण के लिए न दौड़ने वाले समीपस्थ लोग उनके उपकरणों के साथ राष्ट्र से बाहर किए जाने चाहिए॥२७४॥

राज्ञः कोशाऽपहर्तॄंश् च प्रतिकूलेषु च स्थितान् ।
घातयेद् विविधैर् दण्डैररीणां चोपजापकान् ॥२७५॥

राजा के खजाने से धन चुराने वालों को, राजा के कार्य के प्रतिकूल कार्य में रहने वालों को और शत्रु को नाना तरह की बातें सुनाकर उकसाने वालों को भी राजा विभिन्न प्रकार के दण्डों से मरवाए॥२७५॥

सन्धिं छित्त्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः।
तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णे शूले निवेशयेत्॥२७६॥

जो चोर रात में भीत में छिद्र बनाकरके घर में घूसकर चोरी करते हैं, राजा उनके हाथों को काटकर उनको शूली पर चढ़ा दे॥२७६॥

अङ्गुलीर् ग्रन्थिभेदस्य छेदयेत् प्रथमे ग्रहे।
द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति॥२७७॥

राजा गाँठ काटने वाले चोर का पहली वार पकड़े जाने पर उंगलियों को कटवा दे, दूसरी वार पकड़े जाने पर हाथ-पैर कटवा दे और तीसरे वार पकड़े जाने पर तो वह वध के लिए योग्य हो जाता है॥२७७॥

अग्निदान् भक्तदांश् चैव तथा शस्त्राऽवकाशदान्।
सन्निधातॄंश् च मोषस्य हन्याच् चौरमिवेश्वरः॥२७८॥

पहचान कर भी चोर को अग्नि देने वालों को, भोजन देने वालों को, शस्त्र देने वालों को, वासस्थान देने वालों को और चोरी की वस्तु को रखने वालों को भी राजा चोर की तरह ही जान से मार दे॥२७८॥

तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा।
यद् वाऽपि प्रतिसंस्कुर्याद् दाप्यस् तूत्तमसाहसम्॥२७९॥

तालाव को तोड़ने वाले को जल में प्रविष्ट करके अथवा ग्रीवाच्छेदादि शुद्ध वध से राजा जान से मार दे, अथवा वह तोड़ने वाला तालाव को पहले जैसा था फिर वैसा ही करा दे, इस पक्ष में वह दण्ड के रूप में उत्तम साहस (१००० कार्षापण) देने में बाध्य भी किया जाना चाहिए॥२७९॥

कोष्ठाऽगारा-ऽऽयुधाऽगार-देवताऽगारभेदकान्।
हस्त्यश्वरथहर्तॄंश् च हन्यादेवाऽविचारयन्॥२८०॥

राजा राजकीय अन्नभण्डार तोड़ने वालों को, शस्त्राऽस्त्रभण्डार तोड़ने वालों को, देवमन्दिर तोड़ने वालों को, हाथी चुराने वालों को, घोडा चुराने वालों को और रथ चुराने वालों को भी 'जान से मारें अथवा न मारें' ऐसी विचारणा न करके जान से मार दे ही॥२८०॥

यस् तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत्।
आगमं वाऽप्यपां भिन्द्यात् स दाप्यः पूर्वसाहसम्॥२८१॥

जो मनुष्य पहले बनाए गए तालाब का पानी बहाकर चुराए, अथवा उस तालाव में पानी आने के मार्ग को तोड दे वह दण्ड के रूप में प्रथम साहस (२५० कार्षापण) देने में बाध्य किया जाना चाहिए॥२८१॥

समुत्सृजेद् राजमार्गे यस् त्वमेध्यमनापदि।
स द्वौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाऽऽशु शोधयेत्॥२८२॥

जो मनुष्य आपत्काल में न रहने पर राजमार्ग में मलमूत्रादि अमेध्य (अशुद्ध) वस्तु छोड़ेगा, वह दण्ड के रूप में दो कार्षापण राजा को दे और उस अमेध्य वस्तु को शीघ्र ही राजमार्ग से हटावे भी॥२८२॥

आपद्गतोऽथवा वृद्धा गर्भिणी बाल एव वा।
परिभाषणमर्हन्ति तच् च शोध्यमिति स्थितिः॥२८३॥

आपत् में पड़ा हुआ मनुष्य अथवा वृद्धा स्त्री अथवा गर्भिणी स्त्री अथवा बालक तो राजमार्ग में मलमूत्रादि अमेध्य वस्तु छोडने पर केवल 'क्यों ऐसा किया?' इत्यादि रूप से कोसे जाने में योग्य होते हैं, वह अमेध्य वस्तु (राजनियुक्त जनों से) शीघ्र ही हटाया जाना चाहिए, यही धर्मशास्त्रव्यवस्था है॥२८३॥

चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्याप्रचरतां दमः।
अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः॥२८४॥

मनुष्यभिन्न प्राणियों में अनुचित प्रकार से अपना काम करने वाले सभी चिकित्सकों को (वैद्य, डाक्टर इत्यादि को) प्रथम साहस (२५० कार्षापण) दण्ड देना होता है, और मनुष्यों में अनुचित प्रकार से अपना काम करने वाले सभी चिकित्सकों को मध्यम साहस (५०० कार्षापण) दण्ड देना होता है।

विशेष— वैद्यों के कर्तव्यों को आयुर्वेद के प्राचीन और प्रधान ग्रन्थ चरकसंहिता के विमानस्थान के अष्टम अध्याय में **"अथैनमग्निसकाशे ब्राह्मणसकाशे भिषक्सकाशे चाऽनुशिष्यात्"** इत्यादि ग्रन्थभाग से बताया गया है। शासक की दुर्बलता-शिथिलता इत्यादि के कारण से ही देश में नकली वैद्य डाक्टर इत्यादि घूम सकने की बात भी वहाँ की गई है॥२८४॥

सङ्क्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः।
प्रतिकुर्याच् च तत् सर्वं पञ्च दद्याच् छतानि च॥२८५॥

जलतरणमार्ग को तोड़ने वाला, राजध्वज को तोड़ने वाला, स्मारकस्तम्भ को तोड़ने वाला और देवप्रतिमा महापुरुषप्रतिमा इत्यादि प्रतिमा को तोड़ने वाला भी

उक्त जलतरणमार्गादि सभी वस्तु को पहले जैसा था वैसा बनवाए और दण्ड के रूप में पाँच सौ कार्षापण राजा को दे भी॥२८५॥

अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा।
मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः॥२८६॥

अदूषित स्वर्ण-रजतादि पदार्थ को अपद्रव्यमिश्रित करके दूषित करने में, माणिक इत्यादि मणियों को फोड़ने में और मणियों का अनुचित रूप से छेदने में भी प्रथम साहस (२५० कार्षापण) दण्ड होता है॥२८६॥

समैर् हि विषमं यस् तु चरेद् वै मूल्यतोऽपि वा।
स प्राप्नुयाद् दमं पूर्वं नरो मध्यममेव वा॥२८७॥

जो समान गुण वाले जनों से विषम रूप में व्यवहार करता है (किसी को ज्यादा मजदूरी देता है किसी को कम इत्यादि रूप में) अथवा समानमूल्य लेकर किसी को अच्छी वस्तु देता है और किसी को खराब वस्तु देता है, वह मनुष्य पूर्व साहस (२५० कार्षापण) अथवा मध्यम साहस (५०० कार्षापण) दण्ड पाएगा॥२८७॥

बन्धनानि च सर्वाणि राजमार्गे निवेशयेत्।
दुःखिता यत्र दृश्येरन् विकृताः पापकारिणः॥२८८॥

राजा सभी प्रकार के बन्धनों को (कारागृहों को) रास्ते में बनवाए, जहाँ पाप (अपराध) करने वाले लोग रास्ते में चलने वाले लोगों से दुःखित और विकृत रूप में देखे जायँ॥२८८॥

प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम्।
द्वाराणां चैव भङ्क्तारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत्॥२८९॥

राजधानी के परकोटे को तोड़ने वाले को, राजधानी की रक्षा के लिए बनाई गई खाई को मिट्टी पत्थल इत्यादि से भरने वाले को और पुरद्वारों को तोड़ने वाले को भी शीघ्र ही देश से निकाल दे॥२८९॥

अभिचारेषु सर्वेषु कर्तव्यो द्विशतो दमः।
मूलकर्मणि चाऽनाप्तैः कृत्यासु विविधासु च॥२९०॥

सभी प्रकार के अभिचार कर्मों में दो सौ कार्षापण का दण्ड किया जाना चाहिए, पत्न्यादिभिन्न असम्बद्ध मनुष्यों से किए गए वशीकरण कर्म में और नाना प्रकार के मातृका-ग्रह-शाकिनी-डाकिनी इत्यादि के उत्थापनरूप कृत्या-कर्म में भी दो सौ कार्षापण दण्ड किया जाना चाहिए॥२९०॥

अबीजविक्रयी चैव बीजोत्क्रुष्टा तथैव च।
मर्यादाभेदकश् चैव विकृतं प्राप्नुयाद् वधम्॥२९१॥

नहीं जमने वाले बीज को जमने वाला कहकर बेचने वाला मनुष्य, निकृष्ट बीज को उत्कृष्ट बीज कहकर बेचने वाला मनुष्य, और ग्राम-नगरादि की सीमा को नष्ट करने वाला मनुष्य भी दण्ड के रूप में चित्रवध (पहले नाक, कान, हाथ, पैर इत्यादि काटकर किए जाने वाला वध) प्राप्त करेगा॥२९१॥

सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः।
प्रवर्तमानमन्याये छेदयेत् खण्डशः क्षुरैः॥२९२॥

सभी लोककण्टकों में सब से अधिक पापी तथा अन्यायपूर्ण व्यवहार में लगे हुए सोनार को तो राजा छुराओं से शरीर के टुकड़े-टुकड़े काटकर जान से मार दे॥२९२॥

सीताद्रव्याऽपहरणे शस्त्राणामौषधस्य च।
कालमासाद्य कार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत्॥२९३॥

खेती के उपकरणों का (हल कुदाल इत्यादि का), शस्त्रों का और दबाओं का भी चोरी करने पर समय को और कार्य को भी देखकर राजा छोटे अथवा बड़े दण्ड की व्यवस्था करे॥२९३॥

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत् तथा।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताऽङ्गं राज्यमुच्यते॥२९४॥

१. स्वामी (राजा), २. अमात्य (धीसचिव-कार्यसचिव-सेनापति-प्रभृति), ३. पुर (राजधानी, मुख्य दुर्ग), ४. राष्ट्र (देशवासिसहित देश), ५. कोश (खजाना), ६. दण्ड (सेना), ७. मित्र (मित्रराष्ट्र), ये सात राज्य के प्रकृति (उपादानकारण) हैं, इसी लिए राज्य सप्ताऽङ्ग (सात अङ्ग वाला) बताया गया है॥२९४॥

सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्याऽऽसां यथाक्रमम्।
पूर्वपूर्वं गुरुतरं जानीयाद् व्यसनं महत्॥२९५॥

राज्य के इन सात प्रकृतियों में क्रम से पहले-पहले अगले-अगले से अधिक महत्त्वपूर्ण जाने, उनके व्यसन को (क्षति को) भी बड़ा जाने॥२९५॥

सप्ताऽङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत्।
अन्योऽन्यगुणवैशेष्यान् न किञ्चिदतिरिच्यते॥२९६॥

इस लोक में त्रिदण्ड की (तीन दण्डों से खडे किए गए सन्यासियों के आसनविशेष की) तरह टिकाए गए सात अङ्ग वाले राज्य के सात अङ्गों में प्रत्येक में एक दूसरे के गुणों से अपने गुणों में विशेषता होने से कोई अङ्ग भी दूसरे से विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं होता है॥२९६॥

तेषुतेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते।
येन यत् साध्यते कार्यं तत् तस्मिन्ञ् श्रेष्ठमुच्यते॥२९७॥

पूर्वोक्त सात अङ्गों में उन-उन कार्यों में वह-वह अङ्ग अधिक कार्यकारी होता है। जिस से जो कार्य सिद्ध किया जाता है उस कार्य में वह श्रेष्ठ कहा जाता है॥२९७॥

चारेणोत्साहयोगेन क्रिययैव च कर्मणाम्।
स्वशक्तिं परशक्तिं च नित्यं विद्यान् महीपतिः॥२९८॥
पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च।
आरभेत ततः कार्यं सञ्चिन्त्य गुरुलाघवम्॥२९९॥

गुप्तचर से, (सेना के) उत्साह के योग को देखने से और विविध प्रकार के कार्यों के सम्पादन को देखने से भी राजा सदाकाल अपनी शक्ति को और शत्रु की शक्ति को भी परखता रहे। शत्रु की सभी प्रकार की पीडाओं को और व्यसनों को भी राजा मालूम करता रहे। तब अपने और शत्रु के गौरव को (बलिष्ठता को) और लाघव को (दुर्बलता को) विचार में रखकर यथोचित सन्धि-विग्रहादि कार्य का आरम्भ करे॥२९८-२९९॥

आरभेतैव कर्माणि श्रान्तःश्रान्तः पुनःपुनः।
कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर् निषेवते॥३००॥

कार्यारम्भों से और उसकी विफलताओं से थकित होता हुआ भी राजा वार-वार कार्यों का आरम्भ करता ही रहे, क्योंकि कार्यों का आरम्भ करते रहने वाले पुरुष को ही लक्ष्मी सेवन करती है॥३००॥

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते॥३०१॥

सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग सभी ही राजा के चरित्रविशेष ही हैं, इस लिए राजा ही युग कहा जाता है॥३०१॥

कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापरं युगम्।
कर्मस्वभ्युद्यतस् त्रेता विचरंस् तु कृतं युगम्॥३०२॥

सोया हुआ (उद्यमचेतनारहित) राजा कलियुग होता है, जागता हुआ (उद्यम-चेतनायुक्त) राजा द्वापरयुग होता है, उद्यम के लिए तत्पर राजा त्रेतायुग होता है और उद्यम में लगा हुआ राजा सत्ययुग होता है॥३०२॥

इन्द्रस्याऽर्कस्य वायोश् च यमस्य वरुणस्य च।
चन्द्रस्याऽग्नेः पृथिव्याश् च तेजोवृत्तं नृपश् चरेत्॥३०३॥

राजा इन्द्र के, सूर्य के, वायु के, यम के, वरुण के, चन्द्रमा के, अग्नि के और पृथ्वी के भी कार्यविशेष के अनुकूल चरित्र को अपनाए॥३०३॥

वार्षिकांश् चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति।
तथाऽभिवर्षेत् स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन्॥३०४॥

इन्द्र के कार्यविशेष का अनुकूल चरित्र को अपनाने के व्रत को लेने वाला राजा जैसे इन्द्र वर्षा ऋतु के चार महीनों तक जल के वर्षण से पृथ्वी को सींचते हैं वैसे ही प्रजा के अभिलषित अर्थों के वर्षण से अपने राष्ट्र को सींचे।

विशेष– यहाँ तीन ऋतुओं का एक वर्ष मानने के पक्ष को अपनाकर वर्षा के दो और शरद् के दो महीनों को वर्षा ऋतु के रूप में लेकर वर्षा के चार महीने कहे गए हैं। उसी प्रकार हेमन्त और शिशिर को मिलाकर हेमन्त तथा वसन्त और ग्रीष्म को मिलाकर ग्रीष्म माना गया है। 'हेमन्तग्रीष्मवर्षासु' (मनु.३।२८१) इसके हिन्दी अनुवाद में दी गई टिप्पणी भी द्रष्टव्य है॥३०४॥

अष्टौ मासान् यथाऽऽदित्यस् तोयं हरति रश्मिभिः।
तथा हरेत् करं राष्ट्रान् नित्यमर्कव्रतं हि तत्॥३०५॥

जैसे सूर्य वर्ष के आठ महीनों तक अपने किरणों से जल का हरण करते हैं वैसे ही राजा राष्ट्र से कर का हरण करे, वही राजा का नित्य अर्कव्रत (सूर्यव्रत) है॥३०५॥

प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद् धि मारुतम्॥३०६॥

जैसे वायु सभी प्राणियों में घूसकर विचरण करता है वैसे ही राजा से भी गुप्तचरों के द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्र में प्रवेश किया जाना चाहिए, यही राजा का मारुतव्रत है॥३०६॥

यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति।
तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास् तद् धि यमव्रतम्॥३०७॥

जैसे यमराज समय आने पर प्रिय और अप्रिय सभी को दण्ड देकर नियन्त्रित करते हैं वैसे ही राजा से भी प्रिय और अप्रिय सभी प्रजा को अपराधानुसार दण्ड देकर नियन्त्रित किया जाना चाहिए, वही राजा का यमव्रत है॥३०७॥

वरुणेन यथा पाशैर् बद्ध एवाऽभिदृश्यते।
तथा पापान् निगृह्णीयाद् व्रतमेतद् धि वारुणम्॥३०८॥

पापकारी जन जैसे पाश से बंधा हुआ ही वरुण से देखा जाता है वैसे ही राजा भी बन्धन से पापियों को नियन्त्रित करे, यही राजा का वारुणव्रत है॥३०८॥

परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः।
तथा प्रकृतयो यस्मिन् स चान्द्रव्रतिको नृपः॥३०९॥

जैसे परिपूर्ण चन्द्रमा को देखकर मनुष्य हर्षित होते हैं वैसे ही जिस को देखने पर अमात्यादि सभी राज्य की प्रकृतियाँ हर्षित होती हैं, वह राजा चान्द्रव्रतयुक्त होता है॥३०९॥

प्रतापयुक्तस् तेजस्वी नित्यं स्यात् पापकर्मसु।
दुष्टसामन्तहिंस्रश् च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम्॥३१०॥

राजा पापकर्म (अपराध) करने वालों को सदाकाल सन्ताप कराने वाला तेजस्वी और दुष्ट सामन्तों का हिंस्रक होवे, वही राजा का आग्नेयव्रत है॥३१०॥

यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम्।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम्॥३११॥

जैसे पृथिवी सभी प्राणियों को समान रूप से धारण करती है वैसे ही सभी प्राणियों का धारण करने वाले राजा का व्रत ही पार्थिवव्रत है।

विशेष— इस वचन से वैदिक हिन्दु परम्परा के राजा को कैसे सभी प्राणियों के प्रति समान रूप से न्यायपूर्वक व्यवहार करना चाहिए, यह बात स्पष्ट होती है॥३११॥

एतैरुपायैरन्यैश् च युक्तो नित्यमतन्द्रितः।
स्तेनान् राजा निगृह्णीयात् स्वराष्ट्रे पर एव च॥३१२॥

जितेन्द्रिय और जागरूक राजा इन उपायों से और अन्य यथोचित उपायों से भी सदाकाल अपने राष्ट्र में और परराष्ट्र में भी रहने वाले चोरों को नियन्त्रित करे॥३१२॥

परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान् न प्रकोपयेत्।
ते ह्येनं कुपिता हन्युः सद्यः सबलवाहनम्॥३१३॥

अत्यन्त बडी आपत्ति में पड़ा हुआ भी राजा ब्राह्मणों को कुपित न बनाए, क्योंकि कुपित ब्राह्मण लोग सेना और वाहनों से युक्त होने पर भी इसको (राजा को) शीघ्र ही मार देंगे।

विशेष— वैदिक-सनातन-वर्णाश्रमधर्मी समाज में अनादिपरम्परासिद्ध और सहेतुक रूप में ब्राह्मणों को दिए गए विशेषाधिकार के विषय में अष्टम अध्याय के १२४ वें श्लोक की विशेष टिप्पणी में स्पष्ट किया जा चुका है। वहीं देखें। इस श्लोक से लेकर ३२१ वें श्लोक तक के सन्दर्भ से उसी वेदबोधित और अनादिपरम्परासिद्ध ब्राह्मणमाहात्म्य का प्रतिपादन किया गया है॥३१३॥

यैः कृतः सर्वभक्ष्योऽग्निरपेयश् च महोदधिः।
क्षयी चाऽऽप्यायितः सोमः को न नश्येत् प्रकोप्य तान्॥३१४॥

जिन ब्राह्मणों ने अग्नि को मेध्य-अमेध्य सब चीज को खाने वाला बना दिया, समुद्र को पीने के लिए अयोग्य बना दिया, चन्द्रमा को क्षयशील बनाकर फिर पूर्ण भी बनाया, उनको कुपित बनाकर कौन नष्ट नहीं होगा॥३१४॥

लोकानन्यान् सृजेयुर् ये लोकपालांश् च कोपिताः।
देवान् कुर्युरदेवांश् च कः क्षिण्वंस् तान् समृध्नुयात्॥३१५॥

जो दूसरे लोकों की और दूसरे लोकपालों की भी सृष्टि कर सकते हैं, देवताओं को भी अदेवता बना सकते हैं, उनको (ब्राह्मणों को) क्षति पहुँचाता हुआ कौन मनुष्य समृद्ध हो सकेगा॥३१५॥

यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका देवाश् च सर्वदा।
ब्रह्म चैव धनं येषां को हिंस्यात् ताञ् जिजीविषुः॥३१६॥

जिन ब्राह्मणों में आश्रित होकर सदाकाल स्वर्गादि सभी लोक और देवता लोग भी टिकते हैं, जिन का एक मात्र धन वेद है, उनको जीने की इच्छा करने वाला कौन मनुष्य क्षति पहुँचाएगा॥३१६॥

अविद्वांश् चैव विद्वांश् च ब्राह्मणो दैवतं महत्।
प्रणीतश् चाऽप्रणीतश् च यथाऽग्निर् दैवतं महत्॥३१७॥

जैसे शास्त्र के विधि के अनुसार स्थापित और उस प्रकार से अस्थापित भी अग्नि महान् देव हैं, वैसे ही अविद्वान् और विद्वान् भी ब्राह्मण महान् देव हैं।

विशेष— वैदिक-सनातन-वर्णाश्रमधर्मी समाज में कोई ब्राह्मण व्यक्ति अविद्वान् होने पर भी यदि दुराचारी नहीं है तो उसके पूर्वपुरुषों की और उसके उत्तर-

पुरुषों की सम्भावित विद्वत्ता को और सद्‌गुणों को ध्यान में रखकर उसका समुचित सम्मान किया जाता है। यही बात इस श्लोक में बताई गई है॥३१७॥

श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति।
हूयमानश् च यज्ञेषु भूय एवाऽभिवर्धते॥३१८॥

श्मशानों में रहता हुआ भी तेजस्वी अग्नि दूषित नहीं होता है, यज्ञों में हवन किए जाने पर और भी अधिक पवित्र होता है॥३१८॥

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत्॥३१९॥

इसी प्रकार से यद्यपि ब्राह्मण सभी प्रकार के अनिष्ट कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, तथापि ब्राह्मण सभी प्रकार से पूज्य होते हैं, क्योंकि ब्राह्मण उत्तम देवता हैं॥३१९॥

क्षत्रस्याऽतिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान् प्रति सर्वशः।
ब्रह्मैव सन्नियन्तृ स्यात् क्षत्रं हि ब्रह्मसम्भवम्॥३२०॥

ब्राह्मणों के प्रति सभी प्रकार से अनुचित वर्ताव करने वाले क्षत्रिय का अच्छी तरह से नियन्त्रक ब्राह्मण ही होगा, क्योंकि क्षत्रिय ब्राह्मण से ही उत्पन्न हुआ है॥३२०॥

अद्भ्योऽग्निर् ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति॥३२१॥

जल से अग्नि उत्पन्न हुआ है, ब्राह्मण से क्षत्रिय उत्पन्न हुआ है, पत्थर से लोहा उत्पन्न हुआ है, उन (अग्नि, क्षत्रिय, लोहा) का सर्वत्र फैलने वाला तेज अपने कारणों (जल, ब्राह्मण, पत्थल) में निष्प्रभाव हो जाता है॥३२१॥

नाऽब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाऽक्षत्रं ब्रह्म वर्धते।
ब्रह्म क्षत्रं च सम्पृक्तमिह चाऽमुत्र वर्धते॥३२२॥

ब्राह्मण से रहित क्षेत्रिय समृद्ध नहीं होता है, क्षत्रिय से रहित ब्राह्मण नहीं बढ़ता है, परस्पर में मिले हुए ब्राह्मण और क्षत्रिय इस लोक में और परलोक में भी बढ़ते हैं।

विशेष— भारत के स्वतन्त्रतासङ्ग्राम के समय में १९४४ क्रैस्ताब्द में अङ्ग्रेजों से प्रयुक्त होकर भारतीय जनता में परस्पर विद्वेष फैलाकर फूट डालकर स्वतन्त्रता-सङ्ग्राम को विफल बनाकर अङ्ग्रेजों को अपने साम्राज्य की रक्षा में सहयोग पहुँचाने में संलग्न रजनीकान्त ने अपने "हिन्दू जाति का उत्थान और पतन" नाम के ग्रन्थ में (किताब महल, १९८८, पृ.१७१) लिखा है—

"ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने मिलकर अपना एक गुट्ट बना लिया था जिस का एकमात्र उद्देश्य केवल वैश्यों और शूद्रों को अपनी शासनचक्की में सदा पीसते रहना था जिस से ये कभी भी अपना सिर उठाने नहीं पावें। मनुस्मृति के निम्नलिखित श्लोकों में जरा निष्पक्ष भाव से विचार कीजिए–

'नाऽब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाऽक्षत्रं ब्रह्म वर्धते।
ब्रह्म क्षत्रं च सम्पृक्तमिह चाऽमुत्र वर्धते' (मनु.९।३२२)।

अर्थ– ब्राह्मणविहीन क्षत्रिय कभी भी वृद्धि नहीं पा सकता और ब्राह्मण भी क्षत्रिय के विना वृद्धि नहीं पा सकता। ब्राह्मण और क्षत्रिय एकत्र मिलने पर इस लोक में और परलोक में परस्पर वृद्धि पाते हैं।

बस यही श्लोक ब्राह्मणी शासन की आधारशिला है जिस पर खड़ा रहकर उसके दुर्द्धर्ष दुर्ग ने स्मरणातीत काल से गौतम बुद्ध आदि जैसे अनेक सुधारक शत्रुओं के प्रबल प्रहारों को भी पुष्प-प्रहारवत् विफल कर दिया। यही श्लोक उक्त शासन की आत्मा है जिसके निकलते ही उसका सुसंगठित शरीर निष्प्राण होकर आग में मोम की मूर्ति की तरह क्षण में पिघल सकता है। यही श्लोक उक्त शासन-प्रणाली का मूल मन्त्र है जिसका जाप आज तक शासक-वर्ग निरन्तर करता हुआ इस विशाल हिन्दू समाज को अपने संकेत पर नचाता चला आ रहा। यद्यपि वैश्यों और शूद्रों में स्वेच्छाचारी शासकों के विरुद्ध सिर उठाने की तनिक भी शक्ति न थी, तथापि मनु के हृदय में चोर की दाढ़ी में तिनके की तरह यह भय सदा बना रहा करता था कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों में कहीं फूट होकर उनकी शक्ति क्षीण न हो जाय जिससे शासित-वर्ग को उनका शासन उलट देने का मौका मिले। अतः उन्होंने उक्त दोनों प्रबल जातियों को इस श्लोक के द्वारा सदा मिलकर काम करने की सख्त ताकीद दी है।"

रजनीकान्त का उक्त कथन सर्वथा असत्य है। यहाँ पर मनुश्लोक में ब्रह्म का और क्षत्र का नपुंसकलिङ्ग में निर्देश है। अतः ब्रह्मशब्द का अर्थ ज्ञानप्रधान विधायकशक्ति है, जिस का प्रतिनिधि विद्वान् सच्चरित्र ब्राह्मण है, और क्षत्रशब्द का अर्थ बलप्रधान व्यवस्थापकशक्ति है, जिस का प्रतिनिधि सच्चरित्र क्षत्रियशासक है। जब बल ज्ञान से निर्देशित और नियन्त्रित होगा और ज्ञान बल से समर्थित होगा तभी ज्ञान और बल कार्यकारी होंगे और राष्ट्र की समृद्धि के लिए उपयोगी होंगे। ब्रह्म का और क्षत्र का समन्वय राष्ट्र की समृद्धि के लिए है, राष्ट्र के किसी समूह को अन्याय्य रूप से दबाने के लिए नहीं। यह बात मनु से अपनी तरफ से कही गई नहीं है। यह शाश्वत तथ्य है और वेद से भी प्रतिपादित है। ऋग्वेद में ऋचा है– **"दण्डा इवेद् गो अजनास आसन् परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः। अभवच् च पुर एता वसिष्ठ आदित् तृत्सूनां विशो अप्रथन्त"** (७।३३।६)। इस ऋचा में क्षत्रियों के भरतगण से ब्राह्मण ऋषि

वसिष्ठ का योग प्रजा की अभिवृद्धि के लिए होने की बात उल्लिखित है। ऋग्वेद में अन्यत्र भी ब्राह्मण और क्षत्रिय के समन्वय से राष्ट्र की उन्नति होने की बात "स इत् क्षेति सुधित" इत्यादि (४।५०।८) मन्त्र में आई है। माध्यन्दिनीय-वाजसनेयि-शुक्ल-यजुर्वेदमन्त्रसंहिता में भी ब्राह्मण और क्षत्रिय के समन्वय से लोक पुण्यमय होने की बात को सूचित करने वाली ऋचा "यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह। तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाऽग्निना (२०।२५) आई है॥३२२॥

दत्त्वा धनं तु विप्रेभ्यः सर्वदण्डसमुत्थितम्।
पुत्रे राज्यं समासृज्य कुर्वीत प्रायणं रणे॥३२३॥

राजा सभी दण्डों से प्राप्त धन ब्राह्मणों को देकर राज्यभार पुत्र में रखकर युद्ध में प्राणत्याग करे।

विशेष— यद्यपि इस श्लोक में पुत्र को राज्य देने की बात कही गई है, तथापि वैदिक परम्परा में पुत्रभिन्न योग्यजन को भी राज्य देने की व्यवस्था है। महाभारत में **"स्थापयित्वा प्रजापालं पुत्रं राज्ये च पाण्डव। अन्यगोत्रं प्रशस्तं वा क्षत्रियं भरतर्षभ"** (शान्तिपर्व ६३।१९) इस वाक्य में पुत्रभिन्न योग्यजन को भी राज्य दिए जा सकने की बात आई है। रामायण में भी **"तस्माज् ज्येष्ठे हि कैकेयि राज्यतन्त्राणि पार्थिवाः। स्थापयन्त्यनवद्याङ्गि गुणवत्स्वितरेष्वपि"** ऐसा वचन आया है (२।८।२४)। वेद में भी **"विशस् त्वा सर्वा वाञ्छन्तु"** (ऋग्वेद १०।१७३।१), **"त्वां विशो वृणतां राज्याय"** (अथर्ववेद ३।४।२) इत्यादि प्रजा से राजा (राष्ट्रपति) चुने जाने की बातें आई हैं॥३२३॥

एवं चरन् सदा युक्तो राजधर्मेषु पार्थिवः।
हितेषु चैव लोकस्य सर्वान् भृत्यान् नियोजयेत्॥३२४॥

राजधर्मों के पालन में सावधान राजा सर्वदा ऐसा करता हुआ सभी राजसेवकों को प्रजा के हित में लगाए॥३२४॥

एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः।
इमं कर्मविधिं विद्यात् क्रमशो वैश्यशूद्रयोः॥३२५॥

यह क्षत्रियविशेषरूप राजा का अनादि काल से प्रवृत्त कर्मविधान सम्पूर्ण रूप में बताया गया। क्रम से वैश्य के और शूद्र के इस (आगे बताए गए) कर्मविधान को जाने॥३२५॥

वैश्यस् तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारपरिग्रहम्।
वार्तायां नित्ययुक्तः स्यात् पशूनां चैव रक्षणे॥३२६॥

उपनयनपर्यन्त संस्कार किए जाने पर वैश्य पत्नीग्रहण (विवाह) करके वार्ताकर्म में (खेती में और व्यापार में) तथा पशुओं के पालन में भी सदाकाल संलग्न रहे॥३२६॥

प्रजापतिर् हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून्।
ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः ॥३२७॥

ब्रह्मा जी ने पशुओं की सृष्टि करके उनको वैश्य को दिया और सम्पूर्ण प्रजाओं की सृष्टि करके उनको ब्राह्मण को और राजा को दिया॥३२७॥

न च वैश्यस्य कामः स्यान् न रक्षेयं पशूनिति।
वैश्ये चेच्छति नाऽन्येन रक्षितव्याः कथञ्चन ॥३२८॥

'मैं पशुओं की रक्षा नहीं करूँ' ऐसी इच्छा वैश्य को नहीं करनी चाहिए, वैश्य की पशुरक्षा करने की इच्छा होने पर तो दूसरों से पशुरक्षा नहीं की जानी चाहिए॥३२८॥

मणि-मुक्ता-प्रवालानां लोहानां तान्तवस्य च।
गन्धानां च रसानां च विद्यादर्घबलाऽबलम् ॥३२९॥

वैश्य मणियों के, मोतियों के, मूँगे के, सोना चाँदी ताँबा इत्यादि धातुओं के, सूत से बनाए जाने वाले वस्त्रादि के, सुगन्धद्रव्यों के और रसों के भी मूल्यों की कमी-वेशी का जानकारी रखे॥३२९॥

बीजानामुप्तिविच् च स्यात् क्षेत्रदोषगुणस्य च।
मानयोगं च जानीयात् तुलायोगांश् च सर्वशः ॥३३०॥

वैश्य बीजों के बोने का समय, प्रकार इत्यादि का ज्ञाता और खेत के गुणों का और दोषों का भी ज्ञाता होवे; नाना प्रकार के मानों के (पल, कुडव, प्रस्थ, आढक, द्रोण, शूर्प, गोणी, खारी, कुम्भ, कुसूल इत्यादि परिमाण-मापन के) साधनों को और (त्रसरेणु, लिक्षा, राजसर्षप, गौरसर्षप, यव, कृष्णल, माष, सुवर्ण [कर्ष], पल, धरण, पुराण, कार्षापण इत्यादि) तुलामानों के साधनों को भी सम्पूर्ण रूप में जाने॥३३०॥

साराऽसारं च भाण्डानां देशानां च गुणाऽगुणान्।
लाभाऽलाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम् ॥३३१॥

वैश्य क्रयविक्रय की वस्तुओं के अच्छे पन को और खराबी को, देशों के गुणों को और अवगुणों को, क्रयविक्रय की वस्तुओं से हो सकने वाले लाभ को और हानि को तथा पशओं की पुष्टि-वृद्धि इत्यादि के उपायों को भी जाने॥३३१॥

भृत्यानां च भृतिं विद्याद् भाषाश् च विविधा नृणाम्।
द्रव्याणां स्थानयोगांश् च क्रयविक्रयमेव च ॥३३२॥

वैश्य कर्मकरों की मजदूरी को, मनुष्यों की विभिन्न भाषाओं को, विभिन्न द्रव्यों की उत्पत्ति के स्थानों को और सुरक्षित रखने के स्थानों को तथा क्रय के समय को और विक्रय के समय को भी जाने॥३३२॥

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद् यत्नमुत्तमम्।
दद्याच् च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः ॥३३३॥

वैश्य धर्मपूर्वक धन की वृद्धि के लिए बड़ा प्रयत्न करे, सभी प्राणियों को यत्नपूर्वक अन्न का ही दान करे॥३३३॥

विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम्।
शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयसः परः ॥३३४॥

वेद जानने वाले, यशस्वी, गृहस्थ ब्राह्मणों की सेवा ही शूद्र के लिए तो परम कल्याणकारी धर्म है॥३३४॥

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर् मृदुवागनहङ्कृतः।
ब्राह्मणाऽद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ॥३३५॥

शरीर से और हृदय से शुद्ध, उच्च जाति की सेवा करने में इच्छुक, नरम बोली वाला, अभिमान से रहित और सदा ब्राह्मणादि के आश्रय में रहने वाला शूद्र (अगले जन्म में) उच्च जाति में जन्म पाता है॥३३५॥

एषोऽनापदि वर्णानामुक्तः कर्मविधिः शुभः।
आपद्यपि हि यस् तेषां क्रमशस् तं निबोधत ॥३३६॥

॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां नवमोऽध्यायः॥९॥

आपत्काल न होने पर यह ब्राह्मणादि वर्णों के कार्यों का कल्याणकारी विधि बताया गया। आपत्काल में भी उनके कार्यों का जो विधि है उसको आप लोग क्रम से जानिए॥३३६॥

॥ इस प्रकार कौण्डिन्न्यायनाऽऽचार्य-शिवराजशर्म-द्विजोत्तम से किए गए मनुसमृति के हिन्दी अनुवाद तथा विशेष व्याख्या में नवम अध्याय पूर्ण हुआ॥९॥

◆

अथ दशमोऽध्यायः

अधीयीरंस् त्रयो वर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः।
प्रब्रूयाद् ब्राह्मणस् तेषां नेतराविति निश्चयः ॥१॥

हिन्दी—

मनुस्मृतेर् हि दशमेऽध्याये भाषार्थ उच्यते।
कुल्लूकोक्तार्थमादाय शिवाख्येन द्विजन्मना॥

अपने शास्त्रविहित कर्म में रहे हुए द्विजाति तीन वर्ण शास्त्र के विधान के अनुसार वेद-वेदाङ्ग पढ़ें। इन में से ब्राह्मण ही वेद-वेदाङ्ग पढ़ाए, अन्य दो (क्षत्रिय और वैश्य) वेद-वेदाङ्ग नहीं पढ़ावें, ऐसा धर्मशास्त्र का निर्णय है।

विशेष— वेद-वेदाङ्ग-शास्त्रों का अध्यापन ब्राह्मण के स्वभाव का और वृत्ति का अनुकूल कार्य है; क्षत्रिय और वैश्य के स्वभाव का और वृत्ति का अनुकूल नहीं। अतः मूलतः गृहस्थ ब्राह्मण आचार्य से अथवा उपाध्याय से ही वेद का अध्ययन करने का विधान शास्त्रों में पाया जाता है॥१॥

सर्वेषां ब्राह्मणो विद्याद् वृत्त्युपायान् यथाविधि।
प्रब्रूयादितरेभ्यश् च स्वयं चैव तथा भवेत्॥२॥

शास्त्र के विधान के अनुकूल सभी वर्णों के जीविका के उपायों को ब्राह्मण जाने, और उन उपायों को अन्य वर्णों के लिए उपदेश भी करे, स्वयम् भी शास्त्र के विधान के अनुकूल जीविका के उपाय को अपनाने वाला होवे॥२॥

वैशेष्यात् प्रकृतिश्रैष्ठ्यान् नियमस्य च धारणात्।
संस्कारस्य विशेषाच् च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः ॥३॥

जातिगत विशेषता के कारण से, उत्पत्तिस्थान की श्रेष्ठता के कारण से, वेद-वेदाङ्गशास्त्ररूप नियमों की धारणा के कारण से और (कुलपरम्परागत भावनात्मक संस्कार की तथा) उपनयनादि संस्कार की भी विशेषता के कारण से वर्णों में (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में) ब्राह्मण शासिता (उपदेश में समर्थ) है॥३॥

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस् त्रयो वर्णा द्विजातयः।
चतुर्थ एकजातिस् तु शूद्रो नाऽस्ति तु पञ्चमः ॥४॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्ण द्विजाति (दो वार जन्मने वाले) हैं, चौथा वर्ण शूद्र तो एकजाति (एक वार ही जन्मने वाला, धर्म-मोक्षदृष्टियुक्त जन्म देने

वाले वेद के अध्ययन के लिए किए जाने वाले उपनयन से रहित) है, पाँचवाँ तो वर्ण नहीं है।

विशेष– वैदिक धर्म में मूल रूप में चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र माने गए हैं। चार वर्णों का उल्लेख ऋग्वेद में ही **"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्"** इत्यादि ऋचा में (१०।९०।१२) ही है। इन चार वर्णों में शुद्धकुलीन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को द्विजाति कहा जाता है। चतुर्थ वर्ण शूद्र को एकजाति कहा जाता है। शूद्र से ऊपर के किन्तु द्विजातियों से नीचे के और **"निषादस्थपतिर् गावेधुकेऽधिकृतः"** (कात्यायनश्रौतसूत्र १।१।१२) इत्यादि प्रमाण से कुछ श्रौत कर्मों में अधिकार रखने वाले निषाद को औपमन्यव के मत में 'पञ्चम वर्ण' के रूप में लेने की बात निरुक्त में (३।२।१) ऋग्वेद के **"पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्"** (१०।५३।४) इस वाक्य की व्याख्या में आए हुए **"पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्। गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके। चत्वारो वर्णाः निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः"** इस वाक्य में आई है। ऐतरेयिब्राह्मण में तो **"एतत् पञ्चजनानामुक्थं देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पाणां च पितॄणां च"** ऐसा कहा गया है (१३।७ [३।३१])। ऋग्वेद में आए हुए **"पाञ्चजन्यः"** (१।१००।१२) इस पद की व्याख्या में स्कन्दस्वामी ने **"पञ्चजनाः निषादपञ्चमाश् चत्वारो वर्णाः, तेभ्यो हितः पाञ्चजन्यः 'बाह्यो दैव्यः पाञ्चजन्यो गाम्भीर्यं च ञ्य इष्यते'** (पा.व्या.भा.४।३।६०) **इत्येवं हितार्थे ञ्यप्रत्ययो द्रष्टव्यश् छान्दसत्वात्"** ऐसा कहा है। इस से स्कन्दस्वामी निषाद को पञ्चम वर्ण मानते हैं, ऐसा ज्ञात होता है। वेङ्कटमाधव भी ऐसा ही मानते हुए प्रतीत होते हैं। सायण ने भी उक्त पद की व्याख्या में **"पाञ्चजन्यः गन्धर्वा अप्सरसो देवा असुरा रक्षांसि पञ्च जनाः, निषादपञ्चमाश् चत्वारो वर्णा वा, तेषु रक्षकत्वेन भवः"** ऐसा कहकर निषाद को पञ्चम वर्ण मानने का पक्ष भी दिखाया है। स्कन्दस्वामी ने अन्यत्र भी (१।८९।१०) **"पञ्च जनाः"** कहे जाने पर ब्राह्मणादि चार वर्ण और निषाद ही समझा है। वैकल्पिक पक्ष दिखाने पर भी सायण ने भी मुख्य रूप में ऐसा ही माना है। सायण ने अन्यत्र भी पञ्चजन से ब्राह्मणादि चार वर्णों को और निषाद को ही लिया है (ऋग्वेद ८।६३।७)। ऋग्वेद के ही **"अग्निर् ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः"** (९।६६।२०) इस स्थल की व्याख्या में भी सायण ने पञ्चजन से ऐतरेयिब्राह्मण में (३।३१) उक्त देवमनुष्यगन्धर्वादि का भी वैकल्पिक रूप में उल्लेख मानने पर भी ब्राह्मणादि चार वर्ण और निषाद को ही मुख्य रूप में लिया ही है। निषाद की जातीय स्थिति को मनुस्मृति में **"ब्राह्मणाद् वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते। निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते"** (१०।८) इस श्लोक में स्पष्ट किया गया है। वैदिक परम्परा में निषाद की कतिपय विशेषताओं को ध्यान में रखकर निषाद को द्विजातियों से और शूद्र से भी भिन्न मानकर उसको पञ्चम वर्ण मानने का भी पक्ष दिखाई देता है। किन्तु वह पक्ष प्रमुख

पक्ष नहीं है। इस लिए औपमन्यव के मत की उपेक्षा करके निषाद को शूद्रविशेष ही मानकर मनुस्मृति में "नास्ति तु पञ्चमः" कहा गया है॥४॥

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु।
आनुलोम्येन सम्भूता जात्या ज्ञेयास् त एव ते॥५॥

ब्राह्मणादि सभी वर्णों में समान वर्ण वाली अनन्यपूर्वा (दूसरे से क्षतयोनि नहीं की गई और दूसरे से नहीं ब्याही गई) पत्नियों में शास्त्रानुकूल रूप में उत्पन्न जो पुत्र हैं वे जाति से पिता-माता के जाति के ही जाने जाने चाहिए।

विशेष– शुद्धकुलीन शुद्ध ब्राह्मण माता-पिता के स्वगृह्यसूत्रोक्त वैध विवाह सम्बन्ध से जन्म, स्वगृह्यसूत्रोक्त वैध उपनयनसंस्कार से संस्कृत होकर विधिवत् किया गया वेद-वेदाङ्गादि शास्त्रों का अध्ययन, विहित संस्कारों का और स्नान-सन्ध्योपासन-ब्रह्मयज्ञ-तर्पणादि सदाचारों का यथाशक्ति यथाकाल सम्पादन, वेद-वेदाङ्गादि शास्त्रों से निषिद्ध कर्मों का त्याग और सामान्यतया धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों प्रति सन्तुलित दृष्टिकोण तथा विशेषतया आत्मज्ञानप्रवणता ब्राह्मणत्व के घटक हैं। उक्त सभी गुणों से युक्त मनुष्य उत्तम ब्राह्मण माना जाता है। शुद्धकुलीन ब्राह्मण माता-पिता के वैध वैवाहिक सम्बन्ध से जनमा हुआ; शास्त्रीय उपनयनादि संस्कारों से संस्कृत; शिखा, सूत्र, स्नान, सन्ध्योपासन, ब्रह्मयज्ञ, तर्पण, भक्ष्याऽभक्ष्य, पेयाऽपेय, स्पृश्याऽस्पृश्य, शौचाऽशौच, गम्याऽगम्य, गन्तव्याऽगन्तव्य, कार्याऽकार्य इत्यादि के शास्त्रोक्त नियमों का पालन करने वाला मनुष्य भी साधारण ब्राह्मण है ही। ब्राह्मण और अब्राह्मण शास्त्र से और लौकिक आप्त पुरुष के उपदेश से जाना जाता है। यह वर्तमान युग के लिए शास्त्रोक्त व्यवस्था है॥५॥

स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान् सुतान्।
सदृशानेव तानाहुर् मातृदोषविगर्हितान्॥६॥

बीच में व्यवधायक जाति से रहित जाति की स्त्रियों में शास्त्रानुकूल अनुलोम रूप से ब्राह्मणादि द्विजातियों से (ब्राह्मण से क्षत्रिया में, क्षत्रिय से वैश्या में और वैश्य से शूद्रा में) उत्पादित पुत्रों को धर्मतत्त्वज्ञ मुनि लोग माता के दोष से निन्दित और पिता के सदृश बताते हैं।

विशेष– सदृश कहने से समान (सजातीय) नहीं (द्र.– मनु.१०।१४) केवल सदृश (मिलता-जुलता) ही समझना चाहिए॥६॥

अनन्तरासु जातानां विधिरेष सनातनः।
द्व्येकाऽन्तरासु जातानां धर्म्यं विद्यादिमं विधिम्॥७॥

बीच में व्यवधायक जाति से रहित जाति की स्त्रियों में उत्पन्न पुत्रों का यह अनादि काल से चला आया विधान है। बीच में एक और दो जाति से व्यवहित जाति की स्त्रियों में (ब्राह्मण से वैश्या में अथवा शूद्रा में, क्षत्रिय से शूद्रा में) उत्पन्न पुत्रों के लिए तो इस [आगे के श्लोकों में निर्दिष्ट] विधि को जाने॥७॥

ब्राह्मणाद् वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते।
निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते॥८॥

ब्राह्मण से अपने से विवाहित वैश्यकन्या में अम्बष्ठ नाम की जाति का पुत्र उत्पन्न होता है, ब्राह्मण से अपने से विवाहित शूद्रकन्या में निषाद नाम की जाति का पुत्र उत्पन्न होता है, जो पारशव (भी) कहा जाता है॥८॥

क्षत्रियाच् छूद्रकन्यायां क्रूराऽऽचारविहारवान्।
क्षत्रशूद्रवपुर् जन्तुरुग्रो नाम प्रजायते॥९॥

क्षत्रिय से अपने से विवाहित शूद्रकन्या में क्रूर आचार और क्रूर चेष्टा से युक्त तथा क्षत्रियस्वभाव से और शूद्रस्वभाव से युक्त शरीर वाला उग्र नाम की जाति का प्राणी उत्पन्न होता है॥९॥

विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर् वर्णयोर् द्वयोः।
वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन् षडेतेऽपसदाः स्मृताः॥१०॥

ब्राह्मण के क्षत्रियादि तीन वर्णों में, क्षत्रिय के वैश्यशूद्र दो वर्णों में और वैश्य का एक वर्ण शूद्र में, ये छह ब्राह्मणादि के अपने-अपने वर्णों के पुत्रों से हीन कोटि के पुत्र समझे गए हैं॥१०॥

क्षत्रियाद् विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः।
वैश्यान् मागधवैदेहौ राजविप्राऽङ्गनासुतौ॥११॥

क्षत्रिय से ब्राह्मणी स्त्री में उत्पन्न पुत्र (सन्तान) जाति से सूत होता है। वैश्य से क्षत्रियस्त्री में और ब्राह्मणस्त्री में उत्पन्न पुत्र क्रम से मागध और वैदेह होते हैं। [क्षत्रियस्त्री में उत्पन्न पुत्र मागध और ब्राह्मणस्त्री में उत्पन्न पुत्र वैदेह होते हैं]॥११॥

शूद्रादायोगवः क्षत्ता चण्डालश् चाऽधमो नृणाम्।
वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसङ्कराः॥१२॥

शूद्र से वैश्यस्त्री में आयोगव, क्षत्रियस्त्री में क्षत्ता और ब्राह्मणस्त्री में मनुष्यों में सब से नीच चण्डाल, ये वर्णसाङ्कर्य वाले उत्पन्न होते हैं॥१२॥

एकाऽन्तरे त्वानुलोम्यादम्बष्ठोग्रौ यथा स्मृतौ।
क्षत्तृवैदेहकौ तद्वत् प्रातिलोम्येऽपि जन्मनि ॥१३॥

एक वर्ण से व्यवहित वर्ण में अनुलोम रूप से जैसे अम्बष्ठ और उग्र उत्पन्न होने वाले समझे गए हैं वैसे ही प्रतिलोम रूप से होने वाले जन्म में भी क्षत्ता और वैदेहक उत्पन्न होने वाले समझे गए हैं (अर्थात् ये अम्बष्ठ और उग्र दोनों स्पर्शादि में समान माने जाते हैं और क्षत्ता और वैदेहक भी अस्पर्शादि में समान माने जाते हैं।)॥१३॥

पुत्रा येऽनन्तरस्त्रीजाः क्रमेणोक्ता द्विजन्मनाम्।
ताननन्तरनाम्नस् तु मातृदोषात् प्रचक्षते ॥१४॥

ब्राह्मणादि-द्विजातियों के दूसरे वर्ण से अव्यवहित दूसरे वर्ण की स्त्री में उत्पन्न जो पुत्र बताए गए (मनु.१०।६) उनको माता के दोष से (माता का वर्ण न्यून होने से) दूसरे वर्ण के नाम को ही पाने वाले बताते हैं।॥१४॥

ब्राह्मणादुग्रकन्यायामावृतो नाम जायते।
आभीरोऽम्बष्ठकन्यायामायोगव्यां तु धिग्वणः ॥१५॥

ब्राह्मण से उग्रकन्या (मनु.१०।९) में आवृत जाति का पुत्र उत्पन्न होता है, अम्बष्ठकन्या (मनु.१०।८) में आभीर जाति का पुत्र उत्पन्न होता है और आयोगव-जाति (मनु.१०।१२) की कन्या में धिग्वण जाति का सन्तान उत्पन्न होता है।॥१५॥

आयोगवश् च क्षत्ता च चण्डालश् चाऽधमो नृणाम्।
प्रातिलोम्येन जायन्ते शूद्रादपसदास् त्रयः ॥१६॥

आयोगव, क्षत्ता और मनुष्यों में नीचतम चण्डाल ये तीन शूद्र से प्रतिलोम रूप में (नीच जाति के पुरुष से उच्च जाति की स्त्री में [मनु.१०।१२]) पुत्रकार्य करने से बहिर्भूत पुत्र उत्पन्न होते हैं।॥१६॥

वैश्यान् मागधवैदेहौ क्षत्रियात् सूत एव तु।
प्रतीपमेते जायन्ते परेऽप्यपसदास् त्रयः ॥१७॥

वैश्य से मागध और वैदेह तथा क्षत्रिय से सूत ये तीन अन्य भी पुत्रकार्य करने से बहिर्भूत सन्तान प्रतिलोमरूप में (नीच जाति के पुरुष से उच्च जाति की स्त्री में [मनु.१०।११]) उत्पन्न होते हैं।

विशेष— इन प्रतिलोमजों का मर्यादाक्रम सूत, मागध, वैदेह, आयोगव, क्षत्ता, चण्डाल ऐसे क्रम से होता है।॥१७॥

जातो निषादाच् छूद्रायां जात्या भवति पुक्कसः।
शूद्राज् जातो निषाद्यां तु स वै कुक्कुटकः स्मृतः॥१८॥

दस्यु-निषाद से शूद्रा स्त्री में उत्पन्न पुत्त्र जाति से पुक्कस (पुल्कस?) होता है। शूद्र से दस्युनिषादी में जो उत्पन्न होता है वह तो कुक्कुटक समझा जाता है॥१८॥

क्षत्तुर् जातस् तथोग्रायां श्वपाक इति कीर्त्यते।
वैदेहकेन त्वम्बष्ठ्यामुत्पन्नो वेण उच्यते॥१९॥

क्षत्ता (शूद्र से वैश्या में उत्पन्न) पुरुष से उग्रा (क्षत्रिय से शूद्रा में उत्पन्न) स्त्री में उत्पन्न जो होता है वह श्वपाक ऐसा कहा जाता है। वैदेहक (वैश्य से ब्राह्मणी में उत्पन्न) पुरुष से अम्बष्ठस्त्री (ब्राह्मण से वैश्या में उत्पन्न स्त्री) में उत्पन्न पुत्त्र (सन्तान) तो वेण कहा जाता है॥१९॥

द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस् तु यान्।
तान् सावित्रीपरिभ्रष्टान् व्रात्यानिति विनिर्दिशेत्॥२०॥

ब्राह्मणादि द्विजाति पुरुष समान वर्ण की विवाहित स्त्रियों में जो व्रत नहीं करने वाले पुत्त्रों को उत्पन्न करते हैं, सावित्री ऋचा से (सूर्य देवता वाले ऋङ्मन्त्र से) भ्रष्ट उन पुत्त्रों को व्रात्य नाम से निर्दिष्ट करे॥२०॥

व्रात्यात् तु जायते विप्रात् पापाऽऽत्मा भूर्जकण्टकः।
आवन्त्य-वाटधानौ च पुष्पधः शैख एव च॥२१॥

व्रात्य ब्राह्मण से ब्राह्मणी में पाप-स्वभाव से युक्त भूर्जकण्टक उत्पन्न होता है। आवन्त्य, वाटधान, पुष्पध और शैख भी उत्पन्न होते हैं।

विशेष— भूर्जकण्टक, आवन्त्य इत्यादि सभी एक प्रकार की ही व्रात्यसन्तति के (देशविशेषों में प्रचलित) नाम हैं॥२१॥

झल्लो मल्लश् च राजन्याद् व्रात्यान् निच्छिविरेव च।
नटश् च करणश् चैव खसो द्रविड एव च॥२२॥

व्रात्य क्षत्रिय से क्षत्रियस्त्री में झल्ल, मल्ल, निच्छिवि [लिच्छवि], नट, करण, खस और द्रविड भी उत्पन्न होते हैं।

विशेष— झल्ल, मल्ल इत्यादि सभी एक प्रकार की ही व्रात्यसन्तति के (देशविशेषों में प्रचलित) नाम हैं॥२२॥

वैश्यात् तु जायते व्रात्यात् सुधन्वाऽऽचार्य एव च।
कारुषश् च विजन्मा च मैत्रः सात्त्वत एव च॥२३॥

व्रात्य वैश्य से वैश्यस्त्री में सुधन्वाऽऽचार्य, कारुष, विजन्मा, मैत्र और सात्त्वत उत्पन्न होते हैं।

विशेष– सुधन्वाचार्य इत्यादि भी सभी एक प्रकार की ही व्रात्यसन्तति के (देशविशेषों में प्रचलित) नाम हैं॥२३॥

व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च।
स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसङ्कराः॥२४॥

वर्णों के परस्त्रीगमन-परपुरुषगमनों से, विवाह करने में अयोग्यस्त्री को विवाह करने से और अपने उपनयनादि कर्मों का त्याग करने से भी वर्णसङ्कर सन्तान उत्पन्न होती हैं॥२४॥

सङ्कीर्णयोनयो ये तु प्रतिलोमाऽनुलोमजाः।
अन्योऽन्यव्यतिषक्ताश् च तान् प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥२५॥

प्रतिलोम रीति से और अनुलोम रीति से उत्पन्न सङ्कीर्ण योनि वाले तथा सङ्कीर्ण योनि वालों में ही परस्पर सङ्कीर्ण भी जो हैं उनको मैं सम्पूर्ण रूप से बताऊँगा॥२५॥

सूतो वैदेहकश् चैव चण्डालश् च नराऽधमः।
मागधः क्षत्तृजातिश् च तथाऽऽयोगव एव च॥२६॥

सूत, वैदेहक, मनुष्यों में नीचतम चण्डाल, मागध, क्षत्ता और आयोगव भी (मनु.१०।११-१२)। (ये छह प्रमुख प्रतिलोमज जातियाँ हैं)॥२६॥

एते षट् सदृशान् वर्णाञ् जनयन्ति स्वयोनिषु।
मातृजात्यां प्रसूयन्ते प्रवरासु च योनिषु॥२७॥

ये छह अपनी योनियों में (सूत सूतयोनि में, वैदेहक वैदेहकयोनि में इत्यादि रूप से) अपने ही तुल्य (अपने से भी गर्हित) वर्णों को जन्म देते हैं। मातृजातियों में और अपने से उच्च योनियों में भी सूत वैदेहक इत्यादि अपने ही सदृश (अपने से भी गर्हित) वर्णों को जन्म देते हैं॥२७॥

यथा त्रयाणां वर्णानां द्वयोरात्माऽस्य जायते।
आनन्तर्यात् स्वयोन्यां तु तथा बाह्येष्वपि क्रमात्॥२८॥

जैसे तीन वर्णों में अपने से पीछे के दो वर्णों में (क्षत्रिया में और वैश्या में) और स्ववर्ण में इसका (ब्राह्मण का) पुत्र आत्मरूप से (द्विजाति रूप से) उत्पन्न होता है

वैसे ही बाह्यों में भी (वैश्य-क्षत्रिय द्वारा उत्पन्न प्रतिलोमों में भी) अनन्तर दो योनियों में और स्वयोनि में पिता का उसी तरह का बहुधर्म-साम्ययुक्त पुत्त्र उत्पन्न होता है॥२८॥

ते चाऽपि बाह्यान् सुबहूंस् ततोऽप्यधिकदूषितान्।
परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान्॥२९॥

वे बाह्य लोग भी परस्पर की स्त्रियों में उन से भी अधिक दूषित और निन्दित वर्णबाह्य बहुत सन्तानों को जन्म देते हैं॥२९॥

यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं जन्तुं प्रसूयते।
तथा बाह्यतरं बाह्यश् चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते॥३०॥

जैसे शूद्र ब्राह्मणी में वर्णबाह्य प्राणी को (चाण्डाल को) उत्पन्न करता है वैसे ही वर्णबाह्य चाण्डाल पुरुष चार वर्णों की स्त्रियों में बाह्य से भी बाह्य (निकृष्टतर) प्राणी को उत्पन्न करता है॥३०॥

प्रतिकूलं वर्तमाना बाह्या बाह्यतरान् पुनः।
हीना हीनान् प्रसूयन्ते वर्णान् पञ्चदशैव तु॥३१॥

नीच बाह्य लोग (चण्डाल, क्षत्ता, आयोगव, वैदेह, मागध, सूत) प्रतिलोम रूप में और अनुलोम रूप में भी भिन्न जाति की स्त्रियों में वर्ताव करते हुए अपने से भी बाह्य नीच पन्द्रह-पन्द्रह जातियों को जन्म देते हैं।

विशेष– चण्डाल क्षत्ता, आयोगव, वैदेह, मागध, सूत इन पाँच जाति की स्त्रियों में; **क्षत्ता** आयोगव, वैदेह, मागध, सूत इन चार जाति की स्त्रियों में; **आयोगव** वैदेह, मागध, सूत इन तीन जाति की स्त्रियों में; **वैदेह** मागध, सूत इन दो जाति की स्त्रियों में और **मागध** एक सूत जाति की स्त्री में प्रतिलोमज सन्तान को जन्म देते हैं, इस प्रकार (५+४+३+२+१=) १५ प्रतिलोमज बाह्यतर जातियाँ उत्पन्न होती हैं; इसी प्रकार अनुलोम रूप में भी **सूत** मागध, वैदेह, आयोगव, क्षत्ता, चण्डाल इन पाँच जाति की स्त्रियों में, **मागध** वैदेह, आयोगव, क्षत्ता, चण्डाल इन चार जाति की स्त्रियों में, **वैदेह** अयोगव, क्षत्ता, चण्डाल इन तीन जाति की स्त्रियों में, **आयोगव** क्षत्ता, चण्डाल इन दो जाति की स्त्रियों में और **क्षत्ता** एक चण्डाल जाति की स्त्री में बाह्यतर (अपनी अपेक्षा से नीच) १५ जातियों को जन्म देते हैं॥३१॥

प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दास्यजीवनम्।
सैरिन्ध्रं वागुरावृत्तिं सूते दस्युरयोगवे॥३२॥

वर्णबाह्य दस्यु (मनु.१०।४५) पुरुष अयोगवस्त्री (मनु.१०।१६) में केश-शृङ्गारादि कर्म को जानने वाले, दासभिन्न, दास की तरह काम करने वाले, मृगबन्धनादि काम से जीविका चलाने वाले सैरिन्ध्र को उत्पन्न करता है॥३२॥

मैत्रेयकं तु वैदेहो माधूकं सम्प्रसूयते।
नॄन् प्रशंसत्यजस्रं यो घण्टाताडोऽरुणोदये॥३३॥

वैदेह जाति का पुरुष (मनु.१०।११) आयोगव जाति की स्त्री में मधुरभाषी मैत्रेयक जाति के पुत्त्र को (सन्तान को) उत्पन्न करता है, जो सदा अरुणोदयकाल में घण्टा बजाकर राजा, मन्त्री, महाधनी इत्यादि पुरुषों की स्तुति करता है॥३३॥

निषादो मार्गवं सूते दाशं नौकर्मजीविनम्।
कैवर्तमिति यं प्राहुरार्यावर्तनिवासिनः॥३४॥

निषाद जाति का पुरुष (मनु.१०।८) आयोगव जाति की स्त्री में नाव के काम से जीविका करने वाले (नाव चलाने वाले) मार्गव जाति के (दाशाऽपरनामक जाति के) पुत्त्र (सन्तान) को जन्म देता है, जिस को आर्यावर्त में निवास करने वाले लोग कैवर्त कहते हैं।

विशेष– मनुस्मृति के मूल पाठ में और कुल्लूकभट्ट की व्याख्या में भी दूसरों से मुद्रित रूपों में दास ऐसा दन्त्य-सकारयुक्त पद दिखाई देता है, किन्तु नाव चलाने वाले का वाचक (तालव्य-शकारयुक्त) दाश शब्द ही वेद में और ब्रह्ममीमांसासूत्र में (२।३।४३) भी आया है॥३४॥

मृतवस्त्रभृत्स्वनार्यासु गर्हिताऽन्नाऽशनासु च।
भवन्त्यायोगवीष्वेते जातिहीनाः पृथक् त्रयः॥३५॥

शव के वस्त्रों को लेकर पहनने वाली और निन्दित अन्न खाने वाली अनार्य आयोगव जाति की स्त्रियों में जाति से नीच ये तीन (सैरिन्ध्र, मैत्रेयक, मार्गव [दाश, कैवर्त]) अलग पुत्त्र (सन्तान) उत्पन्न होते हैं॥३५॥

कारावरो निषादात् तु चर्मकारः प्रसूयते।
वैदेहकादन्ध्रमेदौ बहिर्ग्रामप्रतिश्रयौ॥३६॥

वैदेह जाति वाली स्त्री में निषाद जाति के पुरुष से चमडे का काम करने वाले कारावर जाति का पुत्त्र उत्पन्न होता है, वैदेहक जाति के पुरुष से कारावर जाति की स्त्री में अन्ध्र जाति का और निषाद जाति की स्त्री में मेद जाति का, ये दो गाँव के बाहर निवास करने वाले पुत्त्र उत्पन्न होते हैं॥३६॥

चण्डालात् पाण्डुसोपाकस् त्वक्सारव्यवहारवान्।
आहिण्डिको निषादेन वैदेह्यामेव जायते॥३७॥

वैदेह जाति की स्त्री में चण्डाल पुरुष से बाँस के उपकरणों का व्यवहार करने वाला पाण्डुसोपाक जाति का पुत्र (सन्तान) उत्पन्न होता है। वैदेह जाति की स्त्री में ही निषाद पुरुष से आहिण्डिक नाम को जाति का पुत्र उत्पन्न होता है।

विशेष— कारावर और आहिण्डिक जीविका के भेद से भिन्न नाम से व्यवहृत होने पर भी जाति से समान बताए जाते हैं॥३७॥

चण्डालेन तु सोपाको मूलव्यसनवृत्तिमान्।
पुक्कस्यां जायते पापः सदा सज्जनगर्हितः॥३८॥

पुक्कस जाति की (मनु.१०।१८) स्त्री में चण्डाल पुरुष से राजाज्ञा से वध्य जनों का वध करने वाला (जल्लाद) सर्वदा सज्जनों से निन्दित पापी सोपाक जाति का पुत्र उत्पन्न होता है॥३८॥

निषादस्त्री तु चण्डालात् पुत्रमन्त्यावसायिनम्।
श्मशानगोचरं सूते बाह्यानामपि गर्हितम्॥३९॥

निषाद जाति की स्त्री चण्डाल पुरुष से श्मशान में काम करने वाले और वर्णबाह्य मनुष्यों में भी निन्दित अन्त्यावसायिजाति के पुत्र (सन्तान) को उत्पन्न करती है॥३९॥

सङ्करे जातयस् त्वेताः पितृमातृप्रदर्शिताः।
प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा वेदितव्याः स्वकर्मभिः॥४०॥

सङ्करजातियों में पिता से और माता से निर्दिष्ट गुप्त अथवा प्रकट ये जातियाँ उनके अपने जीविका के कामों से समझी जानी चाहिए॥४०॥

सजातिजाऽनन्तरजाः षट् सुता द्विजधर्मिणः।
शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः॥४१॥

ब्राह्मणादि द्विजाति पुरुषों के समान जाति की स्त्री में और अपने से पीछे की द्विजाति स्त्रियों में (वैध सम्बन्ध से) उत्पन्न छह प्रकार के पुत्र (१. ब्राह्मण पुरुष का ब्राह्मणी में उत्पन्न पुत्र, २. क्षत्रिया में उत्पन्न पुत्र, ३. वैश्या में उत्पन्न पुत्र; ४. क्षत्रिय पुरुष का क्षत्रिया में उत्पन्न पुत्र, ५. वैश्या में उत्पन्न पुत्र और ६. वैश्य पुरुष का वैश्या स्त्री में उत्पन्न पुत्र) द्विजाति के धर्म का पालन करने वाले होते हैं।

प्रतिलोमजादि अवैध सम्बन्ध से उत्पन्न अन्य सभी पुत्र (सन्तान) शूद्र के धर्म के समान धर्म का पालन करने वाले होते हैं॥४१॥

तपोबीजप्रभावैस् तु ते गच्छन्ति युगेयुगे।
उत्कर्षं चाऽपकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः ॥४२॥

वे छह प्रकार के द्विजातिपुत्र तपस्या के प्रभाव से (विश्वामित्र की तरह) और वीर्य के प्रभाव से (ऋष्यशृङ्गादि की तरह) मनुष्यों में युग-युग में उच्च जन्म को और नीच जन्म को भी प्राप्त होते हैं॥४२॥

शनकैस् तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणाऽदर्शनेन च ॥४३॥

धीरे-धीरे द्विजातिकर्म का लोप करने से तथा (संस्कारकर्म के लिए, वेदाध्ययन के लिए और प्रायश्चित्तादि कर्म के लिए भी) ब्राह्मणों का आश्रयण न करने से भी ये (आगे के श्लोक में कही गई) क्षत्रियजातियाँ लोक में शूद्रत्व में प्राप्त हुई हैं॥४३॥

पौण्ड्रकाश् चौड्र-द्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश् चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥४४॥

पौण्ड्रक, औड्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खश (ये प्राचीन काल की क्षत्रियजातियाँ द्विजातिकर्म के लोप से और ब्राह्मणों से सम्पर्क न होने से भी शूद्रत्व में प्राप्त हुई हैं)॥४४॥

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचश् चाऽऽर्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥४५॥

ईश्वर के मुख से उत्पन्न ब्राह्मणजाति, बाहु से उत्पन्न क्षत्रियजाति, ऊरु से उत्पन्न वैश्यजाति और पैर से उत्पन्न शूद्रजाति से भी बाहर की जो आर्यभाषा बोलने वाली अथवा म्लेच्छभाषा बोलने वाली जातियाँ लोक में दिखाई देती हैं, वे सब जातियाँ दस्युजातियाँ समझी गई हैं॥४५॥

ये द्विजानामपसदा ये चाऽपध्वंसजाः स्मृताः।
ते निन्दितैर् वर्तयेयुर् द्विजानामेव कर्मभिः ॥४६॥

जो ब्राह्मणादि द्विजातियों के दूसरे वर्ण की स्त्री में उत्पन्न अनुलोमज पुत्र हैं और जो प्रतिलोमज अवैध पुत्र हैं वे द्विजातियों के उपकारक निन्दित कामों से जीविका करें।

विशेष— वैदिक धर्मशास्त्र में किसी जाति के लोगों को भी जीविकासाधन से वञ्चित न होना पडे इस लिए विशेष व्यवस्थाएँ की गई हैं॥४६॥

सूतानामश्वसारथ्यमम्बष्ठानां चिकित्सनम्।
वैदेहकानां स्त्रीकार्यं मागधानां वणिक्पथः॥४७॥

सूतों का रथ के घोडों को हाँकना, अम्बष्ठों का रोगों का निराकरण, वैदहकों का स्त्रियों का (अन्तःपुर का) रक्षण, मागधों का व्यापार (जीविका के लिए कार्य हैं)॥४७॥

मत्स्यघातो निषादानां तष्टिस् त्वायोगवस्य च।
मेदा-ऽन्ध्र-चूचु-मद्गूनामारण्यपशुहिंसनम्॥४८॥

निषादों का मछली मारना, आयोगव का लकडी को छीलना (बढईगिरी); मेद, अन्ध्र, चुञ्चु और मद्गु जाति के मनुष्यों का वन के पशुओं को मारना (जीविका के लिए कार्य हैं)।

विशेष— चूचु (चुञ्चु) और मद्गु की परिभाषा मनुस्मृति में नहीं है। इन की परिभाषा बौधायन से लेना चाहिए, ऐसा कुल्लूक ने कहा है, किन्तु बौधायनधर्मसूत्र में (१।१७।१-१५) इन की परिभाषा प्राप्त नहीं। गोविन्दराज ने यम का वचन देकर क्षत्रिय स्त्री में वैश्य से उत्पन्न मनुष्य को चूचुक और शूद्र से क्षत्रिय स्त्री में उत्पन्न मनुष्य को मद्गु कहा है, चूचु अथवा चूचुक को ही मनुस्मृति के मूल में मुद्रितपाठों में चुञ्चु पढा गया है, किन्तु मूलपाठ चूचु ही विदित होता है। देशभेद से जातिविशेषों के नामभेद होने की बात को सूचित करने के लिए ही मनुस्मृति में चूचु-मद्गु शब्द प्रयुक्त हैं, ऐसी गोविन्दराज की व्याख्या है॥४८॥

क्षत्त्रुग्रपुक्कसानां तु बिलौकोवधबन्धनम्।
धिग्वणानां चर्मकार्यं वेणानां भाण्डवादनम्॥४९॥

क्षत्ता का, उग्र का और पुक्कस का भूमि के विवरों में रहने वाले शालक, गोधा इत्यादि प्राणियों को मारना और बाँधना, धिग्वणों का चमडे का काम (करना), वेणों का बाजाओं को बजाना (जीविका के लिए कार्य हैं)॥४९॥

चैत्यद्रुम-श्मशानेषु शैलेषूपवनेषु च।
वसेयुरेते विज्ञाता वर्तयन्तः स्वकर्मभिः॥५०॥

ये (आगे के श्लोक में बताए गए गाँव के बाहर रहने वाली जाति के मनुष्य) अपने-अपने काम से जीविका करते हुए चबूतरों के पेडों के मूल में, श्मशानों में, पर्वतों में और उपवनों में भी परिचित रूप में निवास करें॥५०॥

चण्डाल-श्वपचानां तु बहिर् ग्रामात् प्रतिश्रयः।
अपपात्राश् च कर्तव्या धनमेषां श्व-गर्दभम् ॥५१॥
वासांसि मृतचेलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम्।
कार्ष्णायसमलङ्कारः परिव्रज्या च नित्यशः ॥५२॥

चण्डालों का और श्वपचों का गाँव से बाहर निवास होना चाहिए, ये अपपात्र (इन से खाए गए पात्रों को साफ करने पर भी द्विजाति के लिए अग्राह्य होने की व्यवस्था से विशेष रूप में बहिष्कृत) किए जाने चाहिए, इन का धन कुत्ते और गधे हों, इन के वस्त्र मृतक के वस्त्र (कफन इत्यादि) हों, इन का भोजन टूटे फूटे वर्तनों में हो, इन का आभूषण काले लोहे का बना हुआ हो और इन का निवास के लिए सर्वदा इधर-उधर घूमना होता रहे।

विशेष— शूद्रों का अनिरवसित और निरवसित रूप में विभाग पाणिनि की अष्टाध्यायी के **"शूद्राणामनिरवसितानाम्"** (२।४।१०) इस सूत्र से भी ज्ञात होता है। इसके भाष्य में पतञ्जलि ने अपपात्र को पात्रनिरवसित कहा है। इस विषय में अधिक जिज्ञासु लोग वहाँ के भाष्यसन्दर्भ को देखें॥५१-५२॥

न तैः समयमन्विच्छेत् पुरुषो धर्ममाचरन्।
व्यवहारो मिथस् तेषां विवाहः सदृशैः सह ॥५३॥

धर्मकार्य करता हुआ मनुष्य उन लोगों से बातचीत इत्यादि व्यवहार न करे, उनका व्यवहार उन लोगों में ही परस्पर में होना चाहिए, उनका विवाह भी उनके सदृश (उनके अपनी जाति के) मनुष्यों से ही होना चाहिए॥५३॥

अन्नमेषां पराऽधीनं देयं स्याद् भिन्नभाजने।
रात्रौ न विचरेयुस् ते ग्रामेषु नगरेषु च ॥५४॥

इन का अन्न दूसरों के अधीन में होवे, इन को अन्न टूटे फूटे वर्तन में दिया जाय, वे लोग रात में गाँव में और नगर में भी नहीं घूमें॥५४॥

दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः।
अबान्धवं शवं चैव निर्हरेयुरिति स्थितिः ॥५५॥

राजा के आज्ञाओं से चिह्नित वे लोग दिन में काम के लिए गाँवों में और नगरों में घूमें, बन्धु से रहित मनुष्य के शव को श्मशान में ले जावें, ऐसी मनुप्रोक्त धर्मशास्त्र की व्यवस्था है॥५५॥

वध्यांश् च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाऽऽज्ञया।
वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्याश् चाऽऽभरणानि च॥५६॥

चण्डाल-श्वपच इत्यादि लोग राजा की आज्ञा से सर्वदा शास्त्र की व्यवस्था के अनुसार वध्य जनों का वध करें, वध्य जनों के वस्त्रों को, शय्याओं को और आभूषणों को भी लेवें॥५६॥

वर्णाऽपेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम्।
आर्यरूपमिवाऽनार्यं कर्मभिः स्वैर् विभावयेत्॥५७॥

वर्णों से बाहर के, अच्छी तरह नहीं जाने गए, दूषित योनि में उत्पन्न, आर्य (द्विजाति) जैसा दिखाई देने वाले अनार्य को उसके अपने कर्मों से पहचाने॥५७॥

अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियाऽऽत्मता।
पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम्॥५८॥

द्वेष-मात्सर्यादिमयता, स्वार्थसाधनमात्रपरता, हिंसापरायणता, शास्त्रोक्त स्नान-सन्ध्योपासन-ब्रह्मयज्ञादिक्रियारहितता, ये गुण इस लोक में पुरुष के सङ्करजातित्व को प्रकट करते हैं॥५८॥

पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर् वोभयमेव वा।
न कथञ्चन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति॥५९॥

दूषित (सङ्कर) योनि से उत्पन्न मनुष्य पिता के स्वभाव को अथवा माता के स्वभाव को अथवा पिता माता दोनों के स्वभाव को प्राप्त करता है, वह किसी भी प्रकार से अपनी उत्पत्ति के कारण को छिपा नहीं सकता है॥५९॥

कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद् योनिसङ्करः।
स श्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु॥६०॥

प्रख्यात कुल में उत्पन्न मनुष्य का भी जिस का (गुप्त रूप से भी) योनि-साङ्कर्य होगा वह मनुष्य बहुत अथवा थोडा भी उस साङ्कर्यजनित स्वभाव को प्राप्त करता ही है॥६०॥

यत्र त्वेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रियैः सह तद् राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति॥६१॥

जिस राष्ट्र में वर्णों को दूषित करने वाले, अवैध स्त्रीपुरुषसम्बन्ध से जनम लेने वाले सङ्करजाति के ये लोग उत्पन्न होते हैं वह राष्ट्र राष्ट्रवासियों के साथ ही शीघ्र ही नष्ट हो जाता है॥६१॥

ब्राह्मणाऽर्थे गवाऽर्थे वा देहत्यागोऽनुपस्कृतः।
स्त्रीबालाऽभ्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम्॥६२॥

ब्राह्मणों के लिए, गौ के लिए तथा स्त्रियों और बालकों की रक्षा के लिए भी सद्भावनामात्र से किया गया प्राणत्याग प्रतिलोमजादि वर्णबाह्य लोगों की स्वर्ग-प्राप्त्यादिरूप सिद्धि का कारण होता है॥६२॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन् मनुः॥६३॥

हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी नहीं करना, देह को और मन को शुद्ध करना, इन्द्रियों को वश में रखना इतने को मनु ने सङ्क्षेप में चारों वर्णों के (सभी के) लिए धर्म बताया॥६३॥

शूद्रायां ब्राह्मणाज् जातः श्रेयसा चेत् प्रजायते।
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्या सप्तमाद् युगात्॥६४॥

ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न (स्त्रीरूप) वर्ण यदि सात पींढी तक ब्राह्मणरूप उच्च वर्ण से (स्त्रीरूप) सन्तान उत्पन्न करता है तो, सातवें जन्म में (सातवीं पींढी में) वह नीचा (स्त्रीरूप) शूद्र वर्ण ब्राह्मणरूप उच्च वर्ण में प्राप्त होता है॥६४॥

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश् चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज् जातमेवं तु विद्याद् वैश्यात् तथैव च॥६५॥

उक्त प्रकार से शूद्र वर्ण ब्राह्मण वर्ण में प्राप्त होता है, ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न पारशवपुरुषरूप गौण ब्राह्मण वर्ण सात पींढी तक शुद्ध शूद्रा स्त्री को ब्याह करने से सातवीं पींढी में पूर्ण रूप से शूद्रत्व में प्राप्त होता है। क्षत्रिय से उत्पन्न और वैश्य से उत्पन्न वर्णों का भी ऐसे ही जाति में उत्कर्ष को और अपकर्ष को जाने।

विशेष— इस विषय में स्पष्ट प्रतिपादन याज्ञवल्क्यस्मृति की मिताक्षरा में **"जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः"** इत्यादि श्लोक (१।९६) की व्याख्या में द्रष्टव्य है॥६५॥

अनार्यायां समुत्पन्नो ब्राह्मणात् तु यदृच्छया।
ब्राह्मण्यामप्यनार्यात् तु श्रेयस्त्वं क्वेति चेद् भवेत्॥६६॥

यदि अनार्या में (शूद्रा में) विधिरहित रूप से ब्राह्मण से उत्पन्न सन्तान होता है और ब्राह्मणी में अनार्य से (शूद्र से) उत्पन्न सन्तान होता है तो इन सन्तानों में कौन सी सन्तान अच्छी है? यदि ऐसी शङ्का होती है तो—॥६६॥

जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद् गुणैः।
जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्य इति निश्चयः॥६७॥

अनार्य नारी में आर्य पुरुष से उत्पन्न सन्तान गुण से आर्य होगा, अनार्य पुरुष से तो आर्य नारी में ही जन्म लेने पर भी सन्तान गुण से अनार्य ही होगा, ऐसा निर्णय धर्मतत्त्वज्ञ लोगों का है॥६७॥

तावुभावप्यसंस्कार्याविति धर्मो व्यवस्थितः।
वैगुण्याज् जन्मनः पूर्व उत्तरः प्रतिलोमतः॥६८॥

वे दोनों ही उपनयनसंस्कार के लिए अयोग्य होते हैं ऐसा धर्म ऋषियों से व्यवस्थित किया गया है; उसमें पहला (आर्यपुरुष से अनार्य नारी में उत्पन्न पारशव) जन्म की खराबी से उपनयनसंस्कार के लिए अयोग्य होता है, दूसरा (अनार्य पुरुष से आर्य नारी में उत्पन्न चण्डाल) प्रतिलोमज होने से उपनयनसंस्कार के लिए अयोग्य होता है॥६८॥

सुबीजं चैव सुक्षेत्रे जातं सम्पद्यते यथा।
तथाऽऽर्याज् जात आर्यायां सर्वं संस्कारमर्हति॥६९॥

जैसे अच्छा बीज अच्छी खेत में उत्पन्न होने पर सभी गुणों से सम्पन्न होता है वैसे ही आर्य पुरुष से आर्य स्त्री में उत्पन्न सन्तान सभी संस्कारों को प्राप्त करने में योग्य होती है॥६९॥

बीजमेके प्रशंसन्ति क्षेत्रमन्ये मनीषिणः।
बीजक्षेत्रे तथैवाऽन्ये तत्रेयं तु व्यवस्थितिः॥७०॥

कोई विवेचनशील पुरुष बीज की प्रशंसा करते हैं, कोई विवेचनशील पुरुष क्षेत्र की (खेत की) प्रशंसा करते हैं, उसी प्रकार कोई विवेचनशील पुरुष बीज और क्षेत्र दोनों की प्रशंसा करते हैं, उसमें यह (आगे के श्लोकों में बताई गई) व्यवस्था है॥७०॥

अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति।
अबीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत्॥७१॥

खराब खेत में (ऊषर भूमि में) बोया गया बीज बीच में ही नष्ट हो जाता है, बीज से रहित खेत भी केवल भूमि का टुकडा ही रह जाएगा॥७१॥

यस्माद् बीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन्।
पूजिताश् च प्रशस्ताश् च तस्माद् बीजं प्रशस्यते॥७२॥

क्योंकि बीज के प्रभाव से (हरिणी इत्यादि) तिर्यग्योनि में उत्पन्न पुरुष (ऋष्यशृङ्गादि) भी तत्त्वदर्शी ऋषि हो गए, पूजित भी हो गए, मुनियों से भी प्रशंसित भी हो गए, इस लिए बीज ही प्रशंसनीय (श्रेष्ठ) होता है॥७२॥

अनार्यमार्यकर्माणमार्यं चाऽनार्यकर्मिणम्।
सम्प्रधार्याऽब्रवीद् धाता न समौ नाऽसमाविति॥७३॥

आर्य (द्विजाति) की तरह आचरण करने वाले अनार्य (शूद्र) को और अनार्य की तरह आचरण करने वाले आर्य को भी विवेचनापूर्वक तुलना करके ब्रह्मा जी ने कहा कि वे दो समान भी नहीं हैं और असमान भी नहीं॥७३॥

ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वकर्मण्यवस्थिताः।
ते सम्यगुपजीवेयुः षट् कर्माणि यथाक्रमम्॥७४॥

ब्रह्मज्ञान के कारणरूप वेद में आस्थावान् और अपने कर्म में सन्तुष्ट रहकर स्थिर रहने वाले जो ब्राह्मण हैं वे क्रमानुसार छह कर्मों का अनुष्ठान अच्छी तरह करें॥७४॥

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश् चैव षट् कर्माण्यग्रजन्मनः॥७५॥

वेद-वेदाङ्गों को पढ़ाना, वेद-वेदाङ्गों को पढ़ना, श्रौत-स्मार्त यज्ञ करना, श्रौत-स्मार्त यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना ये छह कर्म ब्राह्मण के हैं॥७५॥

षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजनाऽध्यापने चैव विशुद्धाच् च प्रतिग्रहः॥७६॥

इन छह कर्मों में से श्रौत-स्मार्त यज्ञ कराना, वेद-वेदाङ्ग पढ़ाना और शुद्ध दाता से दान लेना भी ये तीन कर्म इसके (ब्राह्मण के) जीविका के काम हैं॥७६॥

त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात् क्षत्रियं प्रति।
अध्यापनं याजनं च तृतीयश् च प्रतिग्रहः॥७७॥

ब्राह्मण से क्षत्रिय की ओर जाते हुए उन छह कर्मों में से वेद-वेदाङ्गों का अध्यापन, श्रौत-स्मार्त यज्ञ कराना और तीसरा दान लेना भी ये तीन कर्म निवृत्त होते हैं [क्षत्रिय में नहीं जाते हैं]॥७७॥

वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः।
न तौ प्रति हि तान् धर्मान् मनुराह प्रजापतिः॥७८॥

उसी तरह ब्राह्मण से वैश्य की ओर जाते हुए उन छह कर्मों में से ये ही तीन कर्म (अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह) निवृत्त होंगे, यही धर्मशास्त्र की मर्यादा है, क्योंकि प्रजापति मनु ने क्षत्रिय-वैश्य के लिए उन कर्मों का उपदेश नहीं किया॥७८॥

शस्त्राऽस्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर् विशः।
आजीवनार्थं धर्मस् तु दानमध्ययनं यजिः ॥७९॥

शस्त्रों का और अस्त्रों का धारण करना क्षत्रिय के; और व्यापार, पशुपालन तथा खेती करना वैश्य के जीविका के लिए कर्म हैं, उन दोनों का धर्म तो दान देना, वेद-वेदाङ्गों को पढ़ना और श्रौत-स्मार्त यज्ञ करना है॥७९॥

वेदाऽभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम्।
वार्ताकर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु॥८०॥

अपने-अपने (वृत्ति-)कर्मों में ब्राह्मण के लिए वेद का अभ्यास (अध्यापन), क्षत्रिय के लिए प्रजारक्षण और वैश्य के लिए वार्ताकर्म (कृषि-पशुपालन-वाणिज्य) विशिष्ट (विशेष रूप में कर्तव्य) हैं।

विशेष– यहाँ पर कुल्लूकभट्ट का कथन उपपन्न नहीं लगता है; वृत्यर्थ-कर्मत्व की अथवा धर्मकर्मत्व की विवक्षा न करके सामान्यतया ही ब्राह्मणादि के लिए वेदाभ्यासादि कर्म विशिष्ट कर्म माने गए हैं॥८०॥

अजीवंस् तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा।
जीवेत् क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥८१॥

शास्त्र में बताए गए अपने कर्म से जीविका करने में असमर्थ होने पर ब्राह्मण क्षत्रियकर्म से जीविका करे, क्योंकि वही उसके (ब्राह्मण के) समीप का कर्म है॥८१॥

उभाभ्यामप्यजीवंस् तु कथं स्यादिति चेद् भवेत्।
कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद् वैश्यस्य जीविकाम्॥८२॥

ब्राह्मण के कर्म से और क्षत्रिय के कर्म से भी दोनों से ही जीविका करने में असमर्थ ब्राह्मण कैसे रहेगा? यदि ऐसा प्रश्न आएगा तो कहा जाता है कि वैसा ब्राह्मण खेती का और पशुपालन का आश्रय करके वैश्य के जीविकाकर्म से जीविका करे॥८२॥

वैश्यवृत्त्याऽपि जीवंस् तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा।
हिंसाप्रायां पराऽधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत्॥८३॥

वैश्य के जीविकाकर्म से जीविका करता हुआ भी ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय हिंसापूर्ण और पराधीन खेती का यत्नपूर्वक परित्याग करे॥८३॥

कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता।
भूमिं भूमिशयांश् चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम्॥८४॥

लोग खेती को उत्तम जीविका मानते हैं, किन्तु वह जीविका सज्जनों से निन्दित है, क्योंकि खेती करने में लोहे के मुँह से युक्त काष्ठ (हल) भूमि को और भूमि में रहने वाले जीवों को मारता है (पीडा देता है)॥८४॥

इदं तु वृत्तिवैकल्यात् त्यजतो धर्मनैपुणम्।
विट्पण्यमुद्धृतोद्धारं विक्रेयं वित्तवर्धनम्॥८५॥

धन बढाने वाला और वर्जनीय वस्तुओं का वर्जन से युक्त यह (आगे के श्लोकों में बताया हुआ) वैश्य का विक्रेय द्रव्य जीविकासाधन के अभाव से धर्म की सूक्ष्मता को छोडते हुए ब्राह्मण के अथवा क्षत्रिय के लिए बिक्री करने में योग्य होता है॥८५॥

सर्वान् रसानपोहेत कृताऽन्नं च तिलैः सह।
अश्मनो लवणं चैव पशवो ये च मानुषाः॥८६॥

वैश्य के पण्यद्रव्यों में से ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय सभी रसों को, तिलों को और पक्वान्न को, पत्थरों को, नमक को, मनुष्यों को और पशुओं को भी हटाए (न बेचे)॥८६॥

सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणक्षौमाऽऽविकानि च।
अपि चेत् स्युररक्तानि फलमूले तथौषधीः॥८७॥

सूतों से बनी हुई वस्तुओं में से सभी रंगी हुई वस्तुओं को, नहीं रंगी हुई होने पर भी सन की अलसी की और ऊन की वस्तुओं को, फल को, मूल को और ओषधियों को भी हटाए (न बेचे)॥८७॥

अपः शस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धांश् च सर्वशः।
क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान्॥८८॥

जल को, शस्त्र को, विष को, मांस को, सोमलता को, सभी प्रकार के सुगन्धद्रव्यों को, दूध को, मधु को (शहद को), दही को, घी को, तेल को, मोम को, गुड को और कुशों को भी हटाए (नहीं बेचे)॥८८॥

आरण्यांश् च पशून् सर्वान् दंष्ट्रिणश् च वयांसि च।
मद्यं नीलीं च लाक्षां च सर्वांश् चैकशफांस् तथा॥८९॥

सभी प्रकार के जङ्गली पशुओं को, दाढ़ वाले पशुओं को, पक्षियों को, मद्य को, नील को, लाख को, सभी प्रकार के एक खुर वाले पशुओं को भी हटाए (नहीं बेचे)॥८९॥

काममुत्पाद्य कृष्यां तु स्वयमेव कृषीवलः ।
विक्रीणीत तिलाञ् शुद्धान् धर्मार्थमचिरस्थितान् ॥९०॥

खेतीवाल ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय खेती में स्वयम् उत्पादित शुद्ध और बहुत समय तक नहीं रखे गए (नवीन) तिलों को धर्म के लिए इच्छानुसार बेचे॥९०॥

भोजनाऽभ्यञ्जनाद् दानाद् यदन्यत् कुरुते तिलैः ।
कृमिभूतः श्वविष्ठायां पितृभिः सह मज्जति ॥९१॥

जो मनुष्य खाने से, शरीर में तेल के रूप में मलने से और दान से भिन्न कार्य तिलों से करता है वह पितरों के साथ कीड़ा होकर कुत्ते की विष्ठा में गड़ता है॥९१॥

सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च ।
त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥९२॥

ब्राह्मण (और क्षत्रिय भी [मनु.१०।८३]) मांस के, लाख के और नमक के विक्रय से तत्काल पतित हो जाता है। दूध बेचने से ब्राह्मण तीन दिनों में शूद्र हो जाता है॥९२॥

इतरेषां तु पण्यानां विक्रयादिह कामतः ।
ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति ॥९३॥

उक्त निषिद्ध (मनु.१०।८६–८९) अन्य विक्रेय द्रव्यों को स्वेच्छा से बेचने से ब्राह्मण सात दिनों में ही इस लोक में वैश्यत्व में प्राप्त होता है॥९३॥

रसा रसैर् निमातव्या न त्वेव लवणं रसैः ।
कृताऽन्नं चाऽकृताऽन्नेन तिला धान्येन तत्समाः ॥९४॥

रसों को रसों से बदलना चाहिए, किन्तु नमक को किसी रस से भी नहीं बदलना चाहिए, पके हुए अन्न को कच्चे अन्न से बदलना चाहिए, और धान्य-तुल्य तिलों को धान्य से बदलना चाहिए॥९४॥

जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाऽप्यनयं गतः ।
न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित् ॥९५॥

जीविका के अभाव से पीडित क्षत्रिय ब्राह्मण के लिए निषिद्ध इन दूध इत्यादि वस्तुओं के विक्रय से भी जीविका करे, किन्तु कभी भी बडों की (ब्राह्मणों की) जीविका को (वेदाध्यापन-याजन-प्रतिग्रह को) न अपनाए॥९५॥

यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः।
तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत्॥९६॥

जो जाति से छोटा मनुष्य जाति से उत्कृष्ट मनुष्य के जीविकाकर्म से जीविका करे उसको राजा शीघ्र ही सर्वस्वहरण करके अपने देश से बाहर निकाल दे।

विशेष— आपत्काल न होने पर यह व्यवस्था है। आपत्काल होने पर क्षत्रिय-वैश्यों को भी अध्यापन में अधिकार दिया ही गया अवगत होता है। यह बात **"अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते"** (मनु.२।२४१) इत्यादि वचन से भी अवगत होती है। क्षत्रियकर्म और वैश्यकर्म सभी लोगों के लिए अनुमत ही हैं। नारदीयमनुस्मृति में (नारदस्मृति में) **"न कथञ्चन कुर्वीत ब्राह्मणः कर्म वार्षलम्। वृषलः कर्म ब्राह्मं वा पतनीयौ हि तौ तयोः। उत्कृष्टं चाऽपकृष्टं च तयोः कर्म न विद्यते। मध्यमे कर्मणी हित्वा सर्वसाधारणे हि ते"** (२।५३,५४, याज्ञवल्क्यस्मृति-मिताक्षरा ३।३५) ऐसा वचन आया है। इस से मनुस्मृति में दी गई यह व्यवस्था अनापत्काल के लिए है, आपत्-काल के लिए नारदीयमनुस्मृत्यादि की व्यवस्था है, यह बात अवगत होती है। अतः ग्रन्थ के तात्पर्य को समझे विना उसमें दोष देना ठीक नहीं माना जा सकता है॥९६॥

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः।
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः॥९७॥

ठीक प्रकार से नहीं किया गया भी अपना कर्म कुछ अच्छा ही है, किन्तु अच्छे प्रकार से किया गया भी दूसरे का कर्म अच्छा नहीं है, क्योंकि दूसरे के कर्म से जीविका करता हुआ मनुष्य शीघ्र ही अपनी जाति से गिरता है॥९७॥

वैश्योऽजीवन् स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्याऽपि वर्तयेत्।
अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान्॥९८॥

अपने शास्त्रविहित कर्म से जीविका करने में असमर्थ वैश्य उच्छिष्टभोजनादि अकार्यों को नहीं करता हुआ सेवा इत्यादि शूद्रकार्यों से भी जीविका करे। समर्थ होने पर शूद्रकार्यों से हट जाय॥९८॥

अशक्नुवंस् तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम्।
पुत्रदाराऽत्ययं प्राप्तो जीवेत् कारुककर्मभिः॥९९॥

द्विजातियों की सेवा करने में असमर्थ होता हुआ शूद्र पुत्र पत्नी इत्यादि के भरण-पोषण में असमर्थ होने पर शिल्पियों के कर्मों से जीविका करे॥९९॥

यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः।
तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च॥१००॥

जिन कर्मों को करने से द्विजातियों का कार्य सिद्ध होता है और उनको सहयोग पहुँचता है वैसे लकडी का काम इत्यादि कारुककर्म और चित्रलेखनादि नाना प्रकार के शिल्पकर्म भी (शूद्र करे)॥१००॥

वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन् ब्राह्मणः स्वे पथि स्थितः।
अवृत्तिकर्षितः सीदन्निमं धर्मं समाचरेत्॥१०१॥

वैश्य के जीविकाकर्मों को नहीं करता हुआ और अपने मार्ग में रहा हुआ ब्राह्मण जीविका के अभाव से पीडित होकर दुःख को झेलता हुआ इस (आगे के श्लोक में बताए गए) कर्म को करे॥१०१॥

सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् ब्राह्मणस् त्वनयं गतः।
पवित्रं दुष्यतीत्येतद् धर्मतो नोपपद्यते॥१०२॥

जीविका के अभाव से आपत्ति में पड़ा हुआ ब्राह्मण सभी से दान लेवे, क्योंकि स्वभाव से ही पवित्र वस्तु दूषित हो जाता है यह बात धर्म से उपपन्न नहीं होती है॥१०२॥

नाऽध्यापनाद् याजनाद् वा गर्हिताद् वा प्रतिग्रहात्।
दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाऽम्बुसमा हि ते॥१०३॥

जीविका के अभाव होने पर निन्दित अध्यापन से अथवा निन्दित याजन से अथवा निन्दित प्रतिग्रह से भी ब्राह्मणों को दोष नहीं लगता है, क्योंकि वे अग्नि के और जल के समान हैं (सर्वदा पवित्र हैं)॥१०३॥

जीविताऽत्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस् ततः।
आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते॥१०४॥

जो ब्राह्मण जीविका के अभाव से मरने की अवस्था में पहुँचने पर जिस किसी से लेकर अन्न खाता है वह जैसे आकाश कीचड से दूषित नहीं होता है वैसे ही पाप से दूषित नहीं होता है॥१०४॥

अजीगर्तः सुतं हन्तुमुपाऽसर्पद् बुभुक्षितः।
न चाऽलिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन्॥१०५॥

भूख से पीडित अजीगर्त ब्राह्मण पुत्र को मारने के लिए आगे बढ़े, तथापि भूख के निवारण के लिए ऐसा करते हुए वे पाप से लिप्त नहीं हुए॥१०५॥

श्वमांसमिच्छन्नार्तोऽत्तुं धर्माऽधर्मविचक्षणः।
प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान्॥१०६॥

धर्म के और अधर्म के विवेचन में समर्थ वामदेव ऋषि भूख से पीडित होने पर प्राणों की रक्षा के लिए कुत्ते के मांस को खाने की इच्छा करते हुए भी पाप से लिप्त नहीं हुए॥१०६॥

भरद्वाजः क्षुधाऽऽर्तस् तु सपुत्रो विजने वने।
बह्वीर् गाः प्रतिजग्राह वृधोस् तक्ष्णो महातपाः॥१०७॥

मनुष्यों से रहित वन में रहते हुए पुत्र से युक्त महातपस्वी भरद्वाज ऋषि ने भूख से पीडित होने पर वृधु नाम के बढ़ई से बहुत गायों को दान में लिया॥१०७॥

क्षुधाऽऽर्तश् चाऽत्तुमभ्यागाद् विश्वामित्रः श्वजाघनीम्।
चण्डालहस्तादादाय धर्माऽधर्मविचक्षणः॥१०८॥

धर्म के और अधर्म के विवेचन में समर्थ विश्वामित्र ऋषि भूख से पीडित होने पर चण्डाल के हाथ से लेकर कुत्ते के जघनभाग के मांस को खाने के लिए आगे बढ़े॥१०८॥

प्रतिग्रहाद् याजनाद् वा तथैवाऽध्यापनादपि।
प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः॥१०९॥

निन्दित दान लेने से अथवा निन्दित रूप में यज्ञ कराने से अथवा निन्दित रूप में वेद-वेदाङ्ग पढ़ाने से भी जीविका हो सकती है, किन्तु इन में से ब्राह्मण के लिए निन्दित दान लेना सब से निकृष्ट है, क्योंकि उस से परलोक में नरकप्राप्ति होने से वह विशेषतया निन्दित है॥१०९॥

याजनाऽध्यापने नित्यं क्रियेते संस्कृताऽऽत्मनाम्।
प्रतिग्रहस् तु क्रियते शूद्रादप्यन्त्यजन्मनः॥११०॥

याजन और अध्यापन तो संस्कार से युक्त शरीर वाले द्विजों के लिए ही किए जाते हैं, प्रतिग्रह (दान लेने का काम) तो अन्त्यज शूद्र से भी किया जाता है। [अत एव दान लेना निकृष्ट है]॥११०॥

जपहोमैरपैत्येनो याजनाऽध्यापनैः कृतम्।
प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव च॥१११॥

निन्दित याजन और निन्दित अध्यापन से उत्पन्न पाप जपों से और होमों से हट जाता है, निन्दित दान लेने से उत्पन्न पाप तो दान में लिए गए द्रव्य के त्याग से और कष्टसाध्य तपस्या से ही हटता है। [अत एव निन्दित दान लेना निकृष्ट है] ॥१११॥

शिलोञ्छमप्याददीत विप्रोऽजीवन् यतस् ततः।
प्रतिग्रहाच् छिलः श्रेयांस् ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते ॥११२॥

स्वकर्म से जीविका करने में असमर्थ होता हुआ ब्राह्मण जिस किसी से भी शिलोञ्छ (थोडी-थोडी भिक्षा) भी लेवे। प्रतिग्रह से शिल (धान्यमञ्जरियों को उठाना) उत्तम है और शिल से भी उञ्छ (धान्यगुडिकाओं को उठाना) प्रशंसनीय है॥११२॥

सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर् धनं वा पृथिवीपतिः।
याच्यः स्यात् स्नातकैर् विप्रैरदित्संस् त्यागमर्हति ॥११३॥

जीविका के अभाव से दुःख में पड़े हुए इच्छुक स्नातक ब्राह्मणों द्वारा राजा से अन्न-वस्त्रादि उपभोग्य वस्तु अथवा सुवर्ण-रजतादि धन माँगा जाना चाहिए, देने में अनिच्छुक राजा को (देशत्याग-राजकृत्यत्याग इत्यादि करके) त्याग देना उचित होता है॥११३॥

अकृतं च कृतात् क्षेत्राद् गौरजाऽविकमेव च।
हिरण्यं धान्यमन्नं च पूर्वम्पूर्वमदोषवत् ॥११४॥

बनी-बनाई गई भूमि से नहीं बनी-बनाई गई भूमि राजा से लेने में कम दोष वाली है; उसके बाद गौ, बकरी, भेड, सोना-चाँदी इत्यादि मुद्रित द्रव्य (नाणकद्रव्य), धान्य अथवा कच्चा अन्न और पका हुआ अन्न, इन में अगले-अगले से पहला-पहला राजा से लेने में कम दोष वाला है॥११४॥

सप्त वित्ताऽऽगमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः।
प्रयोगः कर्मयोगश् च सत्प्रतिग्रह एव च ॥११५॥

१. दायभाग, २. मित्रादि का उपहार, ३. कीनने का (खरीदने का) काम, ४. धर्मयुद्ध में विजय, ५. वृद्धि के (ब्याज के, सूद के) लिए धन का प्रयोग, ६. खेती अथवा पशुपालन अथवा व्यापार इत्यादि काम, ७. अनिन्द्य मनुष्य से दान लेना, ये सात धन की प्राप्ति के साधन (वर्ण-वर्ण में शास्त्रनियमित रूप में) धर्म के अविरोधी हैं॥११५॥

विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः।
धृतिर् भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः ॥११६॥

विद्या, शिल्पकर्म, वेतन (मजदूरी), सेवा (दूसरे की चित्तवृत्ति के अनुसार सभी प्रकार का काम करना), पशुपालन, व्यापार, खेती, धैर्य, भिक्षा माँगना, वृद्धि के लिए धन का प्रयोग, ये दश (आपत्काल में) जीविका के साधन होते हैं॥११६॥

ब्राह्मणः क्षत्रियो वाऽपि वृद्धिं नैव प्रयोजयेत्।
कामं तु खलु धर्माऽर्थं दद्यात् पापीयसेऽल्पिकाम्॥११७॥

ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय भी वृद्धि के (ब्याज के, सूद के) लिए धन का प्रयोग न करे; किन्तु वह भी धर्म-कार्य के लिए अपने से छोटी जाति के मनुष्य को थोडी-थोडी वृद्धि के लिए धन दे सकता है॥११७॥

चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि।
प्रजा रक्षन् परं शक्त्या किल्बिषात् प्रतिमुच्यते॥११८॥

अपनी पूरी शक्ति से प्रजा की रक्षा करता हुआ क्षत्रिय आपत्काल में प्रजा से धान्यादि की उपज से चौथे भाग को लेता हुआ भी पाप से मुक्त ही रहता है [आपत्-काल न रहने पर तो छठा अथवा आठवाँ अथवा बारहवाँ भाग लेना होगा]॥११८॥

स्वधर्मो विजयस् तस्य नाऽऽहवे स्यात् पराङ्मुखः।
शस्त्रेण वैश्यान् रक्षित्वा धर्म्यमाहारयेद् बलिम्॥११९॥

क्षत्रिय का शत्रु पर विजय प्राप्त करना अपना धर्म है, वह युद्ध में विमुख न होवे, शस्त्र से वैश्यों की रक्षा करके उनको धर्म का अविरुद्ध कर देने में बाध्य करे॥११९॥

धान्येऽष्टमं विशां शुल्कं विंशं कार्षापणाऽवरम्।
कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस् तथा॥१२०॥

धान्य के व्यवहार करने वाले वैश्यों से आपत्काल में राजा धान्य का आठवाँ भाग शुल्क लेवे, हिरण्यादि का एक कार्षापण से कम नहीं करके बीसवाँ भाग शुल्क लेवे, शूद्र लोग, बढई कुह्मार लोहार इत्यादि कारीगर तथा चित्रकार वाद्यवादक इत्यादि शिल्पी लोग भी अपने-अपने काम से ही राजा के कार्यों को सम्पन्न करने वाले होवें। [उन से राजा कोई द्रव्यशुल्क न लेवे]॥१२०॥

शूद्रस् तु वृत्तिमाकाङ्क्षन् क्षत्रमाराधयेद् यदि।
धनिनं वाऽप्युपाऽऽराध्य वैश्यं शूद्रो जिजीविषेत्॥१२१॥

शूद्र यदि केवल जीविका की ही इच्छा करता है तो क्षत्रिय की सेवा करे, अथवा शूद्र धनवान् वैश्य की सेवा करके जीना चाहे॥१२१॥

स्वर्गार्थमुभयाऽर्थं वा विप्रानाराधयेत् तु सः।
जातब्राह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥१२२॥

शूद्र स्वर्ग पाने के लिए अथवा स्वर्ग और जीविका दोनों को पाने के लिए ब्राह्मणों की सेवा करे, क्योंकि 'ब्राह्मणसेवक शूद्र' ऐसे प्रशंसापरक शब्द का वह जो विषय बन जाता है वही उसकी कृतार्थता है॥१२२॥

विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते।
यदतोऽन्यद् धि कुरुते तद् भवत्यस्य निष्फलम् ॥१२३॥

ब्राह्मण की सेवा ही शूद्र का विशेष धर्मकार्य कहा जाता है, इस से भिन्न जो काम वह करता है इसका वह काम स्वर्ग पाने के लिए बेकार हो जाता है।

विशेष— शूद्र से विशेष धर्मकार्य के रूप में प्रधान रूप में धार्मिक रूप में जीवन-यापन चलाने वाले ब्राह्मण की सेवा किए जाने से शूद्र में भी धार्मिक भावना और चरित्र विकसित होने से भी उसको विशेष पुण्यलाभ हो सकने की वस्तुस्थिति में यहाँ पर ध्यान दिया जाना चाहिए॥१२३॥

प्रकल्प्या तस्य तैर् वृत्तिः स्वकुटुम्बाद् यथाऽर्हतः।
शक्तिं चाऽवेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम् ॥१२४॥

उन लोगों से (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों से) उसकी (अपने में आश्रित शूद्र की) शक्ति को, काम करने की कुशलता को और पत्नी-पुत्रादि पोष्यजनों को भी विचार में रखकर उस शूद्र की जीविका की यथोचित व्यवस्था अपने घर से कर दी जानी चाहिए॥१२४॥

उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च।
पुलाकाश् चैव धान्यानां जीर्णाश् चैव परिच्छदाः ॥१२५॥

अपने में आश्रित शूद्र को बाह्मण-अतिथि इत्यादि के भोजन के बाद पाक-भाण्ड में बचा हुआ अन्न देना चाहिए; पुराने वस्त्र, बीजशक्तिरहित पुराना धान्य और पुराने खाट, तिरपाई, वर्तन इत्यादि भी शूद्र को दिए जाने चाहिए॥१२५॥

न शूद्रे पातकं किञ्चिन् न च संस्कारमर्हति।
नाऽस्याऽधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात् प्रतिषेधनम् ॥१२६॥

लहसुन प्याज इत्यादि ब्राह्मण के लिए अभक्ष्य पदार्थ खाने पर भी शूद्र को कोई पातक नहीं होता है, शूद्र वेदाध्ययनार्थक उपनयन-संस्कार के लिए योग्य नहीं

होता है, इसका श्रौतधर्म में अधिकार नहीं है, स्नानादि-पाकयज्ञादि स्मार्त धर्म से इसका निवारण भी नहीं किया जाता है (स्मार्त धर्म में शूद्र का अधिकार होता है)॥१२६॥

धर्मेप्सवस् तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः।
मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च॥१२७॥

धर्म करना चाहने वाले, धर्म को समझ सकने वाले, सत्पुरुषों के चरित्र का अनुसरण करने वाले शूद्र वेदमन्त्र को छोडकर पञ्च महायज्ञादि करने पर दोषी नहीं माने जाते हैं, वैसे शूद्र सत्पुरुषों से प्रशंसा भी प्राप्त करते हैं।

विशेष– वैदिक(हिन्दु)धर्म में शूद्र को धर्मकर्म करने का अधिकार भी नहीं दिया गया है, ऐसा जो वैदिक(हिन्दु)धर्म में आरोप लोग लगाते हैं, इस श्लोक से वह आरोप सर्वथा झूठा सिद्ध होता है। पौराणमन्त्रयुक्त पद्धतियाँ वे.शा.सं.रा.रा. शास्त्री शिवशङ्कर प्रभुराम द्वारा कृत और वे.शा.सं.रा.रा. शास्त्री रामकृष्ण हर्षद जी द्वारा संशोधित **"पौराणकर्मदर्पण"** नाम के १९५३ संवत् में प्रकाशित ग्रन्थ में दी गई हैं। यह ग्रन्थ आज भी चौखम्बा विद्याभवन से पुनर्मुद्रित रूप में उपलब्ध ही है॥१२७॥

यथायथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः।
तथातथेमं चाऽमुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः॥१२८॥

द्विजाति के चरित्र के गुणों को भी दोष के रूप में नहीं लेता हुआ शूद्र जैसे-जैसे अपने लिए अनिषिद्ध द्विजाति-सदाचार का पालन करता है वैसे-वैसे वह अनिन्दित होता हुआ इस लोक में और परलोक में भी आदरणीय स्थान पाता है॥१२८॥

शक्तेनाऽपि हि शूद्रेण न कार्यो धनसञ्चयः।
शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते॥१२९॥

समर्थ होने पर भी शूद्र से धन का सञ्चय नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि धन पाकर धनमद से युक्त शूद्र ब्राह्मणों को ही बाधा पहुँचाने में उतारू हो जाता है।

विशेष– शूद्र के पास में अधिक धनसञ्चय होने पर समाज में विप्लव आ सकने की बात को ध्यान में रखकर ही शूद्र को ज्यादा धनसञ्चय न करने की सलाह यहाँ दी गई है। इस विषय में धार्मिक प्रवृत्ति वाला शूद्र राजा की अनुमति से धन-सञ्चय भी कर सकता है, ऐसी बात बताने वाली महाभारत की **"राज्ञा वा समुज्ञातः कामं कुर्वीत धार्मिकः"** (१२।६०।३१) इस उक्ति में भी ध्यान देना चाहिए। इस समय में भी भूमण्डल में वास्तविक धर्मभावना से रहित शूद्रस्थानीय अर्थकामपरायण धनिक लोगों से ब्राह्मणस्थानीय विधायकों को और राजस्थानीय मन्त्री, प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति

इत्यादि लोगों को भी धन से खरीद करके भूमण्डलव्यवस्था-राष्ट्रव्यवस्था-समाजव्यवस्था को बिगाडे जाने की बात सभी लोगों के सामने है ही। अत्यन्त विकसित माने गए और धनी देश के कतिपय विधायक, मन्त्री, प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति का भी घूस और भ्रष्टाचार में संलग्न होने की और रोकर पद से हटने की अथवा हटाए जाने की बात सुनी जाती है। इस से सामान्य जनों से धन का दुरुपयोग होने की सम्भावना स्पष्ट होती है। वैदिक शास्त्र में ब्राह्मणों को भी ज्यादा धनसञ्चय न करने के लिए निर्देशन दिया ही गया है। यज्ञ-यागादि से धनत्याग करने की व्यवस्था भी की गई है ही। इसी कारण से धन के विषय में अनुचित बर्ताव करने वाले ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र जिस किसी को भी नियन्त्रित करने के लिए वैदिक धनव्यवस्था को अच्छी तरह समझने वाले विष्णुगुप्त चाणक्य ने कौटलीय अर्थशास्त्र में **"मूलहर-तादात्विक-कदर्यांश् च प्रतिषेधयेत्"** (२।९) ऐसा कहकर राजा को प्रेरित किया है। अतः यहाँ पर शूद्र से धन का दुरुपयोग होने की अत्यधिक सम्भावना होने से शूद्र को धनसञ्चय न करने की सलाह देना कोई अनुचित बात नहीं। यहाँ पर केवल सलाह ही दी गई है, धन छीन लेने की व्यवस्था तो नहीं दी गई है, इस विषय में भी अच्छी तरह ध्यान देना चाहिए। अतः इस श्लोक को लेकर मनुस्मृति को दोष देना अविवेकपूर्ण कार्य ही है॥१२९॥

एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्माः प्रकीर्तिताः।
यान् सम्यगनुतिष्ठन्तो व्रजन्ति परमां गतिम्॥१३०॥

ये चारों वर्णों के आपत्काल के धर्म बताए गए, जिन धर्मों का समुचित रूप से पालन करते हुए चारों वर्ण उत्तम गति को प्राप्त करते हैं॥१३०॥

एष धर्मविधिः कृत्स्नश् चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः।
अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम्॥१३१॥

॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां दशमोऽध्यायः॥१०॥

यह चारों वर्णों का सम्पूर्ण धर्मविधान बताया गया। इस से आगे कल्याणकारक प्रायश्चित्त के विधान को बताऊँगा॥१३१॥

॥ इस प्रकार कौण्डिन्न्यायनाऽऽचार्य-शिवराजशर्म-द्विजोत्तम से किए गए मनुस्मृति के हिन्दी अनुवाद तथा विशेष व्याख्या में दशम अध्याय पूर्ण हुआ॥१०॥

◆

अथैकादशोऽध्यायः

सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सर्ववेदसम्।
गुर्वर्थं पितृमात्रर्थं स्वाध्यायाऽर्थ्युपतापिनः॥१॥
नवैतान् स्नातकान् विद्याद् ब्राह्मणान् धर्मभिक्षुकान्।
निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः॥२॥

हिन्दी—

एकादशेऽत्राऽध्याये च भाषार्थः प्रोच्यते मनोः।
कुल्लूकोक्तार्थमादाय शिवाख्येन द्विजन्मना॥

१. सन्तान रखने के लिए विवाह करने की इच्छा करने वाले, २. सोमयाग करने को जा रहे, ३. दूर देश के रास्ते में चल रहे, ४. दक्षिणा में सम्पूर्ण धन दे चुकने वाले, ५. गुरुदक्षिणा के लिए माँगने वाले, ६. पिता के भरण-पोषण के लिए माँगने वाले, ७. माता के भरण-पोषण के लिए माँगने वाले, ८. अपनी शाखा के वेद के अध्ययन-अध्यापन में विशेष रूप में संलग्न होने के लिए माँगने वाले और ९. रोग से पीडित इन नौ प्रकार के ब्राह्मण स्नातकों को धर्मभिक्षुक जाने। निर्धन इन लोगों को इन की विद्या की विशेषता के अनुसार दान दिया जाना चाहिए॥१-२॥

एतेभ्यो हि द्विजाऽग्र्येभ्यो देयमन्नं सदक्षिणम्।
इतरेभ्यो बहिर्वेदि कृताऽन्नं देयमुच्यते॥३॥

इन ब्राह्मणों को दक्षिणा से सहित अन्न दिया जाना चाहिए। अन्य लोगों को पकाया हुआ अन्न वेदी के बाहर देना उचित बताया जाता है॥३॥

सर्वरत्नानि राजा तु यथाऽर्हं प्रतिपादयेत्।
ब्राह्मणान् वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम्॥४॥

राजा तो वेद जानने वाले ब्राह्मणों को यथोचित रूप में सभी प्रकार के रत्नों का दान दे और यज्ञों के लिए दक्षिणाद्रव्य भी दे॥४॥

कृतदारोऽपरान् दारान् भिक्षित्वा योऽधिगच्छति।
रतिमात्रं फलं तस्य द्रव्यदातुस् तु सन्ततिः॥५॥

विवाह होने पर भी भिक्षा माँगकर फिर दूसरी पत्नी को जो प्राप्त करता है उसका दूसरी पत्नी में केवल रति ही फल होता है, सन्तान तो धन देने वाले की हो जाती है॥५॥

धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत्।
वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥६॥

राजा अथवा जो कोई भी दाता पवित्र और वेदज्ञ ब्राह्मणों में अपनी शक्ति के अनुसार धन दे। इस से मरकर स्वर्ग प्राप्त करता है।

विशेष— विविक्तशब्द का कुल्लूक का अर्थ अस्पष्ट है॥६॥

यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये।
अधिकं वाऽपि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥७॥

जिस का पोष्य जनों की जीविका के लिए तीन वर्ष तक के लिए पर्याप्त अथवा उस से भी अधिक अन्न सभी वर्षों में वर्तमान रहने वाला होता है वह समृद्ध द्विजाति सोमपान करने के लिए (सोमयाग करने के लिए) योग्य होता है।

विशेष— इस वचन को मेधातिथि-गोविन्दराज-कुल्लूकभट्टादि सभी व्याख्याकारों ने काम्यसोमयागविषयक बताया है, किन्तु उनका यह भ्रम है, यह वचन नित्यसोमयागविषयक ही है, इस विषय में हमारी **वैदिकप्रिया**-नामक मनुस्मृतिव्याख्या में संस्कृत भाषा में हम विस्तार से बताएंगे॥७॥

अतः स्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिबति द्विजः।
स पीतसोमपूर्वोऽपि न तस्याऽऽप्नोति तत् फलम् ॥८॥

उस से कम द्रव्य होने पर जो ब्राह्मण सोमयाग करता है वह पहले भी सोमयाग करने वाला होने पर भी पहले किए गए सोमयाग के उस फल को भी वह नहीं पाता है॥८॥

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि।
मध्वापातो विषाऽऽस्वादः स धर्मप्रतिरूपकः ॥९॥

जो दान देने में समर्थ होता हुआ मनुष्य अपने आश्रित जन दुःख से जीवनयात्रा करते रहने पर दूसरों को देता है वह दान पहले मधु (शहद) के समान सुखकर और परिणाम में विष के समान दुःखद होने वाला धर्म का आभास है [धर्म नहीं]॥९॥

भृत्यानामुपरोधेन यत् करोत्यौर्ध्वदेहिकम्।
तद् भवत्यसुखोदर्कं जीवतश् च मृतस्य च ॥१०॥

[वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः।
अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ॥]

मनुष्य अपने पत्नी-पुत्रादि पोष्यवर्ग को पीडित करके परलोक के लिए जो कर्म करता है वह कर्म जीवनकाल में और मरने पर भी परिणाम में दुःख देने वाला होता है॥१०॥

[वृद्ध माता-पिता, सुशील पत्नी और बालक पुत्र, ये सैकडों दुष्कर्म करके भी पालन-पोषण के लिए योग्य होते हैं, यह बात मनु ने बताई।]

यज्ञश् चेत् प्रतिरुद्धः स्यादेकेनाऽङ्गेन यज्वनः।
ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि॥११॥
यो वैश्यः स्याद् बहुपशुर् हीनक्रतुरसोमपः।
कुटुम्बात् तस्य तद् द्रव्यमाहरेद् यज्ञसिद्धये॥१२॥

सोमयाग करने वाले का विशेष करके ब्राह्मण का सोमयाग किसी एक द्रव्य के अभाव से रुक जाता है तो देश में धार्मिक राजा रहने पर उस देश में जो बहुत पशुओं से युक्त (धनी), यज्ञ नहीं करने वाला, सोमयाग से रहित वैश्य होगा उसके घर से यज्ञ सिद्ध करने के लिए ब्राह्मण उस एक द्रव्य को लाए।

विशेष– सोमयाग के लिए धनिक वैश्य से थोडा सा धन लेना वैश्य का सर्वस्वहरण करके उसको निर्धन बनाना नहीं है। अतः कतिपय जनों से मनुस्मृति के इस श्लोक को लेकर की गई आलोचना उचित नहीं है॥११-१२॥

आहरेत् त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः।
न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः॥१३॥

(सोमयाग करने वाले का विशेष करके ब्राह्मण का सोमयाग किसी तीन अथवा दो द्रव्यों के अभाव से रुक जाता है तो देश में धार्मिक राजा रहने पर उस देश में जो बहुत पशुओं से युक्त [धनी] शूद्र होगा उस) शूद्र के घर से ब्राह्मण यज्ञ सिद्ध करने के लिए उन तीन अथवा दो द्रव्यों को अपनी इच्छा से लाए, क्योंकि शूद्र के धन का उसकी ओर से श्रौतयज्ञों में कोई उपयोग नहीं होता है।

विशेष– यहाँ पर शूद्र का सम्पूर्ण धन हडपने का विधान नहीं है। यज्ञ के लिए आवश्यक होने पर दो तीन चीज ही शूद्र के यहाँ से लेने का विधान है। ऐसा विधान तो वैश्य के विषय में (११।११,१२) और ब्राह्मण-क्षत्रियों के विषय में भी (११।१४,१५) किया ही गया है। इस वस्तुस्थिति में इस श्लोक को लेकर रजनीकान्त ने "हिन्दू जाति का उत्थान और पतन" नाम के ग्रन्थ में (किताब महल, १९८८ क्रै., पृ.१७६) जो कहा है कि– *"अभिप्राय यह कि शूद्र के धन को छोड देना वा छीन लेना उस के किसी यज्ञ के करने पर निर्भर नहीं है। उस का धन सर्वदा हरणयोग्य है। यज्ञसम्बन्धी*

नियम वैश्यों की तरह शूद्रों पर लागू नहीं है, क्योंकि वे यज्ञ के अधिकारी नहीं है" वह असङ्गत है। शूद्र का वैदिक यज्ञ में अधिकार न होने पर भी ब्राह्मण केवल दो तीन वस्तु के अभाव से अपना सोमयागरूप यज्ञ रुकने पर ही यज्ञपूर्ति के लिए ही शूद्र के यहाँ से उन दो तीन वस्तुओं को ला सकता है, अन्य धन अथवा शूद्र का सब धन नहीं ले सकता है। यही व्यवस्था इस श्लोक से अवगत होती है। फिर **"विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्रात्"** (मनु.८।४१७) इत्यादि श्लोक को दिखाकर रजनीकान्त ने जो *"यह है हिन्दूजाति का धर्मशास्त्र जो उन्हे अपने सहधर्मी भाइयों का धन किसी न किसी बहाने लूट लेने का आदेश देता है"* इत्यादि (पृ.१७७) कहा है वह अनर्गल प्रलाप मात्र है। वह श्लोक प्रकरण से और श्लोक के **"भर्तृहार्यधनो हि सः"** (मनु.८।४१७) इस अंश से भी दास्य स्वीकार करके ब्राह्मण के घर में दास के रूप में रहने वाले जिस का पालन-पोषण का उत्तरदायित्व ब्राह्मण के ऊपर ही रहता है, ऐसे एक दो शूद्र व्यक्ति के विषय में नियम बता रहा है, सभी शूद्रों के विषय में अथवा स्वतन्त्र शूद्रों के विषय में नहीं, यह बात विदित होती है। अतः रजनीकान्त से हिन्दू जाति के धर्मशास्त्र में लगाया गया आरोप सर्वथा मिथ्या है। विवेचक लोग मनुस्मृति के प्रकरणों को देखकर विचार करें, रजनीकान्त के मिथ्याप्रलाप के पीछे न दौडें॥१३॥

योऽनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः।
तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन्॥१४॥

(सोमयाग करने वाले का विशेष करके ब्राह्मण का सोमयाग किसी तीन अथवा दो द्रव्यों के अभाव से रुक जाता है तो देश में धार्मिक राजा रहने पर उस देश में) जो सौ गाय रख सकने योग्य धन वाला होने पर भी श्रौत अग्नि का आधान न करने वाला अथवा हजार गाय रख सकने योग्य धन वाला होने पर भी सोमयाग नहीं करने वाला ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय है, उन दोनों प्रकार के ब्राह्मण-क्षत्रियों के घर से ब्राह्मण यज्ञ सिद्ध करने के लिए उन तीन अथवा दो द्रव्यों को 'लाएँ अथवा न लाएँ' ऐसी विचारणा न करके लाए ही॥१४॥

आदाननित्याच् चाऽदातुराहरेदप्रयच्छतः।
तथा यशोऽस्य प्रथते धर्मश् चैव प्रवर्धते॥१५॥

(सोमयाग करने वाले का विशेष करके ब्राह्मण का सोमयाग किसी तीन अथवा दो द्रव्यों के अभाव से रुक जाता है तो देश में धार्मिक राजा रहने पर उस देश में) जो नित्य दान लेने वाला और दान न देने वाला तथा सोमयाग के लिए उक्त तीन वा दो द्रव्य माँगे जाने पर भी नहीं देने वाला ब्राह्मण है उस से भी ब्राह्मण यज्ञ सिद्ध करने के लिए उन तीन अथवा दो द्रव्यों को लाए। ऐसा करने से इसका (लाने वाले का) यश फैलता है औ़र धर्म भी बहुत बढ़ता है॥१५॥

तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता।
अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥१६॥

खलात् क्षेत्रादगाराद् वा यतो वाऽप्युपलभ्यते।
आख्यातव्यं तु तत् तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति ॥१७॥

उसी प्रकार छह भोजन समय (तीन दिन) तक भोजन नहीं पाने वाले ब्राह्मण को सातवें भोजन काल में कल के लिए न रखने की रीति से केवल एक दिन के भोजन के लिए पर्याप्त द्रव्य स्वसमुचित धर्मकृत्य से हीन मनुष्य के खलिहान से अथवा खेत से अथवा घर से अथवा जहाँ से पाया जाता है वहाँ से किसी प्रकार से लेना चाहिए। यदि उस द्रव्य का स्वामी क्यों ऐसा किया? इस प्रकार पूछता है तो पूछने वाले उसको अपना छह भोजनकाल तक भूखा रहने की बात बता देनी चाहिए॥१६–१७॥

ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यं क्षत्रियेण कदाचन।
दस्युनिष्क्रिययोस् तु स्वमजीवन् हर्तुमर्हति ॥१८॥

क्षत्रिय को ब्राह्मण का धन आपत्ति के काल में भी कभी भी नहीं लेना चाहिए, जीवनसङ्कट में पड़ने पर चोर-डकैत ब्राह्मण का और स्वसमुचित धर्मकृत्य न करने वाले ब्राह्मण का तो धन लेने में क्षत्रिय योग्य होता है॥१८॥

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः सम्प्रयच्छति।
स कृत्वा प्लवमात्मानं सन्तारयति तावुभौ ॥१९॥

जो दुश्चरित्र वाले लोगों से धन लेकर सच्चरित्र वाले लोगों को देता है, वह अपने को नाव के रूप में परिणत करके उन दोनों को पाप से और दारिद्र्यदुःख से पार कर देता है॥१९॥

यद् धनं यज्ञशीलानां देवस्वं तद् विदुर् बुधाः।
अयज्वनां तु यद् वित्तमासुरस्वं तदुच्यते ॥२०॥

यज्ञ करने के स्वभाव से युक्त मनुष्यों का जो धन है उसको समझदार लोग देवता का धन मानते हैं, यज्ञ नहीं करने वालों का जो धन है वह असुरों का धन कहा जाता है॥२०॥

न तस्मिन् धारयेद् दण्डं धार्मिकः पृथिवीपतिः।
क्षत्रियस्य हि बालिश्याद् ब्राह्मणः सीदति क्षुधा ॥२१॥

धार्मिक राजा अयज्ञशील मनुष्यों के धन को उक्त अवस्था में लेने वाले ब्राह्मण को दण्ड नहीं दे, क्योंकि राजा की मूर्खता से ही ब्राह्मण भूख से पीडित होता है॥२१॥

तस्य भृत्यजनं ज्ञात्वा स्वकुटुम्बान् महीपतिः।
श्रुतशीले च विज्ञाय वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत्॥२२॥

राजा उस भूख से पीडित ब्राह्मण के पोषणीय जनों को जानकर और उसके वेदाध्ययन को और चरित्र को भी अच्छी तरह परख करके उसकी धर्म की अनुकूल जीविका की व्यवस्था अपने घर से करे॥२२॥

कल्पयित्वाऽस्य वृत्तिं च रक्षेदेनं समन्ततः।
राजा हि धर्मषड्भागं तस्मात् प्राप्नोति रक्षितात्॥२३॥

इसकी (ब्राह्मण की) जीविका की व्यवस्था करके इसका सभी ओर से रक्षा करे, क्योंकि रक्षा किए गए उस ब्राह्मण से राजा धर्म का छठा भाग पाता है॥२३॥

न यज्ञार्थं धनं शूद्राद् विप्रो भिक्षेत कर्हिचित्।
यजमानो हि भिक्षित्वा चण्डालः प्रेत्य जायते॥२४॥

ब्राह्मण यज्ञ के लिए धन शूद्र से कभी भी न माँगे, क्योंकि शूद्र से धन माँगकर यज्ञ करने वाला ब्राह्मण मरकर चण्डाल रूप में जन्म लेता है॥२४॥

यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति।
स याति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः॥२५॥

जो ब्राह्मण यज्ञ के लिए दूसरों से धन माँगकर प्राप्त हुए सम्पूर्ण धन को दक्षिणा में नहीं देता है, वह मरकर सौ वर्ष तक भास (छोटा गिद्ध) अथवा कौआ होता है॥२५॥

देवस्वं ब्राह्मणस्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः।
स पापाऽऽत्मा परे लोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति॥२६॥

जो मनुष्य लोभ से देवता के धन को अथवा ब्राह्मण के धन को क्षति पहुँचाता है (हरण करता है) वह पापबुद्धि मनुष्य परलोक में गिद्ध का जूठा खाकर जीता है॥२६॥

इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये।
क्लृप्तानां पशुसोमानां निष्कृत्यर्थमसम्भवे॥२७॥

ब्राह्मण प्रतिवर्ष करने के लिए निरूढपशुबन्धयाग का और सोमयाग का प्रारम्भ किए जाने पर प्रतिवर्ष उन यागों को सम्पन्न करना असम्भव होने पर उनकी निष्कृति के लिए (सावन-)वर्ष परिवर्तित होने पर सर्वदा वैश्वानरी इष्टि को सम्पन्न करे।

विशेष— यहाँ पर कुल्लूकभट्ट का अर्थ निरूढपशुबन्ध को छोड देने से अपूर्ण है, और चैत्रशुक्ल में वर्षपरिवर्तन कहने से अयथार्थ भी है। यहाँ ऋतुमासतिथिबद्ध सावन वर्ष ग्राह्य है। मूल वैदिक परम्परा के ग्रन्थ लगधप्रोक्त वेदाङ्गज्योतिष में आर्तव अथवा सौरचान्द्र वर्ष तो माघशुक्लादि है। इस विषय में विशेष ज्ञान के लिए चौखम्बा विद्याभवन से प्रकाशित वेदाङ्गज्योतिष का हमारा कौण्डिन्न्यायनव्याख्यान देखें। इस विषय में तृतीय अध्याय के २८१ वें श्लोक में और चतुर्थ अध्याय के २६ वें श्लोक में भी विशेष टिप्पणी की जा चुकी है॥२७॥

आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः।
स नाऽऽप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम्॥२८॥

जो द्विजाति आपत्काल न होने पर भी आपत्काल से सम्बद्ध विधान से धर्मकृत्य करता है वह परत्र में उसका फल नहीं पाता है, ऐसा मनुप्रभृति धर्मतत्त्वज्ञों से निर्णीत किया गया है॥२८॥

विश्वैश् च देवैः साध्यैश् च ब्राह्मणैश् च महर्षिभिः।
आपत्सु मरणाद् भीतैर् विधेः प्रतिनिधिः कृतः॥२९॥

आपत्कालों में मरने से डरे हुए विश्वेदेवों से, साध्य देवों से और महर्षि ब्राह्मणों से भी मूल विधि का प्रतिनिधि अनुकल्पविधान बनाया गया॥२९॥

प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते।
न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर् विद्यते फलम्॥३०॥

मुख्य विधान के अनुसार ही धर्मकृत्य करने में समर्थ जो मनुष्य अनुकल्पविधान से धर्मकृत्य करता है उस दुर्बुद्धि वाले मनुष्य को परलोक में उस धर्मकृत्य का फल प्राप्त नहीं होता है॥३०॥

न ब्राह्मणो वेदयेत किञ्चिद् राजनि धर्मवित्।
स्ववीर्येणैव ताञ् छिष्यान् मानवानपकारिणः॥३१॥

धर्म को जानने वाला ब्राह्मण राजा में कोई निवेदन न करे, अपने ऊपर अपकार करने वाले उन मनुष्यों को अपनी ही शक्ति से दण्डित करके शिक्षा दे॥३१॥

स्ववीर्याद् राजवीर्याच् च स्ववीर्यं बलवत्तरम्।
तस्मात् स्वेनैव वीर्येण निगृह्णीयादरीन् द्विजः॥३२॥

ब्राह्मण की अपनी शक्ति में और राजा की शक्ति में अपनी शक्ति ही अधिक बलवती होती है, उस कारण से ब्राह्मण अपनी ही शक्ति से शत्रुओं को नियन्त्रित करे॥३२॥

श्रुतीरथर्वाऽङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन्।
वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन् द्विजः ॥३३॥
[तदस्त्रं सर्ववर्णानामनिवार्यं च शक्तितः।
तपोवीर्यप्रभावेण अवध्यानमपि बाधते॥]

ब्राह्मण 'अभिचारकर्म करें या न करें' ऐसी विचारणा नहीं करके अथर्ववेद के आभिचारिक मन्त्रों का प्रयोग करे ही, ब्राह्मण का शस्त्र वाणी ही है, ब्राह्मण उस वाणीरूप शस्त्र से शत्रुओं को मारे॥३३॥

[वह अस्त्र सभी वर्णों के लिए अपनी शक्ति से नहीं हटाया जा सकने वाला होता है, तपस्या की शक्ति के प्रभाव से वह अस्त्र अवध्य लोगों को भी बाधा पहुँचाता है।]

क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः।
धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहोमैर् द्विजोत्तमः ॥३४॥

क्षत्रिय अपनी भुजाओं की शक्ति से आपत् को पार करे, वैश्य और शूद्र धन से आपत् को पार करें, ब्राह्मण जपों से और होमों से (अभिचारकर्म से) आपत् को पार करे॥३४॥

विधाता शासिता वक्ता मैत्रो ब्राह्मण उच्यते।
तस्मै नाऽकुशलं ब्रूयान् न शुष्कां गिरमीरयेत्॥३५॥

ऋत्विक् इत्यादि रूप से काम करने वाला, धर्म का उपदेश करने वाला और हितकर बातों को कहने वाला ब्राह्मण सभी के प्रति मैत्रभाव रखने वाला कहा जाता है। उसके ऊपर कोई भी मनुष्य अशुभ वचन न बोले, रूखा वचन भी न बोले॥३५॥

न वै कन्या न युवतिर् नाऽल्पविद्यो न बालिशः।
होता स्यादग्निहोत्रस्य नाऽऽर्तो नाऽसंस्कृतस् तथा॥३६॥

श्रौत अग्निहोत्रकृत्य में होम करने वाला मनुष्य कन्या नहीं हो सकती है, युवती भी नहीं हो सकती है, अल्पशास्त्रज्ञ मनुष्य भी नहीं हो सकता है, असमझदार मनुष्य भी नहीं हो सकता है, रोगपीडित मनुष्य भी नहीं हो सकता है, उसी प्रकार उपनयनसंस्कार से रहित मनुष्य भी नहीं हो सकता है॥३६॥

नरके हि पतन्त्येते जुह्वतः स च यस्य तत्।
तस्माद् वैतानकुशलो होता स्याद् वेदपारगः ॥३७॥

अग्निहोत्रकृत्य में होम करने वाले ये कन्या युवती इत्यादि मनुष्य और जिस यजमान का वह अग्निहोत्रकृत्य है वह भी नरक में पड़ जाते हैं। उस कारण से अग्निहोत्रकृत्य में हवन करने वाला मनुष्य वेद में पारङ्गत और श्रौत अग्नियों में किए जाने वाले कृत्यों में निपुण भी होवें॥३७॥

प्राजापत्यमदत्त्वाऽश्वमग्न्याधेयस्य दक्षिणाम्।
अनाहिताऽग्निर् भवति ब्राह्मणो विभवे सति ॥३८॥

पर्याप्त धन रहने पर श्रौत अग्न्याधानकर्म की दक्षिणा के रूप में प्रजापति देवता वाले घोड़े का दान न होने पर ब्राह्मण आहिताग्नि नहीं होता। [घोड़े का दान न देने पर अग्न्याधानकर्म सिद्ध नहीं होता है]॥३८॥

पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्दधानो जितेन्द्रियः।
न त्वल्पदक्षिणैर् यज्ञैर् यजेतेह कथञ्चन ॥३९॥

इन्द्रियों को वश में रखने वाला श्रद्धालु मनुष्य अन्य पुण्यकार्यों को सम्पन्न करे, इस लोक में (वेदरूप शास्त्र से स्पष्ट निर्धारित दक्षिणा से) कम दक्षिणा वाले यज्ञों से तो किसी भी रूप से यजन न करे।

विशेष— वैदिक सनातन वर्णाश्रमधर्म में इसमें प्रतिबिम्बित गम्भीर तत्त्वदर्शन को और शाश्वत प्राकृत पक्षों को अच्छी तरह समझने वाला निर्धन ब्राह्मण संस्कार-पालन, शिखासूत्रधारण, स्नान-सन्ध्योपासन, ब्रह्मयज्ञ-तर्पण, भक्ष्याऽभक्ष्य, पेयाऽपेय, स्पृश्याऽस्पृश्य, कार्याऽकार्य, गम्याऽगम्य, गन्तव्याऽगन्तव्य इत्यादि के शास्त्रोक्त नियमों से युक्त सदाचार का पालन और यथाशक्ति वेदाभ्यास इतने से ही कृतकृत्य होता है। कुछ धन रहने पर विवाह, पुत्रोत्पादन तथा लौकिकाग्नि में पञ्चमहायज्ञ के अन्तर्गत देवयज्ञ-भूतयज्ञ-पितृयज्ञ-मनुष्ययज्ञों का भी प्रतिदिन सम्पादन ब्राह्मण के लिए शास्त्र में आवश्यक माना जाता है। कुछ अधिक धन रहने पर अनुकल्पकाग्नि में सायम्प्रातर् अग्निपरिचरण (होम), पिण्डपितृयज्ञ, पक्षादिकर्म, आग्रयण (नवान्न-प्राशनकर्म) भी ब्राह्मण के लिए शास्त्र में आवश्यक माना गया है। उस से भी अधिक धन तथा जनबल और शरीरबल होने पर गृह्य अग्नि का आधान और उसका नित्य निरन्तर संरक्षण तथा उसमें ही सायम्प्रातर् अग्निपरिचरण, नित्य पञ्चमहायज्ञ-सम्पादन, पिण्डपितृयज्ञ, पक्षादिकर्म और आग्रयण (नवान्नप्राशनकर्म) भी शास्त्र में ब्राह्मण के लिए आवश्यक माने गए हैं। गृह्याग्नि का आधान करने वाले ब्राह्मण के लिए आधान के प्रथम वर्ष में सोलह महीनों के अन्दर ही गृह्यसूत्रोक्त श्रवणाकर्म,

इन्द्रयज्ञ, आश्वयुजीकर्म, आग्रहायणीकर्म, स्रस्तरारोहणकर्म, अष्टका, अन्वष्टका, शूलगव, गोयज्ञ, वृषोत्सर्ग और पायसश्रपणकर्म को भी शिष्टों ने अत्यावश्यक माना है। उक्त गृह्यकर्म सम्पन्न करने पर ही ब्राह्मण श्रौत अग्न्याधान का अधिकारी होता है। श्रौत अग्नि का आधान करने पर भी पर्याप्त धनबल-जनबल न होने पर ब्राह्मण के लिए केवल सायम्प्रातर् अग्निहोत्र, शुक्लपक्षों के अन्त में पूर्णमासयाग, कृष्णपक्षों के अन्त में पिण्डपितृयज्ञ और दर्शयाग तथा शरदृतुओं में व्रीह्याग्रयणेष्टि और वसन्त ऋतुओं में यवाग्रयणेष्टि ही शास्त्र में आवश्यक माने गए हैं। आवश्यक जनबल-धनबल होने पर तो श्रौत अग्नि का आधान करने वाले ब्राह्मण के लिए कम से कम एक वर्ष चातुर्मास्य यागों का अनुष्ठान करना और प्रत्येक वर्ष उत्तरायण के आदि में और दक्षिणायन के आदि में अथवा उत्तरायण के आदि में ही निरूढपशुबन्धयाग करना श्रौतसूत्रों में और मनुस्मृत्यादि ग्रन्थों में भी आवश्यक माना गया है। प्रतिवर्ष वसन्त ऋतुओं में अग्निष्टोमादि सोमयाग करने में समर्थ धनबल-जनबल-शरीरबलसम्पन्न सुसमृद्ध ब्राह्मण के लिए ही श्रौतसूत्रों में और मनुस्मृति-याज्ञवल्क्यस्मृत्यादि ग्रन्थों में सोमयाग आवश्यक माना गया है। अत एव सोमयाग का शास्त्रानुसार न्याय्य रूप में यथाविधि अनुष्ठान विविध प्रतिकूलताओं की उत्पत्ति और वृद्धि के कारण से अर्वाचीन काल में अत्यन्त विरल होता जा रहा है। अर्वाचीन काल में दक्षिणभारत में सोमयाग के अनुष्ठान की परम्परा विशेष रूप से चली आ रही दिखती है। तथापि वहाँ भी विविध समस्याएँ खडी हो रही हैं। अब तो सोमयाग अदृश्य सा हो गया है। इस लिए लौकिक ख्यातिसम्पन्न विद्वानों में भी सोमयाग के विषय में यथार्थ ज्ञान मात्र भी अत्यन्त विरल हो गया है। इस लिए इस सम्बन्ध में विद्वानों से भी त्रुटि हो जाती है। इस विषय में अध्येताओं में भी विशेष जागरूकता और विवेचनशीलता आवश्यक है। सभी लोगों को वैदिक यज्ञपरम्परा के महत्त्व को अवश्य समझना चाहिए॥३९॥

इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्तिं प्रजाः पशून्।
हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस् तस्मान् नाऽल्पधनो यजेत्॥४०॥

[अन्नहीनो दहेद् राष्ट्रं मन्त्रहीनस् तु ऋत्विजः।
दीक्षितं दक्षिणाहीनो नास्ति यज्ञसमो रिपुः॥]

शास्त्र से निर्धारित दक्षिणा से कम दक्षिणा वाला यज्ञ यजमान के इन्द्रियों को, यश को, स्वर्ग को, आयु को, कीर्ति को, सन्तान को और पशुओं को भी क्षति पहुँचाता है। उस कारण से थोडा धन वाला मनुष्य श्रौत सोमयागादि यज्ञ न करे॥४०॥

[अन्न-न्यूनता से युक्त यज्ञ राष्ट्र को दग्ध करेगा, मन्त्र की शुद्धता-यथार्थता इत्यादि की न्यूनता से युक्त यज्ञ ऋत्विक् लोगों को दग्ध करेगा, दक्षिणा की न्यूनता से युक्त यज्ञ दीक्षित को (यजमान को) दग्ध करेगा। इस लिए यज्ञ जैसा थोडी असावधानी से भी बिगाड़ने वाला शत्रु दूसरा नहीं है]

अग्निहोत्र्यपविध्याऽग्नीन् ब्राह्मणः कामकारतः।
चान्द्रायणं चरेन् मासं वीरहत्यासमं हि तत्॥४१॥

अपनी इच्छा से अग्नियों को हटाने पर अग्निहोत्री ब्राह्मण प्रायश्चित्त के रूप में एक महीना तक चान्द्रायण कृच्छ्र व्रत करे, क्योंकि उस प्रकार से अग्नियों को त्यागना पुत्रहत्या का समान है॥४१॥

ये शूद्रादधिगम्याऽर्थमग्निहोत्रमुपासते।
ऋत्विजस् ते हि शूद्राणां ब्रह्मवादिषु गर्हिताः॥४२॥

जो ब्राह्मण शूद्र से धन पाकर अग्निहोत्रकृत्य करते हैं वे शूद्र के ऋत्विक् हो जाते हैं और वे वेद पढ़ने-पढ़ाने वाले ब्राह्मणों में निन्दित होते हैं॥४२॥

तेषां सततमज्ञानां वृषलाऽग्न्युपसेविनाम्।
पदा मस्तकमाक्रम्य दाता दुर्गाणि सन्तरेत्॥४३॥

शूद्र से धन लेकर अग्निहोत्र करने वाले और उस प्रकार शूद्र के अग्नि की निरन्तर सेवा करने वाले अज्ञानियों के मत्थे में पैर रखकर धन देने वाला शूद्र दुस्तर नरकों को पार करेगा॥४३॥

अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसक्तश् चेन्द्रियाऽर्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः॥४४॥

शास्त्र से विधान किए गए अपने कर्मों को नहीं करता हुआ और शास्त्र से निन्दित (निषिद्ध) कर्मों को करता हुआ तथा इन्द्रियों के शब्द-स्पर्शादि विषयों में अत्यन्त आसक्त होता हुआ मनुष्य प्रायश्चित्त करने के लिए योग्य होने को प्राप्त होता है॥४४॥

अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर् बुधाः।
कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात्॥४५॥

विज्ञ लोग अनिच्छा से दुष्कर्म हो जाने पर प्रायश्चित्त को कर्तव्य मानते हैं, अन्य विज्ञ लोग वेद में देखे जाने से इच्छा से ही दुष्कर्म किए जाने पर भी प्रायश्चित्त को कर्तव्य बताते हैं॥४५॥

अकामतः कृतं पापं वेदाऽभ्यासेन शुध्यति।
कामतस् तु कृतं मोहात् प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः॥४६॥

अनिच्छा से किया गया पाप वेद के अभ्यास से नष्ट हो जाता है, राग-द्वेषादि से अभिभूत होने से इच्छा से किया गया पाप तो नाना प्रकार के प्रायश्चित्तों से नष्ट होता है॥४६॥

प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य दैवात् पूर्वकृतेन वा।
न संसर्गं व्रजेत् सद्भिः प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः॥४७॥

[प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।
तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्॥]

दैवगति से अथवा पूर्व काल में किए गए कर्म (दुष्कर्म) से प्रायश्चित्त करने में योग्य होने पर द्विजाति प्रायश्चित्त न किए जाने तक सत्पुरुषों से (शुद्ध मनुष्यों से) सम्पर्क में न जाय॥४७॥

[प्रायः शब्द से तपस्या को कहा गया है, चित्त शब्द से निश्चय कहा जाता है, निश्चय से युक्त तपस्या ही प्रायश्चित्त समझी गई है।]

इह दुश्चरितैः केचित् केचित् पूर्वकृतैस् तथा।
प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम्॥४८॥

कोई दुर्भाव वाले मनुष्य इस लोक में किए गए दुष्कर्मों से और कोई पूर्वजन्म में किए गए दुष्कर्मों से अपने रूपों में उलट-पुलट प्राप्त करते हैं॥४८॥

सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः श्यावदन्तताम्।
ब्रह्महा क्षयरोगित्वं दौश्चर्म्यं गुरुतल्पगः॥४९॥
पिशुनः पौतिनासिक्यं सूचकः पूतिवक्त्रताम्।
धान्यचौरोऽङ्गहीनत्वमातिरैक्यं तु मिश्रकः॥५०॥
अन्नहर्ताऽऽमयावित्वं मौक्यं वागपहारकः।
वस्त्राऽपहारकः श्वैत्र्यं पङ्गुतामश्वहारकः॥५१॥
[दीपहर्ता भवेदन्धः काणो निर्वापको भवेत्।
हिंसया व्याधिभूयस्त्वमरोगित्वमहिंसया॥]
एवं कर्मविशेषेण जायन्ते सद्विगर्हिताः।
जडमूकाऽन्धबधिरा विकृताऽऽकृतयस् तथा॥५२॥

पूर्वजन्म में सोना चुराने वाला मनुष्य इस जन्म में नखरोगपीडा में प्राप्त होता है, सुरापान करने वाला दाँतों के धुमैले पन में (मृतदन्तता में) प्राप्त होता है, ब्रह्महत्या करने वाला तपेदिक रोग (क्षयरोग) की पीडा में प्राप्त होता है, गुरुपत्नी में गमन करने वाला चर्मरोग की पीडा में प्राप्त होता है॥४९॥

चुगलखोर नाक के दुर्गन्धयुक्त रोग की पीडा में प्राप्त होता है, किसी में विद्यमान दोषों की अथवा अनभीष्ट चेष्टा की सूचना देने वाला मुख के दुर्गन्धयुक्त रोग की पीडा में प्राप्त होता है, धान्य चुराने वाला किसी अङ्ग की न्यूनता में प्राप्त होता है, धान्य में अपद्रव्य मिलाने वाला किसी अङ्ग की अतिरिक्तता में प्राप्त होता है॥५०॥

पक्वान्न को चुराने वाला मन्दाग्नित्व में (रोगित्व में) प्राप्त होता है, गुरु की अनुमति के विना ऐसे ही सुनकर वेदादि का अध्ययन करने वाला गूँगेपन में प्राप्त होता है, वस्त्र को चुराने वाला श्वेतकुष्ठ की पीडा में प्राप्त होता है, घोड़ा चुराने वाला लंगडेपन में प्राप्त होता है॥५१॥

[दीप को चुराने वाला अन्धा होगा, दीप को बुझाने वाला काना होगा, हिंसा करने से मनुष्य बहुत रोगों की पीडा को प्राप्त करता है, और अहिंसा से रोगरहितत्व में प्राप्त होता है]॥

इस प्रकार कर्मविशेष से सज्जनों से निन्दित जड, गूँगे, अन्धे, बहरे और विकृत आकृति वाले मनुष्य इस लोक में उत्पन्न होते हैं॥५२॥

चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये।
निन्द्यैर् हि लक्षणैर् युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैनसः ॥५३॥

इस कारण से पाप से छुटकारा पाने के लिए सर्वदा प्रायश्चित्त किया जाना चाहिए, क्योंकि पाप का प्रायश्चित्त नहीं करने वाले मनुष्य निन्दनीय चिह्नों से युक्त होकर इस लोक में उत्पन्न होते हैं॥५३॥

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश् चाऽपि तैः सहः ॥५४॥

१. ब्रह्महत्या (ब्राह्मण को जान से मारना), २. सुरापान (द्विजाति होकर अन्न की मदिरा को पीना), ३. स्तेय (ब्राह्मण का एक तोले परिमाण का अथवा उस से अधिक सोने को चुराना), ४. गुरुपत्नी में (पिता की पत्नी में) गमन (मैथुन) और ५. पातकिसंसर्ग (उक्त चार प्रकार के पातकियों में से किसी एक प्रकार के पातकी से अथवा अनेक प्रकार के पातकियों से संसर्ग) इन को महापातक कहते हैं॥५४॥

अनृतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम्।
गुरोश् चाऽलीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥५५॥

१. अपने को उच्च दिखाने के लिए झूठ बोलना, २. राजा तक पहुँचने वाली चुगलखोरी, ३. गुरु को झूठा दोष देने में वारवार उतारू होना ये ब्रह्महत्या के समान पातक (अनुपातक) हैं॥५५॥

ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः।
गर्हिताऽनाद्ययोर् जग्धिः सुरापानसमानि षट्॥५६॥

१. पढ़े हुए वेद का अभ्यास न करने से विस्मरण, २. वेद की निन्दा, ३. झूठी गवाही देना, ४. मित्र का वध, ५. लहसुन प्याज इत्यादि निन्दित पदार्थ का भोजन और ६. मलमूत्रादि अखाद्य पदार्थ का भोजन, ये छह सुरापान के समान पातक (अनुपातक) हैं॥५६॥

निक्षेपस्याऽपहरणं नराऽश्वरजतस्य च।
भूमिवज्रमणीनां च रुक्मस्तेयसमं स्मृतम्॥५७॥

१. धरोहर का हड़पना, २. मनुष्य का हरण, ३. घोड़े की चोरी, ४. चाँदी की चोरी, ५. जमीन को हड़पना, ६. हीरे की चोरी, ७. अन्य मोती, माणिक, वैदूर्य, गोमेद, मूँगा, पद्मराग, मरकत और नील इन रत्नों में से किसी की चोरी ब्राह्मण-सुवर्णस्तेय के समान पातक (अनुपातक) माने गए हैं॥५७॥

रेतःसेकं स्वयोनीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च।
सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः॥५८॥

अपनी बहनों में, कन्याओं में, चाण्डालियों में, मित्र की पत्नी में और पुत्र की पत्नी में भी वीर्य के सेचन को (मैथुन को, सम्भोग को) धर्मज्ञ लोग गुरुपत्नी-गमन के समान पातक (अनुपातक) मानते हैं॥५८॥

गोवधोऽयाज्यसंयाज्यपारदार्याऽऽत्मविक्रयाः।
गुरुमातृपितृत्यागः स्वाध्यायाऽग्न्योः सुतस्य च॥५९॥
परिवित्तिताऽनुजेऽनूढे परिवेदनमेव च।
तयोर् दानं च कन्यायास् तयोरेव च याजनम्॥६०॥
कन्याया दूषणं चैव वार्धुष्यं व्रतलोपनम्।
तडागाऽऽरामदाराणामपत्यस्य च विक्रयः॥६१॥
व्रात्यता बान्धवत्यागो भृत्याऽध्यापनमेव च।
भृत्या चाऽध्ययनाऽऽदानमपण्यानां च विक्रयः॥६२॥
सर्वाऽऽकरेष्वधीकारो महायन्त्रप्रवर्तनम्।
हिंसौषधीनां स्त्र्याजीवोऽभिचारो मूलकर्म च॥६३॥

इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम्।
आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दिताऽन्नाऽदनं तथा॥६४॥
अनाहिताऽग्निता स्तेयमृणानामनपक्रिया।
असच्छास्त्राऽधिगमनं कौशीलव्यस्य च क्रिया॥६५॥
धान्यकुप्यपशुस्तेयं मद्यपस्त्रीनिषेवणम्।
स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम्॥६६॥

१. गोवध, २. अयाज्ययाजन, ३. परपत्नीगमन, ४. आत्मविक्रय, ५. अत्याज्य गुरु का त्याग, ६. अत्याज्य माता का त्याग, ७. अत्याज्य पिता का त्याग, ८. स्वशाखा-वेद का त्याग, ९. गृह्य (स्मार्त) अग्नि का त्याग, १०. अत्याज्यपुत्र का त्याग [५९], ११. छोटे भाई का विवाह होने पर अविवाहित रहना, १२. बडा भाई अविवाहित रहने पर विवाह करना, १३. छोटे भाई का विवाह होने पर अविवाहित रहने वाले (परिवित्ती) को कन्या देना, १४. बडा भाई अविवाहित रहने पर विवाह करने वाले (परिवेत्ता) को कन्या देना, १५. परिवित्ती के अथवा परिवेत्ता के विवाह में याजन करना [६०], १६. कन्या की योनि में अङ्गुलिप्रक्षेपादि करके कन्या को दूषित करना, १७. वृद्धि से (ब्याज से) जीविका करना, १८. ब्रह्मचारी का व्रतलोप (मैथुन), १९. तालाव को बेचना, २०. बगींचे को बेचना, २१. पत्नी को बेचना, २२. सन्तान को बेचना [६१], २३. शास्त्रविहित काल में कर्तव्य उपनयन-संस्कार से च्युत होना, २४. अत्याज्य बान्धवों का त्याग, २५. पढ़ाए जाने वाले पुरुष से पहले ही निश्चित किए गए वेतन को लेकर वेदमन्त्र पढ़ाना, २६. पढ़ाने वाले पुरुष को पहले ही निश्चित किए गए वेतन का दान करके वेदमन्त्र पढ़ना, २७. अविक्रेय द्रव्यों को बेचना [६२], २८. सुवर्णादि के खानों में राजाज्ञा से अधिकारी होना, २९. बड़े-बड़े यन्त्रों को चलाना, ३०. ओषधि-वनस्पतियों की हिंसा, ३१. स्त्री के विविध कामों से जीविकोपार्जन करना, ३२. अभिचार करना, ३३. वशीकरण करना [६३], ३४. आग जलाने की लकडी के लिए हरे पेडों को काटकर गिराना, ३५. अपने लिए पकाने का काम करना, ३६. निन्दित मनुष्य का अन्न खाना [६४], ३७. अधिकार होने पर भी आलस्यादि से अग्न्याधान न करना, ३८. बहुमूल्य द्रव्य की चोरी, ३८. ऋषिऋण को, पितृऋण को और देवऋण को नहीं चुकाना, ३९. वेदविरोधी शास्त्र को पढ़ना, ४०. गान से जीविका करना, ४१. वाद्यवादन से जीविका करना, ४२. नर्तन से जीविका करना [६५], ४३. धान्य तथा सुवर्ण-रजतभिन्न उपभोग्य वस्तु चुराना, ४४. पशु की चोरी करना, ४५. मद्यपान करने वाली स्त्री से सम्भोग करना, ४६. स्त्री का वध करना, ४७. शूद्र का वध करना, ४८. वैश्य का वध करना, ४९. क्षत्रिय का वध करना और ५०. वेद में तथा वेदप्रतिपादित पारलौकिक फल में अविश्वास करना भी उपपातक हैं॥५९–६६॥

ब्राह्मणस्य रुजःकृत्या घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः।
जैह्म्यं च मैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम्॥६७॥

१. ब्राह्मण के शरीर में पीडा उत्पन्न करना, २. सूँघने में अयोग्य वस्तु को सूँघना, ३. मद्य को सूँघना, ४. कुटिल व्यवहार करना, ५. पुरुष में मैथुन (वीर्य-सेचन) करना भी जातिभ्रंशकर नाम के पातक समझे गए हैं॥६७॥

खराऽश्वोष्ट्रमृगेभानामजाऽविकवधस् तथा।
सङ्करीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च॥६८॥

१. गधे के वध को, २. घोड़े के वध को, ३. ऊँट के वध को, ४. मृग के वध को, ५. हाथी के वध को, ६. बकरे के वध को, ७. भेड़ के वध को, ८. मछली के वध को, ९. सर्प के वध को और १०. भैंसे के वध को भी सङ्करीकरण नाम का पातक जानना चाहिए॥६८॥

निन्दितेभ्यो धनाऽऽदानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम्।
अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम्॥६९॥

१. निन्दित मनुष्यों से धन लेने को, २. बेपार करने को, ३. शूद्र की सेवा करने को और ४. असत्य बोलने को भी अपात्रीकरण नाम का पातक जानना चाहिए॥६९॥

कृमिकीटवयोहत्या मद्याऽनुगतभोजनम्।
फलैधःकुसुमस्तेयमधैर्यं च मलाऽऽवहम्॥७०॥

१. छोटे कीड़ों के वध को, २. बड़े कीड़ों के वध को, ३. चिड़ियों के वध को, ४. मद्य के साथ में रखकर लाए गए पदार्थ के भोजन को, ५. फल की चोरी को, ६. लकड़ी की चोरी को, ७. फूल की चोरी को और ८. अधैर्य को भी मलाऽऽवह (मलिनीकरण) नाम का पातक जानना चाहिए॥७०॥

एतान्येनांसि सर्वाणि यथोक्तानि पृथक्पृथक्।
यैर्यैर् व्रतैरपोह्यन्ते तानि सम्यङ् निबोधत॥७१॥

जैसे बताए गए वैसे ये पातक अलग-अलग जिन-जिन व्रतों से हटाए जाते हैं उन व्रतों को अच्छी तरह आप लोग जानिए॥७१॥

ब्रह्महा द्वादश समाः कुटिं कृत्वा वने वसेत्।
भैक्षाश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरोध्वजम्॥७२॥

ब्राह्मण को जान से मारने वाला अपनी अच्छी तरह शुद्धि के लिए वन में कुटिया बनाकर उस कुटिया में शव के शिर को चिह्न बनाकर (एक लाठी में मरे हुए मनुष्य के शिर को पिरोकर उसको झण्डे की तरह कुटिया के आगे अथवा कुटिया के शिखर में खड़ा करके) रखकर भिक्षा से प्राप्त अन्न खाता हुआ बारह बरस तक वन में उस कुटिया में निवास करे॥७२॥

लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद् विदुषामिच्छयाऽऽत्मनः।
प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः॥७३॥

अथवा अपनी इच्छा से शस्त्रास्त्रविद्या के विज्ञ शस्त्रधारियों के प्रहार का लक्ष्य बने। अथवा अच्छी तरह जलती हुई आग में नीचे की ओर शिर करके अपने को तीन वार डाल दे।

विशेष– मनुस्मृति के विधानों के समर्थन में कुल्लूकभट्ट से लिखित अनेक भविष्यपुराणवचन वेङ्कटेश्वर प्रेस से मुद्रित भविष्यपुराण में नहीं मिलते हैं, पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र ने अष्टादशपुराणदर्पण में भविष्यपुराण के विविध पाठों से युक्त विविध हस्तलिखित पुस्तकों का विवरण दिया है, किसी हस्तलिखित भविष्यपुराण-पुस्तक में ये वचन रहे हो सकते हैं॥७३॥

यजेत वाऽश्वमेधेन स्वर्जिता गोसवेन वा।
अभिजिद्-विश्वजिद्भ्यां वा त्रिवृताऽग्निष्टुताऽपि वा॥७४॥

अथवा (ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त के लिए अधिकार के अनुसार) अश्वमेध यज्ञ करे, अथवा स्वर्जित् यज्ञ करे, अथवा गोसव यज्ञ करे, अथवा अभिजित् यज्ञ करे, अथवा विश्वजित् यज्ञ करे, अथवा त्रिवृत् अग्निष्टुत् यज्ञ करे॥७४॥

जपन् वाऽन्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत्।
ब्रह्महत्याऽपनोदाय मितभुङ् नियतेन्द्रियः॥७५॥

अथवा ब्रह्महत्या के पातक को हटाने के लिए इन्द्रियों को वश में रखकर परिमित भोजन करने वाला पातकी चार वेदों में से किसी एक वेद का पाठ करता हुआ एक सौ योजन (चार सौ कोस) की यात्रा करे [४ कोसों का १ योजन होता है]॥७५॥

सर्वस्वं वेदविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत्।
धनं वा जीवनायाऽलं गृहं वा सपरिच्छदम्॥७६॥

अथवा वेद को जानने वाले ब्राह्मण को अपना सर्वस्व का दान दे। अथवा वेद को जानने वाले ब्राह्मण को जीविका के लिए पर्याप्त धन दे। अथवा वेद को जानने वाले ब्राह्मण को सभी उपकरणों से युक्त घर का दान करे॥७६॥

हविष्यभुग् वाऽनुसरेत् प्रतिस्रोतः सरस्वतीम्।
जपेद् वा नियताऽऽहारस् त्रिर् वै वेदस्य संहिताम्॥७७॥

अथवा हविष्य अन्न खाने वाला पातकी (ब्रह्महत्याकारी) सरस्वती नदी के अन्तर्भाव के स्थल से नदी के बहाव की उलटी दिशा में यात्रा करता हुआ नदी के उद्भवस्थान प्लक्षप्रास्रवणतक नदी का अनुसरण करे। अथवा आहार निरुद्ध करके किसी एक शाखा के वेद की मन्त्रसंहिता को तीन वार पारायण करे।

विशेष— यहाँ कुल्लूक का **'प्रतिस्रोतः सरस्वतीम्'** इस अंश का अर्थ अयथार्थ दिखाई देता है। सरस्वती नदी का उद्भव हिमालय के प्लक्ष पर्वत के प्रास्रवणक्षेत्र में होता था, नदी समुद्र तक जाती थी। पीछे यह नदी मरुभूमि में ही विलीन होने लगी। अब यह नदी विलुप्त हो गई है। यह नदी कुरुक्षेत्र में होकर बहती थी॥७७॥

कृतवापनो निवसेद् ग्रामाऽन्ते गोव्रजेऽपि वा।
आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रतः॥७८॥

ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करने वाला मनुष्य मुण्डन कराकर गाँव की सीमा में अथवा गायों के घर में अथवा वानप्रस्थ के आश्रम में अथवा पेड़ के नीचे गौओं के और ब्राह्मणों के उपकार करने में संलग्न रहता हुआ निवास करे। [पहले बताए गए (मनु.११।७२) वनवास के ये विकल्प हैं]॥७८॥

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान् परित्यजन्।
मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोर् ब्राह्मणस्य च॥७९॥

ब्राह्मण की रक्षा के लिए अथवा गौ की रक्षा के लिए तत्काल प्राणों का त्याग करता हुआ ब्रह्महत्या के पातक से छुटकारा पाता है, गौ की और ब्राह्मण की रक्षा के लिए प्राण त्याग करने के लिए तत्पर होकर लड़के उनकी रक्षा करता हुआ ब्रह्महत्या का पातकी जीने पर भी ब्रह्महत्या के पातक से मुक्त होता है॥७९॥

त्रिवारं प्रतिरोद्धा वा सर्वस्वमवजित्य वा।
विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणलाभे विमुच्यते॥८०॥

ब्राह्मण का सर्वस्व चुराने के लिए आए हुए चोरों को तीन वार तक रोकने वाला ब्रह्महत्या का पातकी ब्रह्महत्या से मुक्त होता है, ब्राह्मण का सर्वस्व चुराए जाने पर चोरों को जीतकर उस धन को छुड़ाने वाला ब्रह्महत्या का पातकी भी ब्रह्महत्या से छुटकारा पाता है, सर्वस्व चुराए जाने पर चोरों से लड़कर मरने में तत्पर ब्राह्मण को चुराए गए धन का बराबर धन देकर मरणप्रसङ्ग से बचाने पर भी ब्रह्महत्या का पातकी ब्रह्महत्या से मुक्त होता है॥८०॥

एवं दृढव्रतो नित्यं ब्रह्मचारी समाहितः।
समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहति॥८१॥

सर्वदा ब्रह्मचर्य में रहने वाला, एकाग्रचित्त वाला तथा इस प्रकार से दृढतापूर्वक व्रत करने वाला मनुष्य बारहवाँ वर्ष बीतने पर ब्रह्महत्या के पातक को दूर करता है॥८१॥

शिष्ट्वा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे।
स्वमेनोऽवभृथस्नातो हयमेधे विमुच्यते॥८२॥

अथवा ब्राह्मणों का राजा से समागम होने पर उनको अपना पातक बताकर अश्वमेध यज्ञ के अवभृथस्नान के पानी से स्नान करने पर ब्रह्महत्या का पातकी ब्रह्महत्या के पातक से मुक्त होता है॥८२॥

धर्मस्य ब्राह्मणो मूलमग्रं राजन्य उच्यते।
तस्मात् समागमे तेषामेनो विख्याप्य शुध्यति॥८३॥

धर्मतत्त्वज्ञ मुनियों से ब्राह्मण धर्म का मूल (उद्‌गमस्थान) बताया जाता है, क्षत्रिय धर्म का अग्रभाग बताया जाता है, उस कारण से उनका समागम होने पर उनके समक्ष में अपने पाप को प्रकाशित करके पापी शुद्ध (पाप से मुक्त) हो जाता है॥८३॥

ब्राह्मणः सम्भवेनैव देवानामपि दैवतम्।
प्रमाणं चैव लोकस्य ब्रह्माऽत्रैव हि कारणम्॥८४॥

जन्म से ही ब्राह्मण देवताओं का भी देवता है, लोक के लिए कार्याऽकार्यादिधर्मनिर्णय में प्रमाण भी है, इन सब बातों में ब्राह्मणों से धारण किया जाने वाला वेद ही कारण है॥८४॥

तेषां वेदविदो ब्रूयुस् त्रयोऽप्येनःसु निष्कृतिम्।
सा तेषां पावनाय स्यात् पवित्रा विदुषां हि वाक्॥८५॥

उन ब्राह्मणों में से वेद को जानने वाले तीन ही ब्राह्मण भी पापों में प्रायश्चित्त बताएँ, उनकी वाणी पापियों को शुद्ध करने में समर्थ होती है, क्योंकि वेद को जानने वालों की वाणी पवित्र (शुद्धि का साधन) होती है॥८५॥

अतोऽन्यतममास्थाय विधिं विप्रः समाहितः।
ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मवत्तया॥८६॥

इस कारण से एकाग्रचित्त वाला ब्राह्मण शास्त्रार्थ में दृढ श्रद्धा से युक्त बुद्धि वाला होने से उक्त शास्त्रोक्त विधियों में से किसी एक विधि को अपनाकर ब्रह्महत्या से हुए पाप को दूर करता है॥८६॥

हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत्।
राजन्यवैश्यौ चेजानावात्रेयीमेव च स्त्रियम्॥८७॥

गर्भ में पुरुष अथवा स्त्री अथवा नपुंसक क्या था यह अज्ञात होने पर ब्राह्मणगर्भ को नष्ट करने पर भी यही व्रत (ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त) करे। यज्ञ में यजमान के रूप में रह रहे क्षत्रिय को अथवा वैश्य को अथवा आत्रेयी (ॠतुस्नान करके गर्भग्रहण करने में उन्मुख) ब्राह्मणी स्त्री को जान से मारने पर भी (यही व्रत, ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त) करे॥८७॥

उक्त्वा चैवाऽनृतं साक्ष्ये प्रतिरुध्य गुरुं तथा।
अपहृत्य च निक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम्॥८८॥

गवाही में भूठ बोलने पर, गुरु को मिथ्या दोष देने पर, धरोहर हड़पने पर, स्त्री का वध करने पर और मित्र का वध करने पर भी [यही व्रत, ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करे]॥८८॥

इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याऽकामतो द्विजम्।
कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर् न विधीयते॥८९॥

अनिच्छा से ब्राह्मण का वध किए जाने पर यह प्रायश्चित्त बताया गया, इच्छा से ही ब्राह्मण का वध किए जाने पर तो प्रायश्चित्त का विधान नहीं किया जाता है। [साधारण प्रायश्चित्त नहीं, द्विगुणितादि प्रायश्चित्त हो सकता है]॥८९॥

सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत्।
तया स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात् ततः॥९०॥

ब्राह्मण रागादि से विवेकहीन होकर अन्न से बनी मदिरा को पीने पर आग की तरह गरम सुरा का पान करे, उस सुरा से शरीर अत्यन्त जल जाने पर (मरकर ही) ब्राह्मण उस पाप से मुक्त हो जाता है॥९०॥

गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा।
पयो घृतं वाऽऽमरणाद् गोशकृद्रसमेव वा॥९१॥

अथवा सुरापान करने वाला ब्राह्मण प्रायश्चित्त के लिए आग की तरह गरम गोमूत्र का अथवा आग की तरह गरम जल का अथवा आग की तरह गरम दूध का

अथवा आग की तरह गरम घी का अथवा आग की तरह गरम गोबर के रस का मरण न होने तक पान करता रहे॥९१॥

कणान् वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन् निशि।
सुरापानाऽपनुत्त्यर्थं वालवासा जटी ध्वजी ॥९२॥

सुरापान के पाप को हटाने के लिए ब्राह्मण गोलोम, अजालोम, मेषलोम इत्यादि लोमों से (वालों से) बने हुए वस्त्र को पहनता हुआ, शिर में जटा रखता हुआ और सुराध्वज को धारण करता हुआ एक बरस तक रात में ही प्रतिदिन एक वार ही अन्न के कणों का अथवा खली का ही भक्षण करके रहे॥९२॥

सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते।
तस्माद् ब्राह्मण-राजन्यौ वैश्यश् च न सुरां पिबेत् ॥९३॥

सुरा अन्न का मल है, पाप ही मल कहा जाता है। उस कारण से ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय अथवा वैश्य भी सुरा को न पीए॥९३॥

गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः ॥९४॥

गुड से बनी हुई, आंटे से बनी हुई और मधूकपुष्पादि के (मुहुआ के फूल इत्यादि के) रस से बनी हुई इस प्रकार सुरा (मद्य) तीन प्रकार की होती है। जैसे मुख्य सुरा (आंटे से बनी हुई सुरा) ब्राह्मणों से पीए जाने में अयोग्य है वैसे ही सभी प्रकार की सुरा (गौडी सुरा, माध्वी सुरा इत्यादि लाक्षणिक सुरा [मद्य] भी) ब्राह्मणों से पीए जाने में अयोग्य हैं॥९४॥

यक्षरक्षःपिशाचाऽन्नं मद्यं मांसं सुराऽऽसवम्।
तद् ब्राह्मणेन नाऽत्तव्यं देवानामश्नता हविः ॥९५॥

मद्य, मांस, सुरा, आसव इत्यादि यक्षों का, राक्षसों का और पिशाचों का अन्न (भोज्य) है। देवताओं को अर्पित हवि को खाने वाले ब्राह्मण से वह यक्षादि का अन्न मद्य-मांसादि नहीं खाया जाना चाहिए॥९५॥

अमेध्ये वा पतेन् मत्तो वैदिकं वाऽप्युदाहरेत्।
अकार्यमन्यत् कुर्याद् वा ब्राह्मणो मदमोहितः ॥९६॥

मद्यपान के मद से युक्त ब्राह्मण मलमूत्रादि से दूषित भूमि में गिरेगा अथवा अशुचि अवस्था में अविधि से वेदमन्त्र का उच्चारण करेगा अथवा मद्य के मद से विवेकहीन होता हुआ ब्राह्मण अन्य ब्रह्महत्यादि अत्यन्त अनुचित कार्य करेगा॥९६॥

यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाऽऽप्लाव्यते सकृत्।
तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति॥९७॥

जिस के शरीर में रहा हुआ वेद (वेद-संस्कारयुक्त चित्त) एक वार भी मद्य से डुबाया जाता है उसका ब्राह्मणत्व चल जाता है, वह शूद्रत्व में प्राप्त होता है॥९७॥

एषा विचित्राऽभिहिता सुरापानस्य निष्कृतिः।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सुवर्णस्तेयनिष्कृतिम्॥९८॥

यह सुरापान का नाना प्रकार का प्रायश्चित्त बताया गया। अब आगे ब्राह्मण का एक तोला अथवा उस से अधिक सोना चुराने का प्रायश्चित्त बताऊँगा॥९८॥

सुवर्णस्तेयकृद् विप्रो राजानमभिगम्य तु।
स्वकर्म ख्यापयन् ब्रूयान् मां भवाननुशास्त्विति॥९९॥

ब्राह्मण का एक तोला अथवा उस से अधिक सोना चुराने वाला ब्राह्मणादि मनुष्य राजा के समीप में जाकर अपने काम को प्रकाशित करता हुआ 'आप मुझे दण्डित करें' ऐसा कहे॥९९॥

गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद् हन्यात् तु तं स्वयम्।
वधेन शुध्यति स्तेनो ब्राह्मणस् तपसैव वा॥१००॥

राजा मुसल को लेकर उस मनुष्य पर स्वयम् एक वार प्रहार करे, उस प्रकार के प्रहार से (मृत वा मृतकल्प) वह चोर शुद्ध (पापमुक्त) हो जाता है, ब्राह्मण तो तपस्या मात्र से भी शुद्ध होता है॥१००॥

तपसाऽपनुनुत्सुस् तु सुवर्णस्तेयजं मलम्।
चीरवासा द्विजोऽरण्ये चरेद् ब्रह्महणो व्रतम्॥१०१॥

ब्राह्मण का एक तोला अथवा उस से अधिक सोना चुराने के पाप को हटाना चाहने वाला ब्राह्मण तो वृक्षादि के वल्कल से निर्मित वस्त्रों को पहनता हुआ वन में रहकर ब्रह्महत्या करने वाले का जो व्रत है वही व्रत करे॥१०१॥

एतैर् व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः।
गुरुस्त्रीगमनीयं तु व्रतैरेभिरपाऽऽनुदेत्॥१०२॥

ब्राह्मण इन (पूर्वोक्त) व्रतों से चोरी से हुए पाप को हटाए। गुरुपत्नी (पितृ-भार्या) के सम्भोग से हुए पाप को तो इन (आगे बताए जा रहे) व्रतों से हटाए॥१०२॥

गुरुतल्प्यभिभाष्यैनस् तप्ते स्वप्यादयोमये।
सूर्मीं ज्वलन्तीं वाऽऽश्लिष्येन् मृत्युना स विशुध्यति ॥१०३॥

गुरुपत्नीगमन (पितृभार्यागमन) के पाप से युक्त पुरुष अपने पाप को बताकर तपाए हुए (जलते हुए) लोहे के खाट में सोए, अथवा जलती हुई लोहे की स्त्रीप्रतिमा को अंकवारे, मृत्यु से वह शुद्ध होता है [नरकभोग से बचता है] ॥१०३॥

स्वयं वा शिश्नवृषणावुत्कृत्याऽऽधाय चाऽञ्जलौ।
नैर्ऋतीं (नैरृतीं) दिशमातिष्ठेदा निपातादजिह्मगः ॥१०४॥

अथवा अपने लिङ्ग को और अण्डकोषों को स्वयम् काटकर उनको अपने अञ्जलि में लेकर जब तक न गिरे तब तक सीधा चलता हुआ नैर्ऋत्य (पश्चिम-दक्षिण) दिशा की ओर आगे बढ़ता रहे॥१०४॥

खट्वाङ्गी चीरवासा वा श्मश्रुलो विजने वने।
प्राजापत्यं चरेत् कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥१०५॥

अथवा गुरुतल्पगामी पुरुष खट्वाङ्ग का (खाट के पैर का अथवा शूल का अथवा पृष्ठवंशास्थि का) धारण करने वाला, वृक्षादि के वल्कल से निर्मित वस्त्रों को पहनने वाला और बढ़े हुए दाढ़ी-मूछों से युक्त होकर बिलकूल निर्जन वन में एकाग्रचित्त होता हुआ एक बरस तक बारबार प्राजापत्यकृच्छ्ररूप व्रत (मनु.११।२११) करता रहे॥१०५॥

चान्द्रायणं वा त्रीन् मासानभ्यस्येन् नियतेन्द्रियः।
हविष्येण यवाग्वा वा गुरुतल्पाऽपनुत्तये ॥१०६॥

अथवा गुरुपत्नी से सम्भोग करने के पातक को हटाने के लिए पुरुष जितेन्द्रिय होकर हविष्य अन्न से अथवा यवागू से (लपसी से) तीन महीनों तक निरन्तर चान्द्रायण व्रत (मनु.११।२१६) का अभ्यास करे॥१०६॥

एतैर् व्रतैरपोहेयुर् महापातकिनो मलम्।
उपपातकिनस् त्वेवमेभिर् नानाविधैर् व्रतैः ॥१०७॥

महापातक करने वाले लोग इन (उक्त) व्रतों से पाप को दूर करें। उपपातक करने वाले लोग तो नाना प्रकार के इन (आगे बताए जा रहे) व्रतों से ऐसा (पाप को दूर करने का काम) करें॥१०७॥

उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान् पिबेत्।
कृतवापो वसेद् गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥१०८॥

चतुर्थकालमश्नीयादक्षारलवणं मितम्।
गोमूत्रेणाऽऽचरेत् स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः॥१०९॥
दिवाऽनुगच्छेद् गास् तास् तु तिष्ठन्नूर्ध्वं रजः पिबेत्।
शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनो वसेत्॥११०॥
तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत् तु व्रजन्तीष्वप्यनुव्रजेत्।
आसीनासु तथाऽऽसीनो नियतो वीतमत्सरः॥१११॥
आतुरामभिशस्तां वा चौरव्याघ्रादिभिर् भयैः।
पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वोपायैर् विमोचयेत्॥११२॥
उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम्।
न कुर्वीताऽऽत्मनस् त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः॥११३॥
आत्मनो यदि वाऽन्येषां गृहे क्षेत्रेऽथवा खले।
भक्षयन्तीं न कथयेत् पिबन्तं चैव वत्सकम्॥११४॥
अनेन विधिना यस् तु गोघ्नो गामनुगच्छति।
स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर् मासैर् व्यपोहति॥११५॥

गौ को मारने वाला उपपातकयुक्त मनुष्य मुण्डन करके उस गौ के चमडे से शरीर को ढकता हुआ गोशाला में निवास करे और एक महीना तक जौ का (पतली लपसी के रूप में) पान करे॥१०८॥ आगे के दो महीनों तक भोजन के प्रत्येक चौथे काल में ही क्षार-लवण से रहित परिमित अन्न खाए (तीन काल कुछ न खाए), स्नानकाल में गोमूत्र से स्नान करे॥१०९॥ दिन में उस गोशाला की गायों का अनुगमन करे, खड़ा रहता हुआ गायों के खुरों से उड़ाई गई धूल का पान करे, गायों की सेवा करके उनको नमस्कार भी करके रात में वीरासन में (वाम ऊरु में दक्षिण पाद रखकर और वाम पाद में दक्षिण ऊरु रखकर किए जाने वाले आसन में) बैठे रहे॥११०॥ डाह करने वाला न होकर संयम रखता हुआ वह गोघातक गायों के खड़ा होने पर उनकी चेष्टा का अनुसरण करता हुआ खड़ा होवे, चलने पर चले, बैठने पर बैठे॥१११॥ रोग से आक्रान्त गाय को अथवा चोर और बाघ इत्यादि से उत्पन्न भय से आक्रान्त गाय को अथवा गिरी हुई गाय को अथवा कीचड़ में फँसी हुई गाय को भी सभी सम्भव उपायों से रोगादि से मुक्त बनाए॥११२॥ गर्मी पड़ने पर अथवा वर्षा होने पर अथवा ठण्डक रहने पर अथवा अत्यन्त तेज हवा चलने पर (आंधी आने पर) भी अपनी पूरी शक्ति से गौ की रक्षा किए विना अपनी रक्षा नहीं करे॥११३॥

अपने अथवा दूसरे के घर में अथवा खेत में अथवा खलिहान में खाती हुई गाय को किसी को न कहे, अपनी माँ का दूध पीते हुए बछड़े को भी किसी को न कहे॥११४॥ जो गोघातक इस विधि से गाय का अनुगमन करता है वह गोहत्या से उत्पन्न पाप को तीन महीनों में दूर करता है॥१०८-११५॥

वृषभैकादशा गाश् च दद्यात् सुचरितव्रतः।
अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत्॥११६॥

अच्छी तरह उक्त व्रत सम्पन्न करने वाला गोघातक मनुष्य ग्यारहवें बैल से युक्त गायों को (१० गायों को और १ बैल को) वेदज्ञ ब्राह्मणों को दे। उतना अपने पास में न रहने पर अपना सर्वस्व वेदज्ञ ब्राह्मणों को दे॥११६॥

एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः।
अवकीर्णिवर्जं शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथाऽपि वा॥११७॥

अवकीर्णी को (ब्रह्मचारी होकर इच्छापूर्वक वीर्यपात करने वाले को) छोड़कर अन्य उपपातक वाले द्विजाति अपनी शुद्धि के लिए इसी व्रत (मनु.११।११६) का अनुष्ठान करें अथवा चान्द्रायण व्रत करें॥११७॥

अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेण चतुष्पथे।
पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं (निरृतिं) निशि॥११८॥

अवकीर्णी (ब्रह्मचारी होकर इच्छापूर्वक स्त्री से सम्भोग करने वाला अथवा किसी रीति से इच्छापूर्वक वीर्यपात करने वाला) तो अपने गृह्यसूत्र में बताए गए पाकयज्ञ के विधान के अनुसार रात में चौराहे पर काने गधे से निर्ऋति का याग करे॥११८॥

हुत्वाऽग्नौ विधिवद् होमानन्ततश् च समित्यृचा।
वातेन्द्रगुरुवह्नीनां जुहुयात् सर्पिषाऽऽहुतीः॥११९॥

अग्नि में गृह्यसूत्र के विधि के अनुसार गर्दभवपा (गधे की चर्बी) इत्यादि का होम करके अन्त में "सम् मा सिञ्चन्तु मरुतः" इत्यादि ऋचा से (अथर्ववेद ७।३३।१) वायु के लिए, इन्द्र के लिए, बृहस्पति के लिए और अग्नि के लिए भी घी से आहुतियों को होमे॥११९॥

कामतो रेतसः सेकं व्रतस्थस्य द्विजन्मनः।
अतिक्रमं व्रतस्याऽऽहुर् धर्मज्ञा ब्रह्मवादिनः॥१२०॥

ब्रह्मचारी के व्रत में रहे हुए द्विजाति की अपनी इच्छा से किए गए वीर्यसेचन को धर्म का तत्त्व जानने वाले वेदवादी ब्राह्मण लोग व्रत का अतिक्रमण कहते हैं॥१२०॥

मारुतं पुरुहूतं च गुरुं पावकमेव च।
चतुरो व्रतिनोऽभ्येति ब्राह्मं तेजोऽवकीर्णिनः॥१२१॥

ब्रह्मचर्यव्रत में रहे हुए अवकीर्णी पुरुष का ब्राह्म तेज निकलकर वायु में, इन्द्र में, बृहस्पति में और अग्नि में इन चारों में चला जाता है।

विशेष– इस लिए वायु, इन्द्र इत्यादि को घी की आहुतियाँ दी जाती हैं॥१२१॥

एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाऽजिनम्।
सप्ताऽगारांश् चरेद् भैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन्॥१२२॥

यह अवकीर्णित्वरूप पाप हो जाने पर गधे के चमडे को पहनकर अपने कर्म को कहता हुआ प्रतिदिन सात घरों में भिक्षा माँगे॥१२२॥

तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण वर्तयन्नेककालिकम्।
उपस्पृशंस् त्रिषवणं त्वब्देन स विशुध्यति॥१२३॥

उन घरों से प्राप्त भिक्षा से प्रतिदिन एक भोजनकाल में ही भोजन करता हुआ और प्रतिदिन तीन सवनों के समयों में (प्रातःकाल में, मध्याह्न में और सायङ्काल में भी) स्नान करता हुआ वह अवकीर्णी एक बरस में शुद्ध हो जाता है॥१२३॥

जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वाऽन्यतममिच्छया।
चरेत् सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया॥१२४॥

अपनी इच्छा से जातिभ्रंशकर कर्मों (मनु.११।६७) में से किसी एक कर्म को करने पर सान्तपन कृच्छ्र (मनु.११।२१२) करे, इच्छा न होने पर ही जातिभ्रंशकर कर्मों में से कोई एक कर्म हो जाने पर प्राजापत्य कृच्छ्र (मनु.११।२११) करे॥१२४॥

सङ्कराऽपात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम्।
मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद् यावकैस् त्र्यहम्॥१२५॥

सङ्करीकरण कर्मों (मनु.११।६८) में से अथवा अपात्रीकरण कर्मों (मनु.११।६९) में से कोई एक कर्म (इच्छा से) किए जाने पर उस पाप को हटाने वाला चान्द्रायण कृच्छ्र (मनु.११।२१६) एक महीना तक करे। मलिनीकरण (मलाऽऽवह) कर्मों (मनु.११।७०) में से कोई एक कर्म किए जाने पर उस पाप को हटाने के लिए अति गर्म यावकों से [जौ की अति गर्म लपसी खाने से] तीन दिन तक तप्त [सन्तप्त वा दुःखित] होवे॥१२५॥

तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः।
वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस् तु षोडशः॥१२६॥

क्षत्रिय का वध करने में ब्रह्महत्या के चौथे भाग का तुल्य पातक समझा गया है, वैश्य के वध करने में ब्रह्महत्या के आठवें भाग का तुल्य पातक समझा गया है; सद्वृत्त में रहने वाले शूद्र का वध करने में ब्रह्महत्या के सोलहवें भाग का तुल्य पातक होने की बात जाननी चाहिए॥१२६॥

अकामतस् तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः।
वृषभैकसहस्रा गा दद्यात् सुचरितव्रतः॥१२७॥

अनिच्छा से क्षत्रिय को जान से मारने पर अच्छी तरह व्रत पूर्ण करने वाला ब्राह्मण एक बैल से युक्त हजार गायों का दान करे॥१२७॥

त्र्यब्दं चरेद् वा नियतो जटी ब्रह्महणो व्रतम्।
वसन् दूरतरे ग्रामाद् वृक्षमूलनिकेतनः॥१२८॥

अथवा पेड़ के नीचे वासस्थान बनाकर गाँव से बहुत दूर देश में निवास करता हुआ, जितेन्द्रिय, जटाधारी ब्राह्मण तीन बरस तक ब्रह्महत्या करने वाले का व्रत करे॥१२८॥

एतदेव चरेदब्दं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः।
प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थं दद्याद् वैकशतं गवाम्॥१२९॥

सद्वृत्त में रहे हुए वैश्य को (अनिच्छापूर्वक) जान से मारने पर ब्राह्मण यही प्रायश्चित्त एक बरस तक करे अथवा एक सौ गायों का दान करे॥१२९॥

एतदेव व्रतं कृत्स्नं षण् मासान् शूद्रहा चरेत्।
वृषभैकादशा वाऽपि दद्याद् विप्राय गाः सिताः॥१३०॥

(अनिच्छा से) शूद्र को जान से मारने वाला ब्राह्मण छह महीनों तक सम्पूर्ण रूप में यही व्रत करे, अथवा ग्यारहवें बैल से युक्त दश सफेद गाय (एक बैल और दश सफेद गाय) ब्राह्मण को दे॥१३०॥

मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मण्डूकमेव च।
श्वगोधोलूककाकांश् च शूद्रहत्याव्रतं चरेत्॥१३१॥

बिल्ली को अथवा नेवले को अथवा चाष को (नीलकण्ठ पक्षी को) अथवा मेढ़क को अथवा कुत्ते को अथवा गोह को अथवा उल्लू को अथवा कौए को मारकर ब्राह्मण शूद्रहत्या में किए जाने वाले व्रत का अनुष्ठान (मनु.११।१३०) करे।

विशेष— इस श्लोक को लेकर रजनीकान्त ने जो *"अभिप्राय यह कि मनु के मत में शूद्र की जान कुत्ता बिल्ली की जान से बढकर नहीं"* यह कहा है (हिन्दू जाति

का उत्थान और पतन, पृ.१८०) वह उलटी बुद्धि का खेल है। यहाँ पर मनुस्मृति में बिल्ली नेवला इत्यादि प्राणियों की अहिंसा में जोड़ दिया गया है। शूद्रहत्या का प्रायश्चित्त तो छह मास तक कठोर व्रत और एक बैल से युक्त दश गायों का दान बताया गया है (मनु.११।१३०)। इस से बिल्ली इत्यादि की अहिंसा में कितना जोड मनुस्मृति में दिया गया है. यह बात अवगत होती है। आजकल भी कुछ संरक्षणीय प्राणियों की हिंसा मे कड़ी सजा दी ही जाती है॥१३१॥

पयः पिबेत् त्रिरात्रं वा योजनं वाऽध्वनो व्रजेत्।
उपस्पृशेत् स्रवन्त्यां वा सूक्तं वाऽब्दैवतं जपेत्॥१३२॥

अथवा ब्राह्मण बिल्ली इत्यादि को मारकर तीन अहोरात्र तक केवल दूध ही पीवे, अथवा एक योजन (चार कोश) रास्ता पैदल चले, अथवा नदीं में स्नान करे अथवा जल देवता वाले सूक्त का (आपो हि ष्ठा मयोभुवः इत्यादि ९ ऋचाओं के ऋग्वेदादि के [१०।९।१–९] सूक्त का) जप करे॥१३२॥

अभ्रिं कार्ष्णायसीं दद्यात् सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः।
पलालभारकं षण्ढे सैसकं चैकमाषकम्॥१३३॥

साँप को मारकर ब्राह्मण लोहे के खननसाधन तीक्ष्णाग्र दण्ड का दान करे। नपुंसक [मनुष्य, बकरा, भेड इत्यादि] को मारकर ब्राह्मण पुआल का एक भार (१ गाड़ी) और सीसे का एक मासा भी ब्राह्मण को दे॥१३३॥

घृतकुम्भं वराहे तु तिलद्रोणं तु तित्तिरौ।
शुके द्विहायनं वत्सं क्रौञ्चं हत्वा त्रिहायनम्॥१३४॥

अपने से सूअर मारे जाने पर ब्राह्मण घी से भरा घड़ा ब्राह्मण को दे, अपने से तीतर मारे जाने पर एक द्रोण (करीब बत्तीस अथवा चौसठ सेर) तिल ब्राह्मण को दे, अपने से तोता मारे जाने पर दो वर्ष का बछड़ा ब्राह्मण को दे और अपने से क्रौञ्च पक्षी मारे जाने पर तीन वर्ष का बछड़ा ब्राह्मण को दे॥१३४॥

हत्वा हंसं बलाकां च बकं बर्हिणमेव च।
वानरं श्येनभासौ च स्पर्शयेद् ब्राह्मणाय गाम्॥१३५॥

हाँस को अथवा छोटी जाति के बगुले को अथवा बगुले को अथवा मोर को अथवा बन्दर को अथवा बाज को अथवा छोटी जाति के गीध को मारकर ब्राह्मण ब्राह्मण को गाय दे॥१३५॥

वासो दद्याद् हयं हत्वा पञ्च नीलान् वृषान् गजम्।
अजमेषावनड्वाहं खरं हत्वैकहायनम्॥१३६॥

घोड़े को मारकर ब्राह्मण ब्राह्मण को वस्त्र दे, हाथी को मारकर ब्राह्मण पाँच नील वृषभ (काले बैल) ब्राह्मण को दे, बकरे को अथवा भेड़ को मारकर ब्राह्मण एक बैल ब्राह्मण को दे, गधे को मारकर ब्राह्मण ब्राह्मण को एक बरस का बछड़ा दे॥१३६॥

क्रव्यादांस् तु मृगान् हत्वा धेनुं दद्यात् पयस्विनीम्।
अक्रव्यादान् वत्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णलम्॥१३७॥

ब्राह्मण कच्चे मांस खाने वाले चीता बाघ इत्यादि मृगों को (पशुओं को) मारकर ब्राह्मण को दूधारू गाय दे, ब्राह्मण कच्चे मांस नहीं खाने वाले (घास खाने वाले) हरिणादि मृगों को मारकर ब्राह्मण को बछिया दे और ब्राह्मण ऊँट को मारकर ब्राह्मण को रत्तीभर सोना दे॥१३७॥

जीनकार्मुकबस्ताऽवीन् पृथग् दद्याद् विशुद्धये।
चतुर्णामपि वर्णानां नारीर् हत्वाऽनवस्थिताः॥१३८॥

[वर्णानामानुपूर्व्येण त्रयाणामविशेषतः।
अमत्या च प्रमाप्य स्त्रीं शूद्रहत्याव्रतं चरेत्॥]

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र इन चारों वर्णों की अपने पति में स्थिर नहीं रहने वाली स्त्रियों को मारकर उस पाप से शुद्धि के लिए ब्राह्मण वर्णक्रम से ब्राह्मण को चर्मपुट (चमडे का थैला), धनुष, बकरा और भेड़ दे॥१३८॥

[ब्राह्मणादि तीनों वर्णों की स्त्रियों को अनजान में जान से मारने पर मनुष्य समान रूप में शूद्रहत्या में किए जाने वाले व्रत का ही अनुष्ठान करे।]

दानेन वधनिर्णेकं सर्पादीनामशक्नुवन्।
एकैकशश् चरेत् कृच्छ्रं द्विजः पापाऽपनुत्तये॥१३९॥

साँप इत्यादि के वध का प्रायश्चित्त दान से करने में असमर्थ होता हुआ ब्राह्मण उस पाप को हटाने के लिए एक-एक पाप के लिए एक-एक प्राजापत्य कृच्छ्र (मनु.११।२११) करे॥१३९॥

अस्थिमतां तु सत्त्वानां सहस्रस्य प्रमापणे।
पूर्णे चाऽनस्यनस्थ्नां तु शूद्रहत्याव्रतं चरेत्॥१४०॥

हड्डी वाले एक हजार छोटे प्राणियों को मारने पर अथवा एक गाड़ी भर हड्डी से रहित छोटे प्राणियों को मारने पर ब्राह्मण शूद्रहत्या में किए जाने वाला व्रत (मनु.११।१३०) करे॥१४०॥

किञ्चिदेव तु विप्राय दद्यादस्थिमतां वधे।
अनस्थ्नां चैव हिंसायां प्राणायामेन शुध्यति॥१४१॥

हड्डी वाले छोटे प्राणियों को मारने पर ब्राह्मण ब्राह्मण को कुछ दान दे, और हड्डी से रहित छोटे प्राणियों को मारने पर ब्राह्मण एक प्राणायाम से शुद्ध (पाप से मुक्त) होता है॥१४१॥

फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक्शतम्।
गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम्॥१४२॥

फल देने वाले वृक्ष को अथवा गुल्म को (बाँस कुब्जक इत्यादि को) अथवा वल्लियों को (घुमावदार पौधों को) अथवा लताओं को (लतरों को) अथवा फूली हुई वीरुधों को (प्रतानयुक्त लताओं को) काटने पर ब्राह्मण से सौ ऋचाएँ जपी जानी चाहिए॥१४२॥

अन्नाद्यजानां सत्त्वानां रसजानां च सर्वशः।
फलपुष्पोद्भवानां च घृतप्राशो विशोधनम्॥१४३॥

अन्नादि में उत्पन्न प्राणियों को (कीड़ों को) अथवा रसों में उत्पन्न सभी प्रकार के प्राणियों को अथवा फलों में उत्पन्न प्राणियों को अथवा फूलों में उत्पन्न प्राणियों को भी मारने पर ब्राह्मण के लिए घी खाना ही पाप हटाने वाला (प्रायश्चित्त) होता है॥१४३॥

कृष्टजानामोषधीनां जातानां च स्वयं वने।
वृथाऽऽलम्भेऽनुगच्छेद् गां दिनमेकं पयोव्रतः॥१४४॥

जोती हुई भूमि में उत्पन्न ओषधियों को (फल पकने पर सूखने वाले साठी इत्यादि पौधों को) अथवा वन में स्वयम् उगने वाली तिन्नी इत्यादि ओषधियों को भी व्यर्थ में काटने पर ब्राह्मण केवल दूध ही पीकर रहता हुआ एक दिन भर गौ का अनुगमन करे॥१४४॥

एतैर् व्रतैरपोह्यं स्यादेनो हिंसासमुद्भवम्।
ज्ञानाऽज्ञानकृतं कृत्स्नं शृणुताऽनाद्यभक्षणे॥१४५॥

ज्ञान से किया गया अथवा अज्ञान से किया गया भी हिंसामूलक सभी प्रकार का पाप इन (बताए गए) व्रतों से हटाया जा सकने वाला होगा। अब अभक्ष्य वस्तु खाने पर होने वाले पापों के विषय में प्रायश्चित्त सुनिए॥१४५॥

अज्ञानाद् वारुणीं पीत्वा संस्कारेणैव शुध्यति।
मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणाऽन्तिकमिति स्थितिः ॥१४६॥

अज्ञान से वारुणी (अन्न के मद्य से भिन्न मद्य) पीकर ब्राह्मण पुनः उपनयन-संस्कार करने से शुद्ध होता है। ज्ञानपूर्वक ही वारुणी पीने पर भी ब्राह्मण को मुख्य सुरापान का मरणान्त प्रायश्चित्त तो उपदिष्ट नहीं होना चाहिए, [**"कणान् वा भक्षयेदब्दम्"** (मनु.११।९२) इत्यादि प्रायश्चित्त उपदिष्ट होना चाहिए] यही धर्मतत्त्वज्ञों की व्यवस्था है॥१४६॥

अपः सुराभाजनस्था मद्यभाण्डस्थितास् तथा।
पञ्चरात्रं पिबेत् पीत्वा शङ्खपुष्पीशृतं पयः ॥१४७॥

सुरा के (अन्न की मदिरा के) वर्तन में रहा हुआ जल अथवा मद्य के (गुड की माधूक इत्यादि की मदिरा के) वर्तन में रहा हुआ जल पीकर ब्राह्मण शुद्धि के लिए पाँच अहोरात्र तक शङ्खपुष्पी नाम की जड़ी को मिलाकर उबाला गया दूध पीकर रहे॥१४७॥

स्पृष्ट्वा दत्त्वा च मदिरां विधिवत् प्रतिगृह्य च।
शूद्रोच्छिष्टाश् च पीत्वाऽपः कुशवारि पिबेत् त्र्यहम् ॥१४८॥

ब्राह्मण मदिरा को छूकर अथवा देकर अथवा विधि से दान में लेकर अथवा शूद्र के पीने के बाद जलपात्र में बचे हुए जल को पीकर भी शुद्धि के लिए तीन दिन तक कुश को मिलाकर उबाला गया पानी ही पीकर रहे॥१४८॥

ब्राह्मणस् तु सुरापस्य गन्धमाघ्राय सोमपः।
प्राणानप्सु त्रिरायम्य घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥१४९॥

सोमपान करने वाला (सोमयाग करने वाला) ब्राह्मण तो सुरा पीने वाले मनुष्य के मुँह से आ रहा गन्ध नाक में पहुँचने पर पानी में बैठकर अथवा खड़ा होकर तीन वार प्राणायाम करके घी खाकर शुद्ध (पापमुक्त) होता है॥१४९॥

अज्ञानात् प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंस्पृष्टमेव च।
पुनःसंस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥१५०॥

तीनों द्विजाति वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) अज्ञान से मनुष्य की विष्ठा को अथवा मूत्र को अथवा सुरा से (अन्न के मद्य से) छुए गए अन्नादि को खाने पर शुद्धि के लिए फिर उपनयन-संस्कार करने के लिए योग्य होते हैं॥१५०॥

वपनं मेखला दण्डो भैक्षचर्या व्रतानि च।
निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनःसंस्कारकर्मणि॥१५१॥

द्विजातियों के पुनः किए जाने वाले उपनयन-संस्कार में मुण्डन, मेखला-बन्धन, दण्ड लेना, भिक्षा-याचन और गायत्रव्रतादि व्रत भी नहीं होते हैं॥१५१॥

अभोज्यानां तु भुक्त्वाऽन्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेव च।
जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान् पिबेत्॥१५२॥

जिन का अन्न खाना शास्त्र से निषिद्ध है उनका अन्न खाकर, स्त्री के अथवा शूद्र के भोजन के बाद पाकभाण्ड में बचा हुआ अन्न खाकर और शास्त्रनिषिद्ध पशु-पक्ष्यादि का मांस खाकर भी द्विजाति (ब्राह्मण) शुद्धि के लिए सात अहोरात्र तक केवल जौ (जौ की लपसी) ही पीकर रहे॥१५२॥

शुक्तानि च कषायांश् च पीत्वा मेध्यान्यपि द्विजः।
तावद् भवत्यप्रयतो यावत् तन् न व्रजत्यधः॥१५३॥

मेध्य अङ्गूर जामुन शाकमूलादि के बने हुए होने पर भी शुक्तों को (जलयोग-कालयोगादि से खट्टे बने हुए सिरका इत्यादि पदार्थों को) अथवा नाना ओषधियाँ रखकर पकाए गए क्वाथों को भी पीने पर द्विजाति (ब्राह्मण) जब तक वे पदार्थ पचकर (विष्ठा बनकर) नीचे से बाहर नहीं गिरते हैं तब तक अशुद्ध होता है॥१५३॥

विड्वराहखरोष्ट्राणां गोमायोः कपिकाकयोः।
प्राश्य मूत्रपुरीषाणि द्विजश् चान्द्रायणं चरेत्॥१५४॥

गाँव के सूअर के अथवा गधे के अथवा ऊँट के अथवा सियार के अथवा बन्दर के अथवा कौए के मूत्रों को और विष्ठाओं को खाने पर द्विजाति (ब्राह्मण) शुद्धि के लिए चान्द्रायण कृच्छ्र (मनु.११।२१६) करे॥१५४॥

शुष्काणि भुक्त्वा मांसानि भौमानि कवकानि च।
अज्ञातं चैव सूनास्थमेतदेव व्रतं चरेत्॥१५५॥

सूखे मांसों को अथवा भूमि में उत्पन्न कुकुरमुत्तों को अथवा अज्ञात मांस को अथवा पशुवधस्थान के मांस को खाने पर भी ब्राह्मण यही व्रत (चान्द्रायण) करे॥१५५॥

क्रव्यादसूकरोष्ट्राणां कुक्कुटानां च भक्षणे।
नरकाकखराणां च तप्तकृच्छ्रं विशोधनम्॥१५६॥

कच्चा मांस खाने वाले चीता बाघ इत्यादि को अथवा गाँव के सूअर को अथवा ऊँट को अथवा गाँव के मुर्गों को अथवा मनुष्य को अथवा कौए को अथवा गधे को (इन के मांस को) खाने पर तप्तकृच्छ्र (मनु.११।२१४) शुद्धि करने वाला होता है॥१५६॥

मासिकाऽन्नं तु योऽश्नीयादसमावर्तको द्विजः।
स त्रीण्यहान्युपवसेदेकाऽहं चोदके वसेत्॥१५७॥

जो समावर्तन नहीं करने वाला (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) ब्राह्मण मासिक श्राद्ध का अन्न खाता है वह तीन अहोरात्र तक उपवास करे और एक अहोरात्र जल में बैठे॥१५७॥

ब्रह्मचारी तु योऽश्नीयान् मधु मांसं कथञ्चन।
स कृत्वा प्राकृतं कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत्॥१५८॥

जो ब्रह्मचारी किसी प्रकार से मधु (शहद) अथवा मांस खाएगा वह प्राकृत कृच्छ्र (प्राजापत्य कृच्छ्र) (मनु.११।२११) करके शेष व्रत को समाप्त करे॥१५८॥

बिडालकाकाऽऽखूच्छिष्टं जग्ध्वा श्वनकुलस्य च।
केशकीटाऽवपन्नं च पिबेद् ब्रह्मसुवर्चलाम्॥१५९॥

बिल्ली का अथवा कौए का अथवा चूहे का अथवा कुत्ते का अथवा नेवले का जूठा अन्नादि और वालों से अथवा कीडों से दूषित अन्न भी खाकर द्विजाति (ब्राह्मण) ब्रह्मसुवर्चला नाम की जड़ी को मिलाकर उबाला हुआ जल पीए॥१५९॥

अभोज्यमन्नं नाऽत्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता।
अज्ञानभुक्तं तूत्तार्यं शोध्यं वाऽप्याशु शोधनैः॥१६०॥

अपनी शुद्धता को चाहने वाले द्विजाति (ब्राह्मण) से अभोज्य अन्नादि नहीं खाया जाना चाहिए। अज्ञान से खाया गया पदार्थ उलटी से बाहर उतारा जाना चाहिए, अथवा शुद्धि करने वाले प्रायश्चित्त से शीघ्र ही शुद्धि की जानी चाहिए॥१६०॥

एषोऽनाद्याऽदनस्योक्तो व्रतानां विविधो विधिः।
स्तेयदोषाऽपहर्तॄणां व्रतानां श्रूयतां विधिः॥१६१॥

खाने में अयोग्य वस्तु को खाने पर किए जाने वाले व्रतों का यह विविध प्रकार का विधान बताया गया। चोरी के पाप को हटाने वाले व्रतों का विधान अब सुना जाय॥१६१॥

धान्याऽन्नधनचौर्याणि कृत्वा कामाद् द्विजोत्तमः।
स्वजातीयगृहादेव कृच्छ्राऽब्देन विशुध्यति॥१६२॥

इच्छा से अपने वर्ण के मनुष्य के घर से धान्य की अथवा पक्वान्न की अथवा धन की चोरी करने पर ब्राह्मण एक बरस तक निरन्तर प्राजापत्य कृच्छ्र (मनु.११।२११) करने से शुद्ध होता है॥१६२॥

मनुष्याणां तु हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च।
कूपवापीजलानां च शुद्धिश् चान्द्रायणं स्मृतम्॥१६३॥

मनुष्यों की अथवा स्त्रियों की अथवा खेत की अथवा घर की अथवा कुएँ के पानी की अथवा बाबली के पानी की चोरी करने पर चान्द्रायण व्रत (मनु.११।२१६) शुद्धि करने वाला समझा गया है॥१६३॥

द्रव्याणामल्पसाराणां स्तेयं कृत्वाऽन्यवेश्मतः।
चरेत् सान्तपनं कृच्छ्रं तन् निर्यात्याऽऽत्मशुद्धये॥१६४॥

थोडे मूल्य की वस्तुओं की दूसरे के घर से चोरी करके उस चुराई गई वस्तु को लौटाकर अपनी शुद्धि के लिए सान्तपन कृच्छ्र (मनु.११।२१२) करे॥१६४॥

भक्ष्यभोज्याऽपहरणे यानशय्याऽऽसनस्य च।
पुष्पमूलफलानां च पञ्चगव्यं विशोधनम्॥१६५॥

लड्डू इत्यादि भक्ष्य पदार्थ की अथवा भात खीर इत्यादि भोज्य पदार्थ की अथवा गाड़ी पालकी इत्यादि यान की अथवा खाट, पलंग इत्यादि शय्या की अथवा तिरपाई, चौकी इत्यादि आसन की अथवा फूल की अथवा मूल की अथवा फल की चोरी करने पर पञ्चगव्य का पान ही पाप से छुटकारा देने वाला होता है॥१६५॥

तृणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्काऽन्नस्य गुडस्य च।
चेलचर्माऽऽमिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम्॥१६६॥

तृण की अथवा लकड़ी की अथवा पेड़ की अथवा सूखे अन्न की अथवा गुड़ की अथवा वस्त्र की अथवा चमड़े की अथवा मांस की चोरी करने पर तीन अहोरात्र तक उपवास पाप से छुटकारा देने वाला होता है॥१६६॥

मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य च।
अयःकांस्योपलानां च द्वादशाहं कणाऽन्नता॥१६७॥

रत्न की अथवा मोती की अथवा मूँगे की अथवा ताँबे की अथवा चाँदी की अथवा लोहे की अथवा काँसे की अथवा पत्थर की चोरी करने पर बारह दिन तक केवल तण्डुल के (चाँवल के) कणों को ही खाकर रहना पाप से छुटकारा देने वाला होता है॥१६७॥

कार्पासकीटजोर्णानां द्विशफैकशफस्य च।
पक्षिगन्धौषधीनां च रज्ज्वाश् चैव त्र्यहं पयः ॥१६८॥

रूई की अथवा कीटज रेशम की अथवा ऊन की अथवा दो खुर वाले पशु की अथवा एक खुर वाले पशु की अथवा पक्षी की अथवा सुगन्धद्रव्य की अथवा ओषधि की अथवा रस्सी की चोरी करने पर तीन अहोरात्र तक केवल दूध ही पीकर रहना पाप से छुटकारा देने वाला होता है।॥१६८॥

एतैर् व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः।
अगम्यागमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥१६९॥

द्विजाति (ब्राह्मण) चोरी से उत्पन्न पाप को इन (उक्त) व्रतों से दूर करे। सम्भोग (मैथुन) करने के लिए अयोग्य स्त्री से सम्भोग (मैथुन) करने से उत्पन्न पाप को तो इन (आगे के श्लोकों में बताए जा रहे) व्रतों से दूर करे॥१६९॥

गुरुतल्पव्रतं कुर्याद् रेतः सिक्त्वा स्वयोनिषु।
सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ॥१७०॥

ब्राह्मण अपनी सहोदर बहनों में अथवा मित्र की पत्नी में अथवा पुत्र की पत्नी में अथवा कन्याओं में अथवा चण्डाली में वीर्यसेचन करने पर गुरुपत्नी से सम्भोग (मैथुन) करने पर शुद्धि के लिए जो व्रत उपदिष्ट है वही व्रत करे॥१७०॥

पैतृष्वसेयीं भगिनीं स्वस्रीयां मातुरेव च।
मातुश् च भ्रातुस् तनयां गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥१७१॥

फूफी की पुत्री बहन में अथवा मौसी की पुत्री बहन में अथवा मामा की पुत्री बहन में गमन (मैथुन) करने पर ब्राह्मण शुद्धि के लिए चान्द्रायण व्रत (मनु.११।२१६) करे॥१७१॥

एतास् तिस्रस् तु भार्यार्थे नोपयच्छेत् तु बुद्धिमान्।
ज्ञातित्वेनाऽनुपेयास् ताः पतति ह्युपयन्नधः ॥१७२॥

समझदार द्विजाति (ब्राह्मण) इन तीन बहनों को पत्नीत्व के लिए विवाह नहीं करे। बन्धुत्व के कारण से विवाह करने के लिए अयोग्य उन बहनों को विवाह करता हुआ ब्राह्मण नरक को जाता है॥१७२॥

अमानुषीषु पुरुष उदक्यायामयोनिषु।
रेतः सिक्त्वा जले चैव कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥१७३॥

मनुष्यभिन्न स्त्री में (स्त्रीपशु में) अथवा रजस्वला स्त्री में अथवा योनिभिन्न अङ्गों में अथवा जल में वीर्य-सेचन करने पर पुरुष शुद्धि के लिए सान्तपन कृच्छ्र (मनु.११।२१२) करे॥१७३॥

मैथुनं तु समासेव्य पुंसि योषिति वा द्विजः।
गोयानेऽप्सु दिवा चैव सवासाः स्नानमाचरेत्॥१७४॥

पुरुष के साथ मैथुन करने पर अथवा बैलगाडी में या पानी में रहकर या दिन में स्त्री के साथ मैथुन करने पर भी द्विजाति पुरुष शुद्धि के लिए जिन वस्त्रों को पहनकर मैथुन किया था उन वस्त्रों को पहनकर ही स्नान करे॥१७४॥

चण्डालाऽन्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च।
पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात् साम्यं तु गच्छति॥१७५॥

चण्डालों की अथवा भारतवर्षान्तवासी म्लेच्छों की स्त्रियों में अज्ञान से गमन (मैथुन) करने पर अथवा चण्डालों का अथवा म्लेच्छों का अन्न अज्ञान से खाने पर अथवा चण्डालों से अथवा म्लेच्छों से अज्ञान से दान लेने पर ब्राह्मण पतित होता है, जानबूझकर ही उक्त मैथुनादि करने पर तो ब्राह्मण चण्डालों से अथवा म्लेच्छों से समानता में प्राप्त होता है॥१७५॥

विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता निरुन्ध्यादेकवेश्मनि।
यत् पुंसः परदारेषु तच् चैनां चारयेद् व्रतम्॥१७६॥

अपनी इच्छा से दूसरे पुरुष से मैथुन कराने वाली पत्नी को पति एक घर में रोककर रखे, और परस्त्रीगमन में पुरुष की शुद्धि के लिए जो व्रत शास्त्र में विहित है वही व्रत भी उस से करावे॥१७६॥

सा चेत् पुनः प्रदुष्येत् तु सदृशेनोपमन्त्रिता।
कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव तदस्याः पावनं स्मृतम्॥१७७॥

यदि वह पत्नी तुल्य वर्ण के परपुरुष से मैथुन के लिए बुलाए जाने पर (उसके मैथुन से) फिर दूषित होती है तो जो प्राजापत्य कृच्छ्र (मनु.११।२११) और चान्द्रायण कृच्छ्र (मनु.११।२१६) है वही इसका (पत्नी का) शुद्धिकारक समझा गया है॥१७७॥

यत् करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनाद् द्विजः।
तद् भैक्षभुग् जपन् नित्यं त्रिभिर् वर्षैर् व्यपोहति॥१७८॥

वृषली के (चण्डाली के) सेवन से ब्राह्मण एक रात में जो पाप करता है उस पाप को सर्वदा भिक्षा माँगकर खाके सावित्रगायत्र्यादि ऋचाओं को जपता हुआ ब्राह्मण तीन वर्षों में दूर कर सकता है॥१७८॥

एषा पापकृतामुक्ता चतुर्णामपि निष्कृतिः।
पतितैः सम्प्रयुक्तानामिमाः शृणुत निष्कृतीः॥१७९॥

यह चारों महापातकियों का (और उनके सदृश चार प्रकार के पातकियों का) प्रायश्चित्त बताया गया। अब पतितों से संसर्ग करने वालों के प्रायश्चित्तों को आप लोग सुनिए॥१७९॥

संवत्सरेण पतति पतितेन सहाऽऽचरन्।
याजनाऽध्यापनाद् यौनान् न तु यानाऽऽसनाऽशनात्॥१८०॥

पतित के साथ में व्यवहार करता हुआ ब्राह्मण वारवार एक यान में साथ में चलने से अथवा वारवार एक आसन में साथ में बैठने से अथवा वारवार एक पङ्क्ति में बैठकर खाने से एक बरस में पतित हो जाता है, पतित से यजन-याजनसम्बन्ध करने से अथवा वेदाध्ययनाऽध्यापन सम्बन्ध करने से अथवा कन्यादानाऽऽदानरूप यौन सम्बन्ध करने से तो एक बरस में नहीं तत्काल में ही पतित हो जाता है॥१८०॥

यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः।
स तस्यैव व्रतं कुर्यात् तत्संसर्गविशुद्धये॥१८१॥

जो मनुष्य जिस पतित के संसर्ग में जाता है वह उस संसर्ग से हुए पाप को दूर करने के लिए उस पतित के लिए शास्त्र में जो व्रत विहित है वही व्रत करे॥१८१॥

पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर् बान्धवैर् बहिः।
निन्दितेऽहनि सायाऽह्ने ज्ञात्यृत्विग्गुरुसन्निधौ॥१८२॥

जाति वालों से और बन्धुओं से भी जाति वालों के, ऋत्विक्-पुरोहित लोगों के और गुरु के समीप में निन्दित दिन में (रिक्ता तिथि में) सायङ्काल में गाँव के बाहर (जीवित ही) पतित को पानी दिया जाना चाहिए।

विशेष– यहाँ पर मूल वैदिक परम्परा के अनुकूल रूप में ही तिथिवाचक अहःशब्द का प्रयोग हुआ है। इस विषय में जिज्ञासु जन कौण्डिन्न्यायनव्याख्यानयुक्त वेदाङ्गज्योतिष की हमारी भूमिका के "वेदाङ्गज्योतिषोक्ततिथीनां सामान्यतया सावनदिनाऽभिन्नत्वम्" इस प्रकरण को (पृ.१५७-१५९) देखें॥१८२॥

दासी घटमपां पूर्णं पर्यस्येत् प्रेतवत् पदा।
अहोरात्रमुपासीरन्नशौचं बान्धवैः सह॥१८३॥

दासी जल से भरे हुए घडे को प्रेत को जल देने की रीति से दक्षिणाऽभिमुख होकर पैर से लुढ़का दे। जाति वाले लोग बान्धवों के साथ एक अहोरात्र तक आशौचपालन करें॥१८३॥

निवर्तेरंश् च तस्मात् तु सम्भाषणसहाऽऽसने।
दायाद्यस्य प्रदानं च यात्रा चैव हि लौकिकी॥१८४॥

(इस प्रकार जिस पतित को जीवितावस्था में ही प्रेतवत् जल दिया गया है) उस से बातचीत करना, एक आसन में बैठना, दायभाग (हिस्सा) देना और श्राद्ध-विवाह-व्रतबन्धादि कार्यों में और उत्सवों में निमन्त्रित करना इत्यादि लौकिक व्यवहार भी निवृत्त होंगे (नहीं होंगे)॥१८४॥

ज्येष्ठता च निवर्तेत ज्येष्ठाऽवाऽऽप्यं च यद् धनम्।
ज्येष्ठांशं प्राप्नुयाच् चाऽस्य यवीयान् गुणतोऽधिकः॥१८५॥

उसकी ज्येष्ठता (बड़े भाई के रूप में मान्यता [सत्कार्यता]) भी निवृत्त होगी, ज्येष्ठ को प्राप्त होने वाला विशिष्ट द्रव्य भी उस से निवृत्त होगा। उस ज्येष्ठ को प्राप्त होने वाला जो धन है उसको भी गुण से श्रेष्ठ छोटा भाई प्राप्त करेगा॥१८५॥

प्रायश्चित्ते तु चरिते पूर्णकुम्भमपां नवम्।
तेनैव सार्धं प्रास्येयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये॥१८६॥

पतित मनुष्य से प्रायश्चित्त किए जाने पर उसके जाति वाले और बन्धु लोग उसके साथ पवित्र जलाशय में स्नान करके जल से भरे हुए नये घड़े को उसी के साथ मिलकर उसी जलाशय में फेंक दें॥१८६॥

स त्वप्सु तं घटं प्रास्य प्रविश्य भवनं स्वकम्।
सर्वाणि ज्ञातिकार्याणि यथापूर्वं समाचरेत्॥१८७॥

वह प्रायश्चित्त पूर्ण करने वाला पतित मनुष्य जल में उस घड़े को फेंककर अपने घर में प्रवेश करके पहले की तरह ही सभी जाति वालों का कार्य करे॥१८७॥

एवमेव विधिं कुर्याद् योषित्सु पतितास्वपि।
वस्त्राऽन्नपानं देयं तु वसेयुश् च गृहाऽन्तिके॥१८८॥

पतित स्त्रियों में भी इसी विधि का प्रयोग करे। उन स्त्रियों को वस्त्र और खाद्य-पेय पदार्थ दिए जाने चाहिए। वे प्रायश्चित्त के समय में (वन में नहीं) घर के समीप में ही निवास करें॥१८८॥

एनस्विभिरनिर्णिक्तैर् नाऽर्थं किञ्चित् सहाऽऽचरेत्।
कृतनिर्णेजनांश् चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित्॥१८९॥

प्रायश्चित्त से शुद्ध नहीं हुए पातकियों के साथ में कुछ भी कार्य नहीं करे। प्रायश्चित्त से शुद्ध हुए पातकियों की कभी भी निन्दा न करे॥१८९॥

बालघ्नांश् च कृतघ्नांश् च विशुद्धानपि धर्मतः।
शरणाऽगतहन्तॄंश् च स्त्रीहन्तॄंश् च न संवसेत्॥१९०॥

बालघातियों से, कृतघ्नों से, शरणागतघातियों से और स्त्रीघातियों से तो प्रायश्चित्त से शुद्ध होने पर भी सहवासादि सम्पर्क न करे॥१९०॥

येषां द्विजानां सावित्री नाऽनूच्येत यथाविधि।
तांश् चारयित्वा त्रीन् कृच्छ्रान् यथाविध्युपनाययेत्॥१९१॥

जिन द्विजातियों का शास्त्र के विधान के अनुसार समय पर सावित्रमन्त्र का उपदेश (उपनयन-संस्कार) नहीं किया गया है उन से तीन प्राजापत्य कृच्छ्र (मनु.११।२११) कराके उनका शास्त्रोक्त विधि से उपनयन संस्कार करे॥१९१॥

प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थास् तु ये द्विजाः।
ब्रह्मणा च परित्यक्तास् तेषामप्येतदादिशेत्॥१९२॥

शूद्रसेवा इत्यादि विकर्म से जीविका करने वाले अथवा उपनयन होने पर भी वेदाध्ययन से विमुख रहने वाले जो द्विज (ब्राह्मण) प्रायश्चित्त करना चाहते हैं उनको भी इसी प्राजापत्यकृच्छ्रत्रयरूप प्रायश्चित्त का उपदेश करे।

विशेष– मनुस्मृति के ऐसे वचन और पराशरस्मृतिवचन (११।५५,५६), पराशरस्मृति की माधवकृत व्याख्या में उद्धृत औशनसवचन (पृ.३६१), निर्णयसिन्धु में उद्धृत बौधायनवचन (पृ.१९९) इत्यादि के निर्देशानुसार नित्यकृत्यलोप, अभक्ष्य-भक्षण और अन्य अकार्य करने पर कर्तव्य प्रायश्चित्त का सङ्क्षिप्त प्रयोग हमारे "माध्यन्दिनीय–वाजसनेयि–शुक्लयजुर्वेद–शाखाध्यायि-निरग्निकद्विज-सदाचारकर्म-संस्कारकर्म-श्राद्धकर्मादि-**वैदिकमन्त्रसङ्ग्रहः"** नाम के ग्रन्थ (२०५२ वै.) के परिशिष्ट में (पृ.९६–९७) जिज्ञासु जन देखें॥१९२॥

यद् गर्हितेनाऽर्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम्।
तस्योत्सर्गेण शुध्यन्ति जप्येन तपसैव च॥१९३॥

ब्राह्मण लोग निन्दित कर्मों से जिस (साधारण जीविका के लिए आवश्यक से ज्यादा) धन का उपार्जन करते हैं उस धन के त्याग से वे शुद्ध होते हैं, (केवल जीविका के लिए ही निन्दित कर्म से थोडे ही धन का उपार्जन करने पर तो) वेद मन्त्रों के जप से और तपस्या से ही ब्राह्मण शुद्ध हो जाते हैं॥१९३॥

जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः।
मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात्॥१९४॥

एकाग्रचित्त होकर सावित्री का तीन हजार वार जप करके और एक महीने तक गोशाला में निवास करके केवल दूध ही पीकर रहने से ब्राह्मण निन्दित मनुष्य से अथवा निन्दित वस्तु का दान लेने से हुए पाप से मुक्त हो जाता है॥१९४॥

उपवासकृशं तं तु गोव्रजात् पुनरागतम्।
प्रणतं परिपृच्छेयुः साम्यं सौम्येच्छसीति किम्॥१९५॥

गोशाला से फिर आए हुए और उपवास से दुबले-पतले तथा प्रणाम करके खड़े रहे हुए उसको जाति वाले ब्राह्मण लोग 'हे सौम्य, क्या तुम हम लोगों से समानता चाहते हो?' ऐसा प्रश्न करें॥१९५॥

सत्यमुक्त्वा तु विप्रेषु विकिरेद् यवसं गवाम्।
गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे कुर्युस् तस्य परिग्रहम्॥१९६॥

'सत्यम्' (सच ही मैं आप लोगों से समानता चाहता हूँ) ऐसा ब्राह्मणों को कहकर वह प्रायश्चित्तकारी ब्राह्मण गायों के आगे घास बिखेर दे। गायों के घास खाते रहने पर गायों से पवित्रीकृत उस तीर्थ में जाति वाले ब्राह्मण लोग उसको हस्तग्रहणादि से अपने समान देश में लाकर स्वीकार करें॥१९६॥

व्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च।
अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर् व्यपोहति॥१९७॥

व्रात्यों को याजन करने पर अथवा अपने सम्बन्धी से भिन्न जनों का अन्त्यकर्म (शवदाह-पिण्डदानादि) करने पर अथवा जपहोमरूप और अभिचाररूप श्रौत अहीन यज्ञ करने पर भी उत्पन्न पाप को ब्राह्मण तीन प्राजापत्यों (मनु.११।२११) से दूर करता है॥१९७॥

शरणाऽऽगतं परित्यज्य वेदं विप्लाव्य च द्विजः।
संवत्सरं यवाऽऽहारस् तत्पापमपसेधति॥१९८॥

शरण में आए हुए मनुष्य को समर्थ होने पर भी शरण न देकर त्याग देने पर, अथवा अनधिकारी को वेद पढ़ाना, निषिद्ध रूप में वेदमन्त्रों का प्रयोग करना इत्यादि रूप से वेदविप्लावन करने पर भी ब्राह्मण एक बरस तक केवल जौ का ही भोजन करके उस पाप को दूर कर सकता है॥१९८॥

श्वसृगालखरैर् दष्टो ग्राम्यैः क्रव्यादभिरेव च।
नराऽश्वोष्ट्रवराहैश् च प्राणायामेन शुध्यति॥१९९॥

[शुनाऽऽघ्रातोपलीढस्य दन्तैर् विदलितस्य च।
अद्भिः प्रक्षालनं प्रोक्तमग्निना चोपचूलनम्॥]

कुत्ते से अथवा सियार से अथवा गधे से अथवा अन्य गाँव में रहने वाले कच्चे मांस खाने वाले बिल्ली इत्यादि प्राणियों से अथवा मनुष्य से अथवा घोड़े से अथवा ऊँट से अथवा सूअर से काटा गया ब्राह्मण प्राणायाम से शुद्ध होता है॥१९९॥

[कुत्ते से सूँघे गए अङ्ग का अथवा चाटे गए अङ्ग का अथवा दाँतों से काटे गए अङ्ग का जल से धोना और आग की ज्वाला से स्पर्श कराना शुद्धिकारक बताया गया है।]

षष्ठाऽन्नकालता मासं संहिताजप एव वा।
होमाश् च शाकला नित्यमपाङ्क्त्यानां विशोधनम्॥२००॥

एक महीने तक प्रत्येक छठे भोजन काल में ही भोजन करना अथवा एक महीने तक वेदमन्त्रसंहिता का पाठ और नित्य शाकल होम (**'देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि'** इत्यादि आठ मन्त्रों से घी का हवन) अपाङ्क्तेय ब्राह्मणों को शुद्ध करने वाला होता है॥२००॥

उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानं तु कामतः।
स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासाः प्राणायामेन शुध्यति॥२०१॥

ब्राह्मण स्वेच्छा से ऊँट के वाहन में अथवा गधे के वाहन में चढने पर और निर्वस्त्र होकर स्नान करने पर प्राणायाम करने से शुद्ध होता है॥२०१॥

विनाऽद्भिरप्सु वाऽप्यार्तः शारीरं सन्निवेश्य च।
सचैलो बहिराप्लुत्य गामालभ्य विशुध्यति॥२०२॥

शौच के लिए साथ में पानी नहीं लेकर मलमूत्र-त्याग करने पर अथवा मलमूत्र-वेग से पीडित होकर पानी में ही मलमूत्र छोडने पर भी ब्राह्मण गाँव से बाहर नद्यादि में वस्त्रसहित स्नान करके गौ को छूकर शुद्ध होता है॥२०२॥

वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे।
स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम्॥२०३॥

वेद से विहित नित्य कर्मों का अतिक्रमण हो जाने पर अथवा स्नातक के व्रत का लोप होने पर एक अहोरात्र उपवास ही प्रायश्चित्त होता है॥२०३॥

हुङ्कारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वङ्कारं च गरीयसः।
स्नात्वाऽनश्नन्नहश्शेषमभिवाद्य प्रसादयेत्॥२०४॥

ब्राह्मण को 'हूँ' कहने पर अथवा अपने से विद्या, आयु, जाति इत्यादि से बड़े जन को 'तू' कहने पर शुद्धि के लिए स्नान करके शेष दिन भर कुछ भी खान-पान नहीं करके रहकर अपमानित ब्राह्मण को अथवा बड़े जन को अभिवादन करके प्रसन्न बनाए॥२०४॥

ताडयित्वा तृणेनाऽपि कण्ठे वाऽऽबध्य वाससा।
विवादे वा विनिर्जित्य प्रणिपत्य प्रसादयेत्॥२०५॥

ब्राह्मण को अथवा अपने से विद्या-आयु-जाति इत्यादि से बड़े जन को तिनके से भी मारने पर अथवा वस्त्र से गले में बाँधने पर अथवा लौकिक विवाद में जीतने पर भी प्रणाम करके उन्हें प्रसन्न बनाए॥२०५॥

अवगूर्य त्वब्दशतं सहस्रमभिहत्य च।
जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकं प्रतिपद्यते॥२०६॥

ब्राह्मण को मारने की इच्छा से डण्डा अथवा हाथ उठाने पर मनुष्य सौ बरस तक और डण्डे से अथवा हाथ से मारने पर मनुष्य एक हजार बरस तक नरक में पड़ जाता है॥२०६॥

शोणितं यावतः पांसून् सङ्गृह्णाति महीतले।
तावन्त्यब्दसहस्राणि तत्कर्ता नरके वसेत्॥२०७॥

डण्डे से अथवा हाथ से मारने पर ब्राह्मण के शरीर से गिरा हुआ लहू पृथिवी में जितने धूलकणों को अपने में समेटता है उतने हजार वर्षों तक वह ब्राह्मण के लहू को पृथ्वी में गिराने वाला नरक में रहेगा॥२०७॥

अवगूर्य चरेत् कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने।
कृच्छ्राऽतिकृच्छ्रौ कुर्वीत विप्रस्योत्पाद्य शोणितम्॥२०८॥

ब्राह्मण के ऊपर डण्डा अथवा हाथ उठाने पर ब्राह्मण प्राजापत्य कृच्छ्र करे, ब्राह्मण को डण्डे से अथवा हाथ से मारने पर ब्राह्मण अतिकृच्छ्र करे, ब्राह्मण के शरीर से लहू उत्पन्न करने पर ब्राह्मण कृच्छ्र और अतिकृच्छ्र दोनों व्रत करे।

विशेष– प्राजापत्यकृच्छ्रादि कृच्छ्रों का और अतिकृच्छ्रों का लक्षण आगे (११।२११-) श्लोकों में बताया जा रहा है]॥२०८॥

अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये।
शक्तिं चाऽवेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत्॥२०९॥

जिन पापों का प्रायश्चित्त नहीं बताया गया है उन पापों को दूर करने के लिए पाप को और पाप करने वाले की शक्ति को भी विचार में रखकर प्रायश्चित्त के लिए व्रतविशेष की व्यवस्था दे॥२०९॥

यैरभ्युपायैरेनांसि मानवो व्यपकर्षति।
तान् वोऽभ्युपायान् वक्ष्यामि देवर्षिपितृसेवितान्॥२१०॥

जिन उपायों से मनुष्य पापों को दूर कर सकता है देवताओं से, ऋषियों से और पितरों से प्रयुक्त उन उपायों को मैं आप लोगों को बताऊँगा॥२१०॥

त्र्यहं प्रातस् त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम्।
त्र्यहं परं च नाऽश्नीयात् प्राजापत्यं चरन् द्विजः॥२११॥

प्राजापत्य कृच्छ्र का अनुष्ठान करता हुआ ब्राह्मण तीन दिन तक केवल सुबह ही खाए, तीन दिन तक केवल शाम को ही खाए, तीन दिन तक विना माँगे जो मिले सो ही खाए और उसके बाद तीन दिन तक नहीं खाए (उपवास करे)॥२११॥

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
एकरात्रोपवासश् च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम्॥२१२॥

गोमूत्र, गोबर, गाय का दूध, गाय का दही, गाय का घी और कुशजल मिलाकर इन को ही खाना और दूसरे दिन उपवास करना सान्तपन कृच्छ्र समझा गया है॥२१२॥

एकैकं ग्रासमश्नीयात् त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत्।
त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन् द्विजः॥२१३॥

अतिकृच्छ्र व्रत करता हुआ ब्राह्मण पहले बताई गई रीति से तीन दिनत्रयों तक एक-एक ही ग्रास (कौर) खाए, अन्त के तीन दिनों तक उपवास करे॥२१३॥

तप्तकृच्छ्रं चरन् विप्रो जलक्षीरघृताऽनिलान्।
प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान् सकृत्स्नायी समाहितः॥२१४॥

[अपां पिबेच् च त्रिपलं पलमेकं च सर्पिषः।
पयः पिबेत् तु त्रिपलं त्रिमात्रं चोक्तमानतः॥]

तप्तकृच्छ्र व्रत करता हुआ ब्राह्मण प्रतिदिन एक वार ही स्नान करता हुआ संयम रखकर तीन-तीन दिनों (बाह्र दिनों) तक क्रम से गरम जल, गरम दूध, गरम घी और गरम वायु पीकर रहे (पहले तीन दिनों तक गरम जल ही, दूसरे तीन दिनों

तक गरम दूध ही, तीसरे तीन दिनों तक गरम घी ही और चौथे तीन दिनों तक गरम वायु ही पीकर रहे)॥२१४॥

[जल का तीन पल और घी का एक पल पिवे, तीन पल दूध पिवे, वायु का भी उक्त मान से तीन मात्रा ही पिवे।]

यताऽऽत्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाऽहमभोजनम्।
पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापाऽपनोदनः॥२१५॥

संयमयुक्त मन वाले प्रमादरहित मनुष्य का बारह दिनों का उपवास पराक नाम का कृच्छ्र है, यह सभी पापों को दूर करने वाला है॥२१५॥

एकैकं ह्रासयेत् पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत्।
उपस्पृशंस् त्रिषवणमेतच् चान्द्रायणं स्मृतम्॥२१६॥

तीनों सवनों के समय में (प्रातःकाल में, मध्याह्नकाल में और सायङ्काल में) स्नान करता हुआ मनुष्य कृष्णपक्ष में प्रतिदिन एक-एक कौर घटाता जाय और शुक्लपक्ष में प्रतिदिन एक-एक कौर बढाता जाय, यह कृच्छ्र अथवा व्रत चान्द्रायण समझा गया है॥२१६॥

एतमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद् यवमध्यमे।
शुक्लपक्षादिनियतश् चरंश् चान्द्रायणं व्रतम्॥२१७॥

चान्द्रायण व्रत करता हुआ मनुष्य यवमध्यचान्द्रायण व्रत में शुक्लपक्ष को आदि में रखने का नियम करता हुआ सम्पूर्ण इसी विधि को (कौर को बढ़ाने-घटाने का और तीनों कालों में स्नान करने का विधान को) आचरण में लाए॥२१७॥

अष्टावष्टौ समश्नीयात् पिण्डान् मध्यन्दिने स्थिते।
नियताऽऽत्मा हविष्याऽशी यतिचान्द्रायणं चरन्॥२१८॥

यतिचान्द्रायण करता हुआ मनुष्य संयमयुक्त मन वाला और हविष्य पदार्थ ही खाने वाला होता हुआ एक चान्द्र मास भर शुक्लपक्ष के अथवा कृष्णपक्ष के आदि से प्रारम्भ करके प्रतिदिन मध्याह्न काल में आठ-आठ कौर ही भोजन करे॥२१८॥

चतुरः प्रातरश्नीयात् पिण्डान् विप्रः समाहितः।
चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतम्॥२१९॥

संयमयुक्त मन वाला ब्राह्मण सुबह के भोजन के समय में केवल चार कौर ही खाए और सूर्य अस्त होने पर केवल चार ही कौर खाए, यह शिशुचान्द्रायण समझा गया है॥२१९॥

यथाकथञ्चित् पिण्डानां तिस्रोऽशीतीः समाहितः।
मासेनाऽश्नन् हविष्यस्य चन्द्रस्यैति सलोकताम्॥२२०॥

संयत मन वाला होता हुआ एक चान्द्र मास में हविष्य अन्न का जिस किसी भी प्रकार से तीन अस्सी (८०+८०+८०=२४०, दो सौ चालीस) कौर ही खाता हुआ ब्राह्मण चन्द्र से समानलोकता को प्राप्त करता है॥२२०॥

एतद् रुद्रास् तथाऽऽदित्या वसवश् चाऽचरन् व्रतम्।
सर्वाऽकुशलमोक्षाय मरुतश् च महर्षिभिः॥२२१॥

सभी पापों से (सभी अशुभ फलों की प्राप्ति से) मुक्ति के लिए महर्षियों से सहित रुद्रों ने, आदित्यों ने, वसुओं ने और मरुतों ने भी इस व्रत को सम्पन्न किया था॥२२१॥

महाव्याहृतिभिर् होमः कर्तव्यः स्वयमन्वहम्।
अहिंसा सत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत्॥२२२॥

इस व्रत के दिनों में प्रतिदिन स्वयम् महाव्याहृतियों से (भूः, भुवः, स्वः इन से) घी का (लौकिक अग्नि में) होम भी किया जाना चाहिए। अहिंसा की, सत्य की, अक्रोध की और आर्जव (सरलता) की भी पालना करे॥२२२॥

त्रिरहस् त्रिर् निशायां च सवासा जलमाविशेत्।
स्त्रीशूद्रपतितांश् चैव नाऽभिभाषेत कर्हिचित्॥२२३॥

इस व्रत के काल में दिन में तीन वार और रात में भी तीन वार वस्त्रसहित जल में डूबे और स्त्री से, शूद्र से और पतित से भी कभी भी न बोले॥२२३॥

स्थानाऽऽसनाभ्यां विहरेदशक्तोऽधः शयीत वा।
ब्रह्मचारी व्रती च स्याद् गुरुदेवद्विजाऽर्चकः॥२२४॥

इस व्रत के काल में कर्ता खड़ा होकर और बैठकर ही रहे, न सोए; वैसा करने में असमर्थ होने पर आच्छादित भूमि में ही सोए (खाट पलंग इत्यादि में नहीं सोए), ब्रह्मचारी (स्त्रीसम्पर्करहित), व्रती (मौञ्जी-दण्डादि से सहित) तथा गुरु का, देवता का और ब्राह्मण का आदर-सत्कार करने वाला भी होवे॥२२४॥

सावित्रीं च जपेन् नित्यं पवित्राणि च शक्तितः।
सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः॥२२५॥

चान्द्रायण व्रत के काल में सदा सावित्री ऋचा का जप करे और अन्य अघमर्षणसूक्तादि पवित्र मन्त्रों का भी अपनी शक्ति के अनुसार जप करे। प्राजापत्य कृच्छ्र इत्यादि अन्य सभी व्रतों में प्रायश्चित्त के लिए श्रद्धापूर्वक ऐसा करे॥२२५॥

एतैर् द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैनसः।
अनाविष्कृतपापांस् तु मन्त्रैर् होमैश् च शोधयेत्॥२२६॥

बाहर प्रकट पापों से युक्त द्विजाति लोग इन व्रतों से शुद्ध किए जाने चाहिए। बाहर प्रकट नहीं हुए पापों से युक्त द्विजातियों को तो मन्त्रों से (मन्त्रों के जपों से) और होमों से शुद्ध करे।

विशेष– लोक में प्रकाशित पाप का प्रकाश (लोकवेद्य) ही प्रायश्चित्त करना चाहिए और अप्रकाशित पाप का रहस्य-प्रायश्चित्त (गुप्तप्रायश्चित्त) करना चाहिए, ऐसी वैदिक धर्मशास्त्र की व्यवस्था है॥२२६॥

ख्यापनेनाऽनुतापेन तपसाऽध्ययनेन च।
पापकृन् मुच्यते पापात् तथा दानेन चाऽऽपदि॥२२७॥

पाप करने वाला मनुष्य अपने पाप को प्रकाशित करने से, पश्चात्ताप करने से, तपस्या करने से (व्रत करने से) और वेदाध्ययन करने से (वेदमन्त्रों का जप करने से) भी पाप से मुक्त होता है। आपत्काल में दान करने से भी पाप से मुक्त होता है॥२२७॥

यथायथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते।
तथातथा त्वचेवाऽहिस् तेनाऽधर्मेण मुच्यते॥२२८॥

जैसे-जैसे मनुष्य अधर्म (पाप) करके स्वयम् उस पाप को कहता है वैसे-वैसे वह उस अधर्म से काँचली से साँप की तरह मुक्त होता है॥२२८॥

यथायथा मनस् तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति।
तथातथा शरीरं तत् तेनाऽधर्मेण मुच्यते॥२२९॥

जैसे-जैसे अधर्म करने वाले का मन अपने से किए गए खराब काम की निन्दा करता है वैसे-वैसे उसका वह शरीर उस अधर्म से मुक्त होता है॥२२९॥

कृत्वा पापं हि सन्तप्य तस्मात् पापात् प्रमुच्यते।
नैवं कुर्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः॥२३०॥

पाप करके पश्चात्ताप करने पर पाप करने वाला उस पाप से मुक्त होता है, 'ऐसा फिर नहीं करूँ' इस प्रकार पाप से हुई निवृत्ति से वह शुद्ध होता है॥२३०॥

एवं सञ्चिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्मफलोदयम्।
मनोवाङ्मूर्तिभिर् नित्यं शुभं कर्म समाचरेत्॥२३१॥

इस प्रकार मरने पर होने वाली फल-प्राप्ति का मन से विचार करके सर्वदा मन से, वाणी से और शरीर से भी शुभ कर्म किया करे॥२३१॥

अज्ञानाद् यदि वा ज्ञानात् कृत्वा कर्म विगर्हितम्।
तस्माद् विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत्॥२३२॥

अज्ञान से अथवा ज्ञान से भी निन्दित कर्म करने पर उस से छुटकारा पाने की इच्छा करता हुआ दूसरे वार उस कर्म को नहीं करे॥२३२॥

यस्मिन् कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम्।
तस्मिंस् तावत् तपः कुर्याद् यावत् तुष्टिकरं भवेत्॥२३३॥

जिस कर्म को करने पर इसके मन में क्लेश हो उस कर्म को करने पर उतना तप (प्रायश्चित्तरूप कृच्छ्रादि व्रत) करता रहे जितना करने से मन में सन्तोष उत्पन्न हो॥२३३॥

तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम्।
तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः॥२३४॥

यह जो देवों में और मनुष्यों में देखा जा रहा सुख है वह सब ही वेदों को देखने वाले ऋषियों से तपस्या से ही उत्पन्न, तपस्या से ही वर्तमान और तपस्या के अन्त से ही अन्त होने वाला भी बताया गया है॥२३४॥

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम्।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम्॥२३५॥

ब्राह्मणों का तप वेद-वेदार्थ का ज्ञान है, क्षत्रियों का तप राष्ट्र का रक्षण है, वैश्य का तप कृषि-पशुपालन-वाणिज्य है, शूद्र का तप ब्राह्मणसेवन है॥२३५॥

ऋषयः संयताऽऽत्मानः फलमूलाऽनिलाऽशनाः।
तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम्॥२३६॥

संयत मन वाले और फल, मूल और वायु ही खाने वाले ऋषि लोग तप से ही इस गतिशील भूत और भौतिकों से युक्त तीन लोकों के समुदाय को यथार्थ रूप में देखने में समर्थ होते हैं॥२३६॥

औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः।
तपसैव प्रसिद्ध्यन्ति तपस् तेषां हि साधनम्॥२३७॥

औषध, विषचिकित्सा, भूतविद्यादि विद्या और विविध प्रकार की अणिमा-महिमादि दिव्य स्थितियाँ भी तप से ही सिद्ध होती हैं, उनका साधन तप ही है।

विशेष— यहाँ पर अगदशब्द का कुल्लूक का अर्थ यथार्थ नहीं दिखाई देता है॥२३७॥

यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच् च दुष्करम्।
सर्वं तत् तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥२३८॥

जो कठिनता से पार होने योग्य वस्तु है, जो कठिनता से पाने योग्य वस्तु है, जो कठिनता से पहुँचने योग्य वस्तु है, जो कठिनता से करने योग्य वस्तु है वह सब तप से ही सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि तप का किसी से भी विफल किया जाना अत्यन्त कठिन है॥२३८॥

महापातकिनश् चैव शेषाश् चाऽकार्यकारिणः।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्बिषात् ततः॥२३९॥

महापातक करने वाले और अन्य अकार्य (पाप) करने वाले भी अच्छी तरह सम्पन्न किए गए तप से ही उस पाप से मुक्त होते हैं॥२३९॥

कीटाश् चाऽहि-पतङ्गाश् च पशवश् च वयांसि च।
स्थावराणि च भूतानि दिवं यान्ति तपोबलात्॥२४०॥

कीडे, साँप, पतिङ्गे, पशु, पक्षी और वृक्ष-गुल्म-लतादि स्थावर प्राणी भी तप के बल से स्वर्ग को जाते हैं॥२४०॥

यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्तिभिर् जनाः।
तत् सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः॥२४१॥

मनुष्य मन से, वचन से और शरीर से जो कुछ भी पाप करते हैं उस सब पाप को तप ही धन जिस का है वे (दूसरे धन से रहित सज्जन) तप से ही शीघ्र दग्ध करके निश्शेष कर देते हैं॥२४१॥

तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य दिवौकसः।
इज्याश् च प्रतिगृह्णन्तिं कामान् संवर्धयन्ति च॥२४२॥

तप से ही शुद्ध किए हुए ब्राह्मण के यज्ञों को देवता भी स्वीकार करते हैं और उसकी कामनाओं को पूर्ण भी करते हैं॥२४२॥

प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवाऽसृजत् प्रभुः।
तथैव वेदानृषयस् तपसैव प्रपेदिरे॥२४३॥

सृष्टि में समर्थ भगवान् प्रजापति ने तप से ही इस शास्त्र को उत्पन्न किया। उसी प्रकार ऋषियों ने भी वेदों को तप से ही प्राप्त किया॥२४३॥

इत्येतत् तपसो देवा महाभाग्यं प्रचक्षते।
सर्वस्याऽस्य प्रपश्यन्तस् तपसः पुण्यमुत्तमम्॥२४४॥

[ब्रह्मचर्यं जपो होमः काले शुद्धाऽल्पभोजनम्।
अरागद्वेषलोभाश् च तप उक्तं स्वयम्भुवा॥]

इस सम्पूर्ण तप के उत्तम पुण्यफल को अच्छी तरह देखते हुए देवता लोग इस प्रकार से तप के इस माहात्म्य को (महाफल को) बताते हैं॥२४४॥

[ब्रह्मचर्य का (वेदव्रत का) पालनं; जप; होम; समय में पवित्र और थोड़ा भोजन; राग का, द्वेष का और लोभ का वर्जन इन के समुदाय को ब्रह्मा जी ने तप कहा है।]

वेदाऽभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि॥२४५॥

अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिदिन किया गया वेद का अभ्यास, पञ्चमहायज्ञों का सम्पादन और क्षमा महापातक से होने वाले पापों को भी शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं॥२४५॥

यथैधस् तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात्।
तथा ज्ञानाऽग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित्॥२४६॥

जैसे अग्नि अपने तेज से अपने में संयुक्त शुष्क लकड़ी को क्षणभर में ही निश्शेष रूप से जला देता है वैसे ही वेद-वेदार्थ जानने वाला भी ज्ञानरूपी अग्नि से अपने में संश्लिष्ट सभी पाप को जला देता है॥२४६॥

इत्येतदेनसामुक्तं प्रायश्चित्तं यथाविधि।
अत ऊर्ध्वं रहस्यानां प्रायश्चित्तं निबोधत॥२४७॥

इस प्रकार से यह प्रकाश पापों का प्रायश्चित्त शास्त्र के विधान के अनुसार बताया गया। इस से आगे गुप्त पापों के प्रायश्चित्त को आप लोग जानिए॥२४७॥

सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास् तु षोडश।
अपि भ्रूणहणं मासात् पुनन्त्यहरहः कृताः॥२४८॥

प्रतिदिन किए गए व्याहृतियों से और प्रणव (ओङ्कार) से युक्त सोलह प्राणायाम तो एक महीने में भ्रूणहा को (ब्रह्महत्या करने वाले को) भी शुद्ध कर देते हैं॥२४८॥

कौत्सं जप्त्वाऽप इत्येतद् वासिष्ठं च प्रतीत्यृचम् [प्रति तृचम्]।
माहित्रं शुद्धवत्यश् च सुरापोऽपि विशुध्यति॥२४९॥

कुत्स ऋषि से देखे गए **'अप नः शोशुचदघम्'** इत्यादि सूक्त को (ऋग्.१।९७।१–८), वसिष्ठ ऋषि से देखे गए **'प्रति स्तोमेभिरुषसं वसिष्ठाः'** इत्यादि तीन ऋचाओं को (ऋग्.७।८०।१–३), महित्रीशब्द से युक्त **'महि त्रीणामवोस्तु'** इत्यादि सूक्त को (ऋग्. १०।१८७।१–३) और शुद्धशब्द से युक्त **'एतो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धम्'** इत्यादि तीन ऋचाओं को (ऋग्.८।९५।७–९) भी जपने पर [उक्त सभी मन्त्रों को प्रतिदिन सोलह-सोलह वार एक महीने तक जपने पर] सुरा पीने वाला ब्राह्मण भी शुद्ध हो जाता है।

विशेष– यहाँ **'प्रतीत्यृचम्'** यह मूल पाठ और कुल्लूक की व्याख्या के मुद्रित रूप में प्राप्त **'ऋचम्'** यह पाठ भी अशुद्ध है। मेधातिथि की व्याख्या के अनुशीलन से यह बात विदित होती है। **'त्रि+ऋचम्'** यहाँ **'ऋचि त्रेरुत्तरपदादिलोपश् च च्छन्दसि'** इस वार्तिक के प्रामाण्य से **'तृचम्'** यह रूप शुद्ध ज्ञात होता है॥२४९॥

सकृज् जप्त्वाऽस्यवामीयं शिवसङ्कल्पमेव च।
अपहृत्य सुवर्णं तु क्षणाद् भवति निर्मलः॥२५०॥

ब्राह्मण का एक तोला अथवा उस से अधिक सोना चुराकर भी अस्यवामीय सूक्त का (ऋग्.१।१६४।१–५२) और शिवसङ्कल्प मन्त्रों का (मा.वा.शु.य.वे.३४।१–६) [एक महीने तक प्रतिदिन] एक वार जपने पर क्षणभर में ही निष्पाप (शुद्ध) हो जाता है॥२५०॥

हविष्पान्तीयमभ्यस्य न तमंह इतीति च।
जपित्वा पौरुषं सूक्तं मुच्यते गुरुतल्पगः॥२५१॥

गुरुपत्नी में गमन करने वाला पुरुष हविष्पान्तीय सूक्त का (ऋग्.१०।८८।१–१९), **'न तमंहो न दुरितं देवासः'** इत्यादि सूक्त का (ऋग्.१०।१२६।१–८), **'इति वा इति मे मनः'** इत्यादि सूक्त का (ऋग्.१०।११९।१–१३) और पुरुषसूक्त का (ऋग्. १०।९०।१–१६) भी [एक महीने तक प्रतिदिन सोलह वार] जप करने पर पाप से मुक्त होता है॥२५१॥

एनसां स्थूलसूक्ष्माणां चिकीर्षन्नपनोदनम्।
अवेत्यृचं जपेदब्दं यत्किञ्चेदमितीति वा॥२५२॥

छोटे अथवा बड़े पापों को दूर करने की इच्छा करता हुआ द्विजाति **'अव ते हेडो वरुण नमोभिः'** इत्यादि ऋचा को (ऋग्.१।२४।१४) अथवा **'यत् किञ्चेदं वरुण दैव्ये जने'** इत्यादि ऋचा को (ऋग्.७।८९।५) अथवा **'इति वा इति मे मनः'** इत्यादि सूक्त को (ऋग्.१०।११९।१-१३) एक बरस तक प्रतिदिन जपे॥२५२॥

प्रतिगृह्याऽप्रतिग्राह्यं भुक्त्वा चाऽन्नं विगर्हितम्।
जपंस् तरत्समन्दीयं पूयते मानवस् त्र्यहात्॥२५३॥

दान लेने में अयोग्य द्रव्य का दान लेकर अथवा विशेष रूप में निन्दित (जाति-काल-स्वामि-संसर्गादि से दुष्ट) अन्न को खाकर ब्राह्मण तरत्समन्दीय सूक्त को (ऋग्.९।५८।१-४) जपता हुआ तीन दिनों में शुद्ध होता है॥२५३॥

सोमारौद्रं तु बह्वेना मासमभ्यस्य शुध्यति।
स्रवन्त्यामाचरन् स्नानमर्यम्णामिति च तृचम्॥२५४॥

बहुत पापों से युक्त ब्राह्मण प्रतिदिन नदी में स्नान करता हुआ **'सोमारुद्रा'** इत्यादि सोमारौद्र सूक्त का (ऋग्.६।७४।१-४) और **'अर्यमणं वरुणं मित्रमेषाम्'** इत्यादि ऋक्त्रय का (ऋग्.४।२।४-६) एक महीने तक जप करके शुद्ध होता है।

विशेष– कुल्लूकभट्ट की व्याख्या के अनुसार तो **'अर्यमणमिति तृचम्'** ऐसा पाठ होना चाहिए॥२५४॥

अब्दाऽर्धमिन्द्रमित्येतदेनस्वी सप्तकं जपेत्।
अप्रशस्तं तु कृत्वाऽप्सु मासमासीत भैक्षभुक्॥२५५॥

पापी ब्राह्मण **'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमूतये'** इत्यादि सात ऋचाओं के सूक्त को (१।१०६।१-७) बरस के आधे तक (छह महीनों तक) जपे (सब पाप छूटते हैं)। जल में मूत्र, विष्ठा, खखार, थूक, सिणक (सिनक, नेटा) इत्यादि छोडने पर अथवा मैथुन करने पर एक महीने तक भिक्षा माँगकर खाके रहे (पाप छूटता है)॥२५५॥

मन्त्रैः शाकलहोमीयैरब्दं हुत्वा घृतं द्विजः।
सुगुर्वप्यपहन्त्येनो जप्त्वा वा न म इत्यृचम्॥२५६॥

एक बरस तक शाकलहोम के मन्त्रों से (देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि इत्यादि माध्यन्दिनीय-वाजसनेयि-शुक्लयजुर्वेद के छह मन्त्रों से ८।१३-) घी का हवन करके अथवा **'न म इन्द्रेण'** (ऋग्.२।१८।८) इस ऋचा को (?) जपके द्विजाति (ब्राह्मण) बहुत बड़े पाप को भी नष्ट कर सकता है।

विशेष– कुल्लूकभट्ट से उल्लिखित **'नम इन्द्रश् च'** यह ऋक् तो प्रचलित मुद्रित ऋग्वेदसंहिता में नहीं है॥२५६॥

महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेद् गाः समाहितः।
अभ्यस्याऽब्दं पावमानीर् भैक्षाऽऽहारो विशुध्यति॥२५७॥

महापातक से युक्त ब्राह्मण एक बरस तक प्रतिदिन पवमान-मण्डल (ऋग्वेद के नवम मण्डल) की (सभी) ऋचाओं का (९।१।१–९।११४।४) पाठ करके भिक्षा माँगकर खाता हुआ संयत मन वाला होकर गायों की अनुगमनादि सेवा करके शुद्ध होता है॥२५७॥

अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम्।
मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस् त्रिभिः॥२५८॥

अथवा तीन पराककृच्छ्रों से शुद्ध किया गया ब्राह्मण शुद्ध होकर वन में स्वशाखावेद की संहिता को तीन वार पाठ करने पर ब्रह्महत्यादि सभी पापों से मुक्त होता है।

विशेष— वेदसंहिता कहने से सामान्यतया वेद का मन्त्रभाग अभिहित होता है॥२५८॥

त्र्यहं तूपवसेद् युक्तस् त्रिरह्नोऽभ्युपयन्नपः।
मुच्यते पातकैः सर्वैस् त्रिर् जपित्वाऽघमर्षणम्॥२५९॥

संयमयुक्त मन वाला होकर तीन दिन तक उपवास करे और दिन में तीन वार स्नान करता हुआ स्नानसमयों में जल में डूबकर तीन वार ऋग्वेद का अघमर्षण-सूक्त (ऋग्.१०।१९०।१–३) जपके सभी पापों से मुक्त होता है॥२५९॥

यथाऽश्वमेधः क्रतुराद् सर्वपापाऽपनोदनः।
तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापाऽपनोदनम्॥२६०॥

जैसे यज्ञों में श्रेष्ठ अश्वमेध यज्ञ सभी पापों को दूर करने वाला है वैसे ही अघमर्षण सूक्त (ऋग्.१०।१९०।१–३) भी सभी पापों को दूर करने वाला है॥२६०॥

हत्वा लोकानपीमांस् त्रीनश्नन्नपि यतस् ततः।
ऋग्वेदं धारयन् विप्रो नैनः प्राप्नोति किञ्चन॥२६१॥

इन (भूलोक, अन्तरिक्षलोक और स्वर्गलोक) तीनों लोकों को मारकर भी और जिस-किसी का जहाँकहीं और जो-कुछ भी खाकर भी मन्त्र-ब्राह्मणात्मक ऋग्वेद को कण्ठस्थ करके अपने शरीर में धारण (सुरक्षित) करने वाला ब्राह्मण कुछ भी पाप को प्राप्त नहीं करता है (पाप से लिप्त नहीं होता है)॥२६१॥

ऋक्संहितां त्रिरभ्यस्य यजुषां वा समाहितः।
साम्नां वा सरहस्यानां सर्वपापैः प्रमुच्यते॥२६२॥

एकाग्रचित्त वाला ब्राह्मण उपनिषत्सहित मन्त्रब्राह्मणात्मक ऋग्वेदसंहिता को अथवा यजुओं की उपनिषत्सहित मन्त्रब्राह्मणात्मक संहिता को अथवा उपनिषत्सहित सामों की (सामवेद की) मन्त्रब्राह्मणात्मक संहिता को तीन वार पढ़कर सभी पापों से मुक्त होता है।

विशेष– संहिताशब्द से मुख्यतया मन्त्रसंहिता ही समझी जाती हैं, मेधातिथि और गोविन्दराज भी ऐसा ही समझते हैं, अतः कुल्लूक का उक्त अर्थ चिन्त्य है॥२६२॥

यथा महाह्रदं प्राप्य क्षिप्तं लोष्टं विनश्यति।
तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति॥२६३॥

जैसे जल के बडे गहरे तालाव मे पड़ने पर उसमें फेंका गया मिट्टी का ढेला (टूटकर, पिघलकर)) नष्ट हो जाता है वैसे ही सम्पूर्ण पापकर्म त्रिवृत् (ऋग्-यजुः-सामरूप) वेद में डूबता है (नष्ट हो जाता है)॥२६३॥

ऋचो यजूंषि चाऽन्यानि सामानि विविधानि च।
एष ज्ञेयस् त्रिवृद् वेदो यो वेदैनं स वेदवित्॥२६४॥

ऋचाएँ, यजुः, और विभिन्न गीतियों के साम, इन का समुदाय त्रिवृद् वेद है, जो इसको जानता है वह वेदवित् (वेद को जानने वाला) है॥२६४॥

आद्यं यत् त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन् प्रतिष्ठिता।
स गुह्योऽन्यस् त्रिवृद् वेदो यस् तं वेद स वेदवित्॥२६५॥

॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायाम् एकादशोऽध्यायः॥११॥

वेदों के आदि में उच्चरित होने वाला, अ-उ-म् इन तीन वर्णों से बना हुआ जो ब्रह्म (ओङ्काररूप वेद) है, जिस में त्रयी (वेद) टिकी हुई है, वह गुह्य (रहस्यरूप) दूसरा त्रिवृत् वेद है, उसको जो जानता है वह वेदवित् (वेद को जानने वाला) है॥२६५॥

॥ इस प्रकार कौण्डिन्न्यायनाऽऽचार्य-शिवराजशर्म-द्विजोत्तम से किए गए मनुस्मृति के हिन्दी अनुवाद तथा विशेष व्याख्या में एकादश अध्याय पूर्ण हुआ॥११॥

●

अथ द्वादशोऽध्यायः

चातुर्वर्ण्यस्य कृत्स्नोऽयमुक्तो धर्मस् त्वयाऽनघ।
कर्मणां फलनिर्वृत्तिं शंस नस् तत्त्वतः पराम्॥१॥

हिन्दी—

मनुस्मृतेर् द्वादशेऽत्राऽध्याये भाषार्थ उच्यते।
कुल्लूकोक्तार्थमादाय शिवाख्येन द्विजन्मना॥

हे पापरहित भृगु जी, आप ने चारों वर्णों का यह सम्पूर्ण धर्म बताया, अब हम लोगों को कर्मों के फलों की अगले जन्म में होने वाली प्राप्ति को यथार्थ रूप में बताइए॥१॥

स तानुवाच धर्माऽऽत्मा महर्षीन् मानवो भृगुः।
अस्य सर्वस्य शृणुत कर्मयोगस्य निर्णयम्॥२॥

उन महर्षियों को मनुशिष्य धर्मबुद्धि उन भृगु जी ने 'इस सम्पूर्ण कर्मसम्बन्ध के फलों के निर्णय को सुनिए' ऐसा कहा॥२॥

शुभाऽशुभफलं कर्म मनो-वाग्-देहसम्भवम्।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमा-ऽधम-मध्यमाः॥३॥

मन से, वचन से और शरीर से होने वाला कर्म शुभ फलों को अथवा अशुभ फलों को देने वाला होता है। मनुष्यों की उत्तम, अधम और मध्यम गतियाँ भी कर्म से ही मिलने वाली हैं॥३॥

तस्येह त्रिविधस्याऽपि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात् प्रवर्तकम्॥४॥

इस संसार में देहधारी के मन में, वाणी में और शरीर में आश्रित उत्तम, मध्यम और अधम तीन श्रेणी के और दश लक्षणों से युक्त (मनु.१२।५-७) उस कर्म का प्रवर्तक तो मन को ही जाने॥४॥

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसाऽनिष्टचिन्तनम्।
वितथाऽभिनिवेशश् च त्रिविधं कर्म मानसम्॥५॥

परद्रव्यों को किसी तरह भी प्राप्त करने की इच्छा करना, मन से अनिष्ट (शास्त्रनिषिद्ध) कार्य करने का वारवार विचार करना, असत्य पक्ष में आग्रह करना ये मन के तीन प्रकार के (पापरूप) कर्म हैं॥५॥

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चाऽपि सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश् च वाङ्मयं स्याच् चतुर्विधम्॥६॥

कठोर वचन बोलना, झूठ बोलना, परोक्ष में दूसरे के दोषों को कहना और अपने से सर्वथा असम्बद्ध विषय में अधिक बोलना ये वाणी के चार प्रकार के (पापरूप) कर्म हैं॥६॥

अदत्तानामुपाऽऽदानं हिंसा चैवाऽविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्॥७॥

नहीं दिए गए दूसरे के द्रव्यों को लेना, शास्त्र के विधानों को छोड़कर स्वेच्छा से प्राणियों की हिंसा करना और दूसरे की पत्नी में गमन (मैथुन) करना ये शरीर से किए जाने वाले तीन प्रकार के (पापरूप) कर्म हैं॥७॥

मानसं मनसैवाऽयमुपभुङ्क्ते शुभाऽशुभम्।
वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव च कायिकम्॥८॥

[त्रिविधं च शरीरेण वाचा चैव चतुर्विधम्।
मनसा त्रिविधं कर्म दशाऽधर्मपथांस् त्यजेत्॥]

कर्म करने वाला यह देही मन से किए गए कर्म के शुभ अथवा अशुभ फल को मन से ही भोगता है, वाणी से किए गए कर्म के शुभ अथवा अशुभ फल को वाणी से ही भोगता है और शरीर से किए गए कर्म के शुभ अथवा अशुभ फल को शरीर से ही भोगता है॥८॥

[शरीर से किए जाने वाले तीन प्रकार के अशुभ (गलत) कर्मों को, वाणी से किए जाने वाले चार प्रकार के अशुभ (गलत) कर्मों को और मन से किए जाने वाले तीन प्रकार के अशुभ (गलत) कर्मों को, इन दश अधर्म के मार्गों को छोड़ दे।]

शरीरजैः कर्मदोषैर् याति स्थावरतां नरः।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्॥९॥

[शुभैः प्रयोगैर् देवत्वं व्यामिश्रैर् मानुषो भवेत्।
अशुभैः केवलैश् चैव तिर्यग्योनिषु जायते॥

वाग्दण्डो हन्ति विज्ञानं मनोदण्डः परां गतिम्।
कर्मदण्डस् तु लोकांस् त्रीन् हन्यादपरिरक्षितः॥

वाग्दण्डोऽथ भवेन् मौनं मनोदण्डस् त्वनाशनम्।
शारीरस्य हि दण्डस्य प्राणायामो विधीयते॥]

शरीर से किए गए कर्मों के दोषों से मनुष्य वृक्ष-गुल्म-लता-वल्ली-तृणादि-रूप स्थावर जाति में जन्म लेता है, वाणी से किए गए कर्मों के दोषों से मनुष्य पक्षियों की और मृगों की जाति में जन्म लेता है और मन से किए गए कर्मों के दोषों से मनुष्य अन्त्यजाति में (चण्डालादि नीच जाति में) जन्म लेता है।

[मनुष्य शुभ कर्मों से देवत्व को प्राप्त करता है, शुभ-अशुभ-मिश्रित कर्म से मनुष्य ही होता है, केवल अशुभ कर्म ही करने से पशु-पक्षिरूप तिर्यग्योनि में उत्पन्न होता है। अच्छी तरह नहीं रक्षित किया गया वाग्दण्ड विज्ञान को नष्ट करता है, मनोदण्ड मोक्षरूप परम गति को नष्ट करता है, कर्मदण्ड तीनों लोकों को नष्ट करता है। वाग्दण्ड मौन है, मनोदण्ड अनशन है और शारीरदण्ड-प्रयोग तो प्राणायाम रूप में किया जाता है।]

विशेष— छान्दोग्योपनिषद् में (५।१०।७) सुकर्म से उत्तम योनि में और दुष्कर्म से अधम योनि में जन्म होने की बात स्पष्ट रूप में बताई गई है॥९॥

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस् तथैव च।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते॥१०॥

वाणी का दण्ड (वाणी का नियमन), मन का दण्ड (मन का नियमन) और शरीर का दण्ड (शरीर का नियमन) जिस की बुद्धि में स्थिर रूप में रहे हैं वह त्रिदण्डी कहा जाता है॥१०॥

त्रिदण्डमेतन् निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः।
कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति॥११॥

सभी प्राणियों के विषय में इन तीन दण्डों को प्रयोग में लाकर (सभी प्राणियों से व्यवहार करने में वाग्नियमनादि का प्रयोग करके) और काम को तथा क्रोध को भी नियन्त्रित करके उस से मनुष्य सिद्धि को (मोक्ष को) प्राप्त करता है॥११॥

योऽस्याऽऽत्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते।
यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः॥१२॥

इस शरीररूप आत्मा को काम में लगाने वाला जो है उसको (अन्तःकरणोपाधिक चैतन्य को) क्षेत्रज्ञ कहते हैं। जो काम करता है वह (शरीर) समझदार मनुष्यों से भूतात्मा कहा जाता है॥१२॥

जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम्।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु॥१३॥

उन दोनों से भिन्न, सभी प्राणियों का सहजात जीव नाम का अन्तरात्मा (अन्तःकरणाऽभिमानी) है, जिस के कारण से मनुष्य नाना जन्मों में सभी प्रकार के सुख को और दुःख को जानता है॥१३॥

तावुभौ भूतसम्पृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव च।
उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः॥१४॥

महान् (अन्तःकरणाऽभिमानी जीव) और क्षेत्रज्ञ (अन्तःकरणोपाधिक जीव-साक्षी) वे दोनों भूतों से (बुद्धि, इन्द्रिय इत्यादि महाभूतविकारों से) मिले हुए होकर नाना प्रकार के भूतों में व्याप्त होकर रहते हुए उस परमात्मा में आश्रित रहते हैं॥१४॥

असङ्ख्या मूर्तयस् तस्य निष्पतन्ति शरीरतः।
उच्चावचानि भूतानि सततं चेष्टयन्ति याः॥१५॥

उस परमात्मा के शरीर से असङ्ख्य मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जो नाना प्रकार के प्राणियों को निरन्तर क्रियाशील कराती हैं॥१५॥

पञ्चभ्य एव मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम्।
शरीरं यातनार्थीयमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम्॥१६॥

मरने पर यमलोक में पापी मनुष्यों का यातना भोगने वाला दूसरा विलक्षण शरीर पाँचो महाभूतों से अवश्य उत्पन्न होता है।

विशेष– दूसरे लोक में जाता हुआ जीव भूतसूक्ष्मों से परिवेष्टित होकर ही जाता है। यह विषय चौखम्बा विद्याभवन से प्रकाशित ब्रह्ममीमांसासूत्र की कौण्डिन्यायनवृत्ति (२००२ क्रै.) में स्पष्टता से प्रतिपादित है (३।१।१-२१), उसको जिज्ञासु सज्जन वहाँ देखें॥१६॥

तेनाऽनुभूय ता यामीः शरीरेणेह यातनाः।
तास्वेव भूतमात्रासु प्रलीयन्ते विभागशः॥१७॥

इस यमलोक में यमराज से दी जानी वाली यातनाओं को उस शरीर से अनुभव करने का कार्य समाप्त होने पर उस शरीर का आरम्भ करने वाले पाँच महाभूत अलग-अलग होकर उन्हीं महाभूतों के सूक्ष्म रूपों में ही विलीन हो जाते हैं।

विशेष– यहाँ पर कुल्लूक का अर्थ चिन्त्य है॥१७॥

सोऽनुभूयाऽसुखोदर्कान् दोषान् विषयसङ्गजान्।
व्यपेतकल्मषोऽभ्येति तावेवोभौ महौजसौ ॥१८॥

वह देही (अन्तःकरणाऽभिमानी जीव) विषयों की आसक्ति से उत्पन्न दुःख-फल वाले दोषों का (निन्दित कर्मों का) अनुभव करके पाप दूर होने पर उन्हीं महातेजस्वी क्षेत्रज्ञ (जीवसाक्षी) के और परमात्मा के पास में आ जाता है।

विशेष— यह लाक्षणिक कथन है।।१८।।

तौ धर्मं पश्यतस् तस्य पापं चाऽतन्द्रितौ सह।
याभ्यां प्राप्नोति सम्पृक्तः प्रेत्येह च सुखाऽसुखम् ॥१९॥

वे दोनों (जीवसाक्षी और परमात्मा) जागरूक होकर साथ-साथ में उसके धर्म का और पाप का अवलोकन करते हैं; जिन धर्म से और पाप से संयुक्त होकर देही परलोक में और इस लोक में भी सुख-दुःख को प्राप्त करता है।।१९।।

यद्याचरति धर्मं स प्रायशोऽधर्ममल्पशः।
तैरेव चाऽऽवृतो भूतैः स्वर्गे सुखमुपाऽश्नुते ॥२०॥

यदि वह देही बहुत धर्म करता है और थोडा ही पाप करता है तो वह उन्ही महाभूतों से आवेष्टित होकर स्वर्ग में सुख भोगता है।।२०।।

यदि तु प्रायशोऽधर्मं सेवते धर्ममल्पशः।
तैर् भूतैः स परिष्वक्तो यामीः प्राप्नोति यातनाः ॥२१॥

यदि वह देही बहुत पाप करता है और थोडा ही धर्म करता है तो वह उन भोगार्थक शरीर के आरम्भक महाभूतों से युक्त होता है [तथा यमयातना के लिए योग्य शरीर को लेता है]। और यमराज से दी जाने वाली यातनाओं को (अतिकष्टों को) प्राप्त करता है।

विशेष— यहाँ पर ब्रह्ममीमांसासूत्र का **"तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः, प्रश्ननिरूपणाभ्याम्"** (३।१।१) इत्यादि सन्दर्भ और उसका व्याख्यान स्मरणीय है। इस प्रकरण का विशेष व्याख्यान ब्रह्ममीमांसासूत्र-कौण्डिन्न्यायनवृत्ति में द्रष्टव्य है।।२१।।

यामीस् ता यातनाः प्राप्य स जीवो वीतकल्मषः।
तान्येव पञ्चभूतानि पुनरप्येति भागशः ॥२२॥

यमराज से दी जाने वाली उन यातनाओं को (महाकष्टों को) पाकर पाप दूर होने पर वह जीव फिर उन्हीं पाँच महाभूतों के भागों को प्राप्त करता है (मनुष्यादि-शरीराऽऽरम्भक भूतसूक्ष्मों को प्राप्त करता है)।।२२।।

एता दृष्ट्वाऽस्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा।
धर्मतोऽधर्मतश् चैव धर्मे दध्यात् सदा मनः॥२३॥

जीव की धर्म से और अधर्म से होने वाली स्वर्ग-नरक-मनुष्यलोकों की इन (कही गई) गतियों को अपनी ही बुद्धि से देखकर मनुष्य सर्वदा धर्म में ही मन को लगाए॥२३॥

सत्त्वं रजस् तमश् चैव त्रीन् विद्यादात्मनो गुणान्।
यैर् व्याप्येमान् स्थितो भावान् महान् सर्वानशेषतः॥२४॥

सत्त्व, रज और तम इन तीन को महान् आत्मा का गुण जाने, जिन गुणों से संसार के इन सभी पदार्थों को सम्पूर्ण रूप में व्याप्त करके महान् आत्मा रहा है॥२४॥

यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनाऽतिरिच्यते।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम्॥२५॥

जिस समय में इन गुणों में से जो गुण शरीर में सब से अधिक होता है उस समय में वह गुण उस शरीरी को (जीव को) उसी गुण से पूर्णतया व्याप्त करता है॥२५॥

सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम्।
एतद् व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताऽऽश्रितं वपुः॥२६॥

सत्त्वगुण ज्ञानकारक समझा गया है, तमोगुण अज्ञानकारक समझा गया है, रजोगुण राग-द्वेषकारक समझा गया है। इन गुणों का सभी प्राणियों में आश्रित यह स्वरूप व्यापक रूप है॥२६॥

तत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत्।
प्रशान्तमिव शुद्धाऽऽभं सत्त्वं तदुपधारयेत्॥२७॥

उनमें आत्मा में (शरीर में) जो कुछ भी सुखयुक्त, शान्तिमय और शुद्ध-प्रकाशरूप तत्त्व पाए उसको सत्त्व गुण जाने॥२७॥

यत् तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः।
तद् रजः प्रतीपं विद्यात् सततं हारि देहिनाम्॥२८॥

आत्मा में (शरीर में) जो कुछ भी दुःखयुक्त, अपने को सन्तुष्टि नहीं देने वाला, प्राणियों को निरन्तर विषयभोग की ओर प्रवृत्त करने वाला सत्त्व का प्रतिकूल गुण है उसको रजोगुण जाने॥२८॥

यत् तु स्यान् मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयाऽऽत्मकम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस् तदुपधारयेत्॥२९॥

आत्मा में (शरीर में) जो कुछ भी मोहयुक्त, अस्पष्ट, विषयाऽऽसक्तियुक्त, अतर्कणीय और यथार्थ रूप में जानने के लिए अयोग्य गुण है उसको तमोगुण जाने॥२९॥

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः।
अग्र्यो मध्यो जघन्यश् च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥३०॥

इन तीनों गुणों से जो उत्तम, मध्यम और अधम फल की प्राप्ति होती है उसको मैं सम्पूर्ण रूप में बताऊँगा॥३०॥

वेदाऽभ्यासस् तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धर्मक्रियाऽऽत्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम्॥३१॥

वेद का अभ्यास, तपस्या, ज्ञान, शुद्धता, इन्द्रियों का नियन्त्रण, धर्मकार्य और आत्मविचार ये सत्त्वगुण से होने वाले गुणकार्य हैं॥३१॥

आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः।
विषयोपसेवा चाऽजस्रं राजसं गुणलक्षणम्॥३२॥

फलविशेष के लिए कामों के आरम्भ करने में रुचि होना, अधैर्य, असत् काम का आरम्भ, निरन्तर विषयों का भोग ये रजोगुण से होने वाले गुणकार्य हैं॥३२॥

लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता।
याचिष्णुता प्रमादश् च तामसं गुणलक्षणम्॥३३॥

लोभ, निद्रा, अधैर्य, क्रूरता, वेदोक्त परलोक में अविश्वास, सदाचारमार्ग का त्याग, माँगने का स्वभाव और असावधानता ये तमोगुण से होने वाले गुणकार्य हैं॥३३॥

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम्।
इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम्॥३४॥

शरीर, इन्द्रिय और मन तीनों में रहने वाले इन तीनों गुणों के सङ्क्षेप में क्रमशः यह गुणकार्य जानना चाहिए॥३४॥

यत् कर्म कृत्वा कुर्वंश् च करिष्यंश् चैव लज्जति।
तज् ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम्॥३५॥

जिस कार्य को करके, करता हुआ और करने वाला होकर भी मनुष्य लोक के सामने लज्जा का अनुभव करता है विवेकशील मनुष्य से वह सब तमोगुण से होने वाला गुणकार्य समझा जाना चाहिए॥३५॥

येनाऽस्मिन् कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम्।
न च शोचत्यसम्पत्तौ तद् विज्ञेयं तु राजसम्॥३६॥

जिस कार्य से मनुष्य लोक में अपनी बड़ी प्रसिद्धि चाहता है, जिस कार्य से फल प्राप्त न होने पर भी चिन्ता नहीं करता है वह काम रजोगुण से हुआ काम समझा जाना चाहिए॥३६॥

यत् सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन् न लज्जति चाऽऽचरन्।
येन तुष्यति चाऽऽत्माऽस्य तत् सत्त्वगुणलक्षणम्॥३७॥

जिस सम्पूर्ण कार्य से मनुष्य ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, जिस कार्य को करता हुआ लज्जा का अनुभव नहीं करता है, जिस काम से इसका अन्तरात्मा पूर्ण रूप में सन्तुष्ट होता है वह कार्य सत्त्व गुण से हुआ कार्य समझा जाना चाहिए॥३७॥

तमसो लक्षणं कामो रजसस् त्वर्थ उच्यते।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम्॥३८॥

तमोगुण का कार्य कामप्रधानता है, रजोगुण का कार्य अर्थप्रधानता है और सत्त्वगुण का कार्य धर्मप्रधानता है, इन में पूर्व-पूर्व से उत्तर-उत्तर की श्रेष्ठता है (कामप्रधानता से अर्थप्रधानता श्रेष्ठ है, अर्थप्रधानता से धर्मप्रधानता श्रेष्ठ है)॥३८॥

येन यांस् तु गुणेनैषां संसारान् प्रतिपद्यते।
तान् समासेन वक्ष्यामि सर्वस्याऽस्य यथाक्रमम्॥३९॥

इन गुणों में से जिस गुण से युक्त जो प्राणी जिन संसारों को (गतियों को) प्राप्त करता है इस सम्पूर्ण प्राणिजगत् के उन संसारों को (गतियों को) क्रम से संक्षेप में बताऊँगा॥३९॥

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः॥४०॥

सत्त्वगुणप्रधान प्राणी सदा देवत्व में पहुँचते हैं, रजोगुणप्रधान प्राणी सदा मनुष्यत्व में पहुँचते हैं और तमोगुणप्रधान प्राणी सदा पशु-पक्षिरूप तिर्यक्त्व में पहुँचते हैं, यह तीन प्रकार की गति है॥४०॥

त्रिविधात्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः ।
अधमा मध्यमाऽग्र्या च कर्मविद्याविशेषतः ॥४१॥

गुणों से होने वाली ये तीन प्रकार की गतियाँ प्रत्येक कर्म की और विद्या की विशेषताओं से अधम, मध्यम और उत्तम तीन प्रकार की समझी जानी चाहिए॥४१॥

स्थावराः कृमिकीटाश् च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः ।
पशवश् च मृगाश् चैव जघन्या तामसी गतिः ॥४२॥

वृक्ष-लतादि स्थावर, छोटे बडे कीडे, मछलियाँ, साँप, कछुवे, पशु और मृग ये तमोगुण से होने वाली अधम गति के परिणाम हैं॥४२॥

हस्तिनश् च तुरङ्गाश् च शूद्रा म्लेच्छाश् च गर्हिताः ।
सिंहा व्याघ्रा वराहाश् च मध्यमा तामसी गतिः ॥४३॥

हाथी, घोडे, निन्दित शूद्र, निन्दित म्लेच्छ, सिंह (शेर), बाघ, सूअर ये तमोगुण से होने वाली मध्यम गति के परिणाम हैं॥४३॥

चारणाश् च सुपर्णाश् च पुरुषाश् चैव दाम्भिकाः ।
रक्षांसि च पिशाचाश् च तामसीषूत्तमा गतिः ॥४४॥

चारण लोग (स्तुतिपाठक), गरुड, दाम्भिक मनुष्य, राक्षस और पिशाच ये तमोगुण से होने वाली उत्तम गति के परिणाम हैं॥४४॥

झल्ला मल्ला नटाश् चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः ।
द्यूतपानप्रसक्ताश् च जघन्या राजसी गतिः ॥४५॥

(व्रात्यक्षत्रियोत्पन्न) झल्ल और मल्ल, नर्तक, शस्त्रधारी मनुष्य, जुए में और मद्यपान में आसक्त मनुष्य ये रजोगुण से होने वाली अधम गति के परिणाम हैं॥४५॥

राजानः क्षत्रियाश् चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः ।
वादयुद्धप्रधानाश् च मध्यमा राजसी गतिः ॥४६॥

राजा लोग, क्षत्रिय, राजाओं के पुरोहित लोग, वादविवाद में और युद्ध में आसक्त मनुष्य ये रजोगुण से होने वाली मध्यम गति के परिणाम हैं॥४६॥

गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधाऽनुचराश् च ये ।
तथैवाऽप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः ॥४७॥

गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष, जो देवताओं के अनुचर हैं वे और सभी अप्सराएँ ये रजोगुण से होने वाली गतियों में उत्तम गति के परिणाम हैं॥४७॥

तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः।
नक्षत्राणि च दैत्याश् च प्रथमा सात्त्विकी गतिः ॥४८॥

वानप्रस्थ लोग, सन्न्यासी लोग, ब्राह्मण, जो विमान में विहार करने वाले देवगण हैं वे, नक्षत्र और दैत्य ये सत्त्वगुण से प्राप्त होने वाली अधम गति के परिणाम हैं॥४८॥

यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः।
पितरश् चैव साध्याश् च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥४९॥

सोमयाग करने वाले ब्राह्मण, ऋषि लोग, देवता लोग, वेदाभिमानिनी देवताएँ, ध्रुवप्रभृति ज्योति; संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर इत्यादि वत्सरों के अभिमानिनी देवताएँ, पितर लोग, साध्य देवगण ये सत्त्वगुण से प्राप्त होने वाली मध्यम गति के परिणाम हैं॥४९॥

ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर् मनीषिणः ॥५०॥

ब्रह्मा जी, मरीचि इत्यादि लोकसर्जक प्रजापति महर्षि लोग, धर्म, महान् (महत्तत्त्वदेवता) और अव्यक्त (अव्यक्तदेवता) इन को धर्मतत्त्वज्ञानी लोग सत्त्वगुण से प्राप्त होने वाली उत्तम गति का परिणाम बताते हैं।

विशेष– यहाँ "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः" इत्यादि श्रुतिवाक्य में उल्लिखित और ब्रह्ममीमांसासूत्र में निर्णीत महान् और अव्यक्त लिया जाना उचित दिखाई देता है (द्र.– चौखम्बा विद्याभवन से प्रकाशित ब्रह्ममीमांसासूत्र की हमारी कौण्डिन्न्यायनवृत्ति १।४।१–७)। कुल्लूकभट्ट का अर्थ चिन्त्य है॥५०॥

एष सर्वः समुद्दिष्टस् त्रिप्रकारस्य कर्मणः।
त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौतिकः ॥५१॥

सात्त्विक, राजस और तामस इन तीन प्रकार के कर्मों के फल के रूप में प्राप्त होने वाला, प्रत्येक कर्म के तीन-तीन प्रकार का, सभी भूतों से (प्राणियों से) पाया जा सकने वाला यह सब निश्शेष संसार (गतिविशेष) निर्दिष्ट किया गया॥५१॥

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्याऽसेवनेन च।
पापान् संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥५२॥

असमझदार नीच मनुष्य विषयों में इन्द्रियों की आसक्ति से और धर्म का (प्रायश्चित्तों का) सेवन न करने से भी अधम गतियों को प्राप्त करते हैं॥५२॥

यांयां योनिं तु जीवोऽयं येनयेनेह कर्मणा।
क्रमशो याति लोकेऽस्मिंस् तत्तत् सर्वं निबोधत ॥५३॥

यह जीव इस लोक में किए गए जिस-जिस कर्म से इस लोक में जिस-जिस योनि में क्रमशः जाता है उस सब बात को आप लोग जानिए॥५३॥

बहून् वर्षगणान् घोरान् नरकान् प्राप्य तत्क्षयात्।
संसारान् प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस् त्विमान् ॥५४॥

महापातकी लोग तो बहुत वर्षसमूह तक घोर नरक में वास करके नरकभोग क्षीण होने पर इन (आगे बताए जा रहे) संसारों को (गतियों को अथवा योनियों को) प्राप्त करते हैं॥५४॥

श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोऽजाऽविमृगपक्षिणाम्।
चण्डालपुक्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥५५॥

ब्रह्महत्या करने वाला महापातकी क्रमशः कुत्ते की, सूअर की, गधे की, ऊँट की, गौ की, बकरे की, भेड़ की, मृग की, पक्षी की, चण्डाल की और पुक्कस की योनि में जाता है॥५५॥

कृमिकीटपतङ्गानां विड्भुजां चैव पक्षिणाम्।
हिंस्राणां चैव सत्त्वानां सुरापो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥५६॥

सुरापान करने वाला ब्राह्मण क्रमशः छोटे कीड़े की, बड़े कीड़े की, पतिङ्गे की, विष्ठा खाने वाले पक्षी की और हिंसाशील चीता बाघ शेर इत्यादि प्राणियों की योनि में जाएगा॥५६॥

लूताऽहिसरटानां च तिरश्चां चाऽम्बुचारिणाम्।
हिंस्राणां च पिशाचानां स्तेनो विप्रः सहस्रशः ॥५७॥

ब्राह्मण के एक तोला भर अथवा उस से अधिक सोना चुराने वाला ब्राह्मण हजारों वार क्रमशः मकड़ी की, साँप की, गिरगिट की, जल में रहने वाले ग्राहादि तिर्यग्जातियों की और हिंसाशील पिशाचों की योनियों में जाएगा॥५७॥

तृणगुल्मलतानां च क्रव्यादां दंष्ट्रिणामपि।
क्रूरकर्मकृतां चैव शतशो गुरुतल्पगः ॥५८॥

गुरु की (पिता की) पत्नी से सम्भोग (मैथुन) करने वाला ब्राह्मण सैकडों वार तृणों की, गुल्मों की, लताओं की, कच्चे मांस खाने वाले गिद्ध चील इत्यादि

पक्षियों की, चीता बाघ इत्यादि दाढ़ों वाले जानवरों की और क्रूर कर्म करने वाले सिंह इत्यादि की योनि में जाएगा॥५८॥

हिंस्रा भवन्ति क्रव्यादाः कृमयोऽभक्ष्यभक्षिणः।
परस्परादिनः स्तेनाः प्रेताऽन्त्यस्त्रीनिषेविणः॥५९॥

हिंसाशील ब्राह्मण दूसरे जन्म में कच्चे मांस खाने वाले प्राणी होते हैं, अभक्ष्य खाने वाले ब्राह्मण दूसरे जन्म में कीड़े होते हैं, महापातकभिन्न चोरी करने वाले ब्राह्मण दूसरे जन्म में परस्पर में एक दूसरे को खाने वाले प्राणी होते हैं, और चण्डालादि स्त्री से सम्भोग (मैथुन) करने वाले ब्राह्मण प्रेत होते हैं।

विशेष— यहाँ पर "प्रेताऽन्त्यस्त्रीनिषेविणः" यह प्रयोग आर्ष है। इस लिए यहाँ 'प्रेताः अन्त्यस्त्रीनिषेविणः' ऐसा पदच्छेद मानकर अर्थ बताया गया है॥५९॥

संयोगं पतितैर् गत्वा परस्यैव च योषितम्।
अपहृत्य च विप्रस्वं भवति ब्रह्मराक्षसः॥६०॥

पतितों से पतनजनक संसर्ग करने पर, परस्त्री में गमन (मैथुन) करने पर और ब्राह्मण के धन की चोरी करने पर भी ब्राह्मण दूसरे जन्म में ब्रह्मराक्षस होगा॥६०॥

मणिमुक्ताप्रबालानि हृत्वा लोभेन मानवः।
विविधानि च रत्नानि जायते हेमकर्तृषु॥६१॥

लोभ से रत्न की, मोती की, मूँगे की और हीरा वैदूर्य इत्यादि नाना प्रकार के रत्नों की चोरी करने से मनुष्य दूसरे जन्म में सुवर्णकारादि सोना चुराने वालों की योनि में जन्म लेता है॥६१॥

धान्यं हृत्वा भवत्याखुः कांस्यं हंसो जलं प्लवः।
मधु दंशः पयः काको रसं श्वा नकुलो घृतम्॥६२॥

मनुष्य धान्य चुराकर दूसरे जन्म में चूहा होता है, काँसे को चुराकर बत्तख होता है, जल चुराकर प्लव (जलकौआ) होता है, मधु (शहद) चुराकर वनमक्षिका होता है, दूध चुराकर कौआ होता है, रस (अम्ल कटु इत्यादि) चुराकर कुत्ता होता है, घी चुराकर नेवला होता है॥६२॥

मांसं गृध्रो वपां मद्गुस् तैलं तैलपकः खगः।
चीरीवाकस् तु लवणं बलाका शकुनिर् दधि॥६३॥

मांस चुराकर मनुष्य दूसरे जन्म में गीध होता है, चर्बी चुराकर मद्गु नाम का जलचर पक्षी होता है, तेल चुराकर तैलपक नाम का पक्षी होता है, नमक चुराकर झींगुर होता है, दही चुराकर बलाका नाम का पक्षी होता है॥६३॥

कौशेयं तित्तिरिर् हृत्वा क्षौमं हृत्वा तु दर्दुरः।
कार्पासतान्तवं क्रौञ्चो गोधा गां वाग्गुदो गुडम् ॥६४॥

रेशमी वस्त्र चुराकर मनुष्य दूसरे जन्म में तीतर होता है, क्षौमवस्त्र चुराकर मेढ़क होता है, रुई के सूत से बने हुए वस्त्र को चुराकर क्रौञ्च पक्षी होता है, गौ चुराकर गोधा (गोह) होता है, गुड चुराकर वाग्गुद नाम का पक्षी होता है॥६४॥

छुच्छुन्दरिः शुभान् गन्धान् पत्रशाकं तु बर्हिणः।
श्वावित् कृताऽन्नं विविधमकृतान्नं तु शल्यकः ॥६५॥

शुभ गन्धद्रव्यों को चुराकर मनुष्य दूसरे जन्म में छुछुन्दरी होता है, पत्तों वाला शाक चुराकर मोर होता है, विभिन्न पकवान चुराकर साही होता है, विभिन्न कच्चा अन्न चुराकर शालक होता है॥६५॥

बको भवति हृत्वाऽग्निं गृहकारी ह्युपस्करम्।
रक्तानि हृत्वा वासांसि जायते जीवजीवकः ॥६६॥

आग चुराकर मनुष्य दूसरे जन्म में बगुला होता है, घर के उपकरणों को चुराकर गृहकारी कीड़ा होता है, लाल रंग के वस्त्रों को चुराकर चकोर पक्षी होता है॥६६॥

वृको मृगेभं व्याघ्रोऽश्वं फलमूलं तु मर्कटः।
स्त्रीमृक्षः स्तोकको वारि यानान्युष्ट्रः पशूनजः ॥६७॥

मृग अथवा हाथी चुराकर मनुष्य दूसरे जन्म में भेड़िया होता है, घोड़ा चुराकर बाघ होता है, फल अथवा मूल चुराकर बन्दर होता है, स्त्री चुराकर भालू होता है, पानी चुराकर चातक पक्षी होता है, गाड़ी रथ पालकी डोला इत्यादि यान चुराकर ऊँट होता है, पशुओं को चुराकर बकरा होता है॥६७॥

यद् वा तद् वा परद्रव्यमपहृत्य बलान् नरः।
अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाऽहुतं हविः ॥६८॥

जो कुछ भी परधन को बलपूर्वक हरण करके मनुष्य दूसरे जन्म में पशु-पक्षी इत्यादि तिर्यग्योनि में जन्म लेने को अवश्य ही जाता है। हवन के लिए तैयार किए गए हवि को हवन के विना ही खाकर भी मनुष्य दूसरे जन्म में अवश्य ही तिर्यग्योनि में जन्म लेने को जाता है॥६८॥

स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन हृत्वा दोषमवाप्नुयुः।
एतेषामेव जन्तूनां भार्यात्वमुपयान्ति ताः ॥६९॥

इस प्रकार से चुराकर स्त्रियाँ भी पाप प्राप्त करेंगी, वे दूसरे जन्म में इन्ही जन्तुओं की स्त्रियाँ होने में प्राप्त होंगी॥६९॥

स्वेभ्यःस्वेभ्यस् तु कर्मभ्यश् च्युता वर्णा ह्यनापदि।
पापान् संसृत्य संसारान् प्रेष्यतां यान्ति शत्रुषु ॥७०॥

आपत्काल न होने पर भी अपने-अपने शास्त्रविहित कर्मों से विचलित ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्ण के लोग अनेक पापयोनियों में जन्म लेकर शत्रुओं के नौकर होने को जाते हैं॥७०॥

वान्ताऽश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात् स्वकाच् च्युतः।
अमेध्यकुणपाऽशी च क्षत्रियः कटपूतनः ॥७१॥

अपने धर्म से च्युत ब्राह्मण दूसरे जन्म में वमन किए हुए पदार्थ को खाने वाला अन्वर्थनामा ज्वालामुखनामक प्रेत होता है। अपने धर्म से च्युत क्षत्रिय अशुद्ध मूर्दे को खाने वाला कटपूतन नाम का प्रेत होता है॥७१॥

मैत्राऽक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक्।
चैलाऽऽशकश् च भवति शूद्रो धर्मात् स्वकाच् च्युतः ॥७२॥

अपने धर्म से भ्रष्ट वैश्य पीव खाने वाला मैत्राक्षज्योतिक नाम का प्रेत होता है। अपने धर्म से विचलित शूद्र चैलाशक नाम का प्रेत होता है॥७२॥

यथायथा निषेवन्ते विषयान् विषयाऽऽत्मकाः।
तथातथा कुशलता तेषां तेषूपजायते ॥७३॥

शब्दादि विषयों में आसक्त बुद्धि वाले मनुष्य जैसे-जैसे विषयों का भोग करते हैं वैसे-वैसे उनकी उन विषयों के भोग में निपुणता उत्पन्न होती है॥७३॥

तेऽभ्यासात् कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः।
सम्प्राप्नुवन्ति दुःखानि तासुतास्विह योनिषु ॥७४॥

अल्पबुद्धि वाले वे लोग उन पापरूप कर्मों को वारवार दुहराने से इस लोक में उन-उन पापयोनियों में जन्म लेकर दुःखों को प्राप्त करते हैं॥७४॥

तामिस्रादिषु चोग्रेषु नरकेषु विवर्तनम्।
असिपत्रवनादीनि बन्धनच्छेदनानि च ॥७५॥

वे शास्त्रनिषिद्ध आचरण करने वाले पापी लोग तामिस्र, अन्धतामिस्र इत्यादि घोर नरकों में भ्रमण को, असिपत्रवन इत्यादि नरकों को, बन्धनरूप के नरकों को, और छेदनरूप के नरकों को भी प्राप्त करते हैं॥७५॥

विविधाश् चैव सम्पीडाः काकोलूकैश् च भक्षणम्।
करम्भवालुकातापान् कुम्भीपाकांश् च दारुणान्॥७६॥

वे पापी लोग नाना प्रकार के कष्टों को, कौए उल्लू इत्यादि से खाए जाने को, कीचड़ और बालू के ताप को और कठोर कुम्भीपाकों को भी प्राप्त करते हैं॥७६॥

सम्भवांश् च वियोनीषु दुःखप्रायासु नित्यशः।
शीतातपाऽभिघातांश् च विविधानि भयानि च॥७७॥

वे शास्त्रनिषिद्ध आचरण करने वाले पापी लोग सर्वदा दुःखपूर्ण पापयोनियों में होने वाले जन्मों को, जाड़े से और धूप से होने वाली पीडाओं को और नाना प्रकार के डरों को भी प्राप्त करते हैं॥७७॥

असकृद् गर्भवासेषु वासं जन्म च दारुणम्।
बन्धनानि च कष्टानि परप्रेष्यत्वमेव च॥७८॥

वे पापी लोग अनेक वार गर्भाशयों में कष्टमय वासों को और कष्टमय जन्मों को, तथा कष्टकर बन्धनों को और शत्रु के घर में दासत्व को भी प्राप्त करते हैं॥७८॥

बन्धुप्रियवियोगांश् च संवासं चैव दुर्जनैः।
द्रव्याऽर्जनं च नाशं च मित्राऽमित्रस्य चाऽर्जनम्॥७९॥

वे पापी लोग बन्धुओं से और प्रियजनों से वियोगों को, दुर्जनों से सहवास को, (कष्ट से) धन के आर्जन को और उसके नाश को तथा मित्रों के और शत्रुओं के प्रादुर्भाव को भी प्राप्त करते हैं॥७९॥

जरां चैवाऽप्रतीकारां व्याधिभिश् चोपपीडनम्।
क्लेशांश् च विविधास् तांस्तान् मृत्युमेव च दुर्जयम्॥८०॥

वे पापी लोग नहीं हटाए जा सकने वाले बुढ़ापे को, नाना प्रकार के रोगों से होने वाली पीडाओं को, अनेक प्रकार के उन-उन दुःखों को और दुःख से ही जीते जा सकने वाले मृत्यु को भी प्राप्त करते हैं॥८०॥

यादृशेन तु भावेन यद्यत् कर्म निषेवते।
तादृशेन शरीरेण तत्तत् फलमुपाऽश्नुते॥८१॥

जिस प्रकार के भाव से मनुष्य जो-जो कर्म करता है उसी प्रकार के शरीर से उस-उस कर्म के फलों को भोगता है॥८१॥

एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोदयः।
नैश्श्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत॥८२॥

यह कर्मों के फलों की उत्पत्ति सम्पूर्ण रूप में आप लोगों को (सङ्क्षेप से) बताई गई। (अब) ब्राह्मण के मोक्ष कराने वाले इस (आगे बताए जा रहे) कर्म को जानिए॥८२॥

वेदाऽभ्यासस् तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः।
अहिंसा गुरुसेवा च निश्श्रेयसकरं परम्॥८३॥

वेद का अभ्यास, तपस्या, ज्ञान, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा और गुरु की सेवा भी उत्तम मोक्षसाधन है॥८३॥

सर्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह कर्मणाम्।
किञ्चिच् छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति॥८४॥

इन सभी शुभ कर्मों में से भी इस लोक में मनुष्य के लिए कोई एक कर्म अधिक कल्याणकारक बताया गया है॥८४॥

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद् ह्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥८५॥

इन सभी कर्मों में से आत्मज्ञान सब से उत्तम समझा गया है, वही सभी विद्याओं में श्रेष्ठ है क्योंकि उस से अमृत (मोक्ष) पाया जाता है॥८५॥

षण्णामेषां तु पूर्वेषां कर्मणां प्रेत्य चेह च।
श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम्॥८६॥

इन पूर्वोक्त वेदाभ्यास इत्यादि सभी छहों कर्मों में से परलोक के लिए और इस लोक के लिए भी सर्वदा वैदिक कर्म अधिक कल्याणकारी समझा जाना चाहिए॥८६॥

वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः।
अन्तर्भवन्ति क्रमशस् तस्मिंस्तस्मिन् क्रियाविधौ॥८७॥

वैदिक कर्मयोग में तो ये वेदाभ्यास इत्यादि सभी कर्म निश्शेष रूप में उस-उस क्रियाविधि में क्रमशः अन्तर्भूत होते हैं॥८७॥

सुखाऽभ्युदयिकं चैव नैश्श्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्॥८८॥

वैदिक कर्म सुख और स्वर्ग देने वाला तथा मोक्ष देने वाला अथवा प्रवृत्तकर्म और निवृत्तकर्म इन रूपों में दो प्रकार का है॥८८॥

इह चाऽमुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते॥८९॥
[अकामोपहतं नित्यं निवृत्तं च विधीयते।
कामतस् तु कृतं कर्म प्रवृत्तमुपदिश्यते॥]

इस लोक में ही फल पाने की इच्छा से और परलोक में फल पाने की इच्छा से किया जाने वाला काम्यकर्म प्रवृत्तकर्म कहा जाता है, किसी फल की भी कामना से रहित और ज्ञानपूर्वक किया जाने वाला कर्म निवृत्तकर्म कहा जाता है॥८९॥

[कामना से अदूषित नित्यकर्म निवृत्तकर्म के रूप में किया जाता है, कामना से प्रेरित होकर किया गया कर्म प्रवृत्तकर्म बताया जाता है।]

प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्।
निवृत्तं सेवमानस् तु भूतान्यत्येति पञ्च वै॥९०॥

ब्राह्मण प्रवृत्त कर्मों का सेवन करके देवताओं की समता में प्राप्त होते हैं। निवृत्त कर्मों को सेवन करता हुआ तो ब्राह्मण आकाशादि पाँच महाभूतों को लांघकर (परब्रह्म में) जाता है॥९०॥

सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥९१॥

सभी प्राणियों में आत्मा को और सभी प्राणियों को आत्मा में भी समान रूप से देखता हुआ आतमयाजी ब्राह्मण स्वप्रकाश-ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है॥९१॥

यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद् वेदाऽभ्यासे च यत्नवान्॥९२॥

ब्राह्मण शास्त्र में विहित अन्य कर्मों को छोड़कर भी आत्मज्ञान में, अन्तःकरण को संयत करने में और वेद के अभ्यास में भी प्रयत्नरत होवे॥९२॥

एतद् हि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः।
प्राप्यैतत् कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नाऽन्यथा॥९३॥

विशेष करके ब्राह्मण के लिए यही आत्मज्ञानादि की साधना जन्म की सफलता है, क्योंकि ब्राह्मण इन आत्मज्ञानादि को प्राप्त करके ही कृतकृत्य (अपना कर्तव्य पूर्ण करने वाला) होता है, अन्यथा कृतकृत्य नहीं होता है॥९३॥

पितृदेवमनुष्याणां वेदश् चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाऽप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥९४॥

वेद पितरों का, देवताओं का और मनुष्यों का भी सनातन (अनादि) नेत्र है, वेदशास्त्र निर्मित नहीं किया जा सकने वाला और परिच्छिन्न (परिमाण में सर्वथा निश्चित) भी नहीं किया जा सकने वाला है, ऐसी धर्मशास्त्र की व्यवस्था है॥९४॥

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश् च काश् च कुदृष्टयः।
सर्वास् ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥९५॥

जो वेदबाह्य (वेद का अनुगमन नहीं करने वाली) स्मृतियाँ हैं और जो कुछ वेदविरोधी दृष्टियाँ (मत) हैं वे सब परलोक में कुछ भी फल नहीं देने वाली हैं, क्योंकि वे नरकप्रद समझी गई हैं॥९५॥

उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥९६॥

इस से (वेद से) भिन्न (अवेदमूलक) जो कोई मत उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होते हैं वे अर्वाचीन काल में उत्पन्न होने से (अनादि-अनपभ्रष्ट न होने से) धर्मप्रतिपादन में निष्फल (असमर्थ) होते हैं और असत्य भी हैं॥९६॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश् चत्वारश् चाऽऽश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥९७॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये अलग-अलग चार वर्ण; भूलोक, अन्तरिक्षलोक और स्वर्गलोक ये तीन अलग-अलग लोक; ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और सन्न्यासाश्रम ये चार अलग-अलग आश्रम; भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीन अलग-अलग काल; ये सब वेद से सिद्ध होते हैं॥९७॥

शब्दः स्पर्शश् च रूपं च रसो गन्धश् च पञ्चमः।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः ॥९८॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पाँचवाँ गन्ध भी सृज्यमान प्राणी के अङ्गरूप कर्म के द्वारा वेद से ही उत्पन्न होते हैं॥९८॥

बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।
तस्मादेतत् परं मन्ये यज् जन्तोरस्य साधनम् ॥९९॥

अनादि वेदशास्त्र सभी प्राणियों का धारण करता है। उस कारण से मनुष्य का जो पुरुषार्थों का साधन हैं उनमेंसे इसको (वेदशास्त्र को) मैं परम (श्रेष्ठतम) साधन मानता हूँ॥९९॥

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाऽधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥१००॥

वेदशास्त्र को जानने वाला मनुष्य सेनापति के कार्य को, राजा के कार्य को, दण्डनिर्णायक के (न्यायाधीश के) कार्य को और सम्पूर्ण लोक के अधिपति के कार्य को भी सम्पन्न करने में योग्य होता है॥१००॥

यथा जातबलो वह्निर् दहत्यार्द्रानपि द्रुमान्।
तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ॥१०१॥

[न वेदबलमाश्रित्य पापकर्मरुचिर् भवेत्।
अज्ञानाच् च प्रमादाच् च दहते कर्म नेतरत्॥]

जैसे अधिक बल उत्पन्न होने पर अग्नि हरे पेडों को भी जला देता है वैसे ही वेद को जानने वाला पुरुष भी अपने कर्मों से उत्पन्न दोषों को जला देता है॥१०१॥

[वेद के बल का आश्रय लेकर मनुष्य पापकर्म करने में रुचि रखने वाला नहीं होवे, अज्ञान से अथवा असावधानी से हो गए पाप कर्म को ही वेद को जानने वाला जला सकता है, जानबूझकर आग्रहपूर्वक किए गए पाप कर्म को नहीं।]

वेदशास्त्राऽर्थतत्त्वज्ञो यत्रतत्राऽऽश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१०२॥

वेदशास्त्र के अर्थ के तत्त्व को जानने वाला जिस किसी आश्रम में रहता हुआ भी इसी लोक में रहता हुआ वह ब्रह्मभाव में प्राप्त होने में समर्थ होता है॥१०२॥

अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥१०३॥

ग्रन्थों को सुनने वाले अज्ञों से श्रेष्ठ हैं, ग्रन्थों का धारण करने वाले ग्रन्थों को सुनने वालों से श्रेष्ठ हैं, ग्रन्थार्थ को जानने वाले ग्रन्थों का धारण करने वालों से श्रेष्ठ हैं, ग्रन्थार्थ में सन्देहरहित दृढ आस्था वाले ग्रन्थार्थ को जानने वालों से श्रेष्ठ हैं॥१०३॥

तपो विद्या च विप्रस्य निश्श्रेयसकरं परम्।
तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥१०४॥

तप (आश्रमोक्त कर्मानुष्ठान) और विद्या (ब्रह्मात्मज्ञान) ब्राह्मण के लिए उत्तम मोक्षसाधन हैं, (ब्राह्मण) तप से पापों को नष्ट करता है और विद्या से अमृत (मोक्ष) प्राप्त करता है॥१०४॥

प्रत्यक्षं चाऽनुमानं च शास्त्रं च विविधाऽऽगमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥१०५॥

धर्म की शुद्धि (सन्देहादि-दोषरहित-ज्ञान) चाहने वाले को प्रत्यक्ष प्रमाण को, अनुमान प्रमाण को और विविध शाखा सम्प्रदायों से आए हुए श्रुति-स्मृतिरूप शास्त्र को (शब्दप्रमाण को) भी तीनों को अच्छी तरह विदित करना चाहिए॥१०५॥

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना।
यस् तर्केणाऽनुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥१०६॥

ऋषिदृष्ट वेद का और वेदज्ञ मुनियों से उपदिष्ट स्मृतियों का भी जो वेदशास्त्र के अविरोधी तर्क से पर्यालोचन करता है वह धर्म को जान सकता है, दूसरा नहीं॥१०६॥

नैश्श्रेयसमिदं कर्म यथोदितमशेषतः।
मानवस्याऽस्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते ॥१०७॥

जैसे यह कर्म मोक्ष का उपकारक होता है वैसे निश्शेष रूप में बताया गया। अब मनुप्रोक्त इस शास्त्र का रहस्य (मूलभूत गोप्य अर्थ) बताया जाता है॥१०७॥

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद् भवेत्।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥१०८॥

इस ग्रन्थ में नहीं बताए गए धर्मों में कैसी व्यवस्था होगी? यदि ऐसी जिज्ञासा होती है तो उसमें कहा जाता है कि इस ग्रन्थ में नहीं बताए गए धर्मों में शिष्ट ब्राह्मण जैसी व्यवस्था बताएंगे वही सन्देहरहित रूप में धर्म होगा॥१०८॥

धर्मेणाऽधिगतो यैस् तु वेदः सपरिबृंहणः।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥१०९॥

जिन्हों ने वेदाङ्गों से और वेदोपाङ्गों से युक्त वेद गुरु से ब्रह्मचर्यपालन, गुरुसेवन इत्यादि धर्म से प्राप्त किया है वेद को प्रत्यक्ष करने में हेतुभूत वे ब्राह्मण ही शिष्ट समझे जाने चाहिए॥१०९॥

दशाऽवरा वा परिषद् यं धर्मं परिकल्पयेत्।
त्र्यवरा वाऽपि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥११०॥

[पुराणं मानवो धर्मः साङ्गोपाङ्गचिकित्सकः।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥]

अथवा न्यूनतम दश पुरुषों से युक्त परिषद् अथवा न्यूनतम तीन सद्वृत्त वाले (सच्चरित्र) पुरुषों से युक्त परिषद् जिस धर्म को व्यवस्थित करे उस धर्म को इधर-उधर नहीं करे।

[पुराण, मनुप्रोक्त धर्मसंहिता, साङ्गोपाङ्ग वेद और चिकित्साशास्त्र ये चार ईश्वर की आज्ञा से सिद्ध शास्त्र हैं, ये तर्क से खण्डित नहीं किए जाने चाहिए।]

विशेष— इस प्रक्षिप्त श्लोक के पूर्वार्ध का पाठ कुमारिलभट्ट के तन्त्रवार्तिक में (१।३।२७, आनन्दाश्रमसंस्करण, पृ.२२४) "पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश् चिकित्सितम्" ऐसा पाया जाता है॥११०॥

त्रैविद्यो हेतुकस् तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः।
त्रयश् चाऽऽश्रमिणः पूर्वे परिषत् स्याद् दशाऽवरा॥१११॥

१. ऋग्वेद पढ़ने वाला, २. यजुर्वेद पढ़ने वाला, ३. सामवेद पढ़ने वाला, ४. हेतुशास्त्र (लौकिक तर्कशास्त्र) पढ़ने वाला, ५. धर्ममीमांसारूप तर्कशास्त्र पढ़ने वाला, ६. निरुक्तशास्त्र पढ़ने वाला, ७. धर्मशास्त्र (स्मृतिशास्त्र) पढ़ने वाला, पहले आश्रमी तीन (८. नैष्ठिकब्रह्मचर्याश्रमी, ९. गृहस्थाश्रमी और १०. वानप्रस्थाश्रमी), इन का समुदाय दशाऽवरा परिषद् होगी॥१११॥

ऋग्वेदविद् यजुर्विच् च सामवेदविदेव च।
त्र्यवरा परिषज् ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये॥११२॥

धर्म में सन्देह होने पर निर्णय करने के लिए ऋग्वेद जानने वाला, यजुर्वेद जानने वाला और सामवेद जानने वाला इन का समुदाय त्र्यवरा परिषद् समझी जानी चाहिए॥११२॥

एकोऽपि वेदविद् धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाऽज्ञानामुदितोऽयुतैः॥११३॥

वेद जानने वाला एक भी ब्राह्मण जिस धर्म को निश्चित करे वह परम धर्म समझा जाना चाहिए, मूर्खों के तो दश हजार दश हजार के सैकडों झुण्डों से धर्म के रूप में बताई गई बात भी धर्म नहीं समझी जानी चाहिए॥११३॥

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥११४॥

वेदब्रह्मचर्यव्रत से रहित, वेदमन्त्रों को नहीं जानने वाले और ब्राह्मणत्व जातिमात्र से युक्त जनों का तो हजारों की सङ्ख्या में जुटने वालों का भी धर्मनिर्णय के लिए परिषतत्व नहीं होता है॥११४॥

यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄननुगच्छति॥११५॥

तमोगुणमय अज्ञानी, धर्मतत्त्व को नहीं जानने वाले मूर्ख लोग प्रायश्चित्तीय पापी को जो प्रायश्चित्तरूप धर्म का उपदेश करते हैं, उस से उस प्रायश्चित्तीय पापी का पाप सौ प्रकार का होकर उन मूर्ख धर्मोपदेशकों में शीघ्र ही सङ्क्रान्त होता है॥११५॥

एतद् वोऽभिहितं सर्वं निश्श्रेयसकरं परम्।
अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम्॥११६॥

हे महर्षि लोग, मोक्षदायक यह उत्तम धर्म सब ही आप लोगों को बताया गया, इस धर्म से च्युत नहीं होने वाला ब्राह्मण परम गति को (मोक्ष को) प्राप्त करता है॥११६॥

एवं स भगवान् देवो लोकानां हितकाम्यया।
धर्मस्य परमं गुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान्॥११७॥

ऐश्वर्यादियुक्त दीप्तिमान् उन्हों ने (मनु जी ने) लोक के हित की कामना से धर्म के परम रहस्य इस सब तत्त्व को मुझ को (भृगु को) कहा॥११७॥

सर्वमात्मनि सम्पश्येत् सच् चाऽसच् च समाहितः।
सर्वं ह्यात्मनि सम्पश्यन् नाऽधर्मे कुरुते मनः॥११८॥

इन्द्रियों को और मन को संयत करने वाला मनुष्य मूर्तरूप और अमूर्तरूप सम्पूर्ण जगत् को आत्मा में ही देखे। सम्पूर्ण जगत् को आत्मा में ही देखता हुआ मनुष्य अधर्म में मन नहीं लगाता है॥११८॥

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥११९॥

सभी देवताएँ आत्मा ही हैं, सब जगत् आत्मा में ही भासित है। आत्मा ही शरीरधारी जीवों का कर्म से सम्बन्ध कराता है॥११९॥

खं सन्निवेशयेत् खेषु चेष्टनस्पर्शनेऽनिलम्।
पक्तिदृष्ट्योः परं तेजः स्नेहेऽपो गां च मूर्तिषु॥१२०॥

मनसीन्दुं दिशः श्रोत्रे क्रान्ते विष्णुं बले हरम्।
वाच्यग्निं मित्रमुत्सर्गे प्रजने च प्रजापतिम्॥१२१॥

अपने शरीर के आकाशों में (छिद्रों में) बाह्य आकाश को लीन करे (उनमें एकता की भावना करे), शरीर में चेष्टा कराने वाले और स्पर्शज्ञान कराने वाले अपने शरीर के वायु में (चेष्टन-स्पर्शन-साधन तत्त्व में) बाह्य वायु को लीन करे, पेट में अन्नपाक कराने वाले और दृष्टिज्ञान कराने वाले अपने शरीर के तेज में बाह्य तेज को लीन करे, अपने शरीर के स्नेह में (जलीय अंश में) बाह्य जल को लीन करे, अपने शरीर के मूर्त (पार्थिव) अंशों में बाह्य पृथ्वी को लीन करे, अपने मन में चन्द्रमा को लीन करे, श्रोत्रेन्द्रिय में दिशाओं को लीन करे, पादेन्द्रिय में (चरणेन्द्रिय में) विष्णु को लीन करे, बल में हर को (रुद्र को) लीन करे, वागिन्द्रिय में अग्नि को लीन करे, उत्सर्जन करने वाले पायु इन्द्रिय में (गुदा में) मित्र को (सूर्यविशेष को) लीन करे, प्रजनन करने वाले उपस्थेन्द्रिय में प्रजापति को लीन करे॥१२०-१२१॥

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माऽऽभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात् तं पुरुषं परम्॥१२२॥

सभी ब्रह्मादि-स्तम्बपर्यन्त प्राणियों के और सभी तत्त्वों के नियामक, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, शुद्ध सोने के वर्ण से तुल्य वर्ण वाले, स्वप्नावस्था की बुद्धि के तुल्य बुद्धि से जाने जा सकने वाले उस विलीनाकाशादिक अपने आत्मा को परम-पुरुष (पुरुषोत्तम अथवा परमात्मा) जाने॥१२२॥

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥१२३॥

इस परमपुरुष को कोई अग्नि कहते हैं, कोई मनु कहते हैं, कोई प्रजापति कहते हैं, कोई इन्द्र कहते हैं, अन्य कोई प्राण कहते हैं और अन्य कोई शाश्वत ब्रह्म कहते हैं।

विशेष– ऋग्वेदसंहिता में भी एक ही तत्त्व को विप्र लोग बहुत प्रकार से कहते हैं, ऐसा कहा गया है। वहाँ की ऋचा है– **"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः"** (ऋ.१।१६४।४६)॥१२३॥

एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर् व्याप्य मूर्तिभिः।
जन्म-वृद्धि-क्षयैर् नित्यं संसारयति चक्रवत्॥१२४॥

यह परमात्मा अपनी (आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इन) पाँच मूर्तियों से सभी प्राणियों को व्याप्त करके उनको जन्म वृद्धि और क्षय से सर्वदा चक्र की तरह घुमाता (सञ्चालित करता) रहता है॥१२४॥

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माऽभ्येति परं पदम्॥१२५॥

[चतुर्वेदसमं पुण्यमस्य शास्त्रस्य धारणात्।
भूयो वाऽप्यतिरिच्येत पापनिर्यातनं महत्॥]

इस प्रकार से जो मनुष्य सभी भूतों में स्वयम् आत्मा से आत्मा को देखता है वह सभी से एकता को प्राप्त करके अत्यन्त श्रेष्ठ स्थानरूप परब्रह्म में प्राप्त होता है॥१२५॥

[इस मानवधर्मशास्त्र के धारण से चारों वेदों को धारण करने के पुण्य से तुल्य पुण्य प्राप्त होता है, अथवा उस से भी अधिक पुण्य प्राप्त होता है, यह शास्त्र पाप को दूर करने का बडा साधन है।]

इत्येतन् मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन् द्विजः।
भवत्याचारवान् नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद् गतिम्॥१२६॥

[मनुः स्वायम्भुवो देवः सर्वशास्त्राऽर्थपारगः।
तस्याऽऽस्यनिर्गतं धर्मं विचार्य बहुविस्तरम्॥

ये पठन्ति द्विजाः केचित् सर्वपापोपशान्तिदम्।
ते गच्छन्ति परं स्थानं ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम्॥]

॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां द्वादशोऽध्यायः॥१२॥

॥ समाप्तैषा मनुसंहिता॥

इस प्रकार से प्रतिपादित, मनु से आए हुए और भृगु से बताए गए इस शास्त्र को पढ़ता हुआ ब्राह्मण सर्वदा सदाचारवान् होता है और इच्छानुसार स्वर्गरूप अथवा मोक्षरूप सद्गति को पा सकता है॥१२६॥

[स्वयम्भू के पुत्र, सर्वार्थप्रकाशक मनु सम्पूर्ण वेदशास्त्र के अर्थों में पारङ्गत हैं। उनके मुँह से निकले हुए और बहुत-विस्तारयुक्त तथा सभी पापों को नष्ट करने वाले इस धर्मशास्त्र को विचार करके जो कोई भी ब्राह्मण पढ़ते हैं तो वे अत्यन्त श्रेष्ठ स्थानरूप ब्रह्म के सनातन घर में पहुँचते हैं (ब्रह्मलोक को जाते हैं)।]

॥ इस प्रकार कौण्डिन्न्यायनाऽऽचार्य-शिवराजशर्म-द्विजोत्तम से किए गए मनुस्मृति के हिन्दी अनुवाद तथा विशेष व्याख्या में द्वादश अध्याय पूर्ण हुआ॥१२॥

एतद्ब्रह्माण्डमध्यस्थे भूर्लोकान्तर्गते शुभे।
जम्बूद्वीपे भारते च कुमारीखण्डके तथा॥१॥

हिमवत्खण्डगर्भस्थे गण्डकीक्षेत्रमध्यगे।
शालग्रामशिलायोनेः कृष्णायाः पूर्वतः स्थिते॥२॥

गते गौरीगुरोरङ्के तत्पादैः सर्वतो युते।
ख्याते जनपदे प्रोच्चत्रितुङ्गाऽचलमण्डिते॥३॥

चुँद्या नद्या उत्तरतः पर्वते ताम्रकूटके।
स्थिते ग्रामे तिरश्चीनपानीयाख्ये द्विजैर् वृते॥४॥

वसिष्ठस्याऽरुन्धतीतोऽन्यस्यां पत्न्यां समुद्गतः।
मैत्रावरुणनामा य ऋषिस् तस्य सुतस्य च॥५॥

कुण्डिनस्य ऋषेर् मन्त्रद्रष्टुर् गोत्रे समुज्ज्वले।
नैपालभाषाऽऽदिकवि-भानुना ख्यापिते शुभे॥६॥

त्रिशुक्लविप्रश्रीकृष्णाऽऽचार्यवंशे सुसंस्तुतः।
श्रीकृष्णाचार्यवर्यस्य ह्यतिवृद्धप्रपौत्त्रकः॥७॥

श्रीकृष्णाचार्यपुत्त्रस्य तृतीयस्य बुधस्य च।
पद्मनाभाख्यस्य वृद्धप्रपौत्त्रोऽथ प्रपौत्त्रकः॥८॥

देवदत्तस्याऽथ पौत्त्रो लोकनाथद्विजन्मनः।
नारनाथिश् च पाद्मेयो मतिवारिधिशिष्यकः॥९॥

कौण्डिन्न्यायनशिक्षादिग्रन्थानां रचनादिह।
भूमण्डले वैदिकादिविद्वद्भिः संस्तुतोऽपि च॥१०॥

माध्यन्दिनीयकाऽऽचार्यो वार्तावृत्तिगृहस्थकः।
शिवाऽभिधो ह्यतनुत भाषाटीकामिमां द्विजः॥११॥

प्रविष्टेऽक्ष्यश्वखशरैः (५०७२) सूच्ये कलियुगाब्दके।
कृष्णस्वर्गाऽऽरोहणतो गणिते चाऽथ वैदिके॥१२॥

चान्द्रे षष्ट्यब्दके काले पित्र्ये सप्तमके युगे।
पञ्चाब्दके द्वितीये च वर्षे हि परिवत्सरे॥१३॥

चान्द्रेषु षष्टावब्देषु वैदिकाऽभिमतेषु च।
अब्दे द्वात्रिंशत्तमे च विलम्बाख्ये खलु स्थिते॥१४॥

समुद्ररसशून्याक्षिसूचनीये (२०६४) च वैक्रमे।
संवत्सरे शरदि तु ऋतावूर्जे च मास्यपि॥१५॥

ऋष्याकाशखनेत्रैश् च (२००७) संसूच्ये क्रैस्तवत्सरे।
स्वजन्मतस् तु गणिते सप्तषष्टितमेऽब्दके॥१६॥
स्वगृहे मोदमानेन पत्न्या पुत्रैश् च नप्तृभिः।
टीकाकृता शोधितोऽर्थो भूयाल् लोकस्य भूतये॥१७॥

इतने में श्रीयुत गुरु के मुख से उच्चरित होने पर अपने से उच्चरित करके किए गए अध्ययन से अपनी शाखा के वेदमन्त्रसंहिता, ब्राह्मणग्रन्थ, कल्पसूत्र इत्यादि ग्रन्थों की समाप्ति करने वाले तथा वेदों के, वेद के शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दश्शास्त्र, ज्योतिष इन छहों अङ्गों के, वासिष्ठधर्मशास्त्र-मनुस्मृति इत्यादि अनुस्मृतियों के और अग्निपुराण, कूर्मपुराण इत्यादि अठारह ही पुराणों के अवलोकन में लगे रहने वाले, नाना प्रकार के धर्मशास्त्रनिबन्धों को और पद्धतिग्रन्थों को भी अवलोकन का विषय बनाने वाले, काव्यप्रकाश की हैमवती नाम की संस्कृतविवृति, वेदभाषानिघण्टु, कौण्डिन्न्यायनशिक्ष्क्षा, पाणिनीयशिक्षा की वेदाङ्गशिक्षाविमर्श नाम की संस्कृतव्याख्या और हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या, नारदीयशिक्षा की शिक्षाविवेचनी नाम की संस्कृतव्याख्या और हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या, ब्रह्ममीमांसासूत्र की कौण्डिन्न्यायनवृत्ति नाम की संस्कृतवृत्ति और हिन्दी अनुवाद, लगधमुनिप्रोक्त वेदाङ्गज्योतिष की विस्तृतभूमिकायुक्त संस्कृतव्याख्या और सङ्क्षिप्त हिन्दी भूमिका तथा हिन्दी व्याख्या इत्यादि ग्रन्थ के कर्ता, इस ब्रह्माण्ड के भूर्लोक के भूमण्डल में वर्तमान भारतवर्ष के कुमारीखण्ड के आर्यावर्त में विराजमान हिमवत्खण्ड में वर्तमान गण्डकीप्रदेश के मध्य में स्थित त्रितुङ्गाचल से चिह्नित तनुङ जनपद के (जिले के) अन्तर्गत चुँदितामाकोट-तेर्सेपानि ग्राम में निवास करने वाले पूर्वपुरुषों से और नेपाली भाषा के आदिकवि भानुभक्त आचार्य से विशेष रूप से विख्यापित योनि-विद्या-तपश्-शुक्ल उच्चकुलीन विद्याधुरीण ब्राह्मण श्रीकृष्ण आचार्य के वंश में उत्पन्न तथा वासिष्ठ-मैत्रावरुण-कौण्डिन्न्य ऐसा प्रवर वाले माध्यन्दिनीय-वाजसनेयि-शुक्लयजुर्वेदशाखाध्यायी वार्तावृत्तिगृहस्थ शिवराज आचार्य नाम के शुद्धकुलीन उपाध्याय ब्राह्मण से किया गया **मनुस्मृति का हिन्दी भाषा में अनुवाद तथा विशेष विवरण पूर्ण हुआ॥**

◆

परिशिष्टम् ३

श्लोकार्धकानुक्रमणिका

अ

अंशमंशं यवीयांसः ९।११७
अकन्येति तु यः कन्याम् ८।२२५
अकामतः कृतं पापम् ११।४६
अकामतः कृते पापे ११।४५
अकामतस् तु राजन्यम् ११।१२७
अकामस्य क्रिया काचित् २।४
[अकामोपहतं नित्यम् १२।८९]
अकारं चाऽप्युकारं च २।७६
अकारणपरित्यक्ता ३।१५७
अकारश् चाऽस्य नाम्नोऽन्ते २।१२५
अकार्यमन्यत् कुर्याद् वा ११।९६
अकुर्वन् विहितं कर्म ११।४४
अकृतं च कृतात् क्षेत्रात् १०।११४
अकृतः स तु विज्ञेयः ८।१९९
अकृता वा कृता वाऽपि ९।१३६
अकृत्वा भैक्षचरणम् २।१८७
अक्रव्यादान् वत्सतरीम् ११।१३७
अक्रोधनाः शौचपराः ३।१९२
अक्रोधनान् सुप्रसादान् ३।२१३
अक्लेशेन शरीरस्य ४।३
अक्षभङ्गे च यानस्य ८।२९१
अक्षमाला वसिष्ठेन ९।२३
अक्षरं त्वक्षरं ज्ञेयम् २।८४
अक्षारलवणं चैव ३।२५७
अक्षारलवणाऽन्नाः स्युः ५।७३
अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टम् १०।७१
अगम्यागमनीयं तु ११।१६९
अगारदाही गरदः ३।१५८
अगारादभिनिष्क्रान्तः ६।४१
अगुप्तमङ्गसर्वस्वैः ८।३७४
अगुप्ते क्षत्रियावैश्ये ८।३८५
अग्निं वाऽऽहारयेदेनम्
अग्निदग्धाऽनग्निदग्धान् ३।१९९
अग्निदान् भक्तदांश् चैव ९।२७८
अग्निपक्वाऽशनो वा स्यात ६।१७
अग्निवायुरविभ्यस् तु १।२३
अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च ३।१९९
अग्निष्वात्ताश्च देवानाम् ३।१९५
अग्निहोत्रं च जुहुयात् ४।२५
अग्निहोत्रं समादाय ६।४
अग्निहोत्र्यपविध्याऽग्नीन् ११।४१
अग्नीनात्मनि वैतानान् ६।२५
अग्नीन्धनं भैक्षचर्याम् २।१०८
अग्नेः सोमयमाभ्यां च ३।२११
अग्नेः सोमस्य चैवाऽऽदौ ३।८५
अग्नौ कुर्यादनुज्ञातः ३।२१०
अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यक् ३।७६
अग्न्यगारे गवां गोष्ठे ४।५८
अग्न्यभावे तु विप्रस्य ३।२१२
अग्न्याधेयं पाकयज्ञान् २।१४३
अग्न्याः सर्वेषु वेदेषु ३।१८४
अग्न्यो मध्यो जघन्यश् च १२।३०
अघं स केवलं भुङ्क्ते ३।११८
अङ्गाऽवपीडनायां च ८।२८७
अङ्गुलीर् ग्रन्थिभेदस्य ९।२७७
अङ्गुल्योरेव वा छेदम् ८।३७०
अङ्गुष्ठमूलस्य तले २।५९
अचक्षुर्विषयं दुर्गम् ४।७७
अचिन्त्यस्याऽप्रमेयस्य १।३
अचिरात् तं दुरात्मानम् ८।१७४
अच्छलेनैव चाऽन्विच्छेत् ८।१८७
अजडश् चेदपोगण्डः ८।१४८
अजमेषावनड्वाहम् ११।१३६
अजाऽविकं तु विषमम् ९।११९
अजाऽविकं सैकशफम्

अजाविके तु संरुद्धे ८।२३५
अजिह्मामशठां शुद्धाम् ४।११
अजीगर्तः सुतं हन्तुम् १०।१०५
अजीवंस् तु यथोक्तेन १०।८१
अज्ञं हि बालमित्याहुः २।१५३
अज्ञातं चैव सूनास्थम् ११।१५५
अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थम् ५।२१
अज्ञानभुक्तं तूत्तार्यम् ११।१६०
[अज्ञानाच्च प्रमादाच्च १२।१०१]
अज्ञानात् प्राश्य विण्मूत्रम् ११।१५०
अज्ञानाद् द्वे शते पूर्णे - ८।१२१
अज्ञानाद् बालभावाच् च ८।११८
अज्ञानाद् यदि वा ज्ञानात् ११।२३२
अज्ञानाद् वारुणीं पीत्वा ११।१४६
अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठाः १२।१०३
अज्ञो भवति वै बालः २।१५३
अज्येष्ठवृत्तिर् यस् तु स्यात् ९।११०
अण्डजाः पक्षिणः सर्पाः १।४४
अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यः १।२७
अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि ४।९८
अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते २।३९
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ८।२१४
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ८।२१८
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ८।२६६
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ८।२७८
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ११।९८
अत ऊर्ध्वं रहस्यानाम् ११।२४७
अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्यात् ९।१८७
अतः परं प्रवक्ष्यामि ९।५६
अतः परं प्रवक्ष्यामि १०।१३१
अतः स्वल्पीयसि द्रव्ये ११।८
अतपास् त्वनधीयानः ४।१९०
अतस् तु विपरीतस्य ७।३४
अतिक्रमं व्रतस्याऽऽहुः ११।१२०
अतिक्रान्ते दशाहे च ५।७६
अतिक्रामन् देशकालौ ८।१५६
अतिक्रामेत् प्रमत्तं या ९।७८
अतिथिं चाऽननुज्ञाप्य ४।१२२
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान् ३।११४
अतिथिस् त्विन्द्रलोकेशः ४।१८२
अतिप्रसक्तिं चैतेषाम् ४।१६
अतिवादांस् तितिक्षेत ६।४७
अतीतानां च सर्वेषाम् ७।१७८
अतीते कार्यशेषज्ञः ७।१७९
अतैजसानि पात्राणि ६।५३
अतोऽन्यतममास्थाय ११।८६
अतोऽन्यतमया वृत्त्या ४।१३
अतोऽन्यथा तु प्रहरन् ८।३००
अतोऽन्यथाप्रवृत्तिस् तु ५।३१
अतोऽन्यथा वर्तमानः ८।३९७
अतो यदन्यद् विब्रूयुः ८।७८
अतोऽर्थान् न प्रमाद्यन्ति २।२१३
अत्युच्छ्रितं तथाऽऽत्मानम् ७।१७०
अत्युष्णं सर्वमन्नं स्यात् ३।२३६
अत्र गाथा वायुगीताः ९।४२
अत्रैव पशवो हिंस्या ५।४१
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ९।१३७
अथ मूलमनाहार्यम् ८।२०२
अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा ८।१२८
अदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा ८।२०२
अदत्तानामुपाऽऽदानम् १२।७
अदत्तान्युपयुञ्जानः ४।२०२
अदत्त्वा तु य एतेभ्यः ३।११५
अदर्शयन् स तं तस्य ८।१५८
अदर्शयित्वा तत्रैव ८।१५५
अदातरि पुनर् दाता ८।१६१
अदीयमाना भर्तारम् ९।९१
अदूषितानां द्रव्याणाम् ९।२८६
अदृष्टमद्भिर् निर्णिक्तम् ५।१२७
अदेश्यं यश्च दिशति ८।५३
अदैवं भोजयेच् छ्राद्धम् ३।२४७
[अद्भिः प्रक्षालनं प्रोक्तम् ११।१९९]
अद्भिरेव द्विजाऽग्र्याणाम् ३।३५
अद्भिर् गात्राणि शुध्यन्ति ५।१०९

अद्भिस् तु प्रोक्षणं शौचम् ५।११८
अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिः १।७८
अद्भ्योऽग्निर् ब्रह्मतः क्षत्रम् ९।३२१
अद्यात् काकः पुरोडाशम् ७।२१
अद्रोहेण च भूतानाम् ४।१४८
अद्रोहेणैव भूतानाम् ४।२
अद्वारेण च नाऽतीयात् ४।७३
अधमर्णाऽर्थसिद्ध्यर्थम् ८।४७
अधमा मध्यमाऽन्या च १२।४१
अधर्मदण्डनं लोके ८।१२७
अधर्मप्रभवं चैव ६।६४
अधर्मादपि षड्भागः ८।३०४
अधर्मेण च यः प्राह २।१११
अधर्मेणैधते तावत् ४।१७४
अधर्मो नृपतेर् दृष्टः ९।२४९
अधस्तान् नोपदध्याच् च ४।५४
अधार्मिकं तस्करं च ४।१३३
अधार्मिकं त्रिभिर् न्यायैः ८।३१०
अधार्मिकाणां पापानाम् ४।१७१
अधार्मिको नरो यो हि ४।१७०
अधिकं वाऽपि विद्येत ११।७
अधितिष्ठेन् न केशांस् तु ४।७८
अधियज्ञं ब्रह्म जपेत् ६।८३
अधिविन्ना तु या नारी ९।८३
अधीत्य चाऽनुवर्तन्ते ६।९३
अधीत्य विधिवद् वेदान् ६।३६
अधीयीरंस् त्रयो वर्णाः १०।१
अधीष्व भो इति ब्रूयात् २।७३
अधोदृष्टिर् नैकृतिकः ४।१९६
अध्यक्षान् विविधान् कुर्यात् ७।८१
अध्यग्न्यध्यावाहनिकम् ९।१९४
अध्यात्मरतिरासीनः ६।४९
अध्यापनं च कुर्वाणः ४।१०१
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः ३।७०
अध्यापनं याजनं च १०।७७
अध्यापनमध्ययनम् १।८८
अध्यापनमध्ययनम् १०।७५
अध्यापयन् गुरुसुतः २।२०८
अध्यापयामास पितॄन् २।१५१
अध्येष्यमाणं तु गुरुः २।७३
अध्येष्यमाणस् त्वाचान्तः २।७०
अनंशौ क्लीबपतितौ ९।२०१
अनग्निरनिकेतः स्यात् ६।२५
अनग्निरनिकेतः स्यात् ६।४३
अनडुद्दः श्रियं पुष्टाम् ४।२३१
अनदन्नन्नमह्नैव ५।१०
अनधीत्य द्विजो वेदान् ६।३७
अनध्यायो रुद्यमाने ४।१०८
अनन्तरः सपिण्डाद् यः ९।१८७
अनन्तरमरिं विद्यात् ७।१५८
अनन्तरासु जातानाम् १०।७
अनपत्यस्य पुत्त्रस्य ९।२१७
अनपाकृत्य मोक्षं तु ६।३५
अनपेक्षितमर्यादम् ८।३०९
अनभ्यर्च्य पितॄन् देवान् ५।५२
अनभ्यासेन वेदानाम् ५।४
अनयैवाऽऽवृता कार्यम् ३।२४८
अनर्चितं वृथामांसम् ४।२१३
अनस्थ्नां चैव हिंसायाम् ११।१४१
अनाचरन्नकार्याणि १०।९८
अनातुरः सप्तरात्रम् २।१८७
अनातुरः स्वानि खानि ४।१४४
अनादृतास्तु यस्यैते २।२३४
अनादेयं नाऽऽददीत ८।१७०
अनादेयस्य चाऽऽदानात् ८।१७१
अनाम्नातेषु धर्मेषु १२।१०८
अनारोग्यमनायुष्यम् २।५७
अनार्यता निष्ठुरता १०।५८
अनार्यमार्यकर्माणम् १०।७३
अनार्यायां समुत्पन्नः १०।६६
अनाविष्कृतपापांस् तु ११।२२६
अनाहिताऽग्निता स्तेयम् ११।६५
अनाहिताऽग्निर् भवति ११।३८
अनिच्छतः प्राभवत्यात् ८।४१२

अनित्यं हि स्थितो यस्मात् ३।१०२
अनित्यो विजयो यस्मात् ७।१९९
अनिधायैव तद् द्रव्यम् ५।१४३
अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैः ३।४२
अनियुक्तासुतश् चैव ९।१४३
अनिर्दशं च प्रेताऽन्नम् ४।२१७
अनिर्दशाया गोः क्षीरम् ५।८
अनिर्दशाहां गां सूताम् ८।२४२
अनिर्दिष्टांश् चैकशफांन् ५।११
अनिर्वृतं नियोगार्थम् ९।६१
अनिष्टं चाऽप्यनिष्टेषु ७।१३
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश् च ६।३७
अनीहमानाः सततम् ४।२२
अनुकल्पस् त्वयं ज्ञेयः ३।१४७
अनुक्तनिष्कृतीनां तु ११।२०९
अनुगम्येच्छया प्रेतम् ५।१०३
अनुद्वेगकरा नृणाम् २।४७
अनुपघ्नन् पितृद्रव्यम् ९।२०८
अनुपाकृतमांसानि ५।७
अनुबन्धं परिज्ञाय ८।१२६
अनुभावी तु यः कश्चित् ८।६९
अनुमन्ता विशसिता ५।५१
अनुरक्तं स्थिराऽऽरम्भम् ७।२०९
अनुरक्तः शुचिर् दक्षः ७।६४
अनुरागाऽपरागौ च ७।१५४
अनुव्रज्या च शुश्रूषा २।२४१
अनुष्णाभिरफेनाभिः २।६१
अनृतं च समुत्कर्षे ११।५५
अनृतं तु वदन् दण्ड्यः ८।३६
अनृतस्यैनसस् तस्य ८।१०५
अनृतावृतुकाले च ५।१५३
अनेकानि सहस्राणि ५।१५९
अनेन क्रमयोगेन २।१६४
अनेन क्रमयोगेन ६।८५
अनेन तु विधानेन ९।१२८
अनेन नारी वृत्तेन ५।१६६
अनेन विधिना नित्यम् ५।१६९
अनेन विधिना यस् तु ११।११५
अनेन विधिना राजा ८।१७८
अनेन विधिना राजा ८।३४३
अनेन विधिना श्राद्धम् ३।२८१
अनेन विधिना सर्वान् ६।८१
अनेन विधियोगेन ८।२११
अनेन विप्रो वृत्तेन ४।२६०
अन्तःपुरप्रचारं च ७।१५३
अन्तःसञ्ज्ञा भवन्त्येते १।४९
अन्तरप्रभवाणां च १।२
अन्तरागमने विद्यात् ४।१२६
अन्तरिक्षगतांश् चैव ७।२९
अन्तर्गतशवे ग्रामे ४।१०८
अन्तर्दशाऽहे स्यातां चेत् ५।७९
अन्तर्भवन्ति क्रमशः १२।८७
अन्तर्वेशमन्यरण्ये वा ८।६९
अन्त्यादपि परं धर्मम् २।२३८
अन्धः शत्रुकुलं गच्छेत् ८।९३
अन्धो जडः पीठसर्पी ८।३९४
अन्धो मत्स्यानिवाऽश्नाति ८।९५
अन्नं चैव यथाशक्ति ३।९९
अन्नपानेन्धनादीनि ७।११८
अन्नमेषां पराऽधीनम् १०।५४
अन्नहर्ताऽऽमयावित्वम् ११।५१
[अन्नहीनो दहेद् राष्ट्रम् ११।४०]
अन्नाऽदे भ्रूणहा मार्ष्टि ८।३१७
अन्नाद्यजानां सत्त्वानाम् ११।१४३
अन्नाद्येनाऽसकृच् चैतान् ३।२३३
अन्यत्र पुत्राच् छिष्याद् वा ४।१६४
अन्यदुप्तं जातमन्यत् ९।४०
अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना ९।६४
अन्यां चेद् दर्शयित्वाऽन्या ८।२०४
अन्यानपि प्रकुर्वीत ७।६०
अन्ये कलियुगे नृणाम् १।८५
अन्ये कृतयुगे धर्माः १।८५
अन्येषां चैवमादीनाम् ८।३२९
अन्येष्वपरिपूतेषु ८।३३०

अन्येष्वपि तु कालेषु ७।१८३
अन्योऽन्यगुणवैशेष्यात् ९।२९६
अन्योऽन्यव्यतिषक्ताश् च १०।२५
अन्योऽन्यस्याऽव्यभीचारः ९।१०१
अन्वाधेयं च यद् दत्तम् ९।१९५
अप एव ससर्जाऽऽदौ १।८
अपः शस्त्रं विषं मांसम् १०।८८
अपः सुराभाजनस्थाः ११।१४७
अपत्यं धर्मकार्याणि ९।२८
अपत्यलोभाद् या तु स्त्री ५।१६१
अपत्यस्यैव चाऽपत्यम् ६।२
अपदिश्याऽपदेश्यं च ८।५४
अपदेशैश् च सन्यस्य ८।१८२
अपपात्राश् च कर्तव्याः १०।५१
अपराजितां वाऽऽस्थाय ६।३१
अपराह्णस् तथा दर्भाः ३।२५५
अपसव्यमग्नौ कृत्वा ३।२१४
अपसव्येन हस्तेन ३।२१४
अपहृत्य च निक्षेपम् ११।८८
अपहृत्य च विप्रस्वम् १२।६०
अपहृत्य सुवर्णं तु ११।२५०
अपह्नवे तद् द्विगुणम् ८।१३९
अपह्नवेऽधमर्णस्य ८।५२
[अपां पिबेच्च त्रिपलम् ११।२१४]
अपां समीपे नियतः २।१०४
अपाङ्क्तदाने यो दातुः ३।१६९
अपाङ्क्तेयैर् यदन्यैश् च ३।१७०
अपाङ्क्त्योपहता पङ्क्तिः ३।१८३
अपाङ्क्त्यो यावतः पाङ्क्त्यान् ३।१७६
अपात्रीकरणं ज्ञेयम् ११।६९
अपामग्नेश् च संयोगात् ५।११३
अपि चेत् स्युररक्तानि १०।८७
अपि नः स कुले भूयात् ३।२७४
अपि भ्रूणहणं मासात् ११।२४८
अपि यत् सुकरं कर्म ७।५५
अपुण्यं लोकविद्विष्टम् २।५७
यां मृतायां तु ९।१३५
अपुत्रोऽनेन विधिना ९।१२७
अपुष्पाः फलवन्तो ये १।४७
अपूजितं तु तद् भुक्तम् २।५५
[अप्यकार्यशतं कृत्वा ११।१०]
अप्रजायामतीतायाम् ९।१९६
अप्रजायामतीतायाम् ९।१९७
अप्रणोद्योऽतिथिः सायम् ३।१०५
अप्रतर्क्यमविज्ञेयम् १।५
अप्रतर्क्यमविज्ञेयम् १२।२९
अप्रमोदात् पुनः पुंसः ३।६१
अप्रयत्नः सुखार्थेषु ६।२६
अप्रशस्तं तु कृत्वाऽप्सु ११।२५५
अप्राणिभिर् यत् क्रियते ९।२२३
अप्राप्तामपि तां तस्मै ९।८८
अप्सु प्रवेश्य तं दण्डम् ९।२४४
अप्सु प्रास्य विनष्टानि २।६४
अप्सु भूमिवदित्याहुः ८।१००
अबान्धवं शवं चैव १०।५५
अबीजकमपि क्षेत्रम् १०।७१
अबीज़विक्रयी चैव ९।२९१
अब्जमश्ममयं चैव ५।११२
अब्जेषु चैव रत्नेषु ८।१००
अब्दार्धमिन्द्रमित्येतत् ११।२५५
अब्राह्मणः सङ्ग्रहणे ८।३५९
अब्राह्मणादध्ययनम् २।२४१
अब्रुवन् विब्रुवन् वाऽपि ८।१३
अभक्ष्याणि द्विजातीनाम् ५।५
अभयस्य हि यो दाता ८।३०३
अभिचारमहीनं च ११।१९७
अभिचारेषु सर्वेषु ९।२९०
अभिजिद्-विश्वजिद्भ्यां वा ११।७४
अभिपूजितलाभांस् तु ६।५८
अभिपूजितलाभैश् च ६।५८
अभियोक्ता दिशेद् देश्यम् [illegible]५२
अभियोक्ता न चेद् ब्रूयात् ८।५८
अभिवादनशीलस्य २।१२१
अभिवादयेद् वृद्धांश् च ४।१५४

अभिवादात् परं विप्रः २।१२२
अभिशस्तस्य षण्ढस्य ४।२११
अभिषह्य तु यः कन्याम् ८।३६७
अभीप्सितानामर्थानाम् ७।२०४
अभोज्यमन्नं नाऽत्तव्यम् ११।१६०
अभोज्यानां तु भुक्त्वाऽन्नम् ११।१५२
अभ्यङ्गमञ्जनं चाऽक्ष्णोः २।१७८
अभ्यञ्जनं स्नापनं च २।२११
अभ्यस्याऽब्दं पावमानीः ११।२५७
अभ्याघातेषु मध्यस्थान् ९।२७२
अभ्यादध्युश् च काष्ठानि ८।३७२
[अभ्रातृकां प्रदास्यामि ९।१२७]
अभ्रिं कार्ष्णायसीं दद्यात् ११।१३३
[अमत्या च प्रमाप्य स्त्रीम् ११।१३८]
अमत्यैतानि षड् जग्ध्वा ५।२०
अमन्त्रिका तु कार्येयम् २।६६
अमात्यमुख्यं धर्मज्ञम् ७।१४१
अमात्यराष्ट्रदुर्गाऽर्थ- ७।१५७
अमात्याः प्राड्विवाको वा ९।२३४
अमात्ये दण्ड आयत्तः ७।६५
अमानुषीषु पुरुषः ११।१७३
अमानुषेषु प्रथमः ९।२८४
अमाययैव वर्तेत ७।१०४
अमावास्या गुरुं हन्ति ४।११४
अमावास्याचतुर्दश्योः ४।११३
अमावास्यामष्टमीं च ४।१२८
अमित्रादपि सद्वृत्तम् २।२३९
अमृतस्येव चाऽऽकाङ्क्षेत् २।१६२
अमेध्यकुणपाऽशी च १२।७१
अमेध्यलिप्तमन्यद् वा ४।५६
अमेध्ये वा पतेन् मत्तः ११।९६
अम्भस्यश्मप्लवेनेव ४।१९०
अम्-मूल-फल-भिक्षाभिः ६।७
अयं द्विजैर् हि विद्वद्भिः ९।६६
अयःकांस्योपलानां च ११।१६७
अयज्वनां तु यद् वित्तम् ११।२०
अयमुक्तो विभागो वः ९।२२०
अयशो महदाप्नोति ८।१२८
अयाज्ययाजनैश् चैव ३।६५
अयुक्षु तु पितॄन् सर्वान् ३।२७७
अयुध्यमानस्योत्पाद्य ४।१६७
अरक्षिता गृहे रुद्धाः ९।१२
अरक्षितारं राजानम् ८।३०८
अरक्षितारमत्तारम् ८।३०९
अरण्ये काष्ठवत् त्यक्त्वा ५।६९
अरण्ये निःशलाके वा ७।१४७
अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य ११।२५८
[अरागद्वेषलोभाश् च ११।२४४]
अराजके हि लोकेऽस्मिन् ७।३
अरेरनन्तरं मित्रम् ७।१५८
अरोगाः सर्वसिद्धार्थाः १।८३
अर्थ एवेह वा श्रेयः २।२२४
अर्थकामेष्वसक्तानाम् २।१३
अर्थसम्पादनार्थं च ७।१६८
अर्थस्य सङ्ग्रहे चैनाम् ९।११
अर्थाऽनर्थावुभौ बुद्ध्वा ८।२४
अर्थेऽपव्ययमानं तु ८।५१
अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति ८।६२
अर्धभाग् रक्षणाद् राजा ८।३९
अर्धेन नारी तस्यां सः १।३२
अर्वाक् त्र्यब्दाद् धरेत् स्वामी ८।३०
अर्वाक् सञ्चयनादस्थ्नाम् ५।५९
अर्हणं तत् कुमारीणाम् ३।५४
अर्हत्तमाय विप्राय ३।१२८
अर्हयेन् मधुपर्केण ३।११९
अर्हावभोजयन् विप्रः ८।३९२
अलङ्कारं नाऽऽददीत ९।९२
अलङ्कृतश् च सम्पश्येत् ७।२२२
अलङ्कृत्य शुचौ भूमौ ५।६८
अलङ्कृत्य सुतादानम् ३।२८
अलब्धं चैव लिप्सेत ७।९९
अलब्धमिच्छेद् दण्डेन ७।१०१
अलाबुं दारुपात्रं च ६।५४
अलाभे त्वन्यगेहानाम् २।१८४

अलाभे न विषादी स्यात् ६।५७
अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण ४।२००
अल्पं वा बहु वा प्रेत्य ७।८६
अल्पं वा बहु वा यस्य २।१४९
अल्पाऽन्नाभ्यवहारेण ६।५९
अल्पोऽप्येवं महान् वाऽपि ३।५३
अवकाशेषु चोक्षेषु ३।२०७
अवकीर्णिवर्जं शुद्ध्यर्थम् ११।११७
अवकीर्णी तु काणेन ११।११८
अवगूर्य चरेत् कृच्छ्रम् ११।२०८
अवगूर्य त्वब्दशतम् ११।२०६
अवजिघ्रेच् च तान् पिण्डान् ३।२१८
अवनिष्ठीवतो दर्पात् ८।२८२
अवमूत्रयतो मेढ्रम् ८।२८२
अवश्यं याति तिर्यक्त्वम् १२।६८
अवहार्यो भवेच् चैव ८।१९८
अवहार्यौ भवेतां तौ ८।१४५
अवाक्शिरास् तमस्यन्धे ८।९४
अवाङ् नरकमभ्येति ८।७५
अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना २।१२८
अविद्यमाने सर्वस्वम् ११।११६
अविद्यानां तु सर्वेषाम् ९।२०५
अविद्वांश् चैव विद्वांश् च ९।३१७
अविद्वांसमलं लोके २।२१४
अविन्दंस् तत्त्वतः सत्यम् ८।१०९
अविप्लुतब्रह्मचर्यः ३।२
अवृत्तिकर्शिता हि स्त्री ९।७४
अवृत्तिकर्षितः सीदन् १०।१०१
अवेक्षेत गतीर् नृणाम् ६।६१
अवेत्यृचं जपेदब्दम् ११।२५२
अवेदयानो नष्टस्य ८।३२
अव्यङ्गाऽङ्गीं सौम्यनाम्नीम् ३।१०
अव्याप्ताश् चेदमेध्येन ५।१२८
अव्रतानाममन्त्राणाम् १२।११४
अव्रतैर् यद् द्विजैर् भुक्तम् ३।१७०
अशक्नुवंस् तु शुश्रूषाम् १०।९९
अशक्यं चाऽप्रमेयं च १२।९४
अशासंस् तस्करान् यस् तु ९।२५४
अशासित्वा तु तं राजा ८।३१६
अशीतिभागं गृह्णीयान् ८।१४०
अशुद्धा बान्धवाः सर्वे ५।५८
[अशुभैः केवलैश् चैव १२।९]
अशेषतोऽप्याददीत ८।३७
अश्मकुट्टो भवेद् वाऽपि ६।१७
अश्मनो लवणं चैव १०।८६
अश्मनोऽस्थीनि गोवालान् ८।२५०
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिम् १०।६४
अश्रोत्रियः पिता यस्य ३।१३६
अश्रोत्रिये त्वहः कृत्स्नम् ५।८२
अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात् ३।१३६
अश्लीकमेतत् साधूनाम् ४।२०६
अश्वश् चक्षुस् त्वचं वासः ४।१८९
अश्वस्तनविधानेन ११।१६
अष्टकासु त्वहोरात्रम् ४।११९
अष्टादशसु मार्गेषु ८।३
अष्टादशसु मार्गेषु ९।२५०
अष्टानां लोकपालानाम् ५।९६
अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य ८।३३७
अष्टावष्टौ समश्नीयात् ११।२१८
अष्टाविमान् समासेन ३।२०
अष्टावेणस्य मांसेन ३।२६९
अष्टौ चाऽन्याः समाख्याताः ७।१५६
अष्टौ मासान् यथाऽऽदित्यः ९।३०५
असंश्रवे चैव गुरोः २।२०३
असंस्कृतप्रमीतानाम् ३।२४५
असंस्कृतान् पशून् मन्त्रैः ५।३६
असकृद् गर्भवासेषु १२।७८
असङ्ख्या मूर्तयस् तस्य १२।१५
असच्छास्त्राऽधिगमनम् ११।६५
असन्दितानां सन्दाता ८।३४२
असन्निधावयं ज्ञेयः ५।७४
असपिण्डं द्विजं प्रेतम् ५।१०१
असपिण्डा च या मातुः ३।५
असपिण्डेषु सर्वेषु ५।१००

असमीक्ष्य प्रणीतस् तु ७।१९
असम्बद्धकृतश् चैव ८।१६३
असम्बद्धप्रलापश् च १२।६
असम्भाष्ये साक्षिभिश्च ८।५५
असम्भोज्या ह्यसंयाज्याः ९।२३८
असम्यक्कारिणश् चैव ९।२५९
असवर्णास् तु सम्पूज्याः २।२१०
असवर्णास्वयं ज्ञेयः ३।४३
असाक्षिकेषु त्वर्थेषु ८।१०९
असावहमिति ब्रूयात् २।१३०
असिपत्रवनं चैव ४।९०
असिपत्रवनादीनि १२।७५
[असुतास् तु पितुः पत्न्यः ९।१८६]
असूयकाय मां मा दाः २।११४
असौ नामाहमस्मीति २।१२२
अस्थिमतां तु सत्त्वानाम् ११।१४०
अस्थिस्थूणं स्नायुयुतम् ६।७६
अस्मादप्रच्युतो विप्रः १२।११६
अस्माद् धर्मान् न च्यवेत ७।९८
अस्मिन् धर्मोऽखिलेनोक्तः १।१०७
अस्य नित्यमनुष्ठानम् ७।१००
अस्य सर्वस्य शृणुत १२।२
[अस्यां यो जायते पुत्त्रः ९।१२७]
अस्रं गमयति प्रेतान् ३।२३०
अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः ९।२
अस्वर्ग्यं च परत्राऽपि ८।१२७
अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्यात् ५।१०४
अस्वस्थः सर्वमेतत् तु ७।२२६
अस्वामिना कृतो यस् तु ८।१९९
अहं प्रजाः सिसृक्षुस् तु १।३४
अहन्यहन्यवेक्षेत ८।४१९
अहस् तत्रोदगयनम् १।६७
अहस्ताश् च सहस्तानाम् ५।२९
अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यम् ९।१८९
अहिंसया च भूतानाम् ६।६०
अहिंसयेन्द्रियाऽसङ्गैः ६।७५
अहिंसयैव भूतानाम् २।१५९
अहिंसा गुरुसेवा च १२।८३
अहिंसामेव तां विद्यात् ५।४४
अहिंसा सत्यमक्रोधम् ११।२२२
अहिंसा सत्यमस्तेयम् १०।६३
अहिंस्रो दमदानाभ्याम् ४।२४६
अहुतं च हुतं चैव ३।७३
अहोरात्रमुपासीरन् ११।१८३
अहोरात्रे विभजते १।६५
अह्ना चैकेन रात्र्या च ५।६४
अह्ना रात्र्या च याञ् जन्तून् ६।६९

आ

आकारमिङ्गितं चेष्टाम् ७।६७
आकारैरिङ्गितैर् गत्या ८।२६
आकालिकमनध्यायम् ४।१०३
आकालिकमनध्यायम् ४।११८
आकाशं जायते तस्मात् १।७५
आकाशमिव पङ्केन १०।१०४
आकाशात् तु विकुर्वाणात् १।७६
आकाशेशास् तु विज्ञेया ४।१८४
आकीर्णं भिक्षुकैर् वाऽन्यैः ६।५१
आक्रन्दे चाऽप्यपैहीति ८।२९२
आक्षारयञ् छतं दाप्यः ८।२७५
आख्यातव्यं तु तत् तस्मै ११।१७
आख्यानानीतिहासांश् च ३।२३२
आगःसु ब्राह्मणस्यैव ९।२४१
आगमं निर्गमं स्थानम् ८।४०१
आगमं वाऽप्यपां भिन्द्यात् ९।२८१
आगमः कारणं तत्र ८।२००
आचक्षाणेन तत् स्तेयम् ८।३१४
आचम्य प्रयतो नित्यम् २।२२२
आचम्य प्रयतो नित्यम् ५।८६
आचम्यैव तु निःस्नेहम् ५।८७
आचम्योदक् परावृत्य ३।२१७
आचान्तांश् चाऽनुजानीयात् ३।२५१
आचामेदेव भुक्त्वाऽन्नम् ५।१४४
आचारः परमो धर्मः १।१०८

आचारमग्निकार्यं च २।६९
आचारश् चैव साधूनाम् २।६
आचारहीनः क्लीबश्च ३।१६५
आचाराद् धनमक्षय्यम् ४।१५६
आचाराद् विच्युतो विप्रः १।१०९
आचाराल् लभते ह्यायुः ४।१५६
आचारेण तु संयुक्तः १।१०९
आचार्यं च प्रवक्तारम् ४।१६२
आचार्यं स्वमुपाध्यायम् ५।९१
आचार्यपुत्रः शुश्रूषुः २।१०९
आचार्यश्च पिता चैव २।२२५
आचार्यस् त्वस्य यां जातिम् २।१४८
आचार्ये तु खलु प्रेते २।२४७
आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः २।२२६
आचार्यो ब्रह्मलोकेशः ४।१८२
आच्छाद्य चाऽर्चयित्वा च ३।२७
आजीवनार्थं धर्मस् तु १०।७९
[आज्ञासिद्धानि चत्वारि १२।११०]
आततायिनमायान्तम् ८।३५०
आतुरामभिशस्तां वा ११।११२
आत्मज्ञाने शमे च स्यात् १२।९२
आत्मनश् च परित्राणे ८।३४९
आत्मनस् त्यागिनां चैव ५।८९
आत्मनैव सहायेन ६।४९
आत्मनो यदि वाऽन्येषाम् ११।११४
आत्मनो वृत्तिमन्विच्छन् ४।२५२
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ६।३८
आत्मन्यन्तर्दधे भूयः १।५१
आत्मानं च पशुं चैव ५।४२
आत्मानं सततं रक्षेत् ७।२१३
आत्मानं स्पर्शयेद् यस्मै ९।१७७
आत्मानमात्मना यास् तु ९।१२
आत्मार्थं च क्रियारम्भः ११।६४
आत्मा हि जनयत्येषाम् १२।११९
आत्मैव देवताः सर्वाः १२।११९
आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी ८।८४
आददानः परक्षेत्रात् ८।३४१
आददानस् तु तल् लोभात् ९।२४३
आददानो ददच् चैव ८।२२३
आददीत न शूद्रोऽपि ९।९८
आददीत यतो ज्ञानम् २।११७
आददीताऽथ षड्भागम् ७।१३१
आददीताऽथ षड्भागम् ८।३३
आददीताऽऽममेवाऽस्मात् ४।२२३
आदाननित्याच् चाऽऽदातुः ११।१५
आदानमप्रियकरम् ७।२०४
आदित्याज् जायते वृष्टिः ३।७६
आदिष्टी नोदकं कुर्यात् ५।८८
आद्यं यत् त्र्यक्षरं ब्रह्म ११।२६५
आद्याद्यस्य गुणं त्वेषाम् १।२०
आ द्वाविंशात् क्षत्रबन्धोः २।३८
आधिः सीमा बालधनम् ८।१४९
आधिश् चोपनिधिश् चोभौ ८।१४५
आध्यात्मिकं च सततम् ६।८३
आनन्तर्यात् स्वयोन्यां तु १०।२८
आनन्त्यायैव कल्प्यन्ते ३।२७२
आ निपाताच् छरीरस्य ६।३१
आनुलोम्येन सम्भूताः १०।५
आनृण्यं कर्मणा गच्छेत् ९।२२९
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य ११।१०१
आन्वीक्षिकीं चाऽऽत्मविद्याम् ७।४३
आपः शुद्धा भूमिगता ५।१२८
आपत्कल्पेन यो धर्मम् ११।२८
आपत्सु मरणाद् भीतैः ११।२९
आपदर्थं धनं रक्षेत् ७।२१३
आपद्गतोऽथवा वृद्धा ९।२८३
आपद्धर्मं च वर्णानाम् १।११६
आपद्यपत्यप्राप्तिश् च ९।१०३
आपद्यपि हि घोरायाम् २।११३
आपद्यपि हि यस् तेषाम् ९।३३६
आपो नारा इति प्रोक्ता १।१०
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः २।१०९
आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु ८।६३
आभीरोऽम्बष्ठकन्यायाम् १०।१५

आभ्यः कुर्याद् देवताभ्यः ३।८४
आमन्त्रितस् तु यः श्राद्धे ३।१९१
आ मृत्योः श्रियमन्विच्छेत् ४।१३७
आयतिं सर्वकार्याणाम् ७।१७८
आयत्यां गुणदोषज्ञः ७।१७९
आयव्ययौ च नियतौ ८।४१९
आयुः सुवर्णकाराऽन्नम् ४।२१८
आयुर् विप्राऽपवादेन ४।२३७
आयुष्कामेन वप्तव्यम् ९।४१
आयुष्मन्तं सुतं सूते ३।२६३
आयुष्मान् भव सौम्येति २।१२५
आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते २।५२
आयोगवश् च क्षत्ता च १०।१६
आरण्यांश् च पशून् सर्वान् १०।८९
आरण्यानां च सर्वेषाम् ५।९
आरभेत ततः कार्यम् ९।२९९
आरभेतैव कर्माणि ९।३००
आरम्भरुचिताऽधैर्यम् १२।३२
आर्तस् तु कुर्यात् स्वस्थः सन् ८।२१६
आर्द्रपादस् तु भुञ्जानः ४।७६
आर्द्रपादस् तु भुञ्जीत ४।७६
आर्द्रवासास् तु हेमन्ते ६।२३
आर्धिकः कुलमित्रं च ४।२५३
आर्यता पुरुषज्ञानम् ७।२११
आर्यरूपमिवाऽनार्यम् १०।५७
आर्षं धर्मोपदेशं च १२।१०६
आर्षे गोमिथुनं शुल्कम् ३।५३
आर्षोढाजः सुतस् त्रींस्त्रीन् ३।३८
आलस्यादन्नदोषाच्च ५।४
आवन्त्य-वाटधानौ च १०।२१
आविकं सन्धिनीक्षीरम् ५।८
आवृत्तानां गुरुकुलात् ७।८२
आशासते कुटुम्बिभ्यः ३।८०
आश्रमादाश्रमं गत्वा ६।३४
आश्रमे वृक्षमूले वा ११।७८
आश्रमेषु द्विजातीनाम् ८।३९०
आ षोडशाद् ब्राह्मणस्य २।३८
आसनं चैव यानं च ७।१६१
आसनाऽऽवसथौ शय्याम् ३।१०७
आसनाऽशनशय्याभिः ४।२९
आसनेषूपक्लृप्तेषु ३।२०८
आसपिण्डक्रियाकर्म ३।२४७
आ समाप्तेः शरीरस्य २।२४४
आ समावर्तनात् कुर्यात् २।१०८
आ समुद्रात् तु वै पूर्वात् २।२२
आसां महर्षिचर्याणाम् ६।३२
आसीत गुरुणा सार्धम् २।२०४
आसीताऽऽ मरणात् क्षान्ता ५।१५८
आसीदिदं तमोभूतम् १।५
आसीनस्य स्थितः कुर्यात् २।१९६
आसीनासु तथाऽऽसीनः ११।१११
आस्यतामिति चोक्तः सन् २।१९३
आहरेत् त्रीणि वा द्वे वा ११।१३
आहरेद् यावदर्थानि २।१८२
आहवेषु मिथोऽन्योऽन्यम् ७।८९
आहिण्डिको निषादेन १०।३७
आहुरुत्पादकं केचित् ९।३२
आहूय दानं कन्याया ३।२७
आहृताऽभ्युद्यतां भिक्षाम् ४।२४८
आ हैव स नखाग्रेभ्यः २।१६७

इ

इङ्गिताऽऽकारचेष्टज्ञम् ७।६३
इच्छयाऽन्योऽन्यसंयोगः ३।३२
इज्याश् च प्रतिगृह्णन्ति ११।२४२
इतरानपि सख्यादीन् ३।११३
इतरे कृतवन्तस् तु ९।२४२
इतरेभ्यो बहिर्वेदि ११।३
इतरेषां तु पण्यानाम् १०।९३
इतरेषां तु वर्णानाम् ३।३५
इतरेषां तु वर्णानाम् ८।३७९
इतरेषां तु वर्णानाम् ९।१८९
इतरेषु तु शिष्टेषु ३।४१
इतरेषु त्वपाङ्क्त्येषु ३।१८२

इतरेषु ससन्ध्येषु १।७०
इतरेष्वागमाद् धर्म. १।८२
इत्येतत् तपसो देवाः ११।२४४
इत्येतदेनसामुक्तम् ११।२४७
इत्येतन् मानवं शास्त्रम् १२।१२६
इदं तु वृत्तिवैकल्यात् १०।८५
इदं यशस्यमायुष्यम् १।१०६
इदं शरणमज्ञानाम् ६।८४
इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ १।५८
इदं शास्त्रमधीयानः १।१०४
इदं सामासिकं ज्ञेयम् १२।३४
इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठम् १।१०६
इदमन्विच्छतां स्वर्गम् ६।८४
इदमूचुर् महात्मानम् ५।१
इन्द्रमेके परे प्राणम् १२।१२३
इन्द्रस्याऽर्कस्य वायोश्च ९।३०३
इन्द्रा-ऽनिल-यमा-ऽर्काणाम् ७।४
इन्द्राऽन्तकाऽप्पतीन्दुभ्यः ३।८७
इन्द्रियाणां जये योगम् ७।४४
इन्द्रियाणां तु सर्वेषाम् २।९९
इन्द्रियाणां निरोधेन ६।६०
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन २।९३
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन १२।५२
इन्द्रियाणां विचरताम् २।८८
इन्द्रियाणि यशः स्वर्गम् ११।४०
इन्द्रियाऽर्थेषु सर्वेषु ४।१६
इन्धनार्थमशुष्काणाम् ११।६४
इमं कर्मविधिं विद्यात् ९।३२५
इमं लोकं मातृभक्त्या २।२३३
इमं हि सर्ववर्णानाम् ९।६
इमानप्यनुयुञ्जीत ८।२५९
इमान् नित्यमनध्यायान् ४।१०१
इयं भूमिर् हि भूतानाम् ९।३७
इयं विशुद्धिरुदिता ११।८९
इष्टिं वैश्वानरीं नित्यम् ११।२७
इष्टीः पार्वायणान्तीयाः ४।१०
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैः ६।३६
इह कीर्तिमवाप्नोति २।९
इह चाऽनुत्तमां कीर्तिम् ८।८१
इह चाऽमुत्र वा काम्यम् १२।८९
इह दुश्चरितैः केचित् ११।४८
इहाऽग्र्यां कीर्तिमाप्नोति ५।१६६
इहैव लोके तिष्ठन् सः १२।१०२
इहैवाऽऽस्ते तु सा लोके ३।१४१

ई

ईशः सर्वस्य जगतः ९।२४५
ईशो दण्डस्य वरुणः ९।२४५
ईश्वरं चैव रक्षार्थम् ४।१५३
ईश्वरः सर्वभूतानाम् १।९९

उ

उक्तो वः सर्ववर्णानाम् ५।१४६
उक्त्वा चैवाऽनृतं साक्ष्ये ११।८८
उग्राऽन्नं सूतिकाऽन्नं च ४।२१२
उच्चावचानि भूतानि १२।१५
उच्चावचेषु भूतेषु ६।७३
उच्चावचेषु भूतेषु १२।१४
उच्चैःस्थानं घोररूपम् ७।१२१
उच्छिन्दन् ह्यात्मनो मूलम् ७।१३९
उच्छिष्टं भागधेयं स्यात् ३।२४५
उच्छिष्टः श्राद्धभुक् चैव ४।१०९
उच्छिष्टमन्नं दातव्यम् १०।१२५
उच्छिष्टाऽन्ननिषेकं च ४।१५१
उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टः ५।१४३
उच्छीर्षके श्रियै कुर्यात् ३।८९
उच्छेषणं तु तत् तिष्ठेत् ३।२६५
उच्छेषणं भूमिगतम् ३।२४६
उत्कर्षं चाऽपकर्षं च १०।४२
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः ९।२४
उत्कृष्टायाऽभिरूपाय ९।८८
उत्कोचकाश् चौपधिकाः ९।२५८
उत्तमां सात्त्विकीमेताम् १२।५०
उत्तमां सेवमानस् तु ८।३६६
उत्तमाङ्गोदभवाज ज्यैष्ठ्यात १।९३

उत्तमानुत्तमान् गच्छन् ४।२४५
उत्तमेषूत्तमं कुर्यात् ३।१०७
उत्तमैरुत्तमैर् नित्यम् ४।२४४
उत्तिष्ठेत् प्रथमं चाऽस्य २।१९४
उत्थाय पश्चिमे यामे ७।१४५
उत्थायाऽऽवश्यकं कृत्वा ४।९३
उत्पत्तिरेव विप्रस्य १।९८
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः २।६८
उत्पत्स्यते हि तत् पात्रम् ४।२२८
उत्पद्यते गृहे यस्य ९।१७०
उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति १२।९६
उत्पादकब्रह्मदात्रोः २।१४६
उत्पादनमपत्यस्य ९।२७
उत्पादयति सावित्र्या २।१४८
उत्पादयेत् पुनर् भूत्वा ९।१७५
उत्सादनं च गात्राणाम् २।२०९
उदकं निनयेच् छेषम् ३।२१८
उदकुम्भं सुमनसः २।१८२
उदके मध्यरात्रे च ४।१०९
उदङ्मुखान् प्राङ्मुखान् वा ८।८७
उदासीनप्रचारं च ७।१५५
उदितेऽनुदिते चैव २।१५
उदितोऽयं विस्तरशः ९।२५०
उदित्यृचा वा वारुण्या ८।१०६
उद्‌धारं ज्यायसे दत्त्वा ९।१५६
उद्‌धारेऽनुद्‌धृते त्वेषाम् ९।११६
उद्‌धारो न दशस्वस्ति ९।११५
उद्‌धृते दक्षिणे पाणौ २।६३
उद्‌बबर्हाऽऽत्मनश् चैव १।१४
उद्‌भिज्जाः स्थावराः सर्वे १।४६
उद्यतैराहवे शस्त्रैः ५।९८
उद्‌वर्तनमपस्नानम् ४।१३२
उद्‌वहेत द्विजो भार्याम् ३।४
उद्‌वेजनकरैर् दण्डैः ८।३५२
उन्मत्तं पतितं क्लीबम् ९।७९
उन्मत्तजडमूकाश् च ९।२०१
उन्मत्तोऽन्धश्च वर्ज्याः स्युः ३।१६१
उपगृह्याऽऽस्पदं चैव ७।१८४
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या ५।१५४
उपचारक्रिया केलिः ८।३५७
उपच्छन्नानि चाऽन्यानि ८।२४९
उपजप्यानुपजपेत् ७।१९७
उपधाभिश् च यः कश्चित् ८।१९३
उपनीय गुरुः शिष्यम् २।६९
उपनीय तु तत् सर्वम् ३।२२८
उपनीय तु यः शिष्यम् २।१४०
उपपन्नो गुणैः सर्वैः ९।१४१
उपपातकसंयुक्तः ११।१०८
उपपातकिनस् त्वेवम् ११।१०७
उपरुध्याऽरिमासीत ७।१९५
उपवासकृशं तं तु ११।१९५
उपवीतमलङ्कारम् ४।६६
उपवेश्य तु तान् विप्रान् ३।२०९
उपसर्जनं प्रधानस्य ९।१२१
उपसेवेत तं नित्यम् ७।१७५
उपस्थमुदरं जिह्वा ८।१२५
उपस्थितं गृहे विद्यात् ३।१०३
उपस्पृशंस् त्रिषवणम् ६।२४
उपस्पृशंस् त्रिषवणम् ११।१२३
उपस्पृशंस् त्रिषवणम् ११।२१६
उपस्पृशेत् स्रवन्त्यां वा ११।१३२
उपस्पृश्य द्विजो नित्यम् २।५३
उपस्पृष्टोदकान् सम्यक् ३।२०८
उपांशुः स्याच् छतगुणः २।८५
उपाकर्मणि चोत्सर्गे ४।११९
उपाध्यायान् दशाऽऽचार्यः २।१४५
उपानहौ च वासश् च ४।६६
उपासते ये गृहस्थाः ३।१०४
उपेक्षकोऽसङ्कुसुकः ६।४३
उपेतारमुपेयं च ७।२१५
उप्यते यद् धि यद् बीजम् ९।४०
उभयं तु समं यत्र ९।३४
उभयोः सप्त दातव्या ५।१३६
उभयोर् हस्तयोर् मुक्तम् ३।२२५

उभाभ्यामप्यजीवंस् तु १०।८२
उभावपि तु तावेव ८।३७७
उभावपि हि तौ धर्मौ २।१४
उभे त एकशुल्केन ८।२०४
उभे यानाऽऽसने चैव ७।१६२
उभौ तौ नाऽर्हतो भागम् ९।१४३
उभौ निगृह्य दाप्यः स्यात् ८।१८४
उल्कानिर्घातकेतूंश् च १।३८
उष्ट्रयानं समारुह्य ११।२०१
उष्णे वर्षति शीते वा ११।११३

ऊ

ऊनद्विवार्षिकं प्रेतम् ५।६८
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्मात् ९।९०
ऊर्ध्वं नाभेर् मेध्यतरः १।९२
ऊर्ध्वं नाभेर् यानि खानि ५।१३२
ऊर्ध्वं पितुश् च मातुश् च ९।१०४
ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति २।१२०
ऊर्ध्वं विभागाज् जातस् तु ९।२१६
ऊर्ध्वं संवत्सरात् त्वेनाम् ९।७७
ऊष्मणश् चोपजायन्ते १।४५

ऋ

ऋक्षेष्ट्याग्रयणं चैव ६।१०
ऋक्संहितां त्रिरभ्यस्य ११।२६२
ऋग्वेदं धारयन् विप्रः ११।२६१
ऋग्वेदविद् यजुर्विच् च १२।११२
ऋग्वेदो देवदैवत्यः ४।१२४
ऋचो यजूंषि चाऽन्यानि ११।२६४
ऋजवस् ते तु सर्वे स्युः २।४७
ऋणं दातुमशक्तो यः ८।१५४
ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य ६।३५
ऋणे देये प्रतिज्ञाते ८।१३९
ऋणे धने च सर्वस्मिन् ९।२१८
ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयम् ४।५
ऋताऽमृताभ्यां जीवेत् तु ४।४
ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणाम् ३।४६
ऋतुकालाऽभिगामी स्यात् ३।४५
ऋत्विक्पुरोहिताऽऽचार्यैः ४।१७९
ऋत्विग् यदि वृतो यज्ञे ८।२०६
ऋत्विजं यस् त्यजेद् याज्यः ८।३८८
ऋत्विजस् ते हि शूद्राणाम् ११।४२
ऋषयः पितरो देवाः ३।८०
ऋषयः संयताऽऽत्मानः ११।२३६
ऋषयश् चक्रिरे धर्मम् २।१५४
ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वात् ४।९४
ऋषिभिर् ब्राह्मणैश् चैव ६।३०
ऋषिभ्यः पितरो जाताः ३।२०१
ऋषियज्ञं देवयज्ञम् ४।२१

ए

एक एव चरेन् नित्यम् ६।४२
एक एव सुहृद् धर्मः ८।१७
एकं एवौरसः पुत्रः ९।१६३
एकं गोमिथुनं द्वे वा ३।२९
एकं वृषभमुद्धारम् ९।१२३
एकः प्रजायते जन्तुः ४।२४०
एकः शतं योधयति ७।७४
एकः शयीत सर्वत्र २।१८०
एककालं चरेद् भैक्षम् ६।५५
एकजातिर् द्विजातींस् तु ८।२७०
एकदेशं तु वेदस्य २।१४१
एकमप्याशयेद् विप्रम् ३।८३
एकमुत्पादयेत् पुत्रम् ९।६०
एकमेव तु शूद्रस्य १।९१
एकमेव दहत्यग्निः ७।९
एकरात्रं तु निवसन् ३।१०२
एकरात्रोपवासश् च ११।२१२
एकविंशतिमाजातीः ४।१६६
एकस् तान् मन्त्रवित् प्रीतः ३।१३१
एकाकिनश् चाऽत्ययिके ७।१६५
एकाकी चिन्तयानो हि ४।२५८
एकाकी चिन्तयेन् नित्यम् ४।२५८
एकाक्षरं परं ब्रह्म २।८३
एकादशं मनो ज्ञेयम् २।९२

एकादशेन्द्रियाण्याहुः २।८९
एकादशे स्त्रीजननी ९।८१
एकाऽधिकं हरेज् ज्येष्ठः ९।११७
एकाऽन्तरे त्वानुलोम्यात् १०।१३
एकापायेन वर्तन्ते १।७०
एका लिङ्गे गुदे तिस्रः ५।१३६
एकैकं कारयेत् कर्म ७।१३८
एकैकं ग्रासमश्नीयात् ११।२१३
एकैकं ह्रासयेत् पिण्डम् ११।२१६
एकैकमपि विद्वांसम् ३।१२९
एकैकशश् चरेत् कृच्छ्रम् ११।१३९
एकैकशो युगानां तु १।६८
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतम् ४।२४०
एकोऽपि वेदविद् धर्मम् १२।११३
एकोऽलुब्धस् तु साक्षी स्यात् ८।७७
एकोऽहमस्मीत्यात्मानम् ८।९१
एतं सामासिकं धर्मम् १०।६३
एतच् चतुर्विधं प्राहुः २।१२
एतच् चतुर्विधं विद्यात् ७।१००
एतच् छौचं गृहस्थानाम् ५।१३७
एतत् कष्टतमं विद्यात् ७।५०
एतत् तु न परे चक्रुः ९।९९
एतत्त्रयं समाश्रित्य ७।२१५
एतत् त्रयं हि पुरुषम् ४।१३६
एतदक्षरमेतां च २।७८
एतदन्तास्तु गतयः १।५०
एतदुक्तं द्विजातीनाम् ५।२६
एतदेव चरेदब्दम् ११।१२९
एतदेव व्रतं कुर्युः ११।११७
एतदेव व्रतं कृत्स्नम् ११।१३०
एतद्दण्डविधिं कुर्यात् ८।२२१
एतद्देशप्रसूतस्य २।२०
एतद् द्वादशसाहस्रम् १।७१
एतद् धि जन्मसाफल्यम् १२।९३
एतद् धि मत्तोऽधिजगे १।५९
एतद् रुद्रास् तथाऽऽदित्याः ११।२२१
एतद् वः सारफल्गुत्वम् ९।५६
एतद् विदन्तो विद्वांसः ४।९१
एतद् विदन्तो विद्वांसः ४।१२५
एतद् विद्यात् समासेन ४।१६०
एतद् विधानं विज्ञेयम् ९।१४८
एतद् विधानमातिष्ठेत् ७।२२६
एतद् विधानमातिष्ठेत् ८।२४४
एतद् वोऽभिहितं शौचम् ५।१००
एतद् वोऽभिहितं सर्वम् ३।२८६
एतद् वोऽभिहितं सर्वम् १२।११६
एतद् वोऽयं भृगुः शास्त्रम् १।५९
एतद् व्याप्तिमदेतेषाम् १२।२६
एतन् मांसस्य मांसत्वम् ५।५५
एतमेके वदन्त्यग्निम् १२।१२३
एतमेव विधिं कृत्स्नम् ११।२१७
एतयर्चा विसंयुक्तः २।८०
एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते ११।१२२
एतांस् त्वभ्युदितान् विद्यात् ४।१०४
एताः प्रकृतयो मूलम् ७।१५६
एता दृष्ट्वाऽस्य जीवस्य १२।२३
एतानाकालिकान् विद्यात् ४।१०५
एतानाहुः कौटसाक्ष्ये ८।१२२
एतानि मान्यस्थानानि २।१३६
एतानि यतिपात्राणि ६।५४
एतानेके महायज्ञान् ४।२२
एतानेव महायज्ञान् ६।५
एतान् दोषानवेक्ष्य त्वम् ८।१०१
एतान् द्विजातयो देशान् २।२४
एतान्यपि सतां गेहे ३।१०१
एतान्येनांसि सर्वाणि ११।७१
एतान् विगर्हिताऽऽचारान् ३।१६७
एतावानेव पुरुषः ९।४५
एताश् चाऽन्याश् च सेवेत ६।२९
एताश्चाऽन्याश्च लोकेऽस्मिन् ९।२४
एतास् तिस्रस् तु भार्यार्थे ११।१७२
एते गृहस्थप्रभवाः ६।८७
एते चतुर्णां वर्णानाम् १०।१३०
एतेभ्यो हि द्विजाऽग्र्येभ्यः ११।३

एते मनूंस् तु सप्ताऽन्यान् १।३६
एते राष्ट्रे वर्तमाना ९।२२६
एते शूद्रेषु भोज्याऽन्ना ४।२५३
एते षद् सदृशान् वर्णान् १०।२७
एतेषां निग्रहो राज्ञः ८।३८७
एतेषामेव जन्तूनाम् १२।६९
एतेषामेव वर्णानाम् १।९१
एतेष्वविद्यमानेषु २।२४८
एते सर्वे पृथग् ज्ञेया ९।२३५
एतैरुपाययोगैस् तु ९।१७०
एतैरुपायैरन्यैश् च ९।३१२
एतैर् द्विजातयः शोध्याः ११।२२६
एतैर् लिङ्गैर् नयेत् सीमाम् ८।२५२
एतैर् विवादान् सन्त्यज्य ४।१८१
एतैर् व्रतैरपोहेत ११।१०२
एतैर् व्रतैरपोहेत ११।१६९
एतैर् व्रतैरपोहेयुः ११।१०७
एतैर् व्रतैरपोह्यं स्यात् ११।१४५
एतौ वर्षास्वनध्यायौ ४।१०२
एधोदकं मूलफलम् ४।२४७
एनसां स्थूलसूक्ष्माणाम् ११।२५२
एनस्विभिरनिर्णिक्तैः ११।१८९
एनो गच्छति कर्तारम् ८।१९
एभिर् जितैश् च जयति ४।१८१
एवं कर्मविशेषेण ११।५२
एवं गृहाश्रमे स्थित्वा ६।१
एवं चरति यो विप्रः २।२४९
एवं चरन् सदा युक्तः ९।३२४
एवं दृढव्रतो नित्यम् ११।८१
एवं धर्मं विजानीमः ९।४६
एवं धर्म्याणि कार्याणि ९।२५१
एवं निर्वपणं कृत्वा ३।२६०
एवं प्रयत्नं कुर्वीत ७।२२०
एवं यः सर्वभूतानि ३।९३
एवं यः सर्वभूतेषु १२।१२५
एवं यथोक्तं विप्राणाम् ५।२
एवं यद्यप्यनिष्टेषु ९।३१९
एवं विजयमानस्य ७।१०७
एवंविधान् नृपो देशान् ९।२६६
एवंवृत्तस्य नृपतेः ७।३३
एवंवृत्तां सवर्णां स्त्रीम् ५।१६७
एवं स जाग्रत्-स्वप्नाभ्याम् १।५७
एवं सञ्चिन्त्य मनसा ११।२३१
एवं सन्न्यस्य कर्माणि ६।९६
एवं स भगवान् देवः १२।११७
एवं समुद्धृतोद्धारे ९।११६
एवं सम्यग् घविर् हुत्वा ३।८७
एवं सर्वं विधायेदम् ७।१४२
एवं सर्वं स सृष्ट्वेदम् १।५१
एवं सर्वमिदं राजा ७।२१६
एवं सर्वानिमान् राजा ८।४२०
एवं सह वसेयुर् वा ९।१११
एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽऽसाम् ९।१६
एवमाचारतो दृष्ट्वा १।११०
एवमादीन् विजानीयात् ९।२६०
एवमेतैरिदं सर्वम् १।४१
एवमेव विधिं कुर्यात् ११।१८८
एष ज्ञेयस् त्रिवृद् वेदः ११।२६४
एष दण्डविधिः प्रोक्तः ८।२७८
एष धर्मः परः साक्षात् २।२३७
एष धर्मः समासेन ९।१०१
एष धर्मविधिः कृत्स्नः १०।१३१
एष धर्मोऽखिलेनोक्तः ८।२१८
एष धर्मो गवाऽश्वस्य ९।५५
एष धर्मोऽनुशिष्टो वः ६।८६
एष नौयायिनामुक्तः ८।४०९
एष प्रोक्तो द्विजातीनाम् २।६८
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै २।१९
एष वै प्रथमः कल्पः ३।१४७
एष वोऽभिहितो धर्मः ६।९७
एष शौचविधिः कृत्स्नः ५।१४६
एष शौचस्य वः प्रोक्तः ५।११०
एष सर्वः समुद्दिष्टः १२।५१
एष सर्वः समुद्दिष्टः १२।८२

एष सर्वाणि भूतानि १२।१२४
एष स्त्रीपुंसयोरुक्तः ९।१०३
एषां हि बाहुगुण्येन ७।७१
एषां हि विरहेण स्त्री ५।१४९
एषा धर्मस्य वो योनिः २।२५
एषा पापकृतामुक्ता ११।१७९
एषामन्यतमे स्थाने ८।११९
एषामन्यतमो यस्य ३।१४६
एषा विचित्राऽभिहिता ११।१९८
एषु स्थानेषु भूयिष्ठम् ८।८
एषोऽखिलः कर्मविधिः ९।३२५
एषोऽखिलेनाऽभिहितः ८।२६६
एषोऽखिलेनाऽभिहितः ८।३०१
एषोदिता गृहस्थस्य ४।२५९
एषोदिता लोकयात्रा ९।२५
एषोऽनाद्याऽदनस्योक्तः ११।१६१
एषोऽनापदि वर्णानाम् ९।३३६
एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तः ७।९८
एष्वर्थेषु पशून् हिंसन् ५।४२

ऐ

ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुः ८।३४४
ऐन्द्रं स्थानमुपासीनाः ५।९३

ओ

ओघवाताऽऽहृतं बीजम् ९।५४
ओङ्कारपूर्विकास् तिस्रः २।८१
ओषध्यः पशवो वृक्षाः ५।४०
ओषध्यः फलपाकान्ता १।४६

औ

औदकेनैव विधिना ३।२१५
औरभ्रिको माहिषिकः ३।१६६
औरभ्रेणाऽथ चतुरः ३।२६८
औरसः क्षेत्रजश् चैव ९।१५९
औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ ९।१६५
औरसो विभजन् दायम् ९।१६४
औषधान्यगदो विद्या ११।२३७

क

कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः ८।२८१
कणान् वा भक्षयेदब्दम् ११।९२
कण्टकोद्धरणे नित्यम् ९।२५२
कण्डनी चोदकुम्भश् च ३।६८
कथं तत्र विभागः स्यात् ९।१२२
कथं मृत्युः प्रभवति ५।२
कथञ्चिदप्यतिक्रामन् ३।१९०
कन्यां भजन्तीमुत्कृष्टम् ८।३६५
कन्यानां सम्प्रदानं च ७।१५२
कन्याप्रदानं विधिवत् ३।२९
कन्याऽऽप्रदानं स्वाच्छन्द्यात् ३।३१
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य ३।३०
कन्यायां दत्तशुल्कायाम् ९।९७
कन्याया दूषणं चैव ११।६१
कन्यैव कन्यां या कुर्यात् ८।३६९
कपालं वृक्षमूलानि ६।४४
करम्भवालुकातापान् १२।७६
करीषमिष्टकाऽङ्गारान् ८।२५०
कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ ४।१०२
कर्णौ चर्म च वालांश् च ८।२३४
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ २।२००
कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः १।६६
कर्मजा गतयो नृणाम् १२।३
कर्मणां च विवेकार्थम् १।२६
कर्मणां फलनिर्वृत्तिम् १२।१
कर्मणाऽपि समं कुर्यात् ८।१७७
[कर्मदण्डस् तु लोकांस्त्रीन् १२।९]
कर्मस्वभ्युद्यतस् त्रेता ९।३०२
कर्माण्यारभमाणं हि ९।३००
कर्मात्मनां च देवानाम् १।२२
कर्मारस्य निषादस्य ४।२१५
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषाम् २।९१
कर्मोपकरणाः शूद्राः १०।१२०
कलविङ्कं प्लवं हंसम् ५।१२
कलिः प्रसुप्तो भवति ९।३०२

कल्पयित्वाऽस्य वृत्तिं च ११।२३
कव्यानि चैव पितरः १।९५
कस्मिंश् चिदपि वृत्तान्ते ३।१४
काणं वाऽप्यथवा खञ्जम् ८।२७४
कानीनश् च सहोढश् च ९।१६०
कामं क्रोधं च लोभं च २।१७८
कामं तु क्षपयेद् देहम् ५।१५७
कामं तु खलु धर्मार्थम् १०।११७
कामं तु गुरुपत्नीनाम् २।२१६
कामं वा समनुज्ञातः ३।२२२
कामं श्राद्धेऽर्चयेन् मित्रम् ३।१४४
कामकारकृतेऽप्याहुः ११।४५
कामक्रोधौ तु संयम्य ८।१७५
कामक्रोधौ तु संयम्य १२।११
कामजेषु प्रसक्तो हि ७।४६
[कामतस् तु कृतं कर्म १२।८९]
कामतस् तु कृतं मोहात् ११।४६
कामतस् तु प्रवृत्तानाम् ३।१२
कामतो ब्राह्मणवधे ११।८९
कामतो रेतसः सेकम् ११।१२०
काममभ्यर्थितोऽश्नीयात् २।१८९
काममा मरणात् तिष्ठेत् ९।८९
काममुत्पाद्य कृष्यां तु १०।९०
कामात्मता न प्रशस्ता २।२
कामाऽऽत्मा विषमः क्षुद्रः ७।२७
कामाद् दशगुणं पूर्वम् ८।१२१
कामाद् धि स्कन्दयन् रेतः २।१८०
कामान् माता पिता चैनम् २।१४७
कामिनीषु विवाहेषु ८।११२
काम्यो हि वेदाधिगमः २।२
कायक्लेशांश् च तन्मूलान् ४।९२
काय-त्रैदशिकाभ्यां वा २।५८
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे २।५९
कारावरो निषादात् तु १०।३६
कारुकाञ् छिल्पिनश् चैव ७।१३८
कारुकाऽन्नं प्रजां हन्ति ४।२१९
कारुषश् च विजन्मा च १०।२३
कार्पासकीटजोर्णानाम् ११।१६८
कार्पासतान्तवं क्रौञ्चः १२।६४
कार्पासमुपवीतं स्यात् २।४४
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत ७।१६१
कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च ७।१०
कार्यः शरीरसंस्कारः २।२६
कार्षापणं भवेद् दण्ड्यः ८।३३६
कार्षापणस् तु विज्ञेयः ८।१३६
कार्ष्णरौरवबास्तानि २।४१
कार्ष्णायसमलङ्कारः १०।५२
कालं कालविभक्तीश्च १।२४
कालपक्वैः स्वयंशीर्णैः ६।२१
कालमासाद्य कार्यं च ८।३२४
कालमासाद्य कार्यं च ९।२९३
कालमेव प्रतीक्षेत ६।४५
कालशाकं महाशल्काः ३।२७२
कालेऽदाता पिता वाच्यः ९।४
काले प्राप्तस् त्वकाले वा ३।१०५
किञ्चिच् छ्रेयस्करतरम् १२।८४
किञ्चिदेव तु दाप्यः स्यात् ८।३६३
किञ्चिदेव तु विप्राय ११।१४१
कितवान् कुशीलवान् क्रूरान् ९।२२५
किन्नरान् वानरान् मत्स्यान् १।३९
कीटाश् चाऽहि-पतङ्गाश् च ११।२४०
कीनाशो गोवृषो यानम् ९।१५०
कुटुम्बात् तस्य तद् द्रव्यम् ११।१२
कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि ८।१६७
कुतपं चाऽऽसने दद्यात् ३।२३४
कुबेरश् च धनैश्वर्यम् ७।४२
कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च २।१९
कुरुक्षेत्रांश् च मत्स्यांश् च ७।१९३
कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थम् ७।१०
कुर्यादध्ययने यत्नम् २।१९१
कुर्यादन्यन् न वा कुर्यात् २।८७
कुर्यादहरहः श्राद्धम् ३।८२
कुर्याद् घृतपशुं सङ्गे ५।३७
कुर्युरर्घं यथापण्यम् ८।३९८

कुर्वन्ति क्षेत्रिणामर्थम् ९।५१
कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षम् ८।४०२
कुर्वीत शासनं राजा ९।२६२
कुलं दहति राजाऽग्निः ७।९
कुलजे वृत्तसम्पन्ने ८।१७९
कुलसङ्ख्यां च गच्छन्ति ३।६६
कुलान्यकुलतां यान्ति ३।६३
कुलान्याशु विनश्यन्ति ३।६५
कुलान्येव नयन्त्याशु ३।१५
कुले महति सम्भूताम् ७।७७
कुले मुख्येऽपि जातस्य १०।६०
कुविवाहैः क्रियालोपैः ३।६३
कुशीलवोऽवकीर्णी च ३।१५५
कुसीदपथमाहुस् तम् ८।१५२
कुसीदवृद्धिर् द्वैगुण्यम् ८।१५१
कुसूलधान्यको वा स्यात् ४।७
कुह्वै चैवाऽनुमत्यै च ३।८६
कूटशासनकर्तॄंश् च ९।२३२
कूपवापीजलानां च ११।१६३
कूष्माण्डैर् वाऽपि जुहुयात् ८।१०६
कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव ११।१७७
कृच्छ्राऽतिकृच्छ्रौ कुर्वीत ११।२०८
कृतं तद् धर्मतो विद्यात् ९।२३३
कृतं त्रेतायुगं चैव ९।३०१
कृतज्ञं धृतिमन्तं च ७।२१०
कृतदारोऽपरान् दारान् ११।५
कृतनिर्णेजनांश् चैव ११।१८९
कृतबुद्धिषु कर्तारः १।९७
कृतवापनो निवसेत् ११।७८
कृतवापो वसेद् गोष्ठे ११।१०८
कृताऽञ्जलिरुपाऽऽसीत ४।१५४
कृताऽनुसारादधिका ८।१५२
कृताऽन्नं चाऽकृतान्नेन १०।९४
कृते त्रेतादिषु ह्येषाम् १।८३
कृतोपनयनस्याऽस्य २।१७३
कृत्वा पापं हि सन्तप्य ११।२३०
कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा ५।१३८
कृत्वा विधानं मूले तु ७।१८४
कृत्वैतद् बलिकर्मैवम् ३।९४
कृत्स्नं चाऽष्टविधं कर्म ७।१५४
कृत्स्नमेव लभेताऽंशम् ८।२०७
कृमिकीटपतङ्गांश् च १।४०
कृमिकीटपतङ्गानाम् १२।५६
कृमिकीटवयोहत्या ११।७०
कृमिभूतः श्वविष्ठायाम् १०।९१
कृषिं साध्विति मन्यन्ते १०।८४
कृषिगोरक्षमास्थाय १०।८२
कृषिजीवी श्लीपदी च ३।१६५
कृष्टजानामोषधीनाम् ११।१४४
कृष्णपक्षे दशम्यादौ ३।२७६
कृष्णसारस्तु चरति २।२३
क्लृप्त-केश-नख-श्मश्रुः ४।३५
क्लृप्त-केश-नख-श्मश्रुः ६।५२
क्लृप्तानां पशुसोमानाम् ११।२७
केतितस् तु यथान्यायम् ३।१९०
केशकीटाऽवपन्नं च ४।२०७
केशकीटाऽवपन्नं च ११।१५९
केशग्रहान् प्रहारांश् च ४।८३
केशान्तः षोडशे वर्षे २।६५
केशान्तिको ब्राह्मणस्य २।४६
केशेषु गृह्णतो हस्तौ ८।२८३
कैवर्तमिति यं प्राहुः १०।३४
कोष्ठाऽगारा-ऽऽयुधाऽगार- ९।२८०
कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणान् ८।१२३
कौत्सं जप्त्वाऽप इत्येतत् ११।२४९
कौशेयं तित्तिरिर् हत्वा १२।६४
कौशेयाऽविकयोरूषैः ५।१२०
क्रमतः पूर्वमभ्यस्य ४।१२५
क्रमशः क्षेत्रजादीनाम् ९।२२०
क्रमशो याति लोकेऽस्मिन् १२।५३
क्रयविक्रयमध्वानम् ७।१२७
क्रयविक्रयाऽनुशयः ८।५
क्रयेण स विशुद्धं हि ८।२०१
क्रव्यादसूकरोष्ट्राणाम् ११।१५६

क्रव्यादांस् तु मृगान् हत्वा ११।१३७
क्रव्यादाञ् छकुनान् सर्वान् ५।११
क्रव्याद्भिश्च हतस्याऽन्यैः ५।१३१
क्रियाऽभ्युपगमात् त्वेतत् ९।५३
क्रीडन्निवैतत् कुरुते १।८०
क्रीणीयाद् यस् त्वपत्यार्थम् ९।१७४
क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चित् ८।२२२
क्रीत्वा स्वयं वाऽप्युत्पाद्य ५।३२
क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येत् ६।४८
क्रूरकर्मकृतां चैव १२।५८
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात् ७।५१
क्लेशांश्च विविधांस् तांस्तान् १२।८०
क्षत्तुर् जातस् तथोग्रायाम् १०।१९
क्षत्तृवैदेहकौ तद्वत् १०।१३
क्षत्त्रुग्रपुक्कसानां तु १०।४९
क्षत्रविट्शूद्रयोनिस् तु ९।२२९
क्षत्रशूद्रवपुर् जन्तुः १०।९
क्षत्रस्याऽतिप्रवृद्धस्य ९।३२०
क्षत्रियं चैव वैश्यं च ८।४११
क्षत्रियं चैव सर्पं च ४।१३५
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या २।४२
क्षत्रियस्य परो धर्मः ७।१४४
क्षत्रियस्य हि बालिश्यात् ११।२१
क्षत्रियाच् छूद्रकन्यायाम् १०।९
क्षत्रियाज् जातमेवं तु १०।६५
क्षत्रियाद् विप्रकन्यायाम् १०।११
क्षत्रियायामगुप्तायाम् ८।३८४
क्षत्रियो बाहुवीर्येण ११।३४
क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यम् ८।३१२
क्षयी चाऽऽप्यायितः सोमः ९।३१४
क्षय्यामयाव्यपस्मारि- ३।७
क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यः २।८४
क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसः ५।१०७
क्षीणस्य चैव क्रमशः ७।१६६
क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतम् १०।८८
क्षुद्रकाणां पशूनां तु ८।२९७
क्षुधाऽऽर्तश्चाऽत्तुमभ्यागात् १०।१०८
क्षुवतीं जृम्भमाणां वा ४।४३
क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वम् २।२४६
क्षेत्र-कूप-तडागानाम् ८।२६२
क्षेत्रजादीन् सुतानेतान् ९।१८०
क्षेत्रबीजसमायोगात् ९।३३
क्षेत्रभूता स्मृता नारी ९।३३
क्षेत्रिकस्य तु तद् बीजम् ९।१४५
क्षेत्रिकस्याऽत्यये दण्ड्यः ८।२४३
क्षेत्रिकस्यैव तद् बीजम् ९।५
क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः ८।२४१
क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यम् ७।२१२
क्षौमवच् छङ्खशृङ्गाणाम् ५।१२१

ख

खं सन्निवेशयेत् खेषु १२।१२०
खञ्जो वा यदि वा काणः ३।२४२
खट्वाङ्गी चीरवासा वा ११।१०५
खराऽश्वोष्ट्रमृगेभानाम् ११।६८
खलात् क्षेत्रादगाराद् वा ११।१७
खानि चैव स्पृशेदद्भिः २।६०
ख्यापनेनाऽनुतापेन ११।२२७

ग

गणाऽन्नं गणिकाऽन्नं च ४।२०९
गणाऽन्नं गणिकाऽन्नं च ४।२१९
गतप्रत्यागते चैव ७।१८६
गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत् ७।२२४
गन्धमाल्यैः सुरभिभिः ३।२०९
गन्धर्वा गुह्यका यक्षा १२।४७
गन्धानां च रसानां च ९।३२९
गन्धौषधिरसानां च ७।१३१
गर्दभाऽजाविकानां तु ८।२९८
गर्भभर्तृद्रुहां चैव ५।९०
गर्भादेकादशे राज्ञः २।३६
गर्भाऽष्टमेऽब्दे कुर्वीत २।३६
गर्भिणी तु द्विमासादिः ८।४०७
गर्हिताऽनाद्ययोर् जग्धिः ११।५६
गवां च परिवासेन ५।१२४

गवां च यानं पृष्ठेन ४।७२
गवा चाऽन्नमुपाऽऽघ्रातम् ४।२०९
गां विप्रमजमग्निं वा ३।२६०
गात्राणि चैव सर्वाणि ४।१४३
गान्धर्वः स तु विज्ञेयः ३।३२
गान्धर्वो राक्षसश् चैव ३।२१
गान्धर्वो राक्षसश् चैव ३।२६
गार्भैर् होमैर् जातकर्म- २।२७
गिरिपृष्ठं समारुह्य ७।१४७
गुच्छगुल्मं तु विविधम् १।४८
गुणांश् च सूपशाकाऽऽद्यान् ३।२२६
गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रम् ७।७६
गुरुं वा बालवृद्धौ वा ८।३५०
गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा ३।४
गुरुतल्पव्रतं कुर्यात् ११।१७०
गुरुतल्पे भगः कार्यः ९।२३७
गुरुतल्प्यभिभाष्यैनः ११।१०३
गुरुदारेषु कुर्वीत २।२१७
गुरुदारे सपिण्डे वा २।२४७
गुरुपत्नी तु युवतिः २।२१२
गुरुपत्न्या न कार्याणि २।२११
गुरुपुत्रेषु चाऽऽर्येषु २।२०७
गुरुमातृपितृत्यागः ११।५९
गुरुराहवनीयस् तु २।२३१
गुरुवच्च स्नुषावच्च ९।६२
गुरुवत् प्रतिपूज्याः स्युः २।२१०
गुरुशुश्रूषया त्वेवम् २।२३३
गुरुषु त्वभ्यतीतेषु ४।२५२
गुरुस्त्रीगमनीयं तु ११।१०२
गुरून् भृत्यांश् चोज्जिहीर्षन् ४।२५१
गुरोः कुले न भिक्षेत २।१८४
गुरोः प्रेतस्य शिष्यस् तु ५।६५
गुरोर् गुरौ सन्निहिते २।२०५
गुरोर् यत्र परीवादः २।२००
गुरोश् चाऽलीकनिर्बन्धः ११।५५
गुरोस् तु चंक्षुर्विषये २।१९८
गुरौ वसन् सञ्चिनुयात् २।१६४
गुरौ शिष्यश् च याज्यश् च ८।३१७
गुर्वर्थं पितृमात्रर्थम् ११।१
गुल्मवल्लीलतानां च ११।१४२
गुल्मांश् च स्थापयेदाप्तान् ७।१९०
गुल्मान् वेणूंश् च विविधान् ८।२४७
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश् च ९।१५९
गूहेत् कूर्म इवाऽङ्गानि ७।१०५
गृहं तडागमारामम् ८।२६४
गृहदोऽग्र्याणि वेश्मानि ४।२३०
गृहमेधिषु चाऽन्येषु ६।२७
गृहसंवेशको दूतः ३।१६३
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः ६।८९
गृहस्थस् तु यदा पश्येत् ६।२
गृहस्थैनैव धार्यन्ते ३।७८
गृहिणः पुत्रिणो मौलाः ८।६२
गृहीत्वा मुसलं राजा ११।१००
गृहे गुरावरण्ये वा ५।४३
गृह्णञ् छुल्कं हि लोभेन ३।५१
गोत्ररिक्थाऽनुगः पिण्डः ९।१४२
गोत्ररिक्थे जनयितुः ९।१४२
गोपः क्षीरभृतो यस् तु ८।२३१
गोबीजकाञ्चनैर् वैश्यम् ८।८८
गोबीजकाञ्चनैर् वैश्यम् ८।११३
गोब्राह्मणस्य चैवाऽर्थे ५।९५
गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे ११।१९६
गोभिरश्वैश् च यानैश् च ३।६४
गोमिनामेव ते वत्साः ९।५०
गोमूत्रं गोमयं क्षीरम् ११।२१२
गोमूत्रमग्निवर्णं वा ११।९१
गोमूत्रेणाऽऽचरेत् स्नानम् ११।१०९
गोयानैंऽप्सु दिवा चैव ११।१७४
गोरक्षकान् वाणिजिकान् ८।१०२
गोवधोऽयाज्यसंयाज्य- ११।५९
गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासाद- २।२०४
गोषु ब्राह्मणसंस्थासु ८।३२५
गोस्वाम्यनुमते भृत्यः ८।२३१
गौडी पैष्टी च माध्वी च ११।९४

ग्रहीता यदि नष्टः स्यात् ८।१६६
ग्रामं ग्रामशताऽध्यक्षः ७।११९
ग्रामघाते हिताभङ्गे ९।२७४
ग्रामजातिसमूहेषु ८।२२१
ग्रामदोषान् समुत्पन्नान् ७।११६
ग्रामस्याऽधिपतिं कुर्यात् ७।११५
ग्रामादरण्यं निःसृत्य ६।४
ग्रामादाहृत्य वाऽश्नीयात् ६।२८
ग्रामेयककुलानां च ८।२५४
ग्रामेष्वपि च ये केचित् ९।२७१
ग्रासाऽऽच्छादनमत्यन्तम् ९।२०२
ग्रीष्मे पञ्चतपास् तु स्यात् ६।२३

घ

घातयेद् विविधैर् दण्डैः ९।२७५
घृतकुम्भं वराहे तु ११।१३४
घोरेऽस्मिन् भूतसंसारे १।५०
घ्राणेन सूकरो हन्ति ३।२४१

च

चक्रवृद्धिं समारूढः ८।१५६
चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः ८।१५३
चक्रिणो दशमीस्थस्य २।१३८
चक्षुर् नासा च कर्णौ च ८।१२५
चण्डालपुक्कसानां च १२।५५
चण्डाल-श्वपचानां तु १०।५१
चण्डालहस्तादादाय १०।१०८
चण्डालात् पाण्डुसोपाकः १०।३७
चण्डालाऽन्त्यस्त्रियो गत्वा ११।१७५
चण्डालेन तु सोपाकः १०।३८
चतुःसुवर्णान् षण्निष्कान् ८।२२०
चतुःसौवर्णिको निष्कः ८।१३७
चतुरः प्रातरश्नीयात् ११।२१९
चतुरोऽंशान् हरेद् विप्रः ९।१५३
चतुरो ब्राह्मणस्याऽऽद्यान् ३।२४
चतुरो व्रतिनोऽभ्येति ११।१२१
चतुरोऽस्तमिते सूर्ये ११।२१९
चतुर्णामपि चैतेषाम् ४।८
चतुर्णामपि चैतेषाम् ९।२३६
चतुर्णामपि वर्णानाम् १।१०७
चतुर्णामपि वर्णानाम् ३।२०
चतुर्णामपि वर्णानाम् ५।५७
चतुर्णामपि वर्णानाम् ८।३५९
चतुर्णामपि वर्णानाम् ११।१३८
चतुर्णामाश्रमाणां च ७।१७
चतुर्थ एकजातिस् तु १०।४
चतुर्थः सम्प्रदातैषाम् ९।१८६
चतुर्थकालमश्नीयात् ११।१०९
चतुर्थकालिको वा स्यात् ६।१९
चतुर्थमाददानोऽपि १०।११८
चतुर्थमायुषो भागम् ४।१
चतुर्थमायुषो भागम् ६।३३
चतुर्थे मासि कर्तव्यम् २।३४
चतुर्भिरपि चैवैतैः ६।९१
चतुर्भिरितरैः सार्धम् ३।४६
[चतुर्वेदसमं पुण्यम् १२।१२५]
चतुष्पथाश् चैत्यवृक्षाः ९।२६४
चतुष्पात् सकलो धर्मः १।८१
चत्वारस् तूपचीयन्ते ८।१६९
चत्वारि सम्प्रवर्धन्ते २।१२१
चत्वार्याहुः सहस्राणि १।६९
चन्द्रवित्तेशयोश् चैव ७।४
चन्द्रस्याऽग्नेः पृथिव्याश्च ९।३०३
चमसानां ग्रहाणां च ५।११६
चराणामन्नमचराः ५।२९
चरितव्यमतो नित्यम् ११।५३
चरूणां स्रुक्स्रुवाणां च ५।११७
चरेत् सान्तपनं कृच्छ्रम् ११।१२४
चरेत् सान्तपनं कृच्छ्रम् ११।१६४
चरेयुः पृथिवीं दीनाः ९।२३८
चर्मचार्मिकभाण्डेषु ८।२८९
चर्माऽवनद्धं दुर्गन्धि ६।७६
चाक्षुषश् च महातेजा १।६२
चाण्डालश् च वराहश् च ३।२३९

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाः १२।९७
चातुर्वर्ण्यस्य कृत्स्नोऽयम् १२।१
चान्द्रायणं चरेन् मासम् ११।४१
चान्द्रायणं वा त्रीन् मासान् ११।१०६
चान्द्रायणविधानैर् वा ६।२०
चारणाश् च सुपर्णाश् च १२।४४
चारेणोत्साहयोगेन ९।२९८
चारैश् चाऽनेकसंस्थानैः ९।२६१
चिकित्सकस्य मृगयोः ४।२१२
चिकित्सका देवलकाः ३।१५२
चिकित्सकानां सर्वेषाम् ९।२८४
चिन्तयेद् धर्मकामाऽर्थान् ७।१५१
चिरस्थितमपि त्वाद्यम् ५।२५
चीरवासा द्विजोऽरण्ये ११।१०१
चीरीवाकस् तु लवणम् १२।६३
चूडाकर्म द्विजातीनाम् २।३५
चेलचर्माऽऽमिषाणां च ११।१६६
चेष्टाश् चैव विजानीयात् ७।१९४
चैत्यद्रुम-श्मशानेषु १०।५०
चैलवच् चर्मणां शुद्धिः ५।११९
चैलाऽशकश् च भवति १२।७२
चोदितो गुरुणा नित्यम् २।१९१
चौरैरुपद्रुते ग्रामे ४।११८
चौरिकाऽनृतमायाभिः १।८२
चौरैर् हृतं जलेनोढम् ८।१८९

छ

छत्राकं विड्वराहं च ५।१९
छद्मना चरितं यच्च ४।१९९
छायायामन्धकारे वा ४।५१
छाया स्वो दासवर्गश् च ४।१८५
छिद्रं च वारयेत् सर्वम् ८।२३९
छिन्ननास्ये भग्नयुगे ८।२९१
छुच्छुन्दरिः शुभान् गन्धान् १२।६५
छेत्तव्यं तत्तदेवाऽस्य ८।२७९
छेदने चैव यन्त्राणाम् ८।२९२
छेदवर्जं प्रणयनम् ८।२७७

ज

जगतश् च समुत्पत्तिम् १।१११
जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च ११।१५२
जग्ध्वा ह्यविधिना मांसम् ५।३३
जघन्यं सेवमानां तु ८।३६५
जटाश् च बिभृयान् नित्यम् ६।६
जटिलं चाऽनधीयानम् ३।१५१
जडमूकाऽन्धबधिराः ११।५२
जडमूकाऽन्धबधिरान् ७।१४९
जननेऽप्येवमेव स्यात् ५।६१
जनन्यां संस्थितायां तु ९।१९२
जनयित्वा सुतं तस्याम् ३।१७
जन्मज्येष्ठेन चाऽऽह्वानम् ९।१२६
जन्मन्येकोदकानां तु ५।७१
जन्मप्रभृति यत् किञ्चित् ८।९०
जन्मवृद्धिक्षयैर् नित्यम् १२।१२४
जपंस् तरत्समन्दीयम् ११।२५३
जपतां जुह्वतां चैव ४।१४६
जपन् वाऽन्यतमं वेदम् ११।७५
जपहोमैरपैत्येनः १०।१११
जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः ११।१९४
जपित्वा पौरुषं सूक्तम् ११।२५१
जपेच् च जुहुयाच् चैव ४।१४५
जपेद् वा नियताऽऽहारः ११।७७
जपोऽहुतो हुतो होमः ३।७४
जप्येनैव तु संसिध्येत् २।८७
जरया चाऽभिभवनम् ६।६२
जरां चैवाऽप्रतीकाराम् १२।८०
जराशोकसमाविष्टम् ६।७७
जाङ्गलं सस्यसम्पन्नम् ७।६९
जातदन्तस्य वा कुर्युः ५।७०
जातब्राह्मणशब्दस्य १०।१२२
जातिजानपदान् धर्मान् ८।४१
जातिभ्रंशकरं कर्म ११।१२४
जातिमात्रोपजीवी वा ८।२०
जातो नार्यामनार्यायाम् १०।६७
जातो निषादाच् छूद्रायाम् १०।१८

जातोऽप्यनार्यादार्यायाम् १०|६७
जानन्नपि हि मेधावी २|११०
जानीयादस्थिरां वाचम् ८|७१
जामयोऽप्सरसां लोके ४|१८३
जामयो यानि गेहानि ३|५८
जायन्ते दुर्विवाहेषु ३|४१
जायायास् तद् हि जायात्वम् ९|८
जालान्तरगते भानौ ८|१३२
जिघांसया ब्राह्मणस्य ११|२०६
जितेन्द्रियो हि शक्नोति ७|४४
जित्वा सम्पूजयेद् देवान् ७|२०१
जिह्वायाः प्राप्नुयाच् छेदम् ८|२७०
जीनकार्मुकबस्ताऽवीन् ११|१३८
जीर्णानि चैव वासांसि ६|१५
जीर्णोद्यानान्यरण्यानि ९|२६५
जीवन्तीनां तु तासां ये ८|२९
जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः १२|१३
जीविताऽत्ययमापन्नः १०|१०४
जीवेत् क्षत्रियधर्मेण १०|८१
जीवेदेतेन राजन्यः १०|९५
जैह्म्यं च मैथुनं पुंसि ११|६७
ज्ञातित्वेनाऽनुपेयास् ताः ११|१७२
ज्ञातिभ्यः सत्कृतं दत्त्वा ३|२६४
ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा ३|३१
ज्ञातिसम्बन्धिभिस् त्वेते ९|२३९
ज्ञानं तपोऽग्निराहारः ५|१०५
ज्ञाननिष्ठा द्विजाः केचित् ३|१३४
ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि ३|१३५
ज्ञानमूलां क्रियामेषाम् ४|२४
ज्ञानाऽज्ञानकृतं कृत्स्नम् ११|१४५
ज्ञानेनैवाऽपरे विप्राः ४|२४
ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि ३|१३२
ज्यायांसमनयोर् विद्यात् ३|१३७
ज्यायान् परःपरो ज्ञेयः ४|८
ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात् ९|१०५
ज्येष्ठः कुलं वर्धयति ९|१०९
ज्येष्ठः पूज्यतमो लोके ९|१०९
ज्येष्ठता च निवर्तेत ११|१८५
ज्येष्ठश् चैव कनिष्ठश् च ९|११३
ज्येष्ठस् तु जातो ज्येष्ठायाम् ९|१२४
ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः ९|११२
ज्येष्ठांशं प्राप्नुयाच् चाऽस्य ११|१८५
ज्येष्ठेन जातमात्रेण ९|१०६
ज्येष्ठे मासि नयेत् सीमाम् ८|२४५
ज्येष्ठो यवीयसो भार्याम् ९|५८
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत् १|७७
ज्योतिषश् च विकुर्वाणात् १|७८

झ

झल्ला मल्ला नटाश् चैव १२|४५
झल्लो मल्लश् च राजन्यात् १०|२२

ड

डिम्भाहवहतानां च ५|९५

त

त एव हि त्रयो लोकाः २|२३०
त एव हि त्रयो वेदाः २|२३०
तं कानीनं वदेन् नाम्ना ९|१७२
तं कामजमरिक्थीयम् ९|१४७
तं चेदभ्युदियात् सूर्यः २|२२०
तं देवनिर्मितं देशम् २|१७
तं देशकालौ शक्तिं च ७|१६
तं प्रतीतं स्वधर्मेण ३|३
तं मां वित्ताऽस्य सर्वस्य १|३३
तं यत्नेन जयेल् लोभम् ७|४९
तं यस् तु द्वेष्टि सम्मोहात् ७|१२
तं राजा निर्धनं कृत्वा १०|९६
तं राजा प्रणयन् सम्यक् ७|२७
तं शुश्रूषेत जीवन्तम् ५|१५१
तं हि स्वयम्भूः स्वादास्यात् १|९४
तं ह्यस्याऽऽहुः परं धर्मम् ४|१४७
तच् चाऽऽमिषेण कर्तव्यम् ३|१२३
तज् ज्ञेयं विदुषा सर्वम् १२|३५
तडागभेदकं हन्यात् ९|२७९

तडागान्युदपानानि ८।२४८
तडागाऽऽरामदाराणाम् ११।६१
ततः प्रभृति यो मोहात् ९।६८
ततः सपत्नाञ् जयति ४।१७४
ततः स्वमातृतः शेषाः ९।१२४
ततः स्वयम्भूर् भगवान् १।६
ततस् तथा स तेनोक्तः १।६०
ततो गृहबलिं कुर्यात् ३।२६५
ततो दुर्गं च राष्ट्रं च ७।२९
ततोऽपरे ज्येष्ठवृषाः ९।१२३
ततो भुक्तवतां तेषाम् ३।२५३
ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात् ९।११२
ततोऽर्धदण्डो भृत्यानाम् ८।२४३
तत्तत् कार्यं निवर्तेत ८।११७
तत्तत् तेनैव भावेन ४।२३४
तत्तत् पितृणां भवति ३।२७५
तत् तथा वोऽभिधास्यामि १।४२
तत् तथा स्थापयेद् राजा ८।२६१
तत्तदेव हरेत् तस्य ८।३३४
तत्तद् वोऽहं प्रवक्ष्यामि ७।३६
तत्तन् निवेदयेत् तेभ्यः २।२३६
तत् ते सर्वं शुनो गच्छेत् ८।९०
तत् पर्युषितमप्याद्यम् ५।२४
तत्पापं शतधा भूत्वा १२।११५
तत्पिण्डाऽग्रं प्रयच्छेत ३।२२३
तत् पुण्यफलमाप्नोति ३।९५
तत् प्रयत्नेन कुर्वीत ४।१६१
तत् प्राज्ञेन विनीतेन ९।४१
तत्र कालेन जायन्ते ९।२४६
तत्र भुक्त्वा पुनः किञ्चित् ७।२२५
तत्र यत् प्रीतिसंयुक्तम् १२।२७
तत्र यद् ब्रह्मजन्माऽस्य २।१७०
तत्र यद् रिक्थजातं स्यात् ९।१९०
तत्र ये भोजनीयाः स्युः ३।१२४
तत्र राजा भवेद् दण्ड्यः ८।३३६
तत्र वक्तव्यमनृतम् ८।१०४
तत्र विद्या न वप्तव्या २।११२
तत्र सत्यं ब्रुवन् साक्षी ८।७४
तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः ७।१४६
तत्र स्वामी भवेद् दण्ड्यः ८।२९३
तत्राऽऽत्मभूतैः कालज्ञैः ७।२१७
तत्राऽपरिवृतं धान्यम् ८।२३८
तत्राऽऽसीनः स्थितो वाऽपि ८।२
तत्राऽस्य माता सावित्री २।१७०
तत्समुत्थो हि लोकस्य ८।३५३
तत् सर्वं निर्दहन्त्याशु ११।२४१
तत् सर्वमाचरेद् युक्तः २।२२३
तत्सहायैरनुगतैः ९।२६७
तत् स्यादायुधसम्पन्नम् ७।७५
तत् स्वयं नृपतिः कुर्यात् ९।२३४
तथा गुरुगतां विद्याम् २।२१८
तथा गृहस्थमाश्रित्य ३।७७
तथा ग्रामशतानां च ७।११४
तथाऽघमर्षणं सूक्तम् ११।२६०
तथा च श्रुतयो बह्व्यः ९।१९
तथा चारैः प्रवेष्टव्यम् ९।३०६
तथा ज्ञानाऽग्निना पापम् ११।२४६
तथातथा कुशलता १२।७३
तथातथा त्वचेवाऽहिः ११।२२८
तथातथा दमः कार्यः ८।२८५
तथातथा विजानाति ४।२०
तथातथा शरीरं तत् ११।२२९
तथातथेमं चाऽमुं च १०।१२८
तथा त्यजन्निमं देहम् ६।७८
तथा दहति वेदज्ञः १२।१०१
तथा दुश्चरितं सर्वम् ११।२६३
तथा धरिममेयानाम् ८।३२१
तथा नश्यति वै क्षिप्रम् ९।४३
तथा नित्यं यतेयाताम् ९।१०२
तथा निमज्जतोऽधस्तात् ४।१९४
तथाऽनृचे हविर् दत्त्वा ३।१४२
तथा पापान् निगृह्णीयात् ९।३०८
तथा प्रकृतयो यस्मिन् ९।३०९
तथा प्रयत्नमातिष्ठेत् ७।६८

तथा बाह्यतरं बाह्यः १०।३०
तथाऽभिवर्षेत् स्वं राष्ट्रम् ९।३०४
तथा यशोऽस्य प्रथते ११।१५
तथा युध्येत सम्पन्नः ७।२००
तथा रक्षेन् नृपो राष्ट्रम् ७।११०
तथाऽरयो न हिंसन्ति ७।७३
तथा राज्ञा नियन्तव्याः ९।३०७
तथा राज्ञामपि प्राणाः ७।११२
तथाऽऽर्याज् जात आर्यायाम् १०।६९
तथाऽल्पाऽल्पो ग्रहीतव्यः ७।१२९
तथाऽवेक्ष्य नृपो राष्ट्रे ७।१२८
तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णात् ३।२७८
तथा सर्वं संविदध्यात् ७।१८०
तथा सर्वाणि भूतानि ९।३११
तथा हरेत् करं राष्ट्रान् ९।३०५
तथेदं यूयमप्यद्य ११।११९
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते ६।७१
तथैव वेदानृषयः ११।२४३
तथैव सप्तमे भक्ते ११।१६
तथैवाऽक्षेत्रिणो बीजम् ९।५१
तथैवाऽप्सरसः सर्वा १२।४७
तथैवाऽऽश्रमिणः सर्वे ६।९०
तथोपनिधिहर्तारम् ८।१९२
तथ्येनाऽपि ब्रुवन् दाप्यः ८।२७४
तदण्डमभवद् धैमम् १।९
तदध्यास्योद्वहेद् भार्याम् ७।७७
तदन्नं द्विगुणं दाप्यः ८।३९३
तदप्यक्षयमेव स्यात् ३।२७३
तदर्धिकं पादिकं वा ३।१
तदवाप्नोत्ययत्नेन ५।४७
[तदस्त्रं सर्ववर्णानाम् ११।३३]
तदा तु संश्रयेत् क्षिप्रम् ७।१७४
तदात्वाऽऽयतिसंयुक्तः ७।१६३
तदात्वे चाऽल्पिकां पीडाम् ७।१६९
तदा द्विधा बलं कृत्वा ७।१७३
तदा नियुञ्ज्याद् विद्वांसम् ८।९
तदाऽनेन विधानेन ७।१८१
तदायं सर्वभूतात्मा १।५४
तदा यायाद् विगृह्यैव ७।१८३
तदालभ्याऽप्यनध्यायः ४।११७
तदा विद्यादनध्यायम् ४।१०४
तदाविशन्ति भूतानि १।१८
तदाऽऽसीत प्रयत्नेन ७।१७२
तदा सुखमवाऽऽप्नोति ६।८०
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः २।७७
तदृणं प्राप्नुयात् सर्वम् ८।१०७
तदेकसप्ततिगुणम् १।७९
तदेषु सर्वमप्येतत् ८।१३०
तद् दाशैरेव दातव्यम् ८।४०८
तद् देशकुलजातीनाम् ८।४६
तद् धि कुर्वन् यथाशक्ति ४।१४
तद् ध्यग्न्यं सर्वविद्यानाम् १२।८५
तद् ब्राह्मणेन नाऽत्तव्यम् ११।९५
तद् ब्रूत सर्वं सत्येन ८।८०
तद् भवत्यसुखोदर्कम् ११।१०
तद् भैक्षभुग् जपन् नित्यम् ११।१७८
तद् रजः प्रतीपं विद्यात् १२।२८
तद् वः सर्वं प्रवक्ष्यामि ३।२२
तद् वदन् धर्मतोऽर्थेषु ८।१०३
तद् विप्रलुम्पन्त्यसुराः ३।२२५
तद्विसृष्टः स पुरुषः १।११
तद् वै युगसहस्रान्तम् १।७३
तनुलोमकेशदशनाम् ३।१०
तन्तुवायो दशपलम् ८।३९७
तन् मे रेतः पिता वृङ्क्ताम् ९।२०
तपः परं कृतयुगे १।८६
तपःस्वाध्यायनिष्ठाश् च ३।१३४
तपत्यादित्यवच् चैष ७।६
तपश् चरंश् चोग्रतरम् ६।२४
तपसश् चरणैश् चोग्रैः ६।७५
तपसा किल्बिषं हन्ति १२।१०४
तपसाऽपनुनुत्सुस् तु ११।१०१
तपसैव प्रपश्यन्ति ११।२३६
तपसैव प्रसिद्ध्यन्ति ११।२३७

तपसैव विशुद्धस्य ११।२४२
तपसैव सुतप्तेन ११।२३९
तपस् तप्त्वाऽसृजद् यं तु १।३३
[तपोनिश्चयसंयुक्तम् ११।४७]
तपोबीजप्रभावैस् तु १०।४२
तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तम् ११।२३४
तपोमूलमिदं सर्वम् ११।२३४
तपो वाचं रतिं चैव १।२५
तपो विद्या च विप्रस्य १२।१०४
तपोविशेषैर् विविधैः २।१६५
[तपोवीर्यप्रभावेण ११।३२]
तप्तकृच्छ्रं चरन् विप्रः ११।२१४
तप्तमासेचयेत् तैलम् ८।२७२
तमनेन विधानेन ८।२२८
तमपीह गुरुं विद्यात् २।१४९
तमसा बहुरूपेण १।४९
तमसो लक्षणं कामः १२।३८
तमाद्यं दण्डयेद् राजा ८।३३३
तमाहुः सर्वलोकस्य ८।३०८
तमोऽयं तु समाश्रित्य १।५५
तमौरसं विजानीयात् ९।१६६
तया स काये निर्दग्धे ११।९०
तयोरन्यतरः प्रैति २।१११
तयोरपि कुटुम्बाभ्याम् ११।१४
तयोरेवान्तरं गिर्योः २।२२
तयोर् दानं च कन्यायाः ११।६०
तयोर् दैवमचिन्त्यं तु ७।२०५
तयोर् नित्यं प्रतीघाते ९।२२२
तयोर् नित्यं प्रियं कुर्यात् २।२२८
तयोर् यद् यस्य पित्र्यं स्यात् ९।१९१
तयोर् हि मातापितरौ ९।१३३
तस्करप्रतिषेधार्थम् ९।२६६
तस्माच् छरीरमित्याहुः १।१७
तस्मात् तयोः स्वयोन्यैव ५।११३
तस्मात् पुत्त्र इति प्रोक्तः ९।१३८
तस्मात् प्रजाविशुद्ध्यर्थम् ९।९
तस्मात् सत्यं हि वक्तव्यम् ८।८३
तस्मात् समागमे तेषाम् ११।८३
तस्मात् सर्वाणि भूतानि ७।१०३
तस्मात् साधारणो धर्मः ९।९६
तस्मात् स्वेनैव वीर्येण ११।३२
तस्मादभिभवत्येष ७।५
तस्मादविद्वान् बिभियात् ४।१९१
तस्मादस्मिन् सदा युक्तः १।१०८
तस्मादस्य वधं राजा ८।३८१
तस्मादेतत् त्रयं नित्यम् ४।१३६
तस्मादेतत् परं मन्ये १२।९९
तस्मादेताः सदा पूज्या ३।५९
तस्मादेतैरधिक्षिप्तः ४।१८५
तस्माद् द्यूतं न सेवेत ९।२२७
तस्माद् द्विजेभ्यो दत्त्वाऽर्थम् ८।३८
तस्माद् धर्मं यमिष्टेषु ७।१३
तस्माद् धर्मं सहायार्थम् ४।२४२
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यः ८।१५
तस्माद् ब्राह्मण-राजन्यौ ११।९३
तस्माद् यम इव स्वामी ८।१७३
तस्माद् युग्मासु पुत्त्रार्थी ३।४८
तस्माद् राज्ञा निधातव्यः ७।८३
तस्माद् विमुक्तिमन्विच्छन् ११।२३२
तस्माद् वैतानकुशलः ११।३७
तस्मान् न देवाः श्रेयांसम् ८।९६
तस्मान् मेध्यतमं त्वस्य १।९२
तस्मिंस् तावत् तपः कुर्यात् ११।२३३
तस्मिञ् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा १।९
तस्मिन् देशे य आचारः २।१८
तस्मिन्नण्डे स भगवान् १।१२
तस्मिन् युक्तस्यैति नित्यम् ३।१२७
तस्मिन् स्वपति सुस्थे तु १।५३
तस्मै नाऽकुशलं ब्रूयात् ११।३५
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय २।११५
तस्मै हव्यं न दातव्यम् ३।१६८
तस्य कर्मविवेकार्थम् १।१०२
तस्य कर्माऽनुरूपेण ८।२०६
तस्य कुर्यान् नृपो दण्डम् ८।२२४

तस्य तद् वर्धते नित्यम् ९।२५५
तस्य तद् वितथं कुर्यात् ९।७३
तस्य तावच्छती सन्ध्या १।६९
तस्य तेजोमया लोका ६।३९
तस्य दण्डविकल्पः स्यात् ९।२२८
तस्य दण्डविशेषांस् तु ८।११९
तस्य देहाद् विमुक्तस्य ६।४०
तस्य नित्यं क्षरत्येष २।१०७
तस्य पुत्रे च पत्न्यां च ५।८०
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रम् ९।२५४
तस्य प्रेत्य फलं नास्ति ३।१३९
तस्य भृत्यजनं ज्ञात्वा ११।२२
तस्य मध्ये सुपर्याप्तम् ७।७६
तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यम् ११।९७
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन् २।१६
तस्य षड्भागभाग् राजा ८।३०५
तस्य सर्वाणि भूतानि ७।१५
तस्य सीदति तद् राष्ट्रम् ८।२१
तस्य सोऽहर्निशस्याऽन्ते १।७४
तस्य ह्याशु विनाशाय ७।१२
तस्यां चैव प्रसूतस्य ३।१९
तस्यां जाताः समांशाः स्युः ९।१५७
तस्यां त्वरोचमानायाम् ३।६२
तस्याः पुरीषे तं मासम् ३।२५०
तस्याऽऽददीत षड्भागम् ८।३५
तस्याऽपि तत् क्षुधा राष्ट्रम् ७।१३४
तस्याऽप्यन्नं यथाशक्ति ३।१०८
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्याम् ९।१३०
तस्याऽर्थे सर्वभूतानाम् ७।१४
तस्याऽऽशु कर्त्ये अङ्गुल्यौ ८।३६७
[तस्याऽऽस्यनिर्गतं धर्मम् १२।१२६]
तस्याऽऽहुः सम्प्रणेतारम् ७।२६
तस्येह त्रिविधस्याऽपि १२।४
तस्येह भागिनौ दृष्टौ ९।५३
तस्यैव वा निधानस्य ८।३६
तस्यैष व्यभिचारस्य ९।२१
तस्योत्सर्गेण शुध्यन्ति ११।१९३
तां तु यः स्तेनयेद् वाचम् ४।२५६
तां ब्रूयाद् भवतीत्येवम् २।१२९
तां विवर्जयतस् तस्य ४।४२
तांश्चारयित्वा त्रीन् कृच्छ्रान् ११।१९१
तां श्वभिः खादयेद् राजा ८।३७१
तां साध्वीं बिभृयान् नित्यम् ९।९५
तांस् तु देवाः प्रपश्यन्ति ८।८५
ताञ् छिष्याच् चौरदण्डेन ८।२९
ताडयित्वा तृणेनाऽपि ४।१६६
ताडयित्वा तृणेनाऽपि ११।२०५
तादृग्गुणा सा भवति ९।२२
तादृग् रोहति तत् तस्मिन् ९।३६
तादृशं फलमाप्नोति ९।१६१
तादृशान् सम्प्रवक्ष्यामि ८।६१
तादृशेन शरीरेण १२।८१
ताननन्तरनाम्नस् तु १०।१४
तानब्रवीदृषीन् सर्वान् १।६०
तानानयेद् वशं सर्वान् ७।१०७
तानि कारुककर्माणि १०।१००
तानि कृत्याहतानीव ३।५८
तानि निर्हरतो लोभात् ८।३९९
तानि सन्धिषु सीमायाम् ८।२५१
तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि २।८९
तान् निबोधत कार्त्स्न्येन ३।१८३
तान् प्रजापतिराहैत्य ४।२२५
तान् प्रसह्य नृपो हन्यात् ९।२६९
तान् प्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात् २।१२३
तान्यर्वाक्कालिकतया १२।९६
तान्येव पञ्चभूतानि १२।२२
तान् विदित्वा सुचरितैः ९।२६१
तान् वोऽभ्युपायान् वक्ष्यामि ११।२१०
तान् समासेन वक्ष्यामि १२।३९
तान् सर्वानभिसन्दध्यात् ७।१५९
तान् सर्वान् घातयेद् राजा ९।२२४
तान् सावित्रीपरिभ्रष्टान् १०।२०
तान् हव्यकव्ययोर् विप्रान् ३।१५०
तापसा यतयो विप्राः १२।४८

तापसेष्वेव विप्रेषु ६।२७
ताभिः सार्धमिदं सर्वम् १।२७
ताभ्यां स शकलाभ्यां च १।१३
तामनेन विधानेन ९।६९
तामिस्रमन्धतामिस्रम् ४।८८
तामिस्रादिषु चोग्रेषु १२।७५
ताम्र-रूप्य-सुवर्णानाम् ८।१३१
ताम्राऽयःकांस्यरैत्यानाम् ५।११४
ता यदस्याऽयनं पूर्वम् १।१०
ता राजसर्षपस् तिस्रः ८।१३३
तावतः सङ्ख्यया तस्मिन् ८।९७
तावतां न फलं तत्र ३।१७६
तावतां न भवेद् दातुः ३।१७८
तावतो ग्रसते प्रेत्य ३।१३३
तावतोऽतन्द्रितान् दक्षान् ७।६१
तावतोऽब्दानमुत्राऽन्यैः ४।१६८
तावत् स्यादशुचिर् विप्रः ५।७९
तावद् भवत्यप्रयतः ११।१५३
तावन्त्यब्दसहस्राणि ११।२०७
तावन् मृद्वारि चाऽऽदेयम् ५।१२६
तावानेव स विज्ञेयः ८।१९४
तावुभावप्यसंस्कार्यौ १०।६८
तावुभौ गच्छतः स्वर्गम् ४।२३५
तावुभौ चौरवच् छास्यौ ८।१९१
तावुभौ पतितौ स्याताम् ९।६३
तावुभौ भूतसम्पृक्तौ १२।१४
तासां क्रमेण सर्वासाम् ३।६९
तासां चेदवरुद्धानाम् ८।२३६
तासां पुत्त्रेषु जातेषु ९।१४९
तासां वर्णक्रमेण स्यात् ९।८५
तासामाद्याश् चतस्रस् तु ३।४७
तास्वेव भूतमात्रासु १२।१७
तिरस्कृत्योच्चरेत् काष्ठ- ४।४९
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यम् १२।४०
तिलप्रदः प्रजामिष्टाम् ४।२२९
तिलैर् व्रीहियवैर् माषैः ३।२६७
तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत् तु ११।१११
तीक्ष्णश् चैव मृदुश् च स्यात् ७।१४०
तीक्ष्णश् चैव मृदुश् चैव ७।१४०
तीरितं चाऽनुशिष्टं च ९।२३३
[तीरितं चाऽनुशिष्टं च ९।२३३]
तीर्थं तद् धव्यकव्यानाम् ३।१३०
तुरायणं च क्रमशः ६।१०
तुरीयो ब्रह्महत्यायाः ११।१२६
तुलामानं प्रतीमानम् ८।४०३
तृणं च गोभ्यो ग्रासार्थम् ८।३३९
तृणकाष्ठद्रुमाणां च ११।१६६
तृणगुल्मलतानां च १२।५८
तृणानि भूमिरुदकम् ३।१०१
तृतीयं धनदण्डं तु ८।१२९
तृतीयं यज्ञदीक्षायाम् २।१६९
तृतीयिनस् तृतीयाऽंशाः ८।२१०
[ते गच्छन्ति परं स्थानम् १२।१२६]
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ३।१३
ते चाऽपि बाह्यान् सुबहून् १०।२९
ते तमर्थमपृच्छन्त २।१५२
तेन चेदविवादस् ते ८।९२
तेन तुल्यः स्मृतो राजा ४।८६
तेन ते प्रेत्य पशुताम् ३।१०४
तेन यद्यत् सभृत्येन ७।३६
तेन यायात् सतां मार्गम् ४।१७८
तेन सार्धं विनिश्चित्य ७।५९
तेनाऽनुभूय ता यामीः १२।१७
तेनाऽऽयुर् वर्धते राज्ञः ७।१३६
तेनाऽर्धवृद्धिर् मोक्तव्या ८।१५०
तेनाऽस्य क्षरति प्रज्ञा २।९९
ते निन्दितैर् वर्तयेयुः १०।४६
तेनैव कृत्स्नमाप्नोति ३।२८३
तेनैव विप्रानासीनान् ३।२१९
तेनैव सार्धं प्रास्येयुः ११।१८६
ते पतन्त्यन्धतामिस्रे ४।१९७
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते ७।२३

ते पृष्टास् तु यथा ब्रूयुः	८।२५५
ते पृष्टास् तु यथा ब्रूयुः	८।२६१
तेऽभ्यासात् कर्मणां तेषाम्	१२।७४
तेभ्योऽधिगच्छेद् विनयम्	७।३९
तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण	११।१२३
ते वै सस्यस्य जातस्य	९।४९
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः	१२।१०९
तेषां ग्राम्याणि कार्याणि	७।१२०
तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ	९।२७६
तेषां तु समवेतानाम्	२।१३९
तेषां त्रयाणां शुश्रूषा	२।२२९
तेषां त्वगस्थिरोमाणि	४।२२१
तेषां त्ववयवान् सूक्ष्मान्	१।१६
तेषां दत्त्वा तु हस्तेषु	३।२२३
तेषां दोषानभिख्याप्य	९।२६२
तेषां न दद्याद् यदि तु	८।१८४
तेषां निष्ठा तु विज्ञेया	८।२२७
तेषां वृत्तं परिणयेत्	७।१२२
तेषां वेदविदो ब्रूयुः	११।८५
तेषां षड् बन्धुदायादाः	९।१५८
तेषां सततमज्ञानाम्	११।४३
तेषां सर्वत्रगं तेजः	९।३२१
तेषां सर्वस्वमादाय	७।१२४
तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थम्	६।६९
तेषां स्वंस्वमभिप्रायम्	७।५७
तेषामद्भिः स्मृतं शौचम्	६।५३
तेषामनुपरोधेन	२।२३६
तेषामपीह विज्ञेयम्	३।२००
तेषामर्थे नियुञ्जीत	७।६२
तेषामाद्यमृणाऽऽदानम्	८।४
तेषामारक्षभूतं तु	३।२०४
तेषामिदं तु सप्तानाम्	१।१९
तेषामुत्पन्नतन्तूनाम्	९।२०३
तेषामुदकमानीय	३।२१०
तेषामृषीणां सर्वेषाम्	३।१९४
तेषुतेषु तु कृत्येषु	९।२९७
तेषु दर्भेषु तं हस्तम्	३।२१६
तेषु सम्यग् वर्तमानः	२।५
ते षोडश स्याद् धरणम्	८।१३६
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु	२।२२८
तेष्वेव नित्यं शुश्रूषाम्	२।२३५
ते सम्यगुपजीवेयुः	१०।७४
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये	२।१०
तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि	७।७८
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्	७।८१
ते ह्येनं कुपिता हन्युः	९।३१३
तैः सार्धं चिन्तयेन् नित्यम्	७।५६
तैजसानां मणीनां च	५।१११
तैरेव चाऽऽवृतो भूतैः	१२।२०
तैर् भूतैः स परित्यक्तः	१२।२१
तैस्तैरुपायैः सङ्गृह्य	८।४८
तौ तु जातौ परक्षेत्रे	३।१७५
तौ धर्मं पश्यतस् तस्य	१२।१९
तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ	८।५९
तौर्यत्रिकं वृथाऽट्या च	७।४७
तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः	८।४१८
त्यजन्नपतितानेतान्	८।३८९
त्यजेदाश्वयुजे मासि	६।१५
त्रयं सुविदितं कार्यम्	१२।१०५
त्रयः परार्थे क्लिश्यन्ति	८।१६९
त्रयश् चाऽऽश्रमिणः पूर्वे	१२।१११
त्रयाणामपि चैतेषाम्	१२।३०
त्रयाणामपि चैतेषाम्	१२।३४
त्रयाणामप्युपायानाम्	७।२००
त्रयाणामुदकं कार्यम्	९।१८६
त्रयोदशी च शेषास् तु	३।४७
त्रयो धर्मा निवर्तन्ते	१०।७७
त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया	८।१३३
त्रिंशत् कला मुहूर्तः स्यात्	१।६४
त्रिंशद्वर्षोद्वहेत् कन्याम्	९।९४
त्रिगुणं स्याद् वनस्थानाम्	५।१३७
त्रिणाचिकेतः पञ्चाऽग्निः	३।१८५

त्रिदण्डमेतन् निक्षिप्य १२।११
त्रिपक्षादब्रुवन् साक्ष्यम् ८।१०७
त्रिपदा चैव सावित्री २।८१
त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः २।७७
त्रिरहस् त्रिर् निशायां च ११।२२३
त्रिराचामेदपः पूर्वम् २।६०
त्रिराचामेदपः पूर्वम् ५।१३९
त्रिरात्रमाहुराशौचम् ५।८०
त्रिवारं प्रतिरोद्धा वा ११।८०
[त्रिविधं च शरीरेण १२।८]
त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः १२।५१
त्रिविधात्रिविधैषा तु १२।४१
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन २।४३
त्रिषु वर्णेषु यानि स्युः ८।१२४
त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि ४।१९३
त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु २।२३२
त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि २।२३७
त्रींस्तु तस्माद् धविःशेषात् ३।२१५
त्रीणि चाऽत्र प्रशंसन्ति ३।२३५
त्रीणि देवाः पवित्राणि ५।१२७
त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत ९।९०
त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि ३।२३५
त्रीण्याद्यान्याश्रितास् त्वेषाम् ७।७२
त्रीण्युत्तराणि क्रमशः ७।७२
त्रैविद्यवृद्धान् विदुषः ७।३७
त्रैविद्याः शुचयो दान्ताः ९।१८८
त्रैविद्येभ्यस् त्रयीं विद्याम् ७।४३
त्रैविद्यो हेतुकस् तर्की १२।१११
त्र्यंशं दायाद् धरेद् विप्रः ९।१५१
त्र्यब्दं चरेद् वा नियतः ११।१२८
त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणाम् २।१३४
त्र्यवरा परिषज् ज्ञेया १२।११२
त्र्यवरा वाऽपि वृत्तस्थाः १२।११०
त्र्यवरैः साक्षिभिर् भाव्यः ८।६०
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा ९।९४
त्र्यहं चोपवसेदन्त्यम् ११।२१३
त्र्यहं तूपवसेद् युक्तः ११।२५९
त्र्यहं न कीर्तयेद् ब्रह्म ४।११०
त्र्यहं परं च नाऽश्नीयात् ११।२११
त्र्यहं प्रातस् त्र्यहं सायम् ११।२११
त्र्यहेण शूद्रो भवति १०।९२
त्र्यहैहिको वाऽपि भवेत् ४।७
त्वग्भेदकः शतं दण्ड्यः ८।२८४
त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य १।३

द

दक्षिणां दिशमाकाङ्क्षन् ३।२५८
दक्षिणाप्रवणं चैव ३।२०६
दक्षिणाऽभिमुखो रात्रौ ४।५०
दक्षिणासु च दत्तासु ८।२०७
दक्षिणेन मृतं शूद्रम् ५।९२
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः ७।१८
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति ७।१८
दण्डव्यूहेन तन्मार्गम् ७।१८७
दण्डशुल्काऽवशेषं च ८।१५९
दण्डस्य पातनं चैव ७।५१
दण्डस्य हि भयात् सर्वम् ७।२२
दण्डेनैव तमप्योषेत् ९।२७३
दण्डेनैव प्रसह्यैतान् ७।१०८
दण्डो हि सुमहत् तेजः ७।२८
दत्तस्यैषोदिता धर्म्या ८।२१४
दत्तानि हव्यकव्यानि ३।१७५
दत्तेन मासं तृप्यन्ति ३।२६७
दत्त्वा धनं तु विप्रेभ्यः ९।३२३
दत्त्वा पुनः प्रयच्छन् हि ९।७१
ददौ स दश धर्माय ९।१२९
दद्याच् च सर्वभूतानाम् ९।३३३
दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु ५।१०
दध्नः क्षीरस्य तक्रस्य ८।३२६
दन्तजातेऽनुजाते च ५।५८
दर्भाः पवित्रं पूर्वाह्णः ३।२५६
दर्शनप्रातिभाव्ये तु ८।१६०
दर्शनेन विहीनस् तु ६।७४

दर्शमस्कन्दयन् पर्व ६।९
दर्शेन चाऽर्धमासाऽन्ते ४।२५
दश कामसमुत्थानि ७।४५
दशध्वजसमो वेशः ४।८५
दश पूर्वान् परान् वंश्यान् ३।३७
दशमं द्वादशं वाऽपि ८।३३
दश मासांस् तु तृप्यन्ति ३।२७०
दशलक्षणकं धर्मम् ६।९४
दशलक्षणको धर्मः ६।९१
दशलक्षणयुक्तस्य १२।४
दश लक्षणानि धर्मस्य ६।९३
दशसूनासमं चक्रम् ४।८५
दशसूनासहस्राणि ४।८६
दश स्थानानि दण्डस्य ८।१२४
दशाऽतिवर्तनान्याहुः ८।२९०
दशाऽपरे तु क्रमशः ९।१६५
दशाब्दाख्यं पौरसख्यम् २।१३४
दशाऽवरा वा परिषत् १२।११०
दशाऽहं शावमाशौचम् ५।५९
दशी कुलं तु भुञ्जीत ७।११९
दस्युनिष्क्रिययोस् तु स्वम् ११।१८
दह्यन्ते ध्मायमानानाम् ६।७१
दातव्यं बान्धवैस् तत् स्यात् ८।१६६
दातव्यं सर्ववर्णेभ्यः ८।४०
दाता नित्यमनादाता ६।८
दातारो नोऽभिवर्धन्ताम् ३।२५९
दातुर् भवत्यनर्थाय ४।१९३
दातुर् यद् दुष्कृतं किञ्चित् ३।१९१
दातॄन् प्रतिग्रहीतॄंश् च ३।१४३
दानं प्रतिग्रहं चैव १।८८
दानं प्रतिग्रहश् चैव १०।७५
दानधर्मं निषेवेत ४।२२७
दानप्रतिभुवि प्रेते ८।१६०
दानेन वधनिर्णेकम् ११।१३९
दापयेद् धनिकस्याऽर्थम् ८।४७
दापयेद् धनिकस्याऽर्थम् ८।५१
दायाद्यस्य प्रदानं च ११।१८४
दाराऽग्निहोत्रसंयोगम् ३।१७१
दाराधिगमनं चैव १।११२
दाराधीनस् तथा स्वर्गः ९।२८
दाशाऽपराधतस् तोये ८।४०९
दासवर्गस्य तत् पित्र्ये ३।२४६
दासा-ऽश्व-रथहर्ता च ८।३४२
दासी घटमपां पूर्णम् ११।१८३
दास्यं तु कारयल्ँ लोभात् ८।४१२
दास्यां वा दासदास्यां वा ९।१७९
दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ८।४१३
दाहयेदग्निहोत्रेण ५।१६७
दिवं गतानि विप्राणाम् ५।१५९
दिवाकीर्तिमुदक्यां च ५।८५
दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यः ३।९०
दिवा चरेयुः कार्यार्थम् १०।५५
दिवाऽनुगच्छेद् गास् तास् तु ११।११०
दिवा वक्तव्यता पाले ८।२३०
[दीक्षितं दक्षिणाहीनः ११।४०]
दीक्षितस्य कदर्यस्य ४।२१०
[दीपहर्ता भवेदन्धः ११।५१]
दीप्यमानः स्ववपुषा २।२३२
दीर्घाऽध्वनि यथादेशम् ८।४०६
दीर्घाल्ँ लघूंश् चैव नरान् ७।१९३
दुःखं सुमहदाप्नोति ४।१६७
दुःखभागी च सततम् ४।१५७
दुःखिता यत्र दृश्येरन् ९।२८८
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थम् १।२३
दुराचारो हि पुरुषः ४।१५७
दुष्टसामन्तहिंस्रश् च ९।३१०
दुष्येयुः सर्ववर्णाश् च ७।२४
दुहित्रा दासवर्गेण ४।१८०
दूत एव हि सन्धत्ते ७।६६
दूतं चैव प्रकुर्वीत ७।६३
दूतसम्प्रेषणं चैव ७।१५३
दूतस् तत् कुरुते कर्म ७।६६

दूरस्थो नाऽर्चयेदेनम् ३।२०२
दूरादावसथान् मूत्रम् ४।१५१
दूरादाहृत्य समिधः २।१८६
दूरादेव परीक्षेत ३।१३०
दूषयेच् चाऽस्य सततम् ७।१९५
दूषितं केशकीटैश् च ५।१२५
दूषितोऽपि चरेद् धर्मम् ६।६६
दृढकारी मृदुर् दान्तः ४।२४६
दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम् ६।४६
दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच् च २।५४
देवकार्याद् द्विजातीनाम् ३।२०३
देवताऽतिथिभृत्यानाम् ३।७२
देवतानां गुरो राज्ञः ४।१३०
देवताऽभ्यर्चनं चैव २।१७६
देवताभ्यस् तु तद् धुत्वा ६।१२
देवत्वं सात्त्विका यान्ति १२।४०
देवदत्तां पतिर् भार्याम् ९।९५
देव-दानव-गन्धर्वाः ७।२३
देवब्राह्मणसान्निध्ये ८।८७
देवराद् वा सपिण्डाद् वा ९।५९
देवराय प्रदातव्या ९।९७
देवस्वं ब्राह्मणस्वं वा ११।२६
देवानृषीन् मनुष्यांश् च ३।११७
देवान् कुर्युरदेवांश् च ९।३१५
देवान् देवनिकायांश् च १।३६
देवान् पितॄंश् चाऽर्चयित्वा ५।३२
देवाश् चैतान् समेत्योचुः २।१५२
देवेभ्यस् तु जगत् सर्वम् ३।२०१
देशं रूपं च कालं च ८।४५
देशधर्मान् जातिधर्मान् १।११८
देशानलब्धाल्ँ लिप्सेत ९।२५१
देहादुत्क्रमणं चाऽस्मात् ६।६३
देहेषु च समुत्पत्तिम् ६।६५
दैत्यदानवयक्षाणाम् ३।१९६
दैवं हि पितृकार्यस्य ३।२०३
दैवकर्मणि युक्तो हि ३।७५
दैवतान्यभिगच्छेत् तु ४।१५३
दैवपित्र्याऽऽतिथेयानि ३।१८
दैवाऽऽद्यन्तं तदीहेत ३।२०५
दैविकानां युगानां तु १।७२
दैवे रात्र्यहनी वर्षम् १।६७
दैवे हविषि पित्र्ये वा ३।१६९
दैवे हविषि पित्र्ये वा ३।२४०
दैवोढाजः सुतश्चैव ३।३८
दैहिकानां मलानां च ५।१३४
दोषो भवति विप्राणाम् १०।१०३
दौर्बल्यं ख्याप्यते राज्ञः ८।१७१
दौहित्र एव च हरेत् ९।१३१
दौहित्रं विट्पतिं बन्धुम् ३।१४८
दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनम् ९।१३९
दौहित्रो ह्यखिलं रिक्थम् ९।१३२
द्यूतं च जनवादं च २।१७९
द्यूतं समाह्वयं चैव ९।२२१
द्यूतं समाह्वयं चैव ९।२२४
द्यूतपानप्रसक्ताश् च १२।४५
द्यूतमेतत् पुराकल्पे ९।२२७
द्यौर् भूमिरापो हृदयम् ८।८६
द्रवाणां चैव सर्वेषाम् ५।११५
द्रव्याणां स्थानयोगांश् च ९।३३२
द्रव्याणामल्पसाराणाम् ११।१६४
द्रव्याणि हिंस्याद् यो यस्य ८।२८८
द्रव्याऽर्जनं च नाशं च १२।७९
द्रोहभावं कुचर्यां च ९।१७
द्वन्द्वैरयोजयच् चेमाः १।२६
द्वयोरप्येतयोर् मूलम् ७।४९
द्वयोर् हि कुलयोः शोकम् ९।५
द्वयोस् त्रयाणां पञ्चानाम् ७।११४
द्वापरे यज्ञमेवाहुः १।८६
द्वाभ्यामेकश् चतुर्थस् तु ४।९
द्वाराणां चैव भङ्क्तारम् ९।२८९
द्वावेव वर्जयेन् नित्यम् ४।१२७
द्विकं त्रिकं चतुष्कं च ८।१४२

द्विकं शतं वा गृह्णीयात् ८।१४१
द्विकं शतं हि गृह्णानः ८।१४१
[द्विगुणं दण्डमास्थाय ९।२३३]
द्विगुणा वा चतुःषष्टिः ८।३३८
द्विजातय इवेज्याभिः ८।३११
द्विजातयः सवर्णासु १०।२०
द्विजातिप्रवरो विद्वान् ३।१६७
द्विजातिमुख्यवृत्तीनाम् ३।२८६
द्विजातीनां च वर्णानाम् ८।३४८
द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिः ८।३४१
द्वितीयं तु पितुस् तस्याः ९।१४०
द्वितीयमायुषो भागम् ४।१
द्वितीयमायुषो भागम् ५।१६९
द्वितीयमेके प्रजनम् ९।६१
द्वितीये हस्तचरणौ ९।२७७
द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहम् १।३२
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधम् ७।१६७
द्विविधांस् तस्करान् विद्यात् ९।२५६
द्विशतं तु दमं दाप्यः ८।३६८
द्विषता हि हविर् भुक्तम् ३।१४४
द्विषदन्नं नगर्यन्नम् ४।२१३
द्वे कृष्णले समधृते ८।१३५
द्वेषं दम्भं च मानं च ४।१६३
द्वैधीभावं संश्रयं च ७।१६०
द्वौ तु यौ विवदेयाताम् ९।१९१
द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीन् ३।१२५
द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन ३।२६८
द्व्येकाऽन्तरासु जातानाम् १०।७

ध

धनं तत् पुत्रिकाभर्ता ९।१३५
धनं यो बिभृयाद् भ्रातुः ९।१४६
धनं वा जीवनायाऽलम् ११।७६
धनवन्तं प्रजावन्तम् ३।२६३
धनानि तु यथाशक्ति ११।६
धनिनं वाऽप्युपाऽऽराध्य १०।१२१
धनुःशतं परीहारः ८।२३७
धनुःशराणां कर्ता च ३।१६०
धनेन वैश्यशूद्रौ तु ११।३४
धनोष्मणा पच्यमानाः ९।२३१
धन्यं यशस्यमायुष्यम् ३।१०६
धन्वदुर्गं महीदुर्गम् ७।७०
धरणानि दश ज्ञेयः ८।१३७
धर्म एव हतो हन्ति ८।१५
धर्मं चाऽप्यसुखोदर्कम् ४।१७६
धर्मं जिज्ञासमानानाम् २।१३
धर्मं शनैः सञ्चिनुयात् ४।२३८
धर्मं शाश्वतमाश्रित्य ८।८
धर्मक्रियाऽऽत्मचिन्ता च १२।३१
धर्मज्ञं च कृतज्ञं च ७।२०९
धर्मतोऽधर्मतश् चैव १२।२३
धर्मध्वजी सदा लुब्धः ४।१९५
धर्मनैपुण्यकामानाम् ४।१०७
धर्मप्रधानं पुरुषम् ४।२४३
धर्मप्रवक्ता नृपतेः ८।२०
धर्ममूलं निषेवेत ४।१५५
धर्मस्थः कारणैरेतैः ८।५७
धर्मस्य परमं गुह्यम् १२।११७
धर्मस्य ब्राह्मणो मूलम् ११।८३
धर्मस्याऽव्यभिचारार्थम् ८।१२२
धर्माद् विचलितं हन्ति ७।२८
धर्माऽर्थं चैव विप्रेभ्यः ७।७९
धर्माऽर्थं येन दत्तं स्यात् ८।२१२
धर्माऽर्थप्रभवं चैव ६।६४
धर्माऽर्थावुच्यते श्रेयः २।२२४
धर्माऽर्थौ यत्र न स्याताम् २।११२
धर्माऽऽसनमधिष्ठाय ८।२३
धर्मेण च द्रव्यवृद्धौ ९।३३३
धर्मेण व्यवहारेण ८।४९
धर्मेण हि सहायेन ४।२४२
धर्मेणाऽधिगतो यैस् तु १२।१०९
धर्मेणाऽपि नियुक्तायाम् ३।१७३
धर्मेप्सवस् तु धर्मज्ञाः १०।१२७

धर्मोपदेशं दर्पेण ८।२७२
धर्मो विद्धस् त्वधर्मेण ८।१२
धर्म्यं विभागं कुर्वीत ९।१५२
धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश् च ५।३०
धाना मत्स्यान् पयो मांसम् ४।२५०
धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यः ८।३२०
धान्यं शाकं च वासांसि २।२४६
धान्यं हृत्वा भवत्याखुः १२।६२
धान्यकुप्यपशुस्तेयम् ११।६६
धान्यचौरोऽङ्गहीनत्वम् ११।५०
धान्यदः शाश्वतं सौख्यम् ४।२३२
धान्यानामष्टमो भागः ७।१३०
धान्याऽन्नधनचौर्याणि ११।१६२
धान्येऽष्टमं विशां शुल्कम् १०।१२०
धान्ये सदे लवे वाह्ये ८।१५१
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठाः १२।१०३
धिग्वणानां चर्मकार्यम् १०।४९
धीर् विद्या सत्यमक्रोधः ६।९२
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयम् ६।९२
धृतिर् भैक्ष्यं कुसीदं च १०।११६
धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वः ८।१४६
ध्यानयोगेन सम्पश्येत् ६।७३
ध्यानिकं सर्वमेवैतत् ६।८२
ध्यायत्यनिष्टं यत्किञ्चित् ९।२१
ध्रियमाणे तु पितरि ३।२२०
ध्वजाऽऽहृतो भक्तदासः ८।४१५

न

न कथञ्चन दुर्योनिः १०।५९
न कदाचन कुर्वीत ४।४८
न कदाचिद् द्विजे तस्मात् ४।१६९
न कन्यायाः पिता विद्वान् ३।५१
न कर्णिभिर् नाऽपि दिग्धैः ७।९०
न कर्म निष्फलं कुर्यात् ४।७०
न कश्चिद् योषितः शक्तः ९।१०
न कार्पासाऽस्थि न तुषान् ४।७८
न कुर्याद् गुरुपुत्त्रस्य २।२०९
न कुर्वीत वृथाचेष्टाम् ४।६३
न कुर्वीताऽऽत्मनस् त्राणम् ११।११३
न कूटैरायुधैर् हन्यात् ७।९०
नक्तं चाऽन्नं समश्नीयात् ६।१९
नक्षत्राणि च दैत्याश् च १२।४८
नगरे-नगरे चैकम् ७।१२१
नग्नो मुण्डः कपालेन ८।९३
न ग्रामजातान्यार्तोऽपि ६।१६
न च क्षुधाऽस्य संसीदेत् ७।१३३
न च च्छन्दांस्यधीयीत ३।१८८
न च तत् कर्म कुर्वाणः ५।८४
न च द्विजातयो ब्रूयुः ३।२३६
न च नग्नः शयीतेह ४।७५
न च पूर्वाऽपरं विद्यात् ८।५६
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यः ५।४८
न च प्रापितमन्येन ८।४३
न च योनिगुणान् कांश् चित् ९।३७
न च वासांसि वासोभिः ८।३९६
न च वैश्यस्य कामः स्यात् ९।३२८
न च शोचत्यसम्पत्तौ १२।३६
न च स्वं कुरुते कर्म १।५५
न च हन्यात् स्थलाऽऽरूढम् ७।९१
न च हव्यं वहत्यग्निः ४।२४९
न चाऽदत्त्वा कनिष्ठेभ्यः ९।२१४
न चाऽऽदेयं समृद्धोऽपि ८।१७०
न चाऽऽधेः कालसंरोधान् ८।१४३
न चाऽनिसृष्टो गुरुणा २।२०५
न चाऽपि पश्येदशुचिः ४।१४२
न चाऽऽर्तिमृच्छति क्षिप्रम् ८।११५
न चाऽलिप्यत पापेन १०।१०५
न चाऽसारं न च न्यूनम् ८।२०३
न चाऽस्योपदिशेद् धर्मम् ४।८०
न चेत् त्रिपक्षात् प्रब्रूयात् - ८।५८
न चेमं देहमाश्रित्य ६।४७
न चैनं पादतः कुर्यात् ४।५४
न चैनं भुवि शक्नोति ७।६

न चैव प्रलिखेद् भूमिम् ४।५५
न चैवाऽत्यशनं कुर्यान् २।५६
न चैवाऽत्राऽऽशयेत् कञ्चित् ३।८३
न चैवाऽस्याऽनुकुर्वीत २।१९९
न चैवैनां प्रयच्छेत् तु ९।८९
न चोत्पातनिमित्ताभ्याम् ६।५०
न चोदके निरीक्षेत ४।३८
न च्छिन्द्यान् नखलोमानि ४।६९
न जातु कामः कामानाम् २।९४
न जातु ब्राह्मणं हन्यात् ८।३८०
न जीर्णदेवाऽऽयतने ४।४६
नं जीर्णमलवद्वासाः ४।३४
नटश् च करणश् चैव १०।२२
न तं नयेत साक्ष्यं तु ८।१९७
न तं भजेरन् दायादाः ९।२००
न तं स्तेना न चाऽमित्रा ७।८३
न तत्पुत्त्रैर् भजेत् सार्धम् ९।२०९
न तत् फलमवाप्नोति ५।५४
न तत्र प्रणयेद् दण्डम् ८।२३८
न तत्र विद्यते किञ्चित् ८।१८३
न तथैतानि शक्यन्ते २।९६
न तस्मिन् धारयेद् दण्डम् ११।२१
न तस्य निष्कृतिः शक्या २।२२७
न तस्य वेतनं देयम् ८।२१७
न ताडयेत् तृणेनाऽपि ४।१६९
न तादृशं भवत्येनः ५।३४
न तापसैर् ब्राह्मणैर् वा ६।५१
न तिष्ठति तु यः पूर्वाम् २।१०३
न तु नामाऽपि गृह्णीयात् ५।१५७
न तेन वृद्धो भवति २।१५६
न तैः समयमन्विच्छेत् १०।५३
न तैरनभ्यनुज्ञातः २।२२९
न तौ प्रति हि तान् धर्मान् १०।७८
न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश् च ९।७९
न त्वल्पदक्षिणैर् यज्ञैः ११।३९
न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिम् १०।९५
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः ४।१७३
न त्वेव तु वृथा हन्तुम् ५।३७
न त्वेवाऽऽधौ सोपकारे ८।१४३
न दत्त्वा कस्यचित् कन्याम् ९।७१
न दद्याद् यदि तस्मात् स ८।१८९
न दर्शेन विना श्राद्धम् ३।२८२
न दिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा ४।५९
नदीकूलं यथा वृक्षः ६।७८
नदीतीरेषु तद् विद्यात् ८।[illegible]६
नदीनां वाऽपि सम्भेदे ८।३५६
नदीषु देवखातेषु ४।२०३
न दृष्टदोषाः कर्तव्याः ८।६४
न दोषं प्राप्नुयात् किञ्चित् ८।३५५
न द्रव्याणामविज्ञाय ४।१८७
न द्वितीयश् च साध्वीनाम् ५।१६२
न धर्मस्याऽपदेशेन ४।१९८
न नदीतीरमासाद्य ४।४७
न नामग्रहणादेव ६।६७
न नावं न खरं नोष्ट्रम् ४।१२०
न निर्वपति पञ्चानाम् ३।७२
न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः ९।१९९
न निवर्तेत सङ्ग्रामात् ७।८७
न निशान्ते परिश्रान्तः ४।९९
न निष्क्रयविसर्गाभ्याम् ९।४६
न नृत्येदथवा गायेत् ४।६४
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीम् ३।९
न पश्येत् प्रसवन्तीं च ४।४४
न पाणिपादचपलः ४।१७७
न पादेन स्पृशेदन्नम् ३।२२९
न पादौ धावयेत् कांस्ये ४।६५
न पाषण्डिगणाऽऽक्रान्ते ४।६१
न पुत्त्रदारा न ज्ञातिः ४।२३९
न पुत्त्रभागं विषमम् ९।२१५
न पूर्वं गुरवे किञ्चित् २।२४५
न पैतृयज्ञियो होमः ३।२८२
न फालकृष्टमश्नीयात् ६।१६

न फालकृष्टे न जले ४।४६
न बकव्रतिके विप्रे ४।१९२
न ब्राह्मणं परीक्षेत ३।१४९
न ब्राह्मणक्षत्रिययोः ३।१४
न ब्राह्मणवधाद् भूयान् ८।३८१
न ब्राह्मणस्य त्वतिथिः ३।११०
न ब्राह्मणो वेदयेत ११।३१
न भक्षयति यो मांसम् ५।५०
न भक्षयेदेकचरान् ५।१७
न भिन्नभाण्डे भुञ्जीत ४।६५
न भिन्नशृङ्गाऽक्षिखुरैः ४।६७
न भीतं न परावृत्तम् ७।९३
न भुक्तमात्रे नाऽजीर्णे ४।१२१
न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहम् ४।६२
न भोक्तव्यो बलादाधिः ८।१४४
न भोजनार्थं स्वे विप्रः ३।१०९
न भ्रातरो न पितरः ९।१८५
न मांसभक्षणे दोषः ५।५६
न माता न पिता न स्त्री ८।३८९
न मातृतो ज्यैष्ठ्यमस्ति ९।१२५
न मित्रकारणाद् राजा ८।३४७
न मुक्तकेशं नाऽऽसीनम् ७।९१
न मूत्रं पथि कुर्वीत ४।४५
न मूर्खैर् नाऽवलिप्तैश् च ४।७९
न मृल्लोष्टं च मृद्नीयात् ४।७०
न यज्ञार्थं धनं शूद्रात् ११।२४
नयेत् तथाऽनुमानेन ८।४४
नरकं कालसूत्रं च ४।८८
नरकाकखराणां च ११।१५६
नरके हि पतन्त्येते ११।३७
न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति ४।९१
न राज्ञः प्रतिगृह्णीयात् ४।८४
न राज्ञामघदोषोऽस्ति ५।९३
नराऽश्वोष्ट्रवराहैश् च ११।१९९
नरेन्द्रास् त्रिदिवं यान्ति ९।२५३
नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीम् ३।९
न लङ्घयेद् वत्सतन्त्रीम् ४।३८
न लोकवृत्तं वर्तेत ४।११
न वर्धयेदघाऽहानि ५।८४
नवाऽन्नमद्यान् मांसं वा ४।२७
न वारयेद् गां धयन्तीम् ४।५९
न वार्यपि प्रयच्छेत् तु ४।१९२
न वासोभिः सहाऽजस्रम् ४।१२९
न विगृह्य कथां कुर्यात् ४।७२
न विण्मूत्रमुदीक्षेत ४।७७
न विद्यमानेष्वर्थेषु ४।१५
न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु ५।१०४
न विप्रदुष्टभावस्य २।९७
न विब्रूयान् नृपो धर्मम् ८।३९०
न विवादे न कलहे ४।१२१
न विवाहविधावुक्तम् ९।६५
न विस्मयेत तपसा ४।२३६
न वृथा शपथं कुर्यात् ८।१११
न वृद्धो न शिशुर् नैकः ८।६६
[न वेदबलमाश्रित्य १२।१०१]
नवेनाऽनर्चिता ह्यस्य ४।२८
न वै कन्या न युवतिः ११।३६
नवैतान् स्नातकान् विद्यात् ११।२
न वै स्वयं तदश्नीयात् ३।१०६
न शक्यो न्यायतो नेतुम् ७।३०
न शूद्रराज्ये निवसेत् ४।६१
न शूद्राय मतिं दद्यात् ४।८०
न शूद्रे पातकं किञ्चित् १०।१२६
न शोचन्ति तु यत्रैता ३।५७
न श्मश्रूणि गतान्यास्यम् ५।१४१
नश्यतीषुर् यथा विद्धः ९।४३
नश्यतो विनिपाते तौ ८।१८५
नश्यन्ति हव्यकव्यानि ३।९७
न श्रमाऽऽर्तो न कामाऽऽर्तः ८।६७
न श्राद्धे भोजयेन् मित्रम् ३।१३८
न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थः ८।६५
नष्टं देवलके दत्तम् ३।१८०

नष्टं विनष्टं कृमिभिः ८।२३२
न संवसेच्च पतितैः ४।७९
न संसर्गं व्रजेत् सद्भिः ११।४७
न संहताभ्यां पाणिभ्याम् ४।८२
न सम्भाषां परस्त्रीभिः ८।३६१
न स राज्ञा नियोक्तव्यः ८।१८६
न स राज्ञाऽभियोक्तव्यः ८।५०
न ससत्त्वेषु गर्तेषु ४।४७
न साक्षी नृपतिः कार्यः ८।६५
न साम्परायिकं तस्य ११।३०
न साहसिक-दण्डघ्नौ ८।३८६
न सीदन्नपि धर्मेण ४।१७१
न सीदेत् स्नातको विप्रः ४।३४
न सुप्तं न विसन्नाहम् ७।९२
न स्कन्दते न व्यथते ७।८४
न स्नानमाचरेद् भुक्त्वा ४।१२९
न स्पृशेच् चैतदुच्छिष्टः ४।८२
न स्पृशेत् पाणिनोच्छिष्टः ४।१४२
न स्याद् वाक्चपलश् चैव ४।१७७
न स्वर्गाच् च्यवते लोकात् ८।१०३
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यम् ५।१४७
न स्वामिना निसृष्टोऽपि ८।४१४
न हायनैर् न पलितैः २।१५४
न हिंस्याद् ब्राह्मणान् गाश् च ४।१६२
न हि तस्यास्ति किञ्चित् स्वम् ८।४१७
न हि दण्डादृते शक्यः ९।२६३
न हि शूद्रस्य यज्ञेषु ११।१३
न हि हस्तावसृग्दिग्धौ ३।१३२
न हीदृशमनायुष्यम् ४।१३४
न हृष्यति ग्लायति वा २।९८
न होढेन विना चौरम् ९।२७०
न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् ६।८२
न ह्यस्मिन् युज्यते कर्म २।१७१
नाऽकन्यासु क्वचिन् नृणाम् ८।२२६
नाऽकृत्वा प्राणिनां हिंसाम् ५।४८
नाऽऽक्रामेत् कामतश् छायाम् ४।१३०
नाऽक्षैः क्रीडेत् कदाचित् तु ४।७४
नागान् सर्पान् सुपर्णांश् च १।३७
नाऽग्निं मुखेनोपधमेत् ४।५३
नाऽग्निर् ददाह रोमाऽपि ८।११६
नाऽङ्क्या राज्ञा ललाटे स्युः ९।२४०
नाऽज्ञातेन समं गच्छेत् ४।१४०
नाऽञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे ४।४४
नाऽऽततायिवधे दोषः ८।३५१
नाऽतिकल्यं नाऽतिसायम् ४।१४०
नाऽतिप्रगे नाऽतिसायम् ४।६२
नाऽतिसांवत्सरीं वृद्धिम् ८।१५३
नाऽत्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान् ५।३०
नाऽऽत्मानमवमन्येत ४।१३७
नाऽत्रिवर्षस्य कर्तव्या ५।७०
नाऽदण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति ८।३३५
नाऽऽददीत नृपः साधुः ९।२४३
नाऽद्याच् छूद्रस्य पक्वाऽन्नम् ४।२२३
नाऽद्यादविधिना मांसम् ५।३३
नाऽधर्मश् चरितो लोके ४।१७२
नाऽधर्मेणाऽऽगमः कश्चित् १।८१
नाऽधार्मिके वसेद् ग्रामे ४।६०
नाऽधिकं दशमाद् दद्यात् ९।१५४
नाऽधीयीत श्मशानाऽन्ते ४।११६
नाऽधीयीताऽमिषं जग्ध्वा ४।११२
नाऽधीयीताऽश्वमारूढः ४।१२०
नाऽध्यधीनो न वक्तव्यः ८।६६
नाऽध्यापनाद् याजनाद् वा १०।१०३
नानारूपाणि जायन्ते ९।३८
नानाविधानां द्रव्याणाम् ५।११०
नाऽनिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या ४।२७
नाऽनुरोधोऽस्त्यनध्याये २।१०५
नाऽनुशासनवादाभ्याम् ६।५०
नाऽनुशुश्रुम जात्वेतत् ९।१००
नाऽन्नमद्यादेकवासाः ४।४५
नाऽन्यदन्येन संसृष्ट- ८।२०३
नाऽन्यस्मिन् विधवा नारी ९।६४

नाऽन्योत्पन्ना प्रजाऽस्तीह ५।१६२
नाऽपृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात् २।११०
नाऽप्सु मूत्रं पुरीषं वा ४।५६
नाऽब्रह्म क्षत्रमृध्नोति ९।३२२
नाऽब्राह्मणे गुरौ शिष्यः २।२४२
नाऽभिनन्देत मरणम् ६।४५
नाऽभिवाद्यः स विदुषा २।१२६
नाऽभिव्याहारयेद् ब्रह्म २।१७२
नामजातिग्रहं त्वेषाम् ८।२७१
नामधेयं दशम्यां तु २।३०
नामधेयस्य ये केचित् २।१२३
नाऽमुत्र हि सहायार्थम् ४।२३९
नाऽमेध्यं प्रक्षिपेदग्नौ ४।५३
नाम्नां स्वरूपभावो हि २।१२४
नाऽयन्त्रितस् त्रिवेदोऽपि २।११८
नाऽऽयुधव्यसनप्राप्तम् ७।९३
नाऽयुध्यमानं पश्यन्तम् ७।९२
नारं स्पृष्ट्वाऽस्थि सस्नेहम् ५।८७
नाऽरिं न मित्रं यं विद्यात् ३।१३८
नारीयानानि वस्त्रं वा ३।५२
नाऽरुन्तुदः स्यादार्तोऽपि २।१६१
नाऽऽर्तेनाऽप्यवमन्तव्याः २।२२५
नाऽऽर्तो न मत्तो नोन्मत्तः ८।६७
नाऽऽर्तोऽप्यपवदेद् विप्रान् ४।२३६
नाऽर्थसम्बन्धिनो नाऽऽप्ताः ८।६४
नाऽलोमिकां नाऽतिलोमाम् ३।८
नाऽवमन्येत वै भूष्णुः ४।१३५
नाऽविनीतैर् व्रजेद् धुर्यैः ४।६७
नाऽविस्पष्टमधीयीत ४।९९
नाऽवेदविहितां हिंसाम् ५।४३
नाशयन्त्याशु पापानि ११।२४५
नाऽश्नन्ति पितरस् तस्य ४।२४९
नाऽश्नन्ति पितृदेवास् तन् ३।१८
नाऽश्नीयात् सन्धिवेलायाम् ४।५५
नाऽश्नीयाद् भार्यया सार्धम् ४।४३
नाऽश्रोत्रियतते यज्ञे ४।२०५
नाऽऽसीनो न च भुञ्जानः २।१९५
नास्तिक्यं वेदनिन्दां च ४।१६३
नाऽस्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैः ९।१८
नाऽस्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञः ५।१५५
नाऽऽस्फोटयेन् न च क्ष्वेडेत् ४।६४
नाऽस्य कश्चिद् वसेद् गेहे ४।२९
नाऽस्य कार्योऽग्निसंस्कारः ५।६९
नाऽस्य च्छिद्रं परो विद्यात् ७।१०५
नाऽस्याऽधिकारो धर्मेऽस्ति १०।१२६
नाऽस्रमापातयेज् जातु ३।२२९
निःश्रेयसं कर्मणां च १।११७
निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यः ११।२
निक्षिप्तस्य धनस्यैवम् ८।१९६
निक्षेपस्याऽपहरणम् ११।५७
निक्षेपस्याऽपहर्तारम् ८।१९०
निक्षेपस्याऽपहर्तारम् ८।१९२
निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु ८।१८८
निक्षेपोपनिधी नित्यम् ८।१८५
निक्षेपो यः कृतो येन ८।१९४
निक्षेप्योऽयोमयः शङ्कुः ८।२७१
निगूढचारिणश् चाऽन्यान् ९।२६०
निगृह्य दापयेच् चैनम् ८।२२०
निग्रहं प्रकृतीनां च ७।१७५
निग्रहेण हि पापानाम् ८।३११
नित्यं तस्मिन् समाश्वस्तः ७।५९
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत ४।१९
नित्यं शुद्धः कारुहस्तः ५।१२९
नित्यं संवृतसंवार्यः ७।१०२
नित्यं स्थितस् ते हृद्येष ८।९१
नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्यात् २।१७६
नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणाम् ५।१३०
नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात् २।१९३
नित्यमुद्यतदण्डः स्यात् ७।१०२
नित्यमुद्यतदण्डस्य ७।१०३
नित्याऽनध्याय एव स्यात् ४।१०७
निधीनां तु पुराणानाम् ८।३९

निनीषुः कुलमुत्कर्षम् ४।२४४
निन्दितेभ्यो धनाऽऽदानम् ११।६९
निन्दितेऽहनि सायाऽह्ने ११।१८२
निन्दितैर् निन्दिता नृणाम् ३।४२
निन्द्यास्वष्टासु चाऽन्यासु ३।५०
निन्द्यैर् हि लक्षणैर् युक्ताः ११।५३
निन्द्यैव सा भवेल् लोके ५।१६३
निपानकर्तुः स्नात्वा तु ४।२०१
निबध्नीयात् तथा सीमाम् ८।२५५
निमज्जतश् च मत्स्याऽदान् ५।१३
निमन्त्रयेत त्र्यवरान् ३।१८७
निमन्त्रितान् हि पितरः ३।१८९
निमन्त्रितो द्विजः पित्र्ये ३।१८८
निमेषा दश चाष्टौ च १।६४
निम्लोचेद् वाऽप्यविज्ञानाज् २।२२०
नियताऽऽत्मा हविष्याऽशी ११।२१८
नियतो वेदमभ्यस्य ६।९५
नियम्य प्रयतो वाचम् २।१८५
नियम्य प्रयतो वाचम् ४।४९
नियम्य प्राञ्जलिस् तिष्ठेत् २।१९२
नियुक्तस् तु यथान्यायम् ५।३५
नियुक्तायामपि पुमान् ९।१४४
नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा ९।६३
नियोजयत्यपत्याऽर्थम् ९।६८
निरन्वयं भवेत् स्तेयम् ८।३३२
निरन्वये शतं दण्डः ८।३३१
निरन्वयोऽनपसरः ८।१९८
निरये चैव पतनम् ६।६१
निरस्य तु पुमाञ् शुक्रम् ५।६३
निरादिष्टधनश् चेत् तु ८।१६२
निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश् च ९।१८
निरुच्यमानं प्रश्नं च ८।५५
निरोधनेन बन्धेन ८।३१०
निर्घाते भूमिचलने ४।१०५
निर्दया निर्नमस्काराः ९।२३९
निर्दशं ज्ञातिमरणम् ५।७७
निर्दिष्टफलभोक्ता हि ७।१४४
निर्भयं तु भवेद् यस्य ९।२५५
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति ८।३१८
निर्लेपं काञ्चनं भाण्डम् ५।११२
निर्वर्तेताऽस्य यावद्भिः ७।६१
निर्वृत्तचूडकानां तु ५।६७
निर्हृत्य तु व्रती प्रेतान् ५।९१
निवर्तन्ते द्विजातीनाम् ११।१५१
निवर्तेरंश् च तस्मात् तु ११।१८४
निवृत्तं सेवमानस् तु १२।९०
निवेद्य गुरवेऽश्नीयात् २।५१
निषादः शूद्रकन्यायाम् १०।८
निषादस्त्री तु चण्डालात् १०।३९
निषादो मार्गवं सूते १०।३४
निषिद्धो भाषमाणस् तु ८।३६१
निषेकादिश्मशानान्तः २।१६
निषेकादीनि कर्माणि २।१४२
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु १२।८९
निष्पद्यन्ते च सस्यानि ९।२४७
निसर्गजं हि तत् तस्य ८।४१४
निस्तारयति दुर्गाच्च ३।९८
नीचं शय्याऽऽसनं चाऽस्य २।१९८
नीहारे बाणशब्दे च ४।११३
नृणामकृतचूडानाम् ५।६७
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा ७।७०
नृपतौ कोशराष्ट्रे च ७।६५
नृपाणामक्षयो ह्येष ७।८२
नृयज्ञं पितृयज्ञं च ४।२१
नॄन् प्रशंसत्यजस्रं यः १०।३३
नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम् ४।३७
नेत्रवक्त्रविकारैश् च ८।२६
नेहेताऽर्थान् प्रसङ्गेन ४।१५
नैःश्रेयसकरं कर्म १२।८२
नैःश्रेयसमिदं कर्म १२।१०७
नैकः प्रपद्येताऽध्वानम् ४।६०
नैकः स्वप्याच् छून्यगेहे ४।५७

नैकग्रामीणमतिथिम् ३।१०३
नैता रूपं परीक्षन्ते ९।१४
नैतैरपूतैर् विधिवत् २।४०
नैत्यके नाऽस्त्यनध्यायः २।१०६
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत् २।२१९
नैनः किञ्चिदवाऽऽप्नोति ९।९१
नैर्ऋतीं (नैरृतीं) दिशमातिष्ठेत् ११।१०४
नैवं कुर्यां पुनरिति ११।२३०
नैवाऽर्हः पैतृकं रिक्थम् ९।१४४
नैष चारणदारेषु ८।३६२
नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलम् ७।१३९
नोच्छिष्टं कस्यचिद् दद्यान् २।५६
नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्याः ५।१४१
नोत्पादकः प्रजाभागी ९।४८
नोत्पादयेत् स्वयं कार्यम् ८।४३
नोत्सङ्गे भक्षयेद् भक्ष्यान् ४।६३
नोदक्ययाऽभिभाषेत ४।५७
नोदाहरेदस्य नाम २।१९९
नोद्वहेत् कपिलां कन्याम् ३।८
नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु ९।६५
नोन्मत्ताया न कुष्ठिन्या ८।२०५
नोपगच्छेत् प्रमत्तोऽपि ४।४०
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः ३।११
नोपसृष्टं न वारिस्थम् ४।३७
नोपेक्षेत क्षणमपि ८।३४४
न्यस्तशस्त्रा महाभागाः ३।१९२
न्युप्य पिण्डांस् ततस् तांस् तु ३।२१६

प

पक्तिदृष्ट्योः परं तेजः १२।१२०
पक्वाऽन्नानां च सर्वेषाम् ८।३२९
पक्षाऽन्तयोर् वाऽप्यश्नीयात् ६।२०
पक्षिगन्धौषधीनां च ११।१६८
पक्षिजग्धं गवाऽऽघ्रातम् ५।१२५
पक्षिणां पोषको यश्च ३।१६२
पञ्चकृष्णलको माषः ८।१३४
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः ३।६९
पञ्च पश्वनृते हन्ति ८।९८
पञ्चभ्य एव मात्राभ्यः १२।१६
पञ्चयज्ञविधानं च ३।६७
पञ्चरात्रं पिबेत् पीत्वा ११।१४७
पञ्चरात्रेपञ्चरात्रे ८।४०२
पञ्च सूना गृहस्थस्य ३।६८
पञ्चानां तु त्रयो धर्म्याः ३।२५
पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु २।१३७
पञ्चाशतस् त्वभ्यधिके ८।३२२
पञ्चाशत् तु भवेद् दण्डः ८।२९७
पञ्चाशद् ब्राह्मणो दण्ड्यः ८।२६८
पञ्चाशद्भाग आदेयः ७।१३०
पञ्चैतान् यो महायज्ञान् ३।७१
पञ्चैतान् विस्तरो हन्ति ३।१२६
पणं यानं तरे दाप्यम् ८।४०४
पणानां द्वे शते साऽर्धे ८।१३८
पणो देयोऽवकृष्टस्य ७।१२६
पतत्यज्ञानतो विप्रः ११।१७५
पतत्रिणाऽवलीढं च ४।२०८
पतिं या नाऽभिचरति ५।१६५
पतिं या नाऽभिचरति ९।२९
पतिं शुश्रूषते येन ५।१५५
पतिं हित्वाऽपकृष्टं स्वम् ५।१६३
पतितस्योदकं कार्यम् ११।१८२
पतितां पङ्कलग्नां वा ११।११२
पतितैः सम्प्रयुक्तानाम् ११।१७९
पतितौ भवतो गत्वा ९।५८
पतिर् भार्यां सम्प्रविश्य ९।८
पतिलोकमभीप्सन्ती ५।१५६
पतिव्रता धर्मपत्नी ३।२६२
पतिव्रतासु च स्त्रीषु ८।२८
पतिसेवा गुरौ वासः २।६७
पतीन् प्रजानामसृजम् १।३४
पत्यौ जीवति कुण्डः स्यात् ३।१७४
पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिः ९।२००
पत्यौ जीवति वृत्तायाः ९।१९५

पत्र-शाक-तृणानां च ७।१३२
पथि क्षेत्रे परिवृते ८।२४०
पदान्यष्टादशैतानि ८।७
पदा मस्तकमाक्रम्य ११।४३
पद्मेन चैव व्यूहेन ७।१८८
[पयः पिबेत् तु त्रिपलम् ११।२१४]
पयः पिबेत् त्रिरात्रं वा ११।१३२
पयो घृतं वाऽऽमरणात् ११।९१
पयोमूलफलैर् वाऽपि ३।८२
परकीयनिपानेषु ४।२०१
परदाराऽभिमर्शेषु ८।३५२
परदारेषु जायेते ३।१७४
परदारोपसेवा च १२।७
परद्रव्येष्वभिध्यानम् १२।५
परधर्मेण जीवन् हि १०।९७
परपत्नी तु या स्त्री स्यात् २।१२९
परमं यत्नमातिष्ठेत् ८।३०२
परमं यत्नमातिष्ठेत् ९।१६
परलोकं नयत्याशु ४।२४३
परलोकसहायार्थम् ४।२३८
परस्त्रियं योऽभिवदेत् ८।३५६
परस्परविरुद्धानाम् ७।१५२
परस्परस्य दारेषु १०।२९
परस्परस्याऽनुमते ८।३५८
परस्पराऽऽदिनः स्तेनाः १२।५९
परस्य दण्डं नोद्यच्छेत् ४।१६४
परस्य पत्न्या पुरुषः ८।३५४
परस्य विपरीतं च ७।१७१
पराको नाम कृच्छ्रोऽयम् ११।२१५
पराङ्मुखस्याऽभिमुखः २।१९७
पराजयश् च सङ्ग्रामे ७।१९९
परामप्यापदं प्राप्तः ९।३१३
परितुष्टेन भावेन ४।२२७
परित्यजेदर्थकामौ ४।१७६
परित्यजेन् नृपो भूमिम् ७।२१२
परिपूतेषु धान्येषु ८।३३१
परिपूर्णं यथा चन्द्रम् ९।३०९
परिभाषणमर्हन्ति ९।२८३
परिभोक्ता कृमिर् भवति २।२०१
परिवित्तिः परीवेत्ता ३।१७२
परिवित्तिताऽनुजेऽनूढे ११।६०
परिवेत्ता स विज्ञेयः ३।१७१
परिवेषयेत् प्रयतः ३।२२८
परीक्षिताः स्त्रियश् चैनम् ७।२१९
परीवादात् खरो भवति २।२०१
परेण तु दशाऽहस्य ८।२२३
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठाः ३।४०
पर्ववर्जं व्रजेच् चैनाम् ३।४५
पलं सुवर्णाश् चत्वारः ८।१३५
पलाण्डुं गृञ्जनं चैव ५।१९
पलालभारकं षण्ढे ११।१३३
पवित्रं दुष्यतीत्येतत् १०।१०२
पवित्रं यच् च पूर्वोक्तम् ३।२५६
पशवश् च मृगाश् चैव १।४३
पशवश् च मृगाश् चैव १२।४२
पशुना त्वयनस्याऽऽदौ ४।२६
पशुमण्डूकमार्जार- ४।१२६
पशुषु स्वामिनां चैव ८।२२९
पशुषु स्वामिनां दद्यान् ८।२३४
पशूनां रक्षणं चैव ८।४१०
पशूनां रक्षणं दानम् १।९०
पशूनां हरणे चैव ८।३२५
पशून् मृगान् मनुष्यांश् च १।३९
पश्चाच् च न तथा तत् स्यात् ८।२१२
पश्चात् प्रतिभुवि प्रेते ८।१६१
पश्चाद् दृश्येत यत्किञ्चित् ९।२१८
पश्चिमां तु समासीनः २।१०१
पश्चिमां तु समासीनः २।१०२
पश्चिमोत्तरपूर्वैस् तु ५।९२
पांसुवर्षे दिशां दाहे ४।११५
पाकयज्ञविधानेन ११।११८
पाठीनरोहितावाद्यौ ५।१६

पाणिग्रहणसंस्कारः ३।४३
पाणिग्रहणिका मन्त्राः ८।२२६
पाणिग्रहणिका मन्त्राः ८।२२७
पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री ५।१५६
पाणिभ्यां तूपसङ्गृह्य ३।२२४
पाणिमुद्यम्य दण्डं वा ८।२८०
पात्रस्य हि विशेषेण ७।८६
पादं पशुश् च योषिच् च ८।४०४
पादः सभासदः सर्वान् ८।१८
पादयोर् दाढिकायां च ८।२८३
पादस्पर्शस् तु रक्षांसि ३।२३०
पादेन प्रहरन् कोपात् ८।२८०
पादोऽधर्मस्य कर्तारम् ८।१८
पानं दुर्जनसंसर्गः ९।१३
पानमक्षाः स्त्रियश् चैव ७।५०
पापकृन् मुच्यते पापात् ११।२२७
पापरोगी सहस्रस्य ३।१७७
पापरोग्यभिशस्तश्च ३।१५९
पापान् संयान्ति संसारान् १२।५२
पापान् संसृत्य संसारान् १२।७०
पायसं मधुसर्पिर्भ्याम् ३।२७४
पायूपस्थं हस्तपादम् २।९०
पारदाः पह्लवाश् चीनाः १०।४४
पारुष्यमनृतं चैव १२।६
पार्ष्णिग्राहं च सम्प्रेक्ष्य ७।२०७
पाषण्डगणधर्मांश् च १।११८
पाषण्डमाश्रितानां च ५।९०
पाषण्डिनो विकर्मस्थान् ४।३०
पिण्डनिर्वपणं केचित् ३।२६१
पिण्डाऽन्वाहार्यकं श्राद्धम् ३।१२२
पिण्डेभ्यस् त्वल्पिकां मात्राम् ३।२१९
पितरश् चैव साध्याश् च १२।४९
पितरस् तावदश्नन्ति ३।२३७
पिताऽऽचार्यः सुहृन् माता ८।३३५
पितापुत्त्रौ विजानीयात् २।१३५
पिता प्रधानं प्रजने ९।१२१
पितामहो वा तच् छ्राद्धम् ३।२२२
[पितामह्यश् च ताः सर्वाः ९।१८६]
पिता यस्य निवृत्तः स्याज् ३।२२१
पिता रक्षति कौमारे ९।३
पिता वै गार्हपत्योऽग्निः २।२३१
पिता हरेदपुत्त्रस्य ९।१८५
पितुः स नाम सङ्कीर्त्य ३।२२१
पितुर् भगिन्यां मातुश् च २।१३३
पितृदेवमनुष्याणाम् १२।९४
पितृभिर् भ्रातृभिश् चैताः ३।५५
पितृभ्यो बलिशेषं तु ३।९१
पितृभ्यो विधिवद् दत्तम् ३।२६६
पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य ३।१२२
पितृवेश्मनि कन्या तु ९।१७२
पितृंश् चैवाऽष्टकास्वर्चेत् ४।१५०
पितृन् छ्राद्धैश् च नृनन्नैः ३।८१
पितृणां तस्य तृप्तिः स्यात् ३।१४६
पितृणां मासिकं श्राद्धम् ३।१२३
पितृणामनृणश् चैव ९।१०६
पितेव पालयेत् पुत्त्रान् ९।१०८
पित्राद्यन्तं त्वीहमानः ३।२०५
पित्रा भर्त्रा सुतैर् वाऽपि ५।१४९
पित्रा विवदमानश्च ३।१५९
पित्रे न दद्याच् छुल्कं तु ९।९३
पित्र्यं वा भजते शीलम् १०।५९
पित्र्यमा निधनात् कार्यम् ३।२७९
पित्र्ये कर्मणि तु प्राप्ते ३।१४९
पित्र्ये रात्र्यहनी मासः १।६६
पित्र्ये स्वदितमित्येव ३।२५४
पिशुनः पौतिनासिक्यम् ११।५०
पिशुनाऽनृतिनोश् चाऽन्नम् ४।२१४
पीडनानि च सर्वाणि ९।२९९
पीत्वाऽपोऽध्येष्यमाणश् च ५।१४५
पुक्कस्यां जायते पापः १०।३८
पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत ११।३९
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा २।३०

पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य ६।९७
पुत्रं पुत्रगुणैर् युक्तम् ९।१६९
पुत्रं प्रत्युदितं सद्भिः ९।३१
पुत्रः कनिष्ठो ज्येष्ठायाम् ९।१२२
पुत्रका इतिहोवाच २।१५१
पुत्रदारस्य वाऽप्येनम् ८।११४
पुत्रदाराऽत्ययं प्राप्तः १०।९९
पुत्रप्रतिनिधीनाहुः ९।१८०
पुत्रवच् चाऽपि वर्तेरन् ९।१०८
पुत्राणां भर्तरि प्रेते ५।१४८
पुत्रान् द्वादश यानाह ९।१५८
पुत्रा येऽनन्तरस्त्रीजाः १०।१४
पुत्रिकायां कृतायां तु ९।१३४
पुत्रेण लोकाञ् जयति ९।१३७
पुत्रे राज्यं समासृज्य ९।३२३
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य ६।३
पुत्रे सर्वं समासज्य ४।२५७
पुनःसंस्कारमर्हन्ति ११।१५०
पुनर् दारक्रियां कुर्यात् ५।१६८
पुनाति पङ्क्तिं वंश्यांश् च १।१०५
पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् ९।१३८
पुमांसं दाहयेत् पापम् ८।३७२
पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे ३।४९
[पुराणं मानवो धर्मः १२।११०]
पुराणेष्वृषियज्ञेषु ५।२३
पुरुषं व्यञ्जयन्तीह १०।५८
पुरुषस्य स्त्रियाश् चैव ९।१
पुरुषाणां कुलीनानाम् ८।३२३
पुरोडाशांश् चरूंश् चैव ६।११
पुरोहितं च कुर्वीत ७।७८
पुलस्त्यस्याऽऽज्यपाः पुत्राः ३।१९८
पुलाकाश् चैव धान्यानाम् १०।१२५
पुष्कलं फलमाप्नोति ३।१२९
पुष्प-मूल-फलानां च ११।१६५
पुष्प-मूल-फलैर् वाऽपि ६।२१
पुष्पिणः फलिनश् चैव १।४७
पुष्पेषु हरिते धान्ये ८।३३०
पुष्ये तु च्छन्दसां कुर्यात् ४।९६
पूजयित्वा ततः पश्चात् ३।११७
पूजयेदशनं नित्यम् २।५४
पूजयेद् धव्यकव्येन ४।३१
पूजितं ह्यशनं नित्यम् २।५५
पूजिताश् च प्रशस्ताश् च १०।७२
पूज्या भूषयितव्याश् च ३।५५
पूयं चिकित्सकस्याऽन्नम् ४।२२०
पूर्णविंशतिवर्षेण २।२१२
पूर्णे चाऽनस्यनस्थ्नां तु ११।१४०
पूर्वं दोषानभिख्याप्य ८।२०५
पूर्वं-पूर्वं गुरुतरम् ७।५२
पूर्वं-पूर्वं गुरुतरम् ९।२९५
पूर्वभुक्त्या च सततम् ८।२५२
पूर्वमाक्षारितो दोषैः ८।३५४
पूर्वां सन्ध्यां जपंस् तिष्ठन् २।१०२
पूर्वां सन्ध्यां जपंस् तिष्ठेत् २।१०१
पूर्वां सन्ध्यां जपंस् तिष्ठेत् ४।९३
पूर्वाह्ण एव कुर्वीत ४।१५२
पूर्वेद्युरपरेद्युर् वा ३।१८७
पृथक्पृथग् वा मिश्रौ वा ३।२६
पृथग् विवर्धते धर्मः ९।१११
पृथिवीमपि चैवेमाम् १।१०५
पृथुस् तु विनयाद् राज्यम् ७।४२
पृथोरपीमां पृथिवीम् ९।४४
पृष्टस् तत्राऽपि तद् ब्रूयात् ८।७६
पृष्टोऽपव्ययमानस् तु ८।६०
पृष्ट्वा स्वदितमित्येवम् ३।२५१
पृष्ठतस् तु शरीरस्य ८।३००
पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत ३।९१
पैतृकं तु पिता द्रव्यम् ९।२०९
पैतृष्वसेयीं भगिनीम् ११।१७१
पैत्रिको दण्डदासश् च ८।४१५
पैलवौदुम्बरौ वैश्यः २।४५
पैशाचश् चाऽऽसुरश् चैव ३।२५

पैशुन्यं साहसं द्रोहः ७।४८
पौंश्चल्याच् चलचित्ताच्च ९।१५
पौण्ड्रकाश् चौड्र-द्रविडाः १०।४४
पौत्रदौहित्रयोर् लोके ९।१३३
पौत्रदौहित्रयोर् लोके ९।१३९
पौत्री मातामहस् तेन ९।१३६
पौनर्भवश्च काणश्च ३।१५५
पौनर्भवेन भर्त्रा सा ९।१७६
पौर्विकीं संस्मरञ् जातिम् ४।१४९
प्रकल्प्या तस्य तैर् वृत्तिः १०।१२४
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा ८।३५१
प्रकाशमेतत् तास्कर्यम् ९।२२२
प्रकाशवञ्चकास् तेषाम् ९।२५७
प्रकाशांश् चाऽप्रकाशांश् च ९।२५६
प्रकृत्याऽन्नं यथाशक्ति ३।११३
प्रक्षालनेन त्वल्पानाम् ५।११८
प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य ३।२६४
प्रचेतसं वसिष्ठं च १।३५
प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा ९।२२८
प्रच्छन्नपापा जप्येन ५।१०७
प्रच्छन्नवञ्चकास् त्वेते ९।२५७
प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा १०।४०
प्रजनार्थं महाभागाः ९।२६
प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः ९।९६
प्रजानां परिरक्षार्थम् ५।९४
प्रजानां रक्षणं दानम् १।८९
प्रजापतिरिदं शास्त्रम् ११।२४३
प्रजापतिर् हि वैश्याय ९।३२७
प्रजा रक्षन् परं शक्त्या १०।११८
प्रजास् तत्र न मुह्यन्ति ७।२५
प्रजास् तमनुवर्तन्ते ८।१७५
प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या ९।५९
प्रज्ञां यशश् च कीर्तिं च ४।९४
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुर् ४।४१
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुर् ४।४२
प्रणतं परिपृच्छेयुः ११।१९५
प्रणम्य तु शयामस्य २।१९७
प्रणम्य लोकपालेभ्यः ८।२३
प्रणीतश् चाऽप्रणीतश् च ९।३१७
प्रणेतुं शक्यते दण्डः ७।३१
प्रतापयुक्तस् तेजस्वी ९।३१०
प्रतिकुर्याच् च तत् सर्वम् ९।२८५
प्रतिकूलं वर्तमाना १०।३१
प्रतिगां प्रतिवातं च ४।५२
प्रतिगृह्णन्नविद्वांस् तु ४।१८८
प्रतिगृह्य द्विजो विद्वान् ४।११०
प्रतिगृह्य पुटेनैव ६।२८
प्रतिगृह्याऽप्रतिग्राह्यम् ११।२५३
प्रतिगृह्येप्सितं दण्डम् २।४८
प्रतिग्रहः प्रत्यवरः १०।१०९
प्रतिग्रहनिमित्तं तु १०।१११
प्रतिग्रहसमर्थोऽपि ४।१८६
प्रतिग्रहस् तु क्रियते १०।११०
प्रतिग्रहाच् छिलः श्रेयान् १०।११२
प्रतिग्रहाद् याजनाद् वा १०।१०९
प्रतिग्रहेण ह्यस्याऽऽशु ४।१८६
प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान् ११।२१४
प्रतिपूज्य यथान्यायम् १।१
प्रतिबुद्धश् च सृजति १।७४
प्रतिभागं च दण्डं च ८।३०७
प्रतिरोद्धा गुरोश्चैव ३।१५३
प्रतिवातेऽनुवाते च २।२०३
प्रतिश्रवणसम्भाषे २।१९५
प्रतिषिद्धा पिबेद् या तु ९।८४
प्रतिषेधतसु चाऽधर्मात् २।२०६
प्रतीपमेतद् देवानाम् ४।२०६
प्रतीपमेते जायन्ते १०।१७
प्रतुदाञ् जालपादांश् च ५।१३
प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थः ९।५२
प्रत्यक्षं चाऽनुमानं च १२।१०५
प्रत्यगेव प्रयागाच्च २।२१
प्रत्यग्निं प्रतिसूर्यं च ४।५२

प्रत्यहं कल्पयेद् वृत्तिम् ७।१२५
प्रत्यहं देशदृष्टैश् च ८।३
प्रत्यहं लोकयात्रायाः ९।२७
प्रत्याहारेण संसर्गान् ६।७२
प्रत्युत्थानाऽभिवादाभ्याम् २।१२०
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः २।१९६
प्रत्युवाचार्च्य तान् सर्वान् १।४
प्रत्येकं कथिता ह्येताः ७।१५७
प्रथमं तत् प्रमाणानाम् ८।१३२
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा २।३५
प्रथिता प्रेतकृत्यैषा ३।१२७
प्रदक्षिणं परीत्याऽग्निम् २।४८
प्रदक्षिणानि कुर्वीत ४।३९
प्रदद्यात् परिहारांश् च ७।२०१
प्रदिशेद् भूमिमेतेषाम् ८।२६५
प्रनष्टस्वामिकं रिक्थम् ८।३०
प्रनष्टाऽधिगतं द्रव्यम् ८।३४
प्रपितामहांस् तथाऽऽदित्यान् ३।२८४
प्रब्रूयादितरेभ्यश् च १०।२
प्रब्रूयाद् ब्राह्मणस् तेषाम् १०।१
प्रभुः प्रथमकल्पस्य ११।३०
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुम् २।२१४
प्रमाणं चैव लोकस्य ११।८४
प्रमाणानि च कुर्वीत ७।२०३
प्रमापयेत् प्राणभृतः ८।२९५
प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थम् ११।१२९
प्रयुक्तं साधयेदर्थम् ८।४९
प्रयुज्यते विवाहेषु ५।१५२
प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषाम् २।२४८
प्रयोगः कर्मयोगश् च १०।११५
प्रवर्तमानमन्याये ९।२९२
प्रवासयेद् दण्डयित्वा ८।१२३
प्रविभागस् तु पक्षयोः १।६६
प्रविशेद् भोजनार्थं च ७।२२४
प्रविश्य सर्वभूतानि ९।३०६
प्रवृत्तं कर्म संसेव्य १२।९०
प्रवृत्तं च निवृत्तं च १२।८८
प्रवृत्तिरेषा भूतानाम् ५।५६
प्रशान्तमिव शुद्धाऽऽभम् १२।२७
प्रशासितारं सर्वेषाम् १२।१२२
प्रष्टव्याः सीमलिङ्गानि ८।२५४
प्रसक्तश् चेन्द्रियाऽर्थेषु ११।४४
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत ५।४९
प्रसह्य कन्याहरणम् ३।३३
प्रसाधनोपचारज्ञम् १०।३२
प्रस्रवे च शुचिर् वत्सः ५।१३०
प्रहर्षयेद् बलं व्यूह्य ७।१९४
प्राकारस्य च भेत्तारम् ९।२८९
प्राक्कूलान् पर्युपासीनः २।७५
प्राङ् नाभिवर्धनात् पुंसः २।२९
प्राचीनावीतिना सम्यग् ३।२७९
प्राजकश् चेद् भवेदाप्तः ८।२९४
प्राजापत्यं चरेत् कृच्छ्रम् ११।१०५
प्राजापत्यमदत्त्वाऽश्वम् ११।३८
प्राजापत्यां निरुप्येष्टिम् ६।३८
प्राज्ञं कुलीनं शूरं च ७।२१०
प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्यात् ४।१८७
प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत ८।७९
प्राणभृत्सु महत्स्वर्धम् ८।२९६
प्राणयात्रिकमात्रः स्यात् ६।५७
प्राणस्याऽन्नमिदं सर्वम् ५।२८
प्राणानप्सु त्रिरायम्य ११।१४९
प्राणानां परिरक्षार्थम् १०।१०६
प्राणानेवाऽत्तुमिच्छन्ति ४।२८
प्राणायामा ब्राह्मणस्य ६।७०
प्राणायामैर् दहेद् दोषान् ६।७२
प्राणायामैस् त्रिभिः पूतः २।७५
प्राणिभिः क्रियते यस् तु ९।२२३
प्राणि वा यदि वाऽप्राणि ४।११७
प्रातिभाव्यं वृथादानम् ८।१५९
प्रातिलोम्येन जायन्ते १०।१६
प्रातिवेश्याऽऽनुवेश्यौ च ८।३९२

प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु ४।१०६
प्राधीते शतसाहस्रम् ७।८५
प्राऽऽपणात् सर्वकामानाम् २।९५
प्राप्ताऽपराधास् ताड्याः स्युः ८।२९९
प्राप्नुवन्ति दुरात्मानः ११।४८
प्राप्यैतत् कृतकृत्यो हि १२।९३
प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति ११।१९२
प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः ९।२४०
प्रायश्चित्तमकुर्वाणः २।२२१
प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य ११।४७
प्रायश्चित्ते तु चरिते ११।१८६
[प्रायो नाम तपः प्रोक्तम् ११।४७]
प्राश्य मूत्रपुरीषाणि ११।१५४
प्रास्येदात्मानमग्नौ वा ११।७३
प्रियं च नाऽनृतं ब्रूयात् ४।१३८
प्रिया भवन्ति लोकस्य ८।४२
प्रियेषु स्वेषु सुकृतम् ६।७९
प्रेक्षासमाजं गच्छेद् वा ९।८४
प्रेतनिर्यातकश् चैव ३।१६६
प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि ५।५७
प्रेतहारैः समं तत्र ५।६५
प्रेते राजनि सज्योतिः ५।८२
प्रेत्येह च सुखोदर्कान् ९।२५
प्रेत्येह चेदृशा विप्रा ४।१९९
प्रेष्यान् वार्धुषिकांश् चैव ८।१०२
प्रेष्यासु चैकभक्तासु ८।३६३
प्रेष्यो ग्रामस्य राज्ञश्च ३।१५३
प्रोक्षणं संहतानां च ५।११५
प्रोक्षणात् तृणकाष्ठं च ५।१२२
प्रोक्षितं भक्षयेन् मांसम् ५।२७
प्रोषिते त्वविधायैव ९।७५
प्रोषितो धर्मकार्यार्थम् ९।७६

फ

फलं कतकवृक्षस्य ६।६७
फलं त्वनभिसन्धाय ९।५२
फलदानां तु वृक्षाणाम् ११।१४२
फलन्त्यनुयुगं लोके १।८४
फलपुष्पोद्भवानां च ११।१४३
फलमूलाऽशनैर् मेध्यैः ५।५४
फलैधःकुसुमस्तेयम् ११।७०
फाल्गुनं वाऽथ चैत्रं वा ७।१८२

ब

बकं चैव बलाकां च ५।१४
बकवच् चिन्तयेदर्थान् ७।१०६
बको भवति हत्वाऽग्निम् १२।६६
बन्धनानि च कष्टानि १२।७८
बन्धनानि च सर्वाणि ९।२८८
बन्धुप्रियवियोगांश् च १२।७९
बभूवुर् हि पुरोडाशा ५।२३
बलं सञ्जायते राज्ञः ८।१७२
बलवाञ् जायते वायुः १।७६
बलवानिन्द्रियग्रामः २।२१५
बलस्य स्वामिनश् चैव ७।१६७
बलाद् दत्तं बलाद् भुक्तम् ८।१६८
बहवश् चेत् तु सदृशाः ९।१८४
बहवोऽविनयान् नष्टा ७।४०
बहिश् चेद् भाष्यते धर्मात् ८।१६४
बहुत्वं परिगृह्णीयात् ८।७३
बहून् वर्षगणान् घोरान् १२।५४
बह्वीर् गाः प्रतिजग्राह १०।१०७
बह्वीषु चैकजातानाम् ९।१४८
बालः समानजन्मा वा २।२०८
बालघ्नांश् च कृतघ्नांश् च ११।१९०
बालदायादिकं रिक्थम् ८।२७
बालया वा युवत्या वा ५।१४७
बालवृद्धाऽऽतुराणां च ८।७१
बालवृद्धाऽऽतुराणां च ८।३१२
बालवृद्धाऽऽतुरैर् वैद्यैः ४।१७९
बालाऽऽतपः प्रेतधूमः ४।६९
बालाश् च न प्रमीयन्ते ९।२४७
बाले देशान्तरस्थे च ५।७८
बालोऽपि नाऽवमन्तव्यः ७।८

बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य २।१५०
बाल्ये पितुर् वशे तिष्ठेत् ५।१४८
बाह्यैर् विभावयेल् लिङ्गैः ८।२५
बिडालकाकाऽऽखूच्छिष्टम् ११।१५९
बिभर्ति सर्वभूतानि १२।९९
बिभृयादानृशंस्येन ८।४११
बीजकाण्डरुहाण्येव १।४८
बीजक्षेत्रे तथैवाऽन्ये १०।७०
बीजमेके प्रशंसन्ति १०।७०
बीजस्य चैव योन्याश् च ९।३५
बीजानामुप्तिविच् च स्यात् ९।३३०
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः १।९६
बुद्धिवृद्धिकराण्याशु ४।१९
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषाम् २।९१
बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन ७।६८
बुध्येताऽरिप्रयुक्तां च ७।१०४
बैजिकं गार्भिकं चैनः २।२७
बैजिकादभिसम्बन्धात् ५।६३
बैडालव्रतिको ज्ञेयः ४।१९५
ब्रह्म क्षत्रं च सम्पृक्तम् ९।३२२
ब्रह्मक्षत्रियविड्योनिः २।८०
ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोकाः ८।८९
[ब्रह्मचर्यं जपो होमः ११।२४४]
ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यम् ५।१२९
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च ६।८७
ब्रह्मचारी तु योऽश्नीयात् ११।१५८
ब्रह्मचारी भवेन् नित्यम् ४।१२८
ब्रह्मचारी व्रती च स्यात् ११।२२४
ब्रह्मचार्याहरेद् भैक्षम् २।१८३
ब्रह्मचार्येव भवति ३।५०
ब्रह्म चैव धनं येषाम् ९।३१६
ब्रह्म च्छन्दस्कृतं चैव ४।१००
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य २।१४६
ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यात् २।७४
ब्रह्मणा च परित्यक्ताः ११।१९२
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव २।१७३
ब्रह्मतेजोमयं दण्डम् ७।१४
ब्रह्मदेयाऽऽत्मसन्तानः ३।१८५
ब्रह्मद्विद् परिवित्तिश्च ३।१५४
ब्रह्म यस् त्वननुज्ञातम् २।११६
ब्रह्मवर्चसकामस्य २।३७
ब्रह्मवर्चसिनः पुत्राः ३।३९
ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु ३।८९
ब्रह्महत्याकृतं पापम् ११।८६
ब्रह्महत्याऽपनोदाय ११।७५
ब्रह्महत्या सुरापानम् ११।५४
ब्रह्महा क्षयरोगित्वम् ११।४९
ब्रह्महा च सुरापश् च ९।२३५
ब्रह्महा द्वादश समाः ११।७२
ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यः २।७०
ब्रह्माऽभ्यासेन चाऽजस्रम् ४।१४९
ब्रह्मारम्भेऽवसाने च २।७१
ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मः १२।५०
ब्रह्माऽष्टकापौर्णमास्यौ ४।११४
ब्रह्माऽऽहुतिहुतं पुण्यम् २।१०६
ब्रह्मैव सन्नियन्तृ स्यात् ९।३२०
ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा ११।५६
ब्रह्मोद्याश् च कथाः कुर्यात् ३।२३१
ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारम् ७।२
ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् २।१२७
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यम् १।३१
ब्राह्मणं दशवर्षं तु २।१३५
ब्राह्मणं भिक्षुकं वाऽपि ३।२४३
ब्राह्मणः क्षत्रियो वाऽपि १०।११७
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः १०।४
ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति ४।२४५
ब्राह्मणः सप्तरात्रेण १०।९३
ब्राह्मणः सम्भवेनैव ११।८४
ब्राह्मणक्षत्रियविशाम् ९।१५५
ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु ८।२७६
ब्राह्मणस् तु सुरापस्य ११।१४९
ब्राह्मणस् त्वनधीयानः ३।१६८

ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः ८।३३८
ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानम् ११।२३५
ब्राह्मणस्य रुजः कृत्या ११।६७
ब्राह्मणस्य विशेषेण ११।११
ब्राह्मणस्याऽनुपूर्व्येण ९।१४९
ब्राह्मणस्यैव कर्मैतत् २।१९०
ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यम् ११।१८
ब्राह्मणादुग्रकन्यायाम् १०।१५
ब्राह्मणाऽद्याश्रयो नित्यम् ९।३३५
ब्राह्मणाद् वैश्यकन्यायाम् १०।८
ब्राह्मणान् पर्युपाऽऽसीत ७।३७
ब्राह्मणान् बाधमानं तु ९।२४८
ब्राह्मणान् वेदविदुषः ११।४
ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्थाः १०।७४
ब्राह्मणाऽभ्युपपत्तौ च ८।११२
ब्राह्मणाय च राज्ञे च ९।३२७
ब्राह्मणायाऽवगूर्यैव ४।१६५
ब्राह्मणाऽर्थे गवाऽर्थे वा १०।६२
ब्राह्मणाऽर्थे गवार्थे वा ११।७९
ब्राह्मणा लिङ्गिनश् चैव ८।४०७
ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु ८।३७६
ब्राह्मणी तद् धरेत् कन्या ९।१९८
ब्राह्मणे चाऽननूचाने २।२४२
ब्राह्मणेषु च विद्वांसः १।९७
ब्राह्मणे साहसः पूर्वः ८।२७६
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर् यन्त्रैः ७।७५
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः ३।२४३
ब्राह्मणो जायमानो हि १।९९
ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ २।४५
ब्राह्मण्यामप्यनार्यात् तु १०।६६
ब्राह्मदैवाऽऽर्षगान्धर्व- ९।१९६
ब्राह्ममेकमहर् ज्ञेयम् १।७२
ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता २।१५०
ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य १।६८
ब्राह्मादिषु विवाहेषु ३।३९
ब्राह्मान् यौनांश्च सम्बन्धान् २।४०
ब्राह्मीपुत्रः सुकृतकृत् ३।३७
ब्राह्मेण विप्रस् तीर्थेन २।५८
ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत ४।९२
ब्राह्मैर् यौनैश् च सम्बन्धैः ३।१५७
ब्राह्मो दैवस् तथैवाऽऽर्षः ३।२१
ब्राह्म्यं हुतं द्विजाऽग्र्याऽर्चा ३।७४
ब्राह्म्यं हुतं प्राशितं च ३।७३
ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत् ८।८८
ब्रूहीत्युक्तश् च न ब्रूयात् ८।५६

भ

भक्षयन्तीं न कथयेत् ११।११४
भक्ष्यं भोज्यं च विविधम् ३।२२७
भक्ष्यभोज्याऽपदेशैश् च ९।२६८
भक्ष्यभोज्याऽपहरणे ११।१६५
भक्ष्यान् पञ्चनखेष्वाहुः ५।१८
भक्ष्याऽभक्ष्यं च शौचं च १।११३
भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान् ५।१७
भगवन् सर्ववर्णानाम् १।२
भग्नं तद् व्यवहारेण ८।१४८
भजेरन् पैतृकं रिक्थम् ९।१०४
भजेरन् मातृकं रिक्थम् ९।१९२
भद्रं भद्रमिति ब्रूयात् ४।१३९
भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्डौ ८।१२०
भयाद् भोगाय कल्पन्ते ७।१५
भरद्वाजः क्षुधाऽऽर्तस् तु १०।१०७
भर्ता तत् सर्वमादत्ते ७।९५
भर्तारं लङ्घयेद् या तु ८।३७१
भर्तुः पुत्रं विजानन्ति ९।३२
भर्तुः शरीरशुश्रूषाम् ९।८६
भर्तुर् यद् दुष्कृतं किञ्चित् ७।९४
भवत्पूर्वं चरेद् भैक्षम् २।४९
भवत्याचारवान् नित्यम् १२।१२६
भवन्त्यायोगवीष्वेते १०।३५
भवन्मध्यं तु राजन्यः २।४९
भस्मनाऽद्भिर् मृदा चैव ५।१११
भस्मनीव हुतं हव्यम् ३।१८१

भस्मीभूतेषु विप्रेषु ३।९७
भागो यवीयसां तत्र ९।२०४
भाण्डपूर्णानि यानानि ८।४०५
भाण्डाऽवकाशदाश् चैव ९।२७१
भार्या पुत्रश् च दासश् च ८।२९९
भार्या पुत्रश् च दासश् च ८।४१६
भार्यायै पूर्वमारिण्यै ५।१६८
भिक्षां च भिक्षवे दद्यात् ३।९४
भिक्षाबलिपरिश्रान्तः ६।३४
भिक्षामप्युदपात्रं वा ३।९६
भिक्षुका बन्दिनश् चैव ८।३६०
भिक्षेत भिक्षां प्रथमम् २।५०
भिन्दन्त्यवमता मन्त्रम् ७।१५०
भिन्द्याच् चैव तडागानि ७।१९६
भुक्तवत्सु च विप्रेषु ३।१११
भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु ३।११६
भुक्तवान् विहरेच् चैव ७।२२१
भुक्त्वा चोपस्पृशेत् सम्यग् २।५३
भुक्त्वाऽतोऽन्यतमस्याऽन्नम् ४।२२२
भुज्यमानं परैस् तूष्णीम् ८।१४७
भुञ्जीयातां ततः पश्चात् ३।११६
भूतं भव्यं भविष्यं च १२।९७
भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः १।९६
भूतिकामैर् नरैर् नित्यम् ३।५९
भूमावप्येककेदारे ९।३८
भूमिं भूमिशयांश् चैव १०।८४
भूमिदो भूमिमाप्नोति ४।२३०
भूमिवज्रमणीनां च ११।५७
भूमौ विपरिवर्तेत ६।२२
[भूयो वाऽप्यतिरिच्येत १२।१२५]
भूस्तृणं शिग्रुकं चैव ६।१४
भृतकाऽध्यापको यश्च ३।१५६
भृतोऽनार्तो न कुर्याद् यः ८।२१५
भृत्या चाऽध्ययनाऽऽदानम् ११।६२
भृत्यानां च भृतिं विद्यात् ९।३३२
भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थ ५।२२
भृत्यानामुपरोधेन ११।१०
भृत्या भवन्ति प्रायेण ७।१२३
भैक्षप्रसक्तो हि यतिः ६।५५
भैक्षाश्यात्मविशुद्ध्यर्थम् ११।७२
भैक्षेण वर्तयेन् नित्यम् २।१८८
भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिः २।१८८
भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते २।१२४
भोजनाऽभ्यञ्जनाद् दानात् १०।९१
भोजनार्थं हि ते शंसन् ३।१०९
भोजयेत् सह भृत्यैः तौ ३।११२
भोजयेत् सुसमृद्धोऽपि ३।१२५
भोभवत्पूर्वकं त्वेनम् २।१२८
भौमिकैस् ते समा ज्ञेया ५।१४२
भ्रातरो ये च संसृष्टाः ९।२१२
भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा ४।१८४
भ्रातुर् ज्येष्ठस्य भार्या या ९।५७
भ्रातुर् भार्योपसङ्ग्राह्या २।१३२
भ्रातुर् मृतस्य भार्यायाम् ३।१७३
भ्रातृमातृपितृप्राप्तम् ९।१९४
भ्रातॄणां यस् तु नेहेत ९।२०७
भ्रातॄणामविभक्तानाम् ९।२१५
भ्रातॄणामेकजातानाम् ९।१८२
भ्रामरी गण्डमाली च ३।१६१
भ्रूणघ्नाऽवेक्षितं चैव ४।२०८

म

मक्षिका विप्रुषश् छाया ५।१३३
मङ्गलाऽऽचारयुक्तः स्यात् ४।१४५
मङ्गलाऽऽचारयुक्तानाम् ४।१४६
मङ्गलाऽऽदेशवृत्ताश् च ९।२५८
मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनम् ५।१५२
मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तम् २।३३
मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् २।३१
मणिमुक्ताप्रवालानाम् ९।३२९
मणिमुक्ताप्रवालानाम् ११।१६७
मणिमुक्ताप्रबालानि १२।६१
मणीनामपवेधे च ९।२८६

मतिपूर्वमनिर्देश्यम् ११।१४६
मत्तक्रुद्धाऽऽतुराणां च ४।२०७
मत्तोन्मत्ताऽऽर्ताऽध्यधीनैः ८।१६३
मत्या भुक्त्वा चरेत् कृच्छ्रम् ४।२२२
मत्स्यघातो निषादानाम् १०।४८
मत्स्याऽदः सर्वमांसाऽदः ५।१५
मत्स्याऽदान् विड्वराहांश् च ५।१४
मत्स्यानां पक्षिणां चैव ८।३२८
मद्यं नीलीं च लाक्षां च १०।८९
मद्यपाऽसाधुवृत्ता च ९।८०
मद्यैर् मूत्रैः पुरीषैर् वा ५।१२३
मधु दंशः पयः काकः १२।६२
मधुपर्के च यज्ञे च ५।४१
मधुपर्केण सम्पूज्यौ ३।१२०
मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे च ४।१३१
मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे वा ७।१५१
मध्यमं तु ततः पिण्डम् ३।२६२
मध्यमः पञ्च विज्ञेयः ८।१३८
मध्यमस्य प्रचारं च ७।१५५
मध्ये व्योम दिशश्चाऽष्टौ १।१३
मध्वापातो विषाऽऽस्वादः ११।९
मनः सृष्टिं विकुरुते १।७५
मनश् चाऽवयवैः सूक्ष्मैः १।१८
मनसश् चाऽप्यहङ्कारम् १।१४
[मनसा त्रिविधं कर्म १२।८]
मनसीन्दुं दिशः श्रोत्रे १२।१२१
[मनुः स्वायम्भुवो देवः १२।१२६]
मनुमेकाग्रमासीनम् १।१
मनुष्यमारणे क्षिप्रम् ८।२९६
मनुष्याणां तु हरणे ११।१६३
मनुष्याणां पशूनां च ८।२८६
मनुष्याणामपि प्रोक्तः ९।६६
मनोर् हैरण्यगर्भस्य ३।१९४
मनोवाग्देहजैर् नित्यम् १।१०४
मनोवाङ्मूर्तिभिर् नित्यम् ११।२३१
मन्त्रज्ञैर् मन्त्रिभिश् चैव ८।१
मन्त्रतस् तु समृद्धानि ३।६६
मन्त्रयेत् परमं मन्त्रम् ७।५८
मन्त्रवत् प्राशनं चाऽस्य २।२९
मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति १०।१२७
मन्त्रसम्पूजनार्थं तु ३।१३७
मन्त्रैः शाकलहोमीयैः ११।२५६
मन्त्रैस् तु संस्कृतानद्यात् ५।३६
मन्यन्ते वै पापकृतः ८।८५
मन्येताऽरिं यदा राजा ७।१७३
मन्वन्तराण्यसङ्ख्यानि १।८०
ममाऽयमिति यो ब्रूयान् ८।३५
ममेदमिति यो ब्रूयात् ८।३१
मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ १।३५
मरुद्भ्य इति तु द्वारि ३।८८
मर्यादाभेदकश् चैव ९।२९१
मलिनीकरणीयेषु ११।१२५
महती देवता ह्येषा ७।८
महतोऽप्येनसो मासात् २।७९
महर्षिपितृदेवानाम् ४।२५७
महर्षिभिश् च देवैश् च ८।११०
महाकुलीनमार्यं च ८।३९५
महान्तमेव चाऽऽत्मानम् १।१५
महान्ति पातकान्याहुः ११।५४
महान्त्यपि समृद्धानि ३।६
महापक्षे धनिन्यार्ये ८।१७९
महापशूनां हरणे ८।३२४
महापातकसंयुक्तः ११।२५७
महापातकिनश् चैव ११।२३९
महाभूतादि वृत्तौजाः १।६
महायज्ञविधानं च १।११२
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च २।२८
महाव्याहृतिभिर् होमः ११।२२२
मांसं गृध्रो वपां मद्गुः १२।६३
मां स भक्षयिताऽमुत्र ५।५५
मांसभेत्ता तु षण् निष्कान् ८।२८४
मांसस्य मधुनश् चैव ८।३२८

मांसस्याऽतः प्रवक्ष्यामि ५।२६
मांसानि च न खादेद् यः ५।५३
मांसाऽशनं च नाऽश्नीयुः ५।७३
मागधः क्षत्तृजातिश् च १०।२६
माघशुक्लस्य वा प्राप्ते ४।९६
मातरं पितरं जायाम् ८।२७५
मातरं वा स्वसारं वा २।५०
मातर्यपि च वृत्तायाम् ९।२१७
माता पिता वा दद्याताम् ९।१६८
मातापितृभ्यां जामीभिः ४।१८०
मातापितृभ्यामुत्सृष्टम् ९।१७१
मातापितृविहीनो यः ९।१७७
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु २।२२६
मातामहं मातुलं च ३।१४८
मातामह्या धनात् किञ्चित् ९।१९३
मातुः प्रथमतः पिण्डम् ९।१४०
मातुरग्रेऽधिजननम् २।१६९
मातुलांश् च पितृव्यांश् च २।१३०
मातुले पक्षिणीं रात्रिम् ५।८१
मातुश् च भ्रातुस् तनयाम् ११।१७१
मातुस् तु यौतकं यत् स्यात् ९।१३१
मातृकं भ्रातृदत्तं वा ९।९२
मातृजात्यां प्रसूयन्ते १०।२७
मातृवद् वृत्तिमातिष्ठेन् २।१३३
मातृष्वसा मातुलानी २।१३१
मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा २।२१५
मानयोगं च जानीयात् ९।३३०
मानवस्याऽस्य शास्त्रस्य १२।१०७
मानसं मनसैवाऽयम् १२।८
मारुतं पुरुहूतं च ११।१२१
मार्गशीर्षे शुभे मासि ७।१८२
मार्जनं यज्ञपात्राणाम् ५।११६
मार्जनोपाञ्जनैर् वेश्म ५।१२२
मार्जारनकुलौ हत्वा ११।१३१
माऽवमंस्थाः स्वमात्मानम् ८।८४
माषिकस् तु भवेद् दण्डः ८।२९८
मासं गोष्ठे पयः पीत्वा ११।११४
मासस्य वृद्धिं गृह्णीयात् ८।१४२
मासिकाऽन्नं तु योऽश्नीयात् ११।१५७
मासेनाऽश्नन् हविष्यस्य ११।२२०
माहित्रं शुद्धवत्यश् च ११।२४९
मित्रं हिरण्यं भूमिं वा ७।२०६
मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य ८।८९
मित्रध्रुग् द्यूतवृत्तिश्च ३।१६०
मित्रस्य चाऽनुरोधेन ७।१८८
मित्रस्य चैवाऽपकृते ७।१६४
मित्रादथाऽप्यमित्राद् वा ७।२०७
मिथ एव प्रदातव्यः ८।१९५
मिथो दायः कृतो येन ८।१९५
मिथो भजेताऽऽप्रसवात् ९।७०
मिथ्यावादी च सङ्ख्याने ८।४००
मीमांसित्वोभयं देवाः ४।२२४
मुखबाहूरुपज्जानाम् १।८७
मुखबाहूरुपज्जानाम् १०।४५
मुख्यानां चैव रत्नानाम् ८।३२३
मुच्यते पातकैः सर्वैः ११।२५८
मुच्यते पातकैः सर्वैः ११।२५९
मुच्यते ब्रह्महत्यायाः ११।७९
मुञ्जाऽलाभे तु कर्तव्याः २।४३
मुण्डो वा जटिलो वा स्यात् २।२१९
मुन्यन्नानि पयः सोमः ३।२५७
मुन्यन्नैर् विविधैर् मेध्यैः ६।५
मूत्रेण मौण्ड्यमृच्छेत् तु ८।३८४
मूत्रोच्चारसमुत्सर्गम् ४।५०
मूलकर्मणि चाऽनाप्तैः ९।२९०
मूल्यात् पञ्चगुणो दण्डः ८।२८९
मूल्येन तोषयेच् चैनम् ८।१४४
मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः ७।४७
मृतं तु याचितं भैक्षम् ४।५
मृतं शरीरमुत्सृज्य ४।२४१
मृतवस्त्रभृत्स्वनार्यासु १०।३५
मृते भर्तरि पुत्रस् तु ९।४

मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ५।१६०
मृत्तोयैः शुध्यते शोध्यम् ५।१०८
मृत्युश् च वसति क्रोधे ७।११
मृदं गां दैवतं विप्रम् ४।३९
मृन्मयानां च भाण्डानाम् ७।१३२
मृन्मयानां च हरणे ८।३२७
मृष्यन्ति ये चोपपतिम् ४।२१७
मेखलामजिनं दण्डम् २।६४
मेदा-ऽन्ध्र-चूचु-मद्गूनाम् १०।४८
मेदोऽसृङ्मांसमज्जाऽस्थि ३।१८२
मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात् ६।१३
मेने प्रजापतिर् ग्राह्याम् ४।२४८
मैत्रं प्रसाधनं स्नानम् ४।१५२
मैत्राऽक्षज्योतिकः प्रेतः १२।७२
मैत्रेयकं तु वैदेहः १०।३३
मैत्र्यमौद्वाहिकं चैव ९।२०६
मैथुनं तु समासेव्य ११।१७४
मोहाद् राजा स्वराष्ट्रं यः ७।१११
मौञ्जी त्रिवृत् समा श्लक्ष्णा २।४२
मौण्ड्यं प्राणाऽन्तिको दण्डः ८।३७९
मौलाञ् छास्त्रविदः शूरान् ७।५४
म्रियमाणोऽप्याददीत ७।१३३
म्रियेताऽन्यतरो वाऽपि ९।२११
म्लेच्छवाचश् चाऽऽर्यवाच. १०।४५

य

य आवृणोत्यवितथम् २।१४४
य एते तु गणा मुख्याः ३।२००
य एतेऽन्ये त्वभोज्याऽन्नाः ४।२२१
य एतेऽभिहिताः पुत्राः ९।१८१
यं तु कर्मणि यस्मिन् सः १।२८
यं तु पश्येन् निधिं राजा ८।३८
यं पुत्रं परिगृह्णीयात् ९।१७१
यं ब्राह्मणस् तु शूद्रायाम् ९।१७८
यं मातापितरौ क्लेशम् २।२२७
यं वदन्ति तमोभूताः १२।११५
यं [illegible] णा ब्रूयुः १२।१०८
यः करोति तु कर्माणि १२।१२
यः करोति वृतो यस्य २।१४३
यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मः २।७
यः क्षिप्तो मर्षयत्यार्तैः ८।३१३
यः प्रश्नं वितथं ब्रूयात् ८।९४
यः सङ्गतानि कुरुते ३।१४०
यः साधयन्तं छन्देन ८।१७६
यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते २।१६७
यः स्वयं साधयेदर्थम् ८।५०
यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दम् २।१०७
यः स्वामिनाऽननुज्ञातम् ८।१५०
यक्षरक्षःपिशाचांश् च १।३७
यक्षरक्षःपिशाचाऽन्नम् ११।९५
यक्ष्मी च पशुपालश्च ३।१५४
यच् च साऽतिशयं किञ्चित् ९।११४
यच् चाऽऽस्य सुकृतं किञ्चित् ७।९५
यच् छेषं दशरात्रस्य ५।७५
यजतेऽहरहर् यज्ञैः ८।३०६
यजमानो हि भिक्षित्वा ११।२४
यजेत राजा क्रतुभिः ७।७९
यजेत वाऽश्वमेधेन ११।७४
यज्ञशिष्टाऽशनं ह्येतत् ३।११८
यज्ञश् च भूत्यै सर्वस्य ५।३९
यज्ञश् चेत् प्रतिरुद्धः स्यात् ११।११
यज्ञाय जग्धिर् मांसस्य ५।३१
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः ५।४०
यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः ५।३९
यज्ञार्थं ब्राह्मणैर् वध्याः ५।२२
यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा ११।२५
यज्ञे तु वितते सम्यक् ३।२८
यज्ञोऽनृतेन क्षरति ४।२३७
यज्ञोपवीतं वेदं च ४।३६
यज्वान ऋषयो देवाः १२।४९
यतन्ते रक्षितुं भार्याम् ९।६
यतश् च भयमाशङ्केत् ७।१८८
यतश् च [illegible]ांशङ्केत् ७।१८९

यताऽऽत्मनोऽप्रमत्तस्य ११।२१५
यतिचान्द्रायणं वाऽपि ५।२०
यत् करोत्येकरात्रेण ११।१७८
यत् कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् ४।१६१
यत् कर्म कृत्वा कुर्वंश् च १२।३५
यत्किञ्चित् पितरि प्रेते ९।२०४
यत्किञ्चित् स्नेहसंयुक्तम् ५।२४
यत्किञ्चिदपि दातव्यम् ४।२२८
यत्किञ्चिदपि वर्षस्य ७।१३७
यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति ११।२४१
यत्किञ्चिदेव देयं तु ९।११५
यत् किञ्चिद् दश वर्षाणि ८।१४७
यत् किञ्चिन् मधुना मिश्रम् ३।२७३
यत् तत् कारणमव्यक्तम् १।११
यत् तु दुःखसमायुक्तम् १२।२८
यत् तु वाणिजके दत्तम् ३।१८१
यत् तु स्यान् मोहसंयुक्तम् १२।२९
यत् ते समधिगच्छन्ति ८।४१६
यत् त्वस्याः स्याद् धनं दत्तम् ९।१९७
यत्नेन भोजयेच् छ्राद्धे ३।१४५
यत् पुंसः परदारेषु ११।१७६
यत् पुण्यफलमाप्नोति ३।९५
यत् प्राग् द्वादशसाहस्रम् १।७९
यत्र त्वेते परिध्वंसाः १०।६१
यत्र धर्मो ह्यधर्मेण ८।१४
यत्र नार्यस् तु पूज्यन्ते ३।५६
यत्र वर्जयते राजा ९।२४६
यत्र वाऽप्युपधिं पश्येत् ८।१६५
यत्र श्यामो लोहिताऽक्षः ७।२५
यत्र स्युः सोऽत्र मानाऽर्हः २।१३७
यत्राऽनिबद्धोऽपीक्षेत ८।७६
यत्राऽपवर्तते युग्यम् ८।२९३
यत्रैतास् तु न पूज्यन्ते ३।५६
यत् सर्वेणेच्छति ज्ञातुम् १२।३७
यथर्तुलिङ्गान्यृतवः १।३०
यथाकथञ्चित् पिण्डा ११।२२०
यथाकर्म तपोयोगात् १।४१
यथा काष्ठमयो हस्ती २।१५७
यथा खनन् खनित्रेण २।२१८
यथा गोऽश्वोष्ट्रदासीषु ९।४८
यथा चाऽज्ञेऽफलं दानम् २।१५८
यथा चैवाऽपरः पक्षः ३।२७८
यथा चोपचरेदेनम् ४।२५४
यथा जातबलो वह्निः १२।१०१
यथातथाऽध्यापयंस् तु ४।१७
यथा त्रयाणां वर्णानाम् १०।२८
यथा दुर्गाऽऽश्रितानेतान् ७।७३
यथा नदीनदाः सर्वे ६।९०
यथा नयत्यसृक्पातैः ८।४४
यथा नाऽभिचरेतां तौ ९।१०२
यथा प्लवेनौपलेन ४।१९४
यथा फलेन युज्येत ७।१२८
यथा बीजं न वप्तव्यम् ९।४२
यथाबीजं प्ररोहन्ति ९।३९
यथा ब्राह्मणचाण्डालः ९।८७
यथा ब्रूयुस् तथा कुर्यात् ३।२५३
यथा महाह्रदं प्राप्य ११।२६३
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा ७।२०८
यथायथा नरोऽधर्मम् ११।२२८
यथायथा निषेवन्ते १२।७३
यथायथा मनस् तस्य ११।२२९
यथायथा महद् दुःखम् ८।२८६
यथायथा हि पुरुषः ४।२०
यथायथा हि सद्वृत्तम् १०।१२८
यथा यमः प्रियद्वेष्यौ ९।३०७
यथाऽर्हतः सम्प्रणयेत् ७।१६
यथाऽर्हमेतानभ्यर्च्य ८।३९१
यथाऽल्पाऽल्पमदन्त्याद्यम् ७।१२९
यथा वायुं समाश्रित्य ३।७७
यथाविधि नियुक्तस् तु ५।२७
यथाविध्यधिगम्यैनाम् ९।७०
यथाशास्त्रं तु कृत्वैवम् ४।९७

यथाश्रुतं यथादृष्टम् ८।१०१
यथाऽश्वमेधः क्रतुराट् ११।२६०
यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु २।१५८
यथासङ्कल्पितांश् चेह २।५
यथा सर्वाणि भूतानि ९।३११
यथासुखमुखः कुर्यात् ४।५१
यथाऽस्याऽभ्यधिका न स्युः ७।१७७
यथेदं शावमाशौचम् ५।६१
यथेदमुक्तवाञ् छास्त्रम् १।११९
यथेरिणे बीजमुप्त्वा ३।१४२
यथैधस् तेजसा वह्निः ११।२४६
यथैनं नाऽभिसन्दध्युः ७।१८०
यथैव शूद्रो ब्राह्मण्याम् १०।३०
यथैवाऽऽत्मा तथा पुत्रः ९।१३०
यथैवैका तथा सर्वा ११।९४
यथोक्तकारिणं विप्रम् ६।८८
यथोक्तमार्तः सुस्थो वा ८।२१७
यथोक्तान्यपि कर्माणि १२।९२
यथोक्तेन नयन्तस् ते ८।२५७
यथोक्तेनैव कल्पेन ५।७२
यथोदितेन विधिना ४।१००
यथोद्धरति निर्दाता ७।११०
यदतोऽन्यद् धि कुरुते १०।१२३
यदधीते यद् यजते ८।३०५
यदन्यगोषु वृषभः ९।५०
यदन्यस्य प्रतिज्ञाय ९।९९
यदपत्यं भवेदस्याम् ९।१२७
यदाऽणुमात्रिको भूत्वा १।५६
यदा तु यानमातिष्ठेत् ७।१८१
यदा तु स्यात् परिक्षीणः ७।१७२
यदा परबलानां तु ७।१७४
यदा प्रहृष्टा मन्येत ७।१७०
यदा भावेन भवति ६।८०
यदा मन्येत भावेन ७।१७१
यदाऽवगच्छेदायत्याम् ७।१६९
यदा स देवो जागर्ति १।५२
यदा स्वपिति शान्ताऽऽत्मा १।५२
यदा स्वयं न कुर्यात् तु ८।९
यदि तत्राऽपि सम्पश्येत् ७।१७६
यदि तु प्रायशोऽधर्मम् १२।२१
यदि ते तु न तिष्ठेयुः ७।१०८
यदि त्वतिथिधर्मेण ३।१११
यदि त्वात्यन्तिकं वासम् २।२४३
यदि देशे च काले च ८।२३३
यदि न प्रणयेद् राजा ७।२०
यदि नाऽऽत्मनि पुत्रेषु ४।१७३
यदि संशय एव स्याल् ८।२५३
यदि संसाधयेत् तत् तु ८।२१३
यदि स्त्री यद्यवरजः २।२२३
यदि स्वाश् चाऽपराश् चैव ९।८५
यदि हि स्त्री न रोचेत ३।६१
यदेतत् परिसङ्ख्यातम् १।७१
यदेव तर्पयत्यद्भिः ३।२८३
यदेवाऽस्य पिता दद्यात् ९।१५५
यद् गर्हितेनाऽर्जयन्ति ११।१९३
यद् दुस्तरं यद् दुरापम् ११।२३८
यद् द्वयोरनयोर् वेत्थ ८।८०
यद् धनं यज्ञशीलानाम् ११।२०
यद् ध्यायति यत् कुरुते ५।४७
यद् भक्ष्यं स्यात् ततो दद्यात् ६।७
यद्यत् परवशं कर्म ४।१५९
यद्यदात्मवशं तु स्यात् ४।१५९
यद्यद् ददाति विधिवत् ३।२७५
यद्यद् धि कुरुते किञ्चित् २।४
यद्यद् रोचेत विप्रेभ्यः ३।२३१
यद्यन्नमत्ति तेषां तु ५।१०२
यद्यपि स्यात् तु सत्पुत्रः ९।१५४
यद्यर्थिता तु दारैः स्यात् ९।२०३
यद् यस्य विहितं चर्म २।१७४
यद् यस्य सोऽदधात् सर्गे १।२९
यद्याचरति धर्मं सः १२।२०
यद्येकरिक्थिनौ स्याताम् ९।१६२

यद् राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठम् ८।२२
यद् वा तद् वा परद्रव्यम् १२।६८
यद् वाऽपि प्रतिसंस्कुर्यात् ९।२७९
यद् वेष्टितशिरा भुङ्क्ते ३।२३८
यन् नावि किञ्चिद् दाशानाम् ८।४०८
यन् मूर्त्यवयवाः सूक्ष्माः १।१७
यन् मे माता प्रलुलुभे ९।२०
यमयोश् चैव गर्भेषु ९।१२६
यमान् पतत्यकुर्वाणः ४।२०४
यमान् सेवेत सततम् ४।२०४
यमिद्धो न दहत्यग्निः ८।११५
यमेव तु शुचिं विद्यात् २।११५
यमो वैवस्वतो देवः ८।९२
ययाऽस्योद्विजते वाचा २।१६१
यवगोधूमजं सर्वम् ५।२५
यवीयसस् तु या भार्या ९।५७
यवीयाञ् ज्येष्ठभार्यायाम् ९।१२०
यशोऽस्मिन् प्राप्नुयाल् लोके ८।३४३
यश् च विप्रोऽनधीयानः २।१५७
यश् चाऽधरोत्तरानर्थान् ८।५३
यश् चाऽपि धर्मसमयात् ९।२७३
यश् चैतान् प्राप्नुयात् सर्वान् २।९५
यस् तर्केणाऽनुसन्धत्ते १२।१०६
यस् तल्पजः प्रमीतस्य ९।१६७
यस् तु तत् कारयेन् मोहात् ९।८७
यस् तु दोषवतीं कन्याम् ८।२२४
यस् तु दोषवतीं कन्याम् ९।७३
यस् तु पूर्वनिविष्टस्य ९।२८१
यस् तु भीतः परावृत्तः ७।९४
यस् तु रज्जुं घटं कूपात् ८।३१९
यस्त्वधर्मेण कार्याणि ८।१७४
यस् त्वनाक्षारितः पूर्वम् ८।३५५
यस् त्वेतान्युपक्लृप्तानि ८।३३३
यस् त्वैश्वर्यान् न क्षमते ८।३१३
यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणः ३।७८
यस्मादण्वपि भूतानाम् ६।४०
यस्मादुत्पत्तिरेतेषाम् ३।१९३
यस्मादेषां सुरेन्द्राणाम् ७।५
यस्माद् बीजप्रभावेण १०।७२
यस्मिञ् जिते जितावेतौ २।९२
यस्मिन् कर्मणि यास् तु स्युः ८।२०८
यस्मिन् कर्मण्यस्य कृते ११।२३३
यस्मिन् देशे निषीदन्ति ८।११
यस्मिन्नृणं सन्नयति ९।१०७
यस्मिन्नेव कुले नित्यम् ३।६०
यस्मिन्यस्मिन् कृते कार्ये ८।२२८
यस्मिन्यस्मिन् विवादे तु ८।११७
यस्मै दद्यात् पिता त्वेनाम् ५।१५१
यस्य कायगतं ब्रह्म ११।९७
यस्य ते बीजतो जाताः ९।१८१
यस्य त्रैवार्षिकं भक्तम् ११।७
यस्य दृश्येत सप्ताहात् ८।१०८
यस्य प्रसादे पद्मा श्रीः ७।११
यस्य मन्त्रं न जानन्ति ७।१४८
यस्य मित्रप्रधानानि ३।१३९
यस्य यत् पैतृकं रिक्थम् ९।१६२
यस्य राज्ञस् तु विषये ७।१३४
यस्य वाङ्मनसी शुद्धे २।१६०
यस्य विद्वान् हि वदतः ८।९६
यस्य शूद्रस् तु कुरुते ८।२१
यस्य स्तेनः पुरे नाऽस्ति ८।३८६
यस्या म्रियेत कन्यायाः ९।६९
यस्यास् तु न भवेद् भ्राता ३।११
यस्याऽऽस्येन सदाऽश्नन्ति १।९५
यस्यैते निहिता बुद्धौ १२।१०
यां प्रसह्य वृको हन्यात् ८।२३५
यांयां योनिं तु जीवोऽयम् १२।५३
यांस् तत्र चौरान् गृह्णीयात् ८।३४
या गर्भिणी संस्क्रियते ९।१७३
याचिष्णुता प्रमादश् च १२।३३
याच्यः स्यात् स्नातकैर् विप्रैर् १०।११३
याजनाऽध्यापनाद् यौनात् ११।१८०

याजनाऽध्यापने चैव १०।७६
याजनाऽध्यापनेनाऽपि ८।३४०
याजनाऽध्यापने नित्यम् १०।११०
याजयन्ति च ये पूगान् ३।१५१
याज्याऽन्तेवासिनोर् वाऽपि ४।३३
या तु कन्यां प्रकुर्यात् स्त्री ८।३७०
यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थम् ४।३
यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री ९।२२
यादृशं तूप्यते बीजम् ९।३६
यादृशं पुरुषस्येह ४।१३४
यादृशं फलमाप्नोति ९।१६१
यादृशं भजते हि स्त्री ९।९
यादृशं भवति प्रेत्य ५।३४
यादृशा धनिभिः कार्या ८।६१
यादृशेन तु भावेन १२।८१
यादृशोऽस्य भवेदात्मा ४।२५४
यानशय्याप्रदो भार्याम् ४।२३२
यानशय्याऽऽसनान्यस्य ४।२०२
यानस्य चैव यातुश् च ८।२९०
यानाऽऽसनस्थश् चैवैनम् २।२०२
यानि चैवम्प्रकाराणि १।४४
यानि चैवम्प्रकाराणि ८।२५१
यानि चैवाऽभिषूयन्ते ५।१०
या नियुक्ताऽन्यतः पुत्रम् ९।१४७
यानि राजप्रदेयानि ७।११८
यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति ९।३१६
यान्यधस् तान्यमेध्यानि ५।१३२
यान् सम्यगनुतिष्ठन्तः १०।१३०
या पत्या वा परित्यक्ता ९।१७५
याभ्यां प्राप्नोति सम्पृक्तः १२।१९
यामीस् ता यातनाः प्राप्य १२।२२
यामुत्प्लुत्य वृको हन्यात् ८।२३६
या रोगिणी स्यात् तु हिता ९।८२
यावतः संस्पृशेदङ्गैः ३।१७८
यावती सम्भवेद् वृद्धिः ८।१५५
यावतो ग्रसते ग्रासान् ३।१३३
यावतो बान्धवान् यस्मिन् ८।९७
यावत् त्रयस् ते जीवेयुः २।२३५
यावत् स स्यात् समावृत्तः ८।२७
यावदुष्णं भवत्यन्नम् ३।२३७
यावदेकाऽनुदिष्टस्य ४।१११
यावन्तश् चैव यैश् चाऽन्नैः ३।१२४
यावन्ति पशुरोमाणि ५।३८
यावन् नाऽपैत्यमेध्याऽक्तात् ५।१२६
यावानवध्यस्य वधे ९।२४९
या वृत्तिस् तां समास्थाय ४।२
या वेदबाह्याः स्मृतयः १२।९५
या वेदविहिता हिंसा ५।४४
यासां नाऽऽददते शुल्कम् ३।५४
यास् तासां स्युर् दुहितरः ९।१९३
युक्तः परिचरेदेनम् २।२४३
युक्तश् चैवाऽप्रमत्तश् च ७।१४२
युक्तश् छन्दांस्यधीयीत ४।९५
युक्ते च दैवे युध्येत ७।१९७
युक्षु कुर्वन् दिनर्क्षेषु ३।२७७
युगपत् तु प्रलीयन्ते १।५४
युग्मासु पुत्रा जायन्ते ३।४८
युग्यस्थाः प्राजकेऽनाप्ते ८।२९४
युध्यमानाः परं शक्त्या ७।८९
ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव ७।१२४
येऽक्षेत्रिणो बीजवन्तः ९।४९
ये च यैरुपचर्याः स्युः ३।१९३
ये तत्र नोपसर्पेयुः ९।२६९
ये द्विजानामपसदा १०।४६
येन केनचिदङ्गेन ८।२७९
येन तुष्यति चाऽऽत्माऽस्य १२।३७
येन मूलहरोऽधर्मः ८।३५३
येन यत् साध्यते कार्यम् ९।२९७
येन यांस् तु गुणेनैषाम् १२।३९
येनयेन तु भावेन ४।२३४
येनयेन यथाऽङ्गेन ८।३३४
येन वेदयते सर्वम् १२।१३

येनाऽस्मिन् कर्मणा लोके १२।३६
येनाऽस्य पितरो याताः ४।१७८
ये नियुक्तास् तु कार्येषु ९।२३१
येऽन्ये ज्येष्ठकनिष्ठाभ्याम् ९।११३
[ये पठन्ति द्विजाः केचित् १२।१२६]
ये पाकयज्ञाश् चत्वारः २।८६
ये बकव्रतिनो विप्रा ४।१९७
ये शूद्रादधिगम्याऽर्थम् ११।४२
येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा ९।२११
येषां तु यादृशं कर्म १।४२
येषां द्विजानां सावित्री ११।१९१
ये स्तेनपतितक्लीबाः ३।१५०
यैः कर्मभिः प्रचरितैः १०।१००
यैः कृतः सर्वभक्ष्योऽग्निः ९।३१४
यैरभ्युपायैरेनांसि ११।२१०
यैर्यैरुपायैरर्थं स्वम् ८।४८
यैर्यैर् व्रतैरपोह्यन्ते ११।७१
यैर् व्याप्येमान् स्थितो भावान् १२।२४
योऽकामां दूषयेत् कन्याम् ८।३६४
योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य ७।१२७
योगक्षेमं प्रचारं च ९।२१९
योगक्षेमेऽन्यथा चेत् तु ८।२३०
योगाऽऽधमनविक्रीतम् ८।१६५
यो ग्रामदेशसङ्घानाम् ८।२१९
यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यात् ९।११०
यो ज्येष्ठो विनिकुर्वीत ९।२१३
यो दण्डो यच्च वसनम् २।१७४
योऽदत्ताऽऽदायिनो हस्तात् ८।३४०
यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः ६।३९
यो धर्म एकपत्नीनाम् ५।१५८
योऽधीतेऽहन्यहन्येताम् २।८२
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थम् २।१४१
योऽनधीत्य द्विजो वेदम् २।१६८
यो न वेत्त्यभिवादस्य २।१२६
योऽनाहिताग्निः शतगुः ११।१४
योनिकोटिसहस्रेषु ६।६३
यो निक्षेपं नाऽर्पयति ८।१९१
यो निक्षेपं याच्यमानः ८।१८१
योऽन्यथा सन्तमात्मानम् ४।२५५
यो बन्धनवधक्लेशान् ५।४६
यो ब्राह्मण्यामगुप्तायाम् ८।३८२
यो भाषतेऽर्थवैकल्यम् ८।९५
यो यथा निक्षिपेद् धस्ते ८।१८०
यो यदैषां गुणो देहे १२।२५
यो यस्य धर्म्यो वर्णस्य ३।२२
यो यस्य प्रतिभूस् तिष्ठेत् ८।१५८
यो यस्य मांसमश्नाति ५।१५
यो यस्यैषां विवाहानाम् ३।३६
यो यावन् निह्नुवीताऽर्थम् ८।५९
यो येन पतितेनैषाम् ११।१८१
योयो यावतिथश् चैषाम् १।२०
योऽरक्षन् बलिमादत्ते ८।३०७
यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति ४।८७
योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ४।२३५
योऽर्थे शुचिर् हि स शुचिः ५।१०६
यो लोभादधमो जात्या १०।९६
योऽवमन्येत ते मूले २।११
यो वै युवाऽप्यधीयानः २।१५६
यो वैश्यः स्याद् बहुपशुः ११।१२
योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय ११।१९
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः १।७
योऽस्याऽऽत्मनः कारयिता १२।१२
योऽहिंसकानि भूतानि ५।४५
यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैः ३।२१२
यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे ४।८१

र

रक्तानि हृत्वा वासांसि १२।६६
रक्षणादार्यवृत्तानाम् ९।२५३
रक्षन्ति स्थविरे पुत्राः ९।३
रक्षन् धर्मेण भूतानि ८।३०६
रक्षांसि च पिशाचाश् च १।४३
रक्षांसि च पिशाचाश् च १२।४४

रक्षांसि हि विलुम्पन्ति ३।२०४
रक्षार्थमस्य सर्वस्य ७।३
रक्षितं वर्धयेच् चैव ७।९९
रक्षितं वर्धयेद् वृद्ध्या ७।१०१
रक्षिता यत्नतोऽपीह ९।१५
रजसाऽभिप्लुतां नारीम् ४।४१
रजसा स्त्री मनोदुष्टा ५।१०८
रजस्युपरते साध्वी ५।६६
रजस्वलमनित्यं च ६।७७
रजस्वला च षण्ढश् च ३।२३९
रजो भूर् वायुरग्निश् च ५।१३३
रञ्जकस्य नृशंसस्य ४।२१६
रतिमात्रं फलं तस्य ११।५
रत्नैश् च पूजयेदेनम् ७।२०३
रथं हरेत चाऽध्वर्युः ८।२०९
रथाऽश्वं हस्तिनं छत्रम् ७।९६
रम्यमानतसामन्तम् ७।६९
रसा रसैर् निमातव्याः १०।९४
रहस्याऽऽख्यायिनां चैव ७।२२३
राक्षसं क्षत्रियस्यैकम् ३।२४
राजतैर् भाजनैरेषाम् ३।२०२
राजतो धनमन्विच्छेत् ४।३३
राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि ७।१
राजन्यबन्धोर् द्वाविंशे २।६५
राजन्यवैश्ययोस्त्वेवम् २।१९०
राजन्यवैश्यौ चेजानौ ११।८७
राजभिः कृतदण्डास् तु ८।३१८
राजर्त्विक्स्नातकगुरून् ३।११९
राजस्नातकयोश् चैव २।१३९
राजस्वं श्रोत्रियस्वं च ८।१४९
राजा कर्मसु युक्तानाम् ७।१२५
राजा च श्रोत्रियश् चैव ३।१२०
राजा तदुपयुञ्जानः ८।४०
राजानः क्षत्रियाश् चैव १२।४६
राजाऽन्नं तेज आदत्ते ४।२१८
राजा भवत्यनेनास् तु ८।१९
राजा विनिर्णयं कुर्यात् ८।१९६
राजा स्तेनेन गन्तव्यः ८।३१४
राजा हि धर्मषड्भागम् ११।२३
राजीवान् सिंहतुण्डांश् च ५।१६
राज्ञः कोशाऽपहर्तॄंश् च ९।२७५
राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि ८।३९९
राज्ञश् च दद्युरुद्धारम् ७।९७
राज्ञश् च धर्ममखिलम् १।११४
राज्ञश् चाऽधिकृतो विद्वान् ८।११
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यः ७।९७
राज्ञा दाप्यः सुवर्णं स्यात् ८।२१३
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धः ७।१२०
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे २।३७
राज्ञो माहात्मिके स्थाने ५।९४
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि ९।३०१
राज्ञो हि रक्षाऽधिकृताः ७।१२३
राज्याऽन्तकरणावेतौ ९।२२१
रात्रिं च तावतीमेव १।७३
रात्रिः सन्ध्ये च धर्मश् च ८।८६
रात्रिः स्वप्नाय भूतानाम् १।६५
रात्रिभिर् मासतुल्याभिः ५।६६
रात्रौ च वृक्षमूलानि ४।७३
रात्रौ न विचरेयुस् ते १०।५४
रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत ३।२८०
राष्ट्रस्य सङ्ग्रहे नित्यम् ७।११३
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात् ८।३८०
राष्ट्रियैः सह तद् राष्ट्रम् १०।६१
राष्ट्रेषु रक्षाऽधिकृतान् ९।२७२
रिक्तभाण्डानि यत्किञ्चित् ८।४०५
रुक्माऽऽभं स्वप्नधीगम्यम् १२।१२२
रुधिरे च स्रुते गात्रात् ४।१२२
रूपद्रव्यविहीनांश् च ४।१४१
रूपसत्त्वगुणोपेताः ३।४०
रेतः सिक्त्वा जले चैव ११।१७३
रेतःसेकं स्वयोनीषु ११।५८
रोगोऽग्निर् ज्ञातिमरणम् ८।१०८
रोमाणि च रहस्यानि ४।१४४

ल

लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्यात् ११।७३
ललाटसम्मितो राज्ञः २।४६
लशुनं गृञ्जनं चैव ५।५
लाभाऽलाभं च पण्यानाम् ९।३३१
लूताऽहिसरटानां च १२।५७
लोकसंव्यवहारार्थम् ८।१३१
लोकस्याऽऽप्यायने युक्तान् ३।२१३
लोकानन्यान् सृजेयुर् ये ९।३१५
लोकानां तु विवृद्ध्यर्थम् १।३१
लोकेशाऽधिष्ठितो राजा ५।९७
लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यम् १२।३३
लोभात् सहस्रं दण्ड्यस् तु ८।१२०
लोभान् मोहाद् भयान् मैत्रात् ८।११८
लोष्टमर्दी तृणच्छेदी ४।७१
लोहशङ्कुमृजीषं च ४।९०
लोहितान् वृक्षनिर्यासान् ५।६
लौकिकं वैदिकं वाऽपि २।११७

व

वणिक्पथं कुसीदं च १।९०
वत्सस्य ह्यभिशस्तस्य ८।११६
वधेन शुध्यति स्तेनः ११।१००
वधेनाऽपि यदा त्वेतान् ८।१३०
वध्यवासांसि गृह्णीयुः १०।५६
वध्यांश् च हन्युः सततम् १०।५६
वनस्था अपि राज्यानि ७।४०
वनस्पतिभ्य इत्येवम् ३।८८
वनस्पतीनां सर्वेषाम् ८।२८५
वने वसेत् तु नियतः ६।१
वनेषु च विहृत्यैवम् ६।३३
वन्ध्याऽष्टमेऽधिवेद्याऽब्दे ९।८१
वपनं मेखला दण्डः ११।१५१
वपुष्मान् वीतभीर् वाग्मी ७।६४
वयसः कर्मणोऽर्थस्य ४।१८
वयोभिः खादयन्त्यन्ये ३।२६१
वरं स्वधर्मो विगुणः १०।९७
वराहमकराभ्यां वा ७।१८७
वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यः ७।८४
वरुणेन यथा पाशैः ९।३०८
वर्जयेन् मधु मांसं च २।१७७
वर्जयेन् मधु मांसं च ६।१४
वर्णं रूपं प्रमाणं च ८।३२
वर्णक्रमेण सर्वाणि ८।२४
वर्णरूपोपसम्पन्नैः ४।६८
वर्णानां सङ्करं चक्रे ९।६७
वर्णानां सान्तरालानाम् २।१८
[वर्णानामानुपूर्व्येण ११।१३८]
वर्णानामाश्रमाणां च ७।३५
वर्णाऽपेतमविज्ञातम् १०।५७
वर्तयंश् च शिलोञ्छाभ्याम् ४।१०
वर्तेत याम्यया वृत्त्या ८।१७३
वर्षेवर्षेऽश्वमेधेन ५।५३
वशाऽपुत्रासु चैवं स्यात् ८।२८
वशे कृत्वेन्द्रियग्रामम् २।१००
वसनस्य दशा ग्राह्या ३।४४
वसन् दूरतरे ग्रामात् ११।१२८
वसा शुक्रमसृङ् मज्जा ५।१३५
वसित्वा मैथुनं वासः ४।११६
वसिष्ठविहितां वृद्धिम् ८।१४०
वसिष्ठश् चाऽपि शपथम् ८।११०
वसीत चर्म चीरं वा ६।६
वसीरन्नानुपूर्व्येण २।४१
वसून् वदन्ति तु पितॄन् ३।२८४
वसेयुरेते विज्ञाताः १०।५०
वस्त्रं पत्रमलङ्कारम् ९।२१९
वस्त्राऽन्नपानं देयं तु ११।१८८
वस्त्राऽपहारकः श्वैत्र्यम् ११।५१
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा २।१५९
वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य ११।३३
वाग्दण्डं प्रथमं कुर्यात् ८।१२९
वाग्दण्डजं च पारुष्यम् ७।४८
वाग्दण्डयोश् च पारुष्ये ८।७२

[वाग्दण्डोऽथ भवेन् मौनम् १२।९]
वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः १२।१०
[वाग्दण्डो हन्ति विज्ञानम् १२।९]
वाग्दुष्टात् तस्कराच् चैव ८।३४५
वाग्दैवत्यैश्च चरुभिः ८।१०५
वाचा वाचा कृतं कर्म १२।८
वाचिकैः पक्षिमृगताम् १२।९
वाचि प्राणे च पश्यन्तः ४।२३
वाच्यग्निं मित्रमुत्सर्गे १२।१२१
वाच्यर्था नियताः सर्वे ४।२५६
वाच्येके जुह्वति प्राणम् ४।२३
वाणिज्यं कारयेद् वैश्यम् ८।४१०
वातेन्द्रगुरुवह्नीनाम् ११।११९
वादयुद्धप्रधानाश् च १२।४६
वादेष्ववचनीयेषु ८।२६९
वानरं श्येनभासौ च ११।१३५
वानस्पत्यं मूलफलम् ८।३३९
वान्ताऽश्युल्कामुखः प्रेतः १२।७१
वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु ५।१४४
वायसानां कृमीणां च ३।९२
वायुः कर्माऽर्ककालौ च ५।१०५
वायुवच् चाऽनुगच्छन्ति ३।१८९
वायोरपि विकुर्वाणात् १।७७
वाय्वग्निविप्रमादित्यम् ४।४८
वारिदस् तृप्तिमाप्नोति ४।२२९
वार्ताकर्मैव वैश्यस्य १०।८०
वार्तायां नित्ययुक्तः स्यात् ९।३२६
वार्ध्रीणसस्य मांसेन ३।२७१
वार्यन्नगोमहीवासस्- ४।२३३
वार्यपि श्रद्धया दत्तम् ३।२०२
वार्षिकांश् चतुरो मासान् ९।३०४
वासन्तशारदैर् मेध्यैः ६।११
वासांसि मृतचेलानि १०।५२
वासो दद्याद् धयं हत्वा ११।१३६
वासोदश् चन्द्रसालोक्यम् ४।२३१
वाहनानि च सर्वाणि ७।२२२
विंशतीशं शतेशं च ७।११५
विंशतीशस् तु तत् सर्वम् ७।११७
विकर्मक्रियया नित्यम् ९।२२६
विकर्मस्थाञ् छौण्डिकांश् च ९।२२५
विक्रयाद् यो धनं किञ्चित् ८।२०१
विक्रीणीत तिलाञ् शुद्धान् १०।९०
विक्रीणीते परस्य स्वम् ८।१९७
विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्रात् ७।१४३
विगतं तु विदेशस्थम् ५।७५
विघसाशी भवेन् नित्यम् ३।२८५
विघसो भुक्तशेषं तु ३।२८५
विघुष्य तु हृतं चौरैः ८।२३३
विचरेन् नियतो नित्यम् ६।५२
विचार्य तस्य वा वृत्तम् ८।१८७
विचार्य सर्वपण्यानाम् ८।४०१
विजेतुं प्रयतेताऽरीन् ७।१९८
विट्पण्यमुद्धृतोद्धारम् १०।८५
विट्शूद्रयोरेवमेव ८।२७७
विट्शूद्रयोस् तु तानेव ३।२३
विड्वराहखरोष्ट्राणाम् ११।१५४
विण्मूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थम् ५।१३४
वितथाऽभिनिवेशश्च १२।५
वितथेन ब्रुवन् दर्पात् ८।२७३
वित्तं बन्धुर् वयः कर्म २।१३६
विदुषा ब्राह्मणेनेदम् १।१०३
विदुषे दक्षिणा दत्ता ३।१४३
विद्ययैव समं कामम् २।११३
विद्यागुरुष्वेतदेव २।२०६
विद्यातपःसमृद्धेषु ३।९८
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा ५।१०९
विद्यातपोविवृद्ध्यर्थम् ६।३०
विद्यादुत्सादयेच् चैव ९।२६७
विद्याधनं तु यद् यस्य ९।२०६
विद्या ब्राह्मणमेत्याऽऽह २।११४
विद्याऽर्थं षड् यशोऽर्थं वा ९।७६
विद्या शिल्पं भृतिः सेवा १०।११६

विद्युतोऽशनिमेघांश् च १।३८
विद्युत्स्तनितवर्षेषु ४।१०३
विद्वद्भिः सेवितः सद्भिः २।१
विद्वांस् तु ब्राह्मणो दृष्ट्वा ८।३७
विधवायां नियुक्तस् तु ९।६०
विधवायां नियोगार्थे ९।६२
विधाता शासिता वक्ता ११।३५
विधाय प्रोषिते वृत्तिम् ९।७५
विधाय वृत्तिं भार्यायाः ९।७४
विधियज्ञाज् जपयज्ञः २।८५
विधिवत् प्रतिगृह्याऽपि ९।७२
विधिवद् ग्राहयामास १।५८
विधिवद् वन्दनं कुर्यात् २।२१६
विधूमे सन्नमुसले ६।५६
विनश्यत्याशु तत् कृत्स्नम् ८।२२
विनाऽद्भिरप्सु वाऽप्यार्तः ११।२०२
विनाशं व्रजति क्षिप्रम् ३।१७९
विनीतवेषाऽऽभरणः ८।२
विनीताऽऽत्मा हि नृपतिः ७।३९
विनीतैस् तु व्रजेन् नित्यम् ४।६८
विन्यसेत् प्रयतः पूर्वम् ३।२२६
विपणेन च जीवन्तः ३।१५२
विपरीतं नयन्तस् तु ८।२५७
विप्रः शुध्यत्यपः स्पृष्ट्वा ५।९९
विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता ११।१७६
विप्रयोगं प्रियैश् चैव ६।६२
विप्रवद् वाऽपि तं श्राद्धे ३।२२०
विप्रसेवैव शूद्रस्य १०।१२३
विप्रस्य तन्निमित्ते वा ११।८०
विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु १०।१०
विप्रस्य विदुषो देहे ४।१११
विप्रस्यौद्धारिकं देयम् ९।१५०
विप्राः प्राऽऽहुस् तथा चैतत् ९।४५
विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यम् २।१५५
विप्राणां वेदविदुषाम् ९।३३४
विप्राऽन्तिके पितॄन् ध्यायन् ३।२२४
विप्रोष्य तूपसङ्ग्राह्या २।१३२
विप्रोष्य पादग्रहणम् २।२१७
विप्लुतौ शूद्रवद् दण्ड्यौ ८।३७७
विभक्ताः सह जीवन्तः ९।२१०
विभागधर्मं द्यूतं च १।११५
विमुखा बान्धवा यान्ति ४।२४१
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां ७।४६
विरमेत् पक्षिणीं रात्रिम् ४।९७
विराट्सुताः सोमसदः ३।१९५
विवशः शतमा जातीः ८।८२
विवादं सम्प्रवक्ष्यामि ८।२२९
विवादे वा विनिर्जित्य ११।२०५
विवास्यो वा भवेद् राष्ट्रात् ९।२४१
विविक्तेषु च तुष्यन्ति ३।२०७
विविधानि च रत्नानि १२।६१
विविधानि च शिल्पानि २।२४०
विविधाश् चैव सम्पीडाः १२।७६
विविधाश् चौपनिषदीः ६।२९
विवृद्ध्यर्थं स्ववंशस्य ९।१२८
विशिष्टं कुत्रचिद् बीजम् ९।३४
विशीलः कामवृत्तो वा ५।१५४
विशुध्यति त्रिरात्रेण ५।१०१
विशेषतोऽसहायेन ७।५५
विश्वजन्यमिमं पुण्यम् ९।३१
विश्वेभ्यश् चैव देवेभ्यः ३।८५
विश्वेभ्यश् चैव देवेभ्यः ३।९०
विश्वैश् च देवैः साध्यैश् च ११।२९
विषघ्नानि च रत्नानि ७।२१८
विषघ्नैरगदैश् चाऽस्य ७।२१८
विषयाणां ग्रहीतॄणि १।१५
विषयेषु च सज्जन्त्यः ९।२
विषयेषु प्रजुष्टानि २।९६
विषयेष्वप्रसक्तिश् च १।८९
विषयोपसेवा चाऽजस्रम् १२।३२
विषादप्यमृतं ग्राह्यम् २।२३९
विष्ठा वार्धुषिकस्याऽन्नम् ४।२२०

विसंवदेन् नरो लोभात् ८।२१९
विसृज्य च प्रजाः सर्वा ७।१४६
विसृज्य ध्यानयोगेन ६।७९
विसृज्य ब्राह्मणांस् तांस् तु ३।२५८
विस्तीर्यते यशो लोके ७।३३
विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्रात् ८।४१७
विहङ्गमहिषीणां च ९।५५
विहृत्य तु यथाकालम् ७।२२१
वीक्ष्याऽन्धो नवतेः काणः ३।१७७
वीतशोकभयो विप्रः ६।३२
वृकवच् चाऽवलुम्पेत ७।१०६
वृको मृगेभं व्याघ्रोऽश्वम् १२।६७
वृक्षगुल्माऽऽवृते चापैः ७।१९२
वृतिं तत्र प्रकुर्वीत ८।२३९
वृत्तीनां लक्षणं चैव १।११३
वृत्ते शरावसम्पाते ६।५६
वृथाकृसरसंयावम् ५।७
वृथापशुघ्नः प्राप्नोति ५।३८
वृथाऽऽलम्भेऽनुगच्छेद् गाम् ११।१४४
वृथासङ्करजातानाम् ५।८९
वृथा हि शपथं कुर्वन् ८।१११
वृद्धसेवी हि सततम् ७।३८
वृद्धांश् च नित्यं सेवेत ७।३८
[वृद्धौ च मातापितरौ ११।१०]
वृषभैकसहस्रा गाः ११।१२७
वृषभैकादशा गाश् च ११।११६
वृषभैकादशा वाऽपि ११।१३०
वृषलं तं विदुर् देवाः ८।१६
वृषलत्वं गता लोके १०।४३
वृषलीफेनपीतस्य ३।१९
वृषो हि भगवान् धर्मः ८।१६
वेणुवैदलभाण्डानाम् ८।३२७
वेतनस्यैव चाऽदानम् ८।५
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः २।१६५
वेदः स्मृतिः सदाचारः २।१२
वेदतत्त्वार्थविदुषे ३।९६
वेदत्रयान् निरदुहत् २।७६
वेदप्रदानादाचार्यम् २।१७१
वेदमध्येष्यमाणश् च ५।१३८
वेदमेव जपेन् नित्यम् ४।१४७
वेदमेव सदाऽभ्यस्येत् २।१६६
वेदयज्ञैरहीनानाम् २।१८३
वेदविच् चाऽपि विप्रोऽस्य ३।१७९
वेदवित्सु विविक्तेषु ११।६
वेदविद्याव्रतस्नातान् ४।३१
वेदशब्देभ्य एवाऽऽदौ १।२१
वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः १२।१०२
वेदसन्न्यासिकानां तु ६।८६
वेदस्याऽधीत्य वाऽप्यन्तम् ४।१२३
वेदाङ्गानि च सर्वाणि ४।९८
वेदादेव प्रसूयन्ते १२।९८
वेदानधीत्य वेदौ वा ३।२
वेदान्तं विधिवच् छ्रुत्वा ६।९४
वेदाऽभ्यासस् तपो ज्ञानम् १२।३१
वेदाऽभ्यासस् तपो ज्ञानम् १२।८३
वेदाऽभ्यासेन सततम् ४।१४८
वेदाऽभ्यासोऽन्वहं शक्त्या ११।२४५
वेदाऽभ्यासो ब्राह्मणस्य १०।८०
वेदाऽभ्यासो हि विप्रस्य २।१६६
वेदार्थवित् प्रवक्ता च ३।१८६
वेदास् त्यागश्च यज्ञाश्च २।९७
वेदोक्तमायुर् मर्त्यानाम् १।८४
वेदोऽखिलो धर्ममूलम् २।६
वेदोदितं स्वकं कर्म ४।१४
वेदोदितानां नित्यानाम् ११।२०३
वेदोपकरणे चैव २।१०५
वेनो विनष्टोऽविनयात् ७।४१
वेषवाग्बुद्धिसारूप्यम् ४।१८
वेषाऽऽभरणसंशुद्धाः ७।२१९
वैगुण्याज् जन्मनः पूर्वः १०।६८
वैणवीं धारयेद् यष्टिम् ४।३६
वैतानिकं च जुहुयात् ६।९

वैदिके कर्मयोगे तु १२।८७
वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैः २।२६
वैदेहकादन्ध्रमेदौ १०।३६
वैदेहकानां स्त्रीकार्यम् १०।४७
वैदेहकेन त्वम्बष्ठ्याम् १०।१९
वैरिणं नोपसेवेत ४।१३३
वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत ३।६७
वैवाहिको विधिः स्त्रीणाम् २।६७
वैशेष्यात् प्रकृतिश्रैष्ठ्यात् १०।३
वैश्यं क्षेमं समागम्य २।१२७
वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात् ८।३७६
वैश्यं प्रति तथैवैते १०।७८
वैश्यः पञ्चदशाऽहेन ५।८३
वैश्यः प्रतोदं रश्मीन् वा ५।९९
वैश्यः सर्वस्वदण्डः स्यात् ८।३७५
वैश्यराजन्यविप्रासु १०।१२
वैश्यवच् छौचकल्पश् च ५।१४०
वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन् १०।१०१
वैश्यवृत्त्याऽपि जीवंस् तु १०।८३
वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ ३।११२
वैश्यशूद्रोपचारं च ११।११६
वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन ८।४१८
वैश्यशूद्रौ सखा चैव ३।११०
वैश्यश् चेत् क्षत्रियां गुप्ताम् ८।३८२
वैश्यस् तु कृतसंस्कारः ९।३२६
वैश्यस्य तु तपो वार्ता ११।२३५
वैश्यस्य धनसंयुक्तम् २।३१
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तम् २।३२
वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन् १०।१०
वैश्याजः साऽर्धमेवाऽंशम् ९।१५१
वैश्यात् तु जायते व्रात्यात् १०।२३
वैश्यानां धान्यधनतः २।१५५
वैश्यानामाज्यपा नाम ३।१९७
वैश्यान् मागधवैदेहौ १०।११
वैश्यान् मागधवैदेहौ १०।१७
वैश्यापुत्रो हरेद् द्व्यंशम् ९।१५३
वैश्ये चेच्छति नाऽन्येन ९।३२८
वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे ११।१२६
वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशत् ८।२६८
वैश्योऽजीवन् स्वधर्मेण १०।९८
वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस् तु २।६२
वैश्योऽध्यर्धशतं द्वे वा ८।२६७
वैश्वदेवं हि नामैतत् ३।१२१
वैश्वदेवस्य सिद्धस्य ३।८४
वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते ३।१०८
वोढुः स गर्भो भवति ९।१७३
व्यत्यस्तपाणिना कार्यम् २।७२
व्यपेतकल्मषो नित्यम् ४।२६०
व्यपेतकल्मषोऽभ्येति १२।१८
व्यपोह्य किल्बिषं सर्वम् ८।४२०
व्यभिचारात् तु भर्तुः स्त्री ५।१६४
व्यभिचारात् तु भर्तुः स्त्री ९।३०
व्यभिचारेण वर्णानाम् १०।२४
व्यवहारान् दिदृक्षुस् तु ८।१
व्यवहारेण जीवन्तम् ७।१३७
व्यवहारो मिथस् तेषाम् १०।५३
व्यसनस्य च मृत्योश् च ७।५३
व्यसनानि दुरन्तानि ७।४५
व्यसन्यधोऽधो व्रजति ७।५३
व्यस्तैश् चैव समस्तैश् च ७।१५९
व्याधाञ् छाकुनिकान् गोपान् ८।२६०
व्याधिता विप्रदुष्टा वा ९।७२
व्याधिता वाऽधिवेत्तव्या ९।८०
व्यायम्याऽऽप्लुत्य मध्याह्ने ७।२१६
व्यालग्राहानुञ्छवृत्तीन् ८।२६०
व्याहृतिप्रणवैर् युक्ता ६।७०
व्रतचर्योपचारं च ११।१११
व्रतवद् देवदैवत्ये २।१८९
व्रतस्थमपि दौहित्रम् ३।२३४
व्रतानि यमधर्माश् च २।३
व्रतेन पापं प्रच्छाद्य ४।१९८
व्रात्यता बान्धवत्यागः ११।६२

व्रात्यया सह संवासे ८।३७३
व्रात्यात् तु जायते विप्रात् १०।२१
व्रात्यानां याजनं कृत्वा ११।१९७
व्रीहयः शालयो मुद्गाः ९।३९

श

शंसेद् ग्रामदशेशाय ७।११६
शंसेद् ग्रामशतेशस् तु ७।११७
शक्तं कर्मण्यदुष्टं च ८।३८८
शक्तः परजने दाता ११।९
शक्तिं चाऽवेक्ष्य दाक्ष्यं च १०।१२४
शक्तिं चाऽवेक्ष्य पापं च ११।२०९
शवितं चोभयतस् तीक्ष्णाम् ८।३१५
शक्तितो नाऽभिधावन्तः ९।२७४
शक्तितोऽपचमानेभ्यः ४।३२
शक्तेनाऽपि हि शूद्रेण १०।१२९
शठो मिथ्याविनीतश् च ४।१९६
शणसूत्रमयं राज्ञः २।४४
शतं दशसहस्राणि ७।७४
शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य ८।२६७
शतं वर्षाणि तामिस्रे ४।१६५
शतमश्वाऽनृते हन्ति ८।९८
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यात् ८।२६४
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यात् ८।३७८
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यात् ८।३८५
शतायुश् चैव विज्ञेया ३।१८६
शत्रुसेविनि मित्रे च ७।१८६
शनकैस् तु क्रियालोपात् १०।४३
शनैरावर्तमानस् तु ४।१७२
शब्दः स्पर्शश् च रूपं च १२।९८
शम्यापातास् त्रयो वाऽपि ८।२३७
शयनस्थो न भुञ्जीत ४।७४
शयानः प्रौढपादश् च ४।११२
शय्यां गृहान् कुशान् गन्धान् ४।२५०
शय्याऽऽसनमलङ्कारम् ९।१७
शय्याऽऽसनस्थश् चैवैनम् २।११९
शय्याऽऽसनेऽध्याचरिते २।११९
शरः क्षत्रियया ग्राह्यः ३।४४
शरणाऽऽगतं परित्यज्य ११।१९८
शरणाऽऽगतहन्तृंश् च ११।१९०
शरणेष्वममश्चैव ६।२६
शरान् कुब्जकगुल्मांश् च ८।२४७
शरीरं चैव वाचं च २।१९२
शरीरं यातनार्थीयम् १२।१६
शरीरकर्षणात् प्राणाः ७।११२
शरीरजैः कर्मदोषैः १२।९
शरीरस्याऽत्यये चैव ६।६८
शरीरेण समं नाशम् ८।१७
शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्यात् २।३२
शल्यं चाऽस्य न कृन्तन्ति ८।१२
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव ५।८५
शवस्पृशो विशुध्यन्ति ५।६४
शशकूर्मयोस् तु मांसेन ३।२७०
शस्त्रं द्विजातिभिर् ग्राह्यम् ८।३४८
शस्त्राऽस्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य १०।७९
शस्त्रेण वैश्यान् रक्षित्वा १०।११९
शाक-मूल-फलानां च ५।११९
शाखान्तगमथाऽध्वर्युम् ३।१४५
शारङ्गी मन्दपालेन ९।२३
शारीरं धनसंयुक्तम् ९।२३६
शारीरं शौचमिच्छन् हि ५।१३९
[शारीरस्य हि दण्डस्य १२।९]
शाल्मलीन् सालतालांश् च ८।२४६
शाल्मलीफलके श्लक्ष्णे ८।३९६
शासनाद् वा विमोक्षाद् वा ८।३१६
शिफाविदलरज्ज्वाद्यैः ९।२३०
शिरःस्नातश्च तैलेन ४।८३
शिरोभिस् ते गृहीत्वोर्वीम् ८।२५६
शिलानप्युञ्छतो नित्यम् ३।१००
शिलोञ्छमप्याददीत १०।११२
शिल्पेन व्यवहारेण ३।६४
शिल्पोपचारयुक्ताश् च ९।२५९
शिष्टा वा भूमिदेवानाम् ११।८२

शिष्यांश् च शिष्याद् धर्मेण ४।१७५
शिष्येण बन्धुना वाऽपि ८।७०
शिष्येभ्यश् च प्रवक्तव्यम् १।१०३
शीतातपाऽभिघातांश् च १२।७७
शुके द्विहायनं वत्सम् ११।१३४
शुक्तं पर्युषितं चैव ४।२११
शुक्तानि च कषायांश् च ११।१५३
शुक्तानि यानि सर्वाणि २।१७७
शुक्लपक्षादिनियतः ११।२१७
शुचिं देशं विविक्तं च ३।२०६
शुचिना सत्यसन्धेन ७।३१
शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुः ९।३३५
शुचीनाकरकर्मान्ते ७।६२
शुचौ देशे जपञ् जप्यम् २।२२२
शुद्धिर् विजानता कार्या ५।१२१
शुध्येद् विप्रो दशाऽहेन ५।८३
शुनां च पतितानां च ३।९२
[शुनाऽऽघ्रातोपलीढस्य ११।१९९]
शुभाऽशुभफलं कर्म १२।३
[शुभैः प्रयोगैर् देवत्वम् १२।९]
शुल्कं च द्विगुणं दद्यात् ८।३६९
शुल्कं दद्यात् सेवमानः ८।३६६
शुल्कं हि गृह्णन् कुरुते ९।९८
शुल्कसंज्ञेन मूल्येन ९।१००
शुल्कस्थानं परिहरन् ८।४००
शुल्कस्थानेषु कुशलाः ८।३९८
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च ७।८८
शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य ११।११०
शुश्रूषैव तु शूद्रस्य ९।३३४
शुष्कवैरं विवादं च ४।१३९
शुष्काणि भुक्त्वा मांसानि ११।१५५
शूद्रं तु कारयेद् दास्यम् ८।४१३
शूद्र-विट्-क्षत्र-विप्राणाम् ८।१०४
शूद्रशिष्यो गुरुश् चैव ३।१५६
शूद्रस् तु यस्मिन् कस्मिन् वा २।२४
शूद्रस् तु वृत्तिमाकाङ्क्षन् १०।१२१
शूद्रस्य तु सवर्णैव ९।१५७
शूद्रां शयनमारोप्य ३।१७
शूद्राज् जातो निषाद्यां तु १०।१८
शूद्राणां तु सधर्माणः १०।४१
शूद्राणां मासिकं कार्यम् ५।१४०
शूद्रादायोगवः क्षत्ता १०।१२
शूद्रायां क्षत्रियविशोः ८।३८३
शूद्रायां ब्राह्मणाज् जातः १०।६४
शूद्रावेदी पतत्यत्रेः ३।१६
शूद्राश् च सन्तः शूद्राणाम् ८।६८
शूद्रेण हि समस् तावत् २।१७२
शूद्रैव भार्या शूद्रस्य ३।१३
शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा ८।३७४
शूद्रोच्छिष्टाश् च पीत्वाऽपः ११।१४८
शूद्रो ब्राह्मणतामेति १०।६५
शूद्रो हि धनमासाद्य १०।१२९
शून्यानि चाऽप्यगाराणि ९।२६५
शूले मत्स्यानिवाऽपक्ष्यन् ७।२०
शृगालयोनिं प्राप्नोति ५।१६४
शेलुं गव्यं च पेयूषम् ५।६
शेषमात्मनि युञ्जीत ६।१२
शेषाणामानृशंस्याऽर्थम् ९।१६३
शेषास् तमुपजीवेयुः ९।१०५
शेषे त्वेकादशगुणम् ८।३२२
शेषेऽप्येकादशगुणम् ८।३२०
शैलूष-तुन्नवायाऽन्नम् ४।२१४
शोचन्ति जामयो यत्र ३।५७
शोणितं यावतः पांसून् ४।१६८
शोणितं यावतः पांसून् ११।२०७
शौचं यथाऽर्हं कर्तव्यम् ५।११४
शौचाऽशौचं हि मर्त्यानाम् ५।९७
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च ९।११
शौचेप्सुः सर्वदाऽऽचामेत् २।६१
शौनकस्य सुतोत्पत्त्या ३।१६
शौर्यकर्माऽपदेशैश् च ९।२६८
श्मशानगोचरं सूते १०।३९

श्मशानेष्वपि तेजस्वी ९।३१८
श्रद्दधानः शुभां विद्याम् २।२३८
श्रद्दधानोऽनसूयश् च ४।१५८
श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च ४।२२६
श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते ४।२२६
श्रद्धा च नो मा व्यगमत् ३।२५९
श्रद्धापूतं वदान्यस्य ४।२२५
श्राद्धं भुक्त्वा य उच्छिष्टम् ३।२४९
श्राद्धभुग् वृषलीतल्पम् ३।२५०
श्राद्धे प्रशस्तास् तिथयः ३।२७६
श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वा ४।९५
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते २।५२
श्रीफलैरंशुपट्टानाम् ५।१२०
श्रुतं देशं च जातिं च ८।२७३
श्रुतवृत्ते विदित्वाऽस्य ७।१३५
श्रुतवृत्तोपपन्ने वा ९।२४४
श्रुतशीले च विज्ञाय ११।२२
श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात् २।१४
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् २।८
श्रुतिस् तु वेदो विज्ञेयः २।१०
श्रुतिस्मृत्युदितं धर्मम् २।९
श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यक् ४।१५५
श्रुतीरथर्वाऽऽङ्गिरसीः ११।३३
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च २।९८
श्रुत्वैतानृषयो धर्मान् ५।१
श्रूयतां येन दोषेण ५।३
श्रेयःसु गुरुवद् वृत्तिम् २।२०७
श्रेयसः श्रेयसोऽलाभे ९।१८४
श्रेयस्करतरं ज्ञेयम् १२।८६
श्रैष्ठ्येनाऽभिजनेनेदम् १।१००
श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा २।९०
श्रोत्रियं व्याधिताऽऽर्तौ च ८।३९५
श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुम् ८।३९३
श्रोत्रियस्य कदर्यस्य ४।२२४
श्रोत्रियाऽन्वयजाश् चैव ३।१८४
श्रोत्रियायैव देयानि ३।१२८
श्रोत्रिये तूपसम्पन्ने ५।८१
श्रोत्रियेषूपकुर्वंश् च ८।३९४
श्लेष्मनिष्ठ्यूतवान्तानि ४।१३२
श्लेष्माऽश्रु दूषिका स्वेदः ५।१३५
श्वक्रीडी श्येनजीवी च ३।१६४
श्वखरोष्ट्रे च रुवति ४।११५
श्वगोधोलूककाकांश् च ११।१३१
श्वभिर् हतस्य यन् मांसम् ५।१३१
श्वमांसमिच्छन्नार्तोऽत्तुम् १०।१०६
श्ववतां शौण्डिकानां च ४।२१६
श्वसूकरखरोष्ट्राणाम् १२।५५
श्वसृगालखरैर् दष्टः ११।१९९
श्वा तु दृष्टिनिपातेन ३।२४१
श्वावित् कृताऽन्नं विविधम् १२।६५
श्वाविधं शल्यकं गोधाम् ५।१८

ष

षट्कर्मैको भवत्येषाम् ४।९
षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यम् ३।१
षट्सुषट्सु च मासेषु ८।४०३
षडानुपूर्व्या विप्रस्य ३।२३
षडृतूंश् च नमस्कुर्यात् ३।२१७
षण्णां तु कर्मणामस्य १०।७६
षण्णामेषां तु पूर्वेषाम् १२।८६
षण्मासनिचयो वा स्यात् ६।१८
षण् मासांश् छागमांसेन ३।२६९
षष्ठं तु क्षेत्रजस्याऽंशम् ९।१६४
षष्ठाऽन्नकालता मासम् ११।२००
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि २।३४
षाण्मासिकस् तथाऽऽच्छादः ७।१२६
षोडशैव तु वैश्यस्य ८।३३७

स

स एव ता आददीत ८।२०८
स एव दद्याद् द्वौ पिण्डौ ९।१३२
स एव धर्मजः पुत्त्रः ९।१०७
संयमे यत्नमातिष्ठेत् २।८८

संयुक्तांश् च वियुक्तांश् च ७।२१४
संयोगं पतितैर् गत्वा १२।६०
संयोगे विप्रयोगे च ९।१
संरक्षणार्थं जन्तूनाम् ६।६८
संरक्षेत् सर्वतश् चैनम् ७।१३५
संरक्ष्यमाणो राज्ञा यम् ७।१३६
संवत्सरं तु गव्येन ३।२७१
संवत्सरं प्रतीक्षेत ९।७७
संवत्सरं यवाऽऽहारः ११।१९५
संवत्सरस्यैकमपि ५।२१
संवत्सराऽभिशस्तस्य ८।३७३
संवत्सरेण पतति ११।१८०
संवत्सरे व्यतीते तु ५।७६
संवाद्य रूपसङ्ख्यादीन् ८।३१
संविभागश् च भूतेभ्यः ४।३२
संविशेत् तु यथाकालम् ७।२२५
संशोध्य त्रिविधं मार्गम् ७।१८५
संसारगमनं चैव १।११७
संसारान् प्रतिपद्यन्ते १२।५४
संसृष्टास् तेन वा ये स्युः ९।२१६
संस्कर्ता चोपहर्ता च ५।५१
संस्कारस्य विशेषाच् च १०।३
संस्कारार्थं शरीरस्य २।६६
संस्थितस्याऽनपत्यस्य ९।१९०
संस्पृष्टं नैव शुध्येत ५।१२३
संहतस्य च मित्रेण ७।१६५
संहतान् योधयेदल्पान् ७।१९१
संहत्य हस्तावध्येयम् २।७१
संहातं च सकाकोलम् ४।८९
सकल्पं सरहस्यं च २।१४०
सकामां दूषयंस् तुल्यः ८।३६४
सकामां दूषयंस् तुल्यः ८।३६८
स कुबेरः स वरुणः ७।७
सकृज् जप्त्वाऽस्यवामीयम् ११।२५०
स कृत्वा प्राकृतं कृच्छ्रम् ११।१५८
स कृत्वा प्लवमात्मानम् ११।१९
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते ७।१४८
सकृदंशो निपतति ९।४७
सकृदाह ददानीति ९।४७
स क्रीतकः सुतस् तस्य ९।१७४
सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु ११।५८
सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु ११।१७०
स गच्छति परं स्थानम् ३।९३
स गच्छत्यञ्जसा विप्रः २।२४४
स गच्छत्युत्तमस्थानम् २।२०
स गुह्योऽन्यस् त्रिवृद् वेदः ११।२६५
स गृहे गूढ उत्पन्नः ९।१७०
स गृहेऽपि वसन् नित्यम् ३।७१
स गोहत्याकृतं पापम् ११।११५
सङ्कराऽपात्रकृत्यासु ११।१२५
सङ्करीकरणं ज्ञेयम् ११।६८
सङ्करे जातयस् त्वेताः १०।४०
सङ्कल्पमूलः कामो वै २।३
सङ्कीर्णयोनयो ये तु १०।२५
सङ्क्रमध्वजयष्टीनाम् ९।२८५
सङ्क्षिप्यते यशो लोके ७।३४
सङ्ग्रामेष्वनिवर्तित्वम् ७।८८
सचिवान् सप्त चाऽष्टौ वा ७।५४
स चेत् तु पथि संरुद्धः ८।२९५
सचैलो बहिराप्लुत्य ११।२०२
सजातिजाऽनन्तरजाः १०।४१
स जीवंश् च मृतश् चैव ५।४५
स जीवन्नेव शूद्रत्वम् २।१६८
सज्जयन्ति हि ते नारीः ८।३६२
स ज्ञेयो यज्ञियो देशः २।२३
सज्योतिः स्यादनध्यायः ४।१०६
सञ्जीवनं महावीचिम् ४।८९
सञ्जीवयति चाऽजस्रम् १।५७
स तथैव ग्रहीतव्यः ८।१८०
स तदा तद्गुणप्रायम् १२।२५
स तदेव स्वयं भेजे १।२८
स तस्यैव व्रतं कुर्यात् ११।१८१

स तस्योत्पादयेत् तुष्टिम् ८।२८८
स ताननुपरिक्रामेत् ७।१२२
स तानुवाच धर्माऽऽत्मा ५।३
स तानुवाच धर्माऽऽत्मा १२।२
स तैः पृष्टस् तथा सम्यग् १।४
सत्क्रियां देशकालौ च ३।१२६
सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानम् १२।२६
सत्त्वं रजस् तमश् चैव १२।२४
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः १२।३८
सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् ४।१३८
सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन् साक्षी ८।८१
सत्यधर्माऽऽर्यवृत्तेषु ४।१७५
सत्यपूतां वदेद् वाचम् ६।४६
सत्यमर्थं च सम्पश्येत् ८।४५
सत्यमुक्त्वा तु विप्रेषु ११।१९६
सत्या न भाषा भवति ८।१६४
सत्याऽनृतं तु वाणिज्यम् ४।६
सत्याऽनृताभ्यामपि वा ४।४
सत्येन पूयते साक्षी ८।८३
सत्येन शापयेद् विप्रम् ८।११३
सत्रं हि वर्धते तस्य ८।३०३
स त्रीण्यहान्युपवसेत् ११।१५७
स त्वप्सु तं घटं प्रास्य ११।१८७
स दण्डं प्राप्नुयान् माषम् ८।३१९
स दण्ड्यः कृष्णलान्यष्टौ ८।३१५
स दत्त्वा निर्जितां वृद्धिम् ८।१५४
सदा प्रहृष्टया भाव्यम् ५।१५०
स दीर्घस्याऽपि कालस्य ८।३१६
सदृशं तु प्रकुर्याद् यम् ९।१६९
सदृशं प्रीतिसंयुक्तम् ९।१६८
सदृशस्त्रीषु जातानाम् ९।१२५
सदृशानेव तानाहुः १०।६
सद्भिराचरितं यत् स्यात् ८।४६
सद्यः पतति मांसेन १०।९२
सद्यःप्रक्षालको वा स्यात् ६।१८
सद्यः सन्तिष्ठते यज्ञः ५।९८
स द्वौ कार्षापणौ दद्यात् ९।२८२
स नाऽऽप्नोति फलं तस्य ११।२८
स निर्भाज्यः स्वकादंशात् ९।२०७
सन्तुष्टो भार्यया भर्ता ३।६०
सन्तोषं परमास्थाय ४।१२
सन्तोषमूलं हि सुखम् ४।१२
सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारम् ६।३
सन्धिं च विग्रहं चैव ७।१६०
सन्धिं छित्त्वा तु ये चौर्यम् ९।२७६
सन्धिं तु द्विविधं विद्यात् ७।१६२
सन्ध्ययोरुभयोश् चैव ३।२८०
सन्ध्ययोरुभयोश् चैव ४।१३१
सन्ध्ययोर् वेदविद् विप्रः २।७८
सन्ध्यां चोपास्य शृणुयात् ७।२२३
सन्निधातृंश् च मोषस्य ९।२७८
सन्निधावेष वै कल्पः ५।७४
सन्नियम्य तु तान्येव २।९३
सन्नियम्येन्द्रियग्रामम् २।१७५
सन्निवेश्याऽऽत्ममात्रासु १।१६
सन्न्यस्य सर्वकर्माणि ६।९५
सन्न्यासेनाऽपहत्यैनः ६।९६
स पर्यायेण यातीमान् ४।८७
स पापकृत्तमो लोके ४।२५५
स पापाऽऽत्मा परे लोके ११।२६
स पापिष्ठो विवाहानाम् ३।३४
स पारयन्नेव शवः ९।१७८
सपालः शतदण्डाऽर्हः ८।२४०
सपालान् वा विपालान् वा ८।२४२
सपिण्डता तु पुरुषे ५।६०
स पीतसोमपूर्वोऽपि ११।८
सप्तकस्याऽस्य वर्गस्य ७।५२
सप्तद्वाराऽवकीर्णां च ६।४८
सप्त प्रकृतयो ह्येताः ९।२९४
सप्त वित्ताऽऽगमा धर्म्याः १०।११५
सप्ताऽगारांश् चरेद् भैक्षम् ११।१२२
सप्ताऽङ्गस्येह राज्यस्य ९।२९६

सप्तानां प्रकृतीनां तु ९।२९५
स प्राऽऽप्नुयाद् दमं पूर्वम् ९।२८७
स प्रेत्य पशुतां याति ५।३५
सब्रह्मचारिण्येकाऽहम् ५।७१
स ब्रह्म परमभ्येति २।८२
स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तः २।११६
सभां वा न प्रवेष्टव्यम् ८।१३
सभाऽन्तः साक्षिणः प्राप्तान् ८।७९
सभा-प्रपा-ऽपूपशाला- ९।२६४
सभामेव प्रविश्याऽग्र्याम् ८।१०
स भुञ्जानो न जानाति ३।११५
समं पश्यन्नात्मयाजी १२।९१
समः सर्वेषु भूतेषु ६।६६
समक्षदर्शनात् साक्ष्यम् ८।७४
समता चैव सर्वस्मिन् ६।४४
सममब्राह्मणे दानम् ७।८५
समवर्णासु ये जाताः ९।१५६
समवर्णे द्विजातीनाम् ८।२६९
समवस्कन्दयेच् चैनम् ७।१९६
समस् तत्र विभागः स्यात् ९।१२०
समस् तत्र विभागः स्यात् ९।१३४
समस् तत्र विभागः स्यात् ९।२०५
समस् तत्र विभागः स्यात् ९।२१०
समस्तानां च कार्येषु ७।५७
स महीमखिलां भुञ्जन् ९।६७
स माता स पिता ज्ञेयः २।१४४
समानयानकर्मा च ७।१६३
समानशयने चैव ४।४०
समानोदकभावस् तु ५।६०
समाप्ते तूदकं कृत्वा ५।८८
समाप्ते द्वादशे वर्षे ११।८१
समाविशति संसृष्टः १।५६
समाहृत्य तु तद् भैक्षम् २।५१
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञम् ७।२६
समीक्ष्य कुलधर्मांश् च ८।४१
समीक्ष्य स धृतः सम्यक् ७।१९
समुत्थानव्ययं दाप्यः ८।२८७
समुत्पत्तिं च मांसस्य ५।४९
समुत्सृजेत् साहसिकान् ८।३४७
समुत्सृजेद् भुक्तवताम् ३।२४४
समुत्सृजेद् राजमार्गे ९।२८२
समुद्रयानकुशलाः ८।१५७
समुद्रयायी बन्दी च ३।१५८
स-मुद्रे नाऽऽप्नुयात् किञ्चित् ८।१८८
समुपोढेषु कामेषु ६।४१
स मूढो नरकं याति ३।२४९
समेऽपुमान् पुंस्त्रियौ वा ३।४९
समेषु तु गुणोत्कृष्टान् ८।७३
समैर् हि विषमं यस् तु ९।२८७
समोत्तमाऽधमै राजा ७।८७
समोऽवकृष्टजातिस् तु ८।१७७
सम्पन्नमित्यभ्युदये ३।२५४
सम्पश्यतः सभृत्यस्य ७।१४३
सम्पूज्या गुरुपत्नीवत् २।१३१
सम्प्रधार्याऽब्रवीद् धाता १०।७३
सम्प्राप्ताय त्वतिथये ३।९९
सम्प्राप्नुवन्ति दुःखानि १२।७४
सम्प्रीत्या भुज्यमानानि ८।१४६
सम्बन्धिनो ह्यपां लोके ४।१८३
सम्भवश् च यथा तस्य ७।१
सम्भवश् चाऽस्य सर्वस्य २।२५
सम्भवांश् च वियोनीषु १२।७७
सम्भावयति चाऽन्नेन २।१४२
सम्भाषणं सह स्त्रीभिः ८।३६०
सम्भूतिं तस्य तां विद्यात् २।१४७
सम्भूय च समुत्थानम् ८।४
सम्भूय स्वानि कर्माणि ८।२११
सम्भोगो दृश्यते यत्र ८।२००
सम्भोजनी साऽभिहिता ३।१४१
सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यम् २।१६२
सम्मार्जनोपाञ्जनेन ५।१२४
सम्यक् प्रणिहितं चाऽर्थम् ८।५४

सम्यगर्थसमाहर्तॄन् ७।६०
सम्यग्दर्शनसम्पन्नः ६।७४
सम्यङ्निविष्टदेशस् तु ९।२५२
स यदि प्रतिपद्येत ८।१८३
स याच्यः प्राड्विवाकेन ८।१८१
स याति भासतां विप्रः ११।२५
सरस्वतीदृषद्वत्योः २।१७
स राजा पुरुषो दण्डः ७।१७
स राज्ञा तच्चतुर्भागम् ८।१७६
सरितः सागराञ् छैलान् १।२४
सर्व एव विकर्मस्थाः ९।२१४
सर्वं कर्मेदमायत्तम् ७।२०५
सर्वं च तान्तवं रक्तम् १०।८७
सर्वं च तिलसम्बद्धम् ४।७५
सर्वं च दंशमशकम् १।४०
सर्वं तत् तपसा साध्यम् ११।२३८
सर्वं तु समवेक्ष्येदम् २।८
सर्वं परवशं दुःखम् ४।१६०
सर्वं भूम्यनृते हन्ति ८।९९
सर्वं वाऽपि चरेद् ग्रामम् २।१८५
सर्वं वा रिक्थजातं तत् ९।१५२
सर्वं शृणुत तं विप्राः ३।३६
सर्वं सुकृतमादत्ते ३।१००
सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदम् १।१००
सर्वं ह्यात्मनि सम्पश्यन् १२।११८
सर्वकण्टकपापिष्ठम् ९।२९२
सर्वतः प्रतिगृह्णीयात् ४।२४७
सर्वतः प्रतिगृह्णीयात् ४।२५१
सर्वतः प्रतिगृह्णीयात् १०।१०२
सर्वतो धर्मषड्भागः ८।३०४
सर्वत्र तु सदो देयः ८।२४१
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः ९।३१९
सर्वथा वर्तते यज्ञः २।१५
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च ७।९६
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः ६।८१
सर्वधर्मविदोऽलुब्धाः ८।६३
सर्वभूतप्रसूतिर् हि ९।३५
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः १।७
सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानम् १२।९१
सर्वमात्मनि सम्पश्येत् १२।११८
सर्वरत्नानि राजा तु ११।४
सर्वलक्षणहीनोऽपि ४।१५८
सर्वलोकप्रकोपश् च ७।२४
सर्वलोकाऽधिपत्यं च १२।१००
सर्ववर्णेषु तुल्यासु १०।५
सर्वस्य तपसो मूलम् ११।११०
सर्वस्याऽस्य तु सर्गस्य १।८७
सर्वस्याऽस्य प्रपश्यन्तः ११।२४४
सर्वस्याऽस्य यथान्यायम् ७।२
सर्वस्यैवाऽस्य सर्गस्य १।९३
सर्वस्वं वेदविदुषे ११।७६
सर्वस्वहारमर्हन्ति ९।२४२
सर्वांस् तांस् तेन पुत्रेण ९।१८२
सर्वाऽऽकरेष्वधीकारः ११।६३
सर्वाऽकुशलमोक्षाय ११।२२१
सर्वाणि ज्ञातिकार्याणि ११।१८७
सर्वान् परित्यजेदर्थान् ४।१७
सर्वान् बलकृतानर्थान् ८।१६८
सर्वान् रसानपोहेत १०।८६
सर्वान् संसाधयेदर्थान् २।१००
सर्वासामेकपत्नीनाम् ९।१८३
सर्वास् ता निष्फलाः प्रेत्य १२।९५
सर्वास् तास् तेन पुत्रेण ९।१८३
सर्वेण तु प्रयत्नेन ७।७१
सर्वे तस्याऽऽदृता धर्मा २।२३४
सर्वे ते जपयज्ञस्य २।८६
सर्वे ते नरकं यान्ति ३।१७२
सर्वेऽपि क्रमशस् त्वेते ६।८८
सर्वे पृथक्पृथग् दण्ड्याः ८।२६३
सर्वेषां तु विदित्वैषाम् ७।२०२
सर्वेषां तु विशिष्टेन ७।५८
सर्वेषां तु स नामानि १।२१

सर्वेषां धनजातानाम् ९।११४
सर्वेषां ब्राह्मणो विद्यात् १०।२
सर्वेषां शावमाशौचम् ५।६२
सर्वेषामपि चैतेषाम् ६।८९
सर्वेषामपि चैतेषाम् १२।८४
सर्वेषामपि चैतेषाम् १२।८५
सर्वेषामपि तु न्याय्यम् ९।२०२
सर्वेषामप्यभावे तु ९।१८८
सर्वेषामर्धिनो मुख्याः ८।२१०
सर्वेषामेव दानानाम् ४।२३३
सर्वेषामेव शौचानाम् ५।१०६
सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवम् ११।२२५
सर्वैरुपायैरन्विच्छेत् ८।१९०
सर्वो दण्डजितो लोकः ७।२२
सर्वोपायैस् तथा कुर्यान् ७।१७७
सर्षपाः षड् यवो मध्यः ८।१३४
स लिङ्गिनां हरत्येनः ४।२००
स लोके प्रियतां याति ५।५०
सवर्णाऽग्रे द्विजातीनाम् ३।१२
सवासा जलमाप्लुत्य ५।७७
सवासा जलमाप्लुत्य ५।७८
स विज्ञेयः परो धर्मः १२।११३
स विद्यादस्य कृत्येषु ७।६७
स विधूयेह पाप्मानम् ६।८५
स विनाशं व्रजत्याशु ४।७१
स विनाशं व्रजत्याशु ८।३४६
स वै सर्वमवाप्नोति २।१६०
सव्याहृतिप्रणवकाः ११।२४८
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यः २।७२
सव्ये प्राचीनआवीती २।६३
स शतं प्राप्नुयाद् दण्डम् ८।२२५
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः २।१०३
स श्रयत्येव तच्छीलम् १०।६०
स सन्धार्यः प्रयत्नेन ३।७९
स सर्वसमतामेत्य १२।१२५
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः ५।४६
स सर्वोऽभिहितो वेदे २।७
ससहायः स हन्तव्यः ८।१९३
स साधुभिर् बहिष्कार्यः २।११
सस्याऽन्ते नवसस्येष्ट्या ४।२६
स स्वर्गाच् च्यवते लोकात् ३।१४०
सह खट्वाऽऽसनं चैव ८।३५७
सह द्यावापृथिव्योश् च ३।८६
सहपिण्डक्रियायां तु ३।२४८
स हरेतैव तद्रिक्थम् ९।१४१
सह वाऽपि व्रजेद् युक्तः ७।२०६
सह सर्वाः समुत्पन्नाः ७।२१४
सहस्रं क्षत्रियो दण्ड्यः ८।३७५
सहस्रं तु पितॄन् माता २।१४५
सहस्रं ब्राह्मणो दण्डम् ८।३८३
सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यः ८।३७८
सहस्रं हि सहस्राणाम् ३।१३१
सहस्रकृत्वस् त्वभ्यस्य २।७९
सहस्रशः समेतानाम् १२।११४
सहाऽऽसनमभिप्रेप्सुः ८।२८१
स हि धर्मार्थमुत्पन्नः १।९८
स हि स्वाम्यादतिक्रामेत् ९।९३
सहोढं सोपकरणम् ९।२७०
सहोभौ चरतां धर्मम् ३।३०
सांवत्सरिकमाप्तैश् च ७।८०
साक्षिणः सन्ति मेत्युक्त्वा ८।५७
साक्षिप्रत्यय एव स्यात् ८।२५३
साक्षिप्रत्ययसिद्धानि ८।१७८
साक्षिप्रश्नविधानं च १।११५
साक्षी दृष्टश्रुतादन्यत् ८।७५
साक्ष्यभावे तु चत्वारः ८।२५८
साक्ष्यभावे प्रणिधिभिः ८।१८२
साक्ष्येऽनृतं वदन् पाशैः ८।८२
सा चेत् पुनः प्रदुष्येत् तु ११।१७७
सा चेदक्षतयोनिः स्यात् ९।१७६
सा तेषां पावनाय स्यात् ११।८५
सा त्रीन् मासान् परित्याज्या ९।७८

साधुषु व्यपदेशार्थम् ७।१६८
साध्यानां च गणं सूक्ष्मम् १।२२
साऽनुज्ञाप्याऽधिवेत्तव्या ९।८२
सान्तानिकं यक्ष्यमाणम् ११।१
सान्त्वेन प्रशमय्याऽऽदौ ८।३९१
सा प्रशस्ता द्विजातीनाम् ३।५
सा भर्तृलोकानाप्नोति ५।१६५
सा भर्तृलोकानाप्नोति ९।२९
सामदण्डौ प्रशंसन्ति ७।१०९
सामध्वनावृग्यजुषी ४।१२३
सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः ८।२६२
सामन्तानामभावे तु ८।२५९
सामन्ताश् चेन्मृषा ब्रूयुः ८।२६३
सामवेदः स्मृतः पित्र्यः ४।१२४
सामादीनामुपायानाम् ७।१०९
साम्नां वा सरहस्यानाम् ११।२६२
साम्ना दानेन भेदेन ७।१९८
साम्परायिककल्पेन ७।१८५
साम्राज्यकृत् सजात्येषु ८।३८७
सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य ३।१२१
सायम्प्रातश्च जुहुयात् २।१८६
सारसं रज्जुदालं च ५।१२
साराऽपराधौ चाऽऽलोक्य ८।१२६
साराऽसारं च भाण्डानाम् ९।३३१
सार्ववर्णिकमन्नाद्यम् ३।२४४
सावित्रान् छान्तिहोमांश् च ४।१५०
सावित्रीं च जपेन् नित्यम् ११।२२५
सावित्रीपतिता व्रात्या २।३९
सावित्रीमप्यधीयीत २।१०४
सावित्रीमात्रसारोऽपि २।११८
सावित्र्यास् तु परं नाऽस्ति २।८३
सा सद्यः सन्निरोद्धव्या ९।८३
साहसस्य नरः कर्ता ८।३४५
साहसे वर्तमानं तु ८।३४६
साहसेषु च सर्वेषु ८।७२
सिंहा व्याघ्रा वराहाश् च १२।४३
सिद्धिमेकस्य सम्पश्यन् ६।४२
सीताद्रव्याऽपहरणे ९।२९३
सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिः १०।११३
सीमां प्रति समुत्पन्ने ८।२४५
सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य ८।२४९
सीमायामविषह्यायाम् ८।२६५
सीमाविनिर्णयं कुर्युः ८।२५८
सीमाविवादधर्मश् च ८।६
सीमावृक्षांश् च कुर्वीत ८।२४६
सीमासन्धिषु कार्याणि ८।२४८
सुकृतैः शापिताः स्वैःस्वैः ८।२५६
सुखं चरति लोकेऽस्मिन् २।१६३
सुखं चेहेच्छता नित्यम् ३।७९
सुखं ह्यवमतः शेते २।१६३
सुखस्य नित्यं दातेह ५।१५३
सुखाऽऽभ्युदयिकं चैव १२।८८
सुगुर्वप्यपहन्त्येनः ११।२५६
सुदाः पैजवनश् चैव ७।४१
सुपरीक्षितमन्नाद्यम् ७।२१७
सुपर्णकिन्नराणां च ३।१९६
सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा ३।३४
सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च ५।१४५
सुबीजं चैव सुक्षेत्रे १०।६९
सुयुद्धमेव तत्राऽपि ७।१७६
सुरां पीत्वा द्विजो मोहात् ११।९०
सुरापानाऽपनुत्त्यर्थम् ११।९२
सुरा वै मलमन्नानाम् ११।९३
सुरूपं वा विरूपं वा ९।१४
सुवर्णकर्तुर् वेणस्य ४।२१५
सुवर्णचौरः कौनख्यम् ११।४९
सुवर्णरजतादीनाम् ८।३२१
सुवर्णस्तेयकृद् विप्रः ११।९९
सुवासिनीः कुमारीश् च ३।११४
सुसंस्कृतोपस्करया ५।१५०
सुसङ्गृहीतराष्ट्रो हि ७।११३
सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ७।३२

सूक्ष्मतां चाऽन्ववेक्षेत ६।६५
सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः १।१९
सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः ९।५
सूच्या वज्रेण चैवैतान् ७।१९१
सूतकं मातुरेव स्यात् ५।६२
सूतानामश्वसारथ्यम् १०।४७
सूतो वैदेहकश् चैव १०।२६
सूत्रकार्पासकिण्वानाम् ८।३२६
सूनाचक्रध्वजवताम् ४।८४
सूर्मीं ज्वलन्तीं वाश्लिष्येत् ११।१०३
सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः २।२२१
सृगालयोनिं चाऽऽप्नोति ९।३०
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाःस्वा १।६१
सृष्टिं ससर्ज चैवेमाम् १।२५
सृष्टिर् मृष्टिर् द्विजाश्चाऽग्र्याः ३।२५५
सेनापतिबलाध्यक्षौ ७।१८९
सेनापत्यं च राज्यं च १२।१००
सेवा श्ववृत्तिराख्याता ४।६
सेवेतेमांस् तु नियमान् २।१७५
सेह निन्दामवाप्नोति ५।१६१
सैरिन्ध्रं वागुरावृत्तिम् १०।३२
सोऽग्निर् भवति वायुश्च ७।७
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्यात् ७।१११
सोऽज्येष्ठः स्यादभागश् च ९।२१३
सोदर्या विभजेरंस् तम् ९।२१२
सोऽनुज्ञातो हरेदंशम् ९।१७९
सोऽनुभूयाऽसुखोदर्कान् १२।१८
सोऽन्तर्दशाऽहात् तद् द्रव्यम् ८।२२२
सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य ९।१४६
सोपानत्कश्च यद् भुङ्क्ते ३।२३८
सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् -१।८
सोमपा नाम विप्राणाम् ३।१९७
सोमपास् तु कवेः पुत्राः ३।१९८
सोमविक्रयिणे विष्ठा ३।१८०
सोमाऽग्न्यर्काऽनिलेन्द्राणाम् ५।९६
सोमाय राज्ञे सत्कृत्य ९।१२९
सोमारौद्रं तु बह्वेनाः ११।२५४
सोऽसंवृतं नाम तमः ४।८१
सोऽसहायेन मूढेन ७।३०
सोऽस्य कार्याणि सम्पश्येत् ८।१०
सौरान् मन्त्रान् यथोत्साहम् ५।८६
स्कन्धेनाऽऽदाय मुसलम् ८।३१५
स्तेनगायनयोश् चाऽन्नम् ४।२१०
स्तेनस्याऽतः प्रवक्ष्यामि ८।३०१
स्तेनानां निग्रहादस्य ८।३०२
स्तेनानां पापबुद्धीनाम् ९।२६३
स्तेनान् राजा निगृह्णीयात् ९।३१२
स्तेयं च साहसं चैव ८।६
स्तेयदोषाऽपहर्तॄणाम् ११।१६१
स्तेये च श्वपदं कार्यम् ९।२३७
स्त्रियं स्पृशेददेशे यः ८।३५८
स्त्रियः श्रियश् च गेहेषु ९।२६
स्त्रियश् चैव विशेषेण ७।१५०
स्त्रियां तु यद् भवेद् वित्तम् ९।१९८
स्त्रियां तु रोचमानायाम् ३।६२
स्त्रिया क्लीबेन च हुते ४।२०५
स्त्रियाऽप्यसम्भवे कार्यम् ८।७०
स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन १२।६९
स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या २।२४०
स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि ५।९
स्त्रीणां च प्रेक्षणाऽऽलम्भम् २।१७९
स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युः ८।६८
स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरम् २।३३
स्त्रीणामसंस्कृतानां तु ५।७२
स्त्रीधनानि तु ये मोहात् ३।५२
स्त्रीधर्मयोगं तापस्यम् १।११४
स्त्रीपुंधर्मो विभागश् च ८।७
स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश् च ९।२३२
स्त्रीबालाऽभ्युपपत्तौ च १०।६२
स्त्रीबालोन्मत्तवृद्धानाम् ९।२३०
स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वात् तु ८।७७
स्त्रीमृक्षः स्तोकको वारि १२।६७

स्त्रीम्लेच्छव्याधितव्यङ्गान् ७।१४९
स्त्रीविप्राऽभ्युपपत्तौ च ८।३४९
स्त्रीशूद्रपतितांश् चैव ११।२२३
स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधः ११।६६
स्त्रीष्वनन्तरजातासु १०।६
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि ३।६
स्थलजौदकशाकानि ६।१३
स्थाणुच्छेदस्य केदारम् ९।४४
स्थानं समुदयं गुप्तिम् ७।५६
स्थानाऽऽसनाभ्यां विहरेत् ६।२२
स्थानाऽऽसनाभ्यां विहरेत् ११।२२४
स्थाने युद्धे च कुशलान् ७।१९०
स्थापयन्ति तु यां वृद्धिम् ८।१५७
स्थापयेत् तत्र तद्वंश्यम् ७।२०२
स्थापयेदासने तस्मिन् ७।१४१
स्थावरं जङ्गमं चैव ५।२८
स्थावराः कृमिकीटाश् च १२।४२
स्थावराणि च भूतानि ११।२४०
स्थौललक्ष्यं च सततम् ७।२११
स्नातकव्रतकल्पश् च ४।२५९
स्नातकव्रतलोपे च ११।२०३
स्नातकस्य च राज्ञश्च २।१३८
स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासाः ११।२०१
स्नात्वाऽनश्नन्नहःशेषम् ११।२०४
स्नात्वाऽर्कमर्चयित्वा त्रिः २।१८१
स्नात्वा सचैलः स्पृष्ट्वाऽग्निम् ५।१०३
स्नानं समाचरेन् नित्यम् ४।२०३
स्नाने प्रसाधने चैव ७।२२०
स्नास्यंस् तु गुरुणाऽऽज्ञप्तः २।२४५
स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ ५।१४२
स्पृष्ट्वा दत्त्वा च मदिराम् ११।१४८
स्पृष्ट्वैतानशुचिर् नित्यम् ४।१४३
स्फ्यशूर्पशकटानां च ५।११७
स्यन्दनाऽश्वैः समे युध्येत् ७।१९२
स्याच् चाऽऽम्नायपरो लोके ७।८०
स्यात् साहसं त्वन्वयवत् ८।३३२
स्रग्विणं तल्प आसीनम् ३।३
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वम् २।७४
स्रवन्त्यामाचरन् स्नानम् ११।२५४
स्रोतसां भेदको यश्च ३।१६३
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन ९।७
स्वंस्वं चरित्रं शिक्षेरन् २।२०
स्वकर्म ख्यापयन् ब्रूयात् ११।९९
स्वकर्मणां च त्यागेन १०।२४
स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते १।५३
स्वकादपि च वित्ताद् धि ९।१९९
स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु ९।१६६
स्वजातीयगृहादेव ११।१६२
स्वदेशे वा विदेशे वा ८।१६७
स्वधनादेव तद् दद्यान् ८।१६२
स्वधर्मेण नियुक्तायाम् ९।१६७
स्वधर्मो विजयस् तस्य १०।११९
स्वधाकारः परा ह्याशीः ३।२५२
स्वधाऽस्त्वित्येव तं ब्रूयुः ३।२५२
स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी २।१८१
स्वप्नोऽन्यगेहवासश् च ९।१३
स्वभाव एष नारीणाम् २।२१३
स्वभावेनैव यद् ब्रूयुः ८।७८
स्वमांसं परमांसेन ५।५२
स्वमेनोऽवभृथस्नातः ११।८२
स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते १।१०१
स्वयंकृतश् च कार्यार्थम् ७।१६४
स्वयंदत्तश् च शौद्रश् च ९।१६०
स्वयं वा शिश्नवृषणौ ११।१०४
स्वयमीहितलब्धं तत् ९।२०८
स्वयमेव तु यो दद्यात् ८।१८६
स्वयमेवाऽऽत्मनो ध्यानात् १।१२
स्वरवर्णेङ्गिताऽऽकारैः ८।२५
स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्यात् ७।३२
स्वर्गं गच्छत्यपुत्राऽपि ५।१६०
स्वर्गार्थमुभयार्थं वा १०।१२२
स्वर्ग्याऽऽयुष्ययशस्यानि ४।१३

स्वल्पकेनाऽप्यविद्वान् हि ४।१९१
स्ववीर्याद् राजवीर्याच् च ११।३२
स्ववीर्येणैव ताञ् छिष्यात् ११।३१
स्वशक्तिं परशक्तिं च ९।२९८
स्वां प्रसूतिं चरित्रं च ९।७
स्वा चैव कुर्यात् सर्वेषाम् ९।८६
स्वात्स्वादंशाच् चतुर्भागम् ९।११८
स्वाऽऽदानाद् वर्णसंसर्गात् ८।१७२
स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये ३।२३२
स्वाध्यायभूमिं चाऽशुद्धाम् ४।१२७
स्वाध्याये चैव युक्तः स्यात् ४।३५
स्वाध्यायेन व्रतैर् होमैः २।२८
स्वाध्यायेनाऽर्चयेतर्षीन् ३।८१
स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात् ३।७५
स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात् ६।८
स्वाध्याये भोजने चैव ४।५८
स्वानि कर्माणि कुर्वाणाः ८।४२
स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते १।३०
स्वामिनां च पशूनां च ८।२४४
स्वाम्यं च न स्यात् कस्मिंश्चित् ७।२१
स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रम् ९।२९४
स्वायम्भुवस्याऽस्य मनोः १।६१
स्वायम्भुवाद्याः सप्तैते १।६३
स्वायम्भुवो मनुर् धीमान् १।१०२
स्वारोचिषश् चोत्तमश् च १।६२
स्वालक्षण्यपरीक्षार्थम् ९।१९
स्वेदजं दंशमशकम् १।४५
स्वेभ्यःस्वेभ्यस् तु कर्मभ्यः १२।७०
स्वेभ्योऽंशेभ्यस् तु कन्याभ्यः ९।११८
स्वेस्वे धर्मे निविष्टानाम् ७।३५
स्वेस्वेऽन्तरे सर्वमिदम् १।६३

ह

हत्वा गर्भमविज्ञातम् ११।८७
हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च ३।३३
हत्वा लोकानपीमांस् त्रीन् ११।२६१
हत्वा हंसं बलाकां च ११।१३५
हन्ति जातानजातांश् च ८।९९
हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञः ११।४०
हन्यते प्रेक्षमाणानाम् ८।१४
हन्याच् चित्रैर् वधोपायैर् ९।२४८
हरेत् तत्र नियुक्तायाम् ९।१४५
हर्षयेद् ब्राह्मणांस् तुष्टः ३।२३३
हविर्दानेन विधिवत् ३।२११
हविर् यच्-चिररात्राय ३।२६६
हविषा कृष्णवर्त्मेव २।९४
हविष्पान्तीयमभ्यस्य ११।२५१
हविष्यभुग् वाऽनुसरेत् ११।७७
हविष्येण यवाग्वा वा ११।१०६
हव्यकव्याऽभिवाह्याय १।९४
हव्यानि तु यथान्यायम् ३।१३५
हस्तिगोऽश्वोष्ट्रदमकः ३।१६२
हस्तिनश् च तुरङ्गाश् च १२।४३
हस्त्यश्वरथहर्तॄंश् च ९।२८०
[हिंसया व्याधिभूयस्त्वम् ११।५१]
हिंसाप्रायां पराऽधीनाम् १०।८३
हिंसारतश् च यो नित्यम् ४।१७०
हिंसौषधीनां स्त्र्यांजीवः ११।६३
हिंस्राणां च पिशाचानाम् १२।५७
हिंस्राणां चैव सत्त्वानाम् १२।५६
हिंस्रा भवन्ति क्रव्यादाः १२।५९
हिंस्राऽहिंस्रे मृदुक्रूरे १।२९
हिंस्रो वृषलवृत्तिश्च ३।१६४
हितेषु चैव लोकस्य ९।३२४
हिमवद्-विन्ध्ययोर् मध्यम् २।२१
हिरण्यं धान्यमन्नं च १०।११४
हिरण्यं भूमिमश्वं गाम् ४।१८८
हिरण्यभूमिसम्प्राप्त्या ७।२०८
हिरण्यमायुरन्नं च ४।१८९
हीनं पुरुषकारेण ८।२३२
हीनक्रियं निष्पुरुषम् ३।७
हीनजातिस्त्रियं मोहात् ३।१५
हीनाऽङ्गानतिरिक्ताऽङ्गान् ४।१४१

हीनाऽतिरिक्तगात्रो वा ३।२४२
हीनाऽन्नवस्त्रवेषः स्यात् २।१९४
हीना हीनान् प्रसूयन्ते १०।३१
हुङ्कारं ब्राह्मणस्योक्त्वा ११।२०४
हुताऽग्निर् ब्राह्मणांश्चाऽऽर्च्य ७।१४५
हुत्वाऽग्नौ विधिवद् होमान् ११।११९
हूयमानश् च यज्ञेषु ९।३१८
हृदयेनाऽभ्यनुज्ञातः २।१
हृद्गाभिः पूयते विप्रः २।६२
हृद्यानि चैव मांसानि ३।२२७
हेमन्तग्रीष्मवर्षासु ३।२८१
हैतुकान् बकवृत्तींश् च ४।३०
होता वाऽपि हरेदश्वम् ८।२०९
होता स्यादग्निहोत्रस्य ११।३६
होमाश् च शाकला नित्यम् ११।२००
होमे प्रदाने भोज्ये च ३।२४०
होमो दैवो बलिर् भौतः ३।७०
ह्रियमाणानि विषयैः ६।५९

* * *

क्षेपकानुक्रमणिका

[अकामोपहतं नित्यम् १२।८९]
[अज्ञानाच् च प्रमादाच्च १२।१०१]
[अद्भिः प्रक्षालनं प्रोक्तम् ११।१९९]
[अन्नहीनो दहेद् राष्ट्रम् ११।४०]
[अपां पिबेच्च त्रिपलम् ११।२१४]
[अप्यकार्यशतं कृत्वा ११।१०]
[अभ्रातृकां प्रदास्यामि ९।१२७]
[अमत्या च प्रमाप्य स्त्रीम् ११।१३८]
[अरागद्वेषलोभाश् च ११।२४४]
[अशुभैः केवलैश् चैव १२।९]
[असुतास् तु पितुः पत्न्यः ९।१८६]
[अस्यां यो जायते पुत्रः ९।१२७]
[आज्ञासिद्धानि चत्वारि १२।११०]
[कर्मदण्डस् तु लोकांस्त्रीन् १२।९]
[कामतस् तु कृतं कर्म १२।८९]
[चतुर्वेदसमं पुण्यम् १२।१२५]
[तदस्त्रं सर्ववर्णानाम् ११।३३]
[तपोनिश्चयसंयुक्तम् ११।४७]
[तपोवीर्यप्रभावेण ११।३३]
[तस्याऽऽस्यनिर्गतं धर्मम् १२।१२६]
[तीरितं चाऽनुशिष्टं च ९।२३३]
[ते गच्छन्ति परं स्थानम् १२।१२६]
[त्रिविधं च शरीरेण १२।८]
[दीक्षितं दक्षिणाहीनः ११।४०]
[दीपहर्ता भवेदन्धः ११।५१]
[द्विगुणं दण्डमास्थाय ९।२३३]
[न वेदबलमाश्रित्य १२।१०१]
[पयः पिबेत् तु त्रिपलम् ११।२१४]
[पितामह्यश् च ताः सर्वाः ९।१८६]
[पुराणं मानवो धर्मः १२।११०]
[प्रायो नाम तपः प्रोक्तम् ११।४७]
[ब्रह्मचर्यं जपो होमः ११।२४४]
[भूयो वाऽप्यतिरिच्येत १२।१२५]
[मनसा त्रिविधं कर्म १२।८]
[मनुः स्वायम्भुवो देवः १२।१२६]
[ये पठन्ति द्विजाः केचित् १२।१२६]
[वर्णानामानुपूर्व्येण ११।१३८]
[वाग्दण्डोऽथ भवेन् मौनम् १२।९]
[वाग्दण्डो हन्ति विज्ञानम् १२।९]
[वृद्धौ च मातापितरौ ११।१०]
[शारीरस्य हि दण्डस्य १२।९]
[शुनाऽऽघ्रातोपलीढस्य ११।१९९]
[शुभैः प्रयोगैर् देवत्वम् १२।९]
[हिंसया व्याधिभूयस्त्वम् ११।५१]

* * *

महत्वपूर्ण ग्रन्थ

- **आह्निकसूत्रावली** (शुक्लयजुर्वेदीय)। सम्पा. वैद्य नारायणविट्ठल पुरन्दरे
- **ऋग्वेदीय ब्रह्मकर्मसमुच्चय**।
- **गरुडपुराण** (प्रेतकल्पात्मक)। भाषाटीका तथा पुराणों के तथा अन्त्यकर्म के विषय में ज्ञातव्य बातों से युक्त भूमिका तथा श्लोकार्धानुक्रमणी सहित।
- **कर्मकाण्डप्रदीप**। अण्णाशास्त्री वारे
- **खादिरगृह्यसूत्र अथवा द्राह्यायणगृह्यसूत्र**। रूद्रस्कन्दवृत्ति एवं ठाकुर उदयनारायण सिंह कृत संस्कृत-हिन्दी टीका सहित
- **गोभिलगृह्यसूत्र**। पं० सत्यव्रतसामाश्रमीकृत संस्कृत एवं ठाकुर उदयनारायणसिंहकृत हिन्दी टीका सहित
- **दीक्षाप्रकाश**। पं० रामतेजपाण्डेय
- **धर्मसिन्धु**। हिन्दी टीका सहित। पं० राजवैद्य रविदत्तशास्त्री
- **धर्मद्रुम** (धर्मशास्त्र का इतिहास)। आचार्य राजेन्द्रपाण्डेय। प्रस्तावना—आचार्य बद्रीनाथ शुक्ल
- **निर्णयसिन्धु**। कमलाकरभट्ट। म०म० व्रजरत्नभट्टाचार्यकृत हिन्दी अनुवाद सहित
- **नित्यनैमित्तिकब्रह्मसमुच्चय** (ब्रह्मकर्मसमुच्चय)। शुक्लयजुर्वेदीय। मूलमात्र
- **पारस्करगृह्यसूत्र**। 'हरिहर' 'गदाधर' भाष्य एवं डॉ० जगदीशचन्द्रमिश्रकृत हिन्दी टीका सहित
- **पाराशरस्मृति**। भाषाटीका सहित। पं० गुरुप्रसाद शर्मा
- **पौराणकर्मदर्पण**।
- **ब्रह्मयज्ञपद्धति**। ब्राह्मणों के आचारादि के विवेचन एवं उनके लिए अनिवार्य ब्रह्मयज्ञ के विषय में ज्ञातव्य अनेक विषयों से युक्त एवं प्रस्ताविका से विभूषित। आचार्य शिवराजकौण्डिन्न्यायन
- **Manusmriti :** Text with English Translation by M. N. Dutt & Ed. by R. N. Sharma
- **यज्ञमीमांसा**। पं० वेणीरामशर्मा गौड
- **श्रीविद्यासपर्यापद्धति**। सम्पा०—ब्रह्मश्रीशङ्कररामशास्त्री

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी

Reach us at :
url : www.chaukhambapustak.com
email : cvbhawan@yahoo.co.in